वर्णी-अभिनंदन-ग्रंथ

सम्पादक

खुशालचन्द्र गोरावाला

सिद्धान्तशास्त्री, साहित्याचार्य, एम० ए०, आदि

प्रकाशक

श्री वर्णी हीरक जयन्ती महोत्सव समिति

प्रकाशक
पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य,
संयुक्त-मंत्री
श्री वर्णी हीरक जयन्ती महोत्सव समिति,
सागर

मूल्य
पन्द्रह रुपया

आश्विन २४७६ वी. नि.

मुद्रक
पं० पृथ्वीनाथ भार्गव
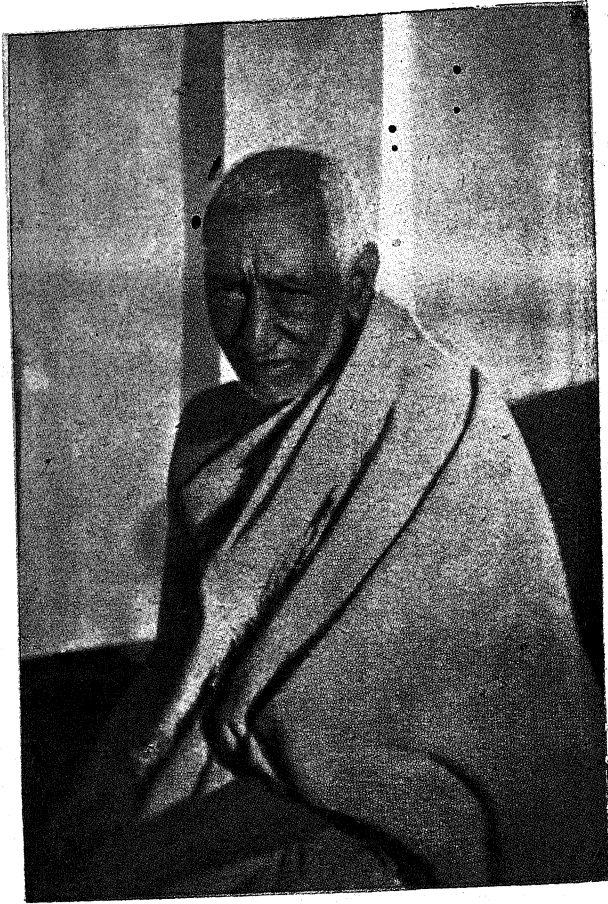
समर्पण

जिस स्वयंबुद्धने सत्यकी शोध, सतत साधना,
सार्वजनीन सेवा, परदुःख कातरता तथा
बहुमुखी विद्वत्ता द्वारा अज्ञान–
तिमिरान्ध जैन समाज का
ज्ञान-लोचन उन्मीलित
करके, लोकोत्तर
उपकार
किया
है
उन्ही
श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसाद वर्णी जी के
कर कमलों
में

विषयसूची

प्रकाशक की ओरसे–

मार्च सन् १९४४ की बात है। पूज्य बाबा गणेशप्रसादजी वर्णी ईसरी से ७ वर्ष बाद पैदल भ्रमण करते हुए सागर पधारने को थे। सागर ही नहीं समस्त बुन्देलखण्डमें एक विशेष प्रकार का समुल्लास छा गाया था। ग्राम-ग्राम में जैन-अजैन जनता ने उनके स्वागत की अपूर्व तयारियां की थीं। सागर की जैन समाज ने इस बात का आयोजन किया कि जब वर्णी जी सागर पधारें तब उनकी सत्तरवीं वर्षगांठ पर हीरक जयन्ती मनायी जाय। इसके लिए स्थानीय लोगों की कई उपसमितियां बना कर व्यवस्था का कार्य-विभाजन भी कर दिया।

पत्रों में इस बात का प्रचार किया गया कुछ लोग अध्यक्ष की पद स्वीकृत कराने के लिए श्री साहु शान्तिप्रसादजी डालमियांनगर के पास भी गये। इस समाचार से साधारण जनता का उल्लास जहां कई गुना बढ़ा वहां कुछ विचारक लोगों ने इस आशय के भी पत्र लिखे और खास कर साहु शान्तिप्रसादजी ने उनके पास पहुंचे हुए आमन्त्रकों से अपने विचार प्रकट किये "जब पूज्य वर्णीजी समस्त भारतवर्ष की अनुपम निधि हैं तब उनकी हीरक जयन्ती का महोत्सव किसी केन्द्र स्थान में न मनाया जाकर सागर जैसे स्थान में मनाया जाय इसमें शोभा कम दिखती है। समस्त भारतवर्ष के प्रतिनिधियों का सहयोग लेकर केन्द्र स्थान में ही यह कार्य करना चाहिये।"

साहुजी की सम्मति पर जब विचार किया तब उसमें तथ्य ही अधिक दिखा। फलतः २४–३–१९४४ को सागर की जैन-समाज ने अपनी एक आम सभा में निम्नलिखित प्रस्ताव द्वारा हीरक जयन्ती का आयोजन स्थगित कर दिया।

'सागरस्थ जैन समाज गम्भीरतापूर्वक अनुभव करता है कि जिन त्याग-मूर्ति प्रातःस्मरणीय पूज्य पं० गणेशप्रसाद जी वर्णी के अनिर्वचनीय उपकारों से नम्रीभूत हो कर उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाशनार्थ उनकी हीरक जयन्ती मनाने की आयोजना हमारे द्वारा की जाती है वे वास्तव में सिर्फ हम लोगों के ही गौरव एवं आदर की प्रतिमूर्ति नहीं हैं बल्कि अखिल दि० जैन समाज की विभूति हैं अतः उनके प्रति श्रद्धांजलि समर्पण करने का सबको हक है और सभी लोग इसके लिए हृदय से उत्कण्ठित हैं। इतना ही नहीं, इस विषय में हमारे पास अनेक माननीय सम्मतियां आयी हैं, कि परमपूज्य वर्णी जी जैसे महान् पुरुष की हीरक जयन्ती एक देशीय (एक स्थानीय) न बना कर सर्वदेशीय बनाइये। तदनुसार यह परामर्श सर्वथा हितकर उचित एवं सामयिक प्रतीत होता है। इसलिए सागर समाज सम्प्रति इस हीरक जयन्ती की आयोजना को स्थगित करती है परन्तु उनके शुभागमन के हर्ष में यह उत्सव सम्मान-महोत्सव के रूप में मनाया जावे।'

हीरक जयन्ती का महान् कार्यक्रम स्थगित हो गया इससे स्थानीय कार्यकर्ताओं के उत्साह में कोई न्यूनता नहीं आयी और ता० २५ को प्रातः-काल ज्यों ही वर्णी जी महाराज सागर शहर के नाके पर आये त्यों ही सहस्रों नर-नारियों का समूह गाजे-बाजे के साथ उनके स्वागत के लिए उमड़ पड़ा। शहर के प्रत्येक प्रधान मार्ग तोरणों, पताकाओं और बन्दनमालाओं से अलंकृत किया गया था। जगह-

ξ पुष्प-वृष्टि और आरती के द्वारा जनता ने अपनी चिरभक्ति उनके चरणों में प्रकट की। ऱपुर, कटनी, दमोह, खुरई आदि स्थानों से अनेक महाशय पधारे थे ।

उत्सव के समय हीरक-जयन्ती का जो उत्सव स्थगित कर दिया था उसे अखिल-भारतीय देने के लिए सागर-समाज की इस बीच में कई बैठकें होती रहीं। सौभाग्यवश १७-१०-१९४४ बैठक में पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, बनारस भी उपस्थित थे। आपने इस सुझाव पर जोर ा कि उत्सव के समय पूज्य श्री के करकमलों में एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया जाय जिसमें भनन्दन के सिवाय अन्य उत्तमोत्तम सामग्री भी रहे। समिति के सभापति श्री बाबू बालचन्द्रजी या, बी. एस्सी. सागर, के हृदय में अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पण की बात घर कर गयी और तबसे की तैयारी के लिए प्रयत्न करना सहर्ष स्वीकार किया। इसी दिन भारत के समस्त श्रीमानों और मानों की एक 'वर्णी हीरक-जयन्ती-समिति' बनायी गयी जिसमें १२५ सदस्य हैं। इन महानुभावों पास पूज्यवर्णी जी की हीरक-जयन्ती मनाने और अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पण करने का समाचार चा तब सबने इस महत्त्वपूर्ण कार्य की सराहना की और सबने यथाशक्य अपनी सेवाएं समर्पित ने की बात लिखी।

'अभिनन्दन-ग्रन्थ तैयार होने पर ही हीरक जयन्ती का आयोजन किया जाय।' यह निश्चित ने से अभिनन्दन-ग्रन्थ की तैयारी के लिए प्रयत्न किया गया। जैन तथा जैनेतर लेखकों से सम्पर्क स्थापित र कुछ प्रारम्भिक रूपरेखाएं बनायी गयीं। कार्यालय में जितनी रूप रेखाएं आयीं मैं उन्हें लेकर ारस पहुंचा और वहां के अधिकतर जैन-विद्वानों की बैठक बुला कर उनपर विचार किया। द्वानों ने यथायोग्य सुझाव दिये। बनारस से आने पर सागर में २१ सदस्यों की अभिनन्दन-ग्रन्थ वस्थापक-समिति का संघटन किया जिसकी प्रथम बैठक विद्वत्परिषद् के प्रथम वार्षिक अधिवेशन के मय कटनी में ७ मार्च १९४५ को हुई। इस बैठक में अभिनन्दन-ग्रन्थ का सम्पादन करने के लिए म्नलिखित महानुभावों का एक सम्पादक-मण्डल चुना गया।

१ डा० ए० एन० उपाध्याय कोल्हापुर
२ पं० कैलासचन्द्रजी शास्त्री बनारस
३ पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री ,,
४ पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य ,,
५ पं० खुशालचन्द्रजी साहित्याचार्य, एम. ए. बनारस

श्री पं० खुशालचन्द्रजी सम्पादक मण्डल के संयोजक-सम्पादक निर्वाचित हुए। कार्यभार प्रारम्भ करने के लिए श्री बालचन्द्रजी मलैया, सागर से प्राप्त एक हजार रुपयों के साथ समस्त फाइलें श्री खुशालचन्द्रजी को सौंप दीं और कार्य को द्रुतगति से आगे बढ़ाने के लिए समिति ने उन्हें समग्र अधिकार दिये। उन्होंने सोत्साह कार्य प्रारम्भ कर दिया।

यह किसी से छिपा नहीं है कि बौद्धिक सामग्री का प्राप्त करना द्रव्य-प्राप्ति की अपेक्षा बहुत कठिन कार्य है। इस कार्य के लिए श्री पं० खुशालचन्द्रजी को बहुत परिश्रम करना पड़ा है। उच्चकोटि के जैनेतर लेखकों से बहुमूल्य सामग्री प्राप्त कर लेना यह आपके सतत परिश्रम का ही

प्रकाशकी ओरसे

जिन महाशयों ने आभार में दत्त आर्थिक सहयोग देकर हमें आर्थिक चिन्ता से उन्मुक्त किया है उनका भी मैं उतना ही ऋणी हूं जितना कि विद्वान लेखकों का हूं।

श्री गणेश दि० जैन विद्यालय सागर की प्रबन्ध-कारिणी ने २०००) उधार देकर कार्य को नहीं रुकने दिया। विज्ञप्ति निकालने पर जिन ग्राहकों ने पांच पांच रुपया पेशगी तथा पूरा मूल्य भेज-कर हमें सहयोग दिया है उनके भी हम आभारी हैं।

आर्थिक चिन्ता के न्यूनतर होने पर भी कागज पर सरकारी नियन्त्रण रहने के कारण उसकी प्राप्ति में बहुत समय खोना पड़ा। अन्त में जब कुछ उपाय न दिखा तब श्री बालचन्द्रजी मलैया ने आदमी भेज कर एक गांठ बम्बई से बनारस भिजवायी जिससे प्रकाशन का कार्य प्रारम्भ हो सका। बीच-बीच में प्रेस की परतन्त्रता से कार्य रुक-रुक कर हुआ। अतः ग्रन्थ के प्रकाशन में आशातीत विलम्ब हो गया। चूंकि ग्रन्थ-समर्पण खास अङ्ग था अतः उसके अभाव में हीरक जयन्ती महोत्सव भी टलता रहा।

इस महान् ग्रन्थ में क्या है, यह लिखने की आवश्यकता नहीं। फिर भी मेरा ख्याल है कि श्री खुशालचन्द्र जीने इसे सर्वाङ्ग पूर्ण बनाने के लिए पर्याप्त श्राम किया है और अभिनन्दन के साथ-साथ दार्शनिक, सैद्धान्तिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक ऐसी उत्तम सामग्री का संकलन किया है जो कि वर्तमान तथा आगामी पीढ़ी के लिए सदा ज्ञान-वर्धक होगी। इस गुरुतम भार को वहन करने के साथ-साथ आधे के लगभग धन इकट्ठा करना भी इनके प्रभाव और प्रयास का कार्य है। अतः मैं इनका आभारी हूं।

वर्णी-हीरक-जयन्ती-समिति के क्रमशः अध्यक्ष तथा मंत्री श्री बालचन्द्रजी मलैया और श्री नाथूरामजी गोदरे ने बड़ी तत्परता और लगन के साथ इन समस्त कार्यों का प्रारम्भिक संघटन किया है जिसके लिए मैं आभारी हूँ।

धन्यवाद के प्रकरण में श्री पं० मुन्नालालजी रांधेलीय, सागर और पं० वंशीधरजी, व्याकरणा-चार्य, बीना का नामोल्लेख करना मैं अत्यन्त आवश्यक समझता हूं जिन्होंने कि अपनी अमूल्य सम्म-तियों द्वारा इस मार्ग को प्रशस्त बनाया है।

मेरी निज की इच्छा तो यह थी कि यह ग्रन्थ अमूल्य अथवा अल्पमूल्य में ही पाठकों को सुलभ रहता परन्तु अधिकांश दूरदर्शी सदस्यों की यह सम्मति हुई कि ग्रन्थका महत्त्व न गिराने के लिए इसका मूल्य रखा ही जाय तथा जो भी द्रव्य विक्रय से आवे उसके द्वारा पूज्य श्री वर्णीजी की परम प्रिय शिक्षा-संस्थाओं—स्या० वि० बनारस तथा वर्णी विद्यालय, सागर का पोषण किया जाय। ऐसा करने से दानी महानुभावों द्वारा उदारतावश दिया हुआ द्रव्य भी सुरक्षित रह सकेगा।

अन्त में अपने समस्त सहयोगियों का पुनः पुनः आभार मानता हुआ त्रुटियों के लिए क्षमा प्रार्थी हूं।

नम्र,

पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य
संयुक्तमंत्री,
वर्णी हीरक जयन्ती-समिति।

वर्णीभवन—सागर
२।१०।४९,

सम्पादकीय—

लम्बे कारावासके बाद बाहर आने पर जब मैं परिवर्तित परिस्थितियोंमें अपने आपको समन्वित करने की उधेड़-बुन में था, उसी समय भारतीय दिगम्बर जैन-संघकी कार्यकारिणीमें मेरठ तथा दिल्ली जाना पड़ा था। प्रवास तथा विचरणने वर्षोंकी बद्धतासे उत्पन्न जड़ एकतानता से मुक्ति दी। और मैं भावी जीवन-क्रम की रूप-रेखा बना कर जब काशी वापस आया तो मुझे कुछ कागजात तथा एक सूचना मिली। यह सूचना मेरे अग्रज मित्र पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य, संयुक्तमंत्री 'श्री वर्णी हीरक जयन्ती-महोत्सव-समिति-सागर' का आदेश था। उन्होंने लिखा था "श्री वर्णी ही. ज. म. स. के निर्णयानुसार मैंने यहां (काशी) आकर एक विचार समिति की। इसमें पं. फूलचन्द्रजी, पं० महेन्द्रकुमार जी, पं. राजकुमारजी प्रभृति अनेक विद्वान उपस्थित थे। आप दोनों भाइयोंके परामर्शका अनुपस्थितिके कारण लाभ न उठा सके। इस विचार-समिति ने ही. ज. म. समिति के इक्कीस सदस्यों युक्त 'वर्णी अभिनन्दन-ग्रन्थ-समिति' वाले निर्णयका स्वागत किया है और आपको उसका संपादक तथा संयोजक बना कर ग्रन्थका पूरा दायित्व आप पर रक्खा है। आशा है आप निराश न करेंगे।" इसे देखते ही २७ जुलाई, सन् १९२८ की रात्रि, मुगलसरायका जंकशन, मझे पुकारता अपरिचित युवक, ड्योढ़े दरजे में बैठे पूज्य वर्णी जी, अपनी आकुलता, उनके साथ भदैनी (काशी) आना, स्याद्वाद दि. जैन-विद्यालय और उसमें विताये जीवन-निर्मापक ग्यारह वर्ष; मेरे मानस-क्षितिज पर द्रुतगति से घूम गये। यद्यपि उक्त विचार-समितिका रूप मनमें अनेक आशंकाएं उत्पन्न करता था तथापि वर्णीजी और स्याद्वाद विद्यालयका तादात्म्य भी स्पष्ट एवं आकर्षक था। मुझे इस प्रयत्न के करने में समाज-ऋण से अपनी निश्चित मुक्ति देखने में एक क्षण भी न लगा। कार्य की गुरुता, दि. जैन समाजकी शिथिल सामाजिक दायित्व-वृत्ति की स्मृति तथा परिणाम स्वरूप अपनी मान्यताके अनुरूप ग्रन्थ तयार न कर सकने का विचार उक्त विवेक पर पटाक्षेप करना ही चाहता था कि "भैआ जो को आय ?" स्व. बाई जी द्वारा भेलूपुर में पूंछे जाने पर "अपनोइ बच्चा आय। ये ? ? ? आपसें नई कई जो हमारे साथी फुन्दीलाल सावको नन्नो लरका तो आय।" कहते पू० वर्णी जी याद आये और मैंने नतमस्तक हो कर पं० पन्नालालजी के स्नेह-आदेश को स्वीकार कर लिया।

यतः इक्कीस आदमियों की 'ग्रन्थ समिति' ग्रन्थके बौद्धिक निर्माणके लिए सरलतासे समय-समय पर नहीं मिल सकती थी अतः मैंने कटनीमें इसकी प्रथम बैठक बुलायी। इसने सर्व श्री डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, कोल्हापुर, पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य तथा प्रो० खुशालचन्द्र बनारस, इन पांच सज्जनों का सम्पादक मण्डल बनाया। तथा निर्णय किया कि ग्रन्थके बौद्धिक कलेवरका पूर्ण दायित्व प्रो० खुशालचन्द्रपर हो जो कि अपने सहयोगियों से यथायोग्य सहयोग लेते हुए इस कार्य को पूर्ण करेंगे।

फलतः इस प्रवाससे लौटते ही मैंने सम्पादक-मण्डलकी प्रथम बैठक बनारसमें बुलायी। डा० उपाध्ये यद्यपि इस बैठकमें भी सम्मिलित न हो सके थे तथापि उन्होंने जो स्पष्ट एवं मैत्री-पूर्ण सम्मति दी थी उसने मुझे समय-समय पर पर्याप्त उत्साह दिया है। उन्होंने लिखा था "स्थान की दूरी तथा अन्य व्यस्तताओं के कारण आपको मेरा सक्रिय सहयोग नहीं ही मिल सकेगा। ऐसे

पुनीत कार्यमें मेरी सहानुभूति तो सदैव आपके साथ रहे गी। ग्रन्थ तयार होने तक एक लेख भी अवश्य भेजूंगा। संभवतः इतना ही सहयोग आपको दूसरों से भी प्राप्त हो ऐसी मेरी कल्पना है और आपको अकेले ही यह भार वहन करना पड़े....।" एकत्व भावनाकी इस ध्रुव पीठिका पर मैंने उपस्थित सहयोगियों के सामने ग्रन्थ निर्माण में उपयोगी मूल सिद्धान्त उपस्थित किये जिन्हें ग्रहण करके साधारण रूपरेखा तथा अधिकांश उन जैन विद्वानों की विषयवार तालिका तयार की गयी थी जो हमारी संभावनानुसार लेखक हो सकते थे। कार्य प्रारम्भ करने को ही था कि जुलाई '४५ में मुझे काशी छोड़कर आरा जाना पड़ा। यहां पहुंचते ही प्रियवर भाई पं० नेमिचन्द्र जी शास्त्री, निर्देशक दि. जैन सिद्धान्त भवन आरा से बड़ा सहयोग मिला। अगस्त के प्रारम्भ में ही निम्न रूप-रेखाको अंतिम रूप देकर सामग्री संकलनको प्रारम्भ कर दिया था।

१ जैन धर्म—प्रमाण, नय, निक्षेप, स्याद्वाद दृष्टि, तत्त्व, षड्द्रव्य, सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सर्वज्ञता, सम्यक्चारित्र, श्रावकाचार, मुनिधर्म, आध्यात्म, ध्यान अथवा योग, मुक्तिमार्ग, अष्टकर्म, लोकपुरुष अथवा जैन-भूगोल, तीर्थंकरत्व और अवतारवाद, जगत्कर्तृत्व, गुणस्थान, मार्गणा, दिव्यध्वनि, जैनधर्म की विशेषताएं, जैनी-अहिंसा, वर्तमान विश्व की समस्याएं और जैनधर्म, परिग्रह परिमाण व्रत बनाम साम्यवाद, जैनतत्त्वज्ञान और वैज्ञानिक अन्वेषण, जैनधर्म का आदि मंत्र, धर्म-अधर्म द्रव्य-विभाजन, वेदान्त और जैन अध्यात्म, प्राचीन जैनेतर आचार्यों की जैनधर्म विषयक भ्रान्तियां, पुराणों में जैनधर्म, आदि।

२ जैन साहित्य—प्राकृत-वर्ण्यविषय, ग्रन्थ, ग्रन्थकार, परिचय, भाषा-भेद, शैली, अन्य-वैशिष्ट्य, धवलादि ग्रन्थराज परिचय, आदि।

संस्कृत—सैद्धान्तिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक, व्याकरण, काव्य, लक्षण-शास्त्र, सुभाषित, नीति, प्रतिष्ठा, कथा, कोश, आदि।

अपभ्रंश—काव्य, चरित, अध्यात्म, आदि।

हिन्दी—हिन्दी (जैन) साहित्य का क्रमिक उद्गम, विकास, वचनिकाकार, रासो साहित्य, कवि, स्फुट, हिन्दी साहित्यकी प्रगतिमें जैन लेखकोंकी देन।

गुजराती–जैनसाहित्य–प्राकृत साहित्य के समान।

मराठी–जैनसाहित्य– ,,

तामिल–जैनसाहित्य– ,,

बंगला–जैनसाहित्य– ,,

कन्नड़–जैनसाहित्य–अन्य प्रान्तीय भाषाओं का जैन साहित्य।

स्फुट—राजव्यवस्था, सामाजिक अवस्था, विश्व-साहित्य में जैन साहित्य का स्थान। संगीत विषयक साहित्य, जैन-पारिभाषिक शब्दकोश, विदेशी भाषाओं (जर्मन, फ्रैंच, आदि) का साहित्य।

३ जैन इतिहास—पौराणिक इतिहास (शलाका पुरुष, आदि), राजवंश, आचार्यकुल, संघभेद, पन्थभेद, भट्टारक परम्परा, जैन राजनीति, गोम्मटेशकार, अन्य नृपति-निर्माता, आदि।

जैनपुरातत्त्व—मूर्तिकला, स्थापत्यकला, अष्टमंगलद्रव्य, नन्द्यावर्त, स्वस्तिक, चित्रकला, मोहन-जोदड़ो में जैन भग्नावशेष, भगवान महावीर और बुद्ध, शास्त्र भण्डारोंका परिचय, आदि।

४ जैन विज्ञान—आयुर्वेद, ज्यौतिष, मनोविज्ञान, गणित, बन्ध-विवेक, परमाणुवाद, शब्द-शक्ति, जैनाचर की वैज्ञानिकता।

५ जैन तीर्थ--तीर्थों की तीर्थताका इतिहास, तीर्थता निमित्तक विभाजन, भौगोलिक स्थिति, आदि।

६ जैनसमाज--प्राचीन कालका जैन समाज, वर्तमान युगके प्रारम्भ तक का संक्षिप्त परिचय, आधुनिक युगका प्रारम्भ, वर्तमान युगकी प्रधान प्रवृत्तियां--महासभा, परिषद्, संघ, आदि। सामाजिक संस्थाओंका इतिहास, शिक्षा संस्थाएं, मन्दिर, साहित्यिक पुनरुद्धार, सामाचारपत्र, पारमार्थिक संस्थाएं, औषधालय, धर्मशाला, भोजनालय, उदासीनाश्रम, समाजकी वैधानिक स्थिति। मातृमण्डल-स्त्रीका स्थान, जागृति, आदि।

७ वर्णीजी का जीवन और संस्मरण--(अ) संक्षिप्त जीवन चरित्र;--प्रारम्भिक जीवन, जैनत्व की ओर झुकाव, विद्यार्थी जीवन, त्याग-सेवामय जीवन, शिक्षा प्रसार, सार्वदेशिक प्रवास, प्रभावना तथा स्थितिकरण तथा मुक्ति के पथपर। स्थापित्र शिक्षासंस्थाओं के परिचय, विशेष भाषणों तथा पत्रों के अवतरण, संस्मरण, श्रद्धाञ्जलि।

(आ) जीवन सम्बन्धी चित्र तथा सम्बद्ध संस्था आदि के चित्र यथास्थान। तीर्थंकर, आचार्य, मूर्ति, मंदिर आदि के चित्र।

(इ) कविताएँ--विविध विषयों तथा वर्णीजी विषयक कविताएँ यथास्थान।

सामग्री तथा सहयोग प्राप्त करनेके प्रयत्नमें लगभग डेढ़ वर्ष बिताने के बाद जब सन् '४७ के प्रारम्भ में मुझे 'श्री काशी विद्यापीठ रजत जयन्ति अभिनन्दन ग्रन्थ' से अवकाश मिला तो प्राप्त समस्त सामग्रीको अपने आप ही एक बार आद्यन्त देखा। और इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि ऐसी सामग्री से अभिनन्दन ग्रन्थ दिगम्बर जैन, सदृश किसी सावधि पत्र के विशेषांक से अच्छा न होगा। गत्यन्तराभावात् पुनः प्रामाणिक सार्वजनिक विद्वानोंसे विविध प्रकारसे लेख प्राप्त करनेका प्रयत्न प्रारम्भ किया।

हीरक जयन्ति महोत्सव समिति शीघ्र ही ग्रन्थ तयार करने के लिए जोर दे रही थी किन्तु प्रेस, कागज तथा समुचित सामग्रीके अभावके कारण प्रतीक्षा करना अनिवार्य हो गया था। सौभाग्य से दूसरा प्रयत्न पर्याप्त सफल हुआ और इस बौद्धिक मधुकरीमें काफी अच्छे लेख मिले। इस बार पुनः प्रतीक्षा करने की अपेक्षा डा० उपाध्ये की सम्मत्यनुसार स्वालम्बी बनना ही अच्छा समझा और प्राप्त समस्त सामग्रीका सम्पादन पूज्य भाई पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीकी सहायता से स्वयमेव कर डाला। यतः "सात पांचकी लाकड़ी एक जनेका बोझ" ही होती है अतः कितने ही उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण विषयों पर अब भी लेख न थे। ऐसे लेखोंकी पूर्ति मैं ने अपनी स्मृति (Notes) के आधार पर प्राचीन प्रामाणिक विद्वानोंके लेखोंको भारती (हिन्दी) में दे कर की। इस प्रकार संकलित तथा सम्पादित सामग्रीको अपने काशी निवासी साथियों तथा संयुक्त-मंत्री वर्णी ही. ज. म. स. से नौम्बर '४७ में अनुमत कराके मुद्रण की व्यवस्था में लग गया और २१ जून '४८ से वास्तविक मुद्रण कार्य प्रारम्भ कर सका। यद्यपि दिसम्बर '४८ तक ग्रन्थका तीन चौथाई भाग छप गया था तथापि इसके बाद कुछ महीनों पर्यन्त प्रेसके दूसरे कार्योंमें फंस जानेके कारण तथा उसके बाद अन्य कार्यों में मेरे व्यस्त हो जानेके कारण मुद्रण कार्य दिसम्बर '४९ में समाप्त हो सका।

रूपरेखा के अनुसार ग्रन्थ का कलेवर एक हजार पृष्ठका होता, किन्तु वैज्ञानिक एवं प्रामाणिक लेखकों की कमी, शासनका कागज नियंत्रण तथा स्वयमुपनत आर्थिक सहयोगका अभाव एवं आर्थिक सहयोगके लिए प्रार्थना न करने के आदेश और उसके निर्वाहके कारण सात सौ पृष्ठसे ही संतोष करना पड़ा। विवश होकर सामग्रीको कम किया और कई विभागोंको एक कर दिया। ग्रन्थके विषय में स्वयं लिखनेकी पाश्चात्य पद्धति वर्तमानमें भारतीय विद्वानों ने भी अपनायी है तथापि "आपरितोषाद्विदुषां न मन्ये साधु प्रयोग विज्ञानम्" वाक्य ही मेरा आदर्श है। विशेष न कह कर

इतना ही कह सकता हूँ कि मैंने अपनी मर्यादाओं का यथाशक्ति निर्वाह किया है। यही कारण है कि अभिनन्दन में केवल अड़सठ पृष्ठ देकर शेष ग्रन्थ पूज्य श्री १०५ वर्णीजी के जीवनके ही समान सर्व हितकी सामग्रीके लिए उत्सर्जित है। तथा उनके ही समान विद्वज्जन-संवेद्य होकर भी सरलजन मनोहारी भी है।

विवशताओं और मर्यादाओंके कारण मुझे इस साधनामें कुछ अपनी इच्छाके प्रतिकूल भी जाना पड़ा है। यही कारण है कि वर्णीजी के कितने ही भक्तों तथा अनुरागी विद्वानोंकी कृतियों को ग्रन्थमें नहीं दे सका हूँ। इसके लिए मैं उनसे क्षमा प्रार्थी हूं। मैं इनका तथा उन सब विद्वानों का अत्यन्त आभारी हूँ जिनकी कृतियों से यह ग्रन्थ बना है।

मान्यवर पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी की उदारता तो अलौकिक है। यद्यपि उनका ग्रन्थ के सम्पादनसे कोई वैधानिक सम्बन्ध नहीं रहा है तथापि उन्होंने बुन्देलखण्ड विभागकी पूरी सामग्री तथा चित्रावलि का संकलन और सम्पादन किया है। इस विभागके ग्रन्थमें आने का पूरा श्रेय इन्हीं को है। इतना ही नहीं इसमें दत्त कितने ही व्यक्ति-परक लेखोंको देखकर वर्णीजी की महत्ता, उनकी सेवाओं की गुरुता तथा अपने परम हितूके प्रति अपनी उदासीनता की ओर हमारी दृष्टि अनायास ही जा सकेगी। अतः मैं चतुर्वेदीजीका सविशेष आभारी हूं।

ग्रन्थ की 'चित्रा' के विषय में हम अपने संकल्प को पूर्ण नहीं कर सके। इसके दो कारण रहे प्रथम--प्रामाणिक एवं ख्यात कलाकार जैन मान्यता तथा भावों से अपरिचित हैं, दूसरे मेरी उदासीनता। तथापि वर्णीजी के जीवन सम्बन्धी चित्रों को लेने में मुझे श्री डा० ताराचन्द्र, प्रो० निहालचन्द्र नजा, डा. शिखरचन्द्र, विद्यार्थी नरेन्द्र धनगुंवा, श्री वर्णी ग्रन्थमाला तथा यशपालजी का पर्याप्त सहयोग मिला है। इसके लिए ये सज्जन धन्यवादार्ह हैं। बाबू यशपालजीका तो और अनेक प्रकार से भी सहयोग मिला है अतः केवल धन्यवाद देना उसका महत्त्व घटाना है।

वर्णी हीरक जयन्ति महोत्सव समिति के संयुक्त मंत्री पं० पन्नालालजी साहित्याचार्यके विषय में क्या कहा जाय। वे इस योजना के सृष्टा, पोषक एवं परिचालक रहे हैं। ग्रन्थकी तयारीमें लगे वर्षोंके अतीत पर दृष्टि डालने से जहां मन्दोत्साह एवं शिथिल अनेक साथी दृष्टि आते हैं वहीं कर्त्तव्यपरायण एवं सतत प्रयत्नशील एकाकी इन्हें देखकर हृदय विकसित हो उठता है। आज तो हम दोनों ही परस्पर सहयोगी तथा इस श्रद्धाज्ञापन यज्ञके लिए दायी हैं।

अपने घरके लोगों के प्रति सार्वजनिक रूपसे कुछ भी कहना भारतीय शिष्टाचारके प्रतिकूल है। अतः जिनके उद्बोधन, प्रेरणा तथा सर्वाङ्ग सहयोगके विना मैं शायद इस दायित्वको पूर्ण ही न कर सकता, उन पूज्य भाई (पं. कैलाशचन्द्र, सिद्धान्तशास्त्री) के विषय में मौन ही धारण करता हूँ।

बौद्धिक सहयोग दाता; धीमानों के समान उन श्रीमानों का भी आभारी हूं जिन्होंने मेरे संकेत करने पर ही हमें आर्थिक सहयोग प्रदान किया है।

श्री भार्गव भूषण प्रेस के स्वामी श्री पृथ्वीनाथ भार्गव तथा प्रेस के समस्त कर्मचारियों को हार्दिक धन्यवाद है जिनके सहयोग से यह ग्रन्थ छपा है।

अन्तमें पूज्य श्री वर्णीजी के उस सातिशय पुण्य को प्रणाम करता हूँ जिसके प्रतापसे यह कार्य पूर्ण हुआ और उनकी दीर्घायु की कामना करता हूं।

श्री काशी विद्यापीठ, बनारस।
पौष कृष्णा ११-२००६]

विनीत,
गो० खुशालचन्द्र

आभार

श्री बालचन्द्र मलैया	सागर	१०००)
,, साहु श्रेयान्स प्रसाद	बम्बई	५००)
,, ,, शान्ति प्रसाद	डालमियांनगर	१००१)
,, कुन्दनलाल सिंघई	सागर	५००)
,, भगवान्दास शोभाराम सेठ	,,	५००)
,, मुन्नालाल वैशाखिया	,,	५००)
स्व. श्रीधर्मदास सिंघई	सतना	५००)
श्री हीरालाल चौधरी	छतरपुर	५००)
,, श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्द्र	भेलसा	५००)
,, श्रीमन्त सेठ वृद्धिचन्द्र	सिवनी	५०१)
,, सेठ बैजनाथ सरावगी	कलकत्ता	५००)
,, सेठ मगनलाल हीरालाल पाटणी	मरोठ	५०१)
,, लाला नन्दकिशोर जैनेन्द्रकिशोर जौहरी	दिल्ली	५०१)
,, ,, राजकृष्ण रईश	,,	२५०)
,, ,, मनोहरलाल नन्हेंमल रईश	,,	२५१)
,, ,, कपूरचन्द्र धूपचन्द्र रईश	कानपुर	२५१)
,, सिंघई कन्हैयालाल गिरधारीलाल	कटनी	२५१)
,, सेठ महावीरप्रसाद केदारप्रसाद	,,	२५१)
,, ,, चान्दमल जी रईश	रांची	२५१)
,, ,, दीनानाथ ठेकेदार	मुरार (गवालियर)	२५१)
,, डालचन्द्र सर्राफ	सागर	१०१)
,, बाबू रामस्वरूप	बरुआसागर	१०१)
,, सेठ अमरचन्द्र पहाड्या	पलासवारी	१०१)
,, ,, भागचन्द्र सोनी	अजमेर	१०१)

अभिनन्दन—

आद्य-मंगल

णमो अरहंताणं,

णमो सिद्धाणं,

णमो आइरियाणं,

णमो उवज्झायाणं,

णमो लोये सव्व साहूणं ।

मेरे जिनवरका नाम राम।
हे सन्त! तुम्हें सादर प्रणाम॥

चिरगांव]— (राष्ट्रकवि) मैथिलीशरण गुप्त

शुभाशंसनम्

१

चञ्चच्चन्द्रिकचन्द्रचारुचरिता आचान्त चिन्ताचया-

श्चेतश्चिन्तितचिन्त्यचक्र निचयाः सञ्चितचित्राचराः ।

उच्चाचार विचार चार चतुराः सत्कीर्तिसाराञ्चिता—

स्ते जीवन्तु चिरं गणेशचरणाः श्रीचुञ्चुवृन्दार्चिताः ॥

२

उद्यद्दिव्यदिनेश दीधितिचयप्राग्भारभाभासुरा—

द्दृप्यत्कामकलापलायनपराः सच्छान्तिकान्त्याकराः ।

संतोषामृतपानदिग्धवपुषः कारूण्यधाराधराः

श्रीमन्तो गुणिनो जयन्तु जयिनः श्रीवर्णिपादाश्चिरम् ॥

३

शास्त्राम्भोधिवगाहनोत्थित लसत्सद्बोधभानूद्भव—

द्दिव्यालोक विलोकितावनितलाः सत्कीर्तिकेलीकलाः ।

पापातापहरा महागुणधराः कारूण्यपूराकरा—

जीयासुर्जगतीतले गुरुवराः श्रीमद्गणेशाश्चिरम् ॥

४

पीयूषनिष्यन्दनिभा यदीया

वाणी बुधानां हृदयं धिनोति ।

दीर्घायुषः सन्तुतरां महान्त—

स्ते वन्द्यपादा वरवर्णिनाथाः ॥

सागर]— (पं०) पन्नालाल 'वसन्त', सहित्याचार्य,

वर्णीजी : जीवन-रेखा

कौन जानता था--

'समय एव करोति बलाबलम्' का साक्षात निदर्शन, आल्हा ऊदलके कारण आबाल गोपालमें सुख्यात, तथा पुण्यश्लोका, भारतीय जोन ऑफ आर्क, स्वतंत्र भारत माताका अवतार महारानी लक्ष्मीबाईके नेतृत्वमें लड़ने वाले अन्तिम विद्रोहियोंकी पुण्य तथा पितृभूमि बुन्देलखंडपर भी जब सारे भारतके दास हो जाने पर अन्तमें दासता लाद ही दी गयी, तो कूटनीतिज्ञ गोरे विजेता उसे सब प्रकारसे साधन विहीन करके ही संतुष्ट न हुए अपितु उन्होंने अनेक भागोंमें विभाजित करके पवित्र बुन्देलखड नाम तक को लुप्त कर दिया। स्वतंत्रताके पुजारियोंका तीर्थस्थान झांसी सर्वथा उपेक्षित होकर ब्रिटिश नौकरशाहीका पिछड़ा हुआ जिला बना दिया गया। पर इससे बुन्देलखण्डका तेज तथा स्वतंत्रता–प्रेम नष्ट न हुआ और वह अलख आज भी जलती है। इसी जिलेके मड़ावरा परगनेमें एक हंसेरा नामका ग्राम है। इस ग्राममें एक मध्यवित्त असाठी वैश्य परिवार रहता था। इस घरके गृहपतिके ५० वर्षकी अवस्थामें प्रथम सन्तान हुई जिसका नाम श्री हीरालाल रक्खा गया था। इनकी यद्यपि पर्याप्त शिक्षा नहीं हुई थी तथापि वे बड़े सूक्ष्म विचारक तथा स्वाभिमानी व्यक्ति थे। परिस्थितियोंके थपेड़ोंने जब इनकी आर्थिक स्थितिको बिगाड़ना शुरू किया तब भी ये शान्त रहे। इन्हीं परिस्थितियोंमें वि० सम्वत् १९३१में इनके घर एक पुत्रने जन्म लिया जिसका नाम गणेशप्रसाद (आज पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसाद वर्णी) रक्खा गया। ज्योतिषियोंने यद्यपि बालकको भाग्यवान बताया था किन्तु उसके जन्मके बाद छह वर्ष तक घरकी आर्थिक स्थिति हीयमान ही रही। फलतः कर्नल ह्यूरोज द्वारा मड़ावरा-विजयके २२ वर्ष बाद (१८८० ई०) यह परिवार भी आ कर मड़वारामें बस गया।

यद्यपि प्रतिशोध लेनेमें प्रवीण गोरोंने भारतीय शासकोंके सरदारों तथा अनुरक्त नागरिकोंका कसके दमन किया था तथापि शाहगढ़ राजकी राजधानी मड़ावरा उस समय भी पर्याप्त धनी थी। नगरवासी सैकड़ों सम्मान्य श्रीमानोंके धर्म प्रेमको दो वैष्णव तथा ग्यारह जैनमन्दिर शिर उठा कर कहते थे। फलतः इस ग्राममें आते ही श्री हीरालालजी सम्मान पूर्वक जीवन ही न विताने लगे अपितु बालक गणेशको भी यहांके प्राईमरी तथा मिडिल स्कूलोंकी शिक्षाका सहज लाभ हो गया। इतना ही नहीं जैन-पुरामें रहनेके कारण चिन्तन शील बालक गणेशके मनमें एक अस्पष्ट जिज्ञासा भी जड़ जमाने लगी। उसकी लौकिक एवं आध्यात्मिक शिक्षाएं साथ साथ चल रहीं थीं। एक ओर वह अपने गुरूजीके साथ

प्रतिदिन संध्या समय शाला (वैश्णव मन्दिर) में आरती देखने, रामायण सुनने तथा प्रसाद लेने जाते थे तो दूसरी ओर घरके सामने स्थित गोरावालोंके जैनमन्दिरके चबूतरे पर होने वाली शास्त्र-सभा तथा पूजा आदिसे भी अनाकृष्ट नहीं रह पाते थे। जैन मन्दिरकी स्वच्छता, पूजाकी प्राञ्जल विधि, पूजनपाठकी संगीतमयता, पुराणोंमें हनूमानजी को बानर न बता कर वानरवंशी राजा कहना, आदि वर्णन जहां विवेकी बालकके मन पर अपनी छाप डाल रहे थे, वहीं पड़ोसी जैनियोंका शुद्ध आहार विहार उन्हें अपने कुलके रात्रिभोजन, अनछना पानी, महिनों चलने वाले दहीके जांवन, आदि शिथिल आचार से खिंचता जा रहा था। यतः दृढ़ श्रद्धानी पिता सामनेके जैन मन्दिर में होने वाली सभामें जाते थे अतः बालक गणेशको भी माता वहां जानेसे न रोक सकती थीं। संयोगवश १० वर्षकी अवस्थामें किसी ऐसी ही सभामें प्रवचनके बाद जब श्रोता नियम ले रहे थे तभी बालक गणेशने भी रात्रि-भोजनके त्यागका नियम ले लिया।

"सांचो देव कौन है इनमें ?"----

बालक गणेशके मनमें प्रश्न उठता था कि किस धर्म पर श्रद्धा की जाय ! कौल-धर्म तथा दृढ़ धर्म में किसे अपनाया जाय ! द्विविधा बढ़ती ही जा रही थी कि एक रात शालामें प्रसादके पेड़े बटे। इन्हें भी पुरोहित देने लगे, पर इन्होंने इंकार कर दिया। फिर क्या था सामने बैठे हुए गुरूजी दुर्वासा ऋषि हो गये और डट गया प्रह्लादकी तरह बालक गणेश; "मैं रातको नहीं खाऊंगा और न सम्यक्दृष्टि वानर वंशी राजा हनूमानको बानर मानूंगा। इतना ही नहीं अब मैं कालसे शाला भी नहीं आऊंगा।" प्रकृत्या भीरू शिष्यसे गुरुजी को ऐसी आशा न थी, पर हुक्का फोड़कर हुक्का न पीनेकी प्रार्थना करने वाले शिष्यकी ये बातें व्यर्थ तो नहीं ही मानी जा सकती थी। फलतः 'समझने पर सब करेगा'के सिवा चारा ही क्या था।

दूसरी परीक्षा—माताके मुखसे "लड़का बिगरत जात है, देखत नइयां, बारा बरसको तो हो गओ, जनेऊ काये नईं करा देत।" सुनकर पिताने आजाकी अनुमति पूर्वक कुलगुरु बुडेराके पुरेतको बुलाया तथा यज्ञोपवीत संस्कारकी पूरी तयारी कर दी। संस्कारके अन्तमें पुरेतजी ने मंत्र दिया और आज्ञा दी 'किसीको मत बताना।' तार्किक बालककी समझमें न आया कि हजारोंको स्वयं गुरुजी द्वारा दिया गया मंत्र कैसे गोप्य है ? शंका की, और कुलगुरु उबल पड़े। माताके पश्चाताप और खेदकी सीमा न रही। मुहसे निकल ही पड़ा "ईसें बिना लरकाकी भली हती।" जब प्रौढा माता उत्तेजित हो गयी तो बारह वर्षका लड़का कहां तक शान्त रहता ? मनकी श्रद्धा छिपाना असंभव हो गया और कह ही उठा "मताई आपकी बात बिल्कुल ठीक आय, अब मोय ई धर्ममें नईं रैने। आजसे जिनेन्द्रको छोड़कर दूसरेको नईं मानूं गो। मैं तो भौत दिननसें जाई सोच रओ तो के जैन धर्मइं मोरो कल्याण करै।" माता पुत्रके इस मतभेदमें भी सेठ हीरालाल अवचलित थे। पत्नीको समझाया कि जोर जबरदस्तीसे काम बिगड़े गा लड़केको पढ़ने लिखने दो। पढ़ाई चलती रही। स्कूलमें जो वजीफा मिलता था उसे अपने

ब्राह्मण साथी तुलसीदासको दे देते थे। इस प्रकार १४ वर्ष की उम्रमें हिन्दी मिडिल पास करनेपर लोगोंने नौकरी या धंधा करने को कहा पर आन्तरिक द्विविधामें पड़ा किशोर कुछ भी निश्चित न कर सका। चार वर्ष बीत गये, धीरे धीरे छोटा भाई भी विवाह लायक हो रहा था फलतः १८ वें वर्षमें इनका विवाह कर दिया गया।

यौवन प्रभातमें संसारमें भूल जाना स्वाभाविक था पर प्रकृतिका संकेत और था। यह वर्ष बड़े संकट का रहा। पहिले विवाहित बड़े भाईकी मृत्यु हुई, फिर पिता संघातिक बीमार हुए जिसे देखकर ११० वर्षकी अवस्थामें आजाको इच्छामरण प्राप्त हुआ और अगले दिन पिता भी चल बसे। विधवा जीवितमृत युवती भाभी और बिलखती वृद्धामाताने सारे वातावरणको संसारकी क्षणभंगुरतासे भर दिया। सिर पर पड़े दायित्वको निभानेके लिए मदनपुरके स्कूलमें मास्टरी शुरू की। ट्रेनिंगका प्रश्न उठा और नार्मल पास करने आगरा गये। किन्तु प्रारम्भ हो गयी सत्यकी खोज। किसी मित्रके साथ जयपुर गये और वहांसे इन्दौर पहुँचे। फिर माता पत्नीके भरण पोषण की चिन्ता हुई और शिक्षा विभागमें वहीं नौकरी कर ली। पर ये थपेड़े किनारेपर न ला सके अतः फिर घर लौट आये।

तीसरी परीक्षा--घर आते ही पत्नीका द्विरागमन हो गया। अवस्थाने विजय पायी। कारी-टोरन ग्रामके स्कूलमें अध्यापकी करने लगे। पत्नीको बुला लिया, सुखसे समय कट रहा था। ककेरे छोटे भाईका विवाह था अतः उसमें गये। पंक्तिमें सबके साथ बैठकर जीमनेका मौका आया किन्तु भोजन जैनियों जैसा नहीं था अतः पांतमें बैठनेसे इंकार कर दिया। जाति वाले आग बबूला हो गये, जातिसे गिराने की धमकी दी गयी। माताने समझाया 'अब तुम लरका नौंइ हो, समझबूझके चलो अपनो धरम पालो, काये मोय लजाउत हो।' पत्नी भी अपने संस्कार तथा सासके समझानेसे अपना वैष्णव धर्म पालनेका आग्रह करने लगी। फलतः उससे मन हट गया। सोचा जो करना है उसे कहां तक टाला जाय और किस लिए? "आप सब जनों की बात मंजूर है, मैं अपने आप अलग भओ जात।" कह कर घरसे निकल पड़े।

"तैसी मिले सहाय"--

घरसे चलकर टीकमगढ़ ओरछा पहुंचे। सौभाग्यसे वहां श्रीराम मास्टरसे भेंट हो गयी और इन्होंने जताराके स्कूलमें नियुक्ति करवा दी। यहां पहुंचनेसे श्री कड़ोरेलाल भायजी, पं० मोतीलाल वर्णी तथा रूपचन्द्र बनपुरयाका समागम प्राप्त हुआ। खूब धर्म चर्चा तथा पूजादि चलते थे। बढ़ती आस्थाके साथ साथ धर्मका रहस्य जाननेकी अभिलाषा भी बढ़ती जा रही थी। जवानीका जोश त्यागकी तरफ झुका रहा था फलतः भायजीने समझाया पहिले ज्ञान सम्पादन करो फिर त्याग करना। उन्होंने यह भी बार बार कहा कि माता पत्नी को बुला लो अब वे अनुकूल हो जांय गी। किन्तु आत्म-शोधके लिए कृतसंकल्प युवक गणेश प्रसादको कहां विश्वास था। उनके मनमें श्रद्धा बैठ गयी थी कि सब जैनी अच्छे होते हैं। अतः उनकी

ही संगति करनी चाहिये शेष लोगोंसे बचना चाहिये। तथापि भायजी की बात न टाल सके और माताजी को चले आनेके लिए निवदेनात्मक पत्र डाल दिया, किन्तु इसमें स्पष्ट संकेत था कि 'यदि आपने जिनधर्म धारण न किया तो आप दोनोंसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा।' पर कौन जानता था कि कुछ ही दिनमें वे माता मिल जाने वाली हैं जो युवक गणेशको शीघ्र ही पंडित गणेशप्रसाद वर्णीके रूपमें जैन समाज को दें गी।

जताराके पासके सिमरा गांवमें एक क्षुल्लक जी विराजमान थे फलत: अपने साथियोंके कहने पर वर्णी जी भी वहां गये। शास्त्र बांचा तथा भोजन करने सम्पन्न विधवा; सिंघैन चिरोंजाबाईजीके यहां गये। भोजनके समय वर्णीजीका संकोच देखकर निसन्तान विधवाका मातृत्व उभर आया और मनसा उन्होंने इन्हें अपना पुत्र उसी क्षणसे मान लिया। किन्तु वर्णीजी आत्म रहस्य जाननेके लिए उतावले थे। सोचा क्षुल्लक जी अधिक सहायक हो सकें गे, पर निकट सम्पर्कने आशाको निर्मूल कर दिया। किन्हीं लोगोंको स्वाध्याय कराते हुए आजीविका करनेकी सम्मति दी। इस प्रकार जब वर्णीजी अपनी धुनमें मस्त थे, उन्हें क्या पता था कि उनकी धर्म-माताको यह सब नागवार गुजर रहा है। अन्तमें "बेटा घरे चलो" कह कर वे उन्हें अपने घर ले गयीं। उनको घर रखा और पर्यूषण पर्व बाद जयपुर जा कर जैन शास्त्रोंके अध्ययनकी सम्मति दी। फलत: पर्व समाप्त होते ही जयपुरको चल दिये। इनके चले जानेके बाद माता-पत्नी आयीं और इन्हे न पाकर भग्न-मनोरथ हो कर फिर मड़ावरा को लौट गयीं।

किन्तु अभी समय नहीं आया था मार्गमें गवालियर ठहरे तो वहां पर चोरी हो गयी फलतः पासमें कुछ न रहा। वर्णीजीने यद्यपि जयपुर यात्राका विचार छोड़ दिया तथापि जिस प्रकार कष्ट सहते हुए जतारा लौटे और लज्जा संकोचवश धर्ममाताके पास न गये, उसने ही बाईजी (सिंघैन चिरोंजाबाईजी) को आभास दे दिया था कि यह ज्ञान प्राप्त किये विना रुकने वाले नहीं हैं। कुछ समय बाद इनके मित्र खुरई धर्म चर्चा सुननेके लिए निकले उनके आग्रहसे यह भी चल दिये। यद्यपि टीकमगढ़में ही गोटी-राम भायजी की उपेक्षाने इन्हें शास्त्रज्ञ बननेके लिए कृत-संकल्प बना दिया था तथापि यह श्रेय तो खुरईको ही मिलना था। जहां खुरईके जिनमन्दिर, श्रावक, शास्त्र प्रवचन, आदिने वर्णीजी को आकृष्ट किया था वहीं खुरईकी शास्त्र सभामें प्राप्त "यह क्रियातो हर धर्म वाले कर सकते हैं....तुमने धर्मका मर्म नहीं समझा। आजकल न तो मनुष्य कुछ समझें और न जानें केवल खान पानके लोभसे जैनी हो जाते है। तुमने बड़ी भूल की जो जैनी हो गये।" व्यङ्ग तथा तिरस्कार पूर्ण समाधानने वर्णीजीके सुप्त आत्मा को जगा दिया। यद्यपि अंतरंगमें कड़वाहट थी तथापि ऊपरसे "उस दिन ही आपके दर्शन करुंगा जिस दिन धर्मका मार्मिक स्वरूप आपके समक्ष रख कर आपको संतुष्ट कर सकूंगा।" मिष्ट उत्तर देकर अध्ययनका अटल संकल्प कर लिया था। तथापि तुरन्त कोई मार्ग न सूझनेके कारण उस समय वे पैदल ही मड़ावराको चल दिये और तीन दिन बाद रातमें घर पहुंचे।

द्वितीय यात्रा—माताने सोचा जगकी उपेक्षाने शायद आंखें खोल दी हैं और अब यह घर रह कर काम करेगा। पर अन्तरंग में प्रज्वलित ज्ञानतृषाकी शान्ति कहां थी ? तीन दिन बाद फिर ब्रमरानेको चल दिये और वहांसे रेशन्दीगिरकी यात्राको पैदल ही चल दिये। वहांसे यात्रा करके कुण्डलपुर गये। इस प्रकार तीर्थयात्रासे परिणाम तो विशुद्ध होते थे पर ज्ञानवृद्धि न थी। बहुत सोचकर भी युवक वर्णी दिग्भ्रान्तसे चले जा रहे थे। रामटेक, मुक्तागिरि, आदि क्षेत्रोंकी यात्रा की किन्तु मन्दिरोंकी व्यवस्था और स्वच्छताने रह रह कर एक ही प्रश्नको पुष्ट किया—'क्या यहां आध्यात्मिक लाभ (ज्ञान चर्चा) की व्यवस्था नहीं की जा सकती ? उसके बिना इस सबका पूर्ण फल कहां ?' प्रतीत होता है कि मार्गकी कठिनाइयां पूर्व बद्ध ज्ञानवरणीको समाप्त करनेके लिए पर्याप्त न थीं फलतः खुजलीने शरीर पर आक्रमण किया। और बढ़ते शारीरिक कष्ट तथा घटते हुए पैसेने कुछ क्षणोंके लिए विवेक पर भी पर्दा डाल दिया। फलतः पैसा बढ़ानेकी इच्छासे वेतूलमें ताशके पत्ते पर दाव लगाया और अवशेष तीन रुपया भी खो दिये। फिर क्या था शारीरिक कष्ट चरम सीमा पर पहुंच गया, उदर भरणके लिए मिट्टी खोदनेका काम भी करना पड़ा। किन्तु इस संयंगने उन्हें भूलकर भी अकार्य करनेसे विरत कर दिया।

"ज्ञानीके छनमें त्रिगुप्तिसे सहज टरैं ते"–गजपंथमें आरवीके सेठसे भेंट हुई और बम्बई पहुंचे। बस यहांसे विद्वान वर्णीका जीवन प्रारम्भ होता है। खुरजाके श्रीगुरुदयालसिंहसे भेंट हुई उन्होंने इनके स्थानादिकी व्यवस्था जमवा दी। इन दिनों वर्णी जी कापियां बेच कर आजीविका करते थे तथा पं० जीवारामसे कातन्त्र व्याकरण तथा पं० बाकलीवालसे रत्नकरण्ड पढ़ते थे। संयोगवश इसी समय श्री माणिकचन्द्र दि० जैन परीक्षालयकी स्थापना हुई और परीक्षामें ससम्मान उत्तीर्ण होनेके कारण वर्णीजी को पं० गोपालदास जी ने छात्रवृत्ति दिला कर जयपुर भेज दिया। यहां आने पर अध्ययनका क्रम और व्यवस्थित हो गया और वे सर्वार्थसिद्धि, आदि ग्रन्थोंको पढ़ सके। जिस समय कातन्त्रकी परीक्षा दे रहे थे उसी समय पत्नीकी मृत्युका संवाद मिला। वर्णी जी ने इसे भी अपने भावी जीवनका पूर्व चिन्ह समझा और शान्त भावसे निवृत्ति मार्गको अपनानेका ही संकल्प किया।

जैन समाजमें भी सांस्कृतिक जागरण हो रहा था फलतः मथुरामें महा विद्यालयकी स्थापना हुई और वर्तमान में प्राच्य शिक्षित जैन समाजके महागुरु पं० गोपालदासजी वरैयाने वर्णीजीको मथुरा बुला लिया। यहां आनेसे पं० पन्नालालजी वाकलीवालका समागम पुनः प्राप्त करके वर्णीजीने 'अपने प्राणों को ही पाया था। अध्ययनका क्रम अब व्यवस्थित हो रहा था, तथा पूर्ण शिक्षा प्राप्त करनेका संकल्प दृढ़तर। फलतः गुरूभक्तिसे प्रेरित होकर वह कार्य भी कर देते थे जो नहीं करना चाहिये था। यही कारण था कि पं० ठाकुरप्रसादजी के लिए चौदशके दिन बाजारसे आलू-बेंगनकी तरकारी लानेसे इंकार भी न कर सके तथा अत्यन्त भयभीत भी हुए। लक्ष्यके प्रति स्थिरता तथा भीरूताके विचित्र समन्वयका यह अनूठा निदर्शन था। वर्णीजी अपने विषयमें स्वयं एकाधिक बार यह कह चुके हैं कि मेरी प्रकृति बहुत डरपोंक थी,

जो कुछ कोई कहता था चुप चाप सुन लेता था।" किन्तु यह ऐसा गुण सिद्ध हुआ कि वर्णीजी सहज ही उस समयके जैन नेताओं तथा गुरु गोपालदासजी, पं० बलदेवदासजी, आदिके विश्वासभाजन बन सके। इतना ही नहीं, इस गुणने वर्णीजीको आत्म-आलोचक बनाया जिसका प्रारम्भ सिमरा भेजे गये जाली पत्रको लिखनेकी भूलको स्वीकार करनेसे हुआ था। तथा हम देखते हैं कि इस अवसरपर की गयी गुरूजीकी भविष्यवाणी "आजन्म आनन्दसे रहोगे" अक्षरशः सत्य हुई है सच तो यह है कि इसके बाद ही आजके न्यायाचार्य पं० गणेशप्रसादका प्रारम्भ हुआ था, क्योंकि इसके बाद दो वर्ष खुरजामें रहकर वर्णी जी ने गवर्नमेंट संस्कृत कालेज बनारसकी प्रथमा तथा न्यायमध्यमा का प्रथम खण्ड पास किया था।

"एक बार बन्दे जो कोई...."—खुरजामें रहते समय एक दिन मृत्युका स्वप्न दिखा। वर्णीजी की अटल जैन धर्म श्रद्धाने उन्हें सम्मेदशिखर यात्राके-लिए प्रेरित किया। क्या पता जीवन न रहे? फिर क्या था गर्मीमें ही शिखरजीके लिए चल दिये। प्रयाग आकर अक्षयवट देखकर जहां भारतीयोंकी श्रद्धालुताके प्रति आदर हुआ वहीं उनकी अज्ञताको देखकर दया भी आयी। वर्णीजीने देखा अज्ञ श्रद्धालु जनताको गुण्डे पण्डे किस प्रकार ठगते हैं फलतः उनकी वैदिक रीति रिवाजों परसे बची खुची श्रद्धा भी समाप्त हो गयी। शिखरजी पहुंचने पर गिरिराजके दर्शनसे जो उल्लास हुआ वह गर्मीके कारण होने वाली यात्राकी कठिनाईका ख्याल आते ही कम होने लगा। उनके मन में आया "यदि हमारी बन्दना नहीं हुई तो अधम पुरुषोंकी श्रेणीमें गिना जाऊंगा। किन्तु उनकी अटल श्रद्धा फिर सहायक हुई और वे सानन्द यात्रासे लौट कर इस लोकापवाद-भीरुतासे सहज ही बच सके। वर्णीजी परिक्रमाको जाते हैं और करके लौटते हैं, पर इस यात्रामें जो एक साधारण सी घटना हुई वह उनके अन्तरंगको 'करतलामलक' कर देती है। वे मार्ग भूलते हैं और प्याससे व्याकुल हो उठते हैं। मृत्युके भय और जीवनके मोहके बीच झूलते हुए कहते हैं "यद्यपि निरीह वृत्तिसे ही भगवानका स्मरण करना श्रेयोमार्गका साधक है। हमें पानीके लिए भक्ति करना उचित न था। परन्तु क्या करें? उस समय तो हमें पानीकी प्राप्ति मुक्तिसे भी अधिक भान हो रही थी।........तृषित हो प्राण त्यागूं?........जन्मसे ही अकिञ्चत्कर हूं। आज निःसहाय हो पानीके विना प्राण गमाता हूं। हे प्रभो एक लोटा पानी मिल जाय यही विनय है।........ भाग्यमें जो बदा वही होगा फिर भी हे प्रभो! आपके निमित्तने क्या उपकार किया!" वर्णीजी जब इन संकल्प विकल्पोंमें डूब और उतरा रहे थे उसी समय पानी मिल जाता है। पूर्व पुण्योदयसे प्राप्त इस घटनाने उनमें जो श्रद्धा उत्पन्नकी उसकी प्रशंसा करते हुए वे स्वयं कहते हैं "उस दिनसे धर्ममें ऐसी श्रद्धा हो गयी जो कि बड़े बड़े उपदेशों और शास्त्रोंसे भी बहुत ही श्रमसाध्य है।"

"कार्यं वा साधयामि शरीरं वा पातयामि"—

सम्मेदशिखरसे सिमरा वापस गये। टीकमगढ़ रहकर ही अध्ययन चालू रखनेका प्रयत्न किया किन्तु अध्यापक दुलार झासे पशुबलिको ले कर विवाद हो गया और अहिंसाके पुजारी वर्णीजीने तय किया 'मूर्ख रहना अच्छा किन्तु हिंसाको पुष्ट करने वाले अध्यापकसे विद्यार्जन करना अच्छा नहीं।"

पर जिसकी जीवन-साध ही पांडित्य थी वह कैसे पढ़ना छोड़ कर शान्त बैठता ? फलतः धर्ममातासे आज्ञा लेकर हरिपुर (इलाहाबाद) पं० ठाकुरप्रसादके यहां चले आये। अध्ययन सुचारु रूपसे चल रहा था किन्तु 'संगात् संजायते दोषः।' एक दिन साथीके साथ भंग पी ली। नशा हुआ, पंडितजीने रात्रिमें खटाई खानेको कहा, पर 'आत्तं पाल्यं प्रयत्नः' फलतः निशिभोजन त्याग व्रतको निभानेके लिए नशेमें भी जागरूक रहे। 'भंग खानेको जैनी न थे' सुन कर गुरूजीके पैरोंमें गिर पड़े और अपने अपराधके लिए पश्चाताप किया तथा अपने जैनत्वको ऐसा दृढ़ किया कि 'हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैन मन्दिरम्' के गढ़ काशीमें भी विजय पायी।

वर्णीजी ऊंची शिक्षाके लिए काशी पहुंचे। अन्य विद्यार्थियोंके समान पोथी लेकर पं० जीवनाथ मिश्रके सामने उपस्थित हुए। नाम-कुल धर्म पूछा गया। प्रकृत्या भीरू पं० गणेश प्रसादने साहसके साथ कह दिया 'मैं ब्राह्मण नहीं हूं।'' पंडित आग बबूला हो गया अब्राह्मण और उसपर भी वेदनिन्दक' कदापि नहीं, मेरे यहां त्रिकालमें नहीं पढ़ सकता। वर्णीजी भी शमीतरू हैं। उनके भीतर छिपा नैयायिक जाग उठा और बोले "ईश्वरेच्छा विना कार्य नहीं होता, तब क्या हम इश्वरकी इच्छाके विना ही हो गये ? नहीं हुए; तब आप जाकर ईश्वरसे झगड़ा करो।" विचारे काशीके पंडितके लिए ही यह नूतन अनुभव न था अपितु वर्णीजीके अन्तरंगमें भी नूतन प्रयोगका संकल्प उदित हो चुका था। नागरिकता एवं सभ्यताकी रग रगमें भिदी साम्प्रदायिकता ने क्षण भरके लिए वर्णीजीको निराश कर दिया। वे कोठीमें बैठ कर रुदन करने लगे और सो गये। स्वप्न देखा, बाबा भागीरथोजीको बुलाओ और श्रुतपञ्चमीको काशीमें पाठशालाका मुहूर्त करो। फलतः यह प्रयत्न प्रारम्भ किया और दूसरे अध्यापककी खोजमें लग गये। तथा बड़ी कठिनाइयोंको पार करते हुए पंडित अम्बादास शास्त्रीके शिष्यत्वको प्राप्त कर सके।

इस समय तक परम तपस्वी बाबा भागीरथ जी आ चुके थे। संयोगवश अग्रवाल सभामें वर्णीजी चार मिनट बोले जिससे काशीके लोग प्रभावित हुए। विद्यालयके प्रयत्नकी चर्चा हुई तथा पं० झम्मनलालजी सा० से एक रुपया प्रथम सहायता मिली। वर्णीजी तथा बाबाजी निरुत्साह न हुए अपितु चौंसठ कार्ड लेकर समाजके विशेष व्यक्तियोंको लिख दिये। विशुद्ध परिणामोंसे कृत प्रयत्न सफल हुआ। स्व० बाबू देवकुमार रईश आरा, सेठ माणिकचन्द जवेरी बम्बई, बाबू छेदीलाल रईश बनारस आदिने प्रयत्नकी प्रशंसा की और सहायताका वचन दिया। यद्यपि निरुत्साहक उत्तर भी आये थे तथापि ज्यों ही सौ रूपया मासिक सहायताका वचन मिला त्यों ही पं० पन्नालालजी बाकलीवालको बुला लिया। पं० अम्बादासजीको आदि-अध्यापक तथा पं० वंशीधरजी इन्दौर, पं० गोविन्दरायजी तथा अपने आपको आदि-छात्र करके वर्णीजीने काशीके श्री स्याद्वाद दिगम्बर जैन विद्यालयका प्रारम्भ किया जिसने जैन समाजकी सांस्कृतिक जाग्रतिके लिए सबसे उत्तम और अधिक कार्य किया है। कह सकते हैं कि स्याद्वाद

दि० जैन विद्यालयने जैन समाजकी वही सेवा कि है जो श्री सय्यद अहमदके अलीगढ़ विश्वविद्यालयने मुसलमानोंकी, पूज्य मालवीयजीके काशी विश्वविद्यालयने वैदिकोंकी तथा पूज्य गांधीजीके विद्यापीठोंने पूरे भारतकी की है। प्रथम दो शिक्षा संस्थाओंकी अपेक्षा स्याद्वाद विद्यालयकी यह विशेषता रही है कि इसने कभी भी जैन साम्प्रदायिकता को उठने तक नहीं दिया है। माना कि उपरि लिखित सज्जनोंके सिवा स्याद्वाद विद्यालयको उन्नतिके शिखर पर ले जानेमें परमपूज्य बाबा भागीरथजी वर्णी, श्री दीपचन्दजी वर्णी, स्व०ब्र० ज्ञानानन्दजी, बाबा शीतलप्रसादजी, श्री निर्मलकुमार रईस (आरा) वर्तमान मंत्री बाबू सुमतिलालजी, प्रधानाध्यापक पं० कैलाशचन्द्रजी, सुपरि० बाबू पन्नालाल चौधरी, आदिका हाथ प्रधान रूपसे रहा है, तथापि यह एक संस्था वर्णीजीको अमर करनेके लिए पर्याप्त है, क्यों कि वे इसके संस्थापक ही नहीं हैं, अपितु आज जैन समाजकी विविध संस्थाओंके पोषक हो कर भी उन्हें सदैव इसके स्थायित्वकी चिन्ता रहती है। ऐसा लगता है कि वे अपनी इस मातृ-पुत्रि संस्थाको क्षण भर नहीं भूलते हैं। इस संस्थाके आदि प्रधानाध्यापक पं० अम्बादास शास्त्रीको आधुनिक जैन नैयायिकोंका कुलगुरु कहना ही उपयुक्त होगा।

आश्चर्य तो यह है कि इस महान संस्थाका प्रारम्भ कितना साधारण था। वटबीजसे भी लघुतर, क्यों कि सबसे पहिले श्री मूलचन्द्र सर्राफ बरुआसागरने दो हजार गजरशाही रुपया सहायतामें दिये थे। किन्तु आधुनिक युगमें जैनत्वके स्थितिकारक उक्त महाशयोंके सत्प्रयत्नका ही यह फल है कि इस विद्यालयने विविध विषयोंके विशेषज्ञ अनेक विद्वान जैन समाज तथा देशको दिये हैं। स्याद्वाद विद्यालयके विद्यार्थी रहते हुए वर्णीजीने अद्भुत आत्मशोधन किया था यह निम्न घटनाओंसे स्पष्ट हो जाता है—रामनगरकी सुप्रसिद्ध रामलीला देखने वर्णीजी गृहपतिकी अनुमति विना चले गये। लौटनेपर विचार हुआ। जवानीका जोश, वर्णीजी भी कुछ कह गये। कठोर विनयी (डिसिप्लेनरी) बाबाजीने इन्हें पृथक् कर दिया। विदायीकी सभा हुई। प्रकृत्या विनम्र वर्णीजीको आत्मबोध हुआ। उनके पश्चाताप तथा दृढ़तापूर्ण भाषणने बाबाजीको पिघला दिया। बाबाजीने अनुभव किया कि सर्व साधारण उनके समान अकम्प विनयी नहीं हो सकता। फलतः अपने आदर्श तथा लोक शक्तिका विचार करके उन्होंने अधिष्ठातृत्व को त्याग दिया। सबसे रोचक बात तो यह थी कि दूसरेके द्वारा लादे गये दण्डके विरुद्ध खड़े होने वाले वर्णीजीने एक मास पर्यन्त मधुर भोजनका स्वयमेव त्याग कर दिया। यह आत्मदण्ड वर्णीजीके लिए साधारण नहीं था क्योंकि वे कहा करते हैं कि जब ब्रह्मचारी उमरावसिंहने अपना नाम ज्ञानानन्द रक्खा तो गोष्ठीमें चर्चा हुई और वर्णीजीने कहा 'भैया मैं यदि अपनो नाम बदलों तो 'भोजनानन्द' रखों काये कि वो अधिक सार्थक होगा।' वर्णीजी राजर्षि हैं, कहां कौन उत्तम भोज्य पदार्थ होता या बनता है यह सब जितना वे जानते है उससे भी बढ़कर उनकी इसके प्रति उदासीनता है।

लाला प्रकाशचन्द्र सहारनपुर वर्णीजीके साथ छेदीलालजी की धर्मशालामें रहते थे। यौवन, धन तथा स्वच्छन्दताने इन्हें बिगाड़ दिया था। अपने अवगुण छिपानेके लिए इन्होंने वर्णीजी को घूंस देनी चाही, पर वर्णीजीने सौ रुपयाके नोटपर नजर भी न डाली। गो कि 'दोषवादे च मौनम्' को पालन करते हुए दूसरेसे न कह कर वर्णीजी ने उन्हीं को समझाया। संसारको जितना अधिक वर्णीजी समझते हैं उतना शायद ही कोई जानता हो तथापि इतने गम्भीर हैं कि उनकी थाह पाना असंभव है। किन्तु विशेषज्ञता तथा गाम्भीर्यने उनकी शिशु-सुलभ सरलतापर रंचमात्र प्रभाव नहीं डाला है। आज भी किसी बातको सुनकर उनके मुखसे आश्चर्य सूचक प्लुत "अरे" निकल पड़ता है। यही कारण है कि स्व० बाईजी तथा शास्त्रीजी बहुधा कहा करते थे "तेरी बुद्धि क्षणिक ही नहीं कोमल भी है। तूं प्रत्येकके प्रभावमें आ जाता है।"

मनुष्यके स्वभावका अध्ययन करनेमें तो वर्णीजीको एक क्षण भी नहीं लगता। यही कारण है कि वे विविध योग्यताओंके पुरुषोंसे सहज ही विविध कार्य करा सके हैं। यह भी समझना भूल होगी कि यह योग्यता उन्हें अब प्राप्त हुई है। विद्यार्थी जीवनमें बाईजीके मोतियाबिन्दकी चिकित्सा कराने किसी बंगाली डाक्टरके पास झांसी गये। डाक्टरने यों ही कहा यहांके लोग बड़े चालाक होते हैं फिर क्या था माता-पुत्र उसकी लोभी प्रकृतिको भांप गये और चिकित्साका विचार ही छोड़ दिया। बादमें उस क्षेत्रके सब लोगोंने भी बताया कि वह डाक्टर बड़ा लोभी था। किन्तु धर्ममाता की व्यथाके कारण वर्णीजी दुःखी थे, उन्हें स्वस्थ देखना चाहते थे। तथापि उनकी आज्ञा होने पर बनारस गये और परीक्षामें बैठे गोकि मन न लगा सकनेके कारण असफल रहे। लौटनेपर बागमें एक अंग्रेज डाक्टरसे भेंट हुई। वर्णीजी को उसके विषयमें अच्छा ख्याल हुआ। उससे बाईजी की आंखका आपरेशन कराया और बाईजी ठीक हो गयीं। इतना ही नहीं वह इतने प्रभावमें आया कि उसने रविवारको मांसाहारका त्याग कर दिया तथा कपड़ोंकी स्वच्छता आदिको भोजन-शुद्धिका अंग बनानेका इनसे भी आग्रह किया।

वर्णीजीका दूसरा विशेष गुण गुणग्राहकता है, जिसका विकास भी छात्रावस्थामें ही हुआ था। जब वे चकौती (दरभंगा) में अध्ययन करते थे तब द्रौपदी नामकी भ्रष्ट बालविधवामें प्रौढ़ावस्था आने पर जो एकाएक परिवर्तन हुआ उसने वर्णीजी पर भी अद्भुत प्रभाव डाला था। वे जब कभी उसकी चर्चा करते हैं तो उसके दूषित जीवनकी ओर संकेत भी नहीं करते हैं और उसके श्रद्धान की प्रशंसा करते हैं। विहारी मुसहर की निर्लोभिता तो वर्णीजीके लिए आदर्श है। अल्प वित्त, अपढ़ होकर भी उसने उनसे दश रुपये नही ही लिये क्यों कि वह अपने औषधिज्ञानको सेवार्थ मानता था। घोरसे घोर घृणोत्पादक अवसरोंने वर्णीजीमें विरक्ति और दयाका ही संचार किया है प्रतिशोध और क्रोध कभी भी उनके विवेक और सरलताको नहीं भेद सके हैं। नवद्वीपमें जब कहारिनसे मछलीका आख्यान सुना तो वहांके नैयायिकोंसे विशेष ज्ञान प्राप्त करनेके प्रलोभनको छोड़ कर सीधे कलकत्ता पहुंचे। और वहांके विद्वानोंसे

भी छह मास अध्ययन किया। इस प्रकार यद्यपि वर्णीजीने तब तक न्यायाचार्यके तीन ही खण्ड पास किये थे तथापि उनका लौकिक ज्ञान खण्डातीत हो चुका था। तथा उन्होंने अपने भावी जीवन क्षेत्र-जैन समाजमें शिक्षा प्रचार तथा मूक सुधारके लिए अपने आपको भली भांति तयार कर लिया था।

'जानो और जानने दो–'

कलकत्तेसे लौटकर जब बनारस होते हुए सागर आये तो वर्णीजीने देखा कि उनका जन्म जनपद शिक्षाकी दृष्टिसे बहुत पिछड़ा हुआ है। जब नैनागिर तरफ विहार किया तो उनका आत्मा तड़प उठा। बंगाल और बुन्देलखण्ड की बौद्धिक विषमताने उनके अन्तस्तलको आलोडित और आन्दोलित कर दिया। रथयात्रा, जलयात्रा, आदिमें हजारों रुपया व्यय करने वालोंको शिक्षा और शास्त्र-दानका विचार भी नहीं करते देखकर वे अवाक रह गये। उन्होंने देखा कि भोजन-पान तथा लैङ्गिक सदाचार को दृढ़तासे निभाकर भी समाज भाव—आचारसे दूर चला जा रहा है। साधारण सी भूलोंके लिए लोग बहिष्कृत होते हैं और आपसी कलह होती है। प्रारम्भमें किसी विधवाको रख लेनेके कारण ही 'विनैकावार होते थे पर हलवानीमें सुन्दर पत्नीके कारण बहिष्कृत, दिगौडेमें दो घोड़ोंकी लाड़ाईमें दुर्बल घोड़ेके' मरने पर सबल घोड़े वालेका दण्ड, आदि घटनाओंने वर्णीजीको अत्यन्त सचिन्त कर दिया था। हरदीके रघुनाथ मोदी वाली घटना भी इन्हीं सब बातोंकी पोषक थी। उनके मनमें आया कि ज्ञान विना इस जड़तासे मुक्ति नहीं। फलतः आपने सबसे पहिले बंडा (सागर, म० प्रा०) में पाठशाला खुलवायी। इसके बाद जब आप ललितपुरमें इस चिन्तामें मग्न थे कि किस प्रकार उस प्रान्तके केन्द्र स्थानोंमें संस्थाएं स्थापित की जांय उसी समय श्री सबालनवीसने सागरसे आपको बुलाया। संयोगकी बात है कि आपके साथ पं० सहदेव झा भी थे। फलतः श्री कण्डयाके प्रथम दानके मिलते ही अक्षय-तृतीयाको प्रथम छात्र पं० मुन्नालाल रांधेलीयकी शिक्षासे सागरमें श्री 'सत्तर्क सुधा तरंगिणी पाठशाला' का प्रारम्भ हो गया। गंगाकी विशाल धाराके समान इस संस्थाका प्रारम्भ भी बहुत छोटा था। स्थान आदिके लिए मोराजी भवन आनेके पहिले इस संस्थाने जो कठिनाइयां उठायीं वास्तवमें वे वर्णीजी ऐसे बद्धपरिकर व्यक्तिके अभावमें इस संस्थाको समाप्त कर देनेके लिए पर्याप्त थीं। आर्थिक व्यवस्था भी स्थानीय श्रीमानों की दुकानोंसे मिलने वाले एक आना सैकड़ा धर्मादाके ऊपर अश्रित थी। पर इस संस्थाके वर्तमान विशाल प्राङ्गण, भवन, आदिको देखकर अनायास ही वर्णीजीके सामने दर्शकका शिर झुक जाता है। आज जैन समाजमें बुन्देल खण्डीय पंडितोंका प्रबल बहुमत है उसके कारणोंका विचार करने पर सागरका यह विद्यालय तथा वर्णीजी की प्रेरणासे स्थापित साढूमल, पपौरा, मालथौन, ललितपुर, कटनी, मड़ावरा, खुरई, बीना, बरुआसागर, आदि स्थानोंके विद्यालय स्वयं सामने आ जाते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि इन पाठशालाओं

ने प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा देने में बड़ी तत्परता दिखायी हैं। इन सबमें सागर विद्यालयकी सेवाएं तो चिर स्मरणीय है।

वर्णीजीने पाठशाला स्थापनाके तीर्थका ऐसे शुभ मुहूर्तमें प्रवर्तन किया था कि जहांसे वे निकले वहीं पाठशालाएं खुलती गयीं। यह स्थानीय समाजका दोष है कि इन संस्थाओंको स्थायित्व प्राप्त न हो सका। इसका वर्णीजी को खेद है। पर समाज यह न सोच सका कि प्रान्त भरके लिए व्याकुल महात्माको एक स्थानपर बांध रखना अनुचित है। उनके संकेतपर चलकर आत्मोद्धार करना ही उसका कर्त्तव्य है। तथापि वर्णित्रयके सतत प्रवास तथा विशुद्ध पुरुषार्थने बुन्देलखण्ड ही क्या अज्ञान अन्धकाराच्छन्न समस्त जैन समाजको एक समय विद्यालय पाठशाला रूपी प्रकाश-स्तंभोंसे आलोकित कर दिया था। इसी समय वर्णीजीने देखा कि केवल प्राच्य शिक्षा पर्याप्त नहीं है फलतः योग्य अवसर आते ही आपने जबलपुर 'शिक्षा-मन्दिर' तथा जैन विश्व विद्यालयकी स्थापनाके प्रयत्न किये। यह सच है कि जबलपुरकी स्थानीय समाजके निजी कारणोंसे प्रथम प्रयत्न तथा समाजकी दलबन्दी एवं उदासीनताके कारण द्वितीय प्रयत्न सफल न हो सका, तथापि उसने ऐसी भूमिका तयार कर दी है जो भावी साधकोंके मार्गको सुगम बनावेगी। आज भी वर्णीजी बौद्धिक विकासके साथ कर्मठताका पाठ पढ़ाने वाले गुरु कुलों तथा साहित्य प्रकाशक संस्थाओंकी स्थापना व पोषणमें दत्तचित्त हैं। ऊपरके वर्णनसे ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि वर्णीजीने मातृमण्डल की उपेक्षा की, पर ध्रुव सत्य यह है कि वर्णीजीका पाठशाला आन्दोलन लड़के लड़कियोंके लिए समान रूपसे चला है। इतना ही नहीं ज्ञानी-त्यागी मार्गका प्रवर्तन भी आपके दीक्षागुरू बाबा गोकुल चन्द्र (पितुश्री पं० जगमोहनलालजी सिद्धान्तशास्त्री) तथा आपने किया है।

"पर स्वारथके कारने"—

आश्चर्य तो यह है कि जो वर्णीजी अधिक पैसा पास न होने पर हफ्तों कच्चे चने खाकर रहे और भूखे ही रह गये, अपनी माता (स्व० चिरोंजा-) बाईजीसे भी किसी चीजको मांगते शरमाते थे, उन्हींका हाथ पारमर्थिक संस्थाओंके लिए मांगनेको सदैव फैला रहता है। इतना ही, नहीं संस्थाओंका चन्दा उनका ध्येय बन जाता था। यदि ऐसा न होता तो सागरमें सामायिकके समय तन्द्रा होते ही चन्देकी लपकमें उनका शिर क्यों फूटता। पारमार्थिक संस्थाओंकी झोली सदैव उनके गलेमें पड़ी रही है। आपने अपने शिष्योंके गले भी यह झोली डाली है। पर उन्हें देखकर वर्णीजीकी महत्ता हिमालयके उन्नत भालके समान विश्वके सामने तन कर खड़ी हो जाती है। क्योंकि उनमें "मर जाऊं मांगूं नहीं अपने तनके काज।' का वह पालन नहीं है जो पूज्य वर्णीजीका मूलमंत्र रहा है। वर्णीजीकी यह विशेषता रही है कि जो कुछ इकट्ठा किया वह सीधा संस्थाधिकारियोंको भिजवाया या दिया और स्वयं निर्लिप्त। वर्णीजीके निमित्त से इतना अधिक चन्दा हुआ है कि यदि वह केन्द्रित हो पाता तो उससे विश्व

ने प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा देने में बड़ी तत्परता दिखायी हैं। इन सबमें सागर विद्यालयकी सेवाएं तो चिर स्मरणीय है।

वर्णीजीने पाठशाला स्थापनाके तीर्थका ऐसे शुभ मुहूर्तमें प्रवर्तन किया था कि जहांसे वे निकले वहीं पाठशालाएं खुलती गयीं। यह स्थानीय समाजका दोष है कि इन संस्थाओंको स्थायित्व प्राप्त न हो सका। इसका वर्णीजी को खेद है। पर समाज यह न सोच सका कि प्रान्त भरके लिए व्याकुल महात्माको एक स्थानपर बांध रखना अनुचित है। उनके संकेतपर चलकर आत्मोद्धार करना ही उसका कर्त्तव्य है। तथापि वर्णित्रयके सतत प्रवास तथा विशुद्ध पुरुषार्थने बुन्देलखण्ड ही क्या अज्ञान अन्धकाराच्छन्न समस्त जैन समाजको एक समय विद्यालय पाठशाला रूपी प्रकाश-स्तंभोंसे आलोकित कर दिया था। इसी समय वर्णीजीने देखा कि केवल प्राच्य शिक्षा पर्याप्त नहीं है फलतः योग्य अवसर आते ही आपने जबलपुर 'शिक्षा-मन्दिर' तथा जैन विश्व विद्यालयकी स्थापनाके प्रयत्न किये। यह सच है कि जबलपुरकी स्थानीय समाजके निजी कारणोंसे प्रथम प्रयत्न तथा समाजकी दलबन्दी एवं उदासीनताके कारण द्वितीय प्रयत्न सफल न हो सका, तथापि उसने ऐसी भूमिका तयार कर दी है जो भावी साधकोंके मार्गको सुगम बनावेगी। आज भी वर्णीजी बौद्धिक विकासके साथ कर्मठताका पाठ पढ़ाने वाले गुरु कुलों तथा साहित्य प्रकाशक संस्थाओंकी स्थापना व पोषणमें दत्तचित्त हैं। ऊपरके वर्णनसे ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि वर्णीजीने मातृमण्डल की उपेक्षा की, पर ध्रुव सत्य यह है कि वर्णीजीका पाठशाला आन्दोलन लड़के लड़कियोंके लिए समान रूपसे चला है। इतना ही नहीं ज्ञानी-त्यागी मार्गका प्रवर्तन भी आपके दीक्षागुरू बाबा गोकुल चन्द्र (पितुश्री पं० जगमोहनलालजी सिद्धान्तशास्त्री) तथा आपने किया है।

"पर स्वारथके कारने"—

आश्चर्य तो यह है कि जो वर्णीजी अधिक पैसा पास न होने पर हफ्तों कच्चे चने खाकर रहे और भूखे ही रह गये, अपनी माता (स्व० चिरोंजा-) बाईजीसे भी किसी चीजको मांगते शरमाते थे, उन्हींका हाथ पारमर्थिक संस्थाओंके लिए मांगनेको सदैव फैला रहता है। इतना ही, नहीं संस्थाओंका चन्दा उनका ध्येय बन जाता था। यदि ऐसा न होता तो सागरमें सामायिकके समय तन्द्रा होते ही चन्देकी लपकमें उनका शिर क्यों फूटता। पारमार्थिक संस्थाओंकी झोली सदैव उनके गलेमें पड़ी रही है। आपने अपने शिष्योंके गले भी यह झोली डाली है। पर उन्हें देखकर वर्णीजीकी महत्ता हिमालयके उन्नत भालके समान विश्वके सामने तन कर खड़ी हो जाती है। क्योंकि उनमें "मर जाऊं मांगूं नहीं अपने तनके काज।' का वह पालन नहीं है जो पूज्य वर्णीजीका मूलमंत्र रहा है। वर्णीजीकी यह विशेषता रही है कि जो कुछ इकट्ठा किया वह सीधा संस्थाधिकारियोंको भिजवाया या दिया और स्वयं निर्लिप्त। वर्णीजीके निमित्त से इतना अधिक चन्दा हुआ है कि यदि वह केन्द्रित हो पाता तो उससे विश्व

विद्यालय सहज ही चल सकता। तथापि इतना निश्चित है कि असली (ग्रामीण) भारतमें ज्योति जगानेका जो श्रेय उन्हें है वह विश्व विद्यालयके संस्थापकोंको नहीं मिल सकता, क्योंकि वर्णीजी का पुरुषार्थ नदी, नाले और कूप जलके समान गांव, गांवको जीवन दे रहा है।

वर्णीजीको दयाकी मूर्ति कहना अयुक्त न होगा। उनके हृदयका करुणास्रोत दीन दुःखीको देखकर अवाधगतिसे बहता है। दीन या आक्रान्तको देखकर उनका हृदय तड़प उठता है। यह पात्र है या अपात्र यह वे नहीं सोच सकते, उसकी सहायता उनका चरम लक्ष्य हो जाता है। यही कारण है कि नगद रुपया, चांदीके गहने तथा भरपेट भोजन करने वाले गृहस्थ भिखमंगे ने इनसे भोजन वसूल कर लिया और बादमें इनकी सरलतापर रीझ कर "केवल उपरी वेश देखकर ठगा न जाना" उपदेश दिया था। गो कि उसका उपदेश व्यर्थ ही रहा और लोग वेश बनाकर वर्णीजीको आज भी ठगते हैं, पर बाबाजी "कर्तुं वृथा प्रणयमस्य न पारयन्ति।" के अनुसार "अरे भइया हमें वो का ठगें जो अपने आपको ठग रहो।" कथनको सुनते ही आज भी दयामय वर्णीके विविध रुप सामने नाचने लगते हैं। यदि एक समय लुहारसे संडसी मांग कर लकड़हारिनके पैरसे खजूरका कांटा निकालते दिखते हैं तो दूसरे ही क्षण बहेरिया ग्रामके कुआंपर दरिद्र दलित वर्गके बालकको अपने लोटेसे जल तथा मेवा खिलाती मूर्ति सामने आ जाती है, तीसरे क्षण मार्गमें ठिठुरती स्त्रीकी ठंड दूर करनेके लिए लंगोटीके सिवा समस्त कपड़े शरीर परसे उतार फेंकती श्यामल मूर्ति झलकती है, तो उसके तुरन्त बाद ही लकड़हारेके न्याय-प्राप्त दो आना पैसोंको लिए, तथा प्रायश्चित रुपसे सेर भर पक्वान्न लेकर गर्मीकी दुपहरीमें दौड़ती हुई पसीनेसे लथपथ मूर्ति आंखोंके आगे नाचने लगती है। करांपुरके कुंएपर वर्णीजी पानी पी कर चलना ही चाहते हैं कि दृष्टि पास खड़े प्यासे मिहतर पर ठिठक जाती है। दया उमड़ी और लोटा कुएंसे भर कर पानी पिलाने लगे, लोकापवादभय मनमें जागा और लोटा डोर उसीके सिपुर्द करके चलते बने। स्थिति-पालन और सुधार का अनूठा समन्वय इससे बढ़कर कहां मिलेगा?

"जो संसार विषैं सुख होतो"

इस प्रकार विना विज्ञापन किये जब वर्णीजी का चरित्र निखर रहा था तभी कुछ ऐसी घटनाएं हुईं जिन्होंने उन्हें बाह्यत्याग तथा व्रतादि ग्रहणके लिए प्रेरित किया। यदि स्व० (सिंघैन चिरोंजा-) बाईजीका वर्णीजी पर पुत्र स्नेह लोकोत्तर था तो वर्णीजीकी मातृश्रद्धा भी अनुपम थी। फलतः बाइजीके कार्यको कम करनेके लिए तथा प्रिय भोज्य सामग्री लानेके लिए वे स्वयं ही बाजार जाते थे। सागरमें शाक फलादि कूंजड़िनें बेचती हैं। और मुंहकी वे जितनी अशिष्ट होती हैं अचरणकी उतनी ही पक्की होती हैं। एक किसी ऐसी ही कूंजड़िनकी दुकानपर दो खूब बड़े शरीफा रखे थे। एक रईस इनका मोल कर रहे थे और कूंजड़िनका मुंह मांगा मूल्य एक रुपया नहीं देना चाहते थे, आखिरकार ज्यों ही वे दुकानसे आगे बढ़े

वर्णीजीने जाकर वे शरीफे खरीद लिए। लक्ष्मी-वाहनने इसमें अपनी हेठी समझी और अधिक मूल्य देकर शरीफे वापस पानेका प्रयत्न करने लगे। कूंजड़िनने इस पर उन्हे आड़े हाथों लिया और वर्णीजीको शरीफे दे दिये। उसकी इस निर्लोभिता और वचनकी दृढ़ता का वर्णीजी पर अच्छा प्रभाव पड़ा और बहुधा उसीके यहांसे शाक सब्जी लेते थे। पर चोर यदि दुनियाको चोर न समझे तो कितने दिन चोरी करेगा? फलतः स्वयं दुर्बल और भोग लिप्त समाजमें इस बातकी कानाफूसी प्रारम्भ हुई, वर्णीजीके कानमें उसकी भनक आयी। सोचा संसार! तूं तो अनादि कालसे ऐसा ही है, मार्ग तो मैं ही भूल रहा हूं, जो शरीरको सजाने और खिलाने में सुख मानता हूं। यदि ऐसा नहीं तो उत्तम वस्त्र, आठ रुपया सेरका सुगंधित चमेलीका तेल, बड़े बड़े बाल, आदि विड़म्बना क्यों? और जब स्वप्नमें भी मनमें पापमय प्रवृत्ति नहीं तो यह विडम्बना शतगुणित हो जाती है। प्रतिक्रिया इतनी बढ़ी कि श्रीछेदीलाल के बगीचेमें जाकर आजीवन ब्रह्मचर्यका प्रण कर लिया। मोक्षमार्गका पथिक अपने मार्गकी ओर बढ़ा तो लौकिक बुद्धिमानोंने अपनी नेक सलाहें दीं। वे सब इस व्रतग्रहणके विरुद्ध थीं तथापि वर्णीजी अडोल रहे।

इस व्रत ग्रहणके पश्चात् उनकी वृत्ति कुछ ऐसी अन्तर्मुख हुई कि पतितोंका उद्धार, अन्तर्जातीय विवाह, आदिके विषयमें शास्त्र सम्मत मार्ग पर चलनेका उपदेशादि देना भी उनके मनको संतुष्ट नहीं करता था। यद्यपि इन दिनों भी प्रतिवर्ष वे परवार सभाके अधिवेशनोंमें जाते थे तथा बाबा शीतलप्रसादजीके विधवा विवाह आदि ऐसे प्रस्तावोंका शास्त्रीय आधारसे खण्डन करते थे। बुन्देलखण्डके अच्छे सार्वजनिक आयोजन उनके विना न होते थे। तथापि उनका मन वेचैन था। इन सबमें आत्मशान्ति न थी। व्यक्ति-गत कारण से न सही समष्टिगत हितकी भावनासे ही विरोध और विद्वेषको अवसर मिलता था। ऐसे ही समय वर्णीजी बाबा गोकुलचन्द्रजीके साथ कुण्डलपुर (सागर म० प्रा०) गये यहां पर भी बाबाजीने उदासीनाश्रम खोल रखा था। वर्णीजीने अपने मनोभाव बाबाजीसे कहे और सप्तम 'प्रतिमा' धारण करके पदसे भी अपने आपको वर्णी बना लिया। ज्ञान और त्यागका यह समागम जैन समाजमें अद्भुत था। अब वर्णीजी व्रतियोंके भी गुरु थे। और सामाजिक विरोध तथा विद्वेषसे बचनेकी अपेक्षा उसमें पड़नेके अवसर अधिक उपस्थित हो सकते थे किन्तु वर्णीजीकी उदासीनतासे अनुगत विनम्रता ऐसे अवसर सहज ही टाल देती थी। तथा वर्णी होकर भी उनके सार्वजनिक कार्य दिन दूने रात चौगुने बढ़ते जाते थे।

"पुण्य तो" लोग कहते हैं "वर्णीजी न जाने कितना करके चले हैं। ऐसा सातिशय पुण्यात्मा तो देखा ही नहीं।" क्योंकि जब जो चाहा मिला, या जो कह दिया वही हुआ ऐसी अनेक घटनाएं उनके विषयमें सुनी हैं। नैनागिर ऐसे पर्वतीय प्रदेशमें उनके कहनेके बाद घंटे भरमें ही अकस्मात् अंगूर पहुंच जाना, बड़गैनीके मन्दिरकी "प्रतिष्ठाके समय सूखे कुओंका पानीसे भर जाना, आदि ऐसी घटनाएं हैं जिन्हे सुनकर मनुष्य आश्चर्यमें पड़ जाता है।

"काहे को होत अधीरा रे"—

जब वर्णी जी उक्त प्रकारसे समाजका सम्मान और पूजा तथा मातुश्री बाईजीके मातृस्नेहका अविरोधेन रस ले रहे थे उसी समय बाईजीका एकाएक स्वास्थ्य बिगड़ा। विवेकी वर्णीजीकी आखोंके आगे आद्यमिलनसे तब तककी घटनाएं धूम गयीं। और कल्पना आयी प्रकृत्या विवेकी, बुद्धिमान, दयालु तथा व्यवस्था प्रेमी बाईजी शायद अब और मेरे ऊपर अपनी स्नेह छाया नहीं रख सकेंगी। उनका सरल हृदय भर आया और आंखें छलछला आयीं, विवेक जागा, 'माता? तुमने क्या नहीं दिया और किया! अपने उत्थानका उपादान तो मुझे ही बनना है। आपके अनन्त फलदायक निमित्त को न भूल सकूंगा तथापि प्रारब्धको टालना भी संभव नहीं।' फलतः अनन्त मातृ-वियोगके लिए अपनेको प्रस्तुत किया। बाईजीने सर्वस्व त्याग कर समाधिमरण पूर्वक अपनी इहलीला समाप्त की। विवेकी लोकगुरु वर्णीजी भी रो दिये और अन्तरंगमें अनन्तवियोग दुःख छिपाये सागरसे अपने परम प्रिय तीर्थक्षेत्र द्रोण-गिरिकी ओर चल दिये। पर कहां है शान्ति? मोटरकी अगली सीटके लिए कहा सुनी क्या हुई; राजर्षिने सवारीका ही त्याग कर दिया। सागर वापस आये तो बाईजीकी "भैया भोजन कर लो" आवाज फिर कानोंमें आने सी लगी। सोचा मोहनीय अपना प्रताप दिखा रहा है। फिर क्या है अपने मनको दृढ़ किया और अबकी बार पैदल निकल पड़े वास्तविक विरक्तिकी खोजमें। फिर क्या था गांव, गांवने बाइजीके लाड़लेसे ज्योति पायी। यदि सवारी न त्यागते पैसेवाले भक्त लोग आत्म-सुधारके बहाने उन्हें वायुयान पर लिये फिरते, पर न रहा बांस, न रही बांसुरी। वर्णीजी झोंपड़ी झोंपड़ीमें शान्तिका सन्देश देते फिरने लगे और पहुंचे हजारों मील चलकर गिरिराज सम्मेदशिखरके अंचलमें। शायद पूजनीया बाईजी जो जीवित रहके न कर सकती वह उनके मरणने संभव कर दिया। यद्यपि वर्णीजीको यह कहते सुना है "मुझे कुछ स्वदेशका (स्वजनपद) अभिमान जग्रत हो गया और वहांके लोगोंके उत्थान करनेकी भावना उठ खड़ी हुई। लोगोंके कहनेमें आकर फिरसे सागर जानेका निश्चय कर लिया। इस पर्यायमें हमसे यह महती भूल हुई जिसका प्रायश्चित्त फिर शिखरजी जानेके सिवाय अन्य कुछ नहीं, चक्रमें आ गया।" तथापि आज वर्णीजी न व्यक्तिसे बंधे हैं न प्रान्त या समाजसे, उनका विवेक और विरक्तिका उपदेश जलवायुके समान सर्वसाधारणके हिताय है।

तुम्हारा ही वह पौरुष धन्य !

श्री हुकमचन्द्र बुखारिया, 'तन्मय'

सम्प्रति युगके हे एक श्रेष्ठतम
पुरुष वृद्ध !
मुट्ठी भर दुर्बल हाड़ोंके हे स्तूप !!
जियो तुम अविचल जब तक
दूर क्षितिज पर तप्त दिवाकर,
शीतल शशि, नक्षत्र अनेकानेक—
प्रकाशित हैं जगमग-जगमग !
माना—
अब तक इतिहास
वहन करता आया है भार-
अनेकों का—
लघु या कि महान,—

—भले सुख्यात या कि बदनाम,
स्वार्थमय या कि परम निष्काम,
विकृत अति या कि पूर्ण अभिराम !
सहन गम्भीर वही इतिहास
किन्तु अब शनैः शनै भयभीत
हुआ जाता यह सोच-विचार—
कि निकटागत में तुम जब प्राप्त
उसे होओ गे ही अनिवार्य,
संभालेगा तब कैसे भार
तुम्हारा वह ? हे गहन महान् !
अनेकों शिशु भोले सुकुमार,
अशिक्षित बने भूमिके भार,—

डोलते थे जीवनके अर्थ,
किन्तु असफल होते थे व्यर्थ !
तुम्हारा मानव करूणा-स्रोत—
सुकोमल—ममता ओतप्रोत—
न सह पाया यह त्रास महान,
महामनु—वंशज का अपमान—
हो उठा आहत-सा कटि-बद्ध,
प्रतिज्ञा-बद्ध, वज्र-संकल्प,
विश्व-कल्याण-भावना साथ !
तुम्हारा ही वह पौरूष धन्य !
तुम्हारा ही वह साहस धन्य !!
कि स्थापित करा दिए सर्वत्र
बड़े-छोटे अनेक वे स्थान—
जहां विद्या करती है हास,—

संस्कृति करती समुद विलास ;
जहां की पावन रजमें लोट
दुध मुंहे शिशु भोले नादान
शनैः बनते सविवेक जवान ;
और यौवन—मय नारी—प्राण—
तरूण पाकर विद्याका दान
सहज ही बन जाते विद्वान्,
सीख जाते संस्कृतिका ज्ञान—
कि कैसे लायी जा सकतीं
कठिन सूनी घड़ियों में भी
मनोहर मन्द मन्द मुस्कान !
किया जा सकता है कैसे
सुखी जीवनका शुभ आह्वान !!
और लाया जा सकता है
अर्द्धनिशि में भी स्वर्ण-विहान !!!

श्रद्धाञ्जलि—

श्रीमान् त्यागी गणेशप्रसाद जी वर्णीका आत्मा पवित्र है। धर्मरस से और धर्मप्रभावनाकी सद्भावनाओं से परिप्लुत है। आत्माकी शुद्धि-विशुद्धि उनका अटल ध्येयविन्दु रहा है। लौकिक आशा आकांक्षा उनके चित्तमें स्थान पाती नहीं। पूर्व जीवनके विषयमें जो जो बातें सुनने को मिलीं सुनकर उनकी उदार हृदयताका, धर्मभावनाओंका परिचय प्राप्त कर हृदयको सन्तोष ही हुआ। लोभ और प्रलोभनोंकी अधिकतर सामग्रीके बीचमें घिर जाने पर भी अपनी अटल आत्म विशुद्धि और आत्मैकाग्र-भावनाके बल पर ही आत्मा अधिकाधिक विशुद्धिको प्राप्त हो सकता है। लौकिक दृष्टिसे कहा जाय तो "आध्यात्मप्रवणता" ही वर्णीजीका अन्तश्चर प्राण है और समाज में सद्धर्मके प्रचारकी जागृत भावना यह बहिश्चर प्राण है। धर्मोन्नतिके साधनों और धर्मायतनोंके निर्माणमें उनके मन-वचन-काय सदा ही लगे रहे हैं।

श्री वर्णीजी जैसे श्रद्धासे निर्मल, ज्ञानसे प्रभावशाली और चारित्रसे विकसनशील भव्यात्मा विरल हैं। यह हार्दिक कामना है कि वर्णीजी चिरकालके लिए जीवित रहें।

कारंजा]— —(क्षुल्लक) समन्तभद्र

卐 卐 卐

पूज्य गुरुवर्यके किन किन गुणोंका स्मरण करूं? भक्तिके अतिरेकसे भावोंमें पूर आ रहा है। उनके वचन मेरे लिए आगम हो गये हैं। उनका संकलन और प्रचार मेरे जीवनकी साध बन चुके हैं। मैं उनके चरण चिन्हों पर चल सकूं यही हार्दिक भावना है।

जबलपुर]— —(ब्र.) कस्तूरचन्द्र नायक

卐 卐 卐

पूज्य वर्णीजी आजके जैन शलाका-पुरुष हैं। आप सबसे बड़े समयज्ञ हैं अतः आप सर्वप्रिय और मान्य हैं। सरल जीवन और "जान दो अपनेकोका करने" उन्हें विरक्त जीवनकी मूर्ति बना देते हैं। 'जियो और जीनो दो' तो आपके जीवनका मूलाधार है। मैं उनसे अत्यन्त उपकृत हूं

अतः निकटका होनेके कारण मेरे द्वारा उनका गुणगान कैसा ? वे चिरायु हों इसी भावनाको भाता हुआ उनके चरणोंमें प्रणाम करता हूं।

गया]— —(ब्र.) गोविन्दलाल

卐 卐 卐

जिन्होंने जन्मसे ही उदासीन रहकर त्यागपूर्ण जीवन बिताया है, शिक्षा और ज्ञान प्रधान त्यागका मार्ग चलाया है, पैदल ही चलकर गांव गांव जाकर अज्ञान और कलहमें पड़ी जनता का उद्धार किया है उनके विषयमें मैं क्या कह सकता हूं क्योंकि मेरी विरक्ति और ज्ञानवृत्तिके भी तो वही वर्णीजी मूलस्रोत हैं।

बरुआसागर]— —(भगत) सुमेरचन्द्र

卐 卐 卐

मुझमें जो कुछ त्याग और विवेक है उसके कारणका विचार करने पर वर्णीजीकी सरल मूर्ति सामने आ जाती है। अतः उनके चरणोंमें प्रणाम करनेके सिवा कुछ और कहना धृष्टता होगी।

रेशन्दीगिरि]— —(ब्र.) मंगलसेन तुच्छ

卐 卐 卐

श्री वर्णीजी की मेरे निवास-स्थान जबलपुरपर बहुत वर्षों से कृपा रही है। परन्तु मुझे उनके दर्शन करने का अवसर १९४५ में जेलसे निकलनेके पश्चात ही प्राप्त हुआ। उनकी विद्वता तो असंदिग्ध है ही, परन्तु मुझ पर उनके सरल स्वभावका अत्यधिक प्रभाव पड़ा। वृद्धावस्थाको अंग्रेजीमें लोग द्वितीय बाल्यकाल कहते हैं, परन्तु इसका कारण उस अवस्था में उत्पन्न होने वाली शारीरिक तथा मानसिक दुर्बलता है। परन्तु वर्णीजी मुझे बालकके समान भोले लगे, अपने चरित्र-बल के कारण। अपने ग्रन्थ 'कृष्णायन' में मैंने जीवन्मुक्तका जो वर्णन किया है उसकी निम्नलिखित चौपाइयां मुझे वर्णीजी को देखते ही याद आ जाती हैं—

जिमि वितरत अनजाने लोका,
सुमन सुरभि, तारक आलोका,
तिमि जीवन-क्रम तासु उदारा,
सौख्य चतुर्दिक वितरन-हारा।

नागपुर]— (पं०) द्वारका प्रसाद मिश्र,
मंत्री, विकास तथा निर्माण, मध्यप्रान्त

तुम्हें शत शत बन्दन मतिमान् ।

(१)

अपने अथक यत्नके बल पर,
की उन्नति बाधाएं सह शर,
बनें विरोधी भी अनुयायी
आज तुम्हें पहिचान ॥

(२)

संस्था सागर के निर्माता,
आत्म तत्व के अनुपम ज्ञाता,
है अगाध पाण्डित्य तुम्हारा-
तुम गुरुवर्य महान् ॥

(३)

तुमने ज्ञान प्रसार किया है,
विद्वानों को जन्म दिया है,
दूर विवादों कलहों से रह-
किया आत्म कल्याण ॥

(४)

रहा सदा यह ध्येय तुम्हारा,
बनें समाज विवेकी सारा,
क्रिया काण्ड अरु कुरीतियां सब
हो जायें निष्प्राण ॥

(५)

जैनागम के वृद्ध पुजारी,
हैं सेवाएं अमूल्य तुम्हारी,
कैसे हो सकते हम ऊऋण
कर किञ्चित् गुणगान ॥

(६)

फिर भी हम सब होकर प्रमुदित,
करते श्रद्धाञ्जली समर्पित,
करो इन्हें स्वीकार; तपस्वी !
हो तुमसे उत्थान ॥

रुड़की]--

(शास्त्री) धरर्णेन्द्रकुमार 'कुमुद'

जैनधर्मको मैं भारत भूमिपर त्याग और तपोमय जीवनके लिए किये हुए अनुभवों में उच्च स्थान देता हूं और इसी कारण उसके प्रति मेरी सहानुभूति है। जैन प्राकृत और संस्कृत एवं अपभ्रंश साहित्यमें भारतीय संस्कृतिके लिए अत्यधिक सामग्री भरी हुई है। जिन पूर्वज विद्वानोंने इस साहित्यके निर्माणमें अपने व्रतपूर्ण जीवनका सदुपयोग किया है उनके प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करना हमारा कर्तव्य है! पूज्य वर्णीजी ऐसी ही विभूति हैं, उनका तथा जैन साहित्यसे भारतीय संस्कृतिकी व्याख्या के सब प्रयत्नोंका मैं अभिनन्दन करता हूं।

नयी दिल्ली]— (डा०) वासुदेवशरण अग्रवाल, एम० ए०, डी० लिट

卐 卐 卐

पूज्यवर वर्णीजी से मेरा सम्बन्ध ४० वर्ष से है। मेरे गांव बरुआसागर में ४० वर्ष पूर्व आपका दो वर्ष मुकाम रहा। तब मुझे भी आपके सम्पर्कमें आनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। आपके उपदेशसे मेरी पढ़नेमें रुचि हुई और मेरे ऊपर आये हुए सब प्रकारके विघ्नोंको टाल कर मेरी शिक्षाकी आपने ही व्यवस्था की।

जैन समाजके इस महोपकारी महात्माकी मनोवृत्ति जैनदर्शन, जैनतत्त्वज्ञान और जैनधर्मके प्रचार और उद्योतनमें ही निरन्तर रहती है। बुन्देलखण्ड प्रान्तका तो आपके द्वारा कल्पनातीत उपकार हुआ है। आपने सैकड़ों गरीबों को पूंजीपतियोंके चंगुलसे बचाया, ऋणमुक्त कराया। स्थान स्थान पर छोटी बड़ी पाठशालाएं और संस्कृत विद्यालय खोले। आपने परस्परके वैमनस्योंका सैकड़ों जगह कालामुंह किया, सैकड़ों गरीब भाई पञ्चायती प्रथाके दुरुपयोगसे छोटी छोटी अशास्त्रीय बातोंके ही ऊपर जातिच्युत कहे जाते थे उनका शुद्धिकरण कराया और वह सब तत्तत् पञ्चायतोंने पूर्ण मान्य किया। उनके सम्बन्धमें किसीमें भी कोई मतभेद पैदा नहीं हुआ।

आपको अष्टसहस्री पढ़नेकी बड़ी उत्कण्ठा थी—कोई पढ़ाने वाला नहीं था, अपना कोई विद्यालय नहीं था। इसीलिए आपने प्रतिज्ञा ले ली थी कि जब तक मैं उस ग्रन्थको पूर्ण नहीं पढ़ लूंगा, सिले हुए कपड़े नहीं पहनूंगा। इसी प्रतिज्ञाने काशीमें स्याद्वाद महाविद्यालयकी नींव आपसे डलवायी और जैन न्यायके पठन पाठनका प्रमुखतासे प्रचार कराया। पूज्य वर्णीजीने सागरमें और बुन्देलखण्डमें अनेक स्थानों पर जैसे बीना, पपौरा, खुरई, बरुआसागर, नैनागिर, द्रोणगिर बामौरा, साढूमल, आदिमें विद्यालय खुलवाये। इनमें बहुतसे तो छात्रावास युक्त हैं। आपने सामाजिक सुधारके लिए कई छोटी मोटी सभाओंकी स्थापना करायी। आपने संस्कृत शिक्षा प्रचारकी बड़ी लहर उत्पन्न की, जिसके परिणाम स्वरूप आज बुन्देलखण्डमें आपके कृपापात्र अनेक योग्य विद्वान पाये जाते हैं।

आपकी वाणीमें करुणा रसकी प्रधानता है। आपकी दयावृत्तिका झुकाव असमर्थकी ओर अधिक

रहता है। आपको पढ़ानेकी अपेक्षा पढ़ना अधिक पसन्द है। आप संस्था स्थापित करते हैं वरन् अधिकार नहीं चाहते अतएव आप सर्व संस्थाओंके स्वयम्भू अधिकारी हैं। आचरणपर आपका बचपनसे ही अधिक ध्यान रहा है। आपका स्वभाव ही ऐसा प्रभावक है कि दश पांच त्यागी हमेशा साथमें रहा ही करते हैं, अतः स्वयं आप एक प्रकारके संघपति हैं।

समाजमें जितने पक्ष हैं, वर्णीजीको उनमें किसीका भी अनुगामित्व पसन्द नहीं, न किसीको अनुगामी बनाना पसन्द है। आप लोकप्रिय नेता हैं, आपका उल्लेख करते समय कोई भी 'पूज्य' पद लगाये विना सन्तोष नहीं मानता। आपके भाषणमें मधुरता और व्यक्तित्वमें महान आकर्षण है। ब्रह्मचर्यका प्रताप आपके अतिवृद्ध कायमें भी प्रत्यक्ष दिखता है। बत्तीसों दांत मौजूद हैं, सब इन्द्रियां काम कर रही हैं।

आजकल आपकी दृष्टि कन्या-शिक्षणकी ओर झुक रही है। पहले आप समन्तभद्र स्वामीके ग्रन्थोंका अवलोकन करते थे और अब कुन्दकुन्द स्वामीके ग्रन्थोंका मनन करते हैं। आपने जो आध्यात्मिक पत्र अपने प्रेमियोंको लिखे हैं वे कालान्तर ग्रन्थका रूप धारण करेंगे।

ऐसे पूज्य, परोपकारी, वस्तुस्वरूपचिन्तक, त्यागी एवं विद्वान् पुरुषके सम्बन्धमें क्या लिख सकता हूं! लेखक स्वयं उनके असाधारण उपकारके कारण अपने जीवनमें पूर्ण परिवर्तन मानता है और अपने परसे अनुमान लगाता है कि इसी प्रकार हजारों भाइयोंका जीवन परिवर्तित हुआ होगा।

इन्दौर]— (पं०) देवकीनन्दन, सिद्धान्तशास्त्री

卐 卐 卐

लोग कभी कभी कहते हैं कि पूज्यश्री वर्णीजीमें सरलता तथा दयाकी इतनी अधिकता है कि वे अनुशासनको नहीं बना सके। किन्तु ऐसे लोग सोचें कि 'स्वैराचार विरोधिनी' जैनी दीक्षाको क्या अस्त-व्यस्त व्यक्ति पाल सकता है। सागार और अनगार-आचार क्या हैं? क्या विश्वके अत्यन्त अनुशासन प्रिय जर्मन नागरिक भी उस ऊंचाई तक पहुंच सके हैं? स्पष्ट है कि बहुलतासे व्यवसायी होनेके कारण हम गृहस्थ ही क्षत्रियों द्वारा आचरित तथा प्रसारित जिनधर्मके अयोग्य हो गये हैं। इसीलिए हम अनायक या बहुनायक हैं। पूज्य श्री बाबाजी तो अनुशासन क्या आत्मानुशासन और एकताके आदर्श हैं। यही कारण है कि दर्शनार्थी उनके पीछे चलता है और विविध विचारोंके लोग उनके पास जाकर विरोध भूल जाते हैं। संसारके दुःखसे बचने तथा लौकिक और लोकोत्तर सुखको पानेके लिए चले इस महा समरके महा सेनानी वर्णीजी से यदि कोई वस्तु जैनसमाज तथा मानवसमाजको सीखनी है तो वह है आत्मानुशासन, जिसके आते ही लौकिक अनुशासन स्वयमेव प्राप्त हो जाता है। मुझे जब जब उनका ध्यान आता है तो मुखसे यही निकलता है 'चिरायु हों हमारे बाबाजी।'

सागर]— (पं०) मुन्नालाल रांधेलीय, न्यायतीर्थ

बौद्धिक अहिंसाका विशुद्ध रूप स्याद्वाद, विश्वशान्ति समृद्धिका एक मात्र साधन अहिंसा और अपरिग्रह तथा स्वतन्त्रताका सर्वोत्कृष्ट स्वरूप कर्मवाद अथवा अनीश्वरवाद ये तीनों जैनधर्मकी असाधारण विशेषताएं हैं। इनका मूर्तिमान् उदाहरण मैं पूज्य श्री बाबाजी को मानता हूं! फलतः मैं उनके चरणोंमें नत हूं।

सागर]— (पं०) दयाचन्द्र, सिद्धान्तशास्त्री

卐 卐 卐

श्रद्धेय वर्णीजी महोदय मेरे जीवनके सर्वप्रथम और सर्वोत्तम उपकारी हैं।

बड़ौत]— (पं०) तुलसीराम, वाणीभूषण

卐 卐 卐

पूज्यवर वर्णीजी भारतकी उन विभूतियोंमें से हैं जिन्होंने अहर्निश अविश्राम जन हित करनेमें अपने जीवनका क्षण क्षण विताया है। अध्यात्म प्रेमी होते हुए भी आपने जनताकी समस्त आवश्यक सेवाओंमें योगदान दिया है। पथ विचलितोंको सुपथ पर लाना आपका व्रत है। वर्णीजीकी जीवन घटनाओंसे प्रत्यक्ष है कि आप बने हुए सन्त नहीं हैं बल्कि स्वभावतः साधुप्रकृति महात्मा हैं। वर्त्तमान समयमें ज्ञान और चरित्र एक साथ नहीं रहते। भोले भाले त्यागी चरित्र धारण करते हैं और विद्वान दूसरोंके सूक्ष्म दोषोंकी प्रत्यालोचना करनेमें ही अपना समय निकाल देते हैं। निर्मल चरित्र धारण नहीं करते, परन्तु वर्णीजीने सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चरित्र, तीनोंको एक ही साथ अपना कर त्यागियों तथा विद्वानोंके लिए पुनीत पथ प्रदर्शित किया है।

आपकी प्रगाढ़ देशभक्ति, सन् १९४५ में जबलपुरमें आजाद हिन्द फौजके सैनिकोंकी रक्षार्थ आयोजित सभामें कहे गये "जिनकी रक्षाके लिए ४० करोड़ मानव प्रयत्नशील हैं उन्हें कोई शक्ति फांसीके तख्ते पर नहीं चढ़ा सकती, आप विश्वास रखिये; मेरा अन्तःकरण कहता कि आजादहिन्द सैनिकोंका बाल भी बांका नहीं हो सकता" शब्दोंसे स्पष्ट है। अपनी भगिनी पू० चन्दाबाईजीको दत्त सरल सुबोध अनुभूत दृष्टान्त आज भी ज्योंके त्यों स्मरण हो आते हैं। 'कभी कभी भाव हिंसा होकर कर्मबन्ध हो जाता है परन्तु द्रव्यहिंसा नहीं होती बल्कि इसके विपरीत उस हिंस्य प्राणी का भला हो जाता है।' इस जटिल सिद्धान्तको आपने म० प्रा० में एक गृहस्थ पति-पत्नी रहते थे, उनके एक पुत्र बड़ी प्रतीक्षाके पश्चात् उत्पन्न हुआ परन्तु चार वर्षका होने पर भी दैवयोगसे नहीं चल सकता था, दोनों पैर उसके जुड़े हुए थे। डाक्टर कहते थे कि बड़ा हो जाने पर ओपरेशन होगा तब शायद ठीक हो जायेगे। पुत्रके इस रोगसे दम्पति चिन्तित रहते थे। एक दिन रात्रिमें उनके घरमें चोरोंने आक्रमण किया और खोज करने पर भी जब माल हाथ न लगा तब क्रोधित होकर

उस बालकको छत परसे नीचे गिरा दिया। माता पिता हाय हाय करने लगे, नीचे दौड़े बालकको उठाकर देखते हैं तो उसके पैर खुल गये हैं और जुड़ा चमड़ा फट गया है, बालक मजेसे चलने लगा।" दृष्टान्त द्वारा हिंसक चोर भी पुण्यवान बालकका कुछ नहीं बिगाड़ सके उन्होंने हिंसाके भाव करके अपना ही बुरा किया और हिंस्य बालकका भला। ऐसे सरल हितोपदेष्टा पूज्यश्री के लिए मैं करबद्ध श्रद्धाञ्जलि समर्पित करती हूं।

बाला विश्राम, आरा]— (पं०) व्रजबालादेवी जैन

卐 卐 卐

पूज्य श्री १०५ क्षु० गणेशप्रसादजी वर्णीका ध्यान आते ही 'भरतेश वैभवम्' के यशस्वी लेखक रत्नाकर वर्णी मेरे मानस क्षितिजपर उदित होते हैं। वर्णीजीको यदि 'धरती-सुत' कहें तो शायद उनके अनेक गुणोंका कुछ संकेत मिले? कहां विन्ध्याटवीके अञ्चलमें जन्म, कहां साधारण शिक्षा, कहां वह निसर्गज सद्धर्मानुराग, कैसी वह ज्ञान पिपासा और दारुण महानिष्क्रमण तथा परिभ्रमण, कहां वह अनवद्य पांडित्य, कहां वह शिक्षा-संस्था-तीर्थ प्रवर्तन, कैसी अद्भुत लोकसंग्राहकता तथा सर्व-नेतृत्व और फिर कैसा वह गांव, गांव झोपड़ी, झोपड़ीविहार। सचमुच यह वर्णी भी 'भारत वैभव निर्माता' वर्णी हैं। उनके चरणोंमें साष्टाङ्ग सप्रणाम वन्दना।

शोलापुर]— (पं०) वर्द्धमान पार्श्वनाथ, शास्त्री, आदि

卐 卐 卐

भूखेको रोटीकी प्राप्ति परम पुरुषार्थ-सिद्धि है। दारिद्रय तथा अज्ञान शत्रुओंसे पदाक्रान्त वन्य बुन्देलखण्ड भूमिवासी हम लोगोंकी आज शिक्षितोंमें गणना पूज्य श्री के ही कारण है। उन्होंने ज्ञानाञ्जन शलाकासे अज्ञान तिमिरान्ध हम लोगोंके नेत्र खोल दिये हैं, यह हमारे ऊपर निर्भर है कि हम उनसे केवल धन-मकान-स्त्री देखें या समाज तथा धर्म देखें। यदि दूसरे पक्षको ग्रहण कर सके तो 'तस्मै श्री गुरवे नमः' कहनेके अधिकारी हो सकें गे।

सागर]— (पं०) मूलचन्द्र बिलौवा

卐 卐 卐

पूज्यपाद वर्णीजी संसारके उन महापुरुषोंमें से हैं जिन्होंने जनताके उपकारके लिए अपने बड़ेसे बड़े ऐहिक स्वार्थका त्याग किया है। आपमें प्रारम्भसे ही ज्ञान निष्ठा और परोपकार वृत्ति आकण्ठ भरी हुई है। जैन समाजमें जो आज प्राचीन शिक्षाका प्रसार है जिस पर कि हमारी संस्कृतिका आधार है उसका बहुत बड़ा श्रेयोभाग आपको है।

जो भी सम्पर्कमें आया वह अन्तरंगमें मायाशून्यता, सत्यनिष्ठा, प्रकाण्ड पाण्डित्य, विद्वताके

साथ चरित्र सहयोग, प्रभावक वाणी, परिणामोंमें अनुपम शन्ति, एवं आत्मिक और शारीरिक चरित्रकी उज्ज्वलता, आदि गुणराशिसे प्रभावित हुए विना नहीं रहा है। आपने ही जैनसमाजको तो सत्पथ दिखलाया है । अतः मैं पुज्यपाद श्रद्धेय वर्णीजी के प्रति श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हुआ आपके नैरोग्यपूर्ण दीर्घजीवनके लिए अनन्त महिम भगवानका स्मरण करते हुए कामाना करता हूं।

(पं०) इन्द्रलाल, शास्त्री, विद्यालङ्कार

जयपुर]—

卐 卐 卐

जैनसमाज ही नहीं भारत भर में अज्ञान और त्याग का गठबन्ध है । त्यागी ज्ञानी नहीं, ज्ञानीमें अतृप्त वासनाओंका नर्तन है फलतः त्याग नहीं । पूज्य श्री वर्णीजी वह महाविभूति हैं जिन्होंने त्यागकी उत्कट भावना होते हुए भी पहिले ज्ञानार्जन किया, फिर स्वर्गीय मातु श्री (चिरोंजा-) बाईजी ऐसी निसर्ग विदुषीकी तीक्ष्ण एवं स्नेहालु देख रेखमें क्रमशः त्याग मार्ग पर पग रखे। यही कारण है कि ये जैनसमाजकी अनुपम सेवा कर सके हैं । हे राजर्षि ! शतशः प्रणाम ।

(पं०) कस्तूरचन्द, शास्त्री

ईसरी-विहार]—

卐 卐 卐

काश ! भरतमें वह परम्परा फूलती फलती जिसे स्याद्वादसे प्रभावित हो उपनिषत्कारोंने अपनाया था तो "हस्तिना ताडयमानोऽपि न गच्छेज्जैन मन्दिरम्" ऐसी संकुचित मनोवृत्ति विद्वानोंमें घर न करती । और न जैनियोंमें ही सम्यक दर्शनके दोष आठ मद ही आते । तब वर्णीजी जैनसमाजके क्षेत्रमें ही सीमित न रहते अपितु 'विश्व विभूति' होते ।

नेमिचन्द्र, बी० कोम०, एल-एल० बी०

सहारनपुर]—

卐 卐 卐

त्यागमूर्ति न्यायाचार्य पण्डित गणेशप्रसाद वर्णीजी जैन समाजके अद्वितीय रत्न हैं। अपने अनुपम ज्ञानार्जन करके उसके साथ जी अनुपम वैराग्य भावना को अपनाया है वह हम सबके लिए गौरव की वस्तु है।

आप जैनसमाजकी दशा सुधारने और उसमें जागृति उत्पन्न करनेके लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहे हैं। उनकी ओजमयी मूर्तिके दर्शन करने व आपसे सद्धर्ममय-देशनाकी प्राप्ति होने से प्रत्येक मुमुक्षुकी आत्माको जो शान्ति प्राप्त होती है वह केवल अनुभवकी ही बात है।

आप संसारमें जैन वाङ्मय के प्रचारार्थ सदैव उत्सुक रहते हैं और सारा जीवन आपने जैन धर्म और जैन वाणीकी सेवा में लगाया है। केवल धार्मिक ही नहीं सामाजिक उन्नतिके लिए भी आप प्रयत्नशील हैं। कई स्थानोंपर जटिल समस्याएं उत्पन्न हुई और भिन्न तथा एक जातिमें भी संघर्षके

वातावरण उत्पन्न हुए, उनको आपने अपने प्रभाव और न्यायसे ऐसा सुलझाया है कि वह सब उदाहरण की बातें बन गयीं हैं। इससे आपका प्रशस्त सुधारक स्वरूप सामने आ जाता है जिसकी आधुनिक समयमें अत्यन्त आवश्यकता है।

इसी प्रकार इस नश्वर शरीरको आयु पर्यन्त धर्म साधनके लिए दृढ़ और नीरोग रखनेके लिए भी जैन विद्वानोंको आपने आयुर्वेद शास्त्र पढ़नेके लिए उत्साहित किया और उनकी शिक्षा का प्रबन्ध किया है। किन्तु आप स्वयं बड़े भारी वैद्य हैं क्योंकि हम तो त्रिफला आदि ही बांटते रह गये, और आपने व्रत संयम ग्रहण करने का उपदेश देकर शारीरिक तथा आध्यात्मिक रोगों की उत्पत्तिकी साधन सामग्री ही दूर कर दी है। आप चिरायु हों यहीं भावना है।

कानपुर]— (हकीम) कन्हैयालाल जैन, राजवैद्य

卐 卐 卐

विद्यार्थी कृतज्ञके सिवा क्या कुछ और भी हो सकता है? फिर उस महागुरूके प्रति जिसका वात्सल्य विद्यार्थी मात्रके लिए सदा खुला रहा है। इतना ही नहीं अप्रिय अनिष्टकारी छात्रोंपर उन्हें जो रोष आता था वह उनके मुख मण्डलका रक्तवर्ण करके विद्यार्थी हृदयको द्रुत कर देता था। जतारा निवासी होनेके कारण मुझपर उनका भ्रातृस्नेह रहा क्योंकि इस ग्रामके पास सिमरामें उन्हें अपनी धर्म-माता मिली थीं। अतएव अधिक न लिखकर चरणोंमें विनयावनत प्रणाम।

कानपुर]— (पं०) बंशीधर, न्या० ती०

卐 卐 卐

पूज्य वर्णीजीसे साक्षात् अध्ययन करनेके कारण मैं तो उनका चरण चञ्चरीक हूं। आपमें कषाय, मरुस्थलमें जलरेखा वत् समा जाती है। उनके सान्निध्यमें आनेवालोंको अनायास ही शान्ति, सम्पत्ति, प्रतिष्ठा, आदि की प्राप्ति होती है। उनके 'दृष्टि निर्मल बनाओ, निकट आनेवालोंको डांटो मत, भाग्यपर विश्वास रखो, संसारमें सुख चाहते हो तो बुद्धू से बनकर रहो' आदि वाक्य सदैव याद आते हैं।

पारसनाथ]— (पं०) शिखरचन्द्र, शास्त्री, न्याय-काव्यतीर्थ

卐 卐 卐

जब जब पूज्य श्री १०५ वर्णीजीका ध्यान करता हूं तब तब वह शीतकाल याद आता है जिसमें उस बुढियाने कहा था "बड़ी भली आदमन हो बऊ! कडाकेकी ठंड पर रई है और मौड़ाको पतरीसी कतैया पैरा राखी है। अबईसे साधु बनाउने है का? सम्हारकें राखो 'जो धूरा भरो हीरा आय।'" वर्णीजीकी जीवन सरिताके किनारे चलिये; स्कूल गये पंडितजीने देखा डरपोक सीधा लड़का है कहा हुक्का भर लाओ, देर लगी, बुलाया देखा खाली हाथ, क्योंरे गणेश? "पंडितजी कौन अच्छी आदत आय,

हाथसे छिटक गओ, फूट गओ।" चलो छुट्टी भई अब नईं पियें।' सहयोगियोंमें चर्चा आयी, शासन और स्कूल गये; नहीं भाई 'धूलि पड़ा हीरा है।'

× × ×

काशी आये विद्वनोंके यहां गये उन्होंने अब्राह्मण कहकर ठुकरा दिया। शास्त्रीजीके यहां पहुंचे विनम्रता पूर्वक विनयकी आंखें उठायी सामने दुर्वासा ऋषि हैं। अपमान और भर्त्सना धारापात, लौट आये। विद्यार्थी-वत्सल शास्त्रीजीका क्रोध शान्त हुआ कैसा सौम्य लड़का है, मैं व्यर्थ कुपित हुआ, नहीं उसे पढ़ाऊंगा 'वह धूलि भरा हीरा' है।

× × ×

पपौरा में परवार सभा होने वाली थी। किसे अध्यक्ष बनाया जाय? पैसे का नेतृत्व जो ठहरा 'ये सिंघई, वे सेठ, आदि शुरू हो गया। किसी कोंनेसे आवाज आयी जिसने स्याद्वाद, सत्तर्क, आदि अनेक विद्यालय खोल कर विद्वत्सरिता वहा दी है उस 'धूलि भरे हीरा' को। फिर क्या था बहुत ठीक, बहुत ठीक का समा बंध गया।

× × ×

जबलपुरके नेता आजाद हिन्द फौजकी रक्षाके लिए चन्दा करनेको सभा करनेके लिए चिन्तित हैं,जैनियोंसे कहो।''''जाने भी दो अपने साधुओंको सब कुछ मानते हैं,और वे साधु न जाने क्या बोलते हैं। वही बोलें वही जानें।''''इससे क्या मतलब पैसा तो यहां वही दे सकते हैं। अच्छा करिये। ठसाठस भरी सभामें मञ्चपर एक मझौले कदका सांवला वृद्ध किन्तु तेजस्वी साधु दो चादर ओढ़े आ बैठा। लोग बोले, बाबासे पं० द्वारकाप्रसादने कहनेके लिए आग्रह किया। बाबा दो चार वाक्य बोला और उसी कड़ाके की ठंडमें उसने अपनी एक चादर उतार कर भेंट कर दी। ठिठुरते सिकुड़ते लोगोंकी शारीरिक ही नहीं आन्तरिक ठंड भी विदा हो गयी। वह चद्दर ही तीन हजारमें विका और लग गयी वर्षा रुपयों,गहनों,आदि की। पं० मिश्र बोले महाराज! आंखे आज खुली हैं, धन्य हैं, आप 'धूलि भरे हीरा हैं।'

अतः हे! हीरा गुरु हम शिष्य धूलि कणोंका आपसे अनादि सम्बन्ध मोक्षान्त हो।

स्या० दि० जैन विद्यालय काशी]— (वि०) नरेन्द्र, धनगुंवा

卐 卐 卐

काश! मैं पढ़नेका लक्ष्य आत्मसुधार करता तथा अपने ज्ञानपर अमल कर सकता तो पूज्य-श्रीके चरण कमलोंमें श्रद्धाञ्जलि समर्पित करनेका अधिकारी होता।

रायपुर]— (पं०) बालचन्द्र, शास्त्री, का० ती०

गीत

सागर में आयी एक लहर

वह नव उमंग का मृदुल-लास, लहराती लेकर नया हास
वह ज्ञान-ज्योतिकी स्वर्ण किरण, तम में भी देती दिवि-प्रकाश
बिखराती मुक्ता छहर-छहर !

वह सब लहरोंमें चिर-नवीन; भीतर सुस्थिर, बाहर प्रवीण
जिसका दर्शन कर; अंतर में, बज उठती सहसा मधुर वीन
प्रतिध्वनि करती प्रत्येक पहर !

वह बुद्ध-मूर्ति-सी जंगल की; सबकी, जल-थल-नभ मंडल की
रवि से आलोकित- कुसुमाकर, किरणें विखेरती मंगल की
प्रस्तुत करती नव-संवत्सर !

तट - जनके रीते - से मनकी, पूरक बन कर वह कण-कण की
झंकृत करती स्वर-लहरी से, ध्वनि एक उसी, मनमोहन की
पल-पल करती शीतल, अंतर !

सागर में आयी एक लहर

सागर]— (पं०) पुरुषोत्तम दास कठल, बी० ए०

———

नके अनन्य भक्त बन जाते हैं। उपदेश देनेकी शैली अनुपम है। आप बिल्कुल निस्पृह हो . मात्रके कल्याणकी सदैव कामना करते हैं। यदि कोई विवादास्पद विषय आपके समक्ष उपस्थित जाता है तो आप अपनी प्रकाण्ड विद्वत्ता द्वारा दोनों ही पक्षोंको युक्तियुक्त आगमिक उत्तर द्वारा ट कर देते हैं।

आपको विद्या प्रसारका व्यसन है, जिसकी साक्षी समाजके महाविद्यालय हैं, आपने विद्या- के लिए जो अपनी निजी सम्पत्तिका उत्सर्ग किया है वह वह विद्याप्रेमी विद्वानोंके लिए भी अनु- येय है। आप चिरायु होकर जैनधर्मकी सेवा करते हुए आत्मोद्धारके साथ साथ लोकहित भी करते रहीं मेरी भावना है।

रेर]— —(सर सेठ) भागचन्द्र सोनी

卐 卐 卐

पूज्य श्री १०५ वर्णीजीके निकट आनेका जिन्हें भी अवसर मिल सका है वे उनकी ालता और सौजन्यसे मुग्ध हुए बिना नहीं रह सके। उनकी विद्वत्ता और प्रतिभाशाली व्यक्तित्वसे ऐसा है जो कि प्रभावित और चमत्कृत न हुआ हो ? उनकी कल्याणी वाणीने हमारे जनमनको व और संस्कृत करनेमें जो अमूल्य सहायता की है उसके हम सभी चिर आभारी रहेंगे। युग प्रवर्तक र्मके प्रकाश स्तम्भ श्री १०५ वर्णीजी की स्मृति सामाजिक जीवनमें सदैव जगमग रहेगी। उन्हें ख कर हम सदैव पुलकित प्रोत्साहित होते रहे हैं और होते रहें गे।

ई]— (शाहु) श्रेयान्सप्रसाद

卐 卐 卐

प्रातः स्मरणी पूज्यपाद पण्डित गणेशप्रसाद जी वर्णी न्यायाचार्य के अभिनन्दन समारोहके शुभ सर पर उनके प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए मैं अपना अहोभाग्य समझता हूं।

पूज्य वर्णीजी ने जैनसमाजके अज्ञान तिमिरको दूर करनेका अहर्निश प्रयत्न किया है। नके द्वारा संस्थापित श्री स्याद्वाद महाविद्यालय काशी आदि विद्यालय और गुरुकुल आदि थाएं जैनसमाजमें शिक्षा प्रचारका आदर्श कार्य कर रही हैं। इन संस्थाओंमें शिक्षा प्राप्त करके ार हुए अनेक विद्वान् जैन समाज और देशकी जो अनुपम सेवा कर रहे हैं उससे भारतवर्षमें जैन- ाजका मस्तक सदैवके लिए ऊंचा हो गया है। पूज्य वर्णीजी जन्मजात अजैन होते हुए भी अपनी दण दृष्टि द्वारा जिस प्रकार जैनधर्मको खोज सके तथा उसके प्रतिभाशाली विद्वान त्यागी पद प्रतिष्ठित हुए हैं वह सबोंके लिए अनुकरणीय होते हुए भी एक श्रद्धाकी वस्तु है।

वर्णीजीके दर्शन मात्रसे जो आनन्द आता है वह उस समय और भी अकथनीय हो जाता

है जब आप धाराप्रवाह वैराग्यमय उपदेशसे हृदयको आनन्द विभोर कर देते हैं। मैं पूज्य वर्णीजीको अपनी विनय युक्त श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हुआ, उनके चिरजीवी होने की शुभकामना करता हूं जिससे विश्वका कल्याण हो।

कानपुर]— (बाबू) कपूरचन्द्र धूपचन्द्र जैन

卐 卐 卐

'गतानुगतिको हिलोकः' बहुत समयसे मेरे मनमें धर्मकार्य करनेकी इच्छा रहती थी। मेरे प्रान्त तथा वंशमें रथयात्रा, आदिकी प्रथा है। मनमें संकल्प किया रथ चलाऊं और श्रीमन्त सेठ बनकर पिताजी के घरकी शान बढ़ाऊं। भगवान् वीरको इस क्षेत्रकी जनता स्वयमेव जान जायगी जब पंच कल्याणकोंकी झड़ी लगे गी। याद आये वर्णीजी कहते हुए 'शास्त्र दान सब दानोंसे बड़ा है।' वही करूं, वर्णीजी ठीक ही कहते हैं 'नाम पै मत मरो, काम करो।' मेरा परम सौभाग्य जो मुझ ऐसे व्यक्तिके पैसेके निमित्तसे 'वे धवल सिद्धान्त ग्रन्थ' प्रकाशमें आये जिनके दर्शनके लिए लोग तरसते थे।

लड़का हुआ, फिर दान करनेकी इच्छा हुई। बाबाजीसे मिला "अरे ए भैया काये को संकल्प विकल्प करत हो पाठशाला हैई स्कूल और खोल दो।" आज वह स्कूल कौलेज हो गया मुझे समाज, राज तथा देशमें सम्मान मिल रहा है। धर्मका सार क्या है यह तो वर्णीजीने ही बताया है। उनकी विद्वत्ता, सभा-चातुर्य, भाषण शैली, दया-माया, आदिकी मैं क्या तारीफ कर सकता हूं। मेरे लिए तो "वलिहारी गुरु आपकी जिन गुरू दियो बताय।" मेरे सवर्गीय बाबाजीके आदेश पर चलें और बाबाजी चिरकाल तक हमारे बचे रहैं यही वीर प्रभुके चरणोंके स्मरण पूर्वक भावना है।

दानवीर-कुटीर भेलसा] (श्रीमन्तसेठ) सितावराय लक्ष्मीचन्द

卐 卐 卐

पूज्य पं० गणेशप्रसादजी वर्णी बुन्देलखण्डकी पवित्र देन हैं इसलिए बुन्देलखण्डको अभिमान नहीं है, किन्तु बुन्देलखण्डी भाषाके लालित्य और सरलताका सामञ्जस्य जिस प्रकार पूज्यवर के गहन तत्त्व-पूर्ण उपदेशकी शैलीमें चमका है उसका अवश्य ही बुन्देलखण्ड उतना ही अभिमान कर सकता है जितना गुजरात विश्ववन्द्य महात्मा गांधी पर करता है। चन्दनके वृक्षसे चिपटे हुए सर्प जिस प्रकार मधुर ध्वनि सुनकर हठात् शिथिल हो जाते हैं उसी प्रकार मनुष्यसे लिपटे क्रोध-मान माया-लोभादि कषाय रूपी सर्प उपदेश सुनते ही क्षण भरके लिए स्वयं ही शान्त हो जाते हैं। इसमें वर्णीजीकी सरल विद्वत्ता पूर्ण भाषा ही मुख्य कारण है।

चूंकि वर्णीजी स्व-पर कल्याणकी भावनामें अधिक व्यस्त रहते हैं इसलिए भले ही कोई उनकी भोली शकल परसे गलत और तदनुसार पांडित्यपूर्ण दलीलें देकर अपना काम निकालनेका

ंतव्य या पत्र लेकर चला जावे किन्तु यह ख्याल कर लेना कि 'वर्णीजी बहुत भोले हैं, बड़े सीधे हैं, ालिए मैंने उन्हें ठग लिया' बिल्कुल भ्रमपूर्ण ख्याल है।

यथार्थ स्थिति, वर्तमान वातावरण, समयकी उपयुक्तता एवं भविष्यकी सम्भावनाओंको मद्दे ार रखते हुए, सही सूचनाओंके आधार पर जब भी कभी वर्णीजी कोई व्यवस्था देते हैं तब वह ई उपयुक्त तो होती ही है सर्वमान्य भी हो जाती है। यही कारण है कि दलबन्दीमें पड़े लोग सुधारक-स्थिति पालक और मुखिया शाही वाले) उन सब मसलोंका मुकम्मिल फैसला हमारे वर्णीजी करानेको राजी नहीं होते हैं; जिनके कारण जैन समाजमें फूटका साम्राज्य छाया हुआ है क्योंकि हें भय बना रहता है कि कहीं वर्णीजीकी व्यवस्थाके विरुद्ध हमारा प्रचार निरर्थक न हो जाय! ऐसे ोगों पर अच्छी तरह समझने वाले विद्वान वर्णीजीको भोले-भाले सीधे-सावे, सच्चे धार्मिक, आदि, ताबात देकर विषय टाल देते हैं। लोग अपने स्वार्थसे वर्णीजीके नामका उपयोग कर लेते हैं पर नकी पूरी सम्मतिको कभी नहीं मानते हैं। वर्णीजीके अपूर्व-प्रभावको सब ही महसूस करते हैं। उनके रुद्ध सफल आवाज उठाना टेढ़ी खीर है; यह भी मानते हैं फिर क्यों उनका पूरा लाभ नहीं उठाया ाता है? क्यों उनके आदेश नहीं माने जाते? उत्तर है, जैन समाज संसारका छोटा रूप है, उसमें । सब शक्तियां और कमियां हैं। इसीलिए तब बहुत बेचैनी होती है जब हम यह सोचते हैं कि ़्य वर्णीजी अब काफी वृद्ध हो चुके हैं उनके शरीरमें शिथिलता आ रही है, वे हमारा साथ कब ़ दे सकेंगे। इनके बाद भी क्या हमारे बीचमें कोई ऐसा प्रभावक नेता है जिसके भाग्यमें ऐसी ंमान्यता पड़ी हो। श्री जिनेन्द्रके स्मरण पूर्वक प्रार्थना है कि हम सैकड़ों वर्षों तक पूज्य वर्णीजीका हयोग प्राप्त कर सकें।

ावनी]— (श्रीमन्त सेठ) बिरधीचन्द

卐 卐 卐

वर्णीजी केवल जैन समाजकी विभूति नहीं, वे समस्त मनुष्य व जीवमात्रके लिए हैं। मैं बसे उनको जानता हूं तभीसे आज तक मैंने उन्हें आदर्श, सच्चे व निर्मल विद्यार्थीके रूपमें पाया है। सदैव इस खोजमें लगे रहे कि जीव मात्र व विशेषतः मनुष्य मात्रका सुख किस मार्गमें है व उसी ार्गको उज्वल व प्रकाशमान बनानेका प्रयास हमेशा करते रहे हैं।

यह तो किसीसे छिपा नहीं कि वे सरलताके सागर हैं आदर्श मनुष्य जीवनके उदाहरण हैं। ध्योपार्जनके लिए ही मनुष्य बुद्धि उपार्जनमें लगा रहता है, जीवन भर धनके पीछे दौड़ता है, मार्ग ़ल जाता है, धन भी छल कपटसे उसके आगे आगे भागता है। पर इस धनने वर्णीजीसे तो हार

मान ली है वह पीछे पड़ता है पर वे उसे मार्गमें ही छोड़ते जाते हैं। कहते हैं उसे ग्रहण करनेमें नहीं परन्तु त्यागमें ही सच्चा कल्याण है।

श्री वर्णीजीके आदेशानुसार मनुष्य वर्गसे यही प्रार्थना की जा सकती है कि सभी सच्चे ज्ञान को प्राप्त करें व त्याग मार्गको अपनायें। जीवन भर प्रयास करके भी मनुष्य सच्चे सुख तक नहीं पहुंच पाते हैं। वर्णीजी कहते हैं कि त्यागको समझो और उसे अपनाओ, सच्चा सुख तुरन्त तुम्हारे पास आ पहुंचे गा।

गांधीजीने जिस सत्यको ईश्वर कहा है, वर्णीजी उस सत्य और अहिंसाके व्यवहार हैं। वर्णीजीके जीवनने हमें वह सुलभ मार्ग दिखाया है, जिस पर मनुष्य मात्र चलना सीख ले तो अपना, अपने समाजका, अपने देशका व सारे संसारका कल्याण करे गा, ऐसी मेरी आस्था है।

सागर]— (सेठ) बालचन्द्र मळैया, बी० एस-सी०

卐 卐 卐

पूज्य वर्णीजीके सम्पर्कमें रहकर समाज सेवा करनेमें सबसे अधिक आनन्दानुभव हुआ। मेरे जीवन पर उनके चरित्र और ज्ञानकी अमिट छाप पड़ गयी।

४० वर्षोंसे अधिक समय व्यतीत हुआ जब कि जबलपुरमें एक कृश देहधारी किन्तु शुभ्र हृदय तथा आकर्षक मानवसे मिलनेका शुभ अवसर प्राप्त हुआ। उस मानवकी बोलीमें अपनाने और लुभानेकी शक्ति विद्यमान थी। सैकड़ों भक्तोंको पत्र लिखकर आत्मस्थ करनेका इनका प्रकार तो अद्भुत है। वे लिखते हैं—"अब तो सर्वतः चित्तवृत्ति संकोच कर कल्याण मार्गकी ओर ही लगा देना उचित है क्योंकि मानवीय पर्यायकी सफलता इसीमें है और यही इस पर्यायमें प्रशस्यता है जो मोक्षमार्गके द्वारका कपाट खुलता है तथा मूर्च्छाका पूर्णरूपसे अभाव भी यहीं होता है.........
यद्यपि जैनधर्ममें आश्रम नहीं फिर भी लोकाचार तो है ही।"

लगभग तीन साल तक शिक्षामन्दिरके प्रचार कार्यमें मुझे उनके साथ रहनेका सतत सौभाग्य रहा है। मैंने देखा, कि 'यशःकीर्ति' नामकर्म नौकरकी भांति सदा ही उनकी सेवा करता रहा। मैंने नहीं जाना कि कोई भी व्यक्ति वर्णीजीसे विना प्रभावित हुए रहा हो। शिक्षामन्दिरका ध्येय सफलताकी ओर ही अग्रसर होता गया, परन्तु दुर्भाग्यसे कई अन्य कारणोंकी वजहसे हमारी आशा फलवती न हो पायी। उसी दौरानमें कई मधुर प्रसंग आये। एक दिन कहने लगे "भैया' उमरावसिंहने ब्रह्म-चारी होनेपर अपना नाम ज्ञानानन्द रखा, मैं मौका पड़ा तो अपना नाम भोजनानन्द रखूंगा" कैसी सरलता और स्वीकारोक्ति है। तारीफ यह कि भोजन अथवा व्यक्ति आदिका ममत्व उन्हें

त्मानुभवसे विमुख करनेमें कभी भी समर्थ न हो सका। उनका आत्मध्यान सदा वृद्धिगति रहा है।

जब मैं वर्णीजी के बारेमें सोचता हूं तभी मुझे इस बात पर अटल श्रद्धा होती है कि 'पूर्वोर्जित पुण्य निश्चय ही अपना रस देता है············नहीं तो इस पंचम-कालमें अजैनके घरमें जन्म त व्यक्तिको सच्चा जैनी बननेका सद्भाग्य क्यों कर मिलता,····जब कि जैनकुलोत्पन्न व्यक्ति निकृष्टों सा हीनाचरण करते दृष्टि गोचर होते है।"

मर्यादाका सुन्दर निभाना तो उनकी अपनी खासियत है।' दिगम्बर जैन मुनियोंके प्रति उनकी ा आस्था है? इस सामाजिक शंकाका उत्तर क्या 'हे विभो! वह दिन कब आवेगा जब मैं भी मुनि ऊंगा।" उद्गारसे नहीं होता? आगम-प्रणीत मुनिमुद्राका क्यों न इच्छुक होगा? और किसीका भी तरागताका उपासक व्यक्ति आत्मधर्म दिल दुखाकर अप्रसन्न न करने वाला साधु क्यों कर दिगम्बर ाधुओंके प्रति सविनय न होगा!

भगवान जिनेन्द्रके स्मरण पूर्वक सदा यही भावना भाता हूं कि पूज्यवर्णीजी चिरायु हों ौर उनके द्वारा संसारका कल्याण हो।

ऽवनी]— (सिंघई) कुंवरसेन दिवाकर

卐 卐 卐

पूज्यवर्णीजी जैनसमाजके उन रत्नोंमेंसे हैं जिनका प्रकाश वर्तमानमें ही नहीं वरन सदा ही माजके नौजवान कार्यकर्ताओंका पथप्रदर्शन करता रहेगा। उनका विमलज्ञान, उनका आदर्श चरित्र ौर समाजके प्रति उनकी सेवाएं हमारे लिए अमूल्य देन हैं। अकेले उन्होंने समाजमें जो काम किया है वह सौ कार्यकर्त्ता मिलकर भी कठिनाईसे कर सकेंगे। परमात्माके ध्यानपूर्वक यही भावना है कि वे चिरायु हों।

आगरा]— महेन्द्र, सम्पादक, साहित्य सं०

卐 卐 卐

सुनते हैं पूज्यवर्णीजी महराजने बड़े बड़े काम करे हैं पर अपन तो अपने परसे सोचत हैं कि वे 'आंधरेकी लठिया' हैं। अज्ञान और गरीबीके मारुस्थलमें पड़े हम बुन्देलखण्डीनको वे मतीरा होकर भी सागर से बड़े हैं। ईसे उनके चरणोंमें सैकड़ों प्रणाम।

वांसखेडा] (से०) मणिकचन्द्र

जय युग के अभिमान ! तुम्हारा अभिनन्दन हो

(१)

वीर-देशनाका उर में अनुराग लिये हो,
सत्य अहिंसा का प्रतीक वह त्याग किये हो।
हो धार्मिक अभिवृद्धि निरन्तर उत्सुक साधक
पाप होम के हेतु ज्ञान की आग लिये हो ॥
जय अलभ्य वरदान ! तुम्हारा अभिनन्दन हो,
जय युय के अभिमान ! तुम्हारा अभिनन्दन हो ।

(२)

तुम निश्चय में मग्न; किन्तु व्यवहार लिये हो,
तुम जागृति के नित्य नये त्योहार लिये हो ।
तुम बिखरे से लक्ष्य-हीन इन वीस लक्ष्य में--
जावन लाने ऐक्यवेणु केतार लिये हो ॥
जय समाज के प्राण ! तुम्हारा अभिनन्दन हो,
जय युग के अभिमान ! तुम्हारा अभिनन्दन हो ।

(३)

आत्म शक्तिसे सत्त्वर पुनरुत्थान करोगे,
नव विकास का यत्न अरे आह्वान करोगे ।
दर्शन ज्ञान चरित्र इन्हीं के बल पर तुम तो,
मानव की लघुता को आज महान् करोगे ॥
जय समर्थ विद्वान ! तुम्हारा अभिनन्दन हो,
जय युग के अभिमान ! तुम्हारा अभिनन्दन हो ।

(४)

जय जिनके जयनाद ! तुम्हारा अभिनन्दन हो,
जय सद्गुरु की याद ! तुम्हारा अभिनन्दन हो ।
जय जीवित स्याद्वाद ! तुम्हारा अभिनन्दन हो,
जय गणेश परसाद ! तुम्हारा अभिनन्दन हो ॥
जय गौरव गुण-खान ! तुम्हारा अभिनन्दन हो,
जय युग के अभिमान ! तुम्हारा अभिनन्दन हो ।

राजेन्द्रकुमार 'कुमरेश' आयुर्वेदाचार्य

वर्णीजी महराजके प्रथम दर्शनका सौभाग्य १९२२ में मिला था। आपकी सारगर्भित सरल वाणी ने हृदय मोह लिया तभीसे मैं तो श्रद्धामें पग गया। सेठ मूलचन्द्र शराफकी पात्रता तथा जताराकी नजदीकीके कारण बरुआसागरमें आपके चरण पड़े। एकान्तमें ध्यान प्रेमी होनेके कारण पासकी छोटी पहाड़ीके भाग्य खुले और सराफजीके धनका कुटीरमें लग कर सदुपयोग हुआ। तथा भोले अशिक्षित, निर्धन, अतएव सबसे ठगे गये इस प्रान्तके लोगोंको उनका सच्चा हितू मिला। यहांके मनुष्य मात्रको आपसे सदाचार और शिक्षाकी प्रेरणा मिली है। अतः मैं उनके चरणोंमें श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूं।

बरुआसागर]— (बाबू) रामस्वरूप जैन

卐 卐 卐

बाबाजी

आज ७५ वर्षकी उम्रके बाद भी उनमें युवकों जैसा उत्साह है, बालकों जैसी सरलता है; परन्तु वृद्धों जैसा प्रमाद उनके पास लेशमात्र भी नहीं है। उनकी लगन अद्भुत है। वे वक्ता नहीं स्वान्तःसुखाय कार्यकर्ता हैं और हैं, समाजके नेता भी। वह महात्मा हैं। वाणीमें जहां जादू जैसा असर है वहां चुम्बक जैसा आकर्षण भी है। उनका क्षेत्र व्रतियों जैसा संकुचित नहीं। क्या आध्यात्मिक क्या सामाजिक क्या राजनैतिक सभी कार्योंमें लोक संग्रहकी अभिरुचि रखते हैं। यदि राजनीतिकी ओर उनका झुकाव हुआ होता तो वे दृढ़तापूर्वक कार्य करके जैनसमाजका ही कायाकल्प न करते अपितु राजनैतिक क्षेत्रमें विशेष स्थान पाते।

वह दयाकी प्रतिमूर्ति हैं। कपट तो उनको एक नजर भी नहीं देखने पाया है। नियमित और सधे हुए वाक्य ही बोलते हैं। उनके कथनमें बनावटीपनकी गन्ध भी नहीं होती है। उसमें एक प्रेरणा होती है क्योंकि वह उनकी स्वकीय अनुभूतिका सच्चा निखार है। मित्रके प्रति उनकी जहां प्रेम भावना होती है वहीं शत्रुके प्रति केवल उदासीनता रहती है। वे स्वप्नमें भी शत्रुका बुरा नहीं चाहते। कहते हैं "अरे भैया ऐसो करें से पैले अपनो इहलोक परलोक बिगड़ै। शत्रुके विनाशकी भावना हमें नहीं करना चाहिए अपितु उसकी सुबुद्धि प्राप्ति की कामना करनी चाहिए। जी से वह भी अनुकूल होके हमें शान्ति दे और स्वयं भी आपतसे मुक्ति पाए।"

दया

आजाद हिन्द फौजकी सुरक्षाके लिए अर्थ-संचयार्थ म० प्रा० के प्रधान नेता दुर्गाशङ्कर मेहता जबलपुर आये हुए थे। एक सभाका आयोजन हुआ, वक्ताओंके मुखसे उनकी व्यथाको सुन कर

बाबाजीका हृदय दुःखी हो उठा, आंखोंसे दो बूंद आंसू टपक पड़े। कड़ाकेकी ठण्ड पड़ रही थी तो भी बाबाजीने तनपर लपटे हुए दो चद्दरोंमें से एक उतारकर आ० हि० फौ० के चन्देमें अर्पित कर दिया, दश मिनटके बाद ही वह तीन हजार रुपयेमें बिक गया। महत्त्वकी बात तो यह थी कि उन्होंने अपने भाषणमें अंग्रेजोंके लिए एक भी कड़ा शब्द न कहकर 'आजाद हिन्द फौजवालोंका कोई बाल बांका नहीं कर सकेगा' ऐसी दृढ़ घोषणा की थी। कैसी दया और आत्म विश्वास है।

सत्यनिष्ठा व दया

धर्ममाता सौं० चिरोंजाबाईजीने कहा "भैया लकड़ी नइंआ, जाओ ले आवो" बाबाजी बाजार पहुंचे, लकड़हारेसे पूछा "मोरी (गट्ठा), कितेकमें देय।" उसने जवाब दिया "जो समझो सो दै दियो मराफ"। बाबाजी, "चार आना लेय!" वह राजी हो गया, घर तक पहुंचानेकी मजदूरी भी दो आने कह दी। घर पहुंचे बाईजी बड़ी नाराज हुईं, "दो आनेकी लकड़ीके छह आने दे आये, बड़े मूरख हो।" बाबाजीने लकड़हारेकी वकालत की, पर माताजी भी लौकिकताका पाठ पढ़ानेका इरादा कर चुकी थी, एक न सुनी तीन आने ही दिलवाये। भोजन बना, बाबाजी भोजनको बैठे पर भोजन अच्छा न लगा। बाईजीने पूछा "भैया भूख नंइया का, काये नईं खात।" बाबाजीने जबाव नहीं दिया, "अभी आता हूं, कहकर जल्दी ही बाहर चले गये। उस लकड़हारेको ढूंढना प्रारम्भ किया, वह मिला, उसे शेष पैसे दिये और वापस घर लौट आये। बाईजीके पूछने पर स्पष्ट कह दिया कि बाईजी! लकड़हारेके पैसे देने गया था। मां का हृदय इस सरलता और सत्य पर लोट पोट हो गया।

प्रेम व आकर्षण

गर्मीका समय था पूज्य बाबाजी द्रोणगिरिमें प्रवासकर रहे थे। गांवमें शुद्ध दूधका प्रबन्ध न था इसलिए एक गाय रक्खी गयी थी परन्तु वह मरकऊ थी। धनीके सिवा किसीको भी पास नहीं आने देती थी। लोग उसकी चर्चा कर रहे थे कि इसी बीचमें बाबाजी आ पहुंचे और उन्होंने भी बात सुनी, बोले, चलो देखें कैसे मारती है। लोगोंने रोका, महाराज आप न जायें, परन्तु वह न माने और हाथमें एक पाव किसमिस लेकर उसके आगे पहुंच गये। गायने एकटक दृष्टिसे बाबाजीको देखा और सिर झुका लिया। बाबाजी उसके सिरपर हाथ रखकर खड़े हो गये। लोग चकित हो देखते रह गये, मैत्रीपूर्ण हृदयने दुष्ट पशुको सहज ही मित्र बना लिया था। इतना ही नहीं उसने बाबाजीको दूध भी पिलाया तथा महाराजने भी उसे कभी-कदाच मिष्टान्न खिलाये। पशु भी पशुता भूल सकता है यह उस दिन पता लगा जब बाबाजीके चले जानेपर वह वियोगाकुल गाय इधर-उधर रम्हाती फिरती थी? और अन्तमें बाबाजी की कोठरीके सामने आकर खड़ी हो रही और कई दिन तक घास

ानी छोड़े रही। सचमुच बाबाजीका प्रेम व आकर्षण विस्मयजनक है। "भैया निवृत्तिमें ही सुख है वृत्तिमें नहीं"।

एक समय बाबाजीने किसी स्थानके लिए एक हजार रुपये दानमें लिखवा दिये। रुपया पासमें ाहीं। सोचा, लिखवा तो दिये पर देगें कहांसे? कुछ रूपया मासिक फलके लिए बाईजी देती थीं। बाबाजीने ल लेना बन्दकर रुपया पोस्ट आफिसमें जमा कराना प्रारम्भकर दिया। बाईजीकी नजर अनायासही पास-ुकपर पड़ गयी, पूछा "भैया रुपया कायेको इकटठे करत हो, का कोउ कर्ज चुकाउने हैं।" रहस्य ा छिपा सके। तब बाईजीने कहा "काये तुमसे जा सोई कई है कै दान जिन करो, नई तो फिर छिपाओ ाये?" बबाजीने कहा 'बाई जी दान मैंने किया है आपने नहीं। दान अपनी ही चीजका होना ाहिए इसीलिए मैं ये रुपये इकट्ठे कर रहा था। यदि मैं आपको बता देता तो आप अपने रुपये ्कर मुझे ये रुपये न बचाने देतीं।" सुज्ञ बाईजीने आदर्श को समझा और प्रसन्न हुईं। कैसी कोमल ठोर आत्म निर्भरता थी।

ागर]

लक्ष्मणप्रसाद "प्रशांत"

卐 卐 卐

मैं बौद्ध कैसे बना

आजसे प्रायः पन्द्रह वर्ष पूर्वकी बात है। मैं काशी विश्वविद्यालयमें दर्शनका विद्यार्थी था। उन दिनों एक प्रसिद्ध विद्वानका भाषण हो रहा था। सुना कि अगले दिन जैनधर्म पर व्याख्यान होगा। मुझे तो जैनधर्मका कोई ज्ञान न था। किन्तु उस समय अपने धर्मपुस्तक सत्यार्थ–प्रकाशके अमुक समुल्लासमें जैनधर्मके सभी खंडन याद थे। विचार हुआ कि उसीके आधारपर कलके भाषणके बाद वक्ताको सभामें परास्त कर वैदिकधर्मका श्रैष्ठ्य स्थापित करूंगा।

दूसरे दिनके सभापति थे स्वयं आचार्य ध्रुव। प्रारम्भमें उन्होंने वक्ताका परिचय अत्यन्त श्रद्धापूर्ण शब्दोंमें दिया! व्याख्यानको आदिसे अन्ततक बहुत ध्यानपूर्वक सुना।' इतना साफ और प्रबल व्याख्यान हुआ कि मुझ आर्यसमाजीके सुतर्ककी नोंक कहीं न गड़ी। तो भी आर्यसमाजी चुलबुलाहटसे मैंने कुछ छेड़ ही दिया, और जैनधर्मके अपने अज्ञानके कारण मुझे सभामें बेतरह लज्जित होना पड़ा। सत्यार्थ-प्रकाशकी अपनी प्रामाणिकताका बुरी तरह भंडाफोड़ कराकर मुझे बड़ा क्षोभ हुआ। मुंह छिपाकर निकल आया। श्रद्धेय वर्णीजीसे वह मेरी पहली भेंट थी।

उनके मधुर भाषण और प्रभावशाली सौम्यका आकर्षण इतना अधिक रहा कि चार पांच

दिनोंके बाद उनके दर्शनार्थ स्याद्वाद विद्यालय गया। आर्यसमाजके वर्णाश्रम धर्मपर बात चली। मुसकरा कर उनने पूछा--अच्छा, आप किस वर्णके हैं ?

मैंने कहा—स्वामीजी, मैं जन्मसे तो कायस्थ हूं। पढ़ लिख कर विद्वान् हो जानेके कारण सिद्धान्तके अनुसार मैं ब्राह्मण हो जाऊंगा।

प्र०—क्या तब ब्राह्मणलोग आपके साथ रोटी-बेटी करनेको तयार होंगे ?

उ०—वे भले न तैयार हों, किन्तु आर्यसमाज तो मुझे वैसा सम्मान अवश्य देगा।

प्र०—अच्छा, आर्यसमाजमें जो ब्राह्मण हैं क्या वे भी आपके साथ रोटी-बेटीके लिए तैयार होंगे ?

उ०—मैं कह नहीं सकता।

प्र०—तब, क्या आर्यसमाजकी वर्णव्यवस्था केवल बातों ही में है, व्यवहारमें नहीं ?

वर्णीजीसे मिलकर जब मैं विश्वविद्यालय लौट रहा था तो यह खूब अनुभव कर रहा था कि आर्यसमाजका मेरा उत्साह मन्द हो गया था। मेरे मनमें प्रश्न हो रहा था—स्वामी दयानन्दजीने अन्य धर्मोंके विषयमें विना जाने केवल हिंसात्मक प्रेरणासे अमुक समुल्लासमें ऐसा क्यों लिख दिया ? क्या यह सत्यकी बात है !

×× ×× ××

दो वर्षके बाद एम. ए. पास करके मैंने अपनी सेवा गुरुकुल महाविद्यालय (आर्यसमाज) वैद्यनाथधाम (बिहार) को अर्पित की। गुरुकुलका मैं आचार्य बना। आर्यसमाजकी प्रणालीके अनुसार मुझे लोग पंडितजी कहने लगे। मुझे यह गौरव पाकर बड़ा आनन्द आया—और कुछ नहीं तो आर्यसमाजने मुझे इतना सम्मान तो दिया। आचार्य पदपर रहनेके कारण लोग मेरा भय मानते थे, किन्तु मुझे ऐसा लगा कि ब्राह्मण अध्यापकोंके मेरे प्रति आदर नहीं है। शायद कायस्थ होनेके कारण !!

एक दिन कमरेके भीतरसे सुना गुरुकुलके एक अध्यापक श्री.................... तिवारीजी पुकार रहे थे—ओ, पण्डित टाइगर ! ओ पण्डित टाइगर !!

मैं बाहर आया और पूछा कि यह पण्डित टाइगर कौन है ?

श्री.................. तिवारीजीने गुरुकुलके एक कुत्तेकी ओर इशारा करते हुए कहा—आचार्यजी, यही पण्डित टाइगर है, आर्यसमाजमें सभी पण्डित हैं।

बस, आर्यसमाजकी वर्णव्यवस्था अच्छी तरह समझ गया। वर्णीजीकी बातें झट याद आ गयीं। सिद्धान्तमें तो पहले ही हलचल पैदा हो गयी थी।

१९३३ में फिरसे बनारस आया—संस्कृतमें एम. ए. परीक्षा देने। दूसरे ही दिन स्याद्वाद

विद्यालय गया। किन्तु यह जानकर बड़ी निराशा हुई कि वर्णीजी काशी छोड़ कर चले गये हैं। मुझे उनके सामने अपनी कितनी समस्याएं रखनी थी।

जैनधर्म पर वहांके कुछ अन्य लोगोंसे बात हुई। जानकर बड़ा दुःख हुआ कि भगवान महावीरके आदर्शके विरुद्ध जैनसमाजमें भी वर्ण भेद अपनी संकीर्णताओंके साथ आ गया है! शताब्दियों तक ब्राह्मण-समाजके सम्पर्कमें रहनेके कारण जैनसमाज की मौलिक शुद्धता पर प्रभाव पड़ ही गया है।

इसी बार सारनाथ गया और बौद्ध-धर्मका अध्ययन करने लगा। 'पालि'के विशेष अध्ययनके लिए लङ्का चला गया। वर्ण-भेदकी संकीर्णताओंसे सर्वथा मुक्त बौद्ध-समाजने विशेष रूपसे आकृष्ट किया। फिर तो, बौद्ध दीक्षा और उपसम्पदा भी ले ली।

इतने वर्ष पूर्व एक विद्यार्थीसे हुआ वार्तालाप आज वर्णीजीको स्मरण हो या न, किन्तु उसके जीवनकी दशा बदलनेमें उसका बड़ा हाथ है।

काशी विश्वविद्यालय]— (भिक्षु) जगदीश काश्यप, एम. ए.

卐 卐 卐

वर्णीजी

आदरणीय वर्णीजी उन इने गिने महापुरुषोंमेंसे हैं, जिन्होंने अपनी साधना और त्यागसे कुछ ऐसी शक्ति प्राप्त कर ली है कि जो भी उनके सम्पर्कमें आता है, उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। वर्णीजीने किसी विश्वविद्यालयकी ऊंची उपाधि प्राप्त नहीं की; पर तप और त्यागके क्षेत्रमें वे जिस उच्चासन पर विराजमान हैं, वह बिरलोंको ही मिल पाता है। उनके आदेश पर गतवर्ष जब मैं अहार पहुंचा तो वहीं उनके प्रथम बार दर्शन हुए, पर उनकी आत्मीयताको देख कर मुझे ऐसा लगा, मानों वर्षोंसे उनके साथ मेरा घनिष्ट परिचय रहा हो।

वर्णीजी बचपनसे ही अध्ययनशील रहे हैं। मड़ावराकी पाठशालामें छः वर्षकी अवस्थामें बालक गणेशने अध्ययनका जो श्रीगणेश किया वह आज तक जारी है। स्वाध्यायमें जाने कितने ग्रन्थोंका उन्होंने पारायण नहीं किया होगा। विभिन्न धर्मोका उन्होंने तुलनात्मक अध्ययन किया है और एक ऐसी उदार दृष्टि प्राप्त की है, जिसमें किसीके प्रति कोई भेदभाव या विद्वेष नहीं।

वर्णीजीकी आकृति और वेशभूषाको देख कर सहज ही भ्रम हो सकता है कि वे अधिक पढ़े-लिखे नहीं हैं। पर उनके सम्पर्कसे, उनके भाषण और शास्त्र-प्रवचनसे पता चलता है कि वे कितने गहरे विद्वान हैं। सच यह है कि उनकी विद्वत्ता उन पर हावी नहीं होने पायी है, जैसे कि प्रायः लोगों पर हो जाती है। उनके जीवनमें सहजता है और उन्हें यह दिखानेका जैसे अवकाश ही नहीं कि वे

इतने विद्वान हैं ! मीठी बुन्देलीमें सीधे-सादे उच्चारणसे जब वे बात करते हैं तो सुननेमें बड़ा आनंद आता है। और बीच-बीचमें अत्यन्त स्वाभाविक ढंगसे 'काए भैया' का प्रयोग करते हैं तो उनकी आत्मीयता एवं आडम्बर हीनतासे श्रोता आभिभूत हो जाता है। साधारण बातचीतमें देखिये, कैसे कैसे कल्याणकारी और शिक्षा-प्रद सूत्र उनके मुखसे निकलते हैं—

—आदमी जैसा भीतर है, वैसा ही बाहर होना चाहिए।

—शिक्षाका ध्येय हृदय और मस्तिष्ककी व्यापकता और विशालता है।

—अपनी आत्माको मलिन न होने देना हमारा धर्म है।

—जीवनमें सहजता होनी चाहिए।

शिक्षाके प्रति वर्णीजीके मनमें अगाध प्रेम है और उनकी हार्दिक आकांक्षा है कि शिक्षाका व्यापक रूपसे प्रचार हो। कोई भी व्यक्ति निरक्षर न रहे। यही कारण है कि उन्होंने अनेक शिक्षालयोंकी स्थापना की है। काशीका स्याद्वाद महाविद्यालय, सागरका गणेश महाविद्यालय, जबलपुरका वर्णी गुरुकुल तथा अनेक छोटे-बड़े विद्यालयोंकी नींव उन्होंने डाली है और उनके संचालनके लिए पर्याप्त साधन जुटाये हैं। पर स्मरण रहे, वर्णीजीका ध्येय वर्तमान शिक्षा-प्रणालीके ध्येयसे सर्वथा भिन्न है। आजकी शिक्षा तो आदमीको बहिर्मुखी बनाती है। ऊंची डिगरी पाकर आदमी नौकरी, भौतिक ऐश्वर्य और सांसारिक वैभवकी ओर दौड़ता है और उन्हींके पीछे भटक कर अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देता है; पर वर्णीजी उस शिक्षाको कल्याणकारी मानते हैं जो आदमीको अंतर्मुखी बनाती है, जिसमें अपनेको और अपने आत्माको पहचानने की शक्ति है और उसके विकासके लिए आदमी निरंतर प्रयत्नशील रहता है। अहारमें बातचीतके बीच उन्होंने कहा था, "भैया ! हम तो चाहते हैं कि दुनियाका सुख-दुख आदमीका अपना सुख-दुख बन जाय और आदमी स्वार्थ लिप्त होकर अपना ही लाभ-लाभ न देखे।" इस एक वाक्यमें शिक्षाका ध्येय अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है। और यह वर्णीजीका कोरा उपदेश ही नहीं है. इसे उन्होंने अपने जीवनमें उतारा भी है। मेरा चित्त यह सुन कर गद्गद् हो गया कि अहार आते समय मार्गमें एक जरूरत भरे भाईको उन्होंने अपनी चादर यह कह कर दे दी थी कि मेरा तो इसके बिना भी काम चल जाय गा; लेकिन इस भाईकी जाड़ेसे बचत हो जायगी।

चौहत्तर वर्षकी आयुमें वर्णीजीका स्वास्थ्य और उनकी स्फूर्ति किसी भी युवकके लिए स्पृहणीय हो सकती है। उनमें प्रमादका नाम नहीं और उनके गठे और चमकते शरीर, भरी हुई आंखें और उन्नत ललाटको देखकर प्राचीन ऋषियोंका स्मरण हो आता है।

वर्णीजीकी सबसे बड़ी विशेषता उनकी सरलता, सात्त्विकता और आत्मीयता है। वे सबसे समान रूपसे मिलते हैं और छोटे बड़ेके बीच भेद करना उनके स्वभावके विपरीत है। अहारसे हम

ाग जब चलनेको हुए तो दोपहरका एक बज रहा था । वर्णीजी स्वाध्याय समाप्त करके हमारे साथ लिये। मैंने कहा--आप विश्राम कीजिए। बोले, "नहीं जी, चलो थोड़ी दूर तुम लोगोंको पहुंचा ाऊँ" और कोई मील भर हम लोगोंके साथ आये बिना वे नहीं रह सके।

आजकलके दो भयंकर रोग पद और प्रतिष्ठाके मोहसे वर्णीजी एक दम मुक्त हैं। जहां हीं जाते हैं वहीं साधन जुटाकर कोई शिक्षण अथवा अन्य जन--सेवी संस्था खड़ी कर देते हैं और ना किसी मोह या लिप्साके आगे बढ़ जाते हैं। जिसने समूची वसुंधराको स्वेच्छा पूर्वक अपना टुम्ब मान लिया हो, वह एकसे बंध कर क्यों बैठेगा।

वर्णीजीको प्रकृतिसे बड़ा प्रेम है और यह स्वाभाविक ही है। बुन्देलखण्डकी शस्य श्यामला ूमि, उसके हरे भरे वन, ऊंचे पहाड़, विस्तृत सरोवर और सतत् प्रवाहित सरिताएं किसी भी शुष्क यक्तिको भी प्रकृति प्रेमी बनासकती है। इसी सौभाग्यशाली प्रांतको वर्णीजी को जन्म देनेका गौरव ाप्त हुआ है। अहारके लम्बे-चौड़े महासागरके बांधपर जब हम लोग खड़े हुए तो सरोवरके निर्मल ल और उसके इर्दगिर्दकी हरी-भरी पहाड़ियों और बनोंको देखकर वर्णीजी बोले, "देखो तो कैसा सुन्दर थान है। सब चीज बना लोगे; लेकिन मैं पूछता हूं ऐसा तालाव, ऐसे पहाड़ और एसे बन कहांसे ाओगे?"

बुन्देलखण्डकी गरीबी और उससे भी अधिक वहांके निवासियोंकी निरक्षरताके प्रति उनके नमें बड़ा क्षोभ और वेदना है। प्रकृति जहां इतनी उदार हो, मानव वहीं इतना दीन हीन हो; यह घोर लज्जाकी बात है इसीसे जब लोगोंने उनसे कहा कि बुन्देलखण्डकी भूमि और वहांके नर-नारी अपने उद्धारके लिए आपका सहारा चाहते हैं तो ईसरीको छोड़ते उन्हें देर न लगी, वे बुन्देलखण्डमें चले आये और उसकी सेवामें जुट गये।

वर्णीजीका पैदल चलनेका नियम है। बड़ी-बड़ी यात्राएं उन्होंने पैदल ही पूर्ण की हैं। शिखरजीकी सात सौ मीलकी यात्रा पैदल करना कोई हंसी-खेल नहीं था; पर वर्णीजीने विना किसी हिचकिचाहटके वह यात्रा प्रारंभ की और पूरी करके ही माने।

जिसने अपने स्वार्थको छोड़ दिया है, जिसे किसीसे मोह नहीं, जिसकी कोई निजी महत्वाकांक्षा नहीं, उसका लोगोंपर प्रभाव होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। जैन तथा जैनेतर समाजपर आज वर्णीजीका जो प्रभाव है, वह सर्व विदित है। उनके इस प्रभावका लाभ उठा कर यदि कोई ऐसा व्यापक केन्द्र स्थापित किया जाय जो समस्त राष्ट्रके आगे सेवाका आदर्श उपस्थित कर सके तो बड़ा काम हो। वैसे छोटे-छोटे केन्द्रोंका भी महत्व कम नहीं है और हमारे राष्ट्र-पिता महात्मा गांधी तो स्वयं इस बातके पक्षपाती थे

कि एक ही स्थान पर सब कुछ केन्द्रित न करके भारतके सात लाख गावोंको आत्म-निर्भर और आत्म-पूरित बनाया जाय।

वर्णीजी शतंजीवी हों और उनके द्वरा भारतके कोटि-कोटि जनको आत्म- विकास और सेवाकी प्रेरणा मिलती रहे।

७।८, दरियागंज दिल्ली]-- यशपालजैन, बी० ए., एलएल, बी०

卐 卐 卐

सागरमें आयी एक लहर

विद्वर विलियमके समान,
विद्या सीखी जिस योगी ने।
फिर खोले विद्यालय अनेक,
जिस न्याय-धर्मके भोगीने॥

आया है वही गणेश इधर।
सागरमें आयी एक लहर॥

थे गये मेघ बन सागरसे,
ईसरी मरुस्थलमें बरसे।
कर दिया वहां पर हरा भरा,
पर सागरके जन थे तरसे॥

देखा तब उनने तनिक इधर।
सागरमें आयी एक लहर॥

थे सात बरस जब वीत गये,
मनमें हिलोर उनके आयी।
चल दिये यहां को पैदल ही,
जनता उनको लेने धायी॥

हर्षित हो उठे बुंदेला नर।
सागरमें आयी एक लहर॥

सूरत]-- --कमलादेवी जैन

श्रीगणेशप्रसादजी वर्णीके दर्शनका प्रथम प्रभाव

मंझोला कद, दुबला पतला शरीर उसपर लंगोटी और भगुवा रंगका एक चद्दर, घुटा हुआ सर, उभरा हुआ मस्तिष्क, लंबी नुकीली नासिका, धवल दन्त-पंक्ति, सुन्दर सांवला वर्ण। ऐसे ७२ वर्षके बूढ़े महापुरुषके उन्नत ललाट तथा नुकीली लम्बी नासिकाके सम्मिलनके आजू बाजू, यदि कोई अत्यन्त आकर्षक वस्तु है तो वे हैं, छोटी छोटी मीनसम दो आवदार आंखें। इन आंखोंसे जो विद्युत स्फुलिंग निकलते हैं वह मानव को अपनी ओर सहसा आकर्षित किये बगैर नहीं रह सकते, और तब प्रथम दर्शन ही में पुरुष इस महापुरुषसे प्रभावित हो उसके अत्यन्त समीप खिंचा चला जाता है। तभी तो क्या बालक, क्या वृद्ध क्या युवक और क्या युवती अर्थात् प्रत्येक स्त्री-पुरुष वर्णीजीसे एक बार; यदि अधिक नहीं तो वार्तालापका लोभ संवरण नहीं कर सकता।

विगत ग्रीष्म ऋतुमें इस डेढ़ पसलीके महापुषके प्रथम दर्शनका लाभ-जिसकी चर्चा बाल्यकालसे सुनता चला आता था-प्राप्त हुआ। प्राथमिक प्रभावसे हृदयमें 'वास्तवमें यह कोई महान् व्यक्ति होना ही चाहिये' भाव सहसा उत्पन्न हुआ। चाहे उस महानताकी दिशा जो कोई और चाहे जैसी हो, अच्छी अथवा बुरी।

वे चमकीली नन्ही नन्ही आंखें कह रही थीं, इन छोटी छोटी आंखोंने ही विषद वस्तु स्वरूपके अन्तस्तलमें प्रवेश कर आत्माको पहचाना है; महान बनाया है। आज ७२ वर्षके अनन्त परिश्रमका फल है; अत्यन्त सरल, मृदुभाषी, अन्तर्मुखी, अध्यात्म प्रवक्ता पूज्य श्री १०५ गणेशप्रसाद वर्णी।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह पुरुष पुंगव महान ही उत्पन्न हुआ है,। केवल किसी उस दिशाने जिसमें वह लगा है उसे महान नहीं बनाया है। यह जिस किसी भी दिशामें जाता महान ही होता। इनकी आंखोंमें जो सरलता खेलती है उसका स्थान यदि क्रूरता ले पाती तो वैराग्यजन्य विरोध और विवादसे भागनेकी वृत्ति की जगह भिड़ जाने की प्रकृति पड़ती तब यह संसार का बड़ा भारी आधिभौतिक निर्माता या डाकू अथवा पीड़क होता अर्थात् जिधर झुकता उधर अन्तिम श्रेणी तक ही जाता, परन्तु जिस ओर इनकी दृष्टि है उसने इन्हें महान नहीं; महानतम बना दिया है। आज संसारको राजनीति नहीं, धर्म-नीतिकी आवश्यकता है। पदार्थ विज्ञानकी नहीं आत्म विज्ञानकी आवश्यकता है। वास्तविक धर्म उन्नति-आत्मोन्नतिके सिवाय आज की दुनिया प्रत्येक दिशामें अधिकसे अधिक उन्नति कर चुकी है, और आगे बढ़नेकी कोशिशमें है। फिर भी संसार संत्रस्त है, दुःखी है। एक महायुद्धके पश्चात् दूसरा महायुद्ध। फिर भी शान्ति नहीं, चैन नहीं। क्यों? इसी शान्ति प्राप्तिके अर्थ पुनः तीसरे महायुद्ध की आशंका है। क्या

आगसे आग कभी बुझती है। आज संसार के लोग जो बहिर्मुख हो रहे हैं, बाह्य साधन सामग्री ही में सुख मान कर उसके जुटाने का अहिर्निश प्रयत्न कर रहे हैं उससे क्या शान्ति मिली ? नहीं, फिर दुनियां जो सच्चे सुखका रास्ता भूल कर पथ भ्रष्ट हो चुकी है उसे सुपथपर लाना होगा। वह रास्ता है धर्मका, आध्यात्मका। इसी प्रकाशको देनेके लिए गणेशप्रशाद वर्णाकी ज्योति प्रगट हुई है। जो स्वयं आध्यात्मिक आनन्दमें सराबोर हैं वही दूसरोंको उस ओर अग्रसर कर सकता है। जो स्वयं प्रकाशमान नहीं वह दूसरोंको क्या प्रकाशित करेगा ?

किशोरावस्था ही तो थी। एक लकड़हारे से लकड़ी की गाड़ी ठहरायी कुछ अधिक मूल्यमें। धर्ममाताने जब कीमत सुनी, तो कहा कि 'भैया ठगे गये'। इन्हें लगा कि इसे जो अधिक दाम दिये हैं यह 'येन केन प्रकारेण' वसूल करने चाहिए। वह गाड़ीवाला जब खाली कर चुका तब आपने कहा 'तैंने पैसे अधिक लिये हैं, लकड़ी चीर कर भी रख, नहीं तो उठा अपनी गाड़ी।' गरीब गाड़ीवान कुछ ही पैसे अधिक मिलने पर भी, यह कष्ट न उठा सका कि गाड़ी फिर भरता और वापस ले जाता। उसने कुल्हाड़ी उठायी, जेठकी गरमीके दोपहरका समय, पसीने से लथपथ हो गया तो भी लकड़ियां चीर कर उतने ही पैसे लेकर चला गया।

ध्यान आया "मैंने बहुत गलती की। जब ठहरा ही लिया था तो उससे अधिक काम नहीं लेना था। चार आठ आने ही की तो बात थी, बेचारा भूखा प्यासा चला जा रहा होगा।" झट एक आदमीके लायक मिठाई और चिराईके पैसे ले उस रास्ते पर बढ़े जिससे लकड़हारा गया था, ढूंढ़ते चले चिलचिलाती धूपमें। एक मीलके फासले पर वह मिला, कहा "भैया हमसे बड़ी भूल भई जो हमने तुमसे लकड़ी चिरायीं और भूखा रखा। लो जा मिठाई खाओ और चिराईके दाम लो।" उस भोले भालेको यह सब देखकर लगा कि वह इस लोकमें नहीं है। लकड़ी बेचनेके साथ साथ उन्हीं दामों पर लकड़ी चीरना, ठहरायें दामोंसे कम दाम पाना, थोड़े दामों पर अधिक मूल्यकी लकड़ी बेचना, लकड़ी घरमें रख देनेके साथ साथ घरका और काम करना, आदि साधारण बातें थीं। उसने इनके चरण छुए और कहा, 'अपन ऐसे चिल्लाटेके घाममें इतनी दूर काय आये ? रोजई करत पण्डत जू अपनने कौन सी नई ज्यादती करी हती। बस, मैं सब पा गओ।" परन्तु पण्डित न माना, जब उसने वह मिठाई और पैसे ले लिये तभी शान्ति और निश्चिन्ता की सांस ली।

साधारण पुरुषकी जो कमजोरी होती है वह यदि महापुरुषमें हो तो वह उसका गुण हो जाती है। संसारमें रहते हुए भी संसारमें न रहने वाला यह महान पुरुष जलमें कमलके समान संसारसे अलिप्त है। इसीलिए तो विरोध और विवादका मौका नहीं आने देता, और उस रास्ते पर आगे आगे बढ़ा जा रहा है जिसे पूर्ण कर वह "वह" ही रह जायगा। आत्मानन्दकी ज्योति बिखेरता हुआ

ह महान आत्मा जब विहार करता है, तो 'यत्र तत्र सर्वत्र' ही जन समूह इसकी ओर खिंचा चला ाता है। तब यह आत्मा उन्हें ज्ञानका दान देकर, ज्ञानस्तम्भ (विद्यालय पाठशाला) वहां स्थापित कर गे बढ़ जाता है। जिसके प्रकाशमें लोग अपना मार्ग खोजें और आगे बढ़ें। लोग कहते हैं वर्णीजी स्थिर हैं, कोई एक कार्य पूर्ण नहीं करते। यह संस्था खुलवा, वह संस्था खुलवा, इस कार्यके लिए भी , और उस कार्यके लिए भी हां, पर पूरा कोई भी कार्य नहीं करते। परन्तु यही तो उनकी विशेषता । जिसने संसार छोड़नेकी ठान ली है तथा जो उसे पूर्ण रूपेण त्यागनेके मार्ग पर अग्रसर हो रहा वह एक स्थान पर एक संस्थासे चिपटा कैसे बैठा रह सकता है? उसे तो आत्मज्योति जो उसने त की है उसे ही लोगोंको देते देते एक दिन उसी ज्योतिमय ही हो जाना है।

सुमेरचन्द कौशल बी. ए., एलएल० बी.

तवनी]—

卐 卐 卐

गुरु गणेश

(१)

री ? अरी लेखनी तू लिख दे
मेरे गुरु की गुरुता महान्,
चित्रित कर दे वह सजग चित्र
जिसमें उनकी प्रभुता महान् ॥

(२)

ओ ! दृढ़ प्रतिज्ञ, ओ सन्यासी
ओ आर्षमार्ग के उन्नायक,
ओ विश्व हितैषी, लोक प्रिय
ओ आदि भारती के गायक ॥

(३)

वात्सल्य-मूर्ति सच्चे साधक
ओ नाम मात्र अंशुक धारी,
ओ भूले युग के मान - पुरुष
जन-मन में समता संचारी

(४)

तुम नहीं परिस्थिति के वश में
तुमने ही उसको किया दास
अपमानों अत्याचारों में
पल कर तुमने पाया प्रकाश

(५)

सान्त्वना पूर्ण तेरी वाणी
मानव मानस की परिचित सी
कुछ कह देती समझा देती
सत्पथ दर्शाती परिमित सी ॥

(६)

मानस-सागर कितना निर्मल
है राग द्वेष का लेप नहीं
तुम निःसंकोची सत्य - प्रिय
है छद्म तुम्हारा वेश नहीं

या० दि० जैनविद्यालय]—

(वि०) रवीन्द्र कुमार

मानवताका कीर्तिस्तम्भ

मैं वर्णीजीको सन् '१४-१५में नन्हूलाल जी कंड्याके यहां एक प्रौढ़ विद्यार्थी तथा पण्डितके रूपमें कभी कभी देखता था। जैन समाजकी उन पर उस समय भी श्रद्धा थी किन्तु संभवतः केवल एक ज्ञानाराधक विद्वानके रूपमें। सन् '२४-२५ में जब कि परवार समाजके सागर अधिवेशनमें मुझे बोलनेका सौभाग्य वर्णीजीकी कृपाके कारण प्राप्त हो सका था तब विषयके सम्बन्धमें पूछे जाने पर मैंने कहा कि 'मैं जैनधर्मका अकिञ्चन विद्यार्थी हूं, विषय मैं क्या बताऊं? तथापि आपने १५ मिनट बोलनेका अवसर दिया था। मुझ पर उस कृपाने जो प्रभाव किया वह मैं भुला नहीं सकता।'

आज वर्णीजी केवल जैन समाजकी ही विभूति नहीं हैं, यद्यपि जैन समाजका ऋण भार उनके भाल प्रदेश पर अंकित है। अजैन कुटुम्बमें जन्म लेकर उनके द्वारा व्यवहार जैनधर्मने कूपमण्डूकत्व को त्याग दिया। उनकी ओर देखकर जैनी कौन है इस भावनाकी एक स्पष्ट रूप-रेखा गैरजैनी व्यक्तिके हृदयमेंभी अंकित हो जाती है। आजकी जैन समाजकी संकुचित भावना उनकी ओर देखने मात्रसेतिरोहित हो जाती है और मानव समझता है कि जैनधर्म वास्तवमें मानवताके हृदयको झंकृत कर सकता है।

यह पुण्य कमाया जैन समाज तथा अजैन समाजने क्रमशः अपने एक छोटेसे लालको खोकर. और एक महानताके सिंहासनपर बैठा कर। कौन कह सकता है कि वर्णीजी आज मानवताकी जिस तह तक पहुंच पाये उसका कारण; किसी भी रूपमें सही उनका जैन समाजके बाहरका प्राथमिक विचरण नहीं ही है? जहां रहते हुए उन्होंने कल्पना की होगी कि जैन-तत्त्व किस तरह सर्वोपकारक हो सकता है। इस दृष्टिसे वर्णीजी जैन तथा अजैन समाजके बीचकी एक कड़ी हैं जिसमें दोनों धर्मोंकी महानता खिल उठी है।

वर्णीजी तपस्विनी चिरोंजाबाईके मूर्तिमान् स्मारक हैं। उनके त्याग विद्याव्यासंग और सम्पत्तिके सदुपयोगकी भावनाने वर्णीजीमें अमरता पायी है। 'स्वयंबुद्ध जैन' पर व्यय की गयी रकमने अतिकृतज्ञ अतिमानवका जन्म दिया है।

आजके पैदल यात्रा करने वाले उस परिव्राजकके मुखपर न केवल जैनधर्मकी विद्वत्ता अंकित है किन्तु दुःख दलित मानवताकी कसक भी विराज रही है। सारी सांसारिक निम्न प्रवृत्तियों से सन्यस्त इस यतिकी उदात्त वृत्तियां असहाय मानवताके आर्त चीत्कारके प्रति सदा सहानुभूतिसे मुखरित होती हैं और यथाशक्ति मार्ग दर्शन करती हैं। आजके युगमें वैरागियोंका उपयोग लोकहिताय कैसा होना चाहिए इसके आप मूर्त रूप हैं।

आपके आजके प्रवचनोंमें जैनधर्मकी पारिभाषिक शब्दावलिका घटाटोप नहीं किन्तु सीधे पसे मानवके भीतर खिरकर बैठने वाली वह सरस वाणी है जो महान आत्माओंका भूषण रही है। न सीधे और गंवई शब्दोंमें न जाने कैसा जादू है? किन्तु समयकी पुकार भी उसके साथ ही वहां वराज रही है। मन्दिरों तक ही धर्मको सीमित रखने वाले जैनी क्या समझें कि जैनधर्म कितना महान है और उसकी महानता समझाने वाला भी कितना महानतम है। जैन समाजकी उदारताके 'प्रसाद' में हिन्दु समाजका मंगलमय 'गणेश' भी अपने आपमें विराजमान हो सका है।

हम देखते हैं कि आपके अंग प्रत्यंगसे प्रतिध्वनित होने वाली भारतीयता जैनत्वकी धारामें गोता लगा कर कैसी निखर उठी है, काश जैनी ही नहीं भारतीय भी इस समन्वयको समझते और बनते उसके अनुरूप। तो पूज्य राष्ट्रपिताका स्याद्वाद प्रेरित 'सर्वधर्मे समानत्वम्' केवल प्रार्थनाका पद न रह जाता।

सागर]— बी. एल. सराफ, बी. ए., एलएल. बी.

卐 卐 卐

स्मृतिकी साधना

"संसारमें शान्ति नहीं। शान्तिका मूल कारण आत्मामें पर पदार्थोंसे उपेक्षा भी नहीं हम लोग जो इन्हें आत्मीय मान रहे हैं इसका मूल कारण हमारी अनादि कालीन वासना है। यदि मानव ऐसे स्थान पर पहुंच गया तो, एक आदमीके सुधारमें अनेकोंका सुधार है। दृष्टि बदलना चाहिए। यही तो सुधारका फल है।

"मेरा यह दृढ़तम श्रद्धान है, कि कल्याणका प्रारम्भ आपमें ही होता है········उसी समय जो कालादि होते हैं उन्हें निमित्त कारण कहते हैं। श्री आदिनाथ भगवानके अन्तरंगसे मूर्च्छा (लोभादि) गयी, निमित्त मिला नीलाञ्जनाकी आयुके अन्त होनेका। इसी प्रकार सर्वत्र व्यवस्था है। यदि इस हीन दशापन्न प्रान्तका उदय अच्छा होना होगा, तब इस प्रान्तकी मानव समाजके भी सद् अभिप्राय हो जावेंगे। अन्यथा ९९ का फेर है ही-रहेगा और प्रायः था।"

उक्त पंक्तियां पूज्य वर्णीजीने एक पत्रमें लिखी हैं। पत्रकी प्रत्येक पंक्ति स्व-पर कल्याणकी भावनासे ओत-प्रोत है। आत्मोद्धारकी गहरी निष्ठा और अनुभूतिके साथ साथ जगतके मार्ग-निदर्शनकी स्पष्ट झलक भी मिलती है। उनकी लेखनी और ओजमयी सरस भाषामें सदैव यह उत्कट इच्छा निहित रहती है कि संसारके समस्त प्राणी सच्चे मानव धर्मका अनुसरण कर आत्मकल्याण करनेके साथ साथ संसारके समस्त दिग्भ्रान्त मानव समाजका भी उद्धार करें।

वर्णीजी लोकोत्तर पुरुष हैं । उनका सम्पूर्ण जीवन साधनामय रहा है। वे मुमुक्षु हैं। उनके जीवनपर जैन संसकृति और दर्शनकी गहरी छाप है । अध्यात्मवादके वे अपनी कोटिके एक ही पण्डित हैं । उत्तरोत्तर साधनाके विकास और चरम उत्कर्षकी जिज्ञासाने, उन्हें मानवके अत्यधिक निकट ला दिया है । उनकी सतत ज्ञान पिपासा कभी विराम नहीं लेती । वह उनके जीवनकी चिर-संगिनी है। यही कारण है कि उनमें मानवताके समस्त गुणोंका अप्रतिम सामञ्जस्य मूर्तिमान हो उठा है । उदारशील, प्रचारकार्य, शिक्षा संस्था स्थापन एवं द्रव्य संग्रह जैसी उनकी बाह्य क्रियाओंकी पृष्ठभूमिमें, उनका विशुद्ध ब्रह्मचर्य-जन्य तेज, हृदयकी शालीनता, असीम सरलता परोपकारी वृत्ति, पतितपावनताकी उच्चाभिलाषा और युक्तियुक्त मिष्ट संभाषण जैसे आकर्षण गुण चमक उठे हैं। ये ही उनके जीवनको इस आदर्श स्तर पर ले आये हैं। ये सम्राट् भरतके समान लौकिक-व्यवहारिक कार्योंमें प्रवृत्त रहते हुए भी उससे अलिप्त हैं और हैं आत्मोद्धारके प्रति सदैव जागरूक और सचिन्त । वे अन्तरङ्गमें प्रभाव या भावुकतामें बहनेवाले जीव नहीं हैं । उनकी सरल किन्तु सूक्ष्म वीक्षणी दृष्टि किसी भी व्यक्तिके मनोभावोंको परखने या वस्तुस्थितकी गहराईमें पहुंचनेमें जरा भी विलम्ब नहीं लगाती । उनका विशाल हृदय दरिद्र, दुःखी, क्षुधार्त, पीड़ित, दलित, तिरस्कृत, पतित और असहायोंके लिए सतत संवेदन-शील है । इन्हें देखते ही वह द्रवित हो उठते हैं और हो जाते हैं अत्यन्त व्याकुल । कष्ट निवारण ही उन्हें स्वस्थ कर पाता है। भारतीय प्राचीन श्रमण संस्कृति और मानव धर्मके यथार्थ दर्शन इनमें ही मिलते हैं ।

भीषण परिस्थितियोंमें जीवन निर्वाह कर आपने जो शिक्षा प्राप्त की उसीका यह सुफल है, जो आज हम भारतवर्षमें बीसों शिक्षा संस्थाओंको फूलते फलते देख रहे हैं।

उनकी वाणीमें जो मिठास और प्रभाव है उसका वैज्ञानिक मूल कारण है अन्य प्रान्तोंमें रहनेके बाद भी अपनी मधुर मातृभाषा-बुन्देलखण्डीका न छूटना। विशाल शिक्षाके क्षेत्रमें जब अपने पदार्पण किया तब उनके कण्ठमें जन्मभूमिकी वाग्देवीका निश्चित निवास हो चुका था । इस दृढ़ संस्कारने उनकी जन्मजात मीठी बोलीके रूपको नहीं बदलने दिया और चूड़ान्त प्रतिभा सम्पन्न होकर जब वे संसार के सामने आये तो सहज ही वह सरल भाषा मुखसे झरने लगी ।

वर्णीजीने एक राजयोगीकी तरह पढ़ा लिखा है । उनके रहन-सहन और भोजनका माप-दण्ड सदा काफी ऊंचा रहा है। इस सम्बन्धमें अगणित जनश्रुतियां हैं । आपको साधारण भोजन-पान और वेशभूषा कभी नहीं रुचा । बाईजी अविकल रूपसे उनकी तृप्तिके लिए सदैव साधन सामग्री जुटानेमें तत्पर रहीं और वर्णीजीकी भावनाएं सदैव बढ़ चढ़कर सामने आयीं। बाईजी व्यवहार कुशल थीं इसी लिए बढ़िया चांवलोंको दूधमें भिगो कर बादमें पकाती थीं, तो भी "बाईजी

उस दिनका चावल बहुत सुस्वादु था'' यह सुनकर भी ऊबती न थीं। बहुमूल्य शाल दुशालों, रेशमी दुपट्टों, चादरों, रेशमी साफों, कुर्तों और अंगूठियोंको अनायास किसी गरीब याचकको देखकर वहीं वहीं दे देनेकी तो न जाने कितनी घटनाएं हैं। यह प्रवृत्ति आज भी उनमें बनी हुई है।

हरिपुर ग्राममें पं० ठाकुरप्रसाद द्विवेदीजी के पास पढ़ते थे। एक जड़ बुद्धि ब्राह्मण विद्यार्थी साथ था। पठन-पाठनसे ऊब कर और विद्यार्थी जीवनसे अपना और किसी प्रकार पिण्ड छूटता न देखकर, उसने एक दिन कहा—"पढ़नेमें क्या रखा है? दोनों जने गंगाजीमें डूबकर कष्टप्रद जीवन समाप्त कर दें और तमाम झंझटोंसे मुक्ति पा लें।" वह वर्णीजीका अनन्य मित्र था। सखाको कोई मानसिक कष्ट न हो अपनी इस दयार्द्र-वृत्ति और बन्धुत्व भावसे वे उसके प्रस्तावसे सहमत हो गये। दोनों व्यक्ति गुप चुप एक इक्का करके झूंसी आये। मनमें उठते हुए नाना विकल्पों और भयने ब्राह्मण विद्यार्थीको हठसे पीछे ढकेल दिया और वह छिपकर वर्णीजीको सोता छोड़ कर न जाने कहां चम्पत हो गया।

सुबह उठते ही मित्रको गायब पाकर मनमें आया 'भला गुरुदेवको अपना मुंह कैसे दिखाता। क्योंकि वहांसे बिना आज्ञाके भागकर जो आये थे! यदि गये तो बहुत लज्जित होना पड़ेगा और जो भी सुनेगा वह भी उपहास करेगा। इस हंसी ठिठोली और शर्मनाक स्थितिसे तो अब कायोत्सर्ग ही भला। इसी उधेड़-बुनमें मस्त हम गंगा घाट पर चले गये।' अंटीके पचास रुपये और सारे वस्त्र घाट पर रख दिये और नग्न होकर श्रावणकी गंगामें कूद पड़े। आधा मील बहनेके बाद होश आया कि पैर पानीमें चल रहे हैं। गंगाका दूसरा किनारा पास दिखायी पड़ा तथा वे पानी काटते हुए उस ओर पहुँच गये। खड़े हुए तो अपनेको नग्न देख कर शर्म मालूम हुई। उसी प्रकार घाटकी तरफ लौट पड़े। बीचमें तीव्र धाराओंको पार करना शक्तिसे बाहर था। "मैं धाराको न काट सका और वहीं पानीमें गुटके खाने लगा। जीवन और मरणके हिंडोलेमें झूलते हुए मुझे एक मल्लाहने देख लिया और साधुको डूबता समझ मुझे सहारा देकर अपनी नौकामें चढ़ा लिया। मैं थकान और घबड़ाहटसे अचेत सी अवस्थामें घाट पर पहुंचा। देखा वस्त्र सब यथास्थान रखे हुए हैं। चित्तमें यह विचार आया कि कर्म-रेखाएं अमिट हैं, किसी के कुछ करनेसे क्या होता है। जो होनहार और भवितव्य है वह होकर ही रहता।" इस प्रकार लोक हास्यसे बचनेकी भावना तथा भावुकताके पूरमें वर्णीजी ने 'पूर्वोपार्जित कर्म अपरिहार्य हैं, भाग्य साथ नहीं छोड़ता' इस अडिग आस्थाको पाया। किन्तु इस संकल्पने उन्हें पुरुषार्थसे विरत नहीं किया। वे पुरुषार्थ करते हैं और विश्वास रखते हैं कि पुण्योदय होगा तो इच्छित कार्य अवश्य ही होगा। इसीलिए तो लिखा था "यहां लोग नाना प्रकारसे रोकनेकी चेष्टा कर रहे हैं। मैं प्रकृतिसे जैसा हूं आप लोगोंसे छिपा नहीं। जो चाहे सो मुझे बहका लेता है। मैं अन्तरंगसे तो कटनी आना चाहता हूं। जबलपुर और सागर दो इस मार्गमें प्रतिबन्धक हैं, शरीरकी शक्ति इतनी प्रबल नहीं जो स्वयं आ सकूं। देखें कौन सा मार्ग निकलता

है—भैया, संसार विडम्बनामय है और हमारी मोह लहर ही हमें इन झंझटोंमें उलझा रही है। सबसे उत्तम मार्ग स्वतंत्रवृत्ति होकर विहार करनेका था, परन्तु वह परिणाम भी नहीं और न शारीरिक शक्ति भी इस योग्य है। अन्यथा इस मध्यम मार्गमें कदापि जीवन व्यतीत न करता। पराधीनताके सदृश कष्ट नहीं। मेरा (पं० जमन्मोहन लालजी को) इच्छाकार तथा अपनी माताजीको दर्शन विशुद्धि"

गणेश वर्णी

यह पत्र गुरुदेवकी आत्माका चित्रपट है। उनमें कुछ वैयक्तिक कमजोरियां भी हैं। उनमेंसे एक तो जिसने जैसा कहा उसकी हां में हां मिला देना। दूसरी है व्यवस्था शीलताका अभाव। किन्तु वास्तविक वस्तु स्थिति पर विचार करने से भली भांति समझमें आता है कि उनमें अपनी कोई त्रुटि नहीं है। किन्तु वह भी 'लोक हिताय' है। वे अपने द्वारा कभी किसीको क्षुब्ध या व्यथित नहीं करना चाहते। जो व्यक्ति उनके एक बार भी निकट सम्पर्कमें आ जाता है वह उनका स्नेह भाजन बन जाता है। फिर वह उनके प्रति अपनी अत्यासक्तिसे उनसे सदा धर्मज्ञान लाभ और मार्ग दर्शन मिलता रहे, इस लोभसे उनके मार्गमें बाधक बन जाता है तथा समाजके लाभकी दृष्टिको भूल जाता है। गुरुदेव इतने संकोच शील हैं कि लोगोंके किसी कार्यके लिए अत्यन्त आग्रह करने पर वे किंकर्तव्य विमूढ़से हो जाते हैं। इनमें सीमासे अधिक सरलता और नम्रता है। वे सबको साम्यदृष्टिसे देखते हैं। उनपर सबका अधिकार है। यदि किसीका थोड़ा भी भला हो सकता है तो उस कार्यसे वे कभी रुकते नहीं चाहे वह व्यक्तिका काम हो या समाजका।

गुरुदेव सार्वजनीन लोक प्रिय हैं। अतः संसार उन्हें वन्दना करता है। वर्तमान युगके वे आदर्श मानव हैं। उन्होंने जितनी लोक सेवाएं की हैं, उनका जैन समाजके बाहर विज्ञापन नहीं हुआ अन्यथा वे अनुपम माने जाते। उनका व्यक्तित्व महान् है। वे दिग्विमूढ़ मानव समाजकी दिशा और भाव परिवर्तनके लिए सचिन्त, सजग और सचेष्ट हैं।

वृत्तानि सन्तु सततं जनता हितानि—इस आदर्श भावनाका सुन्दर समन्वय पूज्य वर्णीजीमें जितना मिलता है उतना अन्यत्र देखनेमें नहीं आता। पश्चिमी मादक मलय मारुतने अपनी मोहिनी सुरभिसे संसारको विलासिता और लिप्सा की रंग-रेलियोंमें सराबोर कर जगत्को उस मृग मरीचिकाके किरण जालमें उलझा कर, मानवधर्मसे दिग्भ्रान्त बना दिया, किन्तु भरतसा यह दृढ़व्रती योगी, इस अनित्य अशरण संसारसे उदासीन हो कर विरक्तिके अभीष्ट राजपथपर आगे ही बढ़ा रहा है।

विषयका एश्वर्य और विभूति उनके समक्ष सदैव मृतवत् रही। आज वे अपने जीवनके परम शिखरके इतने सन्निकट हैं और उनका आकुल अन्तर इतना अधीर है कि वे अब निर्ग्रन्थ अवस्थाको

ऽर उसमें अपनेको आत्मसात् कर देना चाहते हैं। वे सांसरिक स्नेह बंधनसे दूर, बहुत दूर अब किसी निर्जन प्रकृतिके सुरम्य अञ्चलमें बैठकर काययोग द्वारा एकाग्रचित्त हो एकाकी जीवन ा चाहते हैं । जहां माया मोह बन्धनसे चिर संतत आत्माको विराट शान्ति मिले, प्रबल ोद्धारकी जिज्ञासा सफल हो और वे कर्म शत्रुओंके भीषण रणक्षेत्रमें सतत युद्ध कर उनपर विजय ऽर रणधीर बन सकें।

ऐसे युग पुरुषकी पुण्य स्मृतिमें उनके पुनीत पादपद्मोंमें श्रद्धाकी यह सुमनाञ्जलि अर्पित है। वे जीव हों, और सबके मध्यमें सुधाकरकी भांति प्रकाशमान रहकर अमृत वरसाते रहें।

[कुटीर, कटनी]— (स० सिं०) धन्यकुमार जैन

卐 卐 卐

झोली के फूल

· से भरी हुई झोली-
, मैं इन्हें चढ़ाऊंगा ।
तक शरीर में शक्ति शेष
तक मैं तुम्हें मनाऊंगा ॥

'भारत भू' की रक्षा करते
मर मिटें न पीछे हटें कभी ।
'होगी रक्षा तेरी स्वदेश'
उद्दाम तान से कहें सभी ॥

गिर कांपे भू डोल उठे,
; सुन कर के सिंहनाद–
वीरों का, चिन्ता न किन्तु
युगान्त तक यह निनाद ॥

हे देव अधिक कुछ चाह नहीं
नव-जीवन-ज्योति जगा देवें ।
स्वर्णिम अङ्कों में 'भारत' का
इतिहास पुनः लिखवा देगें ॥

चढ़ा रहे हैं फूल देव ।
ा पूर्वक, झोली खाली-
गयी, प्रभुवर वर दो
सके इसे फिर से माली ॥

[० वि० काशी]— (वि०) ज्ञानचन्द्र 'आलोक'

वर्णी महान !

वर्णी महान् ! वर्णी महान् !

युग युग तक श्रद्धा से मानव गावेगा तेरा यशोगान
वर्णी महान् ! वर्णी महान् !!

तुमने युग धर्म सिखाया
जीवन का मर्म बताया
गुमराह युगों के मानव को
फिर जीवन पथ दिखलाया
लघुमानव है कितना समर्थ-बतलाता तेरा स्वाभिमन
वर्णी महान् ! वर्णी महान् !!

कहना जग हम स्वच्छन्द नहीं
टूटे जीवन के बन्ध नहीं
इस पर बोले गुरुवर्य ? आप
"मानव इतना निष्पन्द नहीं
दो तोड़ विवशताके बन्धन बन जाओ अब भी युगप्रधान।
वर्णी महान् ! वर्णी महान् !!

तुम जगा रहे हो निखिल विश्व
लेकर के कर में ज्ञान दीप
वह ज्ञान कि जिससे मानव का
अन्तस्तल है बिलकुल समीप
युग युग तक अनुप्राणित होगा पा कर जग तेरा ज्ञान दान।
वर्णी महान् ! वर्णी महान् !!

उज्वल यश-किरणों से तेरी
हो रहा व्याप्त यह धरा धाम
तू इस युग का योगी महान्
युग का तुझको शत शत प्रणाम्
श्रद्धा से नत हो उठे आज चरणों में तेरे प्राण प्राण।
वर्णी महान् ! वर्णी महान् !!

सागर]- —फूलचन्द 'मधुर'

़तौली की आंखें

मुजफ्फरनगर जिलेके इस खतौली उपनगरमें जैनधर्मके अनुयायियोंकी अच्छी संख्या सामाजिक स्थिति है। लौकिक कार्योंके साथ-साथ आत्माराधनकी प्रवृत्ति यहां पं० हरगूलालजी, मलजी ़के समयसे चली आयी है। तो भी काल दोषसे यहांके लोग भी केवल बाह्य प्रभावनामें मस्त लगे थे। ऐसे ही समय सन् १९२४में पूज्य पं० गणेशप्रसादजी वर्णी हस्तिनापुरसे लौटने पर रुके। मझौले कदका श्याम शरीर, खद्दरका परिधान तथा माथेके श्वेतप्राय केश देखकर लोगोंकी ठिठक गयी! लोगोंको लगा सिद्धि देवी (स्व० पू० माता चिरोंजाबाईजी) ज्ञानबालकको लिये रही हैं। महाराज एक सप्ताह रुके 'परमात्म प्रकाश' का स्वाध्याय चला। लोगोंने समझा कि उनके ़रेचित पूज्य आदर्श तपस्वी बाबा भागीरथजीका कथन ही ठीक है। ऐसा न होता तो ज्ञानमूर्ति ़ंजी मूर्तिमान तप बावाजी ही की बात--केवल बाह्य आचरणसे ही पार न लगे गी—का, साफ-साफ ़ख्यान क्यों करते।

सन् १९२५ में गतवर्षकी प्रार्थना स्वीकार कर पूज्य बाबाजी तथा वर्णीजीने खतौलीमें चतुर्मास ़या। पं० दीपचन्द्रजी वर्णी भी आगये थे। चतुर्मास भर ज्ञान-वृष्टि चली। बाबा वर्णीके मुखसे धर्मका ़ं सुनकर लोग अपने आपको भूल जाते थे। किन्तु वर्णीजीको ध्यान था कि साधन विन यह धर्मचर्चा ़धक दिन न चलेगी। बोले "सम्यग्ज्ञान दायी विशाल संस्कृत विद्यालय होता तो कितना अच्छा होता।" ़र चुप हो गये। लोग सम्हले,—न चतुर्मास सदा रहेगा, न साधु समागम और न यह ज्ञानवर्षा भी रहेगी—तकी बातमें दश हजार का चन्दा हुआ और 'कुन्द कुन्द विद्यालय' की स्थापना हो गयी।

सबलोग गुरुओंके सामने सरल तथा समझदार मालूम पड़ते थे। जन्म और कुलका ़ंड भी दबासा लगा। किन्तु; दस्से—किसी सामाजिक भूल या अपराध वश बहिष्कृत लोग—मन्दिर आयेंगे ? मन्दिर अपवित्र हो जायगा, मूर्तियोंपर उपसर्ग आ पड़ेगा, नहीं ये कभी भी मन्दिरकी ़हली न लांघ सकेंगे। चिर उपेक्षित दस्सा भाई भी इस धार्मिक दंडको सहते सहते ऊब गये थे पर ़ाचार थे। दुर्भाग्य वश कुछ मन चले स्थानकवासी साधु आ पहुंचे। दस्सा भाईयोंने सोचा 'चलो ़या बुराई है जैनी तो रहेंगे, कौन सदा अपमान सहे। सम्प्रदाय परिवर्तनकी तयारियां चल रही थी। युवक ़स धर्मंहठसे दुखी थे। वृद्धोंसे अनुनय विनय की 'तुम्हें तो धर्म डुवाना ही है। हमारी जिन्दगी भर तो

बखसो, के सिवा दूसरा जबाब ही न था। याद पड़े बाबा-वर्णी। पत्र लिखा (महादेवीजीने), उत्तर मिला "....दस्सा भाइयोंके ऊपर जो धर्म संकट आया पढ़कर बहुत दुखी हुआ, वीसा भाइयोंको उचित है जो उन्हें पूजनादि कार्यमें कोई बाधा उपस्थित न करें........मेरी हृदय से सम्मति है जो दस्सा समाजको वीसाकी तरह पूजनादि करनेमें कोई आपत्ति न होनी चाहिए। जिनके आचरणमें किसी प्रकारका दोष नहीं उन्हें पूजनसे रोकना उनकी जड़ है ....बाबाजी महाराजतो उद्योग करते ही होंगे किन्तु आप भी खतौली दस्सा समाजकी ओरसे ऐसा प्रयास करना जिसमें समाजका पतन न हो जावे। मैं तो बहुत ही दुखी इस समाचारसे हूं जो मेरठ आदि प्रान्तके भाई श्वेताम्बर हो रहे हैं।" इसे पाते ही भ्रान्त धर्म ध्वजोंकी आंखे खुलीं और त्यागमूर्ति बाबाजीकी उपस्थितमें दस्सा भाइयोंका स्थितीकरण हुआ तथा उत्तर भारत को साधर्मी वात्सल्यका मार्ग मिला।

स्वर्गीय पं० गोपालदास बरैयाने जैन धर्मपर आक्रमण करने वालोंसे शास्त्रार्थ किये थे किन्तु दूसरी पीढ़ी उसे न निभा सकी। फलतः आर्य समाजियोंके आक्रमण और बढ़े। इसी समय जैन समाज के भाग्यसे अभिनव जैन शंकराचार्य (पं०राजेन्द्रकुमारजी) अपने साथ संघ (दि० जैन शास्त्रार्थ संघ) लिये समाजके सामने आये। सन्, ३३ में खतौलीपर वार हुआ और सौभाग्यसे वर्णीजीके नायकत्वमें पं० राजेन्द्रकुमारजीने ऐसा मारा कि कितने ही शास्त्रार्थी आर्य समाजियोंको ही वैदिक धर्मको समझकर माननेकी सूझी। पानी पड़नेपर जब विपक्षके विद्वानोंने शास्त्रार्थ सभा स्थगित करानी चाही तब "कैसा विराम, कैसा विश्राम, शास्त्रार्थ चाहिए, शास्त्रार्थ लीजिये" शब्द वर्णीजीके मुखसे सुनकर वे चकित रह गये और समझे कि जैन धर्ममें कैसा तपोबल है।

संभव नहीं कि हम बाबा-वर्णीके पूरे उपकारोंका स्मरण भी कर सकें। इतना ही जानते हैं कि वे खतौलीकी आंखें थे, हैं और रहेंगे। त्यागमूर्ति बाबाजीकी तो अब पुण्यस्मृति ही पथप्रदर्शन करती है, किन्तु समाजके पुण्य प्रतापसे वर्णीजी आज भी हमारे मसीहा हैं। वे चिरायु हों और हमारा मार्ग दर्शन करते रहें।

महादेवी
बाबूलाल जैन

खतौली]–

卐 卐 卐

नको गणेश हम कैसे कहें !

(१)

तनपर है धर्म धूलि खासी,
मृगछाल महाव्रत ओढ़े हैं ।
जिन-वृष पर हैं आरूढ़, उमा
अनुभूति से प्रीती जोड़े हैं ॥
तिरसूल सदा रत्नमय ले,
सम्मेद शिखर-कैलाश बसें ।
गुरुवर तव सच्चे महादेव,
इनको गणेश हम कैसे कहें ?

(२)

पुरूषार्थ चतुष्टय भुजा चार
शशिकला कीर्ति छवि छायी है ।
उपदेशामृत पावन गङ्गा भी
वसुधा पर आज बहायी है ॥
पी लिया कषाय कठिन विष को
शल्य त्रय त्रिपुर भी धू धू दहे
गुरूवर तव सच्चे महादेव
इनको गणेश हम कैसे कहें ?

(३)

सुज्ञान सुतीक्ष्ण तृतीय नेत्र
-की ज्योति मदनको दहती है ।
गल माल भुजङ्ग परीषह हैं,
ओंनमः सुमरनी लसती है ॥
सन्देह नहीं शङ्कर ही हैं ।
आबाल वृद्ध जब यही कहें ।
गुरुवर तुम सच्चे महादेव ।
तुमको गणेश हम कैसे कहें ?

स्या० वि० काशी]

(वि०) नरेन्द्र

महान् सचमुच महान्

तर्क शास्त्रके विद्वान कहते हैं कि कार्य-कारण तथा परिणाम इनमें परस्पर बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। एक साहित्यिक होनेके नाते तो मैं शायद ही इसपर विश्वास कर सकता किन्तु....। यह एक किन्तु विगत कुछ वर्षोंके इतिहासके पृष्ठ खोल कर रख देता है। स्मरण कर उठता हूं एकाएक बड़ोंका वह उपदेश कि महापुरुषोंके दर्शन कदाचित् विगत कई जन्मोंके पुण्यकर्म स्वरूप ही सुलभ होते हैं। सो इसे अपने सौभाग्यका मैं प्रथम चरण ही अभी तक मान सका हूं कि जब अति अस्वस्थ होने पर भी मुझे जैन हाईस्कूल सागरमें एक शिक्षक की भांति जाना पड़ा था।

यों तो प्रवास मेरे जीवनका एक अंश रहा है किन्तु सन् १९२४ के प्रारम्भसे ही मनमें प्रवासके प्रति एक विरक्ति सी उभर उठी है। फिर भी छत्तीसगढ़ छोड़ कर जीविका अर्जनके हेतु मुझे सागर जाना पड़ा। इस प्रवासके पूर्व सागरके सम्बन्धमें कई बातें सुना करता था। सागरकी प्राकृतिक छटा, वहां की स्वास्थ्यकर जलवायु इनके विषयमें बहुत कुछ सुन चुका था। अतएव अपने हीन स्वास्थ्यका ख्याल रखते हुए मुझे सागरमें ही रहना रुचिकर एवं हितकर प्रतीत हुआ।

तब मुझे यह पता नहीं था कि सागरका जैन समाज एक महत्त्व पूर्ण मात्रामें सागरके सार्वजनिक जीवनमें प्रवेश कर गया है। तो, एक प्रश्न मेरे सामने अवश्य था मैं कान्यकुब्ज कुलोत्पन्न ब्राह्मण हूं। सुन रक्खा था 'न गच्छेत् जैन मन्दिरम्', आदि और उसके प्रतिकूल मैं उसी स्थानपर चाकरी करने जा रहा था। मेरे समाज वालोंको यह बात खटक गयी। लेकिन मैं स्वभावतः ही विद्रोही रहा हूं गुण ग्रहण करनेमें मैंने रूढ़िका ध्यान कभी नहीं किया।

सो जैन हाईस्कूलमें एक शिक्षककी हैसियतसे कार्य शुरू करनेके कुछ समय पश्चात् ही यदा-कदा मेरे कानमें मोराजी संस्कृत विद्यालयके विद्यार्थियों द्वारा सम्बोधित शब्द 'बाबाजी' पड़ जाया करते थे। और मनमें यह भावना उठती थी कि आखिर वह कौनसा व्यक्तित्व है जो इन विद्यार्थियोंके बीच 'बाबाजी' के रूपमें सदैव चर्चाका विषय बन जाता है! जिज्ञासा यद्यपि मन ही में थी पर उभरने लगी थी। फिर एक दिन जैनसमाजके कुछ वयस्क व्यक्तियोंको मैंने 'वर्णीजी'का नाम लेते सुना अत्यन्त आदर एवं समुचित श्रद्धाके साथ! तत्क्षण मेरा मन दुहरा उठा—बाबाजी, वर्णीजी ये दोनों एक ही तो नहीं हैं! आखिर वह कौन व्यक्तित्व है जो सम्पूर्ण जैनसमाजके द्वारा इतनी श्रद्धाके साथ पूजनीय है! अतएव एक दिन संस्कृत पाठशालाके भाई पन्नालालजीसे मैंने इस सम्बन्धमें प्रश्न किया

के उत्तरसे मुझे ज्ञात हुआ कि वे जैनसमाजकी एक महान् आदरणीय विभूति हैं। विरक्त होते भी जनहिताय, लोक मंगलकारी भावनाओंके प्रसारमें जुटे हुए हैं शिक्षा उनका प्रियतम विषय है।

इस अल्प परिचयके बलपर मेरे मनकी कल्पना उनके स्वरूपका ताना-बाना बुनने लगी की वृद्ध होंगे, ऊंचे पूरे, श्मश्रु-युक्त, साथमें अनेकों व्यक्ति होंगे, बड़ी शान के साथ रहते होंगे, ोंका सम्भवतः त्याग कर दिया होगा, आदि-आदि। ऐसा ही कुछ उनका काल्पनिक स्वरूप मनमें उभर उठा था। और उसी समय एक नहीं अनेक प्रश्न उठ पड़े थे। क्या ये वैसे ही रक्त साधुओंमें नहीं हैं जैसे कि वर्तमान कालमें भारतवर्षमें पाये जाते हैं? इस जिज्ञासाका भला न उत्तर दे? नवागन्तुक अथवा यों कहिए कि प्रवासी होनेके नाते किसीसे कुछ पूछनेमें चक लगती थी। फिर अपने एक स्वजातीय बन्धुसे उपरोक्त प्रश्न उपस्थित करने पर मुझे उत्तर ला था—अच्छा तो क्या आप भी जैन धर्ममें दिक्षित होना चाहते हैं? सच कहूं, यह उत्तर ा बेढंगा सा लगा मुझे। क्या वर्णीजी के बारेमें जानना एक अन्य जातीय व्यक्तिके लिए ाह है? कौन उत्तर देता इन प्रश्नों का?

फिर जनवरीके महिनेमें मुझे सुननेको मिला कि मार्चमें वर्णीजी सागर पधार रहे हैं। यह ाचार मेरे लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ। उनकी अनुपस्थितमें जैनसमाजके आबाल वृद्धकी खण्ड निष्ठाको देखकर मेरे मनमें उनके प्रति उस समय आदर तो नहीं कुतूहल अवश्य हुआ ा। किन्तु उसी दिन कक्षामें पढ़ाते समय जब मेरे एक प्रिय जैन छात्रने कहा कि मास्टर साहेब, र्णीजी गयासे पैदल आ रहे हैं। वे आवागमनके आधुनिक साधनोंका प्रयोग नहीं करते और न ूता ही पहनते हैं—तब जैसे आप ही आप किसीने उनके प्रति श्रद्धाका बीज मेरे मनमें अंकुरित कर दिया। मन ही मन ऐसी विभूतिके दर्शनके लिए व्याकुल हो उठा था मैं।

इसी बीच नगरके जैनसमाजमें एक अद्भुत जागृतिके लक्षण मुझे दृष्टिगोचर हुए। विशाल ामानेपर तयारियां प्रारंभ हो गयीं—मुझे लगा कि जैसे किसी अखिल भारतीय संस्थाका अधिवेशन ोने जा रहा हो। और इसी प्रकार दिन व्यतीत होते गये—जैसे जैसे तयारियां बढ़ती गयीं वैसे ैसे मेरा मन आश्चर्यसे भरता गया। कौन सा ऐसा व्यक्तित्व है कि जिसके लिए ऐसा शाही प्रबन्ध? कौन से ऐसे विशेष गुण हैं जिनके कारण ये विशाल तयारियां? हो सकता है...........
नहीं, नहीं, होगा कोई परम पावन आदर्श व्यक्तित्व! होगी निश्चय ही कोई महान् प्रेरक विभूति! तभी; तभी तो यह सब कुछ हो रहा है।

× × ×

एक दिन संध्याकाल यह सुननेको मिला कि वर्णीजी निकटस्थ ग्राममें आ गये हैं और

प्रातःकाल वे नगरमें प्रवेश करेंगे। बचपनसे राष्ट्रीय प्रवृत्ति मुझमें प्रधान रही है, अतएव सभा, आयोजन आदिमें सदैव जाया करता था। उसी दृष्टिकोणसे प्रातःकालको लगभग आठ बजे मैंने समझ रक्खा था। सो दूसरे दिन आठ बजेके लगभग जब मैं अपने एक मित्रके साथ उस स्थान पर पहुंचा जहां उनका स्वागत होनेको था तो पता चला कि सूर्यकी प्रथम रश्मियोंके साथ ही वे उस स्थानसे चल पड़े थे। समयकी यह नियमित पाबन्दी विरलोंमें ही पायी जाती है। परोक्षरूपसे उनके इस प्रथम गुणने मुझे आकर्षित किया। खैर, बढ़ चले आगे, और हीरा आयल मिल्सके पास मैंने देखा विशाल जन समूह–तिल रखनेकी जगह नहीं। 'वर्णीजीकी जय' की ध्वनि प्रत्येक कोनेमें गूंज रही थी। और मेरी आंखें चुप चाप विकलतासे खोज रही थीं, उस महान व्यक्तित्वको। कुछ मिनट और,……और मैंने देखा सफेद चादर लपेटे एक छोटे कदका श्यामल व्यक्ति नंगे पैर बड़ी तेजीके साथ मीलके प्रवेशद्वारसे निकल कर आगे बढ़ गया––। सिरपर कुछ श्वेत केश, नयनोंमें एक अपूर्व ज्योति, हंसता हुआ चेहरा, आजानु बाहु, रक्त कमल सी हथेलियां। विशाल जनराशि पागल हो कर चिल्ला उठी—'वर्णीजीकी जय'। उस महान् विभूतिके दो जुड़े हुए हाथ ऊपर उठ गये……………………तो यही वर्णीजी हैं! और मनमें कोई बोल उठा—'महान् सचमुच महान्!' वह एक झलक थी लेकिन ऐसी झलक जो दिलमें घर कर गयी हो, जीवन भरको अपनी अमिट छाप छोड़ गयी। 'सादा रहना उच्च विचार' यह भारतीय आदर्श जैसे वर्णीजीके व्यक्तित्वमें मूर्तिमन्त हो उठा था। मेरा मन एक नहीं कई बार उस 'जय-ध्वनि' को दुहरा गया।

कवि होते हुए भी मैंने नर-काव्य नहीं किया। लेकिन उस दिन मध्यान्हमें जैसे किसीने मेरे कविको प्रेरित कर दिया उनके प्रति श्रद्धांजलि प्रगट करनेके लिए। और आप ही आप कुछ पंक्तियां कागज पर उभर उठी थीं। उसी दिन बहुत निकटसे उन्हें देखनेका मौका मिला। मैंने सुना वे कह रहे थे, 'आज एक वृद्धाने मुझे यह एक रुपया दिया है। शिक्षाके प्रसार हेतु मुझे एक लाख रुपया चाहिये"। और फकीरकी चादर फैल गयी। अधिक देर नहीं लगी, एक लाखके वचन प्राप्त हो गये। मैं सोच रहा था—कौन-सा जादू इस व्यक्तिने जैनसमाज पर डाल दिया है? मनने उत्तर दिया—त्याग, तपस्या और निस्वार्थ सेवा। हां, सचमुच ये वर्णीजीके सेवा-पथके ज्योति-स्तम्भ हैं।

फिर सुननेको मिला 'आजाद हिन्द फौज'के लिए एक सभाका आयोजन किया गया। लोगोंसे दान देनेकी अपील की गयी। साधु वर्णीजीके पास क्या था? फिर भी उन्होंने अपनी चादर उतार कर दानमें देनेकी घोषणा की। और यह सब पढ़ कर मेरा मन कह रहा था—काश हमारा साधु समाज यदि ऐसा ही हो पाता तो जाने आज भारत कहां रहता।

वर्णीजीके इस स्वल्प परिचयने मनकी उत्कंठा बढ़ा दी। उनके विगत जीवनसे मैंने परिचय

किया। जन्मना वे एक अजैन हैं किन्तु कर्मणा वे जैनसमाजके आदर्श हैं। जैनसमाजमें सचमुच ाका भारी अभाव है। वर्णीजीने उस समाजकी कमजोरीको पहचान कर उसे दूर करनेका व्रत ले ा। फलस्वरूप आज बनारस, कटनी, जबलपुर, दमोह, सागर आदि अनेक स्थानोंमें अनेक संस्थाएं चल हैं। अजैन होते हुए भी अपनी तपस्या एवं उद्देश्यकी पवित्रताके बल पर वे जैनसमाजके आदर्श ानीत हुए। पूज्य और महान होकर भी वे व्यवहारमें साधारण मानवकी भांति ही रहे सचमुच यह की महानता है।

सच कहूं तो आज तक बहुत ही कम मैं किसी धार्मिक विभूतिके प्रति आकर्षित हो सका, तु वर्णीजीके स्वल्प दर्शनने मेरी धारणामें परिवर्तन कर दिया और आज भी मन सोचने लगता है कि के क्षेत्रमें यदि ऐसे ही कुछ और भारतमाताके सपूत पैदा हुए होते तो आज हम भारतीय न जाने ातिके किस उच्च शिखर पर पहुंच गये होते।

बपुर]—

—(पं०) स्वराज्यप्रसाद त्रिवेदी, बी० ए०,
सम्पादक 'महाकोशल'

वीर की देन

—×—

यौवनके प्रस्तर खण्डोंमें निर्झर बन बहना सिखलाया।
दानवता को चीर सहृदयता का हमको पाठ पढ़ाया॥

राजाओंके सिंहासन को जनताका प्रतिनिधि बतलाया।
गगनचुम्बिनी ज्वालमालमें जगहित जलना हमें सिखाया॥

सत्य अहिंसा ही जीवन का शिव सुंदर सन्देश सुनाया।
दो-विरोध की प्रतिद्वंद्विनी माया को सिकता समझाया॥

अनेकान्त समदृष्टि हमारी एक ध्येय हो एक हमारा।
न्याय बने अन्याय कहीं तो केवल हो प्रतिकार हमारा॥

मृग ढूंढ़े बनमें कस्तूरी तुम तो बनो न यों दीवाने।
मानव वह जो मानवता सा रत्न जौहरी बन पहिचाने॥

तमस्तोम में छिपी चांदनी प्रियतम से दुहराया करती।
कहां वीर के पतित पूत रत्नत्रय ? कह अकुलाया करती॥

तारे क्या हैं उसी चाँदनी की आंखों की मुक्ता माला।
अंधकार है धूम्र और आविर्भावक है अन्तर्ज्वाला॥

जैनमन्दिरों में मुसकाया करती निर्मलता की धारा।
निज उपासकों का निवास शिमला पाया वैभव की कारा॥

कहां धर्म की आंन कहां अकलङ्क और निकलङ्क पुजारी।
कहां धर्मबन्धुत्व और वह कहां प्रेम के आज भिखारी॥

वैभव बोला करुणा स्वर में मन्दिर मम सोने की कारा
पंचभूत में हम विलीन हैं और यही अस्तित्व हमारा॥

स्या० विद्या० काशी]—

—हीरालाल पाण्डे,
साहित्याचार्य, बी. ए.

बुन्देलखण्डं सद्गुरु श्रीवर्णी च—

यस्यारण्येषु शार्दूला, नरसिंहाः पुरेषु च ।
वसन्ति तत्प्रियं भाति, विन्ध्येला (बुन्देला) मण्डलं भुवि ॥१॥
नैसर्गिकी यत्र कवित्वशक्ति-र्विलोक्यते ग्राम्यजनेष्वपूर्वा ।
उपात्तविद्या यदि [1]काव्यवित्ता, भवन्ति तत्रास्ति किमत्र चित्रम् ॥२॥
सर्वत्र लभ्यै र्मधुरैः पयोभि-रनोकहैः पुष्पफलर्द्धिपूर्णैः ।
हृद्यैश्च सात्म्यैः शिशिरैः समीरै-र्विभात्यसौ देशमणिर्दशार्णि[2]ः ॥३॥
गिरिव्रजै रुन्नतसानुमद्भि-र्या रक्ष्यते- रक्षिसमै[3] रजस्रम् ।
द्रुमेषु यस्या विविधा विहङ्गाः, कूजन्ति सा चारु दशार्णभूमिः ॥४॥
अन्येषु देशेषु जना व्यथन्ते, दिवानिशं प्राप्य निदाधकालम् ।
संजायते किन्तु दशार्णभूमौ विभावरीयं शिशिरा तदापि ॥५॥
[4]वन्योपसर्गान् बहुदुःखपूर्णान्, शृण्मः पठामश्च परत्र- देशे ।
एतैश्च भूकम्पनिभैर्न किन्तु, पीडा भवत्यत्र दशार्णदेशे ॥६॥
यं वीक्षितुं प्रत्यहं माव्रजन्ति देशाद्विदेशाच्च जना अनके ।
रेवाप्रपातः स हि धूमधारः सत्यं दशार्णे रमणीय वस्तु ॥७॥
चर्मण्वती, वेत्रवती, दशार्णा, श्रीपार्वती, सिन्धु, कलिन्दकन्याः ।
श्रीटोंस, रेवा, जमनार, केनाः, सिंचन्ति नीरै र्विमलै र्दशार्णम् ॥८॥
प्रसादमाधुर्यगुणोपपेता, गीतप्रबन्धाः प्रचुराश्च शब्दाः ।
मिलन्ति यस्यां जननीनिभां तां, विन्ध्येलभाषामनिशं नमामि ॥९॥
तुल्सी, विहारी, [5]रइधू कवीशाः, श्रीमैथिली, केशवदासतुल्याः ।
अङ्के हि यस्या नितरां विभान्ति सरस्वती सा सफलैव यत्र ॥१०॥
यस्य प्रतापतपनात् किल शत्रुवर्गो, घूकोपमः समभवद् गिरिगह्वरस्थः ।
वीराग्रणीः सुभटसंस्तुत युद्धकारी, यत्राभवज्जनमतो नृपतुङ्ग धुङ्गः ॥११॥
यस्यैव पार्श्वे भटवर्यमान्या, आल्हादिवीराः सुभटा बलाढ्याः ।
आसन् स भूत्या जगति प्रसिद्धो, बभूव देवः [6]परमर्दि रत्र ॥१२॥
कीर्त्या महत्या सह कर्मनिष्ठः प्रतापसंतापित वैरिवर्गः ।
स्वयं गुणी सन् गुणिनाञ्च भक्तः श्रीछत्रसालोऽजनि यत्र भूपः ॥१३॥
सुवर्णदानस्य कथेह लोके, नैव श्रुता केन जनेन यस्य ?
स वीरवर्यो नृपवीरसिंहो, विन्ध्येलभाले तिलकेन तुल्यः ॥१४॥
मातेव रक्षां परितः प्रजानां विधाय याजौ निजघान शत्रून् ।
दुर्गावती सा पुरुषातिवीरा बभूव यत्र त्रिपुरी—प्रशास्त्री ॥१५॥
जनेषु यस्यास्ति विशालकीर्ति-धनेषु दाने च कुबेरतुल्यः ।
"आहारदानेश्वर" इत्युपाधि-विभूषितो देवपतिः सुभव्यः ॥१६॥

---

१ कवि कर्मणि प्रसिद्धाः, २ विन्ध्येलखण्डस्य प्राचीन नाम, ३ प्रहरिक तुल्यैः, ४ भाषायां वाढ़ इति । ५ रइधू देवगढ़-निवासी प्राकृत भाषायाः महाकविः । ६ भाषायां परमाल इति ।

अजायतात्रैव दशार्णदेशे, विपन्नलोकस्य शरण्यभूते।
सत्यं हि लोके सुकृताग्रभाजां, स्याज्जन्मना क्षेत्रमपि प्रशस्तम् (युग्मम्) ॥१७॥
आहारक्षेत्र प्रतिमासु यस्य, सुपाटवं हृष्यति वीक्ष्य चेतः।
स पप्पटो मूर्तिकलाविदग्धो, दशार्णरत्नेषु न पश्चिमः स्यात् ॥१८॥
स्वातन्त्र्यमूर्तिः कुलजावरेण्या, लक्ष्मी[३] भवानीव विचित्रवीर्या।
प्रदर्शयामास कृपाणहस्ता, स्वातंत्र्यमार्गं सुखदं यदीया ॥१९॥
पत्रे प्रतापे किल सिंहनादं, यस्यालभन्त प्रतिबुद्धलोकाः[४]।
क्रान्ते विधाता स हि राष्ट्रवीरो, विन्ध्येलवासी जयताद्गणेशः[५] ॥२०॥
अत्राकरोऽप्यस्ति महामणीना–मनेकपानां जनिकाननञ्च[६]।
व्यायामिको विश्वजयी स गामा प्राप्नोति जन्मात्र[७] दशार्णदेशे ॥२१॥
सुवर्ण, देवव्रज, चित्रकूट, चेदि, प्रपौरा, खजुराह, नैनाः।
तीर्थालया यत्र विनष्टपापाः सन्ति, प्रियोऽसौ सततं दशार्णः ॥२२॥
अयं मुमुक्षुर्विदुषां वरेण्यो, गणेशपूर्वो जयतात्प्रसादः।
ज्योतिष्मता त्यागबलेन येन, प्रभाविहीनं विभवं प्रणीतम् ॥२३॥
अतुल्यरूपा प्रकृति र्गरिष्ठा, यथार्थरूपा च विनोदमात्रा—
अत्रास्ति, शिक्षा सदृशी तथैव, चेत्तर्हि नूनं त्रिदिवो दशार्णः ॥२४॥
स्वदेश भक्त्येति विचिन्त्य पूर्वं, त्वयेह सर्वत्र [८]विबोधसंस्थाः।
संस्थापिता लोकहितङ्करेण, प्रत्यक्षरूपाणि फलानि यासाम् ॥२५॥
पाश्चात्यशिक्षा खलु शिक्ष्यचित्ते, भोगाधिकारद्वयमेव धत्ते।
पूर्वीयशिक्षा विपरीतमस्मात्, त्यागेन साकं किल कर्मयोगम् ॥२६॥
इत्थं विचिन्त्यैव दयार्द्रचेतसा, पूर्वीयशिक्षा भवतादृता भृशम्।
तस्याः प्रचारोऽपि समर्थवाचया[९], प्रान्ते समस्ते भवता विधीयते ॥२७॥
त्वज्जन्मदानेन जनाय किन्न, दत्तं दशार्णेन सुबुद्धिदानिन् ???।
अहं कृतज्ञो भृशमेवमीप्से, नित्यं भवेत्ते वयसः सुवृद्धिः ॥२८॥
श्रुतेन शाली, तपसांच मूर्ति–,विन्ध्येलखण्डस्य विभूतिरूपः।
विद्वत्प्रियश्चारुतर स्वभाव–स्त्वत्कीर्तिमित्थं गुणिनो गदन्ति ॥२९॥
यद्यस्ति किंचिन्नन् दैवयोगा–न्माधुर्य मिष्टं सुमते !!! फलेऽस्मिन्।
तत्रास्ति सत्यं कृतिनस्तवैव, पूर्णो गुणो हे गुरुरूपशाखिन् !!! ॥३०॥
सद्गुरोस्तस्य माहात्म्यं किमन्यद्वर्ण्यतेऽधिकम्।
तुच्छोऽपि शीकरो यस्माज्जायते सिन्धुसन्निभः ॥३१॥

महरौनी]– –(पं०) **गोविन्दराय, शास्त्री काव्यतीर्थ**

---

१ अकबर सैनिकान् २ देवपति खेंडपतिरिति नाम्ना प्रसिद्धः। ३ झांसी नगरस्य राज्ञी ४ शिक्षितजनाः ५ मुंगावलीनिवासी कानपुरप्रवासी गणेशशंकर विद्यार्थी। ६ पन्नाराज्ये हीरकखनि र्गजानामुत्पत्तिवनञ्च विद्यते। ७ अत्रत्य दतियानगरे ८ विद्यालयाः ९ हलन्तानां शब्दानामावन्तत्व स्वीकाराद् यथा वाचा निशा दिशा।

श्रीबन्ध
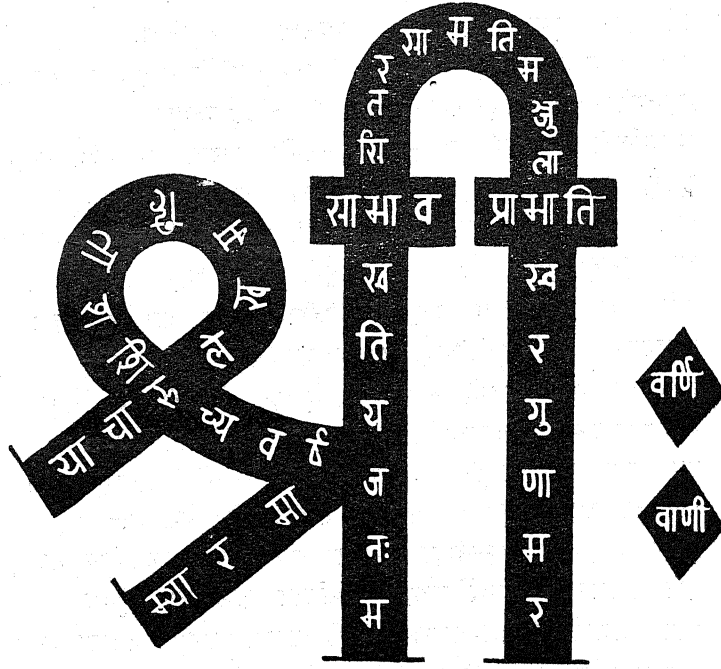
या चारुलेख महिता शशि रुच्य वर्ष्मा,

रम्या रमा जनमनः जयति स्वभासा।

सा भावभासित रसा मति मञ्जुलाभा,

प्रभाति भास्वरगुणामर वर्णि वाणी ॥

बड़ौत—

—(प्रा.) राजकुमार, सिद्धान्तशास्त्री, साहित्याचार्य

दर्शन-धर्म

आस्तिनास्तिवाद

श्री डाक्टर प्रो० ए० चक्रवर्ती

अस्तिनास्तिवादको जैन तत्त्वज्ञानकी आधारशिला कहा जा सकता है। तथापि यही वह जैन मान्यता है जिसे दुर्भाग्यवश अधिकांश अजैन विद्वानोंने ठीक नहीं समझा है। जैनेतर विद्वानोंको यह सरलतासे स्वीकार करना कठिन होता है कि एक ही सत् वस्तुमें दो परस्पर विरोधी अवस्थाएं एक साथ संभव हो सकती हैं। आपाततः यह असंभव है। प्रकृतिके किसी पदार्थके विषयमें "है, नहीं है" कैसे कहा जा सकता है। ऐसा कथन सहज ही भ्रामक प्रतीत होता है अतएव जैनेतर विचारक बहुधा कहा करते हैं कि 'अस्तिनास्तिवाद' जैन तत्त्वज्ञानकी बड़ी भारी दुर्बलता है। श्री शंकराचार्य और रामानुजाचार्य ऐसे दिग्गजोंने भी इसे ठीक ग्रहण करनेका प्रयत्न नहीं किया और 'पागलका प्रलाप' कहकर इसकी अवहेलना कर दी। अतएव जैन वाङ्मयके जिज्ञासुका कर्त्तव्य हो जाता है कि इस सिद्धान्तको स्वयं सावधानीसे स्पष्ट समझे और इसका ऐसा प्रतिपादन करे कि 'आबाल गोपाल' भी इसे समझ सकें।

परिभाषा—

किसी भी वास्तविक पदार्थके विषयमें 'अस्ति' है तथा 'नास्ति' नहीं के व्यवहारको ही अस्ति-नास्तिवाद कहते हैं। जैनाचार्योंने यह कभी, कहीं नहीं लिखा है कि एक ही पदार्थका दो परस्पर विरोधी दृष्टियोंसे निर्मर्याद रूपसे कथन किया जा सकता है। जैन अस्तिनास्तिवादसे केवल इतना ही तात्पर्य है कि एक दृष्टिसे किसी पदार्थको 'है' कहा जाता है और दूसरी दृष्टिकी अपेक्षा उसे ही 'नहीं' कहा जाता है। इस प्रकार जैनाचार्योंने तत्त्वज्ञानके गहन सिद्धान्तोंकी व्याख्यामें भी व्यावहारिकतासे काम लिया है। एक चौकीको लीजिये—यह साधारण लकड़ीसे बनी होकर भी ऐसी रंगी जा सकती है कि गुलाबकी लकड़ीसे बनी प्रतीत हो। आपाततः जो ग्राहक उसे खरीदना चाहेगा वह ठीक मूल्य समझनेके लिए यह जानना ही चाहेगा कि वास्तवमें वह किस लकड़ीसे बनी है। यदि वह बाह्य रूपपर विश्वास करेगा तो अधिक मूल्य देगा। अतएव वह इस विषयके किसी विशेषज्ञसे पूछेगा कि क्या वह चौकी गुलाबकी लकड़ी की है। विशेषज्ञका उत्तर निश्चयसे 'नहीं' ही होगा। बाह्यरूप गुलाबका होनेपर भी चौकी गुलाबकी तो है नहीं, रंग तो पुतायीके कारण है जो कि लकड़ीका वास्तविक रूप छिपानेके लिए किया गया है। फलतः विशेषज्ञ इस बातको पुष्ट करेगा कि चौकी गुलाबकी नहीं है। लकड़ीकी वास्तविकताको प्रकट करनेके

लिए यदि विशेषज्ञ चौकीके किसी कोनेको खरोंच देगा तो स्पष्ट हो जायगा कि चौकी किसी साधारण लकड़ीकी है। तब ग्राहकको विशेषज्ञसे अपने प्रश्नका ठीक उत्तर मिल जायगा कि चौकी आमकी साधारण लकड़ीसे बनी है! इस प्रकार एक ही चौकीके विषयमें दो कथन—एक निषेधात्मक (गुलाबकी लकड़ीकी नहीं है) और दूसरा विध्यात्मक (आमकी लकड़ीकी है)—सर्वथा न्याय्य और सत्य है। अर्थात् जब हम जानना चाहें 'क्या यह चौकी वास्तवमें गुलाबकी है?' तो 'नहीं' उत्तर सत्य है, तथा वास्तव में किस लकड़ीकी बनी है? इसका उत्तर चाहें तब 'आमकी है' सत्य है। अतः कह सकते हैं कि निषेधात्मक दृष्टिका उदय तब ही होता है जब वस्तुमें परकी अपेक्षासे कथन होता है। वास्तवमें लकड़ी तो आमकी है किन्तु जिसकी अपेक्षा नहीं कहा गया है वह गुलाबकी लकड़ी चौकीसे पर (अन्य) है। इसी स्थितिको जैनाचार्योंने निश्चित शब्दावलि द्वारा व्यक्त किया है।

स्व और पर—

दो विरोधी दृष्टियोंमें 'स्वद्रव्य' यानी अपनेपनकी अपेक्षा विधिदृष्टि न्याय्य है तथा 'पर द्रव्य' यानी दूसरेपनको लेकर निषेधदृष्टि भी सत्य है। इसके अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं—हमारे पास शुद्ध सोने का गहना है। प्रश्न होता हैं 'गहना किस वस्तुका है? ठीक उत्तर होगा 'सोने का'। यदि यही गहना अशुद्ध सोनेका होता तो उत्तर होता 'नहीं, यह सोने का नहीं है'। यहां पर भी स्वद्रव्य-शुद्ध सोने-की अपेक्षा विधिदृष्टि है, पर द्रव्य-नकली सोने-की अपेक्षा निषेधदृष्टि है। इसी प्रकार जब आप जानना चाहते हैं कि आपकी गाय गौशालामें है या नहीं। नौकरसे पूंछा; गाय कहां है? यदि गाय गौशालामें हुई तो, उसका उत्तर विधिरूप होगा। यदि ऐसा न हुआ तो निषेधरूप होगा वह उत्तर दे गा गौशालामें गाय नहीं है। यदि ग्वाला उसे चराने ले गया होगा तो गौशालाकी अपेक्षा निषेधात्मक दृष्टि ही सत्य होगी। किन्तु यदि जिज्ञासा हो कि क्या गाय हार (मैदान) में है? तो उत्तर विधिरूप ही होगा; क्योंकि गाय हारमें चर रही है और गोशालामें बंधी नहीं है। इस प्रकार किसी भी वस्तुके दृष्टान्त दिये जा सकते हैं। हम किसी पुस्तकको खोजते हैं, वह पुस्तकोंकी पेटीमें नहीं है तब हमें यही कहना होगा "पुस्तक पेटीमें नहीं है।" और यदि पेटीमें हो तो "हां, है" यही उत्तर होगा।

क्षेत्र—

ऐतिहासिक घटनाओंकी सत्य प्रामाणिकता अपने स्थानकी अपेक्षा होती है। जैसे शतक्रतु (Socrates) एथेनियन दार्शनिक था। यह विध्यात्मिक दृष्टि सत्य है क्योंकि इतिहास प्रसिद्ध दार्शनिक शतक्रतु एथेनमें रहता था। किन्तु यदि कोई अन्वेषक कहे 'शतक्रतु रोमन दार्शनिक था' तो यह वाक्य असत्य होगा क्योंकि शतक्रतुका रोमसे कभी कोई सम्बन्ध नहीं रहा है। इसके लिए ही निश्चित शास्त्रीय शब्द 'क्षेत्र' है। किसी सत् वस्तुके विषयमें कोई विशेष दृष्टि 'स्वक्षेत्र' (अपने स्थान) की अपेक्षा सत्य है और

परक्षेत्र (दूसरे स्थान या आधार) की अपेक्षा निषेध दृष्टि कार्यकारी है। जैसे उपरिलिखित दृष्टान्तमें एथेन शतक्रतुका स्वक्षेत्र है और रोम परक्षेत्र है।

काल—

इसी प्रकार एक ही सत् वस्तुको लेकर कालकी अपेक्षा दो परस्पर विरोधी दृष्टियां हो सकती हैं। कोई भी ऐतिहासिक घटना अपने समयकी अपेक्षा सत्य होगी। यदि कोई कहे खारवेल १९ वीं शतीमें कलिंगका राजा था तो यह कथन इतिहास विरुद्ध होगा, कारण, खारवेल १९ वीं शतीमें नहीं हुआ है। इसी प्रकार यदि कोई कहे शतक्रतु दार्शनिक ४ थी शतीमें ग्रीसमें हुआ था तो यह असत्य कथन होगा। वह ईसाकी ४ थी शतीमें नहीं हुआ यह निषेधात्मक कथन उतना ही प्रामाणिक होगा जितना कि वह ईसा पूर्व ४ थी शतीमें हुआ था यह विध्यात्मक कथन सत्य है। इस प्रकारके दृष्टि भेदके कारणको शास्त्रमें निश्चित शब्द 'काल' द्वारा स्पष्ट किया है। कोई भी ऐतिहासिक तथ्य 'स्वकाल' की अपेक्षा विध्यात्मक दृष्टिका विषय होता है और 'परकाल' की अपेक्षा निषेध पक्षमें पड़ जाता है।

भाव—

यही अवस्था किसी भी सत् वस्तुके आकार (भाव) की है; अपने आकार विशेषके कारण उसे है या नहीं कहा जा सकता हैं। जलके कथनके समय आप उसे द्रव या घन रूपसे ही कह सकते हैं। हिम जलका घन रूप है। यदि कोई हिमके रूपमें जलको कहना चाहता है तो उसे यही कहना होगा कि 'स्वभाव' की अपेक्षा जल घन है। किन्तु यदि उसे तपाया जाय तो उसका आकार (भाव) बदलकर तरल हो जायगा। तब कहना पड़ेगा कि हिम न द्रव है और न भाप है। स्वभावकी अपेक्षा पदार्थका कथन विधि रूपसे होता है और परभावकी अपेक्षा उसका ही वर्णन निषेधमय होता है। कहा ही जाता है कि हिम न द्रव है, न वाष्प है और न कुहरा है क्योंकि वक्ताका उद्देश्य जलके घनरूपसे ही है।

व्याख्या—

ये चारों दृष्टियां अस्तिनास्तिवादके मूल आधार हैं। स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल तथा स्वभावकी अपेक्षा किसी भी पदार्थका विधि रूपसे कथन किया जाता है। तथा वही वस्तु परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा पूर्ण प्रामाणिकता पूर्वक निषेध रूपसे कही जाती है। जब स्थिति को इस प्रकार समझा जाता है तो स्पष्ट हो जाता है कि; क्यों एक ही पदार्थके विषयमें विधिदृष्टि सत्य होती है तथा उसी प्रकार निषेध दृष्टि भी कार्यकारी होती है। इसमें न भ्रान्तिकी सम्भावना है और न तत्त्वज्ञान सम्बन्धी कोई रहस्यमय गुत्थी ही सुलझानेका प्रश्न उठता है। हम सहज ही कह सकते हैं कि यह ज्ञानप्रणाली इतनी सर्व-आचरित होकर भी न जाने क्यों बड़े बड़े विचारकोंको भली भांति समझमें नहीं आयी और इसमें उन्हें अनिश्चय तथा भ्रान्ति दिखे। यह सत्य है कि यह सिद्धान्त वास्तविक पदार्थोंके ज्ञानमें ही साधक है

यथा, गायके सींग होते हैं। किन्तु जब वह बछिया होती है तब तो सींग नहीं होते; अतः बछियाके सीगोंका कथन नहीं होना चाहिये। अतएव एक ही पशुके विषयमें कहा जाता है कि एक समय इसके सींग नहीं थे और बादमें इसके सींग हो गये। इसकी जीवनगाथाके क्रमसे सीगोंका निषेध तथा विधि की गयी है। बछिया अवस्थामें सींग नहीं थे, जब बढ़कर गाय हो गयी तो सींग हैं। अतः आप कह सकते हैं—'सींग हैं' 'सींग नहीं हैं' अथवा एक ही गायके सीगों की सत्ताकी विधि तथा निषेध उसकी वृद्धिकी अपेक्षा करते हैं। अतः हम घोड़े तथा शृगालके सीगोंकी भी विधि तथा निषेध करेंगे। किंतुऐसा नहीं किया जा सकता, यद्यपि ऐसी आपत्ति जैन विचारकोंके सामने उठायी जाती हैः—यतः आप एकही पशुके सीगोंकी विधि तथा निषेध करते हैं तो क्या एक ही घोड़ा या शृगालके सींगोंकी भी विधि-निषेध कर सकेंगे? किन्तु प्रतिपक्षीकी यह शंका निराधार है। घोड़े या शृगालके सीगोंकी सत्ता ही असिद्ध है अतः उनका विचार सत् वस्तुके समान नहीं किया जा सकता। अस्तिनास्तिवाद संसारके पदार्थोंकी वास्तविक स्थितिकी अपेक्षा ही प्रयुक्त होता है, कल्पना जगत् इसके परे है। असत् पदार्थोंमें इसका प्रयोग नहीं हो सकता। सैण्टौर[1] अथवा यूनीकोर्न[2] ऐसे पौराणिक जन्तुओंका विचार भी इसके द्वारा नहीं किया जा सकता। अतएव उक्त प्रकारकी आपत्ति अप्रसंगिक तथा व्यर्थ है।

सापेक्षता—

एक ही सत् वस्तुका कथन परस्पर विरोधी नित्य-अनित्यवाद, भेद-अभेदवादके सिद्धान्तोंके अनुसार करना अस्तिनास्तिवादके ही समान है। आपाततः परस्पर विरोधी होनेपर भी नित्या-नित्यादि दृष्टियोंका प्रयोग एकही वस्तुमें पक्षभेद को लेकर होता है। स्वद्रव्यकी अपेक्षा कोई भी वस्तु नित्य कही जा सकती है, उसी वस्तुकी भावी पर्यायपर दृष्टि डालें तो उसे ही अनित्य कह सकते हैं। सोनेका एक गहना (कटक) गलाकर दूसरा गहना (केयूर) बन जाता है अर्थात् इस स्थितिमें निश्चित ही कटकको अनित्य कहना होगा क्यों कि सुनार स्वामीकी इच्छानुसार कभी भी इसे गला सकता है और इसकी सत्ताको मिटासकता है। किन्तु सुनारकी कुशलता और स्वामी की इच्छा सोनेका सर्वथा लोप नहीं कर सकते। सोनेका विनाश नहीं हो सकता वह स्थायी है, अतः यहां सोने को नित्य कहना ही पड़ेगा। अतः व्यापक द्रव्य की अपेक्षा किसी भी वस्तुको नित्य कहते हैं तथा पर्याय विशेष की अपेक्षासे अनित्य ही कहना पड़ता है। अतएव उक्त प्रकारसे एक ही पदार्थमें नित्य-अनित्य दृष्टियां प्रामाणिक तथा कार्यकारी होती हैं।

द्रव्य-पर्याय—

यह दृष्टि और भी विशद हो सकती है यदि हम वृक्ष या पशु ऐसे किसी अंग-अंगि पदार्थ को देखें। वृक्षका जीवन वीजसे प्रारम्भ होता है और वह ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है त्यों त्यों उसमें परिवर्तन होते जाते

---

१. पौराणिक जन्तु जो कमर के नीचे घोड़ा और ऊपर आदमी होता है।

२. पौराणिक अश्व दैत्य जिसके शिरपर एक सींग होता है।

हैं। बीजसे अंकुर, अंकुरसे छोटा पौधा, पौधेसे बढ़कर वृक्ष होता है। प्रत्येक अवस्थामें वृद्धि और विकास है तथा इसके साथ-साथ प्रत्येक अंगके कार्यमें परिवर्तन भी है। यहां एकही अंगि वृक्षमें सतत परिवर्तन है किन्तु अंगि अपरिवर्तित और अवस्थित ही रहता है। कोई भी जामुनका वृक्ष अपनी सब पर्यायोंको पूर्ण करता हुआ परिपूर्ण जामुन वृक्ष हो सकता है किन्तु अपनी वृद्धिके समयमें ऐसा परिवर्तन नहीं ही कर सकता कि अकस्मात् जामुनसे आमका वृक्ष हो जाय। देखा जाता है कि आमके बीजसे आम और जामुनके बीजसे जामुनका ही वृक्ष होता है। फलतः कह सकते हैं कि प्रत्येक वस्तु अपनी वृद्धिके क्रमसे पर्याएं बदलकर भी अपने विशेष व्यापक रूपको स्थायी रखती है, जो कि अस्थायी नहीं होती है। यदि जामुनकी वृद्धि रुक जाय, नये अंकुर न निकलें, पुरानी पत्तियां न गिरें तथापि उसके जीवनमें उस अवस्था को स्थायी रखनेका प्रयत्न होता रहेगा। किन्तु स्थायित्व प्राप्तिका यह प्रयत्न भी मृत्युमें परिणत हो जाता है। क्योंकि यदि कोई भी सजीव अंगी जब किसी विशेष अवस्थाको सुदृढ़ करना चाहता है तो यह प्रयत्न मृत्युका आमन्त्रण ही होता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सजीव अंगीमें प्रतिपल परिवर्तन (पर्याय) होते हैं, प्रत्येक पर्याय पूर्व तथा आगामी पर्याय से भिन्न होती है तथापि अंगीकी एकता स्थायी रहती है। वृद्धिकी प्रक्रिया द्वारा मूल प्रकृति नहीं बदली जा सकती है। फलतः एक ही वृक्षके जीवनमें अभेद (एकता) और भेद (विषमता) देखते हैं। वास्तव में यही वस्तु स्वभाव है जिसे जैनाचार्यों ने उचित रूपसे समझा था।

पर्यालोचन—

प्रत्येक सत् वस्तुमें व्यापक तथा स्थायी रुपसे भेद या परिवर्तन होता है तथा सब पर्यायोंमें एक अभेद सूत्र भी रहता है। पदार्थोंके स्वभावका ही यह वैचित्र्य है कि हम उन्हें अस्तिनास्ति, भेद-अभेद, नित्य-अनित्य, आदि ऐसी परस्पर विरोधी दृष्टियोंसे देखते हैं। यह मौलिक तत्त्व दृष्टि ही जैन-चिन्ताकी आधार शिला है तथा यही जैन दर्शनको भारतीय तथा योरुपीय दर्शनोंसे विशिष्ट बनाती है। किसी भारतीय दर्शनने इसे अंगीकार नहीं किया है। प्रत्येक भारतीय दर्शन वस्तुके एक पक्षको लिये है तथा अन्य पक्षों की उपेक्षा करके उसीका समर्थन करता है। वेदान्त ब्रह्मके नित्य रूपका ही प्रतिपादन करता है, उसे परिवर्तनहीन नित्य कहता है। इसका प्रतिद्वन्दी बौद्ध क्षणिकवाद है जो सब सत् पदार्थोंको अनित्य ही कहता है तथा पदार्थोंमें व्याप्त एकताकी उपेक्षा करता है। बौद्धके लिए प्रत्येक पदार्थ क्षणिक या अनित्य है,उसके अनुसार वस्तु एक क्षणमें उत्पन्न होती है तथा दूसरेमें नष्ट। उनकी दृष्टिसे बाह्य संसार या अन्तरंग चेतनामें ऐसी कोई अवस्था नहीं है जो स्थायी या नित्य हो। एक पक्षको प्रधान करके अन्य पक्षोंके लोपकी इस विचारधाराको जैनाचार्यो ने 'एकान्तवाद' माना हैं तथा अपनी प्रक्रियाको अनेकान्त-वाद (सब पक्षोंसे विचार) कहा है वस्तुतः अस्ति-नास्तिवाद सत् पदार्थोंका स्वभाव हैं क्योंकि प्रत्येक पदार्थ अनेक गुण तथा पर्यायोंका समूह है अतः उसे जाननेके लिए उसके विविध पक्षों (अनेक-अन्तों) को

जानना अनिवार्य है। इस वास्तविक सिद्धान्तकी उपेक्षा करके यदि सत् वस्तुका विवेचन किया जायगा तो वही हाल होगा जो उस हाथीका हुआ था जिसे अनेक अन्धोंने जाना था। तथा हाथीको खम्भा, सूपा, बिटा, आदि कहकर सर्वथा विकृत कर दिया था।

निष्कर्ष—

यदि पदार्थके जटिल स्वभावको ठीक तरहसे जानना है तो उसे अनेकान्त दृष्टिसे ही देखना चाहिये। इस प्रकार कहा जा सकता है कि तत्त्वज्ञानके लिए जैनदृष्टि अन्य दर्शनोंकी अपेक्षा अधिक युक्तिसंगत तथा व्यापक है। अन्य दर्शनोंने एक निश्चित सांचा बना दिया है जिसमें डालकर वे सत् पदार्थोंके ज्ञानको निचोड़ लेना चाहते हैं। जिसकी तुलना प्रोक्रसटियन[1] पलंगसे की जा सकती है जिस पर डालकर वे सत्पदार्थरूपी पुरुषके अन्य पक्षरूपी अंगोंको काटनेमें नहीं सकुचाते हैं; क्योंकि ऐसा किये विना वह एकान्तके सांचेमें नहीं आता है। इस प्रकार पदार्थके अंगच्छेदको न विज्ञान कहा जा सकता है न दर्शन; यह तो अपने अन्धविश्वासका दुराग्रह ही कहा जा सकता है जिसका उद्गम पदार्थोंकी एकरूपतासे होता है। यह दृष्टि तत्त्वज्ञानके विपरीत है यह स्वयं सिद्ध है। मनुष्यको वस्तु स्थिति जानना है, वस्तुस्थितिको इच्छानुकूल नहीं बनाना है। इस दृष्टिसे विचार करने पर विश्वके दर्शनोंमें जर्मन दार्शनिक हीगलका द्वन्द्व सिद्धान्त ही जैन दृष्टिके निकट पहुंचता है। हीगलकी तत्त्वज्ञान दृष्टि जैनदृष्टिके समान सी है। उसका पक्ष, प्रतिपक्ष तथा समन्वयका सिद्धान्त अस्तिनास्तिवादसे मिलता जुलता है क्योंकि वह भी विरोधियोंमें एकता या भेदका परिहार करता है। किन्तु अन्य बातोंमें हीगलका आदर्शवाद जैन तत्त्वज्ञानसे सर्वथा भिन्न है अतः इस एक सिद्धान्तकी समताके अतिरिक्त दूसरी किसी भी समानताका हम समर्थन नहीं कर सकते। इस दार्शनिक प्रक्रियाको ही हम दार्शनिक ज्ञानका प्रकार कह सकते हैं जो कि वस्तु स्वभावके प्रकाशके लिए उपयुक्त तथा पर्याप्त है क्योंकि सर्वाङ्गसुन्दर वस्तु स्वभाव ही तो ज्ञानका साध्य या लक्ष्य है। इसीलिए जैनाचार्योंने प्रत्येक तत्त्वको जाननेमें व्यापक सिद्धांतका सफल प्रयोग किया है और तत्त्वज्ञान प्राप्तका किया है।

———

१. क्रश्चियन पुराणों में 'प्रोक्रष्टियन' शय्या का वर्णन है जिसपर लेटते ही लम्बा आदमी कट कर तथा छोटा आदमी खिंच कर पलंगके बराबर हो जाता था इसीके आधार पर बलात् घटाने बढ़ाने के अर्थमें इस शब्दका प्रयोग होने लगा है।

शब्दनय

श्री पं० कैलाशचन्द्र, सिद्धान्तशास्त्री

प्रास्ताविक—

इतर दर्शनोंसे जैनदर्शनोंमें जो अनेक विशिष्ट बातें है, उन्हींमें से नय भी एक है। यह नय प्रमाणका ही भेद है। स्वार्थ और परार्थके भेदसे प्रमाण दो प्रकारका माना गया है। मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान स्वार्थ प्रमाण हैं क्यों कि इनके द्वारा ज्ञाता स्वयं ही जान सकता है। किन्तु श्रुतज्ञान स्वार्थ भी होता है और परार्थ भी होता है। जो ज्ञानात्मक श्रुत है वह स्वार्थ प्रमाण है और जो वचनात्मक श्रुत है वह परार्थ प्रमाण है। ज्ञानात्मक श्रुतसे ज्ञाता स्वयं जानता है और वचनात्मक श्रुतसे दूसरोंको ज्ञान कराता है। उसी श्रुत प्रमाणके भेद नय हैं।

नयका लक्षण—

द्रव्य पर्यायात्मक वस्तुके जानने वाले ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। और केवल द्रव्य दृष्टि या केवल पर्यायदृष्टिसे वस्तुके जानने वाले ज्ञानको नय कहते हैं। इसीसे नयके दो मूल भेद हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिक नयके तीन भेद हैं—नैगम, संग्रह और व्यवहार। तथा पयार्थिक नयके चार भेद हैं—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। इन सात नयोंमें से शुरूके तीन नयोंको अर्थनय और शेष चार नयोंको शब्दनय भो कहते हैं क्योंकि वे क्रमशः अर्थ और शब्दकी प्रधानतासे वस्तुको ग्रहण करते हैं।

एक बार मेरे एक विद्वान् मित्रने नयोंके उक्त सात भेदोंमेंसे पांचवें भेद शब्दनयके लक्षण की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया। उनका पत्र पढ़कर मुझे इस दिशामें खोज करने की उत्सुकता हुई। अनेक ग्रन्थोंके देखनेसे मुझे मालूम हुआ कि शब्दनयके लक्षणको लेकर कुछ टीकाकारोंमें मतभेद है। विद्वानोंसे पूछा गया तो वे भी इस विषयमें एकमत न थे। अतः पूर्वाचार्योंके वचनोंका आलोडन करके कुछ निष्कर्ष निकालना ही उचित प्रतीत हुआ।

प्रश्न और समाधान—

मित्रका प्रश्न था कि शब्दनय व्याकरण सिद्ध प्रयोगोंका अनुसरण करता है या नहीं? अनेक

दिगम्बर तथा श्वेताम्बर ग्रन्थोंके आलोडनके बाद मैं इस निर्णय पर पहुंचा हूं कि, शब्दनय व्याकरण सिद्ध प्रयोगोंका अनुसरण तो करता है किन्तु एकान्तवादी वैयाकरणोंका अनुसरण नहीं करता।

शब्दार्थ मीमांसा—

इस निर्णयकी मीमांसा करनेके लिए शब्दशास्त्रके सम्बन्धमें कुछ कहना आवश्यक है। संसारमें दो वस्तुएँ मुख्य हैं—अर्थ और शब्द। इन दोनोंको क्रमशः वाच्य और वाचक कहते हैं। हम जितने अर्थोंको देखते हैं उनके वाचक शब्दोंको भी सुनते ही हैं। अर्थ तो हो किन्तु उसका वाचक शब्द न हो, यह आज तक न तो देखा गया और न सुना गया। आजकल जितने आविष्कार होते हैं उनका नाम पहलेसे ही निर्धारित कर लिया जाता है। सारांश यह; कि संसारमें कोई चीज विना नामकी नहीं है, इसीसे दार्शनिक क्षेत्रमें प्रत्येक दर्शनके मूलतत्त्व अर्थ न कहे जाकर पदार्थ कहे जाते हैं। मध्ययुगके दार्शनिक टीकाकारोंमें यह एक नियम सा हो गया था कि ग्रन्थके प्रारम्भमें शब्दार्थ सम्बन्धकी मीमांसा करना आवश्यक है। शब्द और अर्थके इस पारस्परिक सहभावने 'अद्वैत' का रूप धारण कर लिया जो शब्दाद्वैतके नामसे ख्यात हुआ। पाणिनि व्याकरणके रचयिता आचार्य पाणिनिके नाम पर इसे पाणिनि-दर्शन भी कहा जाता है। जैसे अद्वैतवादी वेदान्ती दृश्यमान संसारके भेदको 'मायावाद' कहकर उड़ा देते हैं उसी प्रकार शब्दाद्वैतवादी वैयाकरणोंका मत है कि घट, पट, आदि शब्द एक अद्वैत तत्त्वका ही प्रतिपादन करते हैं। दृश्यमान घट, पट, आदि अर्थ तो उपाधियां हैं; असत्य हैं। जैसा कि कहा है—

'सत्यं वस्तु तदाकारै रसत्यैरवधार्यते।
असत्योपाधिभिः शब्दैः सत्यमेवाभिधीयते॥'

(सर्वदर्शन संग्रह—पाणिनि दर्शन)

पाणिनीका मत—

यद्यपि सब शब्द एक अद्वैततत्त्वका ही प्रतिपादन करते हैं फिर भी व्यवहारके लिये शब्दों का लौकिक वाच्य मानना ही पड़ता है, अतः पाणिनि[1] व्यक्ति और जातिको पदका अर्थ-पदार्थ मानते हैं।

पाणिनिके मतके अनुसार एक शब्द एक ही व्यक्तिका कथन करता है, अतः यदि हमें बहुतसे व्यक्तियोंका बोध कराना हो तो बहुतसे शब्दोंका प्रयोग करके "सरूपाणामेकशेष एक विभक्तौ" (१-२-६४) सूत्रके अनुसार एक शेष किया जाता है। जैसे यदि बहुतसे वृक्षोंका निर्देश करना हो तो वृक्ष, वृक्ष, वृक्ष में से एक ही शेष रह जाता है और उसमें बहुवचनका बोधक प्रत्यय लगाकर 'वृक्षाः' रूप बनता

---

१ किं पुनराकृतिः पदार्थः अहोस्विद् द्रव्यम् ? उभयमित्याह। कथं ज्ञायते ? उभयथा हि आचार्येण सूत्राणि पठितानि आकृतिं पदार्थं मत्वा 'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनम-न्यतरस्याम्' इत्युच्यते द्रव्यं पदार्थं मत्वा 'सरूपाणाम्' इति एक शेष आरभ्यते। पातञ्जल महाभाष्य पृ० ५२—५३।

है किन्तु यदि जातिका निर्देश करना हो तो एक वचनमें भी काम चल सकता है। यह एकान्तवादी वैयाकरणोंका मत है। अब अनेकान्तवादी वैयाकरणोंके मतका भी दिग्दर्शन कीजिये।

जैन वैयाकरणोंका मत—

जैनेन्द्र व्याकरणके रचयिता आचार्य पूज्यपाद अपने व्याकरणका प्रारम्भ 'सिद्धिरनेकान्तात्' सूत्रसे करते हैं। हैम-शब्दानुशासनके रचयिता श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्रने भी 'सिद्धिः स्याद्वादात्' सूत्रको प्रथम स्थान देकर पूज्यपादका अनुसरण किया है जो सर्वथा स्तुत्य है। इन आचार्योंका मत है[1] कि अनेकान्तके विना शब्दकी सिद्धि नहीं हो सकती, एक ही शब्दका कभी विशेषण होना, कभी विशेष्य होना, कभी पुलिंगमें व्यपदेश होना, कभी स्त्रीलिङ्गमें कहा जाना, कभी करणमें प्रयोग करना, कभी कर्त्तामें प्रयोग होना, आदि परिवर्तन एकान्तवादमें नहीं हो सकते। इसीलिए शब्दनयका वर्णन करते हुए अकलंक देवने लिखा है—'कि एकान्तवादमें षट्कारकी नहीं बन सकती[2]। जैसे प्रमाण अनन्त धर्मात्मक वस्तुका बोधक है अतः उसका विषय सामान्य विशेषात्मक वस्तु कही जाती है, इसी तरह शब्द भी अनन्त धर्मात्मक वस्तुका वाचक है अतः उसका वाच्य न केवल व्यक्ति है और न केवल जाति किन्तु जाति व्यक्त्यात्मक या सामान्य विशेषात्मक वस्तु शब्दका वाच्य है[3]। यह अनेकान्तवादकी दृष्टि है। अतः पाणिनिने व्यक्ति और जातिको स्वतंत्र रूपसे पदका अर्थ मानकर जो 'एक शेष' का नियम प्रचलित किया, पूज्यपाद उसकी कोई आवश्यकता नहीं समझते। वे लिखते हैं—शब्द स्वभावसे ही एक दो या बहुत व्यक्तियोंका कथन करता है अतः एक शेषकी कोई आवश्यकता नहीं है[4]।

पाणिनि और पूज्यपादके इस मतभेदसे यह न समझ लेना चाहिये कि दोनोंके सिद्ध प्रयोगोंमें भी कुछ अन्तर पड़ता है। शब्द सिद्धिमें मतभेद होते हुए भी दोनोंके सिद्ध प्रयोगोंमें कोई अन्तर नहीं है। शब्दका जैसा रूप एकान्तवादी वैयाकरण सिद्ध करते हैं वैसा ही अनेकान्तवादी सिद्ध करते हैं केवल दृष्टिका अन्तर है। इस दृष्टि वैषम्यको दूर करनेके लिए ही शब्दनयकी सृष्टि हुई है।

इतर वैयाकरण वाच्य-वाचक सम्बन्धको मानकर भी दोनोंको स्वतंत्र मानते हैं। वाचकके

१—'एकस्यैव ह्रस्व दीर्घादि विधयोऽनेककारक सन्निपातः सामानाधिकरण्यं विशेषण विशेष्यभावादयश्च स्याद्वाद-मन्तरेण नोपपद्यते"। सिद्ध हैम०।

२—'तन्नैकान्ते षटकारकी व्यवतिष्ठेत'। न्याय कुमुद पृ० २११।

३—'जातिव्यक्त्यात्मकं वस्तु ततोऽस्तु ज्ञानगोचरः। प्रसिद्धं बहिरन्तश्च शब्दव्यवहृतीक्षणात् ॥ ५ ॥' तत्त्वार्थश्लोक वा० पृ० ११०।

४—स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैव शेषानारम्भः,। १।१।९९। जैनेन्द्र सूत्र।

रूपमें परिवर्तन हो जाने पर भी वाच्यके रूपमें कोई परिवर्तन नहीं मानते। किन्तु जैन शब्दिकोंका मत[1] है—"वाचकमें लिंग, संख्या, आदिका जो परिवर्तन होता है वह स्वतंत्र नहीं है किन्तु अनन्त धर्मात्मक बाह्य वस्तुके ही आधीन है। अर्थात् जिन धर्मोंसे विशिष्ट वाचकका प्रयोग किया जाता है वे सब धर्म वाच्यमें रहते हैं। जैसे यदि गंगाके एक ही किनारेको संस्कृतके 'तटः' 'तटी' और 'तटम्' इन तीन शब्दोंसे कहा जाय—इन तीनों शब्दोंका मूल एक तट शब्द ही है इनमें जो परिवर्तन हम देखते हैं वह लिंगभेदसे हो गया है—यतः ये तीनों शब्द क्रमशः पुलिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंगमें निर्देश किये गये हैं अतः इनके वाच्यमें तीनों धर्म वर्तमान हैं। क्योंकि वस्तु अनन्त धर्मात्मक है अतः उसमें तीनों धर्म रह सकते हैं। (यदि कोई व्यक्ति स्त्रीलिंग, पुलिंग और नपुंसकलिंग इन तीनों धर्मोंको परस्परमें विरुद्ध मानकर एकही वस्तुमें तीनोंका सद्भाव माननेसे हिचकता है तो उसे अनेकान्तकी प्रक्रियाका अध्ययन करना चाहिये) इसी तरह एक दो या बहुत व्यक्तियोंके वाचक दारा, आदि शब्दोंमें नित्य बहुवचनका प्रयोग होना और बहुत सी वस्तुओंके वाचक वन, सेना, आदि शब्दोंके साथ एक वचनका प्रयोग करना असंगत नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वस्तुके अनन्त धर्मोंमें से किसी एक धर्मकी अपेक्षा से शब्द व्यहार किया जा सकता है।"

जैन और जैनेतर वैयाकरणोंके इस संक्षित मतभेद प्रदर्शनसे उक्त निर्णयकी रूपरेखाका आभास चित्रित हो जाता है। अतः अब आचार्योंके लक्षणों पर विचार करना उचित होगा।

शब्दनयके लक्षणों पर विचार—

ऐतिहासिक परम्पराके अनुसार शब्दनयके स्वरूपका प्रथम उल्लेख सर्वार्थसिद्धि टीकामें पाया जाता है। उसके बाद दूसरा उल्लेख अकलंकदेवके तत्त्वार्थ राजवार्तिकमें है जो प्रायः सर्वार्थसिद्धिके उल्लेखसे अक्षरशः मिलता है। इसे हम 'पूज्यपादकी परम्परा' के नामसे पुकार सकते हैं। पूज्यपादने शब्दनयका जो लक्षण लिखा था वह स्पष्ट होते हुए भी अस्पष्ट था—खींचातानी करके उसके शब्दोंका विपरीत अर्थ भी किया जा सकता था, जैसा कि आगे चलकर हुआ भी और जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण मेरे सामने उपस्थित है। अतः इस लक्षणको दार्शनिक क्षेत्रमें कोई स्थान न मिल सका। प्रातः स्मरणीय अकलंकदेवने इस कमीका अनुभव किया। यद्यपि उन्होंने अपने राजवर्तिकमें सर्वार्थसिद्धिका ही अनुसरण किया, किन्तु अपने स्वतंत्र प्रकरणोंमें उसकी शब्दयोजनाको बिल्कुल बदल दिया। आर्ष पद्धतिके अनुकूल

१—'लिङ्ग संख्यादियोगोऽपि अनन्तधर्मात्मक बाह्यवस्त्वाश्रित एव। न चैकस्य 'तटः तटी तटम्' इति स्त्रीपुंनपुंसकाख्यं स्वभावत्रयं विरुद्ध, विरुद्धधर्माध्यासस्य भेदप्रतिपादकत्वेन निषिद्धत्वात् अनन्तधर्माध्यासितस्य च वस्तुनः प्रतिपादितत्वात्। अतएव दारादिष्वर्थेषु बहुत्वसंख्या वनसेनादिषु च एकत्वसंख्याऽविरुद्धा यथाविवक्षमनन्तधर्माध्यासिते वस्तुनि कस्यचिद्धर्मस्य केनचिच्छब्देन प्रतिपादनाविरोधात्'। सन्मति० टीका पृ० २६५।

इस परिवर्तनका विद्वत्-समाजने आदर किया—अकलंकदेवके बादमें होने वाले प्रायः समस्त दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दार्शनिकोंने अपने ग्रन्थोंमें उसे स्थान दिया। अतः अकलंक देवकी दृष्टिसे ही हम इस विषय पर विचार करना उपयुक्त समझते हैं। अकलंकदेव अपने 'लघीयस्त्रय' प्रकरणमें लिखते हैं—

कालकारक लिंगानां भेदाच्छब्दोऽर्थ भेदकृत्।
अभिरूढस्तु पर्यायै रित्थं भूतः क्रियाश्रयः॥

स्वोप० विवृति—कालभेदात् तावद् 'अभूत्' 'भवति' 'भविष्यति' इति। कारकभेदात्, 'करोति' 'क्रियते' इत्यादि। लिंगभेदात् 'देवदत्तः' 'देवदत्ता' इति। पर्यायभेदात् इन्द्रः, शक्रः, पुरन्दर इति। तथा एतौ कथितौ। क्रियाश्रय एवंभूतः'।

अर्थ—"काल, कारक और लिंगके भेदसे शब्दनय वस्तुको भेदरूप स्वीकार करता है। 'हुआ' होता है, होगा' यह कालभेद है। 'करता है, किया जाता है' यह कारक भेद है। 'देवदत्त, देवदत्ता' यह लिंगभेद है, समभिरूढ़नय शब्दके भेदसे अर्थको भेदरूप मानता है और एवंभूतनय क्रियाके आश्रित है।

जैन दृष्टिसे वस्तु अनन्त धर्मात्मक—अनन्तधर्मोंका अखण्ड पिण्ड-है। स्याद्वाद् श्रुतके द्वारा उन धर्मोंका कथन किया जाता है। अतः जैसे ज्ञानका विषय होनेसे वस्तु ज्ञेय है उसी तरह शब्दका वाच्य होनेसे अभिधेय भी है। हम जिन जिन शब्दोंसे वस्तुको पुकारते हैं वस्तुमें उन उन शब्दोंके द्वारा कहे जानेकी शक्तियां विद्यमान हैं। यदि ऐसा न होता तो वे वस्तुएं उन शब्दोंके द्वारा न कहीं जातीं और न उन शब्दोंको सुनकर विवक्षित वस्तुओंका बोध ही होता। जैसे 'पानी' भिन्न भिन्न भाषाओंमें भिन्न भिन्न नामोंसे पुकारा जाता है या एक ही भाषाके अनेक शब्दोंसे कहा जाता है। अतः उसमें उन शब्दोंके द्वारा कहे जानेकी शक्तियां विद्यमान हैं। यह समभिरूढ़ नयकी दृष्टि है। इस नयका मन्तव्य है कि 'पानी शब्द पानी के धर्मकी अपेक्षासे व्यवहृत होता है जल शब्द उस ही धर्मकी अपेक्षासे व्यवहृत नहीं होता है। संस्कृतमें पानीको 'अमृत' भी कहते हैं और 'विष' भी। प्यासेको जिलाता है अतः अमृत है और किसी, किसी रोगमें विषका काम कर जाता है अतः विष है। इसलिए अमृत और विष यह दो शब्द पानीके एक ही धर्मको लेकर व्यवहृत नहीं होते।

भिन्न भिन्न शब्दोंके विषयमें जो बात ऊपर कही गयी है वही बात एक शब्दके परिवर्तित रूपोंके विषयमें भी कही जा सकती है। कालभेदसे एक ही वस्तु तीन नामोंसे पुकारी जाती है। जब तक कोई वस्तु नहीं उत्पन्न हुई तब तक उसे 'होगी' कहते हैं। उत्पन्न होने पर 'होती है' कहते हैं। कुछ समय बीतने पर 'हुई' कही जाती है। यह तीनों शब्द 'होना' धातुके रूप हैं और वस्तुके तीन धर्मोंकी ओर संकेत करते हैं। इसी तरह कारक और लिंगके सम्बन्धमें भी समझना चाहिये। भिन्न भिन्न कारकोंकी विवक्षासे एक ही वृक्ष 'वृक्षको' 'वृक्षसे' 'वृक्षके लिए' 'वृक्षमें' आदि अनेक रूपोंसे कहा जाता है। अतः ये शब्द वस्तुके

भिन्न धर्मोंकी ओर संकेत करते हैं। एक बच्चा पुरुष होनेके कारण देवदत्त कहा जाता है वह यदि लड़कियों का सा वेश कर ले तो कुटुम्बी जन उसे 'देवदत्त' न कहकर 'देवदत्ता' कह उठते हैं। अतः लिंग भेदसे भी अर्थभेदका सम्बन्ध है। यह सब शब्दनयकी दृष्टि है। यहां इतना विशेष जानना चाहिये, यदि एक ही अर्थके वाचक भिन्न भिन्न शब्दों में भी लिंगभेद या वचनभेद हो तो यह नय उनके वाच्यको भिन्न भिन्न दृष्टिकोणोंसे ही स्वीकार करेगा।

शब्दनयके उक्त लक्षणके समर्थनमें अब हम कुछ ग्रन्थकारोंका मत देते हैं अनन्तवीर्य लिखते हैं—'कारक[1] आदिके भेदसे अर्थको भेदरूप समझने वाला शब्दनय है"।

विद्यानन्दि खुलासा करते हुए लिखते[2] हैं—"जो वैयाकरण व्यवहारनयके अनुरोधसे काल, कारक, व्यक्ति, संख्या, साधन, उपग्रह, आदिका भेद होने पर भी पदार्थमें भेद नहीं मानते हैं परीक्षा करने पर उनका मत ठीक नहीं जंचता, यह शब्दनयका अभिप्राय है, क्योंकि काल, आदिका भेद होने पर भी अर्थमें भेद न माननेसे अनेक दोष पैदा होते हैं"।

आचार्य श्री देवनन्दि[3] प्रभाचन्द्र[4] वादिराज[5] अभयदेव[6] और अनन्तवीर्य द्वितीय[7] भी उक्त मतका अनुसरण करते हैं।

१—'भेदैः—विशेषैः, शब्दस्यार्थः—व्यंजन पर्यायः तस्यभेदं-नानात्वं, नयः प्रतिपत्तुरभिप्रायः वाच्यः कथनीयः किंभूतैर्भेदैरिति आह—'कारक इत्यादि' । लिखित सिद्धि विनिश्चय टीका।

२—'कालादिभेदतोऽर्थस्य भेदं यः प्रतिपादयेत्। सोऽत्र शब्दनयः शब्दप्रधानत्वादुदाहृतः ॥ ६८ ॥
विश्वदृश्वास्य जनिता सुनुरित्येकमादृताः। पदार्थं कालभेदेऽपि व्यवहारानुरोधतः ॥ ६९ ॥
करोति क्रियते पुण्यस्तारकाऽऽपोंऽभ इत्यपि। कारक व्यक्ति संख्यानां भेदेऽपि च परे जनाः ॥ ७० ॥
एहि मन्ये रथेनेत्यादिक साधनभिद्यपि। संतिष्ठेतावतिष्टेतेत्यादयुपग्रहभेदने । ६१ ॥
तन्न श्रेयः परीक्षायामिति शब्दः प्रकाशयेत। कालादिभेदनेऽप्यर्थभेदनेऽति प्रसंगतः ॥७२॥
—श्लोकवार्तिक पृ० २७२।

३—जो वट्टणं णा मणणइ एयत्थे भिण्णलिंगआईणं । सोसद्दणाओं भणिओ णेओ पसाइआण जहा ॥ १३ ॥
नयचक्र पृ० ७७।

४—काल कारक लिंग संख्या साधनोपग्रह भेदादभिन्नमर्थं शपतीति शब्दनयः ततोऽपरस्तं वैयाकरणानां मतम् । ते हि कालभेदेऽप्येकं पदार्थमादृताः, इत्यादि, ।–प्रमेयकमल पृ० २०६ पूर्वा ।

५–कालादि भेदादर्थभेदकारी शब्दः। कालभेदात्–अभूत्, भवति, भविष्यति कारकभेदात्-वृक्षं पश्य, वृक्षाय जलं देहि। न्यायविनिश्चयटीका लि० पृ० ५९७ उत्त०।

६–तत्र काल कारक लिंगभेदादर्थभेदकृद् शब्दनयः। लघीयस्त्रयवृत्ति पृ० २२।

७–काल कारक लिंगानां भेदाच्छब्दस्य कथञ्चिदर्थभेदकथनं शब्दनयः। प्रमेयरत्न० पृ० ३०७।

श्वेताम्बर आचार्य भी शब्दनयके उक्त स्वरूपके विषयमें एकमत हैं। वादिदेव[1] कहते हैं—"काल आदिके भेदसे जो पदार्थ भेदको स्वीकार करता है वह शब्दनय है। जैसे—'सुमेरु था, है और रहेगा'। जो काल, आदिके भेदसे सर्वथा अर्थभेद को ही स्वीकार करता है वह शब्दाभास है"।

मल्लिषेण[2] लिखते हैं—शब्दनय एक अर्थके वाचक अनेक शब्दोंका एक ही अर्थ मानता है। जैसे इन्द्र, शक्र और पुरन्दर शब्द एक 'देवराज' अर्थ का ही कथन करते हैं। यहां इतना विशेष जानना चाहिये कि जिस प्रकार यह नय पर्याय शब्दोंका एक ही अर्थ मानता है उसी प्रकार लिंगादिके भेदसे वस्तुके भेदको भी स्वीकार करता है। भिन्न भिन्न धर्मोंके द्वारा कही जाने वाली वस्तुमें धर्मभेद न हो, यह नहीं हो सकता"।

सिद्धर्षिगणि और उपाध्याय यशोविजयजी[3] का भी यही मत है।

सर्वार्थसिद्धिका लक्षण—

शब्दनयके विषयमें अकलंकदेवकी परम्पराका अनुशीलन करनेके बाद अब हम पूज्यपादकी परम्पराका विश्लेषण करेंगे। इस परम्परामें हमें तीन ही विद्वान् दृष्टिगोचर होते हैं—एक स्वयं पूज्यपाद दूसरे राजवार्तिकके रचयिता भट्टाकलंक और तीसरे तत्त्वार्थसारके कर्ता अमृतचन्द्रसूरि, श्वेताम्बर विद्वानोंमें सन्मतिकी टीकाके रचयिता श्री अभयदेवसूरि पर भी पूज्यपादकी परम्पराकी कुछ छाप लगी सी जान पड़ती है।

सर्वार्थसिद्धिमें लिखा है—"लिंग[4] संख्या, साधन, आदिके व्यभिचारको जो दूर करता है उसे शब्दनय कहते हैं'। राजवार्तिक[5]में मामूलीसे हेर फेरके साथ यही लक्षण किया गया है। इस लक्षण में 'व्यभिचार निवृत्तिपरः' पद स्पष्ट होते हुए भी अस्पष्ट है। लक्षणकार और उसके अनुयायियोंने व्यभिचारकी परिभाषा तो स्पष्ट कर दी किन्तु निवृत्तिपरः को अस्पष्टसा ही छोड़ दिया। एकवचनके

१-कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेदं प्रतिपद्यमानः शब्दः ॥ ३३। यथाबभूव, भवति, भविष्यति सुमेरुरित्यादि ॥ ३४ ॥ तद्भेदेन तस्य तमेव समर्थयमानस्तदाभासः ॥ ३४ ॥ प्रमाणनयतत्त्वालोक परि० ७।

२-शब्दस्तु रूढ़ितो यावन्तो ध्वनयः कस्मिश्चिदर्थे प्रवर्तन्ते यथा इन्द्र शक्र पुरन्दरादयः सुरपतौ तेषां सर्वेषामप्येकमर्थमभिप्रैति किल प्रतीतिवशाद्।··यथा चायं पर्यायशब्दानामेकमर्थमभिप्रैति तथा तटः,तटी, तटम् इति विरुद्धलिंग लक्षण धर्माभिसम्बन्धाद् वस्तुनो भेदं चाभिधते। न हि विरुद्धाकृतं भेदमनुभवतो वस्तुनो विरुद्धधर्मा योगो युक्तः।—स्याद्वादमञ्जरी पृ० ३१३।

३ कालादि भेदेन ध्वनेरर्थभेद प्रतिपद्यमानः शब्दः। एतस्यार्थः-सकेताद्व्याकरणात् प्रकृतिप्रत्ययसमुदायेन सिद्धः काल कारक लिंग संख्या पुरुषोपसर्गभेदेनार्थ पर्यायमात्रं प्रतीयते स शब्दनयः। कालभेद उदाहरणम्-यथा बभूव, भवति. भविष्यति सुमेरुरिति अत्र कालत्रत्वं यविभेदात् सुमेरोरपि भेदाशब्दनयेन प्रतिपाद्यते। -नयप्रदीप पृ०१०३

४ सर्वार्थ० पृ० ८०

५ लिंग संख्या साधनादिव्यभिचार निवृत्तिपरः शब्दनयः। सर्वार्थ० पृ० ७९

स्थानमें बहुवचन और पुलिंगके स्थानमें स्त्रीलिंग शब्दका प्रयोग करना आदि व्यभिचार कहा जाता है। शब्दनय उस व्यभिचारकी निवृत्ति करता है। कैसे करता है? इस प्रश्नको लेकर विद्वानोंमें दो मत हो गये हैं। एकमत कहता है कि शब्दनय व्याकरण द्वारा किये जाने वाले परिवर्तनको उचित समझता है "एवं प्रकारं व्यवहारनयं न्याय्यं ? मन्यते[1]"। दूसरा मत इसके विपरीत है।

प्रथम मत—

हम प्रथम मतसे किसी अंशमें सहमत हैं किन्तु सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिकके जिन वाक्योंके आधार पर उक्त मतकी सृष्टि हुई है उनकी समीक्षा करना आवश्यक जान पड़ता है। कल्लापा भरमाप्पा निटवेके जैनेन्द्र प्रेससे प्रकाशित सर्वार्थसिद्धिमें उक्त पाठ मुद्रित है। तथा शब्दनयके एक दो स्थलों पर कुछ टिप्पणी भी दी गयी है। पहिली टिप्पणी 'निवृत्तिपरः' पद पर है। उसका आशय है कि, लिंग आदिका व्यभिचार दोष नहीं माना जाता, यह शब्दनयका [2]अभिप्राय है।

सम्भवतः 'न्याय्य' पदको शुद्ध मान कर ही उक्त टिप्पणी दी गयी है। किन्तु, यह पद अशुद्ध है इसके स्थान पर 'अन्याय्य' होना चाहिये। सर्वार्थसिद्धि के प्रथम संस्करण से बा. जगरूपसहाय जी वाली प्रति में तथा काशी विद्यालयके भवन की लिखित प्रतिमें 'अन्याय्य' पाठ ही दिया हुआ है। पं. जयचन्द जी कृत वचनिकामें भी 'अन्याय्य' ही है। यदि 'न्याय्य' पद को शुद्ध मानकर उक्त वाक्य का अर्थ किया जाय तो इस प्रकार होगा— 'इस प्रकार के व्यवहारनय को शब्दनय उचित मानता है'। अर्थात् व्याकरण द्वारा शब्दों में जो परिवर्तन किया जाता है और जिसे आचार्य 'व्यभिचार' के नाम से पुकारते हैं वह व्यवहारनय का विषय है। उस व्यवहारनय को शब्दनय उचित माने यह एक आश्चर्य की बात है क्योंकि नयों का विषय उत्तरोत्तर सूक्ष्म होता जाता है। व्यवहारनय से ऋजुसूत्र का विषय सूक्ष्म है और ऋजुसूत्र से शब्दनय का विषय सूक्ष्म है। यदि शब्दनय व्यवहारनय के विषय का ही समर्थक हो जाय तो नयों के क्रम में तो गड़बड़ी उपस्थित होगी-ही, उनकी संख्या में फेरफार करना पड़ेगा।

आचार्य विद्यानन्दिने अपने श्लोकवार्तिकमें व्यवहारनय पद का अच्छा स्पष्टीकरण किया है। वे कहते हैं "जो वैयाकरण व्यवहारनयके अनुरोधसे कालभेद, कारकभेद, वचनभेद, लिंगभेद, आदिके होने पर भी अर्थभेद को स्वीकार नहीं करते, परीक्षा करने पर उनका मत ठीक नहीं जान पड़ता यह शब्दनय का अभिप्राय है[3]"।

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वैयाकरणों का उक्त व्यवहार शब्दनय की दृष्टिमें 'अन्याय्य' ही है 'न्याय्य' नहीं है। अतः मुद्रित सर्वार्थसिद्धि का पाठ अशुद्ध है। तथा यदि 'न्याय्य' पाठ को ही

---

१ शपति अर्थमाह्वयति प्रख्यापयति इति शब्दः स च लिंग सख्यां साधनादि व्यभिचारनिवृतिपरः।

२ लिंगादीनां व्यभिचारो दोषो नास्ति इत्यभिप्रायपरः। राज० वा० पृ० ६७।

३ श्लोकवार्तिक पृ० २०२।

शुद्ध माना जाय तो आगे का वाक्य—'अन्यार्थस्य अन्यार्थेन सम्बन्धाभावात्' बिल्कुल असंगत हो जाता है। अगर 'न्याय्य' पाठके अनुसार एकवचनान्त और बहुवचनान्त शब्दों का एक ही अर्थ माना जाय तो अन्य अर्थ का अन्य अर्थके साथ सम्बन्ध हो ही गया। क्योंकि 'जलम्' शब्द और 'आपः' शब्द दोनों का एक ही अर्थ मान लिया गया। अतः 'अभावात्' शब्द व्यर्थ ही पड़ जाता है। किन्तु जब उक्त व्यभिचारों को शब्दनय 'अन्याय्य' कहता है तब इस हेतुपरक वाक्य की संगति ठीक बैठ जाती है।—"इस प्रकार का व्यवहार अनुचित है क्योंकि अन्य अर्थका अन्य अर्थके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता"। राजवार्तिकके शब्द स्पष्ट होते हुए भी कोई उनका अनर्थ करके 'न्याय्य' पद का समर्थन करते हैं। वे शब्द इस प्रकार हैं—"लिंगादीनां व्याभिचारो न न्याय्यः इति तन्निवृत्तिपरोऽयं नयः।...एवमादयो व्यभिचारा अयुक्ताः, अन्यार्थस्यान्यार्थेन सम्बन्धाभावात्।" सर्वार्थसिद्धि की तरह यहां पर भी 'तन्निवृत्तिपरः' शब्दको लेकर मतभेद हो गया है। किन्तु इतना स्पष्ट है कि यह नय व्यभिचारको उचित नहीं मानता। जो महानुभाव 'व्यभिचारो न न्याय्यः' या 'व्यभिचारा अयुक्ता' का यह अर्थ करते हैं कि; शब्दनय लिंगादिकके परिवर्तनको व्यभिचार नहीं मानता तो उनसे हमारा नम्र प्रश्न है कि फिर लिंगादिकका परिवर्तन किसकी दृष्टिमें व्यभिचार समझा जाता है जिसे दूर करनेके लिए शब्दनयकी सृष्टि करनी पड़ी? व्याकरण शास्त्रकी दृष्टिमें तो यह व्यभिचार है ही नहीं क्यों कि व्याकरणने ही इस प्रकारके परिवर्तन और प्रयोगकी सृष्टि की है। लौकिक दृष्टिसे भी दोष नहीं है। क्यों कि लोक तो स्थूल व्यवहारसे ही प्रसन्न रहता है। इसी बातको दृष्टिमें रखकर उक्त दोनों ग्रन्थोंमें व्यवहारनयावलम्बीने तर्क किया है कि, यदि आप इन्हें व्यभिचार समझकर अयुक्त ठहराते हैं तो लोक और शास्त्र (व्याकरण) दोनोंका विरोध उपस्थित होगा इस तर्कका समाधान दोनों आचार्योंने एक सा ही किया है। सर्वार्थसिद्धिकार कहते हैं—'विरोध[1] होता है तो हो यहां तत्वकी मीमांसा की जाती है। तत्त्वमीमांसाके समय लौकिक विरोधोंकी पर्वाह नहीं की जाती कहावत प्रसिद्ध है कि औषधिकी व्यवस्था रोगीकी रुचिके अनुसार नहीं की जाती, रोगीको यदि दवा कड़ुवी लगती है तो लगने दो'। राजवार्तिककार कहते हैं—'यहां[2] तत्वकी मीमांसा की जा रही है दोस्तोंको दावत नहीं दी जा रही'। सन्मति तर्कके टीकाकार अभयदेवसूरिने भी प्रकारान्तरसे इस आपत्तिका निराकरण किया है। वे कहते हैं—'व्यवहारके लोपका भय तो सभी नयोंमें वर्तमान है'।

विज्ञ पाठकोंको मालूम होगा कि ऋजुसूत्र नयका विवेचन करते हुए भी व्यवहार लोपका भय दिखाया गया है और उसका उत्तर यह दिया गया है कि लोक व्यवहार सर्व नयोंके आधीन है। अभयदेवके

१ "लोकसमयविरोध इति चेत् विरुद्ध्यताम् तत्त्वमिह मीमांस्यते, न भैषज्यमातुरेच्छानुवर्ति।" सर्वार्थ० पृ० ८०।

२ "लोकसमयविरोध इति चेत् विरुद्ध्यताम्, तत्त्वं मीमांस्यते (न) सुहृत्सूपचारः"। राजवा० पृ० ६८। मुद्रित राजवार्तिकमें (न) नहीं है किन्तु होना चाहिये।

३ "न चैवं लोकशास्त्र व्यवहार विलोप इति वक्तव्यम्, सर्वत्रैव नयमते तद्विलोपस्य समानत्वात्।" पृ० ३१६।

उत्तरसे भी यही प्रतिध्वनि निकलती है। अतः यदि शब्दनय एकान्तके समर्थक व्याकरण शास्त्र और लौकिक व्यवहारका समर्थक होता तो इस भयकी आशंका न रहती। इसलिए यही निष्कर्ष निकलता है कि मुद्रित सर्वार्थसिद्धिमें 'न्याय्यं' के स्थानपर 'अन्याय्यं' पाठ होना चाहिये।

मुद्रित सर्वार्थसिद्धिमें 'न्याय्यं' पदपर एक टिप्पणी दी हुई है। न्याय्यं पदका समर्थक मानकर ही उस टिप्पणको वहां मुद्रित किया गया है ऐसा मैं समझता हूं। टिप्पणीका आशय इस प्रकार है—"जलं पतति' के स्थानपर 'आपः पतति यह व्यवहार होता है। यहां अप् शब्दके आगे बहुवचनका वाचक प्रत्ययका लगाना वास्तवमें व्यर्थ ही है·············फिर भी शब्दानुशासन शास्त्र (व्याकरण शास्त्र) के प्रभावसे ऐसा करना पड़ता ही है'। इस आशयको यदि दो भागोंमें विभाजित कर दिया जाय तो हम देखेंगे कि पहिली दृष्टि शब्दनयकी है वह एकवचनके स्थानमें बहुवचनका प्रयोग नहीं स्वीकार करता किन्तु दूसरे हिस्सेको पढ़नेसे हमें मालूम होता है व्याकरणके नियमके अनुसार ऐसा प्रयोग करना पड़ता है, अर्थात् इस प्रकारका व्यवहार शब्दानुशासन शास्त्रकी दृष्टिमें न्याय्य है शब्दनयकी दृष्टिमें नहीं। शब्दानुशासन शास्त्र शब्दनयका विषय नहीं है व्यवहार नयका विषय है। अतः यह टिप्पण भी न्याय्य पदका समर्थन नहीं करता।

इस विस्तृत विवेचनसे हम इसी निर्णयपर पहुंचते हैं कि व्याकरण सम्मत व्यवहार या वैयाकरणोंका मत शब्दनयकी दृष्टिमें दूषित है और इसलिए वह उचित नहीं माना जा सकता।

दोनों परम्पराओं और शब्दानुशासन तथा शब्दनयका समन्वय—

शब्दनयके सम्बन्धमें जिन दो परम्पराओंका दिग्दर्शन ऊपर कराया गया हैं उनमें आचार्य पूज्यपाद शब्दनयका विषय न बताकर कार्य बतलाते हैं। जब कि अकलंकदेव शब्दनयका विषय प्रदर्शित करते हैं। पूज्यपाद कहते हैं कि शब्दनय व्याकरण सम्बन्धी दोषोंको दूर करता है। कैसे करता है? इस प्रश्नका उत्तर अकलंक देवके 'लघीयस्त्रय' में मिलता है। वैयाकरणोंके मतके अनुसार एकवचनके स्थानमें बहुवचनका, स्त्रीलिंग शब्दके बदलेमें पुलिंग शब्दका उत्तम पुरुषके स्थानमें मध्यमपुरुषका प्रयोग किया जाता है। ये महानुभाव शब्दोंमें परिवर्तन मानकर भी उनके वाच्यमें कोई परिवर्तन नहीं मानते हैं। जैसे कूटस्थ नित्यवादी कालभेद होनेपर भी वस्तुमें कोई परिवर्तन नहीं मानता। इसीलिए वैयाकरणोंका यह परिवर्तन व्यभिचार कहा जाता है। यदि वाचकके साथ साथ वाच्यमें भी परिवर्तन मान लिया जाय तो व्यभिचारका प्रसंग ही उठ जाय। अतः यदि वैयाकरण शब्द भेदके साथ साथ अर्थभेदको भी स्वीकार कर लें तो शब्दनय शब्दानुशासन शास्त्रका समर्थक बन सकता है। ऐसी दशामें पूज्यपादका यह कहना कि, शब्दनय व्यभिचारोंको दूर करता है और अकलंकदेवका व्यभिचारोंको दूर करनेके लिए काल, कारक, आदिके भेदसे अर्थभेदका स्वीकार करना, दोनों कथन परस्परमें घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। अतः पूज्यपादने जिस शब्दनयके कार्यका उल्लेख करके उसके विषयको अस्पष्ट ही छोड़ दिया था उसके विषयका स्पष्टी-

करण करके अकलंकदेवने अपनी अपूर्व प्रतिभाका परिचय दिया। इसके लिये जैनदर्शन उनका सर्वदा ऋणी रहेगा।

आलापपद्धतिकारका समन्वय—

दो परम्पराओंका समन्वय करनेके बाद एक तीसरे आचार्यका मत अवशिष्ट रह जाता है जिसकी शब्दयोजना उक्त दोनों मतोंसे विलक्षण है, आलापपद्धतिके कर्ता लिखते हैं—'शब्दात् व्याकरणात् प्रकृतिप्रत्ययद्वारेण सिद्धः शब्दनयः'। यह शब्दनयकी लक्षण परक व्युत्पत्ति है। इसका आशय है कि, जो व्याकरणसे सिद्ध हो उसे शब्दनय कहते हैं। अर्थात् शब्दनय व्याकरण सिद्ध प्रयोगोंको अपनाता है। शब्दनय और व्याकरणके पारस्परिक सम्बन्धका स्पष्टीकरण हम ऊपर कर चुके हैं अतः हमारे आशयमें इस मतका भी अन्तर्भाव हो जाता है।

आधुनिक हिन्दी ग्रन्थोंमें शब्दनय--

जैन दर्शनके मान्य ग्रन्थोंके आधारपर शब्दनयका स्पष्टीकरण करनेके बाद आधुनिक हिन्दी ग्रन्थोंमें वर्णित शब्दनयके स्वरूपके सम्बन्धमें दो शब्द कहना अनुचित न होगा। एक ख्यातनामा टीकाकार लिखते हैं—व्याकरणादि मतसे शब्दोंमें जो परिवर्तन हो जाता है उसका यदि उस परिवर्तनकी आकृतिके अनुसार अर्थ किया जावे तो अशुद्ध सा मालूम होगा। अतएव व्याकरणकी रीतिसे उस परिवर्तनको केवल शब्दाकृतिका परिवर्तक एवं अर्थका अपरिवर्तक मानने वाला शब्दनय है। मालूम होता है टीकाकार महोदय एकान्तवादी वैयाकरणोंकी तरह शब्दनयका सम्बन्ध केवल शब्दों तक ही सीमित करना चाहते हैं। शायद उन्होंने अर्थनय और शब्दनयको सर्वथा स्वतंत्र मान लिया है। शब्दनयका यह आशय नहीं है कि उसकी सीमा शब्द तक ही परिमित रहे किन्तु शब्दकी प्रधानतासे अर्थका निर्णय करनेके कारण ही उत्तरके तीनों नय शब्दनय कहे जाते हैं? यदि शब्दनयको केवल शब्दाकृतिका ही परिवर्तक मान लिया जाय तो ऋजुसूत्र समभिरूढ तथा एवंभूत नयसे उसकी संगति कैसे बैठायी जा सकती है। पता नहीं किस शास्त्रके आधारसे इस लक्षणकी कल्पना की गयी है?

———

स्याद्वाद और सप्तभंगी

श्री पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ

स्याद्वाद की महत्ता

दुनियामें बहुतसे वाद हैं स्याद्वाद भी उनमें से एक है, पर वह अपनी अद्भुत विशेषता लिये हुए है। दूसरे वाद, विवादोंको उत्पन्न कर संघर्षकी वृद्धिके कारण बन जाते हैं तब स्याद्वाद जगतके सारे विवादोंको मिटाकर संघर्षको विनष्ट करनेमें ही अपना गौरव प्रगट करता है। स्याद्वादके अतिरिक्त सब वादोंमें आग्रह है। इसलिए उनमेंसे विग्रह फूट पड़ते है किन्तु स्याद्वाद तो निराग्रह-वाद है, इसमें कहीं भी आग्रहका नाम नहीं है। यही कारण है कि इसमें किसी भी प्रकारके विग्रहका अवकाश नहीं है।

स्याद्वाद का लक्षण ?

स्याद्वाद शब्दमें 'स्यात्' का अर्थ अपेक्षा है अपेक्षा यानी दृष्टिकोण। 'वाद' का अर्थ है सिद्धान्त— इसका अर्थ यह हुआ कि जो अपेक्षाका सिद्धान्त है उसे स्याद्वाद कहते हैं। किसी वस्तु, किसी धर्म, अथवा गुण, घटना एवं स्थितिका किसी दृष्टिकोणसे कहना, विवेचन करना या समझना स्याद्वाद कहलाता है। पदार्थमें बहुतसे आपेक्षिक धर्म रहते हैं, उन आपेक्षिक धर्मों अथवा गुणोंका यथार्थ ज्ञान अपेक्षाको सामने रखे विना नहीं हो सकता। दर्शन शास्त्रमें प्रयुक्त नित्य-अनित्य, भिन्न-अभिन्न, सत्-असत्, एक-अनेक, आदि, सभी आपेक्षिक धर्म हैं। लोक व्यवहारमें भी छोटा-बड़ा, स्थूल-सूक्ष्म, ऊंचा-नीचा, दूर-नजदीक, मूर्ख—विद्वान, आदि सभी आपेक्षिक हैं। इन सभीके साथ कोई न कोई अपेक्षा लगी रहती है। एक ही समयमें पदार्थ नित्य और अनित्य दोनों हैं। किन्तु जिस अपेक्षासे नित्य है उसी अपेक्षासे अनित्य नहीं है। और जिस अपेक्षासे अनित्य है उसी अपेक्षासे नित्य नहीं है। कोई भी पदार्थ अपने वस्तुत्वकी अपेक्षासे नित्य और बदलती रहनेवाली अपनी अवस्थाओंकी अपेक्षा अनित्य है; इसलिए उनलोगोंका कहना किसी भी तरह उचित नहीं जो केवल अनित्य अथवा केवल नित्य ही मानते हैं। इसी तरह सत् और असत्, आदि भी हैं। छोटे-बड़े आदिमें भी यही बात है। आम फल कटहलके फलकी अपेक्षा छोटा किन्तु बेर की अपेक्षा बड़ा होता है। इसलिए आम एक ही समयमें छोटा बड़ा दोनों है। इसमें कोई विरोध नहीं है किन्तु अपेक्षाका भेद है। ऐसी अवस्थामें केवल उसके छोटे होने अथवा बड़े

होनेके विवादमें अपनी शक्ति क्षीण करनेवाला मनुष्य कभी समझदार नहीं कहलाय गा। यहां यह बात हमेशा याद रखने की है कि यह अपेक्षावाद केवल आपेक्षिक धर्मोंमें ही लगेगा। वस्तुके अनुजीवी गुणोंमें इसका प्रयोग करना उचित नहीं है। आत्मा चेतन है, पुद्‌गल रूप-रस-गंध स्पर्श वाला है, आदि पदार्थोंके आत्मभूत लक्षणात्मक धर्मोंमें स्याद्वादका प्रयोग नहीं हो सकता, क्योंकि ये आपेक्षिक नहीं है। यदि इन्हें भी किसी तरह आपेक्षिक बनाया जा सके तो फिर इनमें भी स्याद्वाद प्रक्रिया लागू होगी।

सप्तभंगीका स्वरूप--

इस (स्याद्वाद) प्रक्रियामें सात भंगोंका अवतार होता है इसलिए इसे सप्तभंगी न्याय भी कहते हैं। किसी वस्तु अथवा उसके गुण-धर्म आदिके विधि (होना) प्रतिषेध (न होना) की कल्पना करना सप्तभंगी कहलाती है। वे सात भंग ये हैं—अस्ति, नास्ति, अतिनास्ति, अवक्तव्य, अस्ति-अवक्तव्य, नास्ति-अवक्तव्य, अस्तिनास्ति-अवक्तव्य । अर्थात् है, नहीं है, हैऔरनहीं है, कहा नहीं जा सकता है, है तो भी कहा नहीं जा सकता, नहीं है तो भी कहा नहीं जा सकता तथा है और नहीं है तो भी कहा नहीं जा सकता।

क्रमभेद--

कोई कोई आचार्य इन भंगोंके क्रमभेदका भी उल्लेख करते हैं। वे अवक्तव्यको तीसरा और अस्ति-नास्तिको चौथा भंग कहते हैं। इसमें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायके आचार्य सम्मिलित हैं किन्तु इस क्रम भेदसे तत्त्व विवेचनामें कोई अन्तर नहीं आता। अवक्तव्यको तीसरा भंग माननेका यह कारण है कि इन सात भंगोंमें अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य ये तीन भंग प्रधान हैं। इन्हींसे द्विसंयोगी और त्रिसंयोगी भंग बनते हैं अतः अवक्तव्यको तीसरा भंग भी मान लिया जाय तो कोई हानि नहीं है।

नित्य, आदि प्रत्येक विषयोंमें इसी प्रकार सात सात भंग होंगे। इन सात भंगोंमें मुख्य भंग दो हैं—अस्ति और नास्ति। दोनोंको एक साथ कहनेकी इच्छासे, अवक्तव्य भंग बनता है, क्योंकि दोनोंको एक साथ कहनेकी शक्ति शब्दमें नहीं है। इस तरह तीन प्रधान भंग हो जाते हैं। १—असंयोगी (आस्ति नास्ति, अवक्तव्य) २—द्विसंयोगी (आस्तिनास्ति, अस्ति-अवक्तव्य, नास्ति अवक्तव्य) और ३—त्रिसंयोगी (आस्ति नास्ति-अवक्तव्य) इनसे ही सात भंग बन जाते हैं।

प्रयोग--

पदार्थ स्वद्रव्य क्षेत्र कालकी अपेक्षा अस्ति रूप, और परद्रव्य क्षेत्र कालकी अपेक्षा नास्ति रूप है। द्रव्यका मतलव है गुणोंका समूह अपने गुण समूह की अपेक्षा होना ही द्रव्यकी अपेक्षा आस्तित्व कहलाता है। जैसे घड़ा, घड़े रूपसे अस्ति हैं और कपड़े रूपसे नास्ति, अर्थात् घड़ा; घड़ा ही है, कपड़ा नहीं है। अतः कहना चाहिये हर एक वस्तु स्वद्रव्यकी अपेक्षासे है, पर द्रव्यकी अपेक्षासे नहीं है।

द्रव्यके अंशोंको क्षेत्र कहते हैं। घड़ेके अंश अवयव ही घड़ेका क्षेत्र हैं। घड़ेका क्षेत्र वह नहीं है जहां घड़ा रखा है, वह तो उसका व्यावहारिक क्षेत्र है। इस अवयव रूप क्षेत्रकी अपेक्षा होना ही घड़ेका स्वक्षेत्रकी अपेक्षा होना है।

पदार्थके परिणमनको काल कहते हैं। हर एक पदार्थ का परिणमन पृथक् पृथक् है। घड़ेका अपने परिणमनकी अपेक्षा होना ही स्वकालकी अपेक्षा होना कहलाता है। क्योंकि यही उसका स्वकाल है। घंटा, घड़ी, मिनिट, सैकण्ड, आदि वस्तुका स्वकाल नहीं हैं। वह तो व्यावहारिक काल है।

वस्तुके गुणको भाव कहते हैं। हर एक वस्तुका स्वभाव अलग अलग होता है। घड़ा अपने ही स्वभावकी अपेक्षा है, वह अन्य पदार्थोंके स्वभाव की अपेक्षा कैसे हो सकता है। इसप्रकार स्वद्रव्य क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षा पदार्थ है और परद्रव्य क्षेत्र-कालकी अपेक्षा नहीं है। इस स्व-पर चतुष्टयके और भी अनेक अर्थ हैं।

जब हमारी दृष्टि पदार्थके स्वरूपकी ओर होती है तब अस्ति भंग बनता है। और जब उसके पररूप की अपेक्षा हमें होती है तब दूसरा नास्ति भंग बनता है। किन्तु जब हमारी दृष्टि दोनों ओर होती है तब तीसरा अस्ति-नास्ति भंग उत्पन्न होता है और यही दृष्टि एक साथ दोनों ओर से हो तो अवक्तव्य नामका चौथा भंग हो जाता है क्योंकि एक समयमें दो धर्मोंको कहनेवाला कोई शब्द नहीं है। किन्तु यह तो मानना ही होगा कि अवक्तव्य होने पर भी वस्तु स्वरूपकी अपेक्षा तो है ही और पर रूपकी अपेक्षा वह नास्ति भी है। इसी तरह वह अवक्तव्य वस्तु क्रमशः स्वपर चतुष्टयकी अपेक्षा अस्ति नास्ति होगी ही। इसलिए कथंचित् अस्ति अवक्तव्य वस्तु क्रमशः स्वपर चतुष्टयकी अपेक्षा अस्ति नास्ति होगी ही। इसलिए कथंचित् अस्ति अवक्तव्य कथंचित् नास्ति अवक्तव्य और कथंचित् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य नामक पांचवा, छठा और सातवां भंग बनेगा।

स्पष्टीकरण—

यदि मूलके दो भंग अस्ति नास्तिमें से केवल कोई एक भंग ही रखा जाय और दूसरा न माना जाय तो क्या हानि है? इसी से काम चल जाय तो दूसरे भंगोंकी संख्या भी न बढ़ेगी।

नास्ति भंग नहीं माननेसे जो वस्तु एक जगह है वह अन्य सब जगह भी रहेगी। इस तरह तो एक घड़ा भी व्यापक हो जायगा, इसी प्रकार यदि केवल नास्ति भंग ही माना जाय तो सब जगह वस्तु नास्ति रूप हो जानेसे सभी वस्तुओंका अभाव हो जायगा इसलिए दोनों भंगोंको माननेकी आवश्यकता है। इन भंगोंका विषय अलग अलग है, एकका कार्य दूसरेसे नहीं हो सकता। देवदत्त मेरे कमरेमें नही है इसका यह अर्थ कभी नहीं होता कि अमुक जगह है। इसलिए जिज्ञासुके इस सन्देह को दूर करनेके लिए ही वह कहां है अस्ति भंगकी जरूरत है। इसी तरह अस्ति भंगका प्रयोग होने पर

भी नास्ति भंगकी आवश्यकता बनी ही रहती है। मेरी थालीमें रोटी है यह कह देने पर भी तुम्हारी थालीमें रोटी नहीं है इसकी आवश्यकता रहती ही है क्योंकि यह दोनों चीजें भिन्न भिन्न हैं। इस प्रकार अस्ति, नास्ति दोनों भंगोंको मानना तर्कसे सिद्ध है।

अस्ति-नास्ति नामक तीसरा भंग भी इनसे भिन्न स्वीकार करना पड़ेगा। क्योंकि केवल अस्ति अथवा केवल नास्ति द्वारा इसका काम नहीं हो सकता। मिश्रित वस्तुको भिन्न मानना प्रतीति एवं तर्क सिद्ध है। शहद और घी समान अनुपातमें लेनेसे विष बन जाता है। पीला और नीला रंग मिलानेसे हरा रंग हो जाता है अतः तीसरा भंग पहले दोसे भिन्न है।

चौथा भंग अवक्तव्य है। पदार्थके अनेक धर्म एक साथ नहीं कहे जा सकते, इसलिए एक साथ स्वपर चतुष्टयके कहे जानेकी अपेक्षा वस्तु अवक्तव्य हैं। वस्तु इसलिए भी अवक्तव्य है कि उसमें जितने धर्म हैं उतने उसके वाचक शब्द नहीं है। धर्म अनन्त हैं और शब्द संख्यात। एक बात यह भी है कि पदार्थ स्वभावसे भी अवक्तव्य है। वह अनुभवमें आ सकता है, शब्दोंसे नहीं कहा जा सकता।

मिश्रीका मीठापन कोई जानना चाहे तो शब्दसे कैसे जानेगा ? वह तो चखकर ही जाना जा सकता है। इस प्रकार कई अपेक्षाओंसे पदार्थ अवक्तव्य है। किन्तु वह अवक्तव्य होने पर भी किसी दृष्टिसे वक्तव्य भी हो सकता है। इसलिए अवक्तव्यके साथ अस्ति, नास्ति और अस्ति-नास्ति लगानेसे अस्ति अवक्तव्य, नास्ति अवक्तव्य, और अस्तिनास्ति अवक्तव्य इस प्रकार पांचवा छठा और सातवां भंग हो जाता है।

प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगी--

यह सप्तभंगी दो तरह से होती है। प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगी। वस्तु को पूरे रूप से जानने वाला प्रमाण और अंश रूप से जानने वाला नय है। इसलिए वाक्य के भी दो भेद है—प्रमाण वाक्य और नय वाक्य। कौन प्रमाण वाक्य और कौन नयवाक्य है ? इसका पता शब्दोंसे नहीं भावोंसे लगता है। जब किसी शब्दके द्वारा हम पूरे पदार्थ को कहना चाहते हैं तब वह सकलादेश अथवा प्रमाण वाक्य कहा जाता है और जब शब्द के द्वारा किसी एक धर्म को कहा जाता है तब विकलादेश अथवा नय वाक्य माना जाता है।

वैसे तो कोई भी शब्द वस्तु के एक ही धर्म को कहता है फिर भी यह बात है कि उस शब्द द्वारा सारी वस्तु भी कही जा सकती है और एक धर्म भी। जीव शब्द द्वारा जीवन गुण एवं अन्य अनन्त धर्मोंके अखण्ड पिण्ड रूप आत्माको कहना सकलादेश है और जब जीव शब्दके द्वारा केवल जीवन धर्मका ही बोध हो तो विकलादेश होता हैं। अथवा जैसे विषका अर्थ जल भी है। जब इस शब्द द्वारा जल नामका पदार्थ कहा जाय तब सकलादेश और जब केवल इसकी मारण शक्तिका इसके द्वारा

बोध हो तो विकलादेश होता है। इस वक्तव्यका यह अर्थ हुआ कि पदार्थ प्रमाण दृष्टिसे अनेकान्तात्मक और नय दृष्टिसे एकान्तात्मक है। किन्तु सर्वथा अनेकान्तात्मक और सर्वथा एकान्तात्मक नहीं है। इस आशयको प्रकट करनेके लिए हमें उपर्युक्त प्रत्येक वाक्यके साथ 'स्यात्' कथंचित अथवा किसी अपेक्षासे, आदिमें से किसी एक का प्रयोग करना चाहिए। यदि हम किसी कारण प्रयोग न भी करें तो भी हमारा अभिप्राय तो ऐसा रहना ही चाहिए। नहीं तो यह सब व्यवस्था और इनमें उत्पन्न होने वाला ज्ञान मिथ्या हो जायगा।

स्याद्वाद छल अथवा संशयवाद नहीं--

स्याद्वादकी इस अनेकान्तात्मक प्रक्रियाको कभी कभी लोग छल अथवा संशयवाद कह डालते हैं। किन्तु यह भूल भरी बात है। क्योंकि संशयमें परस्पर विरोधी अनेक वस्तुओंका शंकाशील भान होता है, पर स्याद्वाद तो परस्पर विरुद्ध सापेक्ष पदार्थोंका निश्चित ज्ञान उत्पन्न करता है और छलकी तो यहां संभावना ही नहीं है। छलमें किसीके कहे हुए शब्दोंका उसके अभिप्रायके विरुद्ध अर्थ निकालकर उसका खण्डन किया जाता है पर स्याद्वादमें यह बात नहीं है। वहां तो प्रत्येकके अभिप्रायको यथार्थ दृष्टिकोण द्वारा ठीक अर्थमें समझनेका प्रयत्न किया जाता है। इसी तरह विरोध वैयधिकरण्य, आदि आठ दोष भी स्याद्वाद में नहीं आते जो सारे विरोधों को नष्ट करने वाला है उसमें इन दोषों का क्या काम?

स्याद्वाद और लोक व्यवहार---

स्याद्वादका उपयोग तभी है जब व्यावहारिक जीवनमें उतारा जाय। मनुष्य के आचार-विचार और ऐहिक अनुष्ठानोंमें स्याद्वादका उपयोग होनेकी आवश्यकता है। स्याद्वाद केवल इसीलिए हमारे सामने नहीं आया कि वह शास्त्रीय नित्यानित्यादि विवादोंका समन्वय कर दे। उसका मुख्य काम तो मानवके व्यावहारिक जीवनमें आजानेवाली मूढ़ताओंको दूर करना है। मनुष्य परम्पराओं व रूढ़ियों से चिपके रहना चाहते हैं। यह उनकी संस्कारगत निर्बलता है। ऐसी निर्बलताओंको स्याद्वादके द्वारा ही दूर किया जासकता है। स्याद्वादको पाकर भी यदि मनुष्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके द्वारा होनेवाले परिवर्तनोंको स्वीकार न कर सके, उसमें विचारों की सहिष्णुता न हो तो उसके लिए स्याद्वाद बिल्कुल निरुपयोगी है। दुःख है कि मानवजातिके दुर्भाग्यसे इस महामहिमवादको भी लोगोंने आग्रह-भरी दृष्टिसे ही देखा और इसकी असली कीमत आंकनेका प्रयत्न नहीं किया। हजारों वर्षों से ग्रन्थोंमें आरहे इसको जगत अब भी आचारका रूप दे दे तो उसकी सब आपदाएं दूर हो जांय। भारतमें धर्मों की लड़ाइयां तब तक बंद नहीं होंगी जब तक स्याद्वादके ज्योतिर्मय नेत्रका उपयोग नहीं किया जायगा।

उपसंहार--

स्याद्वाद सर्वाङ्गीण दृष्टि कोण है। उसमें सभी वादोंकी स्वीकृति है, पर उस स्वीकृतिमें आग्रह नहीं है। आग्रह तो वहीं है जहांसे ये विवाद आये हैं। टुकड़ोंमें विभक्त सत्यको स्याद्वाद

ही सङ्कलित कर सकता है। जो वाद भिन्न रहकर पाखण्ड बनते हैं वे ही स्याद्वाद द्वारा समन्वित होकर पदार्थकी संपूर्ण अभिव्यक्ति करने लगते हैं।

स्याद्वाद सहानुभूति मय है, इसलिए उसमें समन्वयकी क्षमता है। उसकी मौलिकता यही है कि वह पड़ौसी वादोंको उदारताके साथ स्वीकार करता है पर वह उनको ज्योंका त्यों नहीं लेता। उनके साथ रहनेवाले आग्रहके अंशको छांटकर ही वह उन्हें अपना अङ्ग बनाता है। मनुष्यकी कोई भी स्वीकृति—जिसमें किसी तरहका आग्रह या हट न हो—स्याद्वादके मन्दिरमें गौरवपूर्ण स्थान पा सकती हैं। तीन सौ तरेसठ प्रकारके पाखण्ड तभी मिथ्या हैं जबतक उनमें अपना ही दुराग्रह है। नहीं तो वे सभी सम्यग्ज्ञानके प्रमेय हैं।

स्याद्वाद परमागमका जीवन है। वह परमागममें न रहे तो सारा परमागम पाखण्ड होजाय। उसे इस परमागमका बीज भी कह सकते हैं। क्योंकि इसीसे सारे परमागमकी शाखाएं ओत प्रोत हैं। स्याद्वाद इसीलिए है कि जगतके सारे विरोधको दूर कर दें। यह विरोधको वरदाश्त नहीं करता इसीसे हम कह सकते हैं कि जैन धर्म की अहिंसा स्याद्वादके रग रगमें भरी पड़ी है। जो वाद विना दृष्टिकोणके हैं, स्याद्वाद उन्हें दृष्टि देता है कि तुम इस दृष्टिकोणको लेकर अपने वादको सुरक्षित रखो, पर जो यह कहनेके आदी हैं कि केवल हमारा ही कहना यथार्थ है, स्याद्वाद उनके विरुद्ध खड़ा होता है, और उनका निरसन किये विना उसे चैन नहीं पड़ती, इसलिए कि वे ठीक राह पर आ जावें और अपने आग्रह द्वारा जगतमें सङ्घर्ष उत्पन्न करनेके कारण न बने।
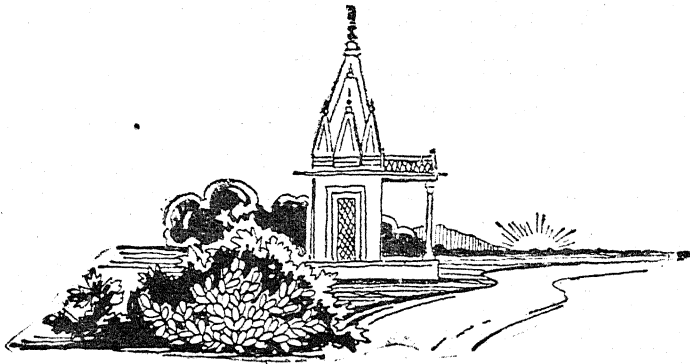
जैन दर्शनका उपयोगिता वाद—

एवं सांख्य तथा वेदान्त दर्शन ।

श्री पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य, आदि

जैनसंस्कृतिका विवेचन विषयवार चार अनुयोगोंमें विभक्त कर दिया गया है—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग। इनमें से प्रथमानुयोगमें जैनसंस्कृतिके माहात्म्यका वर्णन किया गया है अर्थात् "जैनसंस्कृतिको अपना कर प्राणी कहांसे कहां पहुंच जाता है" इत्यादि बातोंका दिग्दर्शक प्रथमानुयोग है। प्रथमानुयोगको यदि अथर्ववाद नाम दिया जाय, तो अनुचित न होगा। शेष करणानुयोग, द्रव्यानुयोग और चरणानुयोगको क्रमसे उपयोगितावाद, अस्तित्ववाद (वस्तुस्थितिवाद) और कर्तव्यवाद कहना ठीक होगा, क्योंकि करणानुयोगमें प्राणियोंके लिए प्रयोजनभूत उनके संसार मोक्षका ही सिर्फ विवेचन है, द्रव्यानुयोगमें विश्वकी वास्तविक स्थिति बतलायी गयी है और चरणानुयोगमें प्राणियोंका कर्त्तव्य मार्ग बतलाया गया है। सामान्यतया करणानुयोग और द्रव्यानुयोगका विषय दार्शनिक है इसलिए इन दोनोंको जैनदर्शन नामसे पुकारा जा सकता है।

विशिष्ट तत्त्व-पदार्थ व्यवस्था—

विश्वके रंगमंच पर कई दर्शन आये और गये तथा कई इस समय भी मौजूद हैं। भारतवर्ष तो संस्कृतियों और उनके पोषक दर्शनोंके प्रादुर्भावमें अग्रणी रहा है। सभी दर्शनोंमें अपने अपने दृष्टिकोणके अनुसार पदार्थोंकी व्यवस्थाको अपनाया गया है लेकिन किसी दर्शनकी पदार्थ व्यवस्था उपयोगितावाद मूलक है, किसी दर्शनकी अस्तित्ववाद मूलक और किसी दर्शनकी उभय वाद मूलक है। जैनदर्शनमें उपयोगितावाद और अस्तित्ववादके आधार पर स्वतंत्र, स्वतंत्र दो पदार्थ व्यवस्थाओंको स्थान प्राप्त है उपयोगिता वादके आधार पर जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्षये सात तत्त्व पदार्थ व्यवस्थामें अन्तर्भूत किये गये हैं और आस्तित्ववादके आधार पर जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छः द्रव्य पदार्थ व्यवस्थासे अन्तर्भूत किये गये हैं। यदि हम सांख्य, वेदान्त, न्याय और वैशेषिक दर्शनोंकी पदार्थ व्यवस्था पर दृष्टि डालते हैं तो मालूम पड़ता है कि सांख्य और वेदान्त दर्शनोंकी पदार्थ व्यवस्थाका आधार उपयोगितावाद ही माना जा सकता है तथा न्याय और

वैशेषिक दर्शनोंकी पदार्थ व्यवस्थाका आधार अस्तित्ववादको ही समझना चाहिये अर्थात् सांख्य और वेदान्त दर्शनों की तत्त्व व्यवस्था प्राणियोंके संसार और मोक्ष तक ही सीमित है और न्याय और वैशेषिक दर्शन अपनी पदार्थ-व्यवस्था द्वारा विश्वकी वस्तुस्थितिका विवेचन करनेवाले ही हैं। जिन विद्वानोंका यह मत है कि सांख्य और वेदान्त दर्शनोंकी पदार्थ व्यवस्था न्याय और वैशेषिक दर्शनोंकी तरह अस्तित्व वाद मूलक ही है उन विद्वानोंके इस मतसे मैं सहमत नहीं हूं क्योंकि सांख्य और वेदान्त दर्शनोंका गंभीर अध्ययन हमें इस बातकी स्पष्ट सूचना देता है कि पदार्थ व्यवस्थामें इन दोनों दर्शनोंके आविष्कर्ताओंका लक्ष्य उपयोगिता वाद पर ही रहा है। इस लेखमें इसी बातको स्पष्ट करते हुए मैं जैन-दर्शनके उपयोगितावादपर अवलम्बित संसार तत्त्वके साथ सांख्य और वेदान्त दर्शनकी तत्त्व व्यवस्थाका समन्वय करनेका ही प्रयत्न करूंगा।

सांख्यका उपयोगिता वाद—

श्रीमद्भगवद्गीताका तेरहवां अध्याय सांख्य और वेदान्त दर्शनोंकी पदार्थ व्यवस्था उपयोगितावाद मूलक है, इसपर गहरा प्रकाश डालता है और इस अध्यायके निम्नलिखित श्लोक तो इस प्रकरणके लिए अधिक महत्त्वके हैं—

"इदं शरीरं कौन्तेय ! क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥"

इस श्लोकमें श्रीकृष्ण अर्जुनसे कह रहे हैं कि हे अर्जुन ! प्राणियोंके इस दृश्यमान शरीरका ही नाम क्षेत्र है और इसको जो समझ लेता है वह क्षेत्रज्ञ है।

"तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारी यतश्च यत्।
स च यो यत् प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥"

इस श्लोकमें श्रीकृष्णने अर्जुनको क्षेत्र रूप वस्तु, उसका स्वरूप और उसके कार्य तथा कारणका विभाग, इसी तरह क्षेत्रज्ञ और उसका प्रभाव इन सब बातोंको संक्षेपमें बतलानेकी प्रतिज्ञा की है।

"महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं, संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥"

इन दोनों श्लोकोंमें यह बतलाया गया है कि पञ्चभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त (प्रकृति), एकादश इन्द्रियां, इन्द्रियोंके पांच विषय तथा इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना और धृति इन सबको क्षेत्रके अन्तर्गत समझना चाहिये। यहां पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि पहिले श्लोकमें जब शरीरको ही क्षेत्र मान लिया गया है और पांचवे तथा छठे श्लोकोंमें क्षेत्रका ही विस्तार किया गया

है तो इन श्लोकोंका परस्पर सामञ्जस्य बिठलानेके लिए यही मानना उपयुक्त है कि उपर्युक्त विस्तार कार्य और कारणके रूपमें शरीरके ही अन्तर्गत किया गया है। इसका फलितार्थ यह है कि सांख्यदर्शनकी प्रकृति और पुरुष उभय तत्त्वमूलक सृष्टिका अर्थ भिन्न-भिन्न पुरुषके साथ संयुक्त प्रकृतिसे निष्पन्न उन पुरुषोंके अपने अपने शरीरकी सृष्टि ही ग्रहण करना चाहिये।

यह फलितार्थ हमें सरलताके साथ इस निष्कर्ष पर पहुंचा देता है कि सांख्य दर्शनकी पदार्थ व्यवस्था उपयोगितावाद मूलक ही है।

सांख्य सृष्टिक्रम—

सांख्य दर्शनकी मान्यतामें पुरुष नामका चेतनात्मक आत्मपदार्थ और प्रकृति नामका चेतना शून्य जड़ पदार्थ इस तरह दो अनादि मूल तत्त्व हैं, इनमेंसे पुरुष अनेक हैं और प्रकृति एक है। प्रत्येक पुरुषके साथ इस एक प्रकृतिका अनादि संयोग है, इस तरह यह एक प्रकृति नाना पुरुषोंके साथ संयुक्त होकर उन पुरुषोंमें पाये जाने वाले बुद्धि, अहंकार, आदि नाना रूप धारण कर लिया करती है अर्थात् प्रकृति जब तक पुरुषके साथ संयुक्त रहा करती है तब तक वह बुद्धि अहंकार आदि नानारूप है और जब इसका पुरुषके साथ हुए संयोगका अभाव हो जाता है, तब वह अपने स्वाभाविक एक रूपमें पहुंच जाती है। प्रकृतिका पुरुषके संयोगसे बुद्धि, अहंकार आदि नाना रूप हो जानेका नाम ही सांख्य दर्शनमें सृष्टि या संसार मान लिया गया है।

सांख्य दर्शनमें प्रकृतिका पुरुषके साथ संयोग होकर बुद्धि, अहंकार, आदि नाना रूप होनेकी परम्परा निम्न प्रकार बतलायी गयी है—"प्रकृति पुरुषके साथ संयुक्त होकर बुद्धि रूप परिणत हो जाया करती है यह बुद्धि अहंकार रूप परिणत हो जाया करती है और यह अहंकार भी पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, मन तथा पांच तन्मात्राएं इस प्रकार सोलह तत्त्व रूप परिणत हो जाया करता है। इन सोलह तत्त्वोंमें से पांच तन्मात्राएं अन्तिम पांच महाभूतका रूप धारण कर लिया करती हैं। इसका मतलब यह है कि प्राणियोंमें हमको जो पृथक् पृथक् बुद्धिका अनुभव होता है वह सांख्य दर्शनकी मान्यताके अनुसार उस उस पुरुषके साथ संयुक्त प्रकृतिका ही परिणाम है। प्राणियोंकी अपनी अपनी बुद्धि उनके अपने अपने अहंकारकी जननी है और उनका अपना अपना अहंकार भी उनकी अपनी अपनी ग्यारह ग्यारह प्रकारकी इन्द्रियोंको पैदा किया करता है, अहंकारसे ही शब्द तन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा, रूप तन्मात्रा, रस तन्मात्रा और गन्ध तन्मात्रा ये पांच तन्मात्राएं पैदा हुआ करती हैं और इन पांच तन्मात्राओंमेंसे एक एक तन्मात्रासे एक एक भूतकी सृष्टि होकर पांच स्थूल भूत निष्पन्न होते रहते हैं। यद्यपि सांख्य दर्शनकी मान्यताके अनुसार शब्द तन्मात्रासे आकाश तत्त्वकी, शब्द और स्पर्श तन्मात्राओंसे वायु तत्त्वकी, शब्द, स्पर्श और रूप तन्मात्राओंसे अग्नि तत्त्वकी, शब्द स्पर्श रूप और रस तन्मात्राओंसे जल तत्त्वकी और शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध तन्मात्राओंसे पृथ्वी तत्त्वकी सृष्टि हुआ करती है, परन्तु हमने ऊपर जो एक एक

तन्मात्रासे एक एक भूतकी सृष्टिका उल्लेख किया है वह उस उस भूतकी सृष्टिमें उस उस तन्मात्राकी प्रमुखताको ध्यानमें रख करके ही किया है और इस तरह जैन दर्शनकी इस विषयकी मान्यताके साथ इस मान्यताका समन्वय करनेमें सरलता हो जाती है।

दो समस्याएं—

सांख्य दर्शनकी इस मान्यताका जैनदर्शनकी मान्यताके साथ समन्वय करनेके पहिले यहां पर इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि सांख्य दर्शनमें मान्य सृष्टिके इस क्रममें उसके मूल आविष्कर्ताका अभिप्राय पांच स्थूल भूतोंसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तत्त्वोंको ग्रहण करनेका यदि है तो इस विषयमें यह बात विचारणीय होजाती है कि जब पुरुष नाना हैं और प्रत्येक पुरुषके साथ उल्लिखित एक प्रकृतिका अनादि संयोग है तो भिन्न भिन्न पुरुषके साथ संयुक्त प्रकृतिके विपरिणाम स्वरूप बुद्धि तत्त्वमें भी अनुभवगम्य नानात्व मानना अनिवार्य है और इस तरह अनिवार्य रूपसे नानात्वको प्राप्त बुद्धि तत्त्वके विपरिणाम स्वरूप अहंकार तत्त्वमें भी नानात्व, नाना अहंकार तत्त्वोंके विपरिणाम स्वरूप पांच ज्ञानेन्द्रियां पांच कर्मेन्द्रियां मन तथा पांच तन्मात्राएं इन सोलह प्रकारके तत्त्वोंमें भी पृथक् पृथक् रूपसे नानात्व और उक्त प्रकारसे नानात्त्वको प्राप्त इन सोलह प्रकारके तत्त्वोंमें अन्तर्भूत नाना पांच तन्मात्राओंके विपरिणाम स्वरूप पांचों महाभूतोंमें पृथक् पृथक् नानात्व स्वीकार करना अनिवार्य होजाता है। इनमेंसे भिन्न भिन्न पुरुषके साथ संयुक्त प्रकृतिसे भिन्न भिन्न प्राणीकी भिन्न भिन्न बुद्धिका, भिन्न भिन्न प्राणीकी भिन्न भिन्न बुद्धिसे उन प्राणियोंके अपने अपने अहंकारका और उन प्राणियोंके अपने अपने अहंकारसे उनकी अपनी अपनी ग्यारह ग्यारह प्रकारकी इन्द्रियों (पांच ज्ञानेन्द्रियों; पांच कर्मेन्द्रियों और मन) का सृजन यदि सांख्यके लिए अभीष्ट भी मान लिया जाय तो भी प्रत्येक प्राणीमें पृथक् पृथक् विद्यमान प्रत्येक अहंकार तत्त्वसे पृथक् पृथक् पांच पांच तन्मात्राओंका सृजन प्रसक्त होजाने के कारण एक एक प्रकारकी नाना तन्मात्राओंसे एक एक प्रचारके नाना भूतोंका सृजन प्रसक्त हो जायगा। अर्थात् नाना शब्द-तन्मात्राओंसे नाना आकाश तत्त्वोंका, नाना स्पर्श तन्मात्राओंसे नाना वायु तत्त्वोंका, नाना रूप तन्मात्राओंसे नाना अग्नि तत्त्वोंका, नाना रस तन्मात्राओंसे नाना जल तत्त्वोंका और नाना गन्ध तन्मात्राओंसे नाना पृथ्वी तत्त्वोंका सृजन मानना अनिवार्य होगा, जोकि सांख्य दर्शनके अभिप्रायके प्रतिकूल जान पड़ता है। इतना ही नहीं आकाश तत्त्वका नानात्व तो दूसरे दर्शनोंकी तरह सांख्य दर्शनको भी अभीष्ट नहीं होगा। पांच स्थूल भूतोंसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तत्त्वोंका अभिप्राय ग्रहण करनेमें एक आपत्ति यह भी उपस्थित होती है कि जब प्रकृति पुरुषसे संयुक्त होकर ही पूर्वोक्त क्रमसे पांच स्थूल भूतोंका रूप धारण करती रहती है तो जिसप्रकार बुद्धि, अहंकार और ग्यारह प्रकारकी इन्द्रियोंकी सृष्टि प्राणियोंसे पृथक् रूपमें नहीं जाती है

उसीप्रकार पांच महाभूत और उनकी कारणभूत पांच तन्मात्राओंकी सृष्टि भी प्राणियोंसे पृथक् रूपमें होना संभव नहीं हो सकता है।

ये आपत्तियां हमें इस निष्कर्षपर पहुंचा देती हैं कि सांख्यके पच्चीस तत्त्वोंमें गर्भित पांच स्थूल भूतोंसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पांच तत्त्वोंका अभिप्राय स्वीकार करना अव्यवस्थित और अयुक्त ही है इसलिए यदि श्रीमद्भगवद्गीताके आधारपर श्रीकृष्ण द्वारा स्वीकृत प्राणियोंके अपने अपने शरीरको ही क्षेत्र और प्रकृति से लेकर पंचभूत पर्यन्तके तत्त्वोंको इस शरीररूप क्षेत्रका ही विस्तार स्वीकार कर लिया जाय तो जिस प्रकार इतर वैदिक दर्शनोंमें शरीरको पंचभूतात्मक मान लिया गया है उसी प्रकार सांख्य दर्शनके सृष्टि क्रममें भी पांच स्थूल भूतोंसे तदात्मक शरीरका ही उल्लेख समझना चाहिये और ऐसा मान लेने पर पूर्वोक्त दोनों आपत्तियोंकी भी संभावना नहीं रह जाती है।

सांख्य और जैन तत्त्वोंका सामञ्जस्य—

जैनदर्शन और सांख्यदर्शन दोनोंमें से कौनसा दर्शन प्राचीन है और कौनसा अर्वाचीन है इसकी विवेचना न करते हुए हम इतना निश्चित तौरपर कहनेके लिए तैयार हैं कि इन दोनोंके मूलमें एक ही धाराकी छाप लगी हुई है। प्राणियोंका संसार कहांसे बनता है? इस विषयमें जैन और सांख्य दोनों दर्शनोंकी मान्यता समान है। इस विषयमें दोनों ही दर्शन दो अनादि मूल तत्त्व स्वीकार करके आगे बढ़े हैं। उन दोनों तत्त्वोंको सांख्य दर्शनमें जहां पुरुष और प्रकृति कहा जाता है वहां जैनदर्शनमें पुरुषको जीव (आत्मा) और प्रकृतिको अजीव (कार्मण वर्गणा) कहा गया है और सांख्यदर्शनमें पुरुषको तथा जैनदर्शनमें जीव (आत्मा) को समान रूपसे चित् शक्ति विशिष्ट, इसीप्रकार सांख्य दर्शनमें प्रकृतिको तथा जैनदर्शनमें अजीव (कार्माण वर्गणा) को समान रूपसे जड़ (अचित्) स्वीकार किया गया है। दोनों दर्शनोंकी यह मान्यता है कि उक्त दोनों तत्त्वोंके संयोगसे संसारका सृजन होता है, परन्तु सांख्य दर्शनकी मान्यताके अनुसार संसारके सृजनका अर्थ जहां जगत्के समस्त पदार्थोंकी सृष्टि ले लिया जाता है वहां जैन मान्यताके अनुसार संसारके सृजनका अर्थ सिर्फ प्राणीका संसार अर्थात् प्राणीके शरीरकी सृष्टि लिया गया है। यदि हम जैनदर्शनकी तरह सांख्य दर्शनकी दृष्टिसे भी पूर्वोक्त आपत्तियोंके भयसे संसारके सृजनका अर्थ प्राणीके शरीरकी सृष्टिको लक्ष्यमें रखते हुए आगे बढ़ें, तो कहा जासकता है कि इसके मूलमें जैन और सांख्य दोनों दर्शनोंकी अपेक्षासे सबसे पहिले बुद्धिको ही महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता है अर्थात् बुद्धि ही एक ऐसी वस्तु है जिसके सहारेसे प्राणी जगत्के चेतन और अचेतन पदार्थोंमें राग, द्वेष और मोह किया करता है सांख्य दर्शनके पच्चीस तत्त्वोंके अन्तर्गत अहंकार तत्त्वसे राग, द्वेष और मोह इन तीनोंका ही बोध करना चाहिये। राग, द्वेष और मोह रूप यह अहंकार ही प्राणीको शरीर परंपराके बंधनमें जकड़ देता है।

इतनी समानता रहते हुए भी बुद्धि और अहंकार इन दोनों तत्त्वोंकी उत्पत्तिके विषयमें सांख्य दर्शन और जैन दर्शनकी विल्कुल अलग अलग मान्यताएं हैं—सांख्य दर्शनकी मान्यता यह है कि प्रकृति ही पुरुषके साथ संयुक्त हो जाने पर बुद्धि रूप परिणत हो जाया करती है और यह बुद्धि अहंकार रूप हो जाती है। परन्तु जैन दर्शनकी मान्यता यह है कि प्रकृति अर्थात् कार्माण वर्गणाके संयोगसे पुरुष अर्थात् आत्माकी चित् शक्ति ही बुद्धिरूप परिणत हो जाया करती है और इस बुद्धिके सहारे जगत्के चेतन और अचेतन पदार्थोंके संसर्गसे वही चित् शक्ति राग, द्वेष और मोह स्वरूप अहंकारका रूप धारण कर लेती है। तात्पर्य यह है कि सांख्यदर्शनमें बुद्धि और अहंकार दोनों जहां प्रकृतिके विकार स्वीकार किये गये हैं वहां जैन दर्शनमें ये दोनों ही आत्माकी चित् शक्तिके विकार स्वीकार किये गये हैं। सांख्य दर्शनकी मान्यताके अनुसार यह अहंकार पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, मन तथा पांच तन्मात्राएं इस प्रकार सोलह तत्त्वोंके रूपमें परिणत हो जाया करता हैं और जैन दर्शनकी मान्यताके अनुसार आत्मा इसी अहंकारके सहारे एक तो शरीर रचनाके योग्य सामग्री प्राप्त करता है दूसरे उसके (आत्माके) चित् स्वरूपमें भी कुछ निश्चित विशेषताएं पैदा हो जाया करती हैं। इसका मतलब यह है कि आत्मा जगत्के पदार्थोंमें अहंकार अर्थात् राग, द्वेष और मोह करता हुआ शरीर निर्माणके पहिले पुद्गल परमाणुओंके पुञ्जरूप शरीर निर्माणकी सामग्री प्राप्त करता है इस सामग्रीको जैन दर्शनमें 'नोकर्मवर्गणा' नाम दिया गया है। शरीर निर्माणकी कारणभूत नोकर्म वर्गणारूप यह सामग्री सांख्य दर्शनकी पांच तन्मात्राओंकी तरह पांच भागोंमें बिभक्त हो जाती है क्योंकि जिस प्रकार वैदिक दर्शनोंमें शरीरको पांच भूतोंमें विभक्त कर दिया गया है उसी प्रकार जैन दर्शनमें भी शरीरके पांच हिस्से मान लिये गये हैं। शरीरका एक हिस्सा वह है जो प्राणीको स्पर्शका ज्ञान करानेमें सहायता करता है, दूसरा हिस्सा वह है जो उसे रसका ज्ञान करानेमें सहायता करता है, तीसरा हिस्सा वह है जो उसे गंधका ज्ञान करानेमें सहायता करता है, चौथा हिस्सा वह है जो उसे रूपका ज्ञान करानेमें सहायता करता है और पांचवां हिस्सा वह है जो उसे शब्दका ज्ञान करानेमें सहायता करता है। जैन दर्शनमें शरीरके इन पांचों हिस्सोंको क्रमसे स्पर्शन द्रव्येन्द्रिय, रसना द्रव्येन्द्रिय, घ्राण द्रव्येन्द्रिय, चक्षु द्रव्येन्द्रिय और कर्ण द्रव्येन्द्रिय इन नामोंसे पुकारा जाता है और शरीरके इन पांचों हिस्सोंकी सामग्री स्वरूप जो नोकर्म वर्गणा है उसको भी पांच भागोंमें निम्न प्रकारसे विभक्त किया जा सकता है। पहिली नोकर्म वर्गणा वह है जिससे प्राणीको स्पर्शका ज्ञान करनेमें सहायक स्पर्शन द्रव्येन्द्रियका निर्माण होता है इसको स्पर्शन-द्रव्येन्द्रिय नोकर्मवर्गणा अथवा स्पर्श नोकर्मवर्गणा नामसे पुकारा जा सकता है, दूसरी नोकर्मवर्गणा वह है जिससे प्राणीको रसका ज्ञान करनेमें सहायक रसना द्रव्येन्द्रियका निर्माण होता है इसको रसना द्रव्येन्द्रिय नोकर्म वर्गणा अथवा रसना नोकर्म वर्गणा नामसे पुकारा जा सकता है, तीसरी नोकर्म वर्गणा वह है जिससे प्राणीको गन्धका ज्ञान करनेमें सहायक घ्राण द्रव्येन्द्रियका निर्माण होता है इसको घ्राण द्रव्येन्द्रिय नोकर्म वर्गणा अथवा गन्ध नोकर्मवर्गणा नामसे

पुकारा जा सकता है, चौथी नोकर्मवर्गणा वह है जिससे प्राणीको रूपका ज्ञान करनेमें सहायक चक्षुर्द्रव्येन्द्रियका निर्माण होता है इसको चक्षुर्द्रव्येन्द्रिय नोकर्मवर्गणा अथवा रूप नोकर्मवर्गणा नामसे पुकारा जा सकता है और पांचवीं नोकर्मवर्गणा वह है जिससे प्राणीको शब्दका ज्ञान करनेमें सहायक कर्ण द्रव्येन्द्रियका निर्माण होता है इसको कर्ण द्रव्येन्द्रिय नोकर्म वर्गणा अथवा शब्द नोकर्म वर्गणा नामसे पुकारा जा सकता है। इस तरह विचार करनेपर मालूम पड़ता है कि सांख्यदर्शनकी पांच तन्मात्राओं और जैन दर्शनकी पांच नोकर्मवर्गणाओंमें सिर्फ नामका सा ही भेद है अर्थका भेद नहीं है, क्यों कि जिस प्रकार जैन दर्शनमें प्राणीके शरीरकी अवयवभूत पांच स्थूल द्रव्येन्द्रियोंके उपादान कारण स्वरूप सूक्ष्म पुद्गल परमाणु पुञ्जोंको नोकर्मवर्गणा नामसे पुकारा गया है उसी प्रकार सांख्यदर्शनमें पूर्वोक्त प्रकारसे प्राणीके शरीरके अवयवभूत पांच स्थूल भूतोंके उपादान कारण स्वरूप सूक्ष्म परमाणु पुञ्जोंको ही तन्मात्रा नामसे पुकारा जाता है। तात्पर्य यह है कि उस उस स्थूल भूतके उपादान कारण स्वरूप सूक्ष्म परमाणु पुञ्जोंको ही सांख्य दर्शनमें उस उस तन्मात्रा शब्दसे व्यवहृत किया जाता है और पांचों स्थूल भूत पूर्वोक्त प्रकारसे प्राणीके स्थूल शरीरके अवयव ही सिद्ध होते हैं। इसलिए शरीरके अवयवभूत आकाश तत्त्व अर्थात् प्राणीको शब्द ग्रहणमें सहायक स्थूल कर्मेन्द्रियके उपादान कारणभूत सूक्ष्म परमाणु पुञ्जोंको ही शब्द तन्मात्रा, शरीरके अवयवभूत वायुतत्त्व अर्थात् प्राणीको स्पर्श ग्रहणमें सहायक स्थूल स्पर्शनेन्द्रियके उपादान कारणभूत सूक्ष्म परमाणु पुञ्जोंको ही स्पर्श तन्मात्रा, शरीरके अवयवभूत जलतत्त्व अर्थात् प्राणीको रस ग्रहणमें सहायक स्थूल रसनेन्द्रियके उपादान कारणभूत सूक्ष्मपरमाणु पुञ्जोंको ही रस तन्मात्रा, शरीरके अवयवभूत अग्नितत्त्व अर्थात् प्राणीको रूप ग्रहणमें सहायक स्थूल चक्षुरिन्द्रियके उपादान कारणभूत सूक्ष्मपरमाणु पुञ्जोंको ही रूप तन्मात्रा और शरीरके अवयवभूत पृथ्वीतत्त्व अर्थात् प्राणीको गंध ग्रहणमें सहायक स्थूल घ्राणेन्द्रियके उपादान कारणभूत सूक्ष्मपरमाणु पुंजोंको ही गन्ध तन्मात्रा मान लेना चाहिये। तन्मात्रा शब्दके साथ जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध शब्द जुड़े हुए हैं वे उक्त अर्थका ही संकेत करनेवाले हैं।

इस प्रकार पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, पांच तन्मात्रा, और पांच स्थूल भूत इन चौदह तत्त्वोंका जैनदर्शनकी मान्यताके साथ सामंजस्य बतलानेके बाद सांख्य दर्शनके ग्यारह तत्त्व (पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां और मन) और शेष रहजाते है। जिनके विषयमें जैनदर्शनके मंतव्यको जाननेकी आवश्यकता है।

जैनदर्शनमें आत्माकी चित् शक्तिको बुद्धि तथा अहंकारके अलावा और भी दस हिस्सोंमें विभक्त कर दिया गया है और इन दस हिस्सोंका पांच लब्धीन्द्रियों और पांच उपयोगेन्द्रियों के रूपमें वर्गीकरण करके स्पर्श लब्धीन्द्रिय और स्पर्शनोपयोगेन्द्रिय, रसनालब्धीन्द्रिय और रसनोपयोगेन्द्रिय, घ्राणलब्धीन्द्रिय और घ्राणोपयोगेन्द्रिय, चक्षुर्लब्धीन्द्रिय और चक्षुरुपयोगेन्द्रिय, तथा कर्णलब्धीन्द्रिय और कर्णोपयोगेन्द्रिय इसप्रकार उनका नामकरण करदिया गया है। सांख्य दर्शनमें ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंमें जिन

दस इन्द्रियोंको गिनाया गया है उन दस इन्द्रियोंको ही यद्यपि जैनदर्शनमें उक्त लब्धीन्द्रियोंमें नहीं लिखा गया है परन्तु सांख्य दर्शनके ज्ञानेन्द्रिय पदका जैनदर्शनके लब्धोन्द्रिय पदके साथ और सांख्य दर्शन के कर्मेन्द्रिय पदका जैनदर्शनके उपयोगेन्द्रिय पदके साथ साम्य अवश्य है; क्योंकि लब्धीन्द्रिय पदमें पठित लब्धिशब्दका ज्ञान और उपयोगेन्द्रिय पदमें पठित उपयोग शब्दका व्यापार अर्थात् क्रिया अथवा कर्म अर्थ करनेपर भी जैनदर्शनका अभिप्राय अक्षुण्ण बना रहता है। और यदि सांख्य दर्शनके पांच भूतोंसे प्राणीके शरीरकी अवयवभूत पांच स्थूल इन्द्रियोंका अभिप्राय ग्रहण कर लिया जाता है तो फिर जैनदर्शन की तरह सांख्य दर्शनमें भी पांच ज्ञानेन्द्रियोंसे पांच लब्धीन्द्रियों तथा पांच कर्मेन्द्रियोंसे पांच उपयोगेन्द्रियोंका अभिप्राय ग्रहण करना ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है। बुद्धि और अहंकारका आधार स्थल जैनदर्शनमें मनको माना गया है और इसे भी प्राणीके शरीरका अन्तरंग हिस्सा कहा जासकता है तथा इस मान्यताका सांख्य दर्शनके साथ भी कोई विशेष विरोध नहीं है।

एक बात जो यहां स्पष्ट करनेके लिए रह जाती है वह यह है कि सांख्य दर्शनकी पांच ज्ञानेन्द्रियों के स्थानपर जैनदर्शनकी पांच लब्धीन्द्रियोंकी, पांच कर्मेन्द्रियोंके स्थानपर पांच उपयोगेन्द्रियोंकी और पांच भूतोंके स्थान पर शरीरके अवयवभूत पांच द्रव्येन्द्रियोंकी जो मान्यताएं बतलायी गयी हैं उनकी सार्थकता क्या है ?

इसके लिए इतना लिखना ही पर्याप्त है कि स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्दका ज्ञान करनेकी आत्मशक्ति का नाम लब्धीन्द्रिय है इसके विषयभेदकी अपेक्षा स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पांच भेद होजाते हैं। उक्त आत्मशक्तिका पदार्थज्ञानरूप व्यापार अर्थात् पदार्थज्ञान रूप परिणतिका नाम उपयोगेन्द्रिय है। इसके भी उक्त प्रकारसे विषय भेदकी अपेक्षा पांच भेद हो जाते हैं। इसके साथ साथ उक्त आत्मशक्तिकी पदार्थज्ञानपरिणतिमें सहायक निमित्त शरीरके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पांच अवयव हैं इन्हें ही जैनदर्शनमें द्रव्येन्द्रिय नाम दिया गया है।

इसप्रकार जब हम सांख्य दर्शनकी पच्चीस तत्त्ववाली मान्यताके बारेमें जैनदर्शनके दृष्टिकोणके आधारपर समन्वयात्मक पद्धतिसे विचार करते हैं तो सांख्य और जैन दोनोंके बीच बड़ा भारी साम्य पाते हैं। इसके साथ ही यह बात भी बिल्कुल साफ होजाती है कि सांख्य दर्शनकी यह मान्यता जैन-दर्शनकी तरह उपयोगिता-वाद मूलक है, अस्तित्व-वाद मूलक नहीं।

वेदान्त दर्शनसे समन्वय—

पुरुष और प्रकृतिको आदि देकर बुद्धि, आदि तत्त्वोंकी सृष्टि परंपरा सांख्य-दर्शनकी तरह वेदान्त दर्शनको भी अभीष्ट है। सिर्फ इन दोनों दर्शनोंकी मान्यता में परस्पर यदि कुछ भेद है तो वह यह है कि वेदान्त दर्शन पुरुष और प्रकृतिके मूलमें एक, नित्य और व्यापक सत्, चित् और आनन्दमय पर-

ब्रह्म नामक तत्त्वको भी स्वीकार करता है। इस कथनका यह अर्थ है कि सांख्य दर्शनकी तरह वेदान्त दर्शन की तत्त्व विचारणा भी प्राणियोंके पञ्च महाभूतात्मक स्थूल शरीरके निर्माण तक ही सीमित है अर्थात् वेदान्त दर्शनकी तत्त्व विचारणामें भी सांख्य दर्शनकी तरह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तत्त्वोंकी सृष्टिका समावेश नहीं किया गया है; क्योंकि सांख्य दर्शनकी तत्त्व मान्यतामें भी पंचभूतका अर्थ पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ग्रहण करने से पूर्वोक्त बाधाएं आ खड़ी होती हैं।

सृष्टिके मूलभूत वेदान्त दर्शनके परब्रह्म नामक तत्त्वके विषयमें जैनदर्शनकी आध्यात्मिक मूल मान्यताके साथ समन्वयात्मक पद्धतिसे विचार करनेपर इन दोनोंके साम्यका स्पष्ट बोध होजाता है—

पूर्वोक्त कथनसे इतना तो स्पष्ट होजाता है कि प्रकृति और पुरुषको आदि देकर जो संसारका सृजन होता है उसके विषयमें सांख्य, वेदान्त और जैन तीनों दर्शनोंका प्राणीके शरीरकी सृष्टिके रूपमें समान दृष्टिकोण मान लेना आवश्यक है। परंतु वेदान्त दर्शनमें प्रकृति और पुरुषके मूलमें जो परब्रह्म नामक तत्त्व माना गया है उसका भी जैनदर्शन विरोध नहीं करता है। इसका आशय यह है कि जैन-दर्शनके आध्यात्मिक दृष्टिकोणका प्रधान पात्र आत्मा ही माना गया है; क्योंकि आत्मा प्रकृति अर्थात् कर्म वर्गणासे संबद्ध होकर पूर्वोक्त पांच प्रकारकी नोकर्म वर्गणाओं द्वारा निर्मित पंचभूतात्मक शरीरसे संबन्ध स्थापित करता हुआ जन्म-मरण परम्परा एवं सुख-दुःख परंपराके जालमें फंसा हुआ है। इसकी यह अवस्था पराधीन और दयनीय मान ली गयी है इसलिए इससे छुटकारा पाकर आत्माका स्वतंत्र स्वाभाविक स्थायी स्थितिको प्राप्त कर लेना दर्शनके आध्यात्मिक दृष्टिकोणका उद्देश्य है। जैनदर्शनमें भी वेदान्त दर्शनके परब्रह्मकी तरह आत्माको सत्, चित् और आनन्दमय स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त ज्ञाता, दृष्टा और अनन्त शक्तिसंपन्न भी उसे जैनदर्शनमें माना गया है और यह नित्य (सर्वदा स्थायी) है अर्थात् भिन्न-भिन्न अवस्थाओंके बदलते हुए भी इसका मूलतः कभी नाश नहीं होता है। ऐसा आत्मा ही अपनी वैभाविक शक्तिके द्वारा प्रकृतिके साथ संबद्ध होकर संसारी बना हुआ है। यह संसारी आत्मा जब मुमुक्षु हो जाता है तो अपने शुद्ध स्वरूपको लक्ष्यमें रखता हुआ बहिर्गत पदार्थोंके संसारको धीरे धीरे नष्ट करके शुद्ध वेदान्ती (जैनदर्शनकी दृष्टिमें आत्मस्थ) होजाता है और तब वह अपने वर्तमान शरीरके छूटनेपर मुक्त अर्थात् सत्-चित्-आनन्दमय अपने स्वरूपमें लीन होजाता है। वेदान्त दर्शनका परब्रह्म भी अपनी माया शक्तिके द्वारा प्रकृतिके साथ संबद्ध होकर संसारी बनता है और वह मुमुक्षु होकर जब बहिर्गत पदार्थोंसे पूर्णतः अपना संबन्ध विच्छेद करके आत्मस्थ होजाता है तब वर्तमान शरीरके छूट जानेपर सत्-चित्-आनन्दमय परब्रह्मके स्वरूपमें लीन होजाता है। इसप्रकार इस प्रक्रियामें तो जैनदर्शनका वेदान्त दर्शनके साथ वैमत्य नहीं हो सकता है। केवल वेदान्त दर्शनको मान्य परब्रह्मकी व्यापकता और एकमें ही नाना जीवोंकी उपादान

कारणताके संबन्धमें जैनदर्शनका वैमत्य रह जाता है। लेकिन इससे वेदान्त दर्शनकी तत्त्व मान्यताकी उपयोगितावाद मूलकतामें कोई अन्तर नहीं आता है।

शंका—यदि सांख्य और वेदान्त दर्शनोंको मान्य पदार्थ व्यवस्थामें पंच भूतका अर्थ पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश नहीं तो इसका मतलब यह है कि ये दोनों दर्शन उक्त पांचों तत्त्वोंके अस्तित्वको मानना नहीं चाहते हैं। लेकिन अदृश्य होनेके सबबसे आकाश तत्त्वके अस्तित्वको यदि न भी माना जाय तो भी पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चारों दृश्य तत्त्वोंके अस्तित्वको कैसे अस्वीकृत किया जा सकता है?

समाधान—ऊपरके कथनका यह अर्थ नहीं है कि सांख्य और वेदान्त दर्शनोंको पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तत्त्वोंकी सत्ता ही अभीष्ट नहीं है। इसका अर्थ तो सिर्फ इतना है कि इन दोनों दर्शनोंके मूल-आविष्कर्ताओंने उक्त पांचों तत्त्वोंको स्वीकार करके भी अपनी पदार्थ व्यवस्थामें उनको इसलिए स्थान नहीं दिया है कि पदार्थ व्यवस्थामें उक्त दोनों दर्शनोंकी दृष्टि उपयोगिता वाद मूलक ही रही है इसलिए इन पांचों तत्त्वोंका आत्म कल्याणमें कुछ भी उपयोग न होनेके कारण इन दोनों दर्शनों की पदार्थ व्यवस्थामें इनको स्थान नहीं मिल सका है। लेकिन किसी भी वस्तुका विवेचन न करने मात्रसे उसका यह निष्कर्ष निकाल लेना अनुचित है कि अमुकको अमुक वायुकी सत्ता ही मान्य नहीं है। साथ ही श्रीमद्भगवद्गीताके तेरहवें अध्यायके निम्न लिखित श्लोकपर ध्यान देनेसे यह पता चलता है कि सांख्य और वेदान्त दर्शनोंमें अदृश्य आकाश तत्त्वका पुरुष और प्रकृति अथवा पर-ब्रह्मसे स्वतंत्र अनादि अस्तित्व स्वीकार किया गया है—

"यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥ ३२॥"

इस श्लोकका अर्थ यह है कि जिस प्रकार सर्वगत होकर भी सूक्ष्मताकी वजहसे आकाश किसीके साथ उपलिप्त नहीं होता है उसी प्रकार (सांख्य मतानुसार) सब जगह अवस्थित आत्मा (पुरुष) और (वेदान्त-मतानुसार) सब जगह रहने वाला आत्मा (परब्रह्म) भी देहके साथ उपलिप्त नहीं होता है।

यहां पर सांख्य मतानुसार पुरुष और वेदान्त मतानुसार परब्रह्म स्वरूप आत्माकी निर्लेपता को सिद्ध करनेके लिए सर्वगत और सूक्ष्म आकाश तत्त्वका उदाहरण पेश किया गया है। परंतु प्रकरण को देखते हुए उक्त स्वरूप आकाश तत्त्वका पुरुष और प्रकृति अथवा परब्रह्मसे अतिरिक्त जब तक अनादि अस्तित्व नही स्वीकार कर लिया जाता है तब तक उसे उक्त स्वरूप आत्माकी निर्लेपता सिद्ध करनेमें दृष्टान्त रूपसे कैसे उपस्थित किया जा सकता है?

इस प्रकार जब सांख्य और वेदान्त दर्शन आकाशको स्वतंत्र अनादि पदार्थ स्वीकार कर लेते हैं तो उन्हींकी मान्यताके अनुसार उसकी प्रकृति अथवा परब्रह्मसे उत्पत्ति कैसे मानी जा सकती है ? तथा जिस प्रकार उक्त दोनों की दृष्टिमें आकाश स्वतंत्र पदार्थ है ? उसी प्रकार उक्त आपत्तियोंकी वजहसे पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुको भी प्रकृति और पुरुष अथवा पर ब्रह्मसे पृथक् स्वतंत्र पदार्थ मानना ही उचित है ।

उपसंहार—

उपर्युक्त विवेचनसे यह बात विल्कुल स्पष्ट हो जातो है कि सांख्य और वेदांत दोनों दर्शनों की तत्त्व विचारणामें जिन पांच स्थूल भूतोंका उल्लेख किया गया है वे जैन दर्शनमें वर्णित प्राणीके शरीरकी अवयवभूत पांच स्थूल इद्रियोंके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं हैं । इसी प्रकार पांच तन्मात्राएं उक्त इन्द्रियोंकी उपादान कारणभूत पांच नोकर्म वर्गणाओंके अतिरिक्त, पांच ज्ञानेन्द्रियों पांच लब्धीन्द्रियोंके अतिरिक्त और पांच कर्मेन्द्रियां पांच उपयोगेंद्रियोंके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु तर्क संगत नहीं रहती है । इनके अतिरिक्त जैनदर्शन तथा नैयायिक आदि दूसरे वैदिक दर्शनोंमें जिन स्वतंत्र पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तत्त्वोंका विवेचन पाया जाता है उन पांचों तत्त्वों का सांख्य तथा वेदान्त दोनों हो दर्शनोंमें निषेध नहीं किया गया है। अर्थात् दोनों ही दर्शनोंको उनकी तत्त्व व्यवस्थामें आये हुए तत्वोंके अतिरिक्त उन तत्त्वोंकी स्वतंत्र सत्ता अभीष्ट है । केवल उन तत्त्वोंको उन दोनों दर्शनोंने अपनी तत्त्व व्यवस्थामें इसलिए स्थान नहीं दिया है कि उन तत्त्वों का वस्तु स्थिति वादसे ही उपयुक्त संबंध बैठता है सांख्य और वेदान्त दर्शनोंके आधार भूत अध्यात्म वादसे उनका कोई संबंध नहीं । स्पष्ट है कि सांख्य और वेदान्त दर्शनोंकी जैन दर्शनके उपयोगिता वाद (अध्यात्म वाद) के साथ काफी समानता है । इसी तरह यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि नैयायिक और वैशेषिक दर्शनोंकी जैन दर्शनके अस्तित्ववाद (वस्तुस्थिति वाद) के साथ काफी समानता है ।

जैन प्रमाण चर्चामें--

आचार्य कुन्दकुन्दकी देन

श्री प्रा० दलसुख मालवणिया

प्रास्ताविक--

आचार्य कुन्दकुन्दने अपने ग्रन्थोंमें स्वतन्त्र भावसे प्रमाणकी चर्चा तो नहीं की है और न उमास्वातिकी तरह शब्दतः पांच ज्ञानोंको प्रमाण संज्ञा ही दी है। फिर भी ज्ञानोंका जो प्रासाङ्गिक वर्णन है वह दार्शनिकोंकी प्रमाण-चर्चासे प्रभावित है हो। अतएव ज्ञान चर्चाको ही प्रमाण चर्चा मान कर प्रस्तुतमें वर्णन किया जाता है। यह तो किसोसे छिपा हुआ नहीं है कि वाचक उमास्वातिकी ज्ञान-चर्चासे आचार्य कुन्दकुन्दकी ज्ञानचर्चामें दार्शनिक मौलिकताकी मात्रा अधिक है। यह बात आगेकी चर्चासे स्पष्ट हो सकेगी।

अद्वैतदृष्टि--

आचार्य कुन्दकुन्दका श्रेष्ठ ग्रन्थ समयसार है। उसमें उन्होंने तत्त्वोंका विवेचन निश्चय दृष्टिका अवलम्बन लेकर किया है। खास उद्देश्य तो है आत्माके निरुपाधिक शुद्धस्वरूपका प्रतिपादन; किंतु उसीके लिए अन्य तत्त्वोंका भी पारमार्थिक रूप बतानेका आचार्यने प्रयत्न किया है। आत्माके शुद्ध स्वरूपका वर्णन करते हुए आचार्यने कहा है कि व्यवहार-दृष्टिके आश्रयसे यद्यपि आत्मा और उसके ज्ञानादि गुणोंमें पारस्परिक भेदका प्रतिपादन किया जाता है। फिर भी निश्चय दृष्टिसे इतना ही कहना पर्याप्त है कि जो ज्ञाता है वही आत्मा है, या आत्मा ज्ञायक है, अन्य कुछ भी नहीं[१]। इस प्रकारकी अभेद गामिनी दृष्टिने आत्माके सभी गुणोंका अभेद ज्ञान गुणमें कर दिया है और अन्यत्र स्पष्टतया समर्थन भी किया है कि सम्पूर्ण ज्ञान ही ऐकान्तिक सुख है[२]। इतना ही नहीं किंतु द्रव्य और गुणमें अर्थात् ज्ञान और ज्ञानीमें भी कोई भेद नहीं है ऐसा प्रतिपादन किया है[३]। उनका कहना है कि आत्मा कर्ता हो, ज्ञान करण हो यह बात भी नहीं, किंतु "जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा[४]।"

---

१ समयसार ६, ७।

२ प्रवचन० ५९, ६०।

३ समयसार १०, ११, ४३३। पंचा० ४०, ४९।

४ प्रवचन० १, ३५।

उन्होंने आत्माको ही उपनिषदकी भाषामें सर्वस्व बताया है और उसीका अवलम्बन मुक्ति है ऐसा प्रतिपादन किया है[1]।

आचार्य कुन्दकुन्दकी अभेद दृष्टिको इतनेसे भी संतोष नहीं हुआ। उनके सामने विज्ञानाद्वैत तथा आत्माद्वैतका भी आदर्श था। विज्ञानाद्वैत वादियोंका कहना है कि ज्ञानमें ज्ञानातिरिक्त बाह्य पदार्थोंका प्रतिभास नहीं होता, 'स्व'का ही प्रतिभास होता है। ब्रह्माद्वैतका भी यही अभिप्राय है कि संसारमें ब्रह्मातिरिक्त कुछ नहीं है। अतएव सभी प्रतिभासोंमें ब्रह्म ही प्रतिभासित होता है।

इन दोनों मतोंके समन्वयकी दृष्टिसे आचार्यने कह दिया कि निश्चयदृष्टिसे केवलज्ञानी आत्माको ही जानता है; बाह्य पदार्थोंको नहीं[2]। ऐसा कह करके तो आचार्यने जैनदर्शन और अद्वैतवादका अन्तर बहुत कम कर दिया है और जैनदर्शनको अद्वैतवादके निकट रख दिया है। आचार्य कुंदकुंदकृत सर्वज्ञकी उक्त व्याख्या अपूर्व है और उन्हींके कुछ अनुयायियों तक सीमित रही है। दिगम्बर जैन दार्शनिक अकलंकादिने भी इसे छोड़ ही दिया है।

ज्ञानकी स्वपर प्रकाशकता—

दार्शनिकोंमें यह एक विवादका विषय रहा है कि ज्ञानको स्वप्रकाशक, परप्रकाशक या स्वपर-प्रकाशक माना जाय। वाचकने इस चर्चाको ज्ञानके विवेचनमें छेड़ा ही नहीं है। सम्भवतः आचार्य कुन्दकुन्द ही प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने बौद्ध-वेदान्त सम्मत ज्ञानकी स्वपर-प्रकाशकतापरसे इस चर्चाका सूत्रपात जैनदर्शनमें किया। आ० कुन्दकुन्दके बादके सभी आचार्योंने आचार्यके इस मन्तव्यको एक स्वरसे माना है।

आचार्यकी इस चर्चाका सार नीचे दिया जाता है जिससे उनकी दलीलोंका क्रम ध्यानमें आ जायगा—(नियमसार १६०-१७०)

प्रश्न—यदि ज्ञानको परद्रव्यप्रकाशक, दर्शनको स्वद्रव्यका (जीवका) प्रकाशक और आत्माको स्वपरप्रकाशक माना जाय तब क्या दोष है? (१६०)

उत्तर—यही दोष है कि ऐसा मानने पर ज्ञान और दर्शनका अत्यन्त वैलक्षण्य होनेसे दोनोंको अत्यन्त भिन्न मानना पड़ेगा। क्योंकि ज्ञान तो परद्रव्यको जानता है, दर्शन नहीं। (१६१)

दूसरी आपत्ति यह है कि स्व-परप्रकाशक होनेसे आत्मा तो परका भी प्रकाशक है अतएव वह दर्शनसे जो कि परप्रकाशक नहीं है, भिन्न ही सिद्ध होगा। (१६२)

अतएव मानना यह चाहिए कि ज्ञान व्यवहार नयसे परप्रकाशक है और दर्शन भी। आत्मा भी व्यवहारनयसे ही परप्रकाशक है और दर्शन भी (१६३)

---

१. समयसार १६-२१। नियमसार ९५-१००

२. नियमसार १५७।

किंतु निश्चयनयकी अपेक्षासे ज्ञान स्वप्रकाशक है और दर्शन भी। तथा आत्मा स्वप्रकाशक है और दर्शन भी (१६४)

प्रश्न—यदि निश्चयनयको ही स्वीकार किया जाय और कहा जाय कि केवलज्ञानी आत्म स्वरूपको ही जानता है, लोकालोकको नहीं तब क्या दोष है? (१६५)

उत्तर—जो मूर्त-अमूर्तको, जीव-अजीवको, स्व और सभीको जानता है उसके ज्ञानको अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा जाता है। और जो पूर्वोक्त सकल द्रव्योंको उनके नाना पर्यायोंके साथ नहीं जानता उसके ज्ञानको परोक्ष कहा जाता है। अतएव यदि एकान्त निश्चयनयका आग्रह रखा जाय तब केवलज्ञानीको प्रत्यक्ष नहीं किंतु परोक्ष ज्ञान होता है यह मानना पड़ेगा। (१६६-१६७)

प्रश्न—और यदि व्यवहारनयका ही आग्रह रखकर ऐसा कहा जाय कि केवलज्ञानी लोकालोकको तो जानता है किंतु स्वद्रव्य आत्माको नहीं जानता तब क्या दोष होगा? (१६८)

उत्तर—ज्ञान ही तो जीवका स्वरूप है। अतएव परद्रव्यको जाननेवाला ज्ञान स्वद्रव्य आत्माको नहीं जाने यह कैसे संभव है? और यदि ज्ञान स्वद्रव्य आत्माको नहीं जानता है ऐसा आग्रह हो तब यह मानना पड़ेगा कि ज्ञान जीव-स्वरूप नहीं किंतु उससे भिन्न है। वस्तुतः देखा जाय तो ज्ञान ही आत्मा है और आत्मा ही ज्ञान है अतएव व्यवहार और निश्चय दोनोंके समन्वयसे यही कहना उचित है कि ज्ञान स्वपरप्रकाशक है और दर्शन भी। (१६९-१७०)

सम्यग्ज्ञान—

वाचक उमास्वातिने सम्यग्ज्ञानका अर्थ किया है अव्यभिचारि, प्रशस्त और संगत। किंतु आचार्य कुन्दकुन्दने सम्यग्ज्ञानकी जो व्याखया की है उसमें दार्शनिक प्रसिद्ध समारोपका व्यवच्छेद अभिप्रेत है। उन्होंने कहा है—

"संसय बिमोह विब्भम विवज्जियं होदि सण्णाणं[1]॥"

अर्थात्—संशय, विमोह और विभ्रमसे वर्जित ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।

एक दूसरी बात भी ध्यान देने योग्य है, खासकर बौद्धादि दार्शनिकोंने सम्यग्ज्ञानके प्रसङ्गमें हेय और उपादेय शब्दका प्रयोग किया है। आचार्य कुन्दकुन्द भी हेयोपादेय तत्त्वोंके अधिगमको सम्यग्ज्ञान कहते हैं।[2]

स्वभाव और विभावज्ञान—

वाचकने सर्वपरम्पराके अनुसार मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ज्ञानोंको क्षायोपशमिक

---

१ नियमसार ५१

२. "अधिगमभावो णाणं हेयोपादेयतच्चाणं।" नियमसार ५२। सुत्तपाहुड ५। नियमसार ३८।

और केवल ज्ञानको क्षायिक कहा है किंतु आचार्य कुंदकुंदके दर्शनकी विशेषता यह है कि वे सर्वगम्य परिभाषाका उपयोग करते हैं। अतएव उन्होंने क्षायोपशमिक ज्ञानोंके लिए विभावज्ञान और क्षायिक ज्ञानके लिए स्वभावज्ञान इन शब्दोंका प्रयोग किया है[1]। उनकी व्याख्या है कि कर्मोपाधि वर्जित जो पर्याय हों वे स्वाभाविक पर्याय हैं और कर्मोपाधिक जो पर्याय हों वे वैभाविक पर्याय हैं[2]। इस व्याख्याके अनुसार शुद्ध आत्माका ज्ञानोपयोग स्वभावज्ञान है और अशुद्ध आत्माका ज्ञानोपयोग विभावज्ञान है।

प्रत्यक्ष-परोक्ष—

आचार्य कुंदकुंदने पूर्व परम्परासे आगत प्राचीन आगमिक व्यवस्थाके अनुसार ही ज्ञानोंमें प्रत्यक्षत्व-परोक्षत्वकी व्यवस्था की है। पूर्वोक्त स्व-पर प्रकाशकी चर्चाके प्रसङ्गमें प्रत्यक्ष-परोक्ष ज्ञानकी जो व्याख्या दी गयी है वह प्रवचनसार (१-४०,४१, ५४-५८) में भी है। किंतु प्रवचनसारमें उक्त व्याख्याओंको युक्तिसे भी सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। इनका कहना है कि दूसरे दार्शनिक इन्द्रिय जन्य ज्ञानोंको प्रत्यक्ष मानते हैं किंतु वह प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? क्यों कि इन्द्रियां तो अनात्म-रूप होनेसे परद्रव्य हैं। अतएव इन्द्रियोंके द्वारा उपलब्ध वस्तुका ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इन्द्रिय जन्य ज्ञानके लिए परोक्ष शब्द ही उपयुक्त है। क्यों कि परसे होनेवाले ज्ञान ही को तो परोक्ष कहते हैं[3]।

ज्ञप्तिका तात्पर्य—

ज्ञानद्वारा अर्थ जाननेका मतलब क्या है? क्या ज्ञान अर्थ रूप होजाता है अर्थात् ज्ञान और ज्ञेयका भेद मिट जाता है? या जैसा अर्थका आकार होता है वैसा आकार ज्ञानका हो जाता है? या ज्ञान अर्थमें प्रविष्ट हो जाता है? या अर्थ ज्ञानमें प्रविष्ट हो जाता है? या ज्ञान अर्थसे उत्पन्न होता है? इन प्रश्नोंका उत्तर आचार्यने अपने ढंगसे देनेका प्रयत्न किया है।

आचार्यका कहना है कि ज्ञानी ज्ञान स्वभाव है और अर्थ ज्ञेय स्वभाव। अतएव भिन्न 'स्व' वाले ये दोनों स्वतन्त्र हैं एककी वृत्ति दूसरेमें नहीं है[4]। ऐसा कह करके वस्तुतः आचार्यने यह बताया है कि संसारमें मात्र विज्ञानाद्वैत नहीं,बाह्य अर्थ भी है। उन्होंने दृष्टान्त दिया है कि जैसे चक्षु अपनेमें रूपका प्रवेश न होने पर भी रूपको जानती है वैसे ही ज्ञान बाह्यार्थोंको विषय करता है[5]। दोनोंमें विषय-विषयीभाव रूप सम्बन्धको छोड़कर और कोई सम्बन्ध नहीं। अर्थोंमें ज्ञान है इसका तात्पर्य बतलाते हुए आचार्यने इन्द्रनील मणिका दृष्टान्त दिया है और कहा है कि जैसे दूधके बर्तनमें रखी हुई इन्द्रनील मणि अपनी दीप्तिसे

१, नियमसार १०, ११, १२।

२, नियमसार १५।

३, प्रवचनसार ५७, ५८

४. प्रवचन. १-२८।

५. प्रवचन. १-२८, २९।

दूधके रूपका अभिभव करके उसमें रहती है वैसे ज्ञान भी अर्थोंमें है। तात्पर्य यह है दूधगत मणि स्वयं द्रव्यतः संपूर्ण दूधमें व्याप्त नहीं है, फिर भी उसकी दीप्तिके कारण समस्त दूध नीलवर्ण दिखायी देता है। इसीप्रकार ज्ञान संपूर्ण अर्थमें द्रव्यतः व्याप्त नहीं होता है तथापि विचित्र शक्तिके कारण अर्थको जान लेता है इसीलिए अर्थमें ज्ञान है ऐसा कहा जाता है[1]। इसीप्रकार, यदि अर्थमें ज्ञान है तो ज्ञानमें भी अर्थ है यह भी मानना उचित है। क्योंकि यदि ज्ञानमें अर्थ नहीं तो ज्ञान किसका होगा[2]? इसप्रकार ज्ञान और अर्थका परस्पर प्रवेश न होते हुए भी विषय-विषयी भावके कारण 'ज्ञानमें अर्थ' और 'अर्थमें ज्ञान' इस व्यवहारकी उपपत्ति आचार्यने बतलायी है।

ज्ञान दर्शन यौगपद्य--

वाचक उमास्वामि द्वारा पुष्ट केवलीके ज्ञान और दर्शनका यौगपद्य आ० कुन्दकुन्दने भी माना है। विशेषता यह है कि आचार्यने यौगपद्यके समर्थनमें दृष्टान्त भी दिया है कि जैसे सूर्यके प्रकाश और ताप युगपद् होते हैं वैसे ही केवलीके ज्ञान और दर्शनका यौगपद्य है।

"जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दंसणं तहा।
दिणयर पयासतापं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं[3]॥"

सर्वज्ञका ज्ञान--

आचार्य कुन्दकुन्दने अपनी अभेद दृष्टिके अनुरूप निश्चय दृष्टिसे सर्वज्ञकी नयी व्याख्याकी है। और भेददृष्टिका अवलंबन करनेवालोंके अनुकूल होकर व्यवहार दृष्टिसे सर्वज्ञकी वही व्याख्या की है जो आगमोंमें तथा वाचकके तत्त्वार्थमें भी है। उन्होंने कहा है—

"जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं"॥[4]

अर्थात् व्यवहारदृष्टिसे कहा जाता है कि केवली सभी द्रव्योंको जानते हैं किंतु परमार्थतः वह आत्माको ही जानते हैं।

सर्वज्ञके व्यावहारिक ज्ञानकी वर्णना करते हुए उन्होंने इस बातको बलपूर्वक कहा है कि त्रैकालिक सभी द्रव्यों और पर्यायोंका ज्ञान सर्वज्ञको युगपद् होता है ऐसा ही मानना चाहिये।[5] क्योंकि यदि वह त्रैकालिक द्रव्यों और उनके पर्यायोंको युगपद न जानकर क्रमशः जानेगा तब तो वह किसी एक द्रव्यको भी

---

१. प्रवचन० १. ३०।

२. वही ३१।

३. नियमसार १५९।

४, नियमसार १५८।

५. प्रवचन० १ ४७.।

उसके सभी पर्यायोंके साथ नहीं जान सकेगा[1]। और जब एक ही द्रव्यको उसके अनंत पर्यायोंके साथ नहीं जान सकेगा तो वह सर्वज्ञ कैसे होगा[2]। दूसरी बात यह भी है कि यदि अर्थोंकी अपेक्षा करके ज्ञान क्रमशः उत्पन्न होता है, ऐसा माना जाय तब कोई ज्ञान नित्य क्षायिक और सर्व विषयक सिद्ध होगा नहीं[3]। यही तो सर्वज्ञज्ञानका माहात्म्य है कि वह नित्य त्रैकालिक सभी विषयोंको युगपद् जानता है[4]। किन्तु जो पर्याय अनुत्पन्न हैं और विनष्ट हैं ऐसे अद्भुत पर्यायोंको केवलज्ञानी किस प्रकार जानता है इस प्रश्नका उत्तर उन्होंने दिया है कि समस्त द्रव्योंके सद्भूत और असद्भूत सभी पर्याय विशेष रूपसे वर्तमान कालिक पर्यायों की तरह स्पष्ट प्रतिभासित होते हैं[5]। यही तो उस ज्ञानकी दिव्यता है कि वह अज्ञात और नष्ट दोनों पर्यायोंको जान लेता है[6]।

मतिज्ञान—

आचार्य कुंदकुंदने मतिज्ञानके भेदोंका निरूपण प्राचीन परंपराके अनुकूल अवग्रहादि रूपसे करके ही सन्तोष नहीं माना किन्तु अन्य प्रकारसे भी किया है। वाचकने एक जीवमें अधिकसे अधिक चार ज्ञानोंका यौगपद्य मानकर भी कहा है कि उन चारोंका उपयोग तो क्रमशः ही होगा[7]। अतएव यह तो निश्चित है कि वाचकने मतिज्ञानादिके लब्धि और उपयोग ऐसे दो भेदोंको स्वीकार किया ही है। किंतु आचार्य कुन्दकुन्दने मतिज्ञानके उपलब्धि, भावना और उपयोग ये तीन भेद भी किये हैं[8]। प्रस्तुतमें उपलब्धि, लब्धि-समानार्थक नहीं है। वाचकका मतिउपयोग ही उपलब्धि शब्दसे विवक्षित जान पड़ता है। इन्द्रिय जन्य ज्ञानोंके लिए दार्शनिकोंमें उपलब्धि शब्द प्रसिद्ध ही है। उसी शब्दका प्रयोग आचार्यने उसी अर्थमें यहांपर किया है। इन्द्रिय जन्य ज्ञानके बाद मनुष्य उपलब्ध विषयमें संस्कार दृढ करनेके लिए जो मनन करता है वह भावना है। इस ज्ञानमें मनकी मुख्यता है। इसके बाद उपयोग है। यहां उपयोग शब्द का अर्थ सिर्फ ज्ञान व्यापार नहीं किन्तु भावित विषयमें आत्माकी तन्मयता ही उपयोग शब्दसे आचार्यको इष्ट है। ऐसा जान पड़ता है।

श्रुतज्ञान

वाचक उमास्वामि ने "प्रमाणनयैरधिगमः" इस सूत्रमें नयोंको प्रमाणसे पृथक् रखा है।

---

१ प्रवचन. १-४८.।
२. प्रवचन. १ ४९।
३. ,, १-५०
४. ,, १-५१।
५. ,. ४-३७,३८.।
६- ,, १-३९.।
७ तत्वार्थ. भाग १-३१।
८ पंचास्ति. ४२,।

वाचकने पांच ज्ञानोंके साथ प्रमाणोंका अभेद तो बताया ही[1] है किन्तु नयोंको किस ज्ञानमें समाविष्ट करना, इसकी चर्चा नहीं की है। आचार्य कुन्दकुंदने श्रुतके भेदोंकी चर्चा करते हुए नयोंको भी श्रुतका एक भेद बतलाया है उन्होंने श्रुतके भेद इस प्रकार किये हैं लब्धि, भावना, उपयोग और नय[2]।

आचार्यने सम्यग्दर्शनकी व्याख्या करते हुए कहा है कि आप्त-आगम और तत्त्वकी श्रद्धा सम्यग्दर्शन है[3] आप्तके लक्षणमें अन्य गुणोंके साथ क्षुधा, तृषादिका अभाव भी बतलाया है अर्थात् उन्होंने आप्तकी व्याख्या दिगंबर मान्यताके अनुसारकी है[4]। आगमकी व्याख्यामें उन्होंने वचनको पूर्वापर दोष रहित कहा है[5]। उससे उनका तात्पर्य दार्शनिकोंके पूर्वापर विरोध दोष राहित्यसे है।

निश्चय-व्यवहार नय—

आचार्य कुंदकुन्दने नयोंके नैगमादि भेदोंका विवरण नहीं किया है। किन्तु आगमिक व्यवहार और निश्चय नयका स्पष्टीकरण किया है और उन दोनों नयोंके आधारसे मोक्षमार्गका और तत्त्वोंका पृथक्करण किया है। निश्चय और व्यवहारकी व्याख्या आचार्यने आगमानुकूल ही की है किन्तु उन नयों के आधारसे विचारणीय विषयोंकी अधिकता आचार्यके ग्रंथोंमें स्पष्ट है। उन विषयोंमें आत्मादि कुछ विषय तो ऐसे हैं जो आगममें भी हैं किन्तु आगमिक वर्णनमें यह नहीं बताया गया कि यह वचन अमुक नयका है। आचार्यके विवेचनके प्रकाशमें यदि आगमोंके उन वाक्योंका बोध किया जाय तब यह स्पष्ट होजाता है कि आगममें वे वाक्य कौनसे नयके आश्रयसे प्रयुक्त हुए हैं। उक्त दो नयोंकी व्याख्या करते हुए आचार्यने कहा है—

"ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणयो[7]"

अर्थात् व्यवहार नय अभूतार्थ है और शुद्ध अर्थात् निश्चयनय भूतार्थ है।

तात्पर्य इतना ही है कि वस्तुके पारमार्थिक तात्त्विक शुद्ध स्वरूपका ग्रहण निश्चय नयसे होता है और अशुद्ध अपारमार्थिक या लौकिक स्वरूपका ग्रहण व्यवहार नयसे होता है। वस्तुतः छ द्रव्यों में से जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंके विषयमें सांसारिक जीवोंको भ्रम होता है। जीव संसारावस्थामें प्रायः पुद्गलसे भिन्न उपलब्ध नहीं होता है। अतएव साधारण लोग जीवमें कई ऐसे धर्मोंका अध्यास कर देते हैं जो वस्तुतः उसके नहीं होते। इसी प्रकार पुद्गलके विषयमें भी विपर्यास कर देते हैं। इसी विपर्यासकी दृष्टिसे व्यवहारको अभूतार्थग्राही कहा गया है और निश्चयको भूतार्थग्राही। परन्तु आचार्य इस बातको

---

१ तत्वार्थ. भाग १-१०,।
२ पंचास्ति॰ ४३।
३. नियमसार ५०।
४ ,, ६।
५ ,, ८,१०६.
७. समयसार १३।

भी मानते ही हैं कि विपर्यास भी निर्मूल नहीं है। जीव अनादिकालसे मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति इन तीन परिणामोंसे परिणत होता है[1]। इन्हीं परिणामोंके कारण यह संसारका सारा विपर्यास है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। यदि हम संसारका अस्तित्व मानते हैं तो व्यवहार नयके विषयका भी अस्तित्व मानना पड़ेगा। वस्तुतः निश्चयनय भी तब तक एक स्वतन्त्र नय है जब तक उसका प्रतिपक्षी व्यवहार नय मौजूद है।

यदि व्यवहार नय नहीं तो निश्चय भी नहीं। यदि संसार नहीं तो मोक्ष भी नहीं। संसार और मोक्ष जैसे परस्पर सापेक्ष हैं उसी प्रकार व्यवहार और निश्चय भी परस्पर सापेक्ष हैं[2]।

आचार्य कुन्दकुन्दने परम तत्त्वका वर्णन करते हुए इन दोनों नयोंकी सापेक्षताको ध्यानमें रखकर ही कह दिया है कि वस्तुतः तत्त्वका वर्णन न निश्चयसे हो सकता है न व्यवहारसे क्योंकि ये दोनों नय अमर्यादितको, अवाच्यको, मर्यादित और वाच्य बना कर वर्णन करते हैं। अतएव वस्तुका परमशुद्ध स्वरूप तो पक्षातिक्रान्त है। वह न व्यवहार ग्राह्य है न निश्चय ग्राह्य। जैसे जीवको व्यवहारके आश्रयसे बद्ध कहा जाता है और निश्चयके आश्रयसे अबद्ध कहा जाता है। साफ है कि जीवमें अबद्धका व्यवहार भी बद्धकी अपेक्षासे हुआ है अतएव आचार्यने कह दिया कि वस्तुतः जीव न बद्ध है और न अबद्ध किन्तु पक्षाति-क्रान्त है। यही समयसार है, यही परमात्मा है[3] व्यवहार नयके निराकरणके लिए निश्चय नयका अवलंबन है किन्तु निश्चय नयावलम्बन ही कर्तव्यकी इतिश्री नहीं है। उसके आश्रयसे आत्माके स्वरूपका बोध करके उसे छोड़ने पर ही तथ्यका साक्षात्कार संभव है।

आचार्यके प्रस्तुत मतके साथ नागार्जुनके निम्नमतकी तुलना करना चाहिए।

शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः।
येषां तु शून्यता दृष्टिस्तान साध्यान् बभाषिरे॥

माध्य. १३.८।

शून्यमिति न वक्तव्यमशून्यमिति वा भवेत्।
उभयं नोभयं चेति प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते॥

माध्य. २२-११।

प्रसंगसे नागार्जुन और आ. कुंदकुंदकी एक अन्य बातभी तुलनीय है जिसका निर्देश भी उपयुक्त है। आचार्य कुंदकुंदने कहा है—

१—सयसार ९६।

२. समयसार तात्पर्य. पृ. ६९

३. कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण नय पक्खं।
पक्खंखातिकंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो॥
समयसार १५२.।

जहणवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणादुगा हेदुं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ॥

समयसार-८।

ये ही शब्द नागार्जुनके कथन में भी हैं—

नान्यथा भाषया म्लेच्छः शक्यो ग्राहयितुं यथा।
न लौकिकमृते: लोकः शक्यो ग्राहयितुं तथा ॥

माध्य. पृ ३७० ।

आचार्यने अनेक विषयों की चर्चा उक्त दोनों नयोंके आश्रयसे की है, जिनमें से कुछ ये हैं—

दोववि णयाण भणियं जाणइ णवरं तु समयपडिवद्धो।
णदु णयपक्खं गिरहदि किंचि वि णयपक्ख परिहीणो ॥

समय- १५३ ।

ज्ञानादिगुण और आत्माका सम्बन्ध[1], आत्मा और देहका सम्बन्ध[2], जीव और अध्यवसाय, गुणस्थान आदिका सम्बन्ध[3], मोक्षमार्ग ज्ञानादि[4], आध्मा[5], कर्तृत्व[6], आत्मा और कर्म, क्रिया, भोग[7], बद्धत्व और अबद्धत्व[8], मोक्षापयोगी लिंग[9], बंधविचार[10], सर्वज्ञत्व[11], पुद्गल[12]।

---

१. समयसार ७, १९, ३०० से।
२ ,, ३२ से।
३ ,, ६१ से।
४ पचा० १६७ से, नियम० ५४ से दर्शनप्रा० २०।
५ समय० ६.१६ इत्यादि, नियम० ४९।
६ ,, २४-९ आदि, ,, १८।
७ ,, ३८६ से।
८ ,, १५१।
९ ,, ४४४
१० प्रवचन० २-९७।
११ नियम० १५८।
१२ ,, २९

जैन-न्यायका विकास

श्री पं० दरबारीलाल न्यायाचार्य कोठिया, आदि

जन न्यायकी भूमिका,

जैनन्यायके विकासपर विचार करनेके पहले उसके प्राक् इतिहास और उद्गमपर एक दृष्टि डाल लेना उचित एवं आवश्यक है।

जैन-अनुश्रुतिके अनुसार जैन धर्ममें इस युग-सम्बन्धी चौबीस तीर्थङ्कर (अर्हत्-धर्म प्रवर्त्तक महापुरुष) हुए हैं। इनमें पहले तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव हैं, जिन्हें आदिब्रह्मा, आदिनाथ और वृषभ भी कहा जाता है और जिनका उल्लेख भागवत, आदि वैदिक पुराण-ग्रन्थोंमें भी हुआ है एवं जिन्हें जिनधर्म-प्रवर्त्तक बतलाया गया है। इनके बाद क्रमशः विभिन्न समयोंमें बीस तीर्थङ्कर और हुए[1] और जो महाभारत कालसे बहुत पूर्व हुए हैं। इनके पश्चात् महाभारतकालमें श्रीकृष्णके समकालीन बाईसवें तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि हुए, जो उनके चाचा समुद्रविजयके राजपुत्र थे। इनके कोई एक हजार वर्ष पीछे तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ हुए, जो काशीनरेश विश्वसेनके राजकुमार थे। इनके अढाई सौ वर्ष बाद चौबीसवे तीर्थङ्कर वर्द्धमान-महावीर हुए, जो म० बुद्धके समकालीन हैं और जिन्हें आज लगभग अढाई हजार वर्ष हो गये हैं। ये सभी तीर्थङ्कर एक दूसरेसे काफी अन्तराल पर हुए हैं।

जैनधर्मकी अत्यन्त प्रामाणिक मान्यता है कि ये तीर्थङ्कर जो धर्मोपदेश देते हैं उसे उनके गणधर (योग्यतम प्रधान शिष्य) बारह अङ्गोंमें निबद्ध करते हैं, जिन्हें जैन शास्त्री भाषामें 'द्वादशाङ्ग श्रुत' कहा जाता है[2]। इस द्वादशाङ्गश्रुतका जैन लोक आर्ष, आगम सिद्धान्त, प्रवचन, आदि संज्ञाओं द्वारा भी उल्लेख करते हैं। इस तरह ऋषभदेवसे लेकर वर्द्धमान महावीर तकके सभी (चौबीसों) तीर्थ-

१ उनके नाम ये हैं—अजित, सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुन्थु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत और नमि।

२ इन सबका विस्तृत स्वरूपादि विवेचन अकलकदेव (वि. ७ वीं शती) कृत तत्त्वार्थवार्त्तिक और 'षट्खण्डागम' (वि. १ ली शती) की विशाल टीका वीरसेनाचार्य (वि. ९ वीं शती) कृत 'धवला' की १ जिल्द (पृ० ९६—१२२) में देखिए।

ङ्करोंका उपदेश 'द्वादशाङ्ग श्रुत' कहलाता है। यह 'द्वादशाङ्ग श्रुत' १ अङ्ग प्रविष्ट (द्वादशाङ्ग) और २ अङ्गबाह्यके भेदसे दो प्रकारका है। इन दोनोंके भी उत्तर भेदोपभेद विविध हैं। अङ्गप्रविष्ट अर्थात् द्वादशाङ्गश्रुतके बारह भेद हैं। वे इस प्रकार हैं—१ आचार, २ सूत्रकृत्, ३ स्थान, ४ समवाय, ५ व्याख्याप्रज्ञप्ति, ६ नाथधर्मकथा, ७ उपासकाध्ययन, ८ अन्तकृद्दश, ९ अनुत्तरौपपादिक दश, १२ प्रश्न-व्याकरण, ११ विपाकसूत्र और १२ दृष्टिवाद। दृष्टिवादके भी पांच भेद हैं—१ परिकर्म, २ सूत्र, ३ प्रथमानुयोग, ४ पूर्वगत और ५ चूलिका। इनमें परिकर्मके ५, पूर्वगतके १४ और चूलिकाके ५ उत्तरभेद भी हैं। परिकर्मके ५ भेद ये हैं—१ चन्द्रप्रज्ञप्ति, २ सूर्यप्रज्ञप्ति, ३ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ४ द्वीपसागर प्रज्ञप्ति और ५ व्याख्या प्रज्ञप्ति (यह पांचवें अङ्ग व्याख्या प्रज्ञप्तिसे अलग है)। पूर्वगतके १४ भेद निम्न प्रकार हैं—१ उत्पाद, २ आग्रायणीयपूर्व, ३ वीर्यानुप्रवादपूर्व, ४ अस्तिनास्तिप्रवाद, ५ ज्ञानप्रवाद, ६ सत्यप्रवाद, ७ आत्मप्रवाद, ८ कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यातनामधेय, १० विद्यानुवाद, ११ कल्याणनामधेय, १२ प्राणावाय, १३ क्रियाविशाल, और १४ लोकबिन्दुसार। चूलिकाके ५ भेद इस प्रकार हैं—१ जलगता, २ स्थलगता, ३ मायागता, ४ रुपगता और ५ आकाशगता।

श्रुतका दूसरा भेद जो अङ्ग बाह्य है उसके १४ भेद हैं। वे ये हैं—१ सामायिक, चतुर्विंशति स्तव, ३ वन्दना, ४ प्रतिक्रमण, ५ वैनयिक, ६ कृतिकर्म, ७ दशवैकालिक, ८ उत्तराध्ययन, ९ कल्पव्यवहार, १० कल्प्याकल्प्य, ११ महाकल्प, १२ पुण्डरीक, १३ महापुण्डरीक और १४ निषिद्धिका। यह अङ्गबाह्यश्रुत अङ्गप्रविष्ट श्रुतके आधारसे आचार्यों द्वारा रचा जानेसे 'अङ्गबाह्य' कहलाता है और अङ्गप्रविष्ट तीर्थङ्कर सर्वज्ञ देवके साक्षात् उपदेशोंको सुनकर विशिष्टबुद्धि गणधरों द्वारा संकलित किया जाता है और इसलिए उसे अङ्ग प्रविष्ट कहा जाता। श्रुत बहुविध, शाखा, उपशाखा और प्रशाखाओंमें भी विभक्त है और बहुत विशाल तथा समुद्रकी तरह गम्भीर एवं अपार है। इस द्वादशाङ्ग श्रुतके आधारसे ही उत्तरकालीन आचार्य विविध विषयक ग्रन्थराशि रचते हैं। इन बारह अङ्गोंमें जो बारहवां 'दृष्टिवाद' अङ्ग है उसमें विभिन्न वादियोंकी मान्यताओंका निरूपण और समालोचन रहता है[1]। यह 'दृष्टिवाद' श्रुत ही जैन मान्यतानुसार 'जैनन्याय' का उद्गम स्थान है। अतएव श्रुतप्रवाहकी अपेक्षा जैनन्यायका उद्गम भगवान् ऋषभदेवके द्वादशाङ्ग श्रुतगत दृष्टिवाद तक पहुंच जाता है।

यद्यपि भगवान् ऋषभदेवसे लेकर भगवान् पार्श्वनाथ तक का द्वादशाङ्ग श्रुत विच्छिन्न और लुप्त हो जाने से वर्तमानमें अनुपलब्ध एवं अप्राप्त है तथा वर्द्धमान महावीरका द्वादशाङ्ग श्रुत भी आज पूरा उपलब्ध नहीं है केवल उसका बारहवां दृष्टिवाद अङ्ग ही अंश रूपमें पाया जाता है, शेष ग्यारह अङ्ग और बारहवें अङ्गका बहु भाग नष्ट और लुप्त हो चुके हैं। यद्यपि श्वेताम्बर परम्परा ग्यारह अङ्गोंकी उपलब्धि और बारहवें अङ्गका विच्छेद स्वीकार करती है। तथापि प्रामाणिक आचार्य-

१ "...एषां दृष्टिशतानां त्रयाणां षष्ठ्युत्तराणां प्ररुपणं निग्रहश्च दृष्टिवादे क्रियते।"—धवला जिल्द १ पृ० १०८।

परम्परा, जैन-अनुश्रुतियों और जैन पुराणोंके विश्वसनीय आख्यातोंसे प्रकट है कि भगवान् महावीरके पहले सुदूर कालमें भी श्रुत प्रवाह प्रवाहित था और मुख्यतः वह मौखिक था—दृढ धारणा-शक्तिके आधारपर उसे स्थिर रखा जाता था! भगवान महावीरका द्वादशाङ्ग श्रुत भी बहुत काल तक लगभग उनके पांच सौ वर्ष बाद तक प्रायः मौखिक ही रहा और बहुत पीछे उसे आंशिक रूपसे निबद्ध—ग्रन्थरचंना रूपसे संकलित—किया गया है।

आज भी जो हमें दृष्टिवादका अंशरूप श्रुतावशेष प्राप्त है और जो लगभग दो हजार वर्ष पूर्वका रचित है उसमें भी जैनन्यायके उद्गमबीज मिलते हैं। आ० भूतबलि और पुष्पदन्तकृत 'षट्खण्डागम' में 'सिया पज्जत्ता, सिया अपज्जत्ता', 'मणुस अपज्जत्ता, दव्व पमाणेण केवडिया? असंखेज्जा' तथा आचार्यमूर्धन्य कुन्दकुंद स्वामीके प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, आदि आगम ग्रंथोंमें 'जम्हा', 'तम्हा', 'सिय अत्थि णत्थि उहयं' जैसे युक्ति प्रवण शब्दप्रयोग और प्रश्नोत्तर प्रचुरतासे उपलब्ध होते हैं। जिनसे स्पष्ट है कि जैनन्यायका उद्गम द्वादशाङ्ग श्रुतगत 'दृष्टिवाद' अङ्ग है। श्वेताम्बर आगमोंमें भी 'से केणट्ठेणं भंते, एवमुचइ', 'जीवाणं भंते? किं सासया असासया? गोयमा! जीवा सिय सासया सिय असासया। गोयमा! दव्वट्ठयाए सासया भावट्टयाए असासया' जैसे तर्क गर्भ प्रश्नोत्तर जगह जगह पाये जाते हैं। इसलिए हम कह सकते हैं कि जैनन्यायके उनमें भी बीज निहित हैं। श्री उपाध्याय यशोविजय[1] (ई० १७ वीं शती) ने तो स्पष्टतया कहा है कि "स्याद्वादार्थो दृष्टिवादार्णवोत्थः"–अर्थात् स्याद्वादार्थ–जैनन्याय, दृष्टिवादरूप अर्णव (समुद्र) से उत्पन्न हुआ है। वस्तुतः 'स्याद्वाद-न्याय' ही जैन-न्याय है और इसीलिए प्रत्येक जैन तीर्थङ्करके उपदेशको 'स्याद्वादन्याय' युक्त कहा गया है। स्वामी समन्तभद्र (वि. सं. २ री, ३ री शती) जैसे युगप्रवर्तकाचार्योंने भ० महावीर और उनके पूर्ववर्ती सभी तीर्थङ्करोंको 'स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तम्'[2] 'स्याच्छब्दस्तावके न्याये',[3] 'स्याद्वादन्याय विद्विषाम्'[4] आदि पदप्रयोगों द्वारा स्याद्वादन्याय प्रतिपादक उद्घोषित किया है। अतः यह मानने योग्य है कि जैनन्यायका उद्भव 'दृष्टिवाद' से हुआ है।

कुछ लोगोंका मत है कि जैनन्याय, ब्राह्मणन्याय और बौद्धन्यायके पीछे प्रतिष्ठित हुआ है इसलिए उसका उद्भव उन्हीं दोनों न्यायोंसे हुआ प्रतीत होता है। परन्तु उनका यह मत अभ्रान्त नहीं है; क्योंकि जब हमें भगवान् महावीरके उपलब्ध उपदेशोंमें विपुल मात्रामें जैनन्यायके बीज मिलते हैं और खासकर इस हालतमें, जब उनके उपदेशोंका संग्रहरूप एक दृष्टिवाद नामका स्वतंत्र अङ्ग ही ऐसा मौजूद

१ देखो, अष्टसहस्री टीका पृ. १।

२ स्वयम्भूस्तोत्र गत शम्भवजिन स्तोत्र श्लोक १४।

३ अरजिन स्तोत्र श्लो १०२।

४ आप्तमी० श्लो. १३।

है जिसमें विभिन्न दृष्टियों, मतों, सिद्धान्तोंका खण्डन-मण्डन किया जाता है और यह खण्डन-मण्डन, पक्ष-प्रतिपक्ष, युक्ति-प्रतियुक्ति तथा हेतु-तर्क-प्रमाणोंके विना असम्भव है। तब यह सुतरां सिद्ध है कि जैन-न्यायका उद्गम स्थान जैन श्रुत ही है अन्य नहीं।

हमारे इस कथनकी पुष्टि एक अन्य प्रमाणसे भी होती है। जैन न्यायके समुद्धारक महान् जैन तार्किक भट्टाकलङ्कदेवके पहले, उनके उल्लेखानुसार प्रायः कुछ गुण-द्वेषी तार्किकोंने जैनन्यायको छल, जाति, निग्रहस्थानादि कल्पनारूप अज्ञानतमके महात्म्यसे मलिन कर दिया था, इस मैलको उन्होंने किसी प्रकार धोकर उसे निर्मल बनाया था[1]। इससे स्पष्ट है कि जैन न्यायका उद्भव अन्य (ब्राह्मण और बौद्ध) न्यायोंसे नहीं हुआ, बल्कि उनके द्वारा जैनन्याय मलिन बना दिया गया था और जिस मलिनताको अकलङ्क जैसे महान् जैनन्याय समुद्धारकों अथवा पुनः प्रतिष्ठापकोंने दूर किया है।

यद्यपि छान्दोग्योपनिषद (अ० ७) में एक 'वाको वाक्य', शास्त्र-विद्याका उल्लेख है, जिसका अर्थ तर्कशास्त्र, उत्तर-प्रत्युत्तरशास्त्र, युक्ति-प्रतियुक्ति शास्त्र किया जाता है[2]। और इसी तरह आन्वीक्षिकी नामकी एक विद्याका, जिसे न्याय विद्या अथवा न्यायशास्त्र कहा जाता है, ब्राह्मण साहित्यमें कथन मिलता है[3] तथा तक्षशिलाके विश्वविद्यालयमें दर्शनशास्त्र एवं न्यायशास्त्रके अध्ययन-अध्यापनके संकेत मिलते बतलाये जाते हैं[4]। तथापि हमारा कहना यह नहीं है कि जैनन्यायके समयमें अन्य न्याय नहीं रहे। हमारा कहना तो इतना ही है कि जैनन्यायका उनसे उद्भव नहीं हुआ—उसका उद्भव अपने 'दृष्टिवाद' श्रुतसे हुआ है। यहाँ हम यह भी उल्लेख कर देना चाहते हैं कि जैनेतर न्यायोंमें बहुत कुछ विशिष्टता एवं उत्तमता (अनेकान्तका समर्थन जैसी वस्तु) इसी दृष्टिवादसे आई प्रतीत होती है; क्योंकि वह महान् रत्नाकर है—उस विषयका सबसे बड़ा समुद्र अथवा आकर है। आचार्यसिद्धसेन,[5] अकलंक[6] और विद्यानन्द[7] भी यही कहते हैं। आचार्य प्रवर सिद्धसेन[8] एक जगह तो यह भी कहते हैं

---

१ "बालानां हितकामिनामतिमहापापैः पुरोपार्जितैः, माहात्म्यात्तमसः स्वयं कलिबलात्प्रायो गुणद्वेषिभिः।
न्यायोऽयं मलिनीकृतः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते, सम्यग्ज्ञानजलैर्वचोभिरमलैः तत्रानुकम्पापरैः॥
—न्यायविनि० श्लो० २।

२ देखो, डाक्टर भगवानदासकृत-'दर्शनका प्रयोजन' पृ० १।

३ कः पुनरयं न्यायः ? प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः। आन्वीक्षिकी—न्यायविद्या—न्यायशास्त्रम्।—न्यायभाष्य (वात्स्यायनकृत) पृ० ४।

४ देखो, 'प्राचीन भारतके शिक्षाकेन्द्र' शीर्षक निबन्ध (श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी लिखित) विक्रमस्मृतिग्रन्थ पृ० ७१८।

५ "सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तसम्पदः। तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिता जगत्प्रमाणं जिन वाक्यविप्रुषः॥" —द्वात्रिंशत्का १-३०।

६ देखो, तत्वार्थवार्तिक पृ० २९५। ७ देखो, अष्टसहस्री पृ० २३८।

८ "उदधाविव सर्वसिंधवः समुदीर्णास्त्वयि सर्वदृष्टयः। न च तासु भवानुदीक्ष्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः॥"
—द्वात्रिंशतका ४—१५।

कि "जिस प्रकार समुद्रमें समस्त नदियां अवतरित होती हैं उसी प्रकार तुम्हारे (स्याद्वादशासन) में समस्त एकान्त दृष्टियां अवतीर्ण हैं। परन्तु जिस प्रकार पृथक् पृथक् नदियोंमें समुद्र नहीं देखा जाता उसी तरह पृथक् पृथक् एकान्त दृष्टियोंमें तुम्हारा स्याद्वादशासन (अनेकान्तशासन) नहीं देखा जाता।" फलितार्थ यह हुआ कि जैनन्याय (स्याद्वाद) का उद्‌गम इतर न्यायों (नित्यत्वादि एकान्त समर्थक दृष्टियों) से न होकर सुदूरवर्ती स्याद्वादात्मक दृष्टिवाद नामके बारहवें श्रुताङ्ग (सूत्र)[1] से हुआ है। हां, यह जरूर है कि पिछले कुछ कालोंमें उक्त न्यायोंके क्रमिक विकासके साथ जैन न्यायका भी क्रमिक विकास हुआ है और उनकी विविध शास्त्र रचना जैन न्यायकी विविध शास्त्ररचनामें प्रेरक हुई है।

जैनन्यायका विकास—

जैनन्यायके विकासको तीन कालोंमें बांटा जा सकता है और उन कालोंके नाम निम्न प्रकार रखे जा सकते हैं:—

१. समन्तभद्र-काल (ई० २०० से ई० ६५० तक)।

२. अकलंक-काल (ई० ६५० से ई० १०५० तक)।

३. प्रभाचन्द्र-काल (ई० १०५० से ई० १७०० तक)।

१. समन्तभद्र-काल—जैनन्यायके विकासके प्रथमकालका नाम समन्तभद्रकाल है। स्वामी समन्तभद्र ने भारतीय दार्शनिक क्षेत्रके जैनदर्शनक्षेत्रमें युगप्रवर्तकका कार्य किया है। उनके पहले जैनदर्शनके प्राणभूत तत्त्व स्याद्वादको प्रायः आगमरूप ही प्राप्त था और उसका आगमिक तत्त्वोंके निरूपणमें ही उपयोग होता था और सीधी सादी विवेचना कर दी जाती थी—विशेष युक्तिवाद देनेकी उस समय आवश्यकता न होती थी; परन्तु समन्तभद्रके समयमें उसकी अत्यन्त आवश्यकता महसूस हुई क्यों कि ऐतिहासिक विद्वान् जानते हैं कि विक्रमकी दूसरी, तीसरी शताब्दीका समय भारत वर्षके इतिहासमें अपूर्व दार्शनिक क्रान्तिका समय रहा है। इस समय विभिन्न दर्शनोंमें अनेक क्रान्तिकारक विद्वान पैदा हुए हैं। यद्यपि भगवान् महावीर और महात्मा बुद्धके कालमें यज्ञप्रधान वैदिक परम्पराका बढ़ा हुआ प्रभाव काफी कम हो गया था और श्रमण—जैन तथा बौद्ध परम्पराका प्रभाव सर्वत्र व्याप्त हो चुका था; लेकिन कुछ शताब्दियोंके बाद ही वैदिक परम्पराका प्रभाव पुनः प्रस्तुत हुआ और वैदिक विद्वानों द्वारा श्रमण परम्पराके सिद्धांतोंकी नुक्ता-चीनी और काट-छांट प्रारम्भ हो गयी। फलस्वरूप श्रमणपरम्परा-बौद्धपरम्परामें अश्वघोष, मातृचेट, नागार्जुन प्रभृति विद्वानोंका प्रादुर्भाव हुआ और उन्होंने भी वैदिक परम्पराके सिद्धान्तों एवं मान्यताओंका सबलताके साथ खण्डन और अपने सिद्धांतोंका मण्डन, प्रतिष्ठापन तथा परिष्कार करना

---

१ "सुत्तं अट्ठासीदि-लक्ख-पदेहि ८८००००० अबंधओ अवलेवओ अकत्ता अभोत्ता णिग्गुणो सव्वगंओ अणुमेत्तो णत्थि जीवा जीवो चेव अत्थि पुढवियादीणं समुदएण जीवो उप्पज्जइ णिच्चेयणो णाणेण विणा सचेयणो णिच्चो अणिच्चो अप्पेति वण्णेदि। तेरासियं णियदिवादं विण्णाणवादं सद्दवादं पहाणवादं दव्ववादं पुरिसवादं च वण्णेदि।--धवला, जिल्द १. पृ० ११०।

शुरू कर दिया। उधर वैदिक परम्परामें बादको कणाद, गौतम (अक्षपाद), बादरायण, जैमिनि, आदि महा उद्योगी वैदिक विद्वानोंका आविर्भाव हुआ और उन्होंने भी अपने वैदिक सिद्धांतों एवं मान्यताओं का संरक्षण-प्रयत्न करते हुए अश्वघोषादि बौद्ध विद्वानोंके खण्डन-मण्डनका सयुक्तिक जवाब दिया। इसी संघर्षमें ईश्वरकृष्ण, असंग, वसुबन्धु, विन्ध्यवासी, वात्स्यायन प्रभृति कितने ही विद्वान् दोनों परम्पराओं में और हुए। इस तरह उस समय सभी दर्शन अखाड़े बन चुके थे और एक दूसरे दर्शनके विद्वानको परास्त करनेके लिए तत्पर ही नहीं, बल्कि जुट चुके थे। इस सबका आभास हमें उस कालमें रचे गये अश्वघोष, मातृचेट, नागार्जुन, कणाद, गौतम, जैमिनि, बादरायण, प्रभृति विद्वानोंके उपलब्ध साहित्यसे स्पष्टतया होता है। जब ये विद्वान् अपने अपने दर्शनके एकान्त पक्षों और मान्यताओंके समर्थन तथा पर-पक्ष निराकरणमें लगे हुए थे तब इसी समय दक्षिण भारतके क्षितिजपर जैन परम्परामें समन्तभद्र का उदय हुआ। ये प्रतिभाकी मूर्ति और क्षात्रतेजसे सम्पन्न थे। उनका सूक्ष्म और अगाध पाण्डित्य तथा समन्वयकारिणी प्रतिभा ये सब बेजोड़ थे। इसीसे उन्होंने विद्वानोंमें सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर लिया था[१]। अतएव श्रीयुत एस० एस रामस्वामी आय्यंगर, एम० ए. जैसे विश्रुत विद्वानोंको भी निम्न उद्गार प्रकट करने पड़े हैं—

'दक्षिण भारतमें समन्तभद्रका उदय, न सिर्फ, दिगम्बर सम्प्रदायके इतिहासमें ही, बल्कि संस्कृत साहित्यके इतिहासमें भी एक खास युगको अंकित करता है[२]

समन्तभद्रके समयमें जिन एकान्तवादोंका अत्यधिक प्राबल्य था और जिनका समन्वय करनेके लिये उन्हें अभूतपूर्व लेखनी उठानी पड़ी वे प्रायः निम्न थे—

भावैकान्त, अभावैकान्त, द्वैतैकान्त, अद्वैतैकान्त, नित्यैकांत, अनित्यैकांत, भेदैकांत, अभेदैकांत, हेतुवाद, अहेतुवाद, अपेक्षावाद, अनपेक्षावाद, दैववाद, पुरुषार्थवाद, आदि।

भावैकान्तवादीका कहना था कि सब भावरूप ही है—अभावरूप कोई भी वस्तु नहीं है 'सर्वं सर्वत्र विद्यते'—सब सब जगह है—न कोई प्रागभावरूप है, न प्रध्वंसाभावरूप है, न अन्योन्याभावरूप है, और न अत्यंताभावरूप है। इसके विपरीत अभाववादी कहता था कि सब जगत अभावरूप है—शून्यमय है, जो भावमय समझता है वह मिथ्या है। यह दार्शनिकोंका पहला संघर्ष था।

दूसरा संघर्ष था एक और अनेकका। एक (अद्वैत) वादी कहता था कि वस्तु एक है, अनेक नहीं, अनेकका दर्शन केवल माया विजृम्भित है। इसके विरुद्ध अनेकवादी सिद्ध करता था कि पदार्थ अनेक हैं—एक नहीं है। यदि एक हो तो एकके मरनेपर सबका मरना और एकके पैदा होनेपर सबके पैदा होनेका प्रसङ्ग आवेगा जोकि न दृष्ट है और न इष्ट है।

---

१ जैसा कि आचार्य जिनसेन (ई० ९ वीं शती) ने आदि पुराणमें कहा है

"कवीनां गमकानां च वादिनां वाग्मिनामपि। यशः समन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते॥"

२ देखो. 'स्टेडीज इन साउथ इण्डियन जैनिज्म'।

तीसरा द्वन्द्व था नित्य और अनित्यका। नित्यवादी कथन करता था कि वस्तु नित्य है। यदि वह अनित्य हो तो उसके नाश होजानेके बाद फिर यह दुनिया और स्थिर विविध वस्तुएं क्यों दिखती है? अनित्यवादी कहता था कि वस्तु प्रतिसमय नष्ट होती है वह कभी स्थिर नहीं रहती। यदि नित्य हो तो लोगोंका जन्म, मरण, विनाश, अभाव, परिवर्तन आदि नहीं होना चाहिये।

चौथा संघर्ष था सर्वथा भेद और सर्वथा अभेदको स्वीकार करनेका। सर्वथा भेदवादीका कहना था कि कार्य-कारण, गुण-गुणी और सामान्य-सामान्यवान् आदि सर्वथा पृथक् पृथक् हैं, अपृथक् नहीं। यदि अपृथक् हों तो एकका दूसरेमें अनुप्रवेश होजानेसे दूसरेका भी अस्तित्व टिक नहीं सकता। इसके विपरीत सर्वथा अभेदवादी प्रतिपादन करता था कि कार्य-कारण आदि सर्वथा अपृथक् हैं; क्योंकि यदि वे पृथक् पृथक् हों तो जिसप्रकार पृथक् सिद्ध घट और पटमें कार्य-कारणभाव या गुण-गुणीभाव नहीं है उसी प्रकार कार्य-कारणरूपसे अभिमतों अथवा गुण गुणीरूपसे अभिमतोंमें कार्य-कारण भाव और गुण गुणीभाव कदापि नहीं बन सकता है।

पांचवां संघर्ष था अपेक्षैकान्त और अनपेक्षैकान्तका। अपेक्षैकान्तवादी कहता था कि वस्तु-सिद्धि अपेक्षासे होती है। कौन नहीं जानता कि प्रमाणसे ही प्रमेय की सिद्धि होती है और इसलिए प्रमेय प्रमाणापेक्ष है? यदि वह उसकी अपेक्षा न करे तो प्रमेय सिद्ध नहीं हो सकता। अनपेक्षावादीका तर्क था कि सब पदार्थ निरपेक्ष हैं कोई भी किसीकी अपेक्षा नहीं रखता। यदि रखे तो परस्पराश्रय होनेसे एक भी सिद्ध नहीं हो सकेगा।

छठा संघर्ष था हेतुवाद और अहेतुवादका। हेतुवादी कहता था कि हेतु-युक्तिसे सब सिद्ध होता है प्रत्यक्षादिसे नहीं, क्योंकि प्रत्यक्षसे देख लेनेपर भी यदि वह हेतुकी कसौटीपर नहीं उतरता तो वह कदापि श्रद्धेय नहीं है—"युक्त्या यन्न घटमुपैति तदहं दृष्ट्वापि न श्रद्धे"। अहेतु—आगम-वादीका कथन था कि आगमसे हरेक वस्तुका निर्णय होता है। यदि आगमसे वस्तुका निर्णय न माना जाय तो हमें ग्रहोपरागादिका कदापि ज्ञान नहीं होसकता है क्योंकि उसमें हेतुका प्रवेश नहीं है।

सातवां संघर्ष था दैव और पुरुषार्थका। दैववादीका मत था कि सब कुछ भाग्यसे होता है। यदि तुम्हारे भाग्यमें न हो तो वह तुम्हें नहीं मिल सकती। पुरुषार्थवादी घोषित करता था कि पुरुषार्थसे ही सब कुछ होता है विना पुरुषार्थके भोजनका ग्रास भी मुंहमें नहीं आ सकता।

इसतरह कितने ही संघर्ष दार्शनिकोंमें उस समय चल रहे थे। ये दार्शनिक अपने अपने दृष्टिकोणको तो बड़ी ताकतसे उपस्थित करते थे और उसका जी तोड़ समर्थन भी करते थे, परन्तु दूसरेके दृष्टिकोणको समझने और उसका समन्वय करनेका प्रयत्न नहीं करते थे। जैनतार्किक समन्तभद्रने इन दार्शनिकोंके दृष्टिकोणोंको न केवल समझनेका ही प्रयास किया, अपितु उनके समन्वयका भी अभूतपूर्व प्रयत्न किया। उन्होंने स्याद्वाद न्याय और उसके फलित सप्तभङ्गीवादकी विशद योजना द्वारा उक्त

संघर्षोंका बुद्धिमत्तापूर्ण ढंगसे शमन किया और भारतीय दर्शनक्षेत्रमें न केवल अद्भुत क्रान्ति पैदा की किन्तु उत्तरवर्ती जैनतार्किकोंके लिए एक प्रशस्त मार्गका निर्माण भी किया और इसीसे अकलङ्क, विद्यानन्द जैसे महान् जैनतार्किकोंने उन्हें इस कलियुगका स्याद्वादतीर्थ प्रभावक, स्याद्वादाग्रणी, आदि रूपसे स्मृत किया है[1]। हम पहले कह आये हैं कि यद्यपि स्याद्वाद और सप्तभङ्गोंका प्रयोग आगमों में तदीय विषयोंके निरूपणमें होता था[2] परन्तु अपेक्षा-अनपेक्षा, दैव-पुरुषार्थ, हेतुवाद-अहेतुवाद जैसे विषयों में भी स्याद्वाद और सप्तभङ्गोंका प्रयोग और उनकी अत्यन्त विशद योजना सर्वप्रथम समन्तभद्रके ग्रन्थोंमें ही दृष्टिगोचर होते हैं। उन्होंने 'नययोगान्न सर्वथा',[3] 'नयैर्नयविशारदः'[4] जैसे पदप्रयोगों द्वारा नयवादसे वस्तु व्यवस्था होनेका विधान बनाया और 'कथञ्चित्ते सदेवेष्टं'[5], 'सदेव सर्वंको नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्'[6] जैसे वचनों द्वारा उस विधानको व्यवहार रूप दिया।

उन्होंने उक्त संघर्षोंका शमन किसप्रकार किया ? और लोगोंके एकान्त ग्रहको दूर करके उन्हें वस्तुव्यवस्थाके साधनभूत अमोघ औषध स्याद्वादका दर्शन किस प्रकार कराया ?

पहले संघर्षके बारेमें वे कहते हैं कि वस्तुको कथंचित् भावरूप और कथंचित् अभावरूप मानिये[7]। दोनोंको सर्वथा—सब प्रकारसे केवल भावात्मक ही माननेमें दोष है[8]; क्योंकि केवल भावरूप ही वस्तुको माननेपर प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव इन अभावोंका लोप हो जायगा और उनके लोप होनेपर वस्तु क्रमशः अनादि, अनन्त, सर्वात्मक और स्वरूपहीन हो जावेगी। इसीप्रकार केवल अभावरूप वस्तुको माननेपर भावका लोप होजायगा और उसके लोप होजानेपर अभाव का साधक ज्ञान अथवा वचन रूप प्रमाण भी नहीं रहेगा तब किसके द्वारा तो अभावैकान्तका साधन और किसके द्वारा भावैकान्तका निराकरण किया जासकेगा ? विरुद्ध होनेसे दोनों एकान्तोंका मानना एकान्तवादियोंके लिए संभव नहीं है और अवाच्यतैकान्त अवाच्य होनेसे ही अयुक्त है। अतएव वस्तु कथंचित्—स्व-द्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल और स्व-भावकी अपेक्षासे अस्तित्व—भावरूप ही है और कथंचित्—पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल और पर-भावकी अपेक्षासे नास्तित्व—अभावरूप ही है। घड़ा अपनी अपेक्षासे

---

१. 'तीर्थं सर्व-पदार्थतत्त्व-विषय-स्याद्वाद-पुण्योदधे-
भंव्यानामकलंकभावकृतये प्राभावि काले कलौ।
येनाचार्यं समन्तभद्रयतिना तस्मै नमः सन्ततं, ॥'-अष्टश, पृ १

२. सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥'

—पंचास्तिकाय गा. १४।

३. आ. मी. का. १४। ४ आ. मी. का. २३। ५ आ. मी. १४। ६ आ. मी. १५।

७ देखो. आ० मी० १४, १५। ८ देखो, आ० मी. ९, १०, ११, १२. १३।

तो अस्तित्वरूप है और वस्त्रादि पर पदार्थोंकी अपेक्षासे नास्तित्व—अभावरूप है और इस तरह उसमें अपेक्षाभेदसे दोनों विधि निषेध धर्म मौजूद हैं। यही समस्त पदार्थोंकी स्थिति है। अतः भाववादी का कहना भी सच है और अभाववादीका कथन भी सच है। सिर्फ शर्त यह है कि दोनोंको अपने अपने एकान्तग्रहको छोड़ देना चाहिये और एक दूसरेकी दृष्टिका आदर करना चाहिये।

दूसरे संघर्षको दूर करते हुए वे प्रतिपादन करते हैं[1] कि वस्तु (सर्व पदार्थ समूह) सत्सामान्य (सत् रूप) से तो एक है और द्रव्य आदिके भेदसे अनेकरूप है। यदि उसे सर्वथा एक (अद्वैत) मानी जाय तो प्रत्यक्ष दृष्ट क्रिया-कारकभेद लुप्त होजायगा; क्योंकि एक ही स्वयं उत्पाद्य और उत्पादक दोनों नहीं बन सकता—उत्पाद्य और उत्पादक दोनों अलग अलग होते हैं। इसके सिवाय, सर्वथा अद्वैतके स्वीकारमें प्रतीत पुण्य-पापका द्वैत, सुख-दुःखका द्वैत, इहलोक-परलोकका द्वैत, विद्या-अविद्याका द्वैत और बन्ध-मोक्षका द्वैत नहीं बनसकते हैं। इसीतरह यदि वस्तु सर्वथा अनेक हो तो सन्तान (पर्यायों और गुणोंमें अनुस्यूत रहनेवाला एक द्रव्य), समुदाय, साधर्म्य और प्रेत्यभाव आदि कुछ नहीं बन सकेगा। अतएव दोनों एकान्तोंका समुच्चय ही वस्तु है और इसलिए दोनों एकान्तवादियोंको अपने एकान्त हठको त्यागकर दूसरेके अभिप्रायका मान करना चाहिये। तभी पूर्ण वस्तु सिद्ध होती है और विरोध अथवा अन्य कोई दोष उपस्थित नहीं होता।

तीसरे संघर्षका समाधान करते हुए वे कहते हैं[2] कि वस्तु कथंचित् नित्य भी है और कथंचित् अनित्य भी। द्रव्यकी अपेक्षासे तो वह नित्य है और पर्यायकी अपेक्षासे अनित्य है। वस्तु न केवल द्रव्य-रूप ही है क्योंकि परिणामभेद और बुद्धि भेद पाया जाता है। और न केवल पर्यायरूप ही है क्योंकि 'यह वही है जो पहले था' इस प्रकारका अभ्रान्त प्रत्यभिज्ञान प्रत्यय होता है। यदि वस्तु सर्वथा नित्य हो तो उनमें विकार (परिवर्तन) नहीं बन सकता है। इसके साथही पुण्य-पापकर्म और उनका प्रेत्यभाव फल (जन्म-मरण सुख दुःख आदि) एवं बन्धमोक्ष आदि कुछ नहीं बनते हैं। इसीतरह यदि वस्तु सर्वथा अनित्य हो तो प्रत्यभिज्ञान प्रत्यय न हो सकनेसे बद्धको ही मोक्ष आदि व्यवस्था तथा कारणसे ही कार्योत्पत्ति आदि सब गड़बड़ होजायगा। जिसने हिंसाका अभिप्राय किया वह हिंसा नहीं कर सकेगा और जिसने हिंसाका अभिप्राय नहीं किया वह हिंसा करेगा। तथा जिसने न हिंसाका अभिप्राय किया और न हिंसा की वह कर्मबन्धसे युक्त होगा और उस हिंसाके पापसे मुक्त कोई दूसरा होगा, क्योंकि वस्तु सर्वथा अनित्य—क्षणिक है। अतएव वस्तुको, जो द्रव्य-पर्यायरूप है, द्रव्यकी अपेक्षासे तो नित्य और पर्यायकी अपेक्षासे अनित्य दोनों रूप स्वीकार करना चाहिये। और तब हिंसाके अभिप्रायवाला ही हिंसा करता है और वही हिंसक, हिंसा फल भोक्ता एवं उससे मुक्त होता है, आदि व्यवस्था सुसंगत होजाती है। अतः

---

१ देखो. आ० मी. का. ३४, २४, २५, २८, २९, आदि। यहाँ भी सप्तभङ्गीकी योजना प्रदर्शित की गयी है।

२ देखो, आ. मी. का. ५६, ३७, ४०, ४१, ५१ आदि।

इन नित्य-अनित्य-एकान्तवादी दार्शनिकोंको 'सर्वथा' एकान्तके आग्रहको छोड़कर दूसरेकी दृष्टिको भी समझना और अपनाना चाहिये।

इस तरह समन्तभद्रने उपस्थित सभी संघर्षोंका शमन करके तार्किकोंके लिए एक नई दिशाका प्रदर्शन किया और उन्हें स्याद्वादन्यायसे वस्तुव्यवस्था होनेकी अपूर्व दृष्टि बतलायी। उनका स्पष्ट कहना था[1] कि 'भाव-अभाव, एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि जो नय (दृष्टिभेद) हैं वे 'सर्वथा' माननेसे तो दुष्ट (विरोधादि दोषयुक्त) होते हैं और 'स्यात्'—कथंचित् (एक अपेक्षासे) माननेसे वे पुष्ट होते हैं—वस्तुस्वरूपका पोषण करते हैं। अतएव सर्वथा नियमके त्यागी और अन्य दृष्टिकी अपेक्षा करनेवाले 'स्यात्' शब्दके प्रयोग अथवा 'स्यात्' की मान्यताको जैनन्यायमें स्थान दिया गया है। और निरपेक्ष नयोंको मिथ्या तथा सापेक्ष नयोंको वस्तु (सम्यक्) बतलाया गया है।' लेखका कलेवर बढ़जानेके भयसे हम अन्य संघर्षोंके समन्तभद्रोदित समन्वयात्मक समाधानोंको इच्छा न होते हुए भी छोड़ते हैं और गुणज्ञ पाठकोंसे उनके आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन और स्वयम्भूस्तोत्र नामक ग्रन्थोंसे उक्त समाधानोंको जाननेका नम्र अनुरोध करते हैं।

यहां एक बात और उल्लेख योग्य है वह यह कि समन्तभद्रने प्रमाण-लक्षण, नयलक्षण, सप्तभङ्गीलक्षण, स्याद्वादलक्षण, हेतुलक्षण, प्रमाणफलव्यवस्था आदि जैनन्यायके कतिपय अङ्गों-प्रत्यङ्गोंका प्रदर्शन किया, जो प्रायः अब तक नहीं हुआ था अथवा अस्पष्ट था। अतएव समन्तभद्रको जैनन्याय-विकासके प्रथम युगका प्रवर्तक कहना अथवा इस प्रथम युगको समन्तभद्रकालके नामसे उल्लेखित करना सर्वथा उचित है[2]। समन्तभद्रके इस महान् कार्यमें श्रीदत्त, पूज्यपाद, सिद्धसेन, मल्लवादी, सुमति और पात्रस्वामी प्रभृति जैन विद्वानोंने अपनी महत्त्वपूर्ण रचनाओं द्वारा उल्लेखनीय गति दी है। सन्मतितर्क तो समन्तभद्रके सूत्रात्मक कथनोंका विशद और अनुपम भाष्य है। समन्तभद्रने जिस बातको संक्षेपमें अथवा संकेतरूपमें कहा था उसको सिद्धसेनने उसी समन्तभद्रप्रदर्शित पद्धतिसे पल्लवित एवं सुविस्तृत करके अपनी अनोखी प्रतिभाका प्रदर्शन किया है और समस्त एकान्तवादोंका समन्वय करके अनेकान्तवादकी प्रतिष्ठा की है। श्रीदत्तका जल्पनिर्णय, पूज्यपादका सारसंग्रह और सर्वार्थसिद्धि, सिद्धसेन,

---

१. सदेक-नित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः। सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीहिते॥

सर्वथानियमत्यागी यथादृष्टमपेक्षकः। स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम्॥ स्वयं० १०१, १०२॥

य एव नित्यक्षणिकादयो नया मिथोऽनपेक्षाःस्वपरप्रणाशिनः। त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः परस्परेक्षाः स्वपरोपकारिणः॥ स्वयं० ६१।

निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्। आ० मी० १०८। मिथोऽनपेक्षाः पुरुषार्थहेतु र्नांशा न चांशी पृथगस्ति तेभ्यः। परस्परेक्षा पुरुषार्थहेतुर्दृष्टा नयास्तद्वदसि क्रियायाम्॥ युक्त्य० ५१।

१ पं० अजितकुमारजी शास्त्री आदि विद्वानोंने भी यह स्वीकार किया है, देखो उनका 'स्याद्वादको न्यायके ढांचेमें ढालनेवाले आद्य विद्वान्' शीर्षक निबन्ध, जैनदर्शन-स्याद्वादाक (पृ० १७०) वर्ष २, अंक ४--५।

का सन्मतितर्क, मल्लवादिका नयचक्र और पात्रस्वामीका त्रिलक्षण-कदर्थन प्रभृति जैनन्यायरचनाएं इस कालकी महत्त्वपूर्ण कृतियां हैं। इनमें जल्पनिर्णय, सारसंग्रह और त्रिलक्षणकदर्थन अनुपलब्ध हैं और शेष आज भी उपलब्ध हैं। मेरा ख्याल है कि इस कालमें और भी अनेक न्याय-ग्रन्थ रचे गये होंगे, क्योंकि जैनविद्वानोंमें पठन-पाठन, उपदेश और ग्रन्थरचनाकी प्रवृत्ति सबसे ज्यादा और मुख्य रहती थी। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान शान्तरक्षित (ई० ७ वीं ८ वीं) और उनके शिष्य कमलशीलने तत्त्वसंग्रह और उसकी विशाल टीकामें जैनतार्किक सुमति, पात्रस्वामी आदिके ग्रन्थ-वाक्योंको उद्धृत करके उनका आलोचन किया है[1] परन्तु उनके वे ग्रन्थ[2] आज उपलब्ध नहीं हो रहे हैं। इस तरह इस समन्तभद्रकालमें जैनन्यायकी एक योग्य और उत्तम भूमिका तैयार हो गई थी।

२ **अकलङ्क काल**—इस भूमिकापर जैनन्यायका उत्तुंग और सर्वांग सुन्दर महान् प्रासाद जिस कुशल और तीक्ष्ण बुद्धि शिल्पीने खड़ा किया वह है अकलङ्क। समन्तभद्रकी तरह अकलङ्कके कालमें भी जबर्दस्त दार्शनिक क्रान्ति हो रही थी। एक तरफ शब्दाद्वैतवादी भर्तृहरि, प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल, न्यायनिष्णात उद्योतकर प्रभृति वैदिक विद्वान् थे तो दूसरी तरफ धर्मकीर्ति और उनके तर्कपटु शिष्य एवं व्याख्याकार प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर, कर्णकगोमि आदि बौद्ध तार्किक थे। शास्त्रार्थों और शास्त्रोंके निर्माणकी पराकाष्ठा थी। प्रत्येक दार्शनिककी हर चन्द कोशिश प्रायः यही होती थी कि किसी तरह अपने पक्षका साधन और परपक्षका निराकरण करके अपनी विजय और अपने सिद्धान्तकी प्रतिष्ठा की जाय, तथा प्रतिवादी विद्वानकी पराजय और उसके सिद्धान्तकी मखौल उड़ायी जाय। यहां तक कि विरोधी विद्वान्के लिए 'पशु', वह्लीक' जैसे अशिष्ट और अश्लील पदोंका प्रयोग करना साधारण सी बात हो गयी थी। वस्तुतः यह काल जहां तर्कके विकासका मध्यान्ह है वहां इस कालमें न्यायका बड़ा विरूप और उपहास हुआ है। अनुमानके उत्कृष्ट नियमों द्वारा छल, जाति, निग्रह स्थानोंको वस्तुनिर्णयमें उपयोगी बतलाकर सारोप समर्पित करना, केवल हेतुको ही शास्त्रार्थका अङ्ग मानना, क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद आदि ऐकान्तिक वादोंका समर्थन करना इस युगका कार्य रहा है। अकलंकने[3] देखाकि न्यायका पवित्र मार्ग बहुत कुछ मलिन होचुका है और समन्तभद्रकी अनूठी स्याद्वादन्यायकी भूमिका अनय विशारदोंने दूषित एवं विकृत करदी है तो उन्होंने दो कार्य किये—एक तो न्यायमार्गको निर्मल बनाया और दूसरा कितना ही नया निर्माण किया। यही कारण है कि उन्होंने अपने[4] प्रकरणों (ग्रन्थों) में

---

१ देखो, तत्त्वसंग्रह पृ. ३७९, ३८६ ९८३ आदि।

२ श्रवण बेलगोलाके चन्द्रगिरि पर्वतपर शक सं. १०५० में उत्कीर्ण शिलालेख न. ५४।६७में सुमतिदेवके 'सुमति सप्तक' नामके एक महत्त्वपूर्ण तर्क ग्रन्थका उल्लेख मात्र मिलता हैं।—ले०।

३ देखो, न्यायविनिश्चयकी पहली कारिका जो पहले, फुटनोटमें उद्धृत की जाचुकी है।

४ तत्वार्थवार्तिक, आप्तमी- मांसा भाष्या (अष्टशती), सिद्धिविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह और लघीयस्त्रय ये छह ग्रन्थ।

चार निबन्ध तो केवल न्याय शास्त्रपर ही लिखे हैं। इन चार निबन्धोंमें न्याय विनिश्चय बड़ा है और सिद्धिविनिश्चय, प्रमाण संग्रह तथा लघीयस्त्रय उससे छोटे हैं। न्याय विनिश्चयमें ४८०, सिद्धिविनिश्चयमें (अज्ञात), प्रमाणसंग्रहमें ८७½ और लघीयस्त्रयमें ७८ मूलकारिकाएं हैं। इनकी स्वोपज्ञ वृत्तियोंका परिमाण उनसे अलग है। यहां हम अकलङ्कदेवके उक्त दोनों कार्योंका कुछ दिग्दर्शन करा देना आवश्यक समझते हैं।

अकलङ्कदेवका दूषणोद्धार—

(क) समन्तभद्रने आप्त मीमांसामें, मुख्यतः आप्तकी सर्वज्ञता और उनके स्याद्वाद उपदेशकी संसिद्धि की है[1] और सर्वज्ञता –केवल ज्ञान तथा स्याद्वादमें साक्षात् असाक्षात् सर्वतत्त्व प्रकाशनका भेद बतलाया है[2]। कुमारिलने सर्वज्ञतापर और धर्मकीर्तिने स्याद्वाद (अनेकान्त सिद्धान्त) पर क्रमशः मीमांसा श्लोकवार्तिक और प्रमाणवार्तिक में आक्षेप किये हैं। कुमारिलने लिखा है—

'एवं यैः केवलज्ञानमिन्द्रियाद्यानपेक्षिणः।
सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम्॥
नर्ते तदागमात्सिद्ध्येन्न च तेनागमो विना।'— मीमां. पृ. ८७।

अर्थात् जो सूक्ष्मादि विषयक अतीन्द्रिय केवलज्ञान पुरुषके माना है वह जैन मान्यतानुसार आगमके विना सिद्ध नहीं होता और उसके विना आगम सिद्ध नहीं होता और इसलिए सर्वज्ञताके माननेमें अन्योन्याश्रय दोष आता है।'

अकलङ्कदेव कुमारिलके इस दूषणका परिहार करते हुए जवाब देते हैं:—

एवं यत्केवलज्ञान मनुमानविजृम्भितम्।
नर्ते तदागमात् सिद्ध्येत् न च तेन विनाऽऽगमः॥
सत्यमर्थबलादेव पुरुषातिशयो मतः।
प्रभवः पौरुषेयोऽस्य प्रबन्धोऽनादिरिष्यते॥— न्यायविनि. ४१२, ४१३।

अर्थात् 'यह सच है कि केवलज्ञान आगमके विना और आगम केवलज्ञानके विना सिद्ध नहीं होता तथापि अन्योन्याश्रय दोष नहीं; क्योंकि पुरुषातिशय (केवलज्ञान) अर्थबल (प्रतीतिवश) से ही माना जाता है और इसलिए बीजाङ्कुरकी तरह उनका (आगम और केवल ज्ञानका) प्रबन्ध अनादि (सन्तान प्रवाह रूप) बतलाया गया है।

(ख) धर्मकीर्त्तिका स्याद्वाद—अनेकान्त-सिद्धान्तपर यह आक्षेप है—

---

१ देखो, आप्तमीमांसा कारिका ५ और ११३।

२. 'स्याद्वाद-केवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्॥'--आ. मी. १०५।

सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः ।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति ॥– प्रमाणवा. १-१८३ ।

अर्थात् 'यदि सब पदार्थ उभयरूप-अनेकान्तात्मक हों तो उनमें कोई भेद न रहनेसे किसीको 'दही खा' ऐसा कहनेपर वह क्यों ऊंटपर नहीं दौड़ता ?'

इस आक्षेपका जवाब अकलङ्कने निम्न प्रकार दिया—

दध्युष्ट्रादेरभेदत्वप्रसङ्गादेकचोदनम् ।
पूर्वपक्षमविज्ञाय दूषकोऽपि विदूषकः ॥
सुगतोऽपि मृगो जातो मृगोऽपि सुगतः स्मृतः ।
तथापि सुगतो वन्द्यो मृगः खाद्यो यथेष्यते ॥
तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः ।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रमभिधावति ॥

----न्यायविनि. ३७२, ३७३, ३७४ ।

अर्थात् 'दधि और ऊंटमें अभेदका प्रसंग देकर उन्हें एक बतलाना धर्मकीर्त्तिका पूर्वपक्ष (अनेकान्तमत) को न समझना है और ऐसा करके वह दूषक होकर भी विदूषक हैं। वह इस बातसे कैसे इन्कार कर सकता है कि सुगत भी पहले मृग थे और मृग भी सुगत हुआ माना गया है। फिर भी जिस प्रकार सुगतको वन्दनीय और मृगको भक्षणीय कहा जाता है और इस तरह पर्यायभेदसे वन्दनीय भक्षणीयकी भेद व्यवस्था तथा सुगत व मृगमें एक चित्तसन्तान (जीव द्रव्य) की अभेदव्यवस्था की जाती है उसी प्रकार वस्तुबल (पर्याय और द्रव्यकी अपेक्षा) से भेद और अभेदकी व्यवस्था है। और इसलिए किसीको 'दही खा' यह कहनेपर वह क्यों ऊंटपर दौड़ेगा ? क्योंकि उनमें द्रव्यकी अपेक्षा अभेद होने पर भी पर्यायकी अपेक्षा भेद है। अतएव भक्षणीय दही पर्यायको ही वह खावेगा ऊंट पर्यायको जो भक्षणीय नहीं है, नहीं खानेको दौड़ेगा। भेदाभेद (अनेकान्त) तो वस्तुका स्वभाव है उसका निषेध हो ही नहीं सकता।'

अकलङ्कदेवके ये जवाब कुमारिल और धर्मकीर्त्तिपर कितनी सीधी और मार्मिक चोट करते हैं ? इस तरह अकलङ्कने दूषणोद्धारके अनिवार्य कार्यको बड़ी योग्यता और सफलताके साथ पूर्ण किया है।

जैनन्यायका नवनिर्माण—

दूसरा कार्य उन्होंने यह किया कि जैनन्यायके जिन अङ्गों-प्रत्यङ्गोंका तब तक विकास नहीं हो सका था उनका उन्होंने विकास किया अथवा उनकी प्रतिष्ठा की। हम पहले कह आये हैं कि उन्होंने अपने चार निबन्ध मुख्यतः न्यायशास्त्र पर लिखे हैं। अतएव उन्हें इनमें जैनन्यायको सर्वाङ्गपूर्ण प्रतिष्ठित

करना ही चाहिये था। न्यायका अर्थ है—जिसके द्वारा वस्तु तत्त्व जानाजाय और इसलिए वह न्याय प्रमाण नयात्मक है क्योंकि प्रमाण और नयके द्वारा ही वस्तुतत्त्व जाना जाता है[1]। अकलङ्कने विभिन्न दार्शनिकों की विप्रतिपत्तियोंके निरसन पूर्वक इन दोनोंके स्वरूप, संख्या (भेद), विषय, फलका विशद विवेचन, प्रत्यक्षके सांव्यवहारिक और मुख्य इन दो भेदोंकी प्रतिष्ठा, परोक्ष प्रमाणके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क अनुमान, आगम इन पांच भेदोंकी इयत्ताका अवधारण, उनका सयुक्तिक साधन और लक्षणनिरूपण, तथा इन्हींके अन्तर्गत उपमान, अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव, आदि पर-कल्पित प्रमाणोंका समावेश, सर्वज्ञत्वका अपूर्व युक्तिमय साधन, अनुमानके साध्य-साधक अङ्गोंके लक्षणों और भेदोंका विस्तृत प्ररूपण तथा कारणहेतु, पूर्वचरहेतु, उत्तरचरहेतु, सहचरहेतु, आदि अनिवार्य हेतुओंकी ही प्रतिष्ठा, अन्यथानुपपत्तिके अभावसे एक अकिंचित्करात्मक हेत्वाभासका स्वीकार और उसके भेदरूपसे असिद्धादिका प्रतिपादन, दृष्टान्त, धर्मी, वाद, जाति और निग्रहस्थानके स्वरूपादिका जैन दृष्टिसे व्याख्यान, जयपराजय-व्यवस्था, आदि कितना ही निर्माण करके जैनन्यायको न केवल समृद्ध और परिपुष्ट किया है अपितु उसे और भारतीय न्यायोंमें वह गौरवपूर्ण स्थान दिलाया है जो प्रायः बौद्धन्यायको धर्मकीर्तिने दिलाया है। इस तरह अकलङ्क जैनन्यायके मध्ययुग प्रवर्तक हैं और इसलिए इस युगको 'अकलङ्ककाल' के नामसे कहना उचित ही है।

अकलङ्कने जैनन्यायकी जो दिशा और रूपरेखा निर्धारित की उसीपर उनके उत्तरवर्ती सभी जैन तार्किक चले हैं। हरिभद्र, वीरसेन, कुमारनन्दि, विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, सिद्धसेनगणी, वादिराज, माणिक्यनन्दि, आदि इन मध्ययुगीन उत्तरवर्ती आचार्योंने उनके कार्यको बढ़ा करके उसे सुविस्तृत, सुप्रसारित और सुपुष्ट किया है। हरिभद्रके अनेकान्त जयपताका, शास्त्रवार्ता समुच्चय, वीरसेनकी तर्क बहुल धवला-जयधवला टीकाएं, कुमारनन्दिका वादन्याय, विद्यानन्दके विद्यानन्द महोदय, तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक, अष्टसहस्री, आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, युक्त्यनुशासनालंकार आदि, अनन्तवीर्यकी सिद्धिविनिश्चय टीका, प्रमाणसंग्रहभाष्य, सिद्धिसेनगणीकी गन्धहस्ति-तत्त्वार्थ-भाष्यटीका, वादिराजके न्यायविनिश्चयविवरण, प्रमाणनिर्णय और माणिक्यनन्दिका परीक्षामुख इस कालकी अनूठी तार्किक रचनाएं हैं। यह काल जैनन्याय विकासका पूर्ण मध्यान्ह काल है।

प्रभाचन्द्रकाल—इसके बाद प्रभाचन्द्रकाल आता है जो जैनन्याय-विकासका मध्यान्होत्तर अथवा अन्तिमकाल है। प्रभाचन्द्रने जैनन्यायपर जो विशालकाय व्याख्या ग्रन्थ लिखे—प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र, उनके बाद जैनन्यायपर वैसा व्याख्याग्रंथ दिगम्बर परम्परामें फिर नहीं लिखा गया। हां, श्वेताम्बर परम्परामें अभयदेवने सन्मतितर्कटीका और वादी देवसूरिने स्याद्वादरत्नाकर अवश्य लिखे हैं फिर

---

१ 'प्रमाणनयैरधिगमः'—तत्त्वार्थसूत्र १-६। 'नितरामियते ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति न्यायः अर्थपरिच्छेदकोपायो न्याय इत्यर्थः। स च प्रमाणनयात्मक एव'—न्यायदीपिका पृ० ५ (टिप्पण)।

भी ये दोनों ग्रन्थ प्रभाचन्द्रकी पद्धतिसे अनुस्यूत हैं और उनपर प्रभाचन्द्रके व्याख्याग्रंथोंका खासा प्रभाव है। इस कालमें लघु अनन्तवीर्य, अभयदेव, वादी देवसूरि, अभयचन्द्र, हेमचंद्र, मल्लिषेणसूरि, आशाधर, भावसेन त्रैविद्य, अजितसेन, अभिनव धर्मभूषण, चारुकीर्त्ति, विमलदास, उपाध्याय यशोविजय, आदि विद्वानोंने अपनी रचनाओं द्वारा जैनन्यायको संक्षेप और विस्तारसे सुपुष्ट किया है। इस युगकी रचनाओंमें लघु अनन्तवीर्यकी प्रमेयरत्नमाला, अभयदेवकी सम्मतितर्कटीका, वादी देवसूरिका प्रमाणनयतत्त्वा लोकालंकार और उसकी स्वोपज्ञटीका स्याद्वादरत्नाकर, अभयचंद्रकी लघीयस्त्रयवृत्ति, हेमचंद्रकी प्रमाणमीमांसा, मल्लिषेणसूरिकी स्याद्वादमंजरी, आशाधरका प्रमेयरत्नाकर, भावसेन त्रैविद्यका विश्वतत्त्वप्रकाश, अजितसेनकी न्यायमणिदीपिका, चारुकीर्त्तिकी अर्थप्रकाशिका और प्रमेयरत्नमालालंकार (प्रमेयरत्नमालाकी टीकाएं) विमलदासकी सप्तभंगितरंगिणी और उपाध्याय यशोविजयके, जो ई० १७ वीं शतीके अन्तिम तार्किक हैं, अष्टसहस्री टिप्पण, ज्ञानबिन्दु, जैनतर्कभाषा विशेषरूपसे उल्लेखयोग्य जैनन्यायग्रंथ हैं। अंतिम तीन विद्वानोंने अपने न्याय ग्रंथोंमें नव्यन्यायशैलीको भी, जो गङ्गेशउपाध्याय प्रभृति मैथिल नैयायिकों द्वारा प्रचलित की गयी थी, अपनाया है और उससे अपने न्याय ग्रंथोंको सुवासित एवं समलंकृत किया है। इनके बाद जैनन्यायकी धारा प्रायः बन्द सी हो गयी और उसमें आगे कोई प्रगति नहीं हुई।

इस तरह जैनविद्वानोंने जहां जैनन्यायका उच्चतम विकास करके भारतीय ज्ञानभण्डारको समृद्ध बनाया है वहां जैन साहित्यकी सर्वाङ्गीण समृद्धि और विपुलश्रीको भी परिवर्द्धित एवं सम्पुष्ट किया है, यह प्रत्येक भारतीय विशेषकर जैनोंके लिए गौरव और गर्वकी वस्तु है।
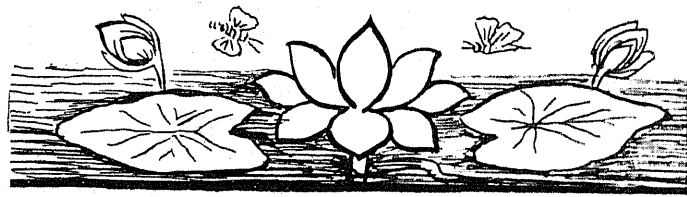
आत्म और अनात्म—

श्री ज्वाला प्रसाद ज्योतिषी एम० ए०, एल० एल० बी०,

सृष्टिमें हम साधारणतया जड़ और चेतन, इसप्रकार दो प्रकारकी अस्तियोंपर विश्वास करते हैं। एक वे अस्तित्व, जो प्राणवान हैं—जिसमें मति, गति, धृति, चिन्तना, अनुभूति जैसी प्रक्रियाएं विद्यमान हैं। दूसरी वे, जिनमें इस तरहकी किसी हरकतको स्थान नहीं है। पौर्व्वात्य और पाश्चात्य, सभी विचारकोंने एक सीमातक किसी न किसी रूपमें इन दो प्रकारके अस्तित्वोंको स्वीकार किया है। किसीने दोनोंको सम्पूर्णतया पृथक माना है तो किसीने एक दूसरेको सम्बद्ध स्वीकार किया है। शक्तिको ही सब कुछ माननेवाले आधुनिक वैज्ञानिकने भी स्वरूपको मान्यता दी है और वस्तुके अस्तित्वको साकार करनेवाले अवयवोंको स्वीकार किया है। कठोरसे कठोर अद्वैतवादी भी स्थूल विश्वकी व्यावहारिक सत्ताको स्वीकार करते हैं और विश्वके स्वरूप, गुण आदि की सत्ताको अस्थाई भले ही कहें, पर उसे स्वीकार तो करते ही हैं।

अस्तु, आत्म और अनात्म इन दोनों तत्त्वोंपर सृष्टिके सभी विचारक सुदीर्घ कालसे विश्वास करते आये हैं। इन दोनोंमें उन्होंने एकत्व, पृथकत्व अथवा अन्योन्याश्रयत्व, कुछ भी क्यों न माना हो, लेकिन उनके अस्तित्वको स्वीकृत अवश्य किया है। और आज हमारे सामने प्रश्न है—ये आत्म और अनात्म तत्त्व हैं क्या? वे वास्तवमें दो पृथक तत्त्व हैं अथवा किसी एक तत्त्वके दो पृथक गुणमात्र हैं? प्रश्न बहुत पेचीदा है और उसका उत्तर सहज ही नहीं दिया जा सकता। स्थूल दृष्टिसे देखनेसे सृष्टिमें कुछ ऐसे पदार्थ दिखते हैं जो चेतनासे सर्वथा शून्य हैं। उन्हें हमपूर्ण-रूपेण जड़ पाते हैं। कुछ ऐसे हैं जिनमें सशरीरताके साथ सचेतनता भी है और इनसे दूर हम ऐसी कल्पना कर सकते हैं, जहाँ स्थूलताका कोई स्थान नहीं—जहां सम्पूर्णतया चेतनाका ही साम्राज्य है। और तब हमारा प्रश्न और भी जटिल होजाता है।

लेकिन सृष्टिकी दृश्यमानता ही तो सम्पूर्ण सत्य नहीं है। एक प्याले पानीमें एक चम्मच शक्कर डालिये। आप देखेंगे कि मीठा शर्बत तैयार होगया। इस शर्बतको एक ग्लास पानीमें डाल दीजिये। आप अनुभव करें गे—मिठास फीका पड़ गया है। और अब इस फीके शर्बतको कुंएमें छोड़

दीजिये। कुंएका पानी चखिये। देखिये ! क्या आप अब भी कुंएमें उस एक चम्मच शक्करके मिठासका अनुभव कर सकते हैं ? क्या हुआ उस शक्करका ? कहां गयी उसकी मिठास ? निश्चय ही हम इंद्रियों द्वारा उस मिठासका अनुभव नहीं कर सकते। लेकिन क्या यह सच नहीं है कि मिठास अब भी जलमें मौजूद है ? वह कुएंके सारे जलके साथ एक रस—एक प्राण होगयी है !

शक्ति और पदार्थके अविनाशपर विश्वास करनेवाला कोई भी व्यक्ति स्वीकार करेगा कि मिठास नष्ट नहीं हुई। उसका विकास इतना व्यापक होगया है कि उसके अस्तित्वको हमारी जिह्वा अनुभव नहीं कर पा रही है। वैज्ञानिक प्रयोग द्वारा उसके अस्तित्वको जाना जासकता है—सिद्ध किया जासकता है। हमारी इंद्रियां ज्ञानप्राप्तिका एक अत्यंत स्थूल साधन हैं। कुएंके जलमें शक्करके उपस्थित होते हुए भी वे उसके अस्तित्वका ज्ञान प्राप्त न कर सकीं। हमारे प्रयोग भी इसीप्रकार एक सीमाके परे अत्यंत बोथरे हैं। रहस्यके आवरणको चीरकर सत्यको सामने करदेनेमें वे एक निश्चित दूरी तक ही हमारा साथ देते हैं। और तब क्या यह सम्भव नहीं है कि आत्म और अनात्मके बीच हमने जो विभाजक रेखा खींची है वह पूर्णतया हमारे अज्ञान और हमारी असमर्थताका ही प्रतीक हो ? क्या यह सम्भव नहीं है कि जिन वस्तुओंको हमने जड़ताकी संज्ञा दे रखी है उनमें चेतनाका अनन्त सागर हिलोरें मार रहा हो—मुश्किल केवल इतनी ही है कि हमारी स्थूल इंद्रियां और बौनी प्रयोगवीरता उस सागरके तट तक पहुंचनेमें अक्षम हो ?

आत्म और अनात्म मेरे मतमें किसी एक तत्त्वके दो अंग हैं—उसकी दो प्रक्रियाएं हैं। यदि शब्दोंको रूढ़ न किया जाय तो मैं उस तत्त्वको 'महात्म' कह दूं ! वस्तु अपने आप क्या है ? गुणों और व्यापारोंके समुच्चयसे पृथक उसकी क्या कल्पना हो सकती है ? मैं हूं। मैं लिख रहा हूं। मैं बोल सकता हूं। मैं दौड़ सकूंगा ! उपरोक्त वाक्यों द्वारा एक व्यक्ति और उसके द्वारा सम्पन्न होनेवाले अथवा हो सकने वाले कुछ व्यापारोंका बोध होता है। व्यापार वह क्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी अभिव्यक्ति करता है। अस्तित्वके साथ व्यापारका घना सम्बन्ध है। व्यापारके बिना अस्तित्वकी कल्पना भी सम्भव नहीं है। जब हम गाय शब्दका उच्चारण करते हैं, तब उस शब्दका हमारे लिए कोई अर्थ नहीं होता जबतक कि गायके किसी व्यापारका भी बोध न हो। गाय आयी ! गाय गयी ! गाय चाहिये ! अर्थ यह कि गायसे सम्बन्धित किसी न किसी व्यापारके बिना गाय शब्द स्वयं अर्थहीन है। शब्द और स्वरूपके बीच युगोंसे स्थापित सम्बन्ध हमारे मानस पटलपर एक चित्र विशेष अंकित करता है। उस चित्रके अर्थ मौन रहते हैं उसके भाव अव्यक्त रहते हैं।

अंगोंके विना अंगीकी जिस प्रकार कल्पना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार व्यापारके विना किसी अस्तित्वकी कल्पना सम्भव नहीं है। और क्या है व्यापार ? अस्तित्वकी चैतन्यमयी अभिव्यक्ति ही न ? आत्म और अनात्मको हमने जिस 'महात्म' की दो प्रक्रियाएं कहा वह "महात्म" अपने आपको रूपों, रंगों, गुणों, अनुभूतियों और न जाने कितने प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष व्यापारों द्वारा ही तो अभिव्यक्त कर

रहा है। हम शक्करके मिठासकी शक्करसे पृथक क्या कोई कल्पना कर सकते हैं? और शक्करके स्वरूपको—वह परिवर्तित स्वरूप ही क्यों न हो—पृथक करके भी क्या शक्करके मिठासका आभास पाया जासकता है? कोई कहे कि नमकके दृढ़ फड़कीले ठोस स्वरूपको खोकर उसके सलौनेपनको हमारे सामने लाइये! क्या सम्भव है ऐसा होना किसी भी वैज्ञानिक प्रक्रिया द्वारा?

और शक्ति—चैतन्य—आत्म—क्या इसे भी हम स्थूल—ठोस—अचेतन कहे जानेवाले पदार्थोंसे पृथक निकालकर कहीं रख सकते हैं? विद्युत शक्तिको वैज्ञानिक शक्तिका एक अत्यंत उग्रस्वरूप मानता है। लेकिन क्या ईथरके—आकाशके ठोस परिमाणुओंके विना भी उसका अस्तित्व हो सकेगा?

जड़ और चेतन—आत्म और अनात्म, मैंने ऊपर लिखा—महात्मकी अभिव्यक्तिकी दो साधनाएं, एक कलाकारकी दो कृतियाँ हैं। एक गद्य तो दूसरी पद्य! और भावोंके विचारोंके सामंजस्यके रूपमें कलाकारके व्यक्तित्वकी जो अभिव्यक्ति है वह क्या गद्य और पद्य दोनोंमें व्यक्तरूपोंके मेलसे ही परिपूर्ण नहीं होती? कवीन्द्रकी आत्मा केवल डाकघरमें हो—केवल गोरामें हो—केवल गीतांजलिमें हो—उसे कौन कहेगा? वह तो गोरा, गीतांजलि और उर्वशी सभीकी सीमाओंमें हिलोरें मारती हुई अपने समस्त कृतित्वमें व्यक्त होती है!

आत्म और अनात्म, गोरा और गीतांजलि जैसी स्थूल रूपमें पृथक दिखनेवाली चीजें नहीं! यों गोरा और गीतांजलि भी पृथक चीजें नहीं हैं!—वे एक व्यक्तित्वकी अभिव्यक्तिकी परम्परा की दो कड़िया हैं। जिसे हम अनात्म कहते हैं उसके वह 'महात्म' की अभिव्यक्ति है और जिसे आत्म कहते हैं वह भी वही चीज है। हमारी इन्द्रियोंमें—हमारे प्रयोगोंमें आज यह शक्ति नहीं है कि हम उनकी अभिन्नताको समझ सकें, लेकिन वस्तुतः ये दोनों एक हैं।

एक लौह दण्डको लीजिये। चुम्बकके एक सिरेको लेकर लोह दण्डके एक छोरसे लेकर दूसरे छोर तक अनेक बार सीधा चलाइये। अब देखेंगे कि लौह दण्डमें चुम्बककी शक्ति आगयी। आखिर यह शक्ति आयी कहाँसे? क्या चुम्बकने यह शक्ति लौह दण्डको देदी? जरा चुम्बककी परीक्षा कीजिये। क्या उसकी आकर्षण शक्तिमें कोई कमी आगयी? हम देखते हैं कि उसकी शक्ति ज्यों की त्यों मौजूद है। फिर यदि शक्तिके अविनाशकत्वका सिद्धान्त सही है तो लौह दण्डमें यह शक्ति कहांसे आयी? अब लौह दण्डको जरा गर्मकर दीजिये अथवा पूर्व पश्चिम रखकर हथौड़ेसे पीट दीजिये। देखिये क्या अब भी आकर्षण शक्ति विद्यमान है? यदि नहीं तो वह गयी कहां? क्या हथौड़ेने उस शक्तिको ग्रहण कर लिया? परीक्षा करनेसे ज्ञात होगा कि उसने शक्ति नहीं पायी! तब आखिर यह है क्या?

विज्ञानका छोटेसे छोटा विद्यार्थी भी जानता है कि लौह दण्डके प्रत्येक परमाणुमें चुम्बकीय शक्ति विद्यमान है। चुम्बक द्वारा बार बार स्पर्शित किये जानेसे वह शक्ति नियंत्रित होजाती है अतएव

हमें उसके अस्तित्वका बोध होजाता है। हथौड़ेसे पीटे जानेपर अथवा आगसे तपाये जानेपर परमाणु विश्रृंखलित होजाते हैं अतएव शक्ति अनियंत्रित होजाती है, फलतः हमें उसका बोध नहीं होता। अनियंत्रितके समुद्रमें शक्तिकी बूंदे घुलजाती हैं और जिसप्रकार चीनीका मिठास कुएंके जलमें खोगया था, उसीप्रकार शक्ति भी हमारी बोधकताकी दृष्टिसे ओझल होजाती है।

अस्तु, हमारा स्थिर मत है कि चेतन और अचेतन दो तत्त्व नहीं, वे एक तत्त्वके दो गुण हैं और कम या अधिक विकसित अवस्थामें प्रत्येक वस्तुमें विद्यमान हैं। जिसप्रकार प्रत्येक पदार्थमें सभी रंगों के ग्रहण करनेकी शक्ति मौजूद है उनके खुदके कोई रंग नहीं हैं रंग सारे सूर्यकी किरणोंके हैं—उन्हें ग्रहण करके वे किसी रंग विशेषको परिवर्तित करते हैं, इसलिए वे उस रंगसे रंजित दिखते हैं—उसीप्रकार चेतन अथवा अचेतनके कम व ज्यादा परावर्त्तनके कारण जड़ अथवा चेतन दिखता है। पीले दिखनेवाले पदार्थ केवल पीले नहीं उनमें सूर्यकी किरणों द्वारा प्रदत्त सारे रंग मौजूद हैं। वह पदार्थ अन्यान्य रंगोंकी तुलनामें पीले रंगको अधिक परिमाणमें परावर्तित कर रहा है! इसीलिए हमें पीला दिखता है। उसी-प्रकार प्रत्येक वस्तु किसी महात्म द्वारा प्रकाशित हो रही है। कहीं जड़त्वकी किरणोंका अधिक परिमाण में परिवर्त्तन होरहा है, कहीं चेतनाकी किरणोंका। इसीलिए हमें कहीं जड़ता तो कहीं चेतनाके दर्शन होरहे हैं। हमारी दृष्टिमें, जो चैतन्यको सर्वस्व माने हैं वे भी सृष्टिके रहस्यसे दूर रहे हैं और जिन्होंने जड़को ही सबकुछ समझा वे भी जीवनके वास्तविक तत्त्व तक नहीं पहुंच सके। उपनिषदमें जहां विद्या और अविद्याकी व्याख्या करते हुए दोनोंको अपनाकर चलनेकी बात कही गयी है, वहां हमारी समझमें जड़ और चेतनकी एकताका आभास पाकर ही परम-दृष्टाने दोनोंकी सम्यक् आराधनाको जीवनका लक्ष्य प्रतिष्ठित किया है। आत्म और अनात्मको पृथक समझकर बहुत कुछ खोया है। जरूरत है कि उनके एकत्वकी प्रतिष्ठा करके उस खोयेको पुनः प्राप्त किया जावे।
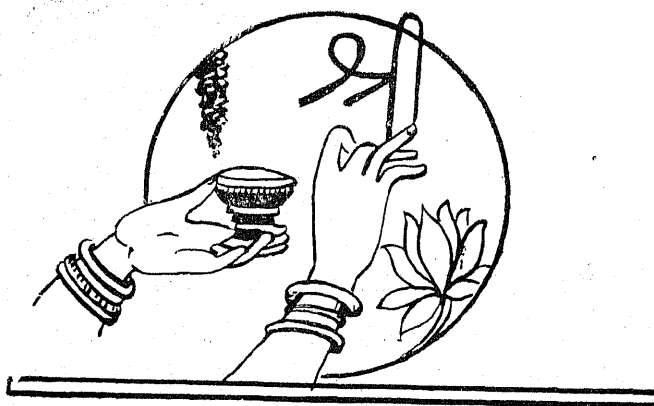
बौद्ध प्रमाण सिद्धान्तोंकी जैन-समीक्षा

श्री प्रा० हरिमोहन भट्टाचार्य, एम. ए०, आदि

बौद्ध दर्शनके सुविख्यात चार सम्प्रदायोंमें से वैभाषिक, सौत्रान्तिक तथा योगाचारके विद्वानों का भारतीय प्रमाण चर्चामें पर्याप्त योगदान है। यहां इन तीनों सम्प्रदायोंकी प्रमाण विषयक मान्यताओंका विचार करके हम जैन प्रमाण दृष्टिसे उनका मूल्याङ्कन करेंगे।

सब ही बौद्ध सम्प्रदायोंके अनुसार प्रत्येक वस्तु अनित्य है, एक क्षण रहती है, दूसरे क्षण नष्ट होती हुई दूसरेको उत्पन्न होने देती है। अर्थात् आत्माका ज्ञान भी नित्य नहीं है। यह सब ज्ञान सन्तान है। इनमें प्रत्येकका कार्य; अर्थात् आत्म सदृशकी उत्पत्तिमें कारणतासे-निश्चय होता है, जिसे बौद्ध 'प्रतीत्यसमुत्पाद' कहते हैं जिसका तात्पर्य धारावाही (आश्रित) उत्पत्ति होता है अर्थात् ज्ञानमें इन्द्रियां निमित्त नहीं है, सब कुछ छाया (संस्कार) मात्र है ज्ञान तथा ज्ञेयमें कोई अन्तर नहीं है। इन मूल मान्यताओंपर दृष्टि रखने पर बौद्ध तत्त्वज्ञानको समझना सरल हो जाता है।

वैभाषिक प्रमाण सिद्धान्त तथा समीक्षा--

वैभाषिक वास्तविकताको मानता है उसके अनुसार प्रत्येक पदार्थका ज्ञान साक्षात्कारसे होता है किन्तु उसका प्रमाण निराकार बोध स्वरूप है। किन्तु यह सुविदित है कि प्रमाणकी प्रामाणिकताके विशेष लक्षण होते हैं जो कि इसे साधारण बोधसे पृथक् सिद्ध करते हैं। अतएव निराकार बोध रूपसे की गयी प्रमाण परिभाषा उसके अभीष्टको सिद्ध नहीं करती। किसी पदार्थकी परिभाषाका तात्पर्य ही असाधारण धर्मोंको बताना है जो कि उसे सजातीय तथा समानसे पृथक् सिद्ध करते हैं। किन्तु प्रमाणकी 'निराकार बोध' परिभाषा करके वैभाषिक हमें विशेष लक्षणहीन साधारण बोधको बताता है और अपनी परिभाषाका अतिव्याप्त[1] कर देता है। इस प्रकार संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय, आदि प्रमाणाभासोंका भी ग्रहण हो जाता है। प्रमाण तथा प्रमाणाभासका भेद तो लुप्त हो ही जाता है। इसका दूसरा परिणाम यह भी होगा कि इन्द्रिय, आदि बोधके साधारण कारण भी प्रमाण हो जांयगे जैसे कि साधारणतया कहा जाता है—दीपकसे घड़ी देखी, आंखसे पहिचाना, धुंएसे आगको जाना, आदि। इन सबकी प्रामाणिकता

---

१ बोधप्रमाणमिति वदन्तो वैभाषिकाः पर्यानुयोज्याः। त बो. विधा. पृ ४५८।

रूढिमूलक[1] है क्योंकि उसका प्रधान हेतु तो कुछ मानसिक तथा तात्त्विक प्रक्रियाएं हैं। अतएव जैनाचार्य कहते हैं कि स्व-पर-ज्ञापक बोधको प्रमाण मानना चाहिये अर्थात् वह ज्ञान जो आत्मप्रकाशके द्वारा स्वयं प्रमाणभूत है तथा ज्ञेय पदार्थके आकार और स्वभावसे भिन्न है आपाततः प्रमाणाभासोंसे पृथक् है। कोई भी स्वपर-प्रकाशक ज्ञान अपनी प्रामाणिकताके लिए किसी भी बाह्य वस्तुकी अपेक्षा नहीं करता। यदि प्रमाणके स्वरूपको अव्यभिचारी बनानेके लिए उसमें किसी विशेष नैमित्तिकताकी कल्पना की जाय तो वह विशेष निमित्त व्यर्थ ही नहीं होगा अपितु अन्योन्याश्रय दोषको भी जन्म देगा। पदार्थका सम्यक् ज्ञान ही प्रमाणकी प्रामाणिकताका सच्चा निमित्त हो सकता है और यदि सम्यक्ज्ञान प्रमाण अर्थात् अव्यभिचारी हो तो हम उसे प्रमाण या प्रमिति मानें गे। किन्तु प्रमिति रूप परिणामको अर्थ जन्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि अर्थका बोध और प्रमिति एक साथ उत्पन्न होते हैं, जो सहभावि होते हैं उनमें कार्य कारण भावकी कल्पना नहीं की जा सकती है क्योंकि उनमें वह क्रम नहीं होता जो कार्य-कारणमें आवश्यक है। परिणाम स्वरूप यह समझना कठिन होगा कि अर्थसे बोध हुआ या बोधसे अर्थ, फलतः वैभाषिकका निराकार बोधको प्रमाण मानना असंभव है।

इसके अतिरिक्त निराकार बोधमें प्रमाण कल्पना वैभाषिककी मूल मान्यतापर आघात करती हुई अनवस्थाको उत्पन्न करती है। सत्वादी होनेके कारण वह बाह्य पदार्थ तथा उनका साक्षात्कार मानता है। अब बाह्य पदार्थके साक्षात्कारका अर्थ होगा कि पदार्थ अपने आकारको अपने ग्राहक ज्ञानमें दे देता है। फल यह होगा कि निराकार बोध अर्थके आकारसे युक्त होकर साकार हो जायगा। एक और आपत्ति है, धारावाहिक ज्ञानमें यदि प्रथम क्षणमें पदार्थ अपने आकारको देकर लुप्त हो जाय गा। तब द्वितीयक्षणमें दूसरे पदार्थकी कल्पना करनी होगी जो इसी प्रकार अपना आकार देकर लुप्त हो जाय गा। अतएव धारावाहिक ज्ञानकी धाराको बनाये रखनेके लिए अनन्त पदार्थोंकी कल्पना करनी पड़ेगी। तब वैभाषिकको धरावाहिक ज्ञानके प्रतिक्षणमें निराकार ज्ञानको साकार बरबश करना पड़ेगा तथा अनवस्थापत्तिसे बचनेके लिए अपनी मूल मान्यताको छोड़नेको बाध्य होना ही पड़ेगा। किन्तु जैन इस आपत्तिको ज्ञानको 'स्वपरावभासी' मानकर सहज ही दूर कर देता है। यतः ज्ञान ज्ञेय-बाह्य पदार्थके साथ अपनी प्रामाणिकताका भी प्रकाशक है और सदा साकार ही होता है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि बाह्य पदार्थ ज्ञानकी उत्पत्तिकी प्रामाणिकतामें साधक है। सतत अथवा धारा-वाही ज्ञानके कारणभी जैनमान्यतामें अनवस्थाको अवकाश नहीं है। कारण, वैभाषिकके समान आकार समर्पणके लिए जैनमान्यतामें अनन्त क्षणिक पदार्थोंकी कल्पनाकी आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक पदार्थमें अपनी एक विशिष्ट एकता तथा नित्यता रहती है फलतः आकार मिलता ही रहता है। प्रश्न होता है कि सतत स्थायी प्रथम क्षणमें आकार देने पर द्वितीय आदि क्षणमें उसका पुनः ग्रहण होगा अर्थात् "ग्रहीत

१—त. बो. विधा. पृ. ४५९ तथा प्र. क. म. पृ. २६।

ग्रहिता" दोष आया। प्रथम ज्ञानके साथही प्रमाणका कार्य समाप्त हो जाय गा फलतः उत्तर कालीन बोध व्यर्थ होंगे तथा धारावाही ज्ञानकी उपयोगिता स्वयं समाप्त हो जायगी। जैन इस आपत्तिका युक्ति-युक्त परिहार करते हैं—पदार्थका वास्तविक स्वरूप ही धारावाही बोधकी प्रामाणिकता और उपयोगिता सिद्ध करनेके लिए पर्याप्त है। संसारका प्रत्येक पदार्थ द्रव्य (स्थायि रूप) तथा पर्याय (परिवर्तन) मय है अर्थात् पर्याय रूपसे सतत परिवर्तन शील होकर भी द्रव्यरूपसे नित्य है। अतएव कह सकते हैं कि कोई भी पदार्थ बोधके प्रथम क्षणमें जिस रूपमें था उत्तर क्षणमें वैसा ही नहीं रहेगा। किसी भी पदार्थके उदाहरणार्थ 'घट'के धारावाही ज्ञानमें सर्वथा एकही प्रकारका अथवा सर्वथा भिन्न घट कभी भी दो क्षणोंमें सामने नहीं आता है। इस प्रक्रियाके अनुसार धारावाही ज्ञानमें भी हम द्वितीयक्षणमें उसीका ग्रहण नहीं करते जिसे पूर्व क्षणमें ग्रहणकर चुके हैं। आपाततः ग्रहीत–ग्राहिताका दोष धारावाही ज्ञानसे परे हो जाता है और उसकी प्रामाणिकता पर आघात नहीं करता है।

नैयायिक भी ग्रहीत–ग्रहिताको बोधकी प्रामाणिकतामें बाधक नहीं मानता है। जयन्त भट्टने अपनी न्यायमंजरीमें[1] इसका विवेचन किया है और यही निष्कर्ष निकाला है कि ग्रहीत–ग्राहिता अधिकांश साक्षात्कारोंमें होती है तथा स्मृतिका तो यह असाधारण धर्म है। किन्तु जयन्त भट्टके अनुसार भी एक ऐसी स्थिति है जहां ग्रहीत-ग्राहिता अप्रामाण्यकी जननी होती है। नैयायिक ग्रहीत–ग्रहिताके कारण नहीं, अपितु वस्तु साक्षात्कारके उत्तर कालमें ही उत्पन्न न होनेके कारण स्मृतिकी प्रामाणिकताका निषेध करते हैं। जयन्त भट्टका मत है कि साक्षात्कार जन्य बोधमें हम विषैले सर्प, सिंह, विषाक्त मछली (Shark) आदि घातक जन्तुओंको बारम्बार देखते हैं, और विश्वास करते हैं कि हमारा बोध प्रमाण है, उक्त प्राणियोंको घातक मानते हैं और सुरक्षाके स्थानपर चले जाते हैं। इसी प्रकार माला, चन्दन, कपूर, आदिको बारम्बार देखते हैं, और आत्मबोधमें प्रामाणिकताका विश्वास रहनेके कारण ही इन्हें उपादेय मानते हैं। जयन्तभट्टका तर्क है कि इन पदार्थोंके धारावाही ज्ञानमें ग्रहीत ग्राहित्व इसलिए नहीं है कि प्रतिक्षण इन पदार्थोंमें नये वैशिष्ट्योंका उदय होता है, क्योंकि ऐसी कल्पना करने से प्रतिक्षण विशिष्ट अवस्था हो जाती है। सचतो यह है कि इसप्रकारके बोधकी प्रामाणिकताकी ग्रहीत ग्राहिता अनिवार्य कारण नहीं है। इस कथनमें एक मनोहर मनोवैज्ञानिक तथ्य निहित है—साधारणतया ऐसा विश्वास है कि नवीन विशेषताओंका उदय ही एक पदार्थको सतत ज्ञानका विषय बनाता है किन्तु सूक्ष्म निरीक्षणने स्पष्ट कर दिया है कि सतत जिज्ञासा अथवा बोधके लिए नूतन विशेषताएं अनावश्यक है। जैसा कि जयन्तभट्टके "मनुष्यके असंख्यवार दृष्ट अपने हाथमें नूतन लक्षणोंका अविर्भाव कभी नहीं होता" कथनसे स्पष्ट है। इसक्रमसे जैनों द्वारा स्वीकृत प्रत्यभिज्ञानकी सत्य—ज्ञानता असंभव होजाती है। पुनर्बोधकी सत्य ज्ञान माननेका जैन कारण यह है कि यह ज्ञात पदार्थका पुनरुत्थापन है, जिसमें पूर्वज्ञात पदार्थका आभास मिला रहता है और उसे पुनः ज्ञेय बना देता

१. न्यायमञ्जरीका प्रमाण लक्षण प्रकरण।

है। अतएव जैन कहते है कि धारावाही ज्ञान, पुनर्बोध तथा स्मृतिमें निहित पदार्थका बारम्बार ज्ञान अथवा ग्रहीतग्राहित्व किसी भी प्रकारसे बोधकी प्रामाणिकताको दूषित नहीं करता है।

सौत्रान्तिक प्रमाण सिद्धान्त विवेचन—

वैभाषिकके समान सौत्रान्तिक भी 'सत्'वादी है। वह मानता है कि ज्ञानके बाहर पदार्थोंकी स्वतंत्र सत्ता है। यद्यपि इस सत्ताका प्रकाश प्रत्यक्षसे नहीं होता है जैसा कि वैभाषिकको इष्ट है, अपितु अनुमान द्वारा होता है। उसकी दृष्टि वैभाषिकके विपरीत है क्योंकि वह प्रत्यक्षज्ञानको सदैव आकारहीन नहीं मानता है। पदार्थ क्षणिक हैं, प्रतिक्षण प्रत्यक्ष ज्ञानमें आकार समर्पणके क्षणमें ही वह लुप्त हो जाते हैं तथा इस आकार-समर्पणके आधारपर हमें बाह्य वस्तुका अनुमान करना चाहिये, जो कि ऐसे आकारका कारण होती है। फलतः सौत्रान्तिकका ज्ञान साकार है और साकार ज्ञान प्रमाण है। किन्तु आकार देने वाली बाह्य वस्तु बोधके क्षेत्रमें नहीं आती, वह तो अनुमेय है।

ज्ञानकी साकारतामें जैन सौत्रान्तिकसे सहमत है तथा ज्ञानको स्वसंविदित भी मानता है, किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान वस्तु प्रकाशक है, इसका अपलाप करते ही उनकी सहमति समाप्त हो जाती है। सौत्रान्तिकके विरुद्ध प्रमुख जैन आरोप यह है कि यदि ज्ञान साकार है तथा आकार ज्ञानमय होता है तो ज्ञान आकारकी जनक वस्तुका प्रकाश क्यों नहीं करेगा[1]। वस्तु प्रकाशकका अपलाप आत्म संवितका ही अपलाप है जो कि मूल बौद्ध मान्यताके प्रतिकूल है। इस आपत्तिके परिहारके लिए ज्ञानमें ग्राह्य और ग्राहक भेद स्वीकार करना भी व्यर्थ है; क्योंकि विषय और ज्ञाता ही ग्राह्य तथा ग्राहक है। और बौद्ध एकज्ञान स्वरूप प्रमाता, प्रमिति तथा प्रमाणमें ऐसा कोई भेद नहीं मानते। आपाततः सौत्रान्तिक द्वारा प्रस्तावित ग्राह्य-ग्राहक भेदकरण असंभव हो जाता है[2]। जैनोंकी प्रबल मौलिक आपत्ति तो यह है कि बाह्य वस्तुका अनुमान ही तर्क विरुद्ध तथा निस्सार है। सौत्रान्तिक तथा सभी बौद्ध सम्प्रदायोंमें जगतके पदार्थ क्षणिक, स्वलक्षित तथा पृथक हैं। उन्हें दूसरे क्षणमें बचाये रख करके सापेक्ष बनानेमें सामान्य लक्षणता भी सहायक नहीं है; क्योंकि समस्त लोक ही कल्पना विरचित है। फलतः अवभासनके दूसरे क्षणमें ही वस्तु आकार छोड़कर सदाके लिए लुप्त हो जाती है। यही आकार बोधका विषय होता है और अपने जनक पदार्थका अनुमापक कहा जाता है। किन्तु अनुमान हेतु-स्वलक्षण, साध्य-स्वलक्षण तथा व्याप्तिके रूपमें सामान्य-लक्षण पूर्वक ही होता है। इस जैन तर्कसे सौत्रान्तिकके विरुद्ध कुमारिल

१. त. बो. वि. समति, पृ, ४५९।

२. जयन्त भट्टने सौत्रान्तिकके विरुद्ध यही आपत्ति उठायीं है। उसका तर्क है कि ग्राहक ज्ञान तथा ग्राह्य ज्ञान प्रवृत्तिकी अपेक्षा भिन्न हैं। फलतः ये दोनों भिन्न तत्त्व एकरस ज्ञानको उत्पन्न नहीं कर सकते हैं जैसा कि बौद्धोंने माना है। दृष्टव्य न्याय मंजरी १५ (बनारस संस्करण)।

द्वारा किये गये विवादका स्मरण हो आता है। कुमारिलकी युक्ति[१] यह है कि सामान्य लक्षण अथवा व्याप्तिज्ञान कल्पनाविरचित है फलतः तार्किक दृष्टिसे स्वलक्षणसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। और जब उनका सत् वस्तुओंमें आरोप किया जायगा तो वे वस्तु स्वभावको भी कुछ हीन ही कर देंगे। इस प्रकार स्वलक्षणके आश्रित अनुमान वस्तु स्वभावको परिवर्तित करते हुए कैसे स्वयं ज्ञानका कारण हो सकता है ? फलतः कुमारिलके समान जैन भी आरोप करते हैं कि सौत्रान्तिक सम्मत प्रमाण अर्थात् साकारज्ञान हमें संसारके पदार्थोंका बोध नहीं करा सकता तथा अर्थ निर्णय अथवा अर्थ संसिद्धिमें असफल ही रहता है। व्याप्तिज्ञान या व्याप्तिनिश्चय ही अनुमान ज्ञानकी आधार शिला है, व्याप्तिज्ञान दृष्टान्त पूर्वक ही होता है तथा दृष्टान्त प्रत्यक्षसे ज्ञात होना चाहिये, किन्तु सौत्रान्तिककी यह स्वयं सिद्ध मान्यता है कि बाह्य वस्तुका प्रत्यक्ष नहीं होता । निष्कर्ष यह हुआ कि दृष्टान्तपर आश्रित होनेके कारण व्याप्तिज्ञान तथा व्याप्ति मूलक होनेके कारण अनुमान समाप्त होजाते हैं। और साथही साथ 'पदार्थोंका प्रत्यक्ष नहीं होता अपितु वे अनुमेय हैं --, सौत्रान्तिकका यह सिद्धान्त भी धराशायी हो जाता है[२] ।

योगाचार प्रमाण सिद्धान्त-समीक्षा—

योगाचार बौद्धोंकी प्रधान मान्यता यह है कि समस्त सत् तथा ज्ञेय वस्तुओंका जोकि पृथक् पृथक् परमाणु हैं, साक्षात्कार 'प्रत्यय' या 'विज्ञान' रूपसे होता है। कोई ऐसी चेतनावस्था नहीं है जिसमें उनकी उत्पत्ति और सम्बन्धकी कल्पना कीजाय, न कोई ऐसी बाह्य वस्तु है जिसपरसे उनके आकार प्रकारका निश्चय किया जाय। प्रत्यय या विज्ञान कल्पना तो आलम्बन प्रत्ययके लिए है जहांपर स्वतः भिन्न भिन्न प्रत्ययोंकी स्थिति तथा सम्बन्ध होता है। यह भी कहा गया है कि ऐसे विज्ञानकी कल्पनाका हेतु वह साधारण चिन्ता शैली है जो उक्त प्रकारके आधारके विना ज्ञानकी कल्पना भी नहीं कर पाती है[३] । साधारण चिन्ता शैली सुगम मार्गसे चलती है, और 'अभ्युपेतवाद' से सकुचाती है, यद्यपि ऐसी प्रक्रिया वस्तुस्थिति (समवृत्य) का आवरण है क्योंकि वस्तुस्थिति समस्त प्रत्ययोंको अभ्युपेत हीन ही मानती है[४] ।

अपने सिद्धान्तकी प्रतिष्ठा करनेके इच्छुक योगाचारको सबसे पहिले प्रत्ययके मूलाधार अपने ही अभावको स्पष्ट दिखाना होगा। दूसरे दृश्य बाह्य जगतका अभाव सिद्ध करना पड़ेगा। क्योंकि उसके अनुसार संसारका मूलस्रोत तथा ज्ञान सन्तानकी श्रंखला स्वरूप आत्मा तत्त्वज्ञानसम्बन्धी शुद्ध कल्पना

१, श्लो. वा. श्लो ५२, शून्यवाद पृ० २८३-४।

२. तत्व. बो. वि. स. पृ. ४५९

३, शान्तरक्षितका तत्वसंग्रह श्लो २०८२--४। (कमलपूशीकी पञ्जिका सहित)

४, परमार्थतस्तु निरालम्बनाः सर्वाः एव प्रत्ययाः इति। त० सं० पृ० ५८२

है। जैसाकि-उसकी क्षणिकवादकी प्रधान मान्यताके विवेचनसे स्पष्ट है। यहां केवल उन युक्तियोंका विचार करना है जिनके द्वारा योगाचार बाह्यार्थोंका अभाव सिद्ध करता है। तर्कके लिए बाह्य जगतकी सत्ताकी कल्पना करके योगचार सत्वादियोंसे शास्त्रार्थ प्रारम्भ करता है। यदि बाह्य जगत सत् है तो क्या वह स्वतंत्र, अदृश्य तथा निराकार परमाणुओंके रूपमें है अथवा ऐसे परमाणुओंसे बने पुञ्ज या अवयवियोंके रूपमें है? इन दो विकल्पोंमेंसे प्रथम तो टिकता ही नहीं है क्योंकि परमाणु-आकारका प्रतिभास न होनेके कारण साक्षात्कारके अनुकूल स्थिति ही नहीं है। निराकारका प्रत्यक्ष तो आकाश कुसुमका प्रत्यक्ष होगा। प्रत्यक्षके विषयको साकार और सहज इन्द्रिय ग्राह्य होना चाहिये। आकारका स्पष्ट प्रदर्शन प्रत्यक्ष ज्ञेयताका पूर्वचर है[1]। अतः निरपेक्ष, निराकार, अदृश्य परमाणु प्रत्यक्षका विषय नहीं हो सकते। विज्ञानवादी आचार्य भदन्त शुभगुप्त भी अपने मतकी पुष्टि करते हुए यह मानते हैं कि अपने पृथक् एवं अणुरूपमें परमाणु ज्ञेय नहीं है। प्रत्यक्षका विषय तभी होते हैं जब वे स्कन्ध (समूह) रूपमें आते हैं।

किन्तु सौत्रान्तिक शुभगुप्तकी युक्तिकी उपेक्षा करता है और मानता है कि स्कन्ध रूपता भी परमाणुओंको प्रत्ययका विषय नहीं बना सकती है। उसका तर्क है कि अविभाज्य होनेके कारण परमाणु निराकार है। फलतः यदि उसे अपने अविभाज्य स्वभावसे भ्रष्ट नहीं करना है तो वह स्कन्धरूप होकर भी कोई पारिमाडल्य (आकार) नहीं ग्रहण करेगा। परमाणुओंके स्कन्धकी कल्पना शब्द विज्ञानमें नित्य शब्द सन्तानकी भ्रान्तिके समान है[2]। इसप्रकार सौत्रान्तिक अविभाज्य परमाणुका स्कन्ध रूपमें भी प्रत्यक्ष नहीं मानता है।

अणु या स्कन्धरूपमें परमाणुओंको प्रत्यक्षका अविषय कहकर वह सिद्ध करता है कि परमाणु सिद्ध न किये जानेके कारण उससे बने अवयवी (स्कन्ध) का अनुमान भी नहीं किया जा सकता है। अवयविसाधक अनुमान निम्न प्रकार है— "वस्तु अवयवी स्थूलत्त्वात् पर्वतादिवत्।" इस अनुमानमें हेतु 'स्थूलत्वात्' का विश्लेषण करनेपर ज्ञात होता है कि साध्य वस्तुमें तथा दृष्टान्त पर्वतमें इसकी कल्पना मात्र कर ली गयी है। वह दोनोंमें नहीं है क्योंकि 'सूक्ष्म प्रचय रूप' को छोड़कर और स्थूल है क्या? यह भी नहीं कह सकते कि जो पर्वतादिके समान दिखते हैं वे स्थूल हैं और जो द्वयणुकादिके समान अदृश्य हैं वे सूक्ष्म हैं। क्योंकि यह धर्मी वस्तुमें द्विरूपता (द्वैत) को उत्पन्न कर देगा। फलतः भेद निरुद्देश्य है। तथोक्त स्थूल दृश्य होनेपर भी अपने निर्माता अदृश्य परमाणुओंके पुंजसे कैसे पृथक् सिद्ध किया जा सकता है? यतः 'स्थूलत्व' हेतु 'अवयवी' साध्यमें नहीं है फलतः वह 'असिद्ध हेतु' का निदर्शन होगा। ऊपरि लिखित कारणोंसे ही हेतु 'पर्वतादि' दृष्टान्तमें भी नहीं है। अतः वह 'साधन विकल' होगा। यदि 'सत्' वादी कहे कि 'रूप' अथवा साकारता जो समस्त 'देश वितान' युक्त पदार्थोंमें पायी

१ "आत्माकारप्रतिभासित्वेन प्रत्यक्षस्य व्याप्तिवत्।" त. सं. पं. पृ. ५५१।

२ त. सं. श्लो. १९७२।

जाती है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। और वह सभी स्थूल पदार्थोंमें स्पष्ट है, तो विज्ञानवादी कहता है कि इससे भी हेतु साध्यमें सिद्ध न होगा, क्योंकि हम स्वप्न विज्ञानमें 'रूप' या अवयवित्वको देखते हैं किन्तु जागनेपर परमाणु प्रचय रूप स्थूलताका भान नहीं होता। फलतः उक्त हेतुमें 'अनेकान्त' अथवा 'संदिग्धत्व' दोष भी आता है, क्योंकि हेतुको साध्य एकान्तमें अथवा साध्याभाव रूपी दूसरे एकान्तमें ही रहना चाहिये, दोनोंमें नहीं। यदि प्रकृत हेतुके समान साध्य तथा साध्याभाव दोनोंमें हेतु रहे तो वह अनेकान्त दोषसे दुष्ट होगा। फलतः साध्य और पक्षके सम्बन्धमें सन्देह होगा। अतएव विज्ञानवादी बाह्यार्थ अवयवीको अनुमानका अविषय ही मानता है।

ग्राह्य-ग्राहक द्वैत विमर्ष—

उक्त प्रकारसे बाह्यार्थको प्रत्यक्ष तथा अनुमानसे परे सिद्ध करके विज्ञानवादी ग्राह्य तथा ग्राहकके भेदका भी खण्डन करता है। बाह्य जगतका प्रत्यक्ष तथा अनुमानसे निषेध कर देनेके बाद उक्त कार्य विज्ञानवादीके लिए सुकर हो जाता है। ग्राह्य अर्थात् बोधके विषयकी सार्थकता ग्राहकके सद्भावमें ही है तथा ग्राहक भी ग्राह्य पदार्थोंके सद्भावमें सार्थक होता है। फलतः जब बाह्य जगत रूपी ग्राह्य समाप्त कर दिये गये तो ग्राहक स्वयं निरर्थक हो जाता है तथा इन दोनोंके भेदके लुप्त हो जानेके बाद विशुद्ध ज्ञान (विज्ञप्तिमात्रता) ही शेष रह जाता है जो कि स्वयं प्रकाश्य है। विज्ञान अनंश, एक और क्षणिक है फलतः मीमांसक सम्मत ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानकी त्रिपुटी उसमें नहीं बनती है। विज्ञानका सार 'स्वसंवेदन' मात्र है। यह स्व प्रकाशक, स्वस्थ चित्तवृत्ति है, जो किसी बाह्य प्रकाशककी अपेक्षा नहीं करती[1]। विज्ञानवादीकी दृष्टिमें बोध किसी पदार्थका बोध नहीं होता है, और न बोधके लिए वस्तुकी आवश्यकता ही है। उसके अनुसार स्थिति यह है कि ज्ञेय और ज्ञाता दोनोंमें तार्किक दृष्टिसे ही भेद है अन्यथा वे दोनों बोधकी दो अभेद्य अवस्थाएं हैं। ज्ञान प्रक्रिया 'ज्ञानसे पदार्थ' है, 'पदार्थसे ज्ञान' नहीं। किन्तु ज्ञान पदार्थका जनक नहीं है। यतः ज्ञान और पदार्थका बहुधा युगपत् ही बोध होता है अतः योगाचार दोनोंमें एकरूपता मानता है। 'नील और नील-ज्ञानमें भेद नहीं है' क्योंकि दोनोंकी उपलब्धि एक साथ होती है[2]। साधारण व्यक्तिको ज्ञान और ज्ञेयका जो भेद प्रतीत होता है वह भ्रान्ति है। ज्ञापक होनेका तात्पर्य वस्तुका ज्ञाता होना है पर इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि ग्राह्य और ग्रहीतामें कोई भेद या सीमा है। ज्ञान किसी विशिष्ट आकारके आश्रयसे होता है अतः ज्ञान कभी भी निराकार नहीं होता, किन्तु आकार ज्ञानमें पूर्णरूपसे नहीं रहता। उसका आधार तो पुरातन अनुभवसे उत्पन्न वासना होती है; जिसका आधार दूसरी वासना और दूसरीका तीसरी इस प्रकार अनन्त सन्तान

१—शून्यवाद श्लो० ५९, न्याय रत्नाकर।

२—प्रमाण समुच्चय (१. ३) तथा न्यायप्रवेश।

होती है। योगाचार इसमें अनवस्थाकी आशंका नहीं करता क्योंकि वह 'वासना' को अनादि मानता है। निष्कर्ष यह हुआ कि किसी भी अवस्थामें बोधका निश्चय वाह्य पदार्थ द्वारा नहीं होता है किन्तु वह विचारात्मक शक्ति अनादि वासनाका परिपाक और प्रवृत्ति है जिसे प्राणी पूर्व भवोंमें निःसीम रूपसे संचित करता रहा है। बोधका निर्णय भूत तथा वर्तमान वासनाओंके द्वारा होता है एवं तथोक्त वाह्य वस्तुको बोध निश्चायक मानना बुद्धि दोष है, आदि हेतुओंका योगाचारने अपना आदर्श सिद्ध करनेके लिए विस्तार किया है। वह कहता है कि यदि वाह्य वस्तुका कोई अपना स्वभाव है और वह बोधजनक है तो वह विविध ज्ञानकेन्द्रोंसे क्यों आभास देता है और एक ही इन्द्रियको भी विविध परिस्थितियोंमें भिन्न भिन्न रूपसे क्यों ज्ञात होता है[१]। ज्ञानभेद वासना शक्तिजन्य तो संभव है किन्तु सत्वादीको अभीष्ट वाह्य वस्तुके स्वभाव जन्य तो नहीं ही हो सकता है।

इसप्रकार स्पष्ट है कि विषय तथा बोधका भेद भ्रान्त ज्ञान या परिस्थिति जन्य है। ग्राह्य और ग्राहकका भेद भेद हीन ज्ञानमें लुप्त हो जाता। विषय तथा बोधके इस अभेदका योगाचारने प्रत्यक्षके लक्षणमें भी समावेश किया है। इसके समर्थक सन्दर्भ मध्यकालीन तार्किक गुरू दिङ्नागके प्रकरणों में मिलते हैं[२]। योगाचारके प्रमाण सिद्धान्तके अनुसार बोध तथा उसकी प्रामाणिकता स्वयं-प्रकाश्य, स्वयं-उत्पन्न बौद्धिक तत्त्व हैं, वाह्य वस्तुसे निरपेक्ष है, बाह्य जगत वास्तविक नहीं है तथा ग्राह्य-ग्राहकभेद ज्ञानसरणिमें अग्राह्य है।

अब इस योगाचार के प्रमाण सिद्धान्तको जैन तार्किक दृष्टिसे देखिये। अपनी द्वन्द्वात्मक मान्यताके द्वारा विज्ञानवादी जो सिद्ध करना चाहता है वह यही है कि अनादि वासनासे विज्ञान सन्तान उत्पन्न होती है और वाह्य वस्तुएं उसमें थोड़ी भी सहायक नहीं हैं, क्योंकि वे अवस्तु हैं। फलतः विज्ञानवादीका बोध 'स्ववासी' है, अर्थात् 'स्व' से उत्पन्न और स्वका प्रकाशक है। इसके उपरान्त जैनाचार्य उस दोष परम्पराको बताते हैं जो विज्ञान वादीको अभीष्ट प्रमाण सिद्धान्तमें आती है। विज्ञान वादीके मतके जैन-खण्डनके दो पक्ष हैं—प्रथम तो निषेधात्मक तथा विध्वंसात्मक है क्योंकि बाह्यार्थोंका ज्ञानमें समावेश करना प्रत्यक्ष तथा अनुमानके विरुद्ध है। तथा दूसरा विधिपरक और रचनात्मक है क्योंकि यह प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण द्वारा बाह्य पदार्थोंकी परमार्थ सत्ता सिद्ध करता है[२]।

समन्तभद्र, अकलंक, सिद्धर्षि गणी, आदिने उस हेतु परम्पराको दिया है जो विशद रूपसे सिद्ध करती है कि विषयके विना बोध असंभव है। प्रथम तर्क तो यह है कि वाह्यार्थ विहीन स्वप्न विज्ञानकी समानता द्वारा यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि बोध वाह्य विषयके विना ही हो जाता है। स्वप्नमें मनुष्य वाह्यार्थके बिना वन, देवता, आदिके आकारका अनुभव करता है। जैनाचार्योंने आधुनिक

१—त. बो. वि. पृ. ४८०—४८८।

२—न्यायवतार, कर्णिका १, पृ. ११, आदि।

मनोवैज्ञानिकोंके समान स्पष्ट बताया है कि स्वप्नमें दृष्ट विविध पदार्थोंके आकार जाग्रत अवस्थामें उन्हें जाने विना दिख ही नहीं सकते हैं। वे विविध अनुभव जन्य संस्कारोंके आश्रित हैं जो चैतन्यमें संचित हैं। तथा शारीरिक एवं मानसिक उत्तेजन तथा संदर्भ मिलते ही जाग उठते हैं। यदि वाह्य अर्थके विना ही स्वप्न दिखते तो हमें आकाश कमल, छठा भूत, आदि दिखना चाहिये था। वाह्यार्थ विना प्रतिभास मानने-पर ज्ञानके आकार प्रकारका निश्चय असंभव है। इस आपत्तिसे बचनेके लिए समस्त ज्ञानोंके स्रोत अनादि अविद्या जन्य वासनाका योगाचार सहारा लेना चाहेगा किन्तु जैनाचार्य उसे निम्न अन्योन्याश्रयमें डाल देते हैं। यदि वासना प्रतिभासकी विविधताका कारण है तो वह ज्ञानसे भिन्न है अथवा अभिन्न ? यदि भिन्न है तो विज्ञान वादीको किसी अन्य ज्ञानकी कल्पना करनी पड़ेगी जो इस भेदको ग्रहण करेगा। समस्त प्रत्यय विज्ञान हैं और विज्ञान विना कोई भी प्रत्यय संभव नहीं है, किन्तु इस भेदके माननेपर विज्ञानसे बाहर कोई प्रत्यय मानना ही पड़ेगा। यदि विज्ञान वादी कहे कि वासना पृथक् होकर भी विज्ञानसे उत्पन्न होती है तथा विज्ञानमें भ्रान्त ग्राह्य-ग्राहक सम्बन्ध होता है, तो जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकारका अनुमान कल्पना कराता है कि वासना तथा सम्बन्ध-विज्ञानका सम्बन्ध अवश्य होना चाहिये। योगाचार मतमें ऐसा सम्बन्ध असंभव है क्योंकि उसने उत्पत्तिके दूसरे क्षणमें विज्ञानकी सत्ता तथा सम्बन्ध करानेवाले आत्माकी स्थितिका निराकरण किया है। वासनाके इस अनुमानके निम्न तीन परिणाम और होंगे। प्रथम तो यह सर्व साधारणके अनुभव तथा व्यवहारके विरुद्ध है क्योंकि सब ही यह जानते हैं कि मन, इन्द्रिय तथा पदार्थ संयोगसे ज्ञान होता है। दूसरे वासना एक ऐसी अदृश्य तथा काल्पनिक वस्तु है जिसे किसी भी वैज्ञानिक ज्ञान सिद्धान्तसे सिद्ध नहीं किया जा सकता। तीसरे यदि वासनाके निमित्तसे साधारण विज्ञान अनन्त आकार प्रकार ग्रहण कर सकता है तो उसके द्वारा जड़का चेतन रूपसे प्रत्यय क्यों नहीं होगा ? क्योंकि लोकोत्तर वस्तुको कुछ असंभव तो हो ही नहीं सकता। इन कुपरिणामोंसे बचनेके लिए विज्ञान वादीको अपना मत परिवर्तन करना पड़ेगा और मानना पड़ेगा कि वाह्य अर्थ ही विज्ञानकी विवि-धताके कारण हैं और वासना इस आकार प्रकारके वैविध्यका कारण नहीं है। यदि वासना और विज्ञान अभिन्न हों तो उसे ज्ञानरूपसे प्रत्यय करना चाहिये, वासना रूपसे नहीं ऐसी स्थितिमें पदार्थोंके आकार प्रकारकी विविधताका बोध सदाके लिए उलझ जायगा[1]।

आ० प्रभाचन्द्रकृत मीमांसा—

तार्किक गुरु सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व परीक्षक श्री प्रभाचन्द्राचार्यने भी योगाचारके वाह्य अर्थ निषेधका खण्डन किया है। प्रमाण सत् वस्तुके ज्ञानकी साधक रूपसे उपेक्षा नहीं करता है इसे ही उन्होंने

१. न्यायावतार कणिका १ पृ. १२।

अन्य प्रकारसे सिद्ध किया है[1]। योगाचारकी उक्त मान्यताका उन्होंने ऐसी युक्ति-प्रत्युक्तियों द्वारा खण्डन किया है जिन्हें देख कर प्राच्य तथा पाश्चत्य दार्शनिक स्तब्ध रह जाते हैं। वह इस प्रकार है—सौत्रान्तिकके समान योगाचार भी ज्ञानको साकार मानता है, किन्तु योगाचारका मत है कि ज्ञान मस्तिष्कसे बाहर किसी वस्तुसे उत्पन्न नहीं होता अपितु अविद्या जन्य अनादि वासनासे प्रादुर्भूत होता है और ज्ञान एक साथ ही उपलब्ध होने वाले प्रमेय तथा प्रमितिका सारूप्य है। आचार्य प्रभाचन्द्र कहते हैं कि प्रमिति तथा प्रमेयकी कल्पना ही द्वैतको सिद्ध करती है, बोध-विषयका ऐक्य नहीं। क्योंकि नील-प्रत्ययका तात्पर्य नील आकारका ज्ञान ही तो है। तथा स्तम्भ प्रत्ययके समान उसकी जड़ताका भी अवभास होता ही है। यहां दो प्रश्न उठते हैं—क्या ज्ञानके स्पष्ट दो पक्ष होते हैं या एक? यदि दो पक्ष हैं तो प्रथम नील पदार्थकी नीलताका चेतन अवभास है तथा दूसरा उसकी जड़ताका अभेद ज्ञान है। किन्तु इस अवस्थामें योगाचारको अपना विज्ञानाद्वैत छोड़ना ही पड़ेगा। यदि कोई तीसरा ज्ञान मान लिया जाय जो उक्त दोनों संस्कारोंको लेकर तथा द्विविध होकर पदार्थ ज्ञान करता है तो प्रारम्भिक ज्ञान अयोग्य हो जायगा और जड़ताको प्राप्त होगा। यदि हम ज्ञानका एक ही ऐसा पक्ष माने जो नीलता और जड़ आकारका बोध कराता है तब वह एक ही समयमें आंशिक रूपसे चेतन-अचेतन होगा। स्वात्मभूत नीलताका बोध करके वह चेतन होगा तथा अपनेसे पृथक् (अतदाकार) पदार्थके पौद्गलिक रूपको ग्रहण करके जड़ भी होगा। फलतः ज्ञान भी 'अर्धजरती न्याय[2]' का शिकार हो जायगा।

योगाचारके नीलता ज्ञान सम्बन्धी कठिनताका खण्डन करते समय अभयदेवने भी तीक्ष्ण तर्क किये हैं। निम्न प्रकरणमें योगाचार व्यप्ति-ज्ञानकी स्वयं प्रतिपन्नताका आश्रय लेकर अपना मत पुष्ट कर सकता है, कह सकता है कि जिस प्रकार सुख दुःखका स्व-प्रतिभास होता है उसी प्रकार बोध तथा सुखादि प्रकाशनके मध्यमें व्याप्तिका भी हो जायगा[3] ठीक इसी विधिसे जड़ नील पदार्थके ज्ञान और बोधके आत्मप्रकाशके मध्यमें व्यप्तिज्ञान हो जायगा। परिणाम यह होगा कि नीलपदार्थके बोधमें जो अचेतन भाग है वह आत्मज्ञानसे सम्बद्ध हो जायगा और अर्धजरती न्यायकी आपत्ति निराधार हो जायगी। आ० अभयदेव पूछते हैं क्या इसमें कोई वास्तविक व्याप्ति निश्चय है। इसका आधार या तो दृष्टान्त होगा या समान हेतु। दृष्टान्त ऐसे निश्चयका आधार नहीं हो सकता, क्यों कि ऐसा करनेके पहिले यह देखना अनिवार्य है कि विपक्षमें बाधक न हो। प्रकृत व्याप्ति निश्चयमें विपक्षका न होना अकल्पनीय नहीं है। दूसरे सुख-दुःख प्रकाशकी नीलादिप्रकाशसे तुलना उचित नहीं है क्यों कि इन दोनों (दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक)

---

१. प्रमे. क. मार्तण्ड पृ. २७ सम्मति तर्क पृ. ४८४।

२. आधी वृद्धा आधी युवती।

३. "सुखादि प्रकाशनं ज्ञानव्याप्तम् स्वयं प्रतिपन्नत्वात्।"

में कोई सबल समता नहीं है। यह तर्क करना कि नीलके प्रकाशमें चित् अंशकी कल्पना उतनी ही अयुक्त है जितना सीमित ज्ञानके कारण किसी प्राणीको पुरुष कहना है। अभयदेव और सूक्ष्म विश्लेषण करते हैं और दोनोंकी समताको निर्मूल कर देते हैं। उनका तर्क है कि "सुखादिका प्रकाशन ज्ञानव्याप्त है स्वयं प्रतिपन्न होनेसे।" तथा "नीलादिप्रकाशन ज्ञानव्याप्त है अन्य प्रतिपन्न होनेके कारण।" में 'ज्ञानव्याप्तत्व' ही साध्य है। किन्तु पहलेका हेतु दूसरेके हेतुसे भिन्न है। प्रथमके 'स्वयं प्रतिपन्नत्व' का अर्थ है कि सुखादिका अनुभव बाह्य हेतुके विना स्वयं ही होता है। तथा दूसरे हेतु 'अन्यप्रतिपन्नत्व' का तात्पर्य है "किसी दूसरे प्रमाणसे ज्ञात होता है[1]।" सुखादि प्रतिभासका नीलादिप्रतिभाससे सम्बन्ध नहीं किया जा सकता है जिसके बलपर जड़ नीलादि प्रत्ययमें भी सुखादि प्रत्ययका 'स्वप्रतिपन्नत्व' सिद्ध किया जा सके। बौद्ध इन्द्रियविज्ञानमें ऐसी समताको स्थान नहीं है। फलतः नीलादि प्रकाशमें स्वप्रकाशता तथा जड़ताका समन्वय नहीं होता, परिणाम यह होता है कि 'नील तथा नीलज्ञान एक हैं' विज्ञानवादीका यह मत भी सिद्ध नहीं होता।

विज्ञानवादीके द्वारा उठाये गये ज्ञान और उसके आकार (तदाकार) की समस्याको भी प्रभाचन्द्राचार्यने अपनी वास्तविक दृष्टिके अनुसार नूतनरूप दिया है। ज्ञानकी उत्पत्तिमें बोध, विषय तथा ज्ञानगत आकार कारण नहीं हैं, ज्ञान तथा ज्ञेयके सम्बन्धका निर्णय ज्ञानके अन्तरंग आकारके द्वारा होता है यह उचित मान्यता नहीं है। तथा प्रारम्भमें ज्ञान निराकार उत्पन्न होता है और बादमें किसी प्रकार वस्तुसे सम्बद्ध होकर आकार धारण करता है यह भी युक्ति संगत नहीं है। प्रथम विकल्प असंगत है क्योंकि ज्ञानका कभी तथा कहीं भी अपने अन्तरंगरूप द्वारा निर्णय नहीं हुआ है प्रत्युत विषयसे सदा ही सम्बद्ध रहता है। ज्ञेयके विशेष धर्मके निश्चय द्वारा ही ज्ञान तथा ज्ञेयका सम्बन्ध पुष्ट होता है किन्तु कभी भी ज्ञान तथा ज्ञेयके मिश्रित एक रूपसे नहीं होता। दूसरा विकल्प भी इन्हीं हेतुओंसे अग्राह्य है क्यों कि समस्त प्रत्यय अपने विशेष ज्ञेयसे सम्बद्ध होते हैं। निष्कर्ष यह हुआ कि न ज्ञान अपने अन्तरंगमें आकार युक्त और न निराकार ही है। किसी भी अवस्थामें ज्ञानका ज्ञेय होता ही है तथा वह उसका आकार भी ग्रहण करता है। आचार्य प्रभाचन्द्रने यह सब प्रतिपादन करते हुए यह भी कहा है कि ज्ञान स्वतंत्र तथा आत्मोद्भव है। किन्तु स्वयं उत्पन्न होते हुए भी ज्ञान इन्द्रियों तथा विषयका निमित्त लेता है तथा अर्थका आकार ग्रहण करता है[2]। इन्द्रियां ज्ञानकी साकारताका कारण हैं इस मान्यताका बौद्धोंके साथ वे भी खंडन करते हैं क्योंकि बाह्यार्थके अभावमें भी इन्द्रिय व्यापार होता है तथा विना आकारके ज्ञान होता ही है। वैभाषिक सम्मत निराकार ज्ञानवाद भी परीक्षा करनेपर नहीं टिकता क्योंकि विशेष अर्थके अभावमें सब प्रकारके ज्ञानकी संभावना है जो अव्यवस्था पैदा करे गी। जबकि यह सत्य है कि हमें विशेष अर्थोंके

१—"कुतश्चित्प्रमाणात् प्रतीयते।"

२—"स्वकारणैस्तज्जननेनार्थसम्बोधमेवोत्पद्यते। प्र. क. मा. पृ. २८

आधारकी ज्ञानमें प्रतीति होती है। जैन सिद्धान्त इन्द्रियों तथा पदार्थको ज्ञान कारण मानते हुए भी यह नहीं मानता कि उन्हें ज्ञानकी उत्पत्तिमें उपादानता है। ऐसा मानना नैयायिकके 'इन्द्रिय अर्थ सन्निकर्ष' से ज्ञान होनेके सिद्धान्तको स्वीकार कर लेना है। इन्द्रियार्थ सन्निकर्षको स्वीकार करनेका तात्पर्य होगा कि स्व-पर प्रकाशक चेतन ज्ञान जड़ तथा अपराद्य पदार्थसे उत्पन्न होता है। जैन ज्ञान पद्धति न तो योगाचारके समान 'ज्ञानसे पदार्थ' है और न नैयायिकके समान 'अर्थसे ज्ञान' ही है अपितु वह आत्म परिस्पन्द द्वारा उद्भव होता है और स्वायत्त प्रकारसे पदार्थको यथाविधि ग्रहण करता है और उसका आकार भी ग्रहण करता है।

प्रमाण लक्षण परीक्षण—

धर्मोत्तर कृत प्रमाणकी बौद्ध परिभाषाकी मीमांसा किये विना यह प्रकरण सर्वाङ्ग न होगा। अतएव "अविसंवादक ज्ञानही सम्यग्ज्ञान है[1]" पर दृष्टि देनेसे ज्ञात होता है कि सम्वादकसे उसका तात्पर्य ज्ञानकी अर्थको प्राप्त करनेकी योग्यता (प्रदर्शितार्थ प्रापित्वम्) से है। किन्तु किसी पदार्थके ज्ञान तथा इच्छा शक्तिमें बड़ा अन्तर है। आ० धर्मोत्तरका कहना है कि प्रमाणका फल अर्थ ज्ञान है[2]। तथा वही ज्ञान प्रमाण है जिसका विषय अब तक अनधिगत हो[3]। इस प्रमाण लक्षणका विचार करते हुए जैनाचार्य पहिले तो 'अनधिगतार्थ' विशेषण पर आपत्ति करते हैं। इसके विरुद्ध दिये गये हेतुओंका उल्लेख 'ग्रहीत ग्राहिता'के विचारमें हो चुका है। ये पर्याप्त हैं क्योंकि उन्हींके बलपर ग्रहीत ग्राहिताको प्रमाणता प्राप्त हुई है। दूसरी विचारणीय बात प्रापण-शक्ति है। जैसाकि विज्ञानवादी कहता है कि ज्ञानके उत्तरक्षणमें पदार्थकी हेयोपादेयतासे त्याग आदान रूप प्रवृत्ति होती है। जैनदृष्टिसे यह मानना भ्रान्त है क्योंकि हेयोपादेयताके अतिरिक्त पदार्थमें उपेक्षणीयता भी तो होती है[4]। वस्तुमें जैन मान्यतानुसार राग, द्वेष तथा उदासनिता होते हैं। क्यों कि प्रथम दोके समान उपेक्षाका भी स्पष्ट अनुभव होता है। फलतः उपेक्षणीयके प्रति प्रवृत्ति असंभव है। फलतः विज्ञानवादीका अर्थगुण विवेचन तथा तज्जन्य प्रवृत्तियोंका स्वरूप सर्वाङ्ग नहीं है। जैन कहते हैं कि यदि इच्छा अथवा प्रवृत्तिको प्रामाण्यका कारण माना जायगा तो फिर अनुमानकी प्रामाणिकताकी भी यह कसौटी मानना अनवस्थाको उत्पन्न करेगा। क्योंकि अनुमानका विषय सामने नहीं होता, सदैव भूत या भविष्यत् होता है[5]।

---

१ "अविसंवादक ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्।" न्यायविन्दु टीका पृ. ३

२. "अर्थाधिगतिरेव प्रमाणफलम्"। न्यायविन्दु टीका पृ. ३।

३. न्याय० पृ. ४।

४. न्याय मञ्जरी पृ. २२।

५. स. त. पृ. ४६८--७१।

विज्ञानवादी कह सकते हैं कि अनुमानमें भी 'प्रदर्शितार्थ प्रापकत्व' संभव है क्योंकि विषयके मौलिक तथा काल्पनिक रूपके सादृश्यके कारण अनुमाता अध्यवसायकी शरण लेता है। अनुमानमें पदार्थ यद्यपि वास्तविक नहीं होता तथापि अनुमितिज्ञानमें ऐसी क्षमता है कि वह अनुमेय पदार्थको पदार्थत्व प्रदान करता है अनुमेय और दृष्ट पदार्थका जिसे अभेद अध्यास कहते हैं। इस प्रकार प्रदर्शितार्थ और दृष्ट पदार्थका प्रापकत्व अनुमानका भी लक्षण होकर उसे प्रमाणता प्रदान करता है। अभयदेव कहते हैं कि जिस क्षणिकवादके कारण प्रत्यक्षके विषयोंमें प्रदर्शितार्थ प्रापकता असंभव है, वही क्षणिकवाद अनुमानके विषयमें इसे सर्वथा अकल्पनीय कर देगा। यदि विज्ञानवादीमें तार्किकताका लेश भी शेष हो तो उसे ज्ञान तथा इच्छाशक्तिके तात्त्विक भेदको स्वीकार करना ही चाहिये क्योंकि दर्शन और प्रापणके क्षणमें अत्यन्त भेद होता है[1]। इससे बचनेके लिए बौद्ध ज्ञान संतानका आश्रय लेगा जैसा कि वह बहुधा करता है। किन्तु यदि वह सन्तानको प्रकट ज्ञानसे पृथक् मानेगा जैसा कि यहां प्रतीत होता है तो इसका तात्पर्य होगा कि वह अपने क्षणिकवादके मूल सिद्धान्तको ही छोड़ रहा है। प्रमाणकी उक्त परिभाषा को संव्यवहारिक मानकर यदि विज्ञानवादी बचना चाहे तो उसे स्वीकार करना पड़ेगा कि वह प्रमाणकी दूसरी परिभाषा कर सकता है जो कि नित्य तथा अनित्य पदार्थोंमें एक रूपसे रह सकेगी, केवल अनित्यमें नहीं। इसका तात्पर्य होगा जैनोंकी नित्या-नित्य पदार्थोंके ज्ञानरूप प्रमाणकी परिभाषाको[2] स्वीकार करना।

सिद्धर्षि गणिका उक्त परिभाषाका विवेचन अधिक विस्तृत है। वे कहते हैं कि 'अविसंवादक' के दो अर्थ हैं—प्रथम अर्थ तो यह है कि ज्ञान पदार्थको प्राप्तकरने की चेष्टा द्वारा ज्ञान प्रमाण होता है। "प्राप्तियोग्य पदार्थका निर्देश[3]" दूसरा अर्थ होता है। अब यदि हम प्रथम अर्थको सत्य माने तो जल बुदबुदका ज्ञान अप्रमाण होगा क्योंकि उन तक पहुंचते पहुंचते वे नष्ट हो जाते हैं। दूसरा अर्थ लेने पर भी हमारी पहुंचके बाहर स्थित तारा, ग्रहादिका ज्ञान प्रमाण न हो सकेगा। अतः सिद्धर्षि गणि उसका 'अविचलितार्थ विषयत्वम्[4]' अर्थ करते हैं। अर्थात् जब ज्ञान पदार्थको अपने निश्चित द्रव्य क्षेत्र, काल, भावादिकी अपेक्षा जानता है तब वह प्रमाण होता है जिसमें पदार्थ अनेक क्षण ठहरता है। जिसे स्वीकार करके विज्ञानवादी अपने आराध्य क्षणिकवादका ही निधन करेगा। ज्ञानका विषय स्थायी पदार्थ होनेके लिए वस्तुको अनेक क्षणोंमें तद्रूपसे ही ज्ञात होना चाहिये,

---

१. "दृश्य प्राप्य क्षणयोरत्यन्त भेदात्।"

२. स. त. पृ. ४७१।

३. न्यायावतार वृत्ति पृ. १४।

४. नयबिन्दुटीका, नियतार्थ प्र. पृ. ४।

उसमें प्रतिक्षण बाधा नहीं डालनी चाहिये जैसा कि क्षणिकवादमें होता है। फलतः विज्ञानवादीको क्षणिकवादके अतिरिक्त अन्य सिद्धान्त स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार तार्किक युक्तियोंके द्वारा जैनाचार्योंने सिद्ध किया है कि बौद्ध प्रमाण परिभाषा न तो पदार्थोंके यथार्थ ज्ञान करानेके उद्देश्यमें सफल होती है और न उसके मान्य प्रत्यक्ष और अनुमानकी प्रमाणता ही सिद्ध करती है। अविसंवादकता' को लेकर ही विज्ञानवादी घपलेमें पड़ता है इसे ही प्रामाण्यकी एक मात्र कसौटी मानकर भी वह भूल जाता है कि इसके चरितार्थ होनेके लिए वस्तुको कमसे कम दो क्षण रहना चाहिये जब कि वह उसे एक क्षणके बाद ठहरने देनेकी भी उदारता नहीं दिखा सकता है।
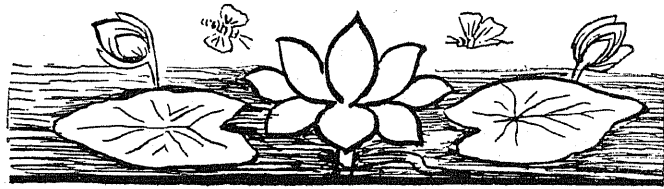
जैन दर्शन

प्रो० माधवाचार्य, एम० ए०।

यह दर्शन प्रधान रूपसे अर्हत् भगवानका उपासक है इसलिए कोई कोई दार्शनिक इसको 'आर्हत-दर्शन' भी कहते हैं।

संसारके त्यागी पुरुषोंको परमहंसचर्या सिखानेके लिए त्रिगुणातीत पुरुष विशेष परमेश्वरने ऋषभावतार लिया था ऐसा भागवत आदि पुराणोंमें वर्णित महिमा मय वर्णनसे स्पष्ट है। जगतके लिए परमहंस-चर्याका पथ दिखानेवाले आपही थे। हमारे जैनधर्मावलम्बी भाई आपको 'आदिनाथ' कहकर स्मरण करते हुए जैनधर्मके आदिप्रचारक मानते हैं।

भगवान ऋषभदेवने सुख प्राप्तिका जो रास्ता बताया था वह हिंसा, आदि भयंकर पापोंके सघन तिमिरमें अदृष्ट सा होगया। उसके शोधनके लिए अहिंसा धर्मके अवतार भगवान महावीर स्वामीका आविर्भाव हुआ जिन्हें जैन लोग श्रीवर्धमान प्रभु कहकर श्रद्धांजलि समर्पित करते हैं।

महावीर स्वामीके उपदेशों को सूत्रोंके रूपमें ग्रथित करनेवाले आचार्योंने महावीर स्वामीके अवतरित होनेका प्रयोजन बताया है कि, "सव्व जगा रक्खण दआट्ठ आअपवयणं सु कहियं भगवया"— भगवान महावीर स्वामीने व्यथित जीवोंके करुण-क्रन्दनसे करुणार्द्र चित्त होकर सब जीवोंकी रक्षा रूप दया के लिए सार्वजनीन उपदेश देना प्रारम्भ किया था।

यह सर्व साधारणको ज्ञात है कि भगवान बुद्धदेवने विश्वको दुख रूप कहते हुए क्षणिक कहते समय यह विचार नहीं किया था कि इससे अनेक अनेक लाभोंके साथ क्या क्या दोष होंगे। उनका उद्देश्य विश्वको वैराग्यकी तरफ ले जानेका था जिससे अनाचार अत्याचार तथा हिंसाका लोप हो जाय। महावीर स्वामीने बुद्धदेवसे बनाये गये अधिकारियोंकी इस कमीको पूरा करने पर भी ध्यान दिया था। इन्होंने कहा कि अखिल पदार्थोंको क्षणिक समझकर शून्यको तत्त्वका रूप देना भयंकर भूल है। जब सब मनुष्य रंग रूपमें एकसे ही हैं तब फिर क्या कारण हैं कि कोई राजा बनकर शासन कर रहा है और कोई प्रजा बना हुआ आज्ञा पालता है। किसी में कई विशेषताएं पायी जाती हैं तो किसी को वे बातें प्रयास करनेपर भी नहीं मिलतीं। इसमें कोई कारण अवश्य है। वर्तमान जगतको देखकर मेरी समझमें तो यही आता है कि शरीरसे भिन्न, अच्छे बुरे कर्मोंके शुभ अशुभ फलका भोक्ता, शरीरको धारण

करनेवाला कोई अवश्य है। उसके रहनेसे यह प्राणी-चैतन्य रहता है, उसके छोड़ देनेसे मृतक कहलाता है। वह चैतन्य शरीरके जीवनका कारण होनेसे जीव शब्दसे बोला जाता है। क्षण क्षणमें तो इस परिदृश्यमान जगतके परिणाम हुआ करते हैं। इसलिए परिणाम ही प्रतिक्षण होनेके कारण क्षणिक कहा जा सकता है। क्षणिक कहने वालोंका वास्तविक मतलब परिणामको क्षणिक कहनेका है दूसरे किसी द्रव्य, आदिको नहीं।

जो शून्य कहा जाता है उसका अर्थ कथंचित् शून्य कहनेसे हैं, केवल शून्य कहनेसे नहीं। क्योंकि परिदृश्यमान विश्व कथंचित् परिणाम या पर्यायरूपसे शून्य अनित्य अथवा असत् कहा जा सकता है, द्रव्यत्व रूपसे नहीं कहा जा सकता।

यह दर्शन एक द्रव्य पदार्थ ही मानता है। गुण और पर्यायके आधारको द्रव्य कहते हैं। ये गुण और पर्याय इस द्रव्यके ही आत्म स्वरूप हैं, इसलिए ये द्रव्यकी किसी भी हालतमें द्रव्यसे पृथक् नहीं होते। द्रव्यके परिणत होनेकी अवस्थाको पर्याय कहते हैं जो सदा स्थित न रहकर प्रतिक्षणमें बदलता रहता है—जिससे द्रव्य रूपान्तरमें परिणत होता है। अनुवृत्ति तथा व्यावृत्तिका साधन गुण कहलाता है, जिसके कारण द्रव्य सजातीयसे मिलते हुए तथा विजातीयसे विभिन्न प्रतीत होते रहते हैं।

इसकी सत्तामें इस दर्शनके अनुयायी सामान्य विशेषके (पृथक) माननेकी कोई आवश्यकता नहीं समझते।

द्रव्य एक ऐसा पदार्थ इस दर्शनने माना है जिसके माननेपर इससे दूसरे पदार्थ माननेकी आवश्यकता नहीं रहती, इसलिए इसका लक्षण करना परमावश्यक है।

श्रीमान् कुन्दकुन्दाचार्यने अपने 'प्रवचनसार' में द्रव्यका लक्षण यह किया है—

अपरित्यक्तस्वाभावेन उत्पादव्ययध्रुवत्वसंबद्धम्।
गुणवच्चसपर्यायम् यत्तद्द्रव्यमिति ब्रुवन्ति ॥३॥

अर्थात्— जो अपने अस्तित्व स्वभावको न छोड़कर, उत्पाद, व्यय तथा ध्रुवतासे संयुक्त है एवं गुण तथा पर्यायका आधार है सो द्रव्य कहा जाता है।

यही लक्षण तत्त्वार्थसूत्रमें भी किया है कि "गुणपर्यय वद्द्रव्यम्" "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"।

यह द्रव्य जीवास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय काल इन भेदोंसे छह प्रकारका होता है। सावयव वस्तुके समूहको अस्तिकाय कहते हैं। कालको छोड़कर शेष द्रव्य सप्रदेशी हैं, इसलिए जैनन्यायमें कालको वर्जकर सबके साथ 'अस्तिकाय' शब्दका प्रयोग किया गया है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यने आत्माको अरूप, अगंध, अव्यक्त, अशब्द, अरस, भूतोंके चिन्होंसे अग्राह्य, निराकार तथा चेतना गुणवाला अथवा चैतन्य माना है।

---

१ यह ज्ञेयाधिकारमें कही हुई गाथाका छायानुवाद है।

रूप, रस गंध, स्पर्श गुणवाले तेज, जल, पृथ्वी, वायुका पुद्‌गल शब्दसे व्यवहार होता है क्योंकि ये 'पूरण-गलन' स्वभाव वाले होते हैं।

पुद्‌गल द्रव्य सूक्ष्म और स्थूल भेदसे दो प्रकारका होता है। उसके सूक्ष्मपनेकी अन्तिम हद परमाणु पर जाकर होती हैं। तथा परमाणुओंके संघात भावको प्राप्त हुए पृथिवी, आदिक स्थूल कहलाते हैं।

जीव और पुद्‌गलोंकी गतिमें सहायकको धर्म कहते हैं तथा गति-प्रतिबन्धक 'अधर्म' नामसे पुकारा जाता है।

अवकाश देनेवाले पदार्थको 'आकाश' कहकर बोलते हैं। द्रव्यके पर्यायोंका परिणमन करनेवाला काल कहलाता है।

यह छह प्रकारके द्रव्योंका भेद लक्षण सहित दिखलाया गया है। सम्पूर्ण वस्तुज्ञान इन ही का प्रसार है, ऐसा इस दर्शन का मत है।

जैनदर्शनका प्रमाण भी वेदान्त सिद्धान्तसे मिलता जुलता है। इनके यहां अपना और पर पदार्थका आपही निश्चय करनेवाला, स्वपर-प्रकाशक ज्ञानही 'प्रमाण' कहलाता है तथा इसके लिए आत्मा शब्दका भी व्यवहार होता है; क्योंकि यही ज्ञान आत्मा है। यह प्रत्यक्ष तथा परोक्ष भेदसे दो प्रकारका होता है। सांव्यवहारिक तथा परमार्थिक भेदसे प्रत्यक्ष भी दो प्रकारका कहा गया है। इन्द्रिय व मनकी सहायतासे जो ज्ञान होता है वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहलाता है। चक्षु और मन तो विषयका दूर रहने पर भी अनुभवकरलेते हैं परन्तु बाकी इन्द्रियां विषयका समीप्य प्राप्त होने पर ही विशेष संयोग द्वारा अनुभव कर सकती हैं। इसलिए जैनागम मन और चक्षुको अप्राप्यकारी तथा बाकी चारों ज्ञानेन्द्रियोंको प्राप्यकारी कहता हैं। इन्द्रियोंके भेदसे उनके अनुसार इसके भी भेद होते हैं।

जैनी लोग व्यवहारके निर्वाह करनेवाले प्रत्यक्षको सांव्यवहारिक प्रत्पक्ष कहते हैं। इसका दूसरा नाम मतिज्ञान भी है। यह इसके भेदोंके साथ कह दिया गया है। अब मय भेदोंके पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा जाता है।

जो प्रत्यक्ष किसी भी इन्द्रियकी सहायता न लेकर वस्तुका अनुभव कर ले वह पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहलाता है। यही वास्तविक प्रत्यक्ष कहने योग्य है। बाकी प्रत्यक्ष तो लोकयात्राके लिए स्वीकार किया है। यह विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष और सकल पारमार्थिक प्रत्यक्षके भेदसे दो प्रकारका होता है। जो प्रत्यक्ष पूर्वोक्त प्रकारसे रूपी पदार्थोंका ही अनुभव कर सकता हो वह अरूपी पदार्थोंके अनुभवसे हीन होनेके कारण विकल परमार्थिक प्रत्यक्ष कहलाता है।

जो तीनों कालोंमें से किसी भी कालके रूपी अरूपी प्रत्येक वस्तुका अनुभव कर लेता है, वह सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष होता हैं। इसका दूसरा नाम केवलज्ञान भी है। इस ज्ञानवाले केवली कहे जाते हैं। यही ज्ञानकी चरम सीमा है। यह मुक्त पुरुषोंके सिवा दूसरोंको नहीं हो सकता।

अवधि और मनःपर्यय इन दो भेदोंसे विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष दो प्रकारका होता है। जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भावकी अपेक्षासे विना इन्द्रियोंकी सहायताके रूपी पदार्थोंको समर्याद जाने वह अवधिको लिये हुए होनेके कारण अवधि पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा जाता है अन्य जीवोंके मानसिक विषय बने हुए रूपी पदार्थोंके पूर्वोक्त प्रकारके अनुभवको मनःपर्यय विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं। इसतरह यह पारमार्थिक प्रत्यक्ष अवधि, मनःपर्यय, तथा केवल इन तीन ज्ञानोंमें समाप्त हो जाता है।

जो किसी भी रूपमें सांव्यवहारिक प्रत्यक्षज्ञानकी सहायतासे हो वह ज्ञान परोक्षज्ञान कहा जाता है। वह स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क अनुमान और आगम के भेदसे पांच प्रकारका होता है।

इनके जो लक्षण अन्य शास्त्रोंने किये हैं उनसे मिलते जुलते ही जैन शास्त्रोंने भी किये हैं। इसलिए वे सबमें प्रसिद्ध हैं। अतएव अनुमान आदिके लक्षण आदि यहां देनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

यही परोक्ष ज्ञान श्रुतज्ञानके नामसे भी व्यवहृत होता है। इस प्रकार प्रमाण माना हुआ ज्ञान अपने अमित भेदोंको भी साथ लेकर (१) मति (२) श्रुत (३) अवधि (४) मनःपर्यय और (५) केवल, इन पांच ज्ञानोंके अन्दर गतार्थ हो जाता है। अन्य दर्शनोंने किसीको नित्य और किसीको अनित्य माना है, पर यह दर्शन कहता है कि—

आदोपमाव्योमसमस्वभाव स्याद्वादमुद्रानति भेदि वस्तु।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यद् इति त्वदाज्ञा द्विषतां प्रलापा॥

यह बात नहीं है कि आकाश ही नित्य हो, यह और दीपक दोनों ही एकसे स्वभाव वाले हैं। दोनों ही क्यों? कोई भी वस्तु उस स्वभावका अतिक्रमण नहीं कर सकती, क्योंकि सबके मस्तकपर स्याद्वाद यानी अनेकान्त स्वभावकी छाप लगी हुई है। जो किसीको नित्य, पुनः किसीको अनित्य कहते हैं वे अकारण जैन शास्त्रके साथ द्वेष करते हैं।

स्याद्वाद शब्दमें स्यात् यह अनेकान्त रूप अर्थका कहनेवाला अव्यय है? अतएव स्यादवादका अर्थ अनेकान्तवाद कहा जाता है। परस्पर विरुद्ध अनेक धर्म, अपेक्षासे एक ही वस्तुमें प्रतीत होते हैं; जैसे द्रव्यत्व रूपसे नित्यता तथा पर्यायरूपसे अनित्यता प्रत्येक वस्तुमें प्रतीत होती है। इसीको अनेकान्तवाद कहते हैं। एकान्तसे नित्य, अनित्य आदि कुछ भी नही है किन्तु अपेक्षासे सब हैं। कोई कोई विद्वान् इसे अपेक्षावाद भी कहते हैं।

यह दर्शन प्रमाण और नयसे पदार्थकी सिद्धि मानता है। प्रमाण तो कह चुके हैं अब नयका भी निरूपण करते हैं। अनन्त धर्म वाली वस्तुके किसी एक धर्मका अनुभव करने वाले ज्ञानको नय कहते हैं। क्योंकि वस्तुका मति, श्रुतज्ञान होनेपर भी उसके समस्त धर्मोंका ज्ञान नहीं हो सकता। उसके किसी एक अंशके अनुभवका निरूपण, नयसे भली भांति हो जाता है।

द्रव्य मात्रको ग्रहण करने वाला तथा गुण और पर्यायमात्रको ग्रहण करनेवाला नय क्रमसे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक कहलाता है। नैगम, संग्रह और व्यवहार नयके भेदसे तीन प्रकारका द्रव्यार्थिक होता है इसी तरह ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत यह चार प्रकारका पर्यायार्थिक नय होता है।

वस्तुका प्रत्यक्ष करते समय आरोप तथा विकल्पको नैगम नय ग्रहण करता है। एकके ग्रहणमें तज्जातीय सबका ग्रहण करनेवाला संग्रह नय होता है। पृथक् पृथक् व्यवहारानुसार ग्रहण करनेवाला व्यवहार नय है। वर्तमान पर्यायको ग्रहण करना ऋजुसूत्रनयका कार्य है। व्याकरणसिद्ध प्रकृति, प्रत्यय, लिंग आदिके ग्रहण करनेवालेको शब्दनय कहते हैं। पर्यायवाचक शब्दोंकी व्युत्पत्तिके भेदसे भिन्न अर्थोंको ग्रहण करनेवालेका नाम समभिरूढ़ नय है। अन्वयार्थक संज्ञावाले व्यक्तिका उस कामको करनेके क्षणमें ग्रहण करनेवाला एवंभूत नय है।

जब प्रमाण अपने ज्ञेय विषयों को जानते है तब ये नय उनके अंग होकर ज्ञान प्राप्तिमें सहायता पहुंचाते हैं। इसलिए तत्त्वार्थ सूत्रकारने वस्तुके निरूपणमें एक ही साथ इनका उपयोग माना है।

निक्षेप—

इसी तरह वस्तुके समझानेके लिए नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेपका भी उपयोग होता है। अन्तमें यह सिद्धान्त व्याकरण महाभाष्यकारकी 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः'से मिलता जुलता है। साधारणतः संज्ञाको नाम' तथा झूठी सांची आरोपणाको स्थापना, एवं कार्यक्षमताको द्रव्य और प्रत्युपस्थित कार्य या पर्यायको भाव कहते हैं।

जैन तंत्र वस्तुके निरूपणमें इतने उपकरणोंकी अपेक्षा रखनेवाला होनेके कारण प्रथम कक्षाके लोगोंके लिए दुरुह सा हो गया है। पर इसके मूल तत्त्व समझमें आ जानेके बाद कोई कठिनता नहीं मालूम होती। इसी तरह क्षेत्र, काल और स्वामी आदिका ज्ञान भी आसान हो जाता है।

लोकका स्वरूप—

एक हजार मनका लोहेका गोला इन्द्रलोकसे नीचे गिरकर छह मासमें जितनी दूर पहुंचे उस सम्पूर्ण लम्बाईको एक राजू कहते हैं। नृत्य करते हुए भोंपाके समान आकार वाला यह ब्रह्माण्ड सात राजू चौड़ा और सात राजू मोटा तथा चौदह राजु ऊंचा (लंम्बा) है। अन्य दर्शनोंके समान जैन दर्शन भी स्वर्ग, नरक तथा इन्द्रादि देवताओंके जुदे जुदे लोक मानता है।

जीवात्माका विस्तार—

यह दर्शन जीवात्माको समस्त शरीर व्यापी मानता है। छोटे बड़े शरीरोंमें दीपकके समान जीवात्माके भी संकोच विकास होते रहते हैं। परन्तु मुक्त जीव अन्तिम शरीरसे कुछ[१] कम होता है।

१. लेखक महोदयने किसी ग्रन्थके आधारसे तीन भाग कम लिखा है।

जीवके भेद—

पृथिवी, जल, वायु, तेज और वनस्पति शरीर वाले जीव स्थावर कहलाते हैं। इनको स्पर्शका ही विशेष रूपसे भान होता है। शेष स्पर्शादि द्वि इन्द्रियोंसे लेकर पांच इन्द्रिय वाले मनुष्य, आदि त्रस कहलाते हैं। कारण, इनमें अपनी रक्षा करनेकी चेष्टा होती है।

मुक्त जीव—

संवर और निर्जराके प्रभावसे आस्रवका बन्धन छूटकर आत्म-प्रदेशोंमें से कर्मोंके संयोगको तोड़ कर नाश कर दिया जाता है। तब जीव अपने आप ऊर्ध्व गमन करता हुआ मुक्त हो जाता है। फिर उसका जन्म मरण नहीं होता।

अहिंसा परमो धर्मः—

इस दर्शनके अनुयायियोंमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, आदि सार्वभौम छह व्रतोंकी उपासना प्रधान रूपसे होती है। सब धर्मोंके मूल अहिंसा व्रतकी उपासना करनेके कारण इन्हें 'अहिंसा परमो धर्मः'का अनुयायी कहा जाता है।

यत्र तत्र आये आचार्योंके ईर्षा द्वेष सूचक अक्षरोंको पृथक् करके दर्शनके मूल सिद्धान्तोंपर विचार किया जाय तो वे सिद्धान्त वेदसे परिवर्द्धित सनातन ही प्रतीत होते हैं। कारण, भगवान वेदव्यासके न्यास भाष्यसे मूल जैनदर्शन, बिलकुल मिलता जुलता है। रही आपसके खण्डन मण्डनकी बात, सो हर एक दार्शनिकको उसमें पूरी स्वतंत्रता रही है जब वेदान्त-ब्रह्मसूत्रने अपने बराबरके योग शास्त्रके सिद्धान्तोंके लिए भी कह दिया है कि 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' इससे योग प्रत्युक्त कर दिया गया, तब हम वेदके विचारोंके अतिरिक्त दार्शनिक खण्डन मण्डनपर ध्यान नहीं देते। उसमें तत्त्व ही ढूंढ़ते हैं।

अहिंसाको मुख्यतया मानने वाला यह दर्शन महावीर स्वामीके निर्वाणके बाद भी अहिंसाके मुख्य सिद्धान्तोंका संग्राहक रहा इसी कारण अग्रोहाधिप महाराज अग्रसेनजीकी सन्तानोंने अपनेको इस धर्ममें दीक्षित किया था।

प्रायः जब किसी दर्शनका अनुयायी समुदाय अधिक जन हो जावेगा तबही उसके जुदे जुदे मण्डल खड़े होने लग जांयगे। एक दुर्भिक्षके बाद जैनोंमें भी श्वेताम्बर नाम से दूसरा सम्प्रदाय बन गया।

महाराज अग्रसेनकी जैनसन्तानोंने दिगम्बर पथका अनुसरण किया, जो अब भी जैनसमुदायमें सरावगी कह कर पुकारे जाते हैं। वे प्रायः वैदिक संस्कार तथा अहिंसा व्रत दोनों ही का पालन करते हैं। इनमें अग्रवालों की संख्या अधिक है। सरावगी लोग वैदिक विधिसे ही उपवीत धारण करते हैं[1]।

दिगम्बर सम्प्रदायमें पहिले मूर्ति पूजाको न माननेवाला लगभग हजार व्यक्तियोंका एक समुदाय निकला था पर उसकी अधिक वृद्धि न हो सकी। काल पाकर श्वेताम्बर सम्प्रदाय भी 'संवेगी' और 'बाईस-

---

१. सब सरावगी अग्रवाल जैनी ऐसा करते हैं; ऐसा नहीं है।

टोला' इन दो भागोंमें बट गया । संवेगी लोग अधिक सूत्र ग्रंथ माना करते हैं पर इनमें से बाइसटोलाने थोड़ेसे ही सूत्र ग्रंथोंको प्रमाण माना है । आजसे करीब दो सौ वर्षके पहिले बाईसटोलासे निकलकर श्री भीखमदासजी मुनिने तेरह पंथ नामका एक पन्थ चलाया । इसमें सूत्रोंकी मान्यता तो बाईसटोलाके बराबर है परन्तु स्वामी दयानन्दके सत्यार्थ प्रकाशकी तरह इन्होंने भी भ्रम विध्वंसन और अनुकम्पाकी ढाल बना रखी है । इस मतने दया दानका बड़ा अपवाद किया है ।

जैन साधुमें सत्ताईस गुण[1] रहने चाहिये । उसका आहार भी सैंतालीस दोषोंसे रहित होना चाहिये । मठधारी यतियोंको छोड़करके शेष सर्व जैनसाधुओंमें कष्ट सहनेकी अधिक शक्ति पायी जाती है । तेरह पंथ तथा बाईसटोलाके साधु गण मुख पर पट्टी बांधते हैं । संवेगी साधु उसे हाथ ही में रखते हैं । बाकी साधुओंमें इसका व्यवहार नहीं है, शास्त्रोंमें इनका नाम श्रमण है । अन्य सम्प्रदायोंमें साधारण लोग यतियों के सिवा इन साधुओंको ढूंढ़िया कहकर व्यवहार करते हैं । पहले तो इसका अधिकांश प्रचार यतियोंने ही किया था ।

सम्प्रदायोंकी प्रतिद्वन्दिताके साथ कुछ लोग यह भी समझने लग गये हैं कि हमारा सनातन धर्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं हैं । कतिपय सम्प्रदायोंने तो अपना रूप भी ऐसा ही बना लिया है कि मानों इनका सनातन धर्मके साथ कभी कोई सम्बन्धी नहीं रहा था । यह भोले लोगोंकी नासमझी ही है ।

जैनधर्मके परिरक्षकोंने जैसा पदार्थके सूक्ष्म तत्त्वका विचार किया है उसे देखकर आजकलके दार्शनिक बड़े विस्मयमें पड़ जाते हैं, वे कहते हैं कि महावीर स्वामी आजकलके विज्ञानके सबसे पहिले जन्मदाता थे । जैनधर्मकी समीक्षा करते समय कई एक सुयोग्य प्राध्यापकोंने ऐसा ही कहा है । श्री महावीर स्वामी ने गोसाल जैसे विपरीत वृत्तियोंको भी उपदेश देकर हिंसाका काफी निवारण किया ।

भगवान बुद्धदेव व महावीर स्वामीके उपदेश उस समयकी प्रचलित भाषाओंमें ही हुआ करते थे जिससे सब लोग सरलतासे समझ लिया करते थे । उस समयकी भाषाओंके व्याकरण हेमेन्द्र तथा प्राकृत-प्रकाशके देखनेसे पता चलता है कि वह भाषा अपभ्रंशके रूपको प्राप्त हुई संस्कृत भाषा ही थी । उसी को धर्मभाषा बना लेनेके कारण श्री बुद्ध भगवान और महावीर स्वामीके सिद्धान्त प्रचलित तो खूब हुए पर भाषाके सुधारकी ओर ध्यान न जानेके कारण संस्कृतिकी स्थिति और अधिक बिगड़ गयी । जिससे वेदोंकी भाषाका समझना नितान्त कठिन होकर वैदिकों की चिन्ताका कारण बन गया ।

——

१. गुणोंकी यह संख्या श्वेताम्बर संम्प्रदायके अनुसार है । दि० स० के अनुसार साधुके २८ मूलगुण हैं । इसी तरह आहार दोषोंकी संख्या भी ४६ मानी गयी है ।

जैनधर्म तथा जैनदर्शन

श्री अम्बुजाक्ष सरकार, एम. ए., बी. एल.

पुण्यभूमि भारतवर्षमें वैदिक (हिन्दू) बौद्ध और जैन इन तीन प्रधान धर्मोंका अभ्युत्थान हुआ है। यद्यपि बौद्धधर्म भारतके अनेक सम्प्रदायों और अनेक प्रकारके आचारों व्यवहारोंमें अपना प्रभाव छोड़ गया है, परन्तु वह अपनी जन्मभूमिसे खदेड़ दिया गया है और सिंहल, ब्रह्मदेश, तिब्बत, चीन, आदि देशोंमें वर्तमान है। इस समय हमारे देशमें बौद्धधर्मके सम्बन्धमें यथेष्ट आलोचना होती है, परन्तु जैन धर्मके विषयमें अब तक कोई भी उल्लेख योग्य आलोचना नहीं हुई। जैनधर्मके सम्बन्धमें हमारा ज्ञान बहुत ही परिमित है। स्कूलोंमें पढ़ाये जाने वाले इतिहासोंके एक दो पृष्ठोंमें ती० महावीर द्वारा प्रचारित जैन धर्मके सम्बन्धमें जो अत्यन्त संक्षिप्त विवरण रहता है, उसको छोड़कर हम कुछ नहीं जानते। जैनधर्म सम्बन्धी विस्तृत आलोचना करनेकी लोगोंकी इच्छा भी होती है, पर अभी तक उसके पूर्ण होनेका कोई विशेष सुभीता नहीं है। कारण दो चार ग्रन्थोंको छोड़कर जैनधर्म सम्बन्धी अगणित ग्रन्थ अभी तक भी अप्रकाशित हैं; भिन्न भिन्न मंदिरोंके गुप्त भण्डारोंमें जैन ग्रन्थ छिपे हुए हैं, इसलिए पठन या आलोचना करनेके लिए वे दुर्लभ हैं।

हमारी उपेक्षा तथा अज्ञता—

बौद्ध धर्मके समान जैनधर्मकी आलोचना क्यों नहीं हुई? इसके और भी कई कारण हैं। बौद्ध धर्म पृथिवीके एक तृतीयांश वासियोंका धर्म है, किन्तु भारतके चालीस करोड़ लोगोंमें जैनधर्मावलम्बी केवल लगभग बीस लाख हैं। इसी कारण बौद्धधर्मके समान जैन धर्मके गुरुत्वका किसीको अनुभव नहीं होता। इसके अतिरिक्त भारतमें बौद्ध-प्रभाव विशेषताके साथ परिस्फुटित है। इसलिए भारतके इतिहासकी आलोचनामें बौद्धधर्मका प्रसङ्ग स्वयं ही आकर उपस्थित हो जाता है। अशोकस्तम्भ, चीनी यात्री हुयेन-सांगका भारतभ्रमण, आदि जो प्राचीन इतिहासकी निर्विवाद बातें हैं उनका बहुत बड़ा भाग बौद्धधर्मके साथ मिला हुआ है भारतके कीर्तिशाली चक्रवर्ती राजाओंने बौद्धधर्मको राजधर्मके रूपमें ग्रहण किया था, इसलिए किसी समय हिमालयसे लेकर कन्याकुमारी तककी समस्त भारतभूमि पीले कपड़ेवालोंसे व्याप्त हो गयी थी। किन्तु भारतीय इतिहासमें जैनधर्मका प्रभाव कहां तक विस्तृत हुआ था यह अब तक भी पूर्ण रूपसे मालुम नहीं होता है। भारतके विविध स्थानोंमें जैन कीर्तिके जो अनेक ध्वंसावशेष अब भी

वर्तमान हैं उनके सम्बन्धमें अच्छी तरह अनुसन्धान करके ऐतिहासिक तत्त्वोंको खोजनेकी कोई उल्लेख योग्य चेष्टा नहीं हुई है। हां; कुछ वर्षोंसे अति साधारण चेष्टा हुई है। मैसूर राज्यके श्रवणबेलगोला नामक स्थानके चन्द्रगिरि पर्वतपर जो थोड़ेसे शिलालेख प्राप्त हुए हैं, उनसे मालूम होता है कि मौर्यवंशके प्रतिष्ठाता महाराज चन्द्रगुप्त जैन मतावलम्बी थे। इस बातको श्री विन्संट स्मिथने अपने भारतके इतिहासके तृतीय संस्करण (१९१४) में लिखा है परन्तु इस विषयमें कुछ लोगोंने शंका की है किन्तु अब अधिकांश मान्य विद्वान इस विषयमें एकमत हो गये हैं। जैन शास्त्रोंमें लिखा है कि महाराज चन्द्रगुप्त (छट्टे ?) पांचवे श्रुतकेवली भद्रबाहुके द्वारा जैन धर्ममें दीक्षित किये गये थे और महाराज अशोक भी पहले अपने पितामह से ग्रहीत जैनधर्मके अनुयायी थे; पर पीछे उन्होंने जैन धर्मका परित्याग करके बौद्धधर्म ग्रहण कर लिया था। भारतीय विचारोंपर जैन धर्म और जैन दर्शनने क्या प्रभाव डाला है, इसका इतिहास लिखनेके समग्र उपकरण अब भी संग्रह नहीं किये गये हैं। पर यह बात अच्छी तरह निश्चित हो चुकी है कि जैन विद्वानोंने न्यायशास्त्रमें बहुत अधिक उन्नति की थी। उनके और बौद्ध नैयायिकोंके संसर्ग और संघर्षके कारण प्राचीन न्यायका कितना ही अंश परिवर्द्धित और परिवर्तित किया गया और नवीन न्यायके रचनेकी आवश्यकता हुई थी। शाकटायन, आदि वैयाकरण, कुन्दकुन्द, उमास्वामि, सिद्धसेन, दिवाकर भट्टाकलङ्क-देव, आदि नैयायिक, टीकाकृत्कुलरवि मल्लिनाथ, कोषकार अमरसिंह, अभिधानकार, पूज्यपाद, हेमचन्द्र, तथा गणितज्ञ महावीराचार्य, आदि विद्वान जैनधर्मावलम्बी थे। भारतीय ज्ञान भण्डार इन सबका बहुत ऋणी है।

"अच्छी तरह परिचय तथा आलोचना न होनेके कारण अब भी जैनधर्मके विषयमें लोगोंके तरह तरहके ऊटपटांग खयाल बने हैं। कोई कहता था यह बौद्धधर्मका ही एक भेद है। कोई कहता था कि वैदिक (हिन्दू) धर्ममें जो अनेक सम्प्रदाय हैं, इन्हींमें से यह भी एक है जिसे महावीर स्वामीने प्रवर्तित किया था। कोई, कोई कहते थे कि जैन आर्य नहीं हैं, क्योंकि वे नग्नमूर्तिओंको पूजते हैं। जैनधर्म भारत के मूलनिवासियोंके किसी एक धर्म सम्प्रदायका केवल एक रूपान्तर है। इस तरह नाना अनभिज्ञताओंके कारण नाना प्रकारकी कल्पनाओंसे प्रसूत भ्रान्तियां फैल रही थी, उनकी निराधारता अब धीरे धीरे प्रकट होती जाती है।

जैनधर्म बौद्ध धर्मसे अति प्राचीन—

यह अच्छी तरह प्रमाणित हो चुका है कि जैनधर्म बौद्धधर्मकी शाखा नहीं है महावीर स्वामी जैनधर्मके स्थापक नहीं हैं, उन्होंने केवल प्राचीन धर्मका प्रचार किया था। महावीर या वर्द्धमानस्वामी बुद्धदेवके समकालीन थे। बुद्धदेवने बुद्धत्व प्राप्त करके धर्मप्रचार कार्यका व्रत लेकर जिस समय धर्मचक्रका प्रवर्तन किया था, उस समय महावीर स्वामी एक सर्व विश्रुत तथा मान्य धर्मशिक्षक थे। बौद्धोंके त्रिपिटक

नामक ग्रन्थमें 'नातपुत्त' नामक जिस निर्ग्रन्थ धर्मप्रचारकका उल्लेख है, वह 'नातपुत्त' ही महावीर स्वामी हैं उन्होंने ज्ञातृ नामक क्षत्रियवंशमें जन्म ग्रहण किया था, इसलिए वे ज्ञातृपुत्र[1] (पाली भाषामें जा[ना]तपुत्त) कहलाते थे। जैन मतानुसार महावीर स्वामी चौबीसवें या अन्तिम तीर्थंकर थे। उनके लगभग २०० वर्ष पहले तेईसवें तीर्थंकर श्रीपार्श्वनाथ स्वामी हो चुके थे। अब तक इस विषयमें सन्देह था कि पार्श्वनाथ स्वामी ऐतिहासिक व्यक्ति थे या नहीं परन्तु डा० हर्मन जैकोबीने सिद्ध किया है कि पार्श्वनाथने ईसा पूर्व आठवीं शताब्दिमें जैनधर्मका प्रचार किया था। पार्श्वनाथके पूर्ववर्ती अन्य बाईस तीर्थकरोंके सम्बन्धमें अबतक कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिला है।

दिगम्बर मूल परम्परा है—

"तीर्थिक, निर्ग्रन्थ और नग्न नाम भी जैनोंके लिए व्यवहृत होते हैं। यह तीसरा नाम जैनोंके प्रधान और प्राचीनतम दिगम्बर सम्प्रदायके कारण पड़ा है। मेगस्थनीज इन्हें नग्न दार्शनिक (Gymnosphists) के नामसे उल्लेख करता है। ग्रीसदेशमें एक ईलियाटिक नामका सम्प्रदाय हुआ है। वह नित्य, परिवर्तनरहित एक अद्वैत सत्तामात्र स्वीकार करके जगतके सारे परिवर्त्तनों, गतियों और क्रियाओंकी संभावनाको अस्वीकार करता है। इस मतका प्रतिद्वन्द्वी एक 'हिराक्लीटियन' सम्प्रदाय हुआ है वह विश्व-तत्त्व (द्रव्य) की नित्यता सम्पूर्ण रूपसे अस्वीकार करता है। उसके मतसे जगत सर्वथा परिवर्त्तनशील है। जगत् स्रोत निरवाध गतिसे बह रहा है, एक क्षणभरके लिए भी कोई वस्तु एक भावसे स्थित होकर नहीं रह सकती। ईलियाटिक—सम्प्रदायके द्वारा प्रचारित उक्त नित्यवाद और हिराक्लीटियन सम्प्रदाय द्वारा प्रचारित परिवर्तन-वाद पाश्चात्य दर्शनोंमें समय समय पर अनेक रूपोंमें नाना समस्याओंके आवरणमें प्रकट हुए हैं। इन दो मतोंके समन्वयकी अनेक बार चेष्टा भी हुई है; परन्तु वह सफल कभी नहीं हुई। वर्तमान समयके प्रसिद्ध फ्रांसीसी दार्शनिक बर्गसान (Bergson) का दर्शन हिराक्लीटियनके मतका ही रूपान्तर है।

भारतीय नित्य-अनित्यवाद—

वेदान्त दर्शनमें भी सदासे यह दार्शनिक विवाद प्रकाशमान हो रहा है। वेदान्तके मतसे केवल नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सत्य स्वभाव चैतन्य ही 'सत्' है, शेष जो कुछ है वह केवलनाम रूपका विकार 'माया प्रपञ्च'—'असत्' है। शङ्कराचार्यने सत् शब्दकी जो व्याख्या की है उसके अनुसार इस दिखलायी देनेवाले जगतप्रपञ्चकी कोई भी वस्तु सत् नहीं हो सकती। भूत, भविष्यत्, वर्तमान इन तीनों कालोंमें जिस वस्तुके सम्बन्धमें बुद्धिको भ्रान्ति नहीं होती, वह सत् है और जिसके सम्बन्धमें व्यभिचार होता है—

---

१. दिगम्बर सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें महावीर स्वामीके वंशका उल्लेख 'नाथ' नामसे मिलता है, जो निश्चय ही "ज्ञातृ" के प्राकृत रूप 'णात' का ही रूपान्तर है।

वह असत् है[१]। जो वर्तमान समयमें है, वह यदि अनादि अतीतके किसी समयमें नहीं था और अनन्त भविष्यत्के भी किसी समयमें नहीं रहेगा, तो वह सत् नहीं हो सकता—वह असत् है। परिवर्तनशील असद्वस्तुके साथ वेदान्तका कोई सम्पर्क नहीं है! वेदान्त दर्शन केवल अद्वैत सद्ब्रह्मका तत्त्व दृष्टिसे अनुसन्धान करता है। वेदान्तकी यही प्रथम बात है 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' और यही अन्तिम बात है। क्योंकि—"तस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।"

"वेदान्तके समान बौद्धदर्शनमें कोई त्रिकाल अव्यभिचारी नित्य वस्तु नहीं मानी गयी है बौद्ध क्षणिकवादके मतसे "सर्वं क्षणं क्षणं?'। जगत्स्रोत अप्रतिहततया अबाध गतिसे बराबर वह रहा है—क्षणभरके लिए भी कोई वस्तु एक ही भावसे एक ही अवस्थामें स्थिर होकर नहीं रह सकती। परिवर्तन ही जगतका मूलमंत्र है! जो इस क्षणमें मौजूद है, वह आगामी क्षणमें ही नष्ट हो कर दूसरा रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार अनन्त मरण और अनन्त जीवनोंकी अनन्त क्रीड़ाएं इस विश्वके रंगमंचपर लगातार हुआ करती हैं। यहां स्थिति, स्थैर्य, नित्यता असंभव है।

जैन-अनेकान्त—

"स्याद्वादी जैनदर्शन वेदान्त और बौद्धमतकी आंशिक सत्यताको स्वीकार करके कहता है कि विश्वतत्त्व या द्रव्य नित्य भी है और अनित्य भी। वह उत्पत्ति, ध्रुवता और विनाश इन तीन प्रकारकी परस्पर विरुद्ध अवस्थाओंसे से युक्त है। वेदान्त दर्शनमें जिसप्रकार 'स्वरूप' और 'तटस्थ' लक्षण कहे गये हैं उसी प्रकार जैनदर्शनमें प्रत्येक वस्तुको समझानेके लिए दो तरहसे निर्देश करनेकी व्यवस्था है। एक को कहते हैं 'निश्चयनय' और दूसरेको कहते हैं 'व्यवहार नय'। स्वरूपलक्षणका जो अर्थ है, ठीक वही अर्थ निश्चयनयका है। वह वस्तुके निज भाव या स्वरूपको बतलाता है। व्यवहारनय वेदान्तके तटस्थ लक्षणके अनुरूप है। उससे वक्ष्यमाण वस्तु किसी दूसरी—वस्तुकी अपेक्षासे वर्णित होती है। द्रव्य निश्चय नयसे ध्रुव है किन्तु व्यवहारनयसे उत्पत्ति और विनाशशील है, अर्थात् द्रव्यके स्वरूप या स्वभावकी अपेक्षा से देखा जाय तो वह नित्य स्थायी पदार्थ है, किन्तु साक्षात् परिदृश्यमान व्यवहारिक जगतकी अपेक्षासे देखा जाय तो वह अनित्य और परिवर्तनशील है। द्रव्यके सम्बन्धमें नित्यता और परिवर्तन आंशिक या अपेक्षिक भावसे सत्य है—पर सर्वथा एकान्तिक सत्य नहीं है। वेदान्तने द्रव्यकी नित्यताके ऊपर ही दृष्टि रक्खी है और भीतरकी वस्तुका सन्धान पाकर, बाहरके परिवर्तनमय जगत प्रपञ्चको तुच्छ कह कर उड़ा दिया है; और बौद्ध क्षणिकवादने बाहरके परिवर्तनकी प्रचुरताके प्रभावसे रूप—रस—गन्ध—शब्द—स्पर्शादिकी विचित्रतामें ही मुग्ध होकर इस वहिर्वैचित्र्यके कारणभूत, नित्य-सूत्र अभ्यन्तरको खो दिया है। पर स्याद्वादी जैनदर्शनने भीतर और बाहर, आधार आधेय, धर्म और धर्मी, कारण और कार्य, अद्वैत और वैविध्य दोनोंको ही यथास्थान स्वीकार कर लिया है।

"१. "यद्विषया बुद्धिर्न व्यभिचरति तत्सत्, यद्विषया बुद्धिर्व्यभिचरति तदसत्।"—गीता शांकरभाष्य २—१६।

स्याद्वादकी व्यापकता—

"इसतरह स्याद्वादने, विरुद्ध वादोंकी मीमांसा करके उनके अन्तःसूत्र रूप आपेक्षिक सत्यका प्रतिपादन करके उसे पूर्णता प्रदान की है। विलियम जेम्स नामके विद्वान् द्वारा प्रचारित Pragmtaism वादके साथ स्याद्वादकी अनेक अंशोंमें तुलना हो सकती है। स्याद्वादका मूलसूत्र जुदे, जुदे दर्शन शास्त्रोंमें जुदे जुदे रूपमें स्वीकृत हुआ है। यहां तक कि शङ्कराचार्यने पारमार्थिक-सत्यसे व्यवहारिक सत्यको जिस कारण विशेष रूपमें माना है, वह इस स्याद्वादके मूलसूत्रके साथ अभिन्न है। श्रीशंकराचार्यने परिदृश्यमान या दिखलायी देनेवाले जगतका अस्तित्व अस्वीकार नहीं किया है, उन्होंने केवल इसकी पारमार्थिक सत्ताको अस्वीकार किया है। बौद्ध विज्ञानवाद एवं शून्यवादके विरुद्ध उन्होंने जगतकी व्यवहारिक सत्ताको अत्यन्त दृढ़ताके साथ प्रमाणित किया है। समतल भूमिपर चलते समय एक तल, द्वितल, त्रितल, आदि उच्यताके नाना प्रकारके भेद हमें दिखलायी देते हैं, किन्तु बहुत ऊंचे शिखरसे नीचे देखनेपर सतखंडा महल और कुटियामें किसी प्रकारका भेद नहीं जान पड़ता। इसी तरह ब्रह्मबुद्धिसे देखनेपर जगत मायाका विकास, ऐन्द्रजालिक रचना अर्थात् अनित्य है; किन्तु साधारण बुद्धिसे देखनेपर जगतकी सत्ता स्वीकार करना ही पड़ती है। दो प्रकारका सत्य दो विभिन्न दृष्टियोंके कारणसे स्वयं सिद्ध है! वेदान्तसारमें मायाको जो प्रसिद्ध 'संज्ञा' दी गयी है, उससे भी इस प्रकारकी भिन्न दृष्टिओंसे समुत्पन्न सत्यताके भिन्न रूपोंकी स्वीकृति इष्ट है। बौद्ध दृश्यवादमें शून्यका जो व्यतिरेकमुख लक्षण किया है, उसमें भी स्याद्वादकी छाया स्पष्ट प्रतीत होती है। अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति दोनों, अस्ति-नास्ति दोनों नहीं, इन चार प्रकारकी भावनाओंके जो परे हैं, उसे शून्यत्व कहते हैं[1]। इसप्रकार पूर्वी और पश्चिमी दर्शनोंके जुदे जुदे स्थानोंमें स्याद्वादका मूल सूत्र तत्त्वज्ञानके कारण रूपसे स्वीकृत होनेपर भी, स्याद्वादको स्वतंत्र उच्च दार्शनिक मतके रूपमें प्रसिद्ध करनेका गौरव केवल जैनदर्शनको ही मिल सकता है।

जैन सृष्टिक्रम—

जैनदर्शनके मूलतत्त्व या द्रव्यके सम्बन्धमें जो कुछ कहा गया है उससे ही मालूम हो जाता है कि जैनदर्शन यह स्वीकार नहीं करता कि सृष्टि किसी विशेष समयमें उत्पन्न हुई है। एक ऐसा समय था जब सृष्टि नहीं थी, सर्वत्र शून्यता थी, उस महाशून्यके भीतर केवल सृष्टिकर्ता अकेला विराजमान था और ऊसी शून्यसे किसी एक समयमें उसने उस ब्रह्माण्डको बनाया। इस प्रकारका मत दार्शनिक दृष्टिसे अतिशय भ्रमपूर्ण है। शून्यसे (असत्से) सत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती। सत्कार्य वादियोंके मतसे केवल सत्से ही सत्की उत्पत्ति होना सम्भव है[2]। सत्कार्यवादका यह मूलसूत्र संक्षेपमें भगवद्गीतामें मौजूद है। सांख्य और वेदान्तके समान जैनदर्शन भी सत्कार्यवादी है!

---

१. "सदसदुभयानुभय-चतुष्कोटि विर्निर्मुक्तं शून्यत्वम्"—

२. "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।"

"जैनदर्शनमें 'जीव' तत्त्वकी जैसी विस्तृत आलोचना है वैसी और किसी दर्शनमें नहीं है।

"वेदान्त दर्शनमें संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध इन तीन प्रकारके कर्मोंका वर्णन है। जैन-दर्शनमें इन्हींको यथाक्रम सत्ता, बन्ध और उदय कहा है। दोनों दर्शनोंमें इनका स्वरूप भी एकसा है।

"सयोग केवली और अयोग केवली अवस्थाके साथ हमारे शास्त्रोंकी जीवन्मुक्ति और विदेह-मुक्तिकी तुलना हो सकती है। जुदे, जुदे गुणस्थानोंके समान मोक्ष प्राप्तिकी जुदी जुदी अवस्थाएं वैदिक दर्शनोंमें मानी गयी हैं। योगवाविष्ठमें शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, संसक्ति, पदार्थाभावनी और नूर्यगाः इन सात ब्रह्मविद् भूमियोंका वर्णन किया गया है।

"संवर तत्त्व और 'प्रतिमा' पालन, जैनदर्शनका चारित्र मार्ग है। इससे एक ऊंचे स्तरका नैतिक आदर्श प्रतिष्ठापित किया गया है। सब प्रकारसे आसक्ति रहित होकर कर्म करना ही साधनाकी भित्ति है। आसक्तिके कारण ही कर्मबन्ध होता है; अनासक्त—होकर कर्म करनेसे उसके द्वारा कर्मबन्ध नहीं होगा। भगवद्गीतामें निष्काम कर्मका जो अनुपम उपदेश किया है, जैनशास्त्रोंके चरित्र विषयक ग्रन्थोंमें वह छाया विशदरूपमें दिखलायी देती है।

"जैनधर्मने अहिंसा तत्त्वको अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक करके व्यवहारिक जीवनको पग, पगपर नियमित और वैधानिक करके एक उपहासास्पद सीमापर पहुंचा दिया है, ऐसा कतिपय लोगोंका कथन है। इस सम्बन्धमें जितने विधि-निषेध हैं उन सबको पालते हुए चलना इस बीसवीं शतीके जटिल जीवनमें उपयोगी, सहज और संभव है या नहीं, यह विचारणीय है।

जैनधर्ममें अहिंसाको इतनी प्रधानता क्यों दी गयी है! यह ऐतिहासिकों की गवेषणाके योग्य विषय है। जैनसिद्धान्तमें अहिंसा शब्दका अर्थ व्यापकसे व्यापकतर हुआ है। तथा, अपेक्षाकृत अर्वाचीन ग्रन्थोंमें वह रूपान्तर भावसे ग्रहण किया गया गीताके निष्काम-कर्म-उपदेशसा प्रतीत होता है। तो भी, पहले अहिंसा शब्द साधारण प्रचलित अर्थमें ही व्यवहृत होता था, इस विषयमें कोई भी सन्देह नहीं है। वैदिक युगमें यज्ञ—क्रियामें पशुहिंसा अत्यन्त निष्ठुर सीमापर जा पहुंची थी। इस क्रूर कर्मके विरूद्ध उस समय कितने ही अहिंसावादी सम्प्रदायोंका उदय हुआ था, यह बात एक प्रकारसे सुनिश्चित है। वेदमें 'मा हिंस्यात् सर्व भूतानि' यह साधारण उपदेश रहनेपर भी यज्ञ कर्ममें पशुहत्याकी अनेक विशेष विधियोंका उपदेश होनेके कारण यह साधारण विधि (व्यवस्था) केवल विधिके रूपमेंही सीमित हो गयी थी, पद पदपर उपेक्षित तथा उल्लंघित होनेसे उसमें निहित कल्याणकारी उपदेश सदाके लिए विस्मृतिके गर्भमें विलीन हो गया था और अन्तमें 'पशु यज्ञके लिए ही बनाये गये हैं' यह अद्भुत मत प्रचलित हो गया था। * इसके फल स्वरूप वैदिक कर्मकाण्ड; बलिमें मारे गये पशुओंके रक्तसे लाल होकर समस्तसात्विक भावका विरोधी

* "यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा। अतस्त्वां घातयिष्यामि तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः॥"

हो गया था। जैन कहते हैं कि उस समय यज्ञकी इस नृशंस पशुहत्याके विरुद्ध जिस जिस मतने विरोधका बीड़ा उठाया था उनमें जैनधर्म सब से आगे था। 'मुनयो वातवसनाः" कहकर ऋग्वेदमें जिन नग्नमुनियों का उल्लेख है, विद्वानोंका कथन है कि वे जैन दिगम्बर संन्यासी ही हैं।

"बुद्धदेवको लक्ष्यकरके जयदेवने कहा है—

'निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातं
सदय हृदय दिशति पशुघातम् ।'

किन्तु यह अहिंसातत्त्व जैनधर्ममें इसप्रकार अंग—अंगी भावसे संमिश्रित है कि जैनधर्मकी सत्ता बौद्ध धर्मके बहुत पहलेसे सिद्ध होनेके कारण पशुघातात्मक यज्ञ विधिके विरुद्ध पहले पहले खड़े होनेका श्रेय बुद्धदेवकी अपेक्षा जैनधर्मको ही अधिक है। वेदविधिकी निन्दा करनेके कारण हमारे शास्त्रोंमें चार्वाक, जैन और बौद्ध पाषण्ड 'या अनास्तिक' मतके नामसे विख्यात हैं। इनतीनों सम्प्रदायोंकी झूठी निन्दा करके जिन शास्त्रकारोंने अपनी साम्प्रदायिक संकीर्णताका परिचय दिया है, उनके इतिहासकी पर्यालोचना करनेसे मालूम होगा कि जो ग्रन्थ जितना ही प्राचीन है, उसमें बौद्धोंकी अपेक्षा जैनोंको उतनी ही अधिक गाली गलौज की है। अहिंसावादी जैनोंके शान्त निरीह शिर पर किसी किसी शास्त्रकारने तो श्लोक पर श्लोक ग्रथित करके गालियोंकी मूसलाधार बर्षा की है। उदाहरणके तौरपर विष्णु पुराणको ले लीजिये अभी तककी खोजोंके अनुसार विष्णु पुराण सारे पुराणोंसे प्राचीनतम न होनेपर भी अत्यंत प्राचीन है। इसके तृतीय भागके सत्रहवें और अठारहवें अध्याय केवल जैनोंकी निन्दासे पूर्ण हैं। "नग्नदर्शनसे श्राद्धकार्य भ्रष्ट हो जाता है, और नग्नके साथ संभाषण करनेसे उस दिनका पुण्य नष्ट हो जाता है। शतधनु नामक राजाने एक नग्न पाषण्डसे संभाषण किया था, इस कारण वह कुत्ता, गीदड़, भेड़िया, गीध और मोरकी योनियोंमें जन्म धारण करके अन्तमें अश्वमेध यज्ञके जलसे स्नान करनेपर मुक्तिलाभ कर सका।" जैनोंके प्रति वैदिकोंके प्रबल विद्वेषकी निम्नलिखित श्लोकोंसे अभिव्यक्ति होती है—

"न पठेत् यावनीं भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपि।
हस्तिना पीड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम् ॥"

यद्यपि जैन लोग अनन्त मुक्तात्माओं (सिद्धों) की उपासना करते हैं, तो भी वास्तवमें वे व्यक्तित्व रहित पारमात्म्य स्वरूपकी ही पूजा करते हैं। व्यक्तित्व रहित होनेके कारण ही जैन पूजा पद्धतिमें वैष्णव और शाक्तमतोंके समान भक्तिकी विचित्र तरङ्गोंकी संभावना बहुत ही कम रह जाती है।

बहुत लोग यह भूल कर रहे थे कि बौद्धमत और जैनमतमें भिन्नता नहीं है पर दोनों धर्मोंमें कुछ अंशोंमें समानता होनेपर भी असमानताकी कमी नहीं है। समानतामें पहली बात तो यह है कि दोनोंमें अहिंसा धर्मकी अत्यन्त प्रधानता है। दूसरे जिन, सुगत, अर्हत्, सर्वज्ञ, तथागत, बुद्ध, आदि नाम बौद्ध

और जैन दोनों ही अपने अपने उपास्य देवोंके लिए प्रयुक्त करते हैं। तीसरे दोनों ही धर्मवाले बुद्धदेव या तीर्थंकरोंकी एकही प्रकारकी पाषाण-प्रतिमाएं बनवा कर चैत्यों या स्तूपोंमें स्थापित करते हैं और उनकी पूजा करते है। स्तूपों और मूर्तियोंमें इतनी अधिक सदृशता है कि कभी कभी किसी मूर्ति और स्तूपका यह निर्णय करना कि यह जैनमूर्ति है या बौद्ध, विशेषज्ञोंके लिए कठिन हो जाता है। इन सब बाहरी समानताओंके अतिरिक्त दोनों धर्मोंकी विशेष मान्यताओंमें भी कहीं कहीं सदृशता दिखती है, परन्तु उन सब विषयोंमें वैदिक धर्मके साथ जैन और बौद्ध दोनोंका ही प्रायः ऐकमत्य है। इस प्रकार बहुत सी समानताएं होनेपर भी दोनोंमें बहुत कुछ विरोध है। पहला विरोध तो यह है कि बौद्ध क्षणिकवादी है; पर जैन क्षणिकवादको एकान्त रूपमें स्वीकार नहीं करता। जैन धर्म कहता है कि कर्म-फल रूप से प्रवर्त्तमान जन्मान्तरवादके साथ क्षणिकवादका कोई सामञ्जस्य नहीं हो सकता। क्षणिकवाद माननेसे कर्मफल मानना असंभव है। जैनधर्ममें अहिंसा नीतिको जितनी सूक्ष्मतासे लिया है उतनी बौद्धोंमें नहीं है। अन्य द्वारा मारे हुए जीवका मांस खानेकी बौद्धधर्म मनायी नहीं करता, उसमें स्वयं हत्या करना ही मना है। बौद्धदर्शनके पञ्च स्कन्धके समान कोई मनोवैज्ञानिक तत्त्व भी जैनदर्शनमें नहीं माना गया।

बौद्ध दर्शनमें जीवपर्याय अपेक्षाकृत सीमित है, जैनदर्शनके समान उदार और व्यापक नहीं है। वैदिक धर्मों तथा जैनधर्ममें मुक्तिके मार्गमें जिसप्रकार उत्तरोत्तर सीढियोंकी बात है, वैसी बौद्ध धर्ममें नहीं है। जैन गोत्र-वर्णके रूपमें जाति-विचार मानते हैं, पर बौद्ध नहीं मानते।

"जैन और बौद्धको एक समझनेका कारण जैनमतका भली भांति मनन न करने के सिवाय और-कुछ नहीं है। प्राचीन भारतीय शास्त्रोंमें कहीं भी दोनोंको एक समझनेकी भूल नहीं की गयी है। वेदान्त सूत्रमें जुदे जुदे स्थलोंपर जुदे जुदे हेतुवादसे बौद्ध और जैनमतका खण्डन किया है। शंकर दिग्विजयमें लिखा है कि शंकराचार्यने काशीमें बौद्धोंके साथ और उज्जयनीमें जैनोंके साथ शास्त्रार्थ किया था। यदि दोनों मत एक होते, तो उनके साथ दो जुदे जुदे स्थानोंमें दो बार शास्त्रार्थ करनेकी आवश्यकता नहीं थी। प्रबोधचन्द्रोदय नाटकमें बौद्ध भिक्षु और जैन दिगंबरकी लड़ायीका वर्णन है।

"वैदिक (हिन्दू) के साथ जैनधर्मका अनेक स्थलोंमें विरोध है; परन्तु विरोधकी अपेक्षा सादृश्य ही अधिक है। इतने दिनोंसे कितने ही मुख्य विरोधोंकी ओर दृष्टि रखनेके कारण वैर विरोध बढता रहा और लोगोंको एक दूसरेको अच्छी तरहसे देख सकनेका अवसर नहीं मिला। प्राचीन वैदिक सब सह सकते थे परन्तु वेद परित्याग उनकी दृष्टिमें अपराध था।

"वैदिक धर्मको इष्ट जन्म-कर्मवाद जैन और बौद्ध दोनों ही धर्मोंका भी मेरूदण्ड है। दोनों ही धर्मोंमें इसका अविकृत रूपसे प्रतिपादन किया गया है। जैनोंने कर्मको एक प्रकारके परमाणुरूप सूक्ष्म पदार्थ (कार्माण वर्गणा) के रूपमें कल्पना करके, उसमें कितनी ही सयुक्तिक श्रेष्ठ दार्शनिक विशेषताओंकी

सृष्टि ही नहीं की है, किन्तु उसमें कर्म-फलवादकी मूल मान्यताको पूर्णरूपसे सुरक्षित रखा है। वैदिक दर्शनका दुःखवाद और जन्म-मरणात्मक दुःखरूप संसार सागरसे पार होनेके लिए निवृत्तिमार्ग अथवा मोक्षान्वेषण—यह वैदिक, जैन और बौद्ध सबका ही प्रधान साध्य है। निवृत्ति एवं तपके द्वारा कर्मबन्धका क्षय होनेपर आत्मा कर्मबन्धसे मुक्त होकर स्वभावको प्राप्त करेगा और अपने नित्य-अबद्ध-शुद्ध स्वभावके निस्सीम गौरवसे प्रकाशित होगा। उस समय

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

यह स्पष्ट रूपसे जैन और वैदिक शास्त्रोंमें घोषित किया गया है।

'जन्म जन्मान्तरोंमें कमाये हुए कर्मोंको; वासनाके विध्वंसक निवृत्तिमार्गके द्वारा क्षय करके परम-पद प्राप्तिकी साधना वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों ही धर्मोंमें तर-तमके साथ समान रूपसे उपदेशित की गयी है। दार्शनिक मतवादोंके विस्तार और साधनाकी क्रियाओंकी विशिष्टतामें भिन्नता हो सकती है, किन्तु उद्देश्य और गन्तव्य स्थल सबका ही एक है—

रूचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।

महिम्नस्तोत्रकी सर्व-धर्म-समानत्वको करनेमें समर्थ यह उदारता वैदिक शास्त्रोंमें सतत उपदिष्ट होनेपर भी संकीर्ण साम्प्रदायिकतासे उत्पन्न विद्वेष बुद्धि प्राचीन ग्रन्थोंमें जहां तहां प्रकट हुई है; किन्तु आजकल हमने उस संकीर्णताकी क्षुद्र मर्यादाका अतिक्रम करके यह कहना सीखा है—

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाण पटवः कर्त्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं वो विदधातु वांछित फलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

"ईसाकी आठवीं शतीमें इसी प्रकारके महान उदार भावोंसे अनुप्राणित होकर जैनाचार्य मूर्ति-मान स्याद्वाद भट्ट अकलंक देव कह गये हैं—

"यो विश्वं वेद वेद्यं जननजलनिधे र्भङ्गिनः पार दृश्वा
पौर्वापर्याविरुद्धं वचनमनुपमं निष्कलङ्कं यदीयम्।
तं वन्दे साधुवन्द्यं सकल गुणनिधिं ध्वस्तदोष द्विषन्तं
बुद्धं वा वर्धमानं शतदलनिलयं केशवं वा शिवं वा॥"

जगतकी रचना और उसका प्रबन्ध

स्व० बाबू सूरजभानु, वकील

यह जगत् किस तरह बना और किस तरह इसका यह सब प्रबन्ध चल रहा है, इस विषयमें लोगोंमें बहुत ही ज्यादा मतभेद पाया जाता है। सभी अपने मतको 'आप्तवचन' या 'सर्वज्ञवाक्य' बना रहे हैं। इससे इस विषयका निर्णय शब्द प्रमाणके द्वारा होना तो बिलकुल ही असम्भव प्रतीत होता है। एकमात्र अनुमान प्रमाणसे ही निश्चय किये जानेका सहारा रह गया है। तर्क या अनुमान अर्थात् बुद्धिविचारसे किसी विषयकी जांच तथा खोज करनेका अर्थ सिवाय इसके और कुछ भी नहीं होता है कि संसारमें जो कुछ भी हो रहा है उससे उन कार्योंके नियमोंको निश्चय कर लें और फिर उन्हीं नियमोंको अपनी जांचकी कसौटी बना लें। जैसा कि गेहूंके बीजसे सदा गेहूंका ही पौधा उगता हुआ देखकर हम यह सिद्धान्त ठहरा लें कि गेहूंके बीजसे तो गेहूंका ही पौधा उग सकता है। गेहूंके सिवाय अन्य किसी भी अनाजका पौधा नहीं उग सकता। इस प्रकार यह सिद्धान्त निश्चय करके और इसे अटल नियम मानकर भविष्यमें भी गेहूंके बीजसे गेहूंका पौधा पैदा हो जानेकी बात को सही और सच्ची ठहराते रहें तथा गेहूंके बीजसे चने या मटरका पौधा पैदा हो जानेकी बातको असत्य मानते रहें। इसी प्रकार स्त्री-पुरुष द्वारा ही मनुष्यकी उत्पत्ति देखकर प्रत्येक मनुष्यका अपने मां-बाप द्वारा पैदा होना ही ठीक समझें, इसके विपरीत किसी भी बातको सत्य न मानें। इसी प्रकारकी जांच और खोजको बौद्धिक जांच कहते हैं। अनुभव द्वारा खोजे हुए इसी प्रकारके नियमोंसे आपसमें लोगोंके मतभेदका निर्णय हो सकता है और होता है।

प्रधान मान्यताएं—

यद्यपि इस विचारणीय विषयके सम्बन्धमें इस दुनियांमें सैकड़ों प्रकारके मत चले आ रहे हैं तो भी वे सब, मोटे रूपसे तीन भागोंमें विभाजित हो जाते हैं। (१) प्रथम मतवाले तो एक परमेश्वर या ब्रह्मको ही अनादि अनन्त मानते हैं। इनमें से भी कोई तो यह कहते हैं कि उस ईश्वरमें ब्रह्मके सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं, यह जो कुछ भी सृष्टि दिखायी दे रही है वह स्वप्नके समान एक प्रकारका भ्रम मात्र है। कुछ यह कहते हैं कि भ्रममात्र तो नहीं है, दुनियाके सब पदार्थ सत् रूपसे विद्यमान तो हैं

परन्तु इन सभी चेतन अचेतन पदार्थोंको उस परमेश्वरने ही नास्तिसे अस्ति रूप कर दिया है। पहले तो एक परमेश्वरके सिवाय अन्य कुछ भी नहीं था; फिर उसने किसी समयमें अवस्तुसे ही ये सब वस्तुएं बना दी हैं जब वह चाहेगा तब इन सब पदार्थोंको नास्तिरूप कर देगा और तब सिवाय उस ईश्वरके अन्य कुछ भी न रह जायगा। (२) दूसरी मान्यतावाले यह कहते हैं कि अवस्तुसे कोई वस्तु बन नहीं सकती; वस्तुसे ही वस्तु बना करती हैं; इस कारण जीव अजीव ये दोनों प्रकारकी वस्तुएं जो संसारमें दिखायी देती हैं न तो किसीके द्वारा बनायी गयी हैं और न बनायी ही जा सकती हैं। जिस प्रकार परमेश्वर सदासे है और सदा तक रहेगा उसी प्रकार जीव अजीव रूप वस्तुएं भी सदासे हैं और सदा रहेंगी। परन्तु इन जीव अजीव रूप वस्तुओंकी अनेक अवस्थाओं–अनेक रूपोंका बनाना बिगाड़ना उस परमेश्वरके ही हाथमें है। (३) तीसरे प्रकारके लोगोंका यह कहना है कि जीव और अजीव ये दोनों ही प्रकारको वस्तुएं अनादिसे हैं और अनन्त तक रहेंगी। इनकी अवस्था और रूपको बदलनेवाली, संसारचक्रको चलानेवाली, कोई तीसरी वस्तु नहीं है। बल्कि इन्हीं वस्तुओंके आपसमें टक्कर खानेसे इन्हींके गुण और स्वभावके द्वारा संसारका यह सब परिवर्तन होता रहता है—रंग-बिरंगे रूप बनते बिगड़ते रहते हैं।

सामञ्जस्य—

इस प्रकार, यद्यपि, इन तीनों प्रकारके लोगोंके सिद्धान्तोंमें धरती आकाशका सा अन्तर है तो भी एक अनिवार्य विषयमें ये सभी सहमत हैं; अर्थात् ये तीनों ही किसी न किसी वस्तुको 'अनादि' अवश्य मानते हैं। प्रथम वर्ग कहता है कि परमेश्वरको किसीने नहीं बनाया, वह तो विना बनाये ही सदासे चला आता है और अपने अनादि स्वभावानुसार ही इस सारे संसारको चला रहा है—अनेक प्रकारकी वस्तुओंको बना बिगाड़ रहा है। दूसरेका यह कहना है कि परमेश्वरके समान जीव और अजीवको भी किसीने नहीं बनाया, वे सदासे चले आते हैं और सदा तक रहेंगे। इसी तरह तीसरा भी कहता है कि जीव और अजीव को किसीने नहीं बनाया, किन्तु ये दोनों प्रकारकी वस्तुएं विना बनाये ही सदासे चली आती हैं। इन तीनों विरोधी मतवालोंमें यह विवाद तो उठ ही नहीं सकता कि विना बनाये सदासे भी कोई वस्तु हो सकती है या नहीं; और जब यह बात भी सभी मानते हैं कि वस्तुमें कोई न कोई गुण या स्वभाव भी अवश्य ही होता है; अर्थात् विना किसी प्रकारके गुण या स्वभावके कोई वस्तु हो ही नहीं सकती है, तब ये तीनों ही प्रकारके लोग यह बात भी जरूर मानते हैं कि जो वस्तु अनादि है उसके गुण और स्वभाव भी अनादि ही होते हैं। अर्थात् अकेले एक परमेश्वरको अनादि माननेवाले तो उस परमेश्वर के गुण और स्वभावको अनादि बताते हैं, जीव, अजीव और परमेश्वरको अनादि माननेवाले इन तीनों ही के गुणोंको अनादि कहते हैं, और केवल जीव और अजीवको ही अनादि माननेवाले इन दोनों ही के गुणोंको अनादि बताते हैं। अतः इन दो बातोंमें तो संसारके सभी मतवाले सहमत हैं कि (१) संसारमें कोई वस्तु विना बनाये अनादि भी हुआ करती है और (२)

उसके गुण और स्वभाव भी विना बनाये अनादि होते हैं। अब केवल इतनी ही बात निश्चय करना बाकी रह जाती है कि कौन वस्तु तो विना बनी हुई अनादि है और कौन वस्तु बनी हुई अर्थात् सादि है।

सृष्टि नियम—

खोज करनेपर संसारमें तो ऐसी कोई भी वस्तु नहीं मिलती है जो विना किसी वस्तुके ही बन गयी हो, अर्थात् नास्तिसे ही अस्तिरूप हो गयी हो। और न कोई ऐसी ही वस्तु देखी जाती है जो किसी समय नास्तिरूप हो जाती हो। बल्कि यहां तो वस्तुसे ही वस्तु बनती देखी जाती है; अर्थात् प्रत्येक वस्तु किसी न किसी रूपमें सदा ही बनी रहती है। भावार्थ, न तो कोई नवीन वस्तु पैदा ही होती है और न कोई वस्तु नाश ही होती है, बल्कि जो वस्तुएं पहलेसे चली आती हैं उन्हींका रूप बदल बदल कर नवीन नवीन वस्तुएं दिखायी देती रहती हैं; जैसा कि सोना, रूपा, आदि धातुओंसे ही अनेक प्रकारके आभूषण बनाये जाते हैं। क्या कभी इनके विना भी आभूषण बना सकते हैं? सोना रूपा आदिके विना ये आभूषण कदाचित् भी नहीं बन सकते हैं। गरज यह कि एक सोना या रूपा, आदि धातुएं यद्यपि भिन्न भिन्न प्रकारके रूप धारण करती रहती हैं परन्तु सभी रूपोंमें वे धातुएं अवश्य विद्यमान रहती हैं। इसी प्रकार बीज, मिट्टी, पानी, वायु, आदि परमाणुओंके संघटनसे ही वृक्ष बनता है और फिर उस वृक्षको जला देनेसे वे ही परमाणु कोयला, धुआं, राख, आदिका रूप धारण कर लेते हैं और फिर भविष्यमें भी अनेक रूप धारण करते रहते हैं। इस तरह जगतका एक भी परमाणु कमती बढ़ती नहीं होता। बल्कि जो कुछ भी होता है वह यही होता है कि उनका रूप और अवस्था बदल, बदल कर नवीन, नवीन वस्तुएं बनतीं और बिगड़ती रहती हैं। ऐसी दशामें किसी समय कोई वस्तु विना किसी वस्तुके ही बन गयी, अर्थात् नास्तिसे अस्तिरूप हो गयी नहीं कहा जा सकता। तर्क प्रमाण तथा बुद्धिबलसे काम लेने, और दुनियाके चलते हुए कारखानोंके नियमोंको टटोलनेके बाद तो मनुष्य इसी बातके माननेपर बाध्य होता है कि नास्तिसे अस्ति हो जाना अर्थात् विना वस्तुके वस्तु बन जाना बिलकुल ही असम्भव है। इसलिए यह बात तो स्पष्ट ही सिद्ध है कि संसारकी वस्तुएं नास्तिसे अस्तिरूप नहीं हो गयी हैं किन्तु किसी न किसी रूपमें सदासे ही विद्यमान चली आती हैं और आगेको भी किसी न किसी रूपमें सदा विद्यमान रहेंगी। अर्थात् संसारकी सभी जीव, अजीव रूप वस्तुएं 'अनादि-अनन्त' हैं जिनके अनेक प्रकारके नवीन नवीन रूप होते रहनेके द्वारा ही यह विचित्र संसार चल रहा है।

वस्तुके गुण—

इस प्रकार जीव और अजीवरूप संसारकी सभी वस्तुओंकी नित्यता सिद्ध हो जानेपर अब केवल यह बात निर्णय करनेके योग्य रह जाती है कि संसारके ये सब पदार्थ किस प्रकारसे नवीन रूप धारण करते हैं। इस प्रकारकी शोधमें लगते ही सबसे पहिली बात यह मालूम होती है कि मनुष्य;

मनुष्यसे ही पैदा होता अनादि कालसे चला आता है। पशु पक्षियोंके बाबत भी जो अपने मां-बापसे ही पैदा होते देखे जाते हैं, यह मानना पड़ता है कि वे भी सन्तान अनु सन्तान सदासे ही चले आते हैं और बिना मां-बापके पैदा नहीं किये जा सकते हैं। गेहूं, चना, आदि पौधोंके बाबत भी, जो अपने पौधेके बीज, जड़, शाखा, आदिसे ही पैदा होते हैं, यह मानना पड़ता है कि वे भी सन्तान-क्रमसे सदासे ही चले आते हैं, और किसी समयमें एकाएक पैदा होने शुरु नहीं हो गये हैं। इस तरह इन पशु, पक्षी, वनस्पति और मनुष्योंका अपने मां-बाप या बीज, आदिके द्वारा अनादि कालसे पैदा होते हुए चला आना मानकर इन सबकी उत्पत्ति और निवास स्थानके लिए इस धरतीको भी अनादि कालसे ही स्थित होना मानना पड़ता है। उनके स्वभाव भी अनादि और अनन्त ही पाये जाते हैं। अर्थात् अग्निका जो स्वभाव जलाने, उष्णता पहुंचाने और प्रकाश करनेका अब है वह उसमें सदासे ही है और सदा ही रहे गा। इनके ये गुण और स्वभाव अटल होनेके कारण ही मनुष्य इनके स्वभावोंकी खोज करता है और फिर खोजे हुए उनके स्वभावोंके द्वारा उनसे नाना प्रकारके काम लेता है। यदि वस्तुओंके ये गुण और स्वभाव अटल न होते, बदलते रहा करते—तो मनुष्यको किसी वस्तुके छूने और उसके पास जाने तकका भी साहस न होता; क्यों कि तब तो यही खटका बना रहता कि न जानें आज इस वस्तुका क्या स्वभाव हो गया हो, और इसके छूनेसे न जाने क्या फल पैदा हो। परन्तु संसारमें तो यही दिखायी दे रहा है कि वस्तुका जो स्वभाव आज है वही कल था और वही आगामी कलको रहे गा। इसी कारण वह वस्तुओंके स्वभावके विषयमें अपने और अपनेसे पहलेके लोगोंके अनुभवपर पूरा भरोसा करता है और सभी वस्तुओंके स्वभावको अटल मानता है। इससे साफ साफ यही परिणाम निकलता है कि किसी विशेष समयमें, कोई, किसी वस्तुमें, कोई खास गुण पैदा नहीं कर सकता है, बल्कि जबसे वह वस्तु है तभीसे उसमें उसके गुण भी हैं। और यतः संसारकी वस्तुएं अनादि हैं इस कारण उनके गुण भी अनादि ही हैं—उनको किसीने नहीं बनाया है।

इसी प्रकार यह भी मालूम हो जाता है कि दो या अधिक वस्तुओंको किसी विधिके साथ मिलानेसे जो नवीन वस्तु इस समय बन जाती है वह इस प्रकारके मिलापसे पहले भी बनती थी और वही भविष्यमें भी बनेगी, जैसा कि नीला और पीला रंग मिलनेसे जो हरा रंग इस समय बनता है वही सदासे बनता रहा है और सदा बनता रहे गा। ऐसे ही किसी वस्तुके प्रभावसे जो परिवर्तन किसी दूसरी वस्तुमें हो जाता है वह पहले भी होता था और वही आगे भी हो गा। सारांश यह कि, संसारकी वस्तुओंके आपसमें अथवा अन्य वस्तुओं पर अपना प्रभाव डालने या अन्य वस्तुओंसे प्रभावित होने, आदिके सब प्रकारके गुण और स्वभाव ऐसे नहीं हैं जो बदलते रहते हों या बदल सकते हों, बल्कि जांच और खोजके द्वारा उनके ये सब स्वभाव अटल दिखायी देते हैं—अनादि-अनन्त ही सिद्ध होते हैं। इसप्रकार, यह बात सिद्ध हो जाती है कि वृक्षसे बीज और बीजसे वृक्षकी उत्पत्तिके समान या अण्डेसे मुरगी और मुरगीसे अंडेके

समान संसारके सभी मनुष्य, अनेक पशु, पक्षी और वनस्पतियां सन्तान-अनु-सन्तान, अनादि कालसे ही चले आते हैं, किसी समयमें इनका आदि (प्रारम्भ) नहीं हो सकता। और इन सबके अनादि होनेके कारण इस पृथ्वीका भी अनादि होना जरूरी है जिसपर वे अनादि कालसे उत्पन्न होते और वास करते हुए चले आवें। साथही, वस्तुओंके गुण, स्वभाव और आपसमें एक दूसरे पर प्रभाव डालने तथा एक दूसरेके प्रभाव को ग्रहण करनेकी प्रकृति, आदि भी अनादि कालसे ही चली आती है। अर्थात् दुनियामें जो कुछ भी हो रहा है वह सब वस्तुओंके गुण और स्वभाव के कारण ही हो रहा है। संसारकी इन सब वस्तुओंके सिवाय न तो कोई भिन्न प्रकारकी शक्ति ही इस प्रबन्धमें कोई कार्य कर रही है और न किसी भिन्न शक्तिकी किसी प्रकार की कोई जरूरत ही है। जैसा कि समुद्रके पानी पर सूरजकी धूप पड़ना, उस तापसे प्रभावित हो (तप्त हो) भाप बनना है। फिर ठण्ड पाकर पानीका पानी होना तथा बरसना, बरसे पानीका भूमिके विषम स्वभावके कारण बहना, जो पानीमें घुल सकते हैं उन्हें घोलकर बहाना, तैर सकने योग्य वस्तुओं तथा घन पदार्थों को धक्कोंसे कुछ दूर तक ले जाना, अपने मार्गकी हलकी हलकी रुकावटोंको हटाना, बलवान् रुकावटोंसे अपना मार्ग बदलना, गड्ढेमें भर जाना तथा समुद्रमें फिर पहुंचनेसे स्पष्ट है।

धूप, हवा, पानी मिट्टी, आदिके इन उपर्युक्त स्वभावोंसे दुनिया भरमें लाखों और करोड़ों ही परिवर्तन हो जाते हैं, जिनसे फिर नवीन नवीन लाखों करोड़ों काम होने लग जाते हैं और भी जिन जिन कार्योंपर दृष्टि दौड़ाते हैं उन उनपर इसी प्रकार 'वस्तु-स्वभावके' द्वारा ही कार्य होता हुआ पाते हैं और होना भी चाहिए ऐसा ही; क्यों कि जब संसारकी सारी वस्तुएं तथा उनके स्वभाव सदासे हैं, जब संसारकी सारी वस्तुएं आपसमें एक दूसरे पर अपना अपना प्रभाव डालती हैं और दूसरी वस्तुओंके प्रभावसे प्रभावित होती हैं तब तो यह बात अनिवार्य ही है कि उनमें सदासे ही बराबर खिचड़ी सी पकती रहे और संसारकी वस्तुओंके स्वभावानुसार नाना प्रकारके परिवर्तन होते रहें। यही संसारका सारा कार्य-व्यवहार है जो वस्तु स्वभावके द्वारा अपने आप हो रहा है और न सोचनेवाले पुरुषोंको चकित करके भ्रममें डाल रहा है।

इसप्रकार जिन वस्तुओंसे यह दुनिया बनी हुई है वे सभी जीव, अजीव तथा उनके गुण और स्वभाव अनादि अनन्त हैं। उनके इन अनादि स्वभावोंके द्वारा ही जगतका यह सब कार्य-व्यवहार चल रहा है। इन जीव अजीव पदार्थोंके सिवाय न तो कोई तीसरी वस्तु सिद्ध होती है और न उसके होनेकी कोई जरूरत ही मालूम होती है। यदि विचारके वास्ते कोई तीसरी वस्तु मान भी लें तो उसके विरुद्ध आक्षेपोंकी एसी झड़ी लग जाती है कि उसको हटा कर और विचार क्षेत्रमें खड़ा रहना ही असम्भव हो जाता है। हां, विचारके क्षेत्रसे दूर भाग जाने पर, पक्षपात और अन्धविश्वासकी लाठीको चारों तरफ घुमाकर किसी भी हेतु या प्रमाणको अपने पास न फटकने देनेकी अवस्थामें हम जो चाहें मान सकते हैं; पर ऐसी दशामें हमारे लिए यह बात भी जरूरी हो जाती है कि न अपनी कहें और न किसीकी सुनें —

अर्थात् न तो अपने विश्वासको झूठा बतानेका किसीको अधिकार देवें और न स्वयं किसीके विश्वासको असत्य ठहरावें।

वस्तु स्वभाव ही निर्णायक है—

विचारनेकी बात है कि जब समुद्रके पानीकी ही भाप बनकर उसका ही बादल बनता है तब यदि वस्तु स्वभावके सिवाय कोई अन्य शक्ति ही वृष्टि बरसानेका प्रबन्ध करनेवाली होती तो वह कदाचित् भी उस समुद्रपर पानी न बरसाती जिसके पानीकी भाप बनकर ही यह बादल बना था। परन्तु देखनेमें तो यही आता है कि बादलको जहां भी इतनी ठण्ड मिल जाती है कि भापका पानी बन जावे वहीं वह बरस पड़ता है। यही कारण है कि वह समुद्रपर भी बरसता है और धरतीपर भी। वह बादल तो इस बातकी जरा भी परवाह नहीं करता कि मुझे कहां बरसना चाहिये और कहां नहीं। इसी कारण कभी तो यह वर्षा समयपर हो जाती है और कभी कुसमयपर होती है, बल्कि कभी कभी तो यहां तक भी होता है कि सारी फसल भर अच्छी वृष्टि होती है, और खेती भी उत्तम होती है किन्तु अन्तमें एक आध पानीकी ऐसी कमी हो जाती है कि सारी करी करायी खेती मारी जाती है। यदि वस्तु स्वभावके सिवाय कोई दूसरा प्रबन्ध करनेवाला होता तब तो ऐसी अन्धाधुन्धी कभी भी न होती। इस स्थानपर यदि यह कहा जावे कि उसकी तो इच्छा ही यह थी कि इस वर्ष इस खेतमें अनाज पैदा न हो या कमती पैदा हो। परन्तु यदि यही बात होती तब तो वह सारी फसल भर अच्छी तरह पानी बरसाकर उस खेतीको इतनी बड़ी ही क्यों होने देता? बल्कि वह तो उस खेतके किसानको ही इतना साहस न करने देता जिससे वह उस खेतमें बीज बोवे। यदि किसानपर उस प्रबन्धकर्ताका वश नहीं चल सकता था और बीजके बोये जानेको वह नहीं रोक सकता था तो खेतमें पड़े हुए बीजको ही न उगने देता। यदि बीजपर भी उसका वश नहीं था तो कमसे कम वृष्टिकी एक बूंद भी उस खेतमें न पड़ने देता, जिससे वह बीज ही जल भुनकर नष्ट हो जाता। और यदि संसारके उस प्रबन्धकर्ताकी यही इच्छा होती कि इस वर्ष अनाज पैदा ही न हो या कमती पैदा हो, तो वह केवल उन्हीं खेतोंको खुश्क न करता जो वृष्टिके ऊपर ही निर्भर हैं बल्कि उन खेतोंको भी जरूर खुश्क करता, जिनमें नहरसे पानी आता है। परन्तु देखनेमें यही आता है कि जिस वर्ष वृष्टि नहीं होती या कमती वृष्टि होती है उस वर्ष उन खेतोंमें तो प्रायः कुछ भी पैदा नहीं होता जो देवमातृक ही हैं। हां, नहरसे पानी आनेवाले खेतोंमें उन्हीं दिनों सब कुछ पैदा हो जाता है। इससे यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है कि संसारका कोई एक प्रबन्धकर्ता नहीं है; बल्कि वस्तुस्वभावके कारण ही जब बादल बरसनेका वातावरण हो जाता है तब पानी बरस जाता है और जब वैसी परिस्थितियां नहीं जुटती तब वह नहीं बरसता। वर्षाको इस बातकी कुछ भी परवाह नहीं है कि उसके कारण कोई खेती हरी होगी या सूखेगी और संसारके जीवोंकी हानि होगी या लाभ एवं सुख। इसीसे कभी कभी ऐसी गड़बड़ी भी हो जाती है कि जहां जरूरत नहीं होती वहां तो मूसलाधार पानी बरस जाता है और जहां जरूरत होती

है वहां एक बूंद भी नहीं पड़ने पाती। किसी प्रबन्धकर्ताके न होनेके ही कारण तो मनुष्य, कुएं खोदकर और नहर, आदि निकालकर, यह प्रबन्ध कर सका है कि यदि दैव न बरसे तो भी वह अपने खेतोंको पानी देकर सब कुछ अनाज पैदा कर ले।

इसके सिवाय जब प्रत्येक धर्म और पन्थके कथनानुसार संसारमें इस समय पापोंकी ही अधिकता हो रही है और नित्य ही भारी भारी अन्याय देखनेमें आते हैं, तब यह कैसे माना जा सकता है कि जगतका कोई प्रबन्धकर्ता भी अवश्य है, जिसकी आज्ञाओंको न माननेके कारण ही ये सब पाप और अपराध हो रहे हैं। सम्भव है कि यहां पर कोई भाई ऐसा भी कहने लगे कि राजाकी आज्ञा भी तो भंग होती रहती है। उनको यह विचारना चाहिये कि राजा न तो सर्व का ज्ञाता 'सर्वज्ञ' ही होता है और न सर्व शक्तिमान्। इसलिए न तो उसको सर्व प्रकारके अपराधों तथा अपराध करनेवालोंका पता लग सकता है और न वह सर्व प्रकार के अपराधोंको दूर ही कर सकता है। परन्तु जो सर्वज्ञ हो, सर्व शक्तिमान हो, संसार भर का प्रबन्ध करनेवाला हो और एक छोटेसे परमाणुसे लेकर धरती आकाश तक की गति-स्थिति का कारण हो, उसके सम्बन्धमें यह बात कभी भी नहीं कही जा सकती, कि, वह ऐसा प्रबन्ध नहीं कर सकता, जिससे कोई भी उसकी आज्ञाको भंग न कर सके और सारा कार्य उसकी इच्छानुसार ही होता रहे। एक ओर तो संसारके एक एक कण (अणु) का उसे प्रबन्धकर्ता बताना और दूसरी ओर अपराधों के रोकनेमें उसे असमर्थ ठहराना, यह तो वास्तवमें उस प्रबन्धकर्ताका मखौल ही उड़ाना है; बल्कि यों कहना चाहिए कि इस तरह तो असलमें उसका न होना ही सिद्ध होता है।

ईश्वर कल्पना—

दुःख है मनुष्योंने वस्तु स्वभावको न जानकर विना किसी हेतुके ही संसारका एक प्रबन्ध-कर्त्ता मान लिया है। पृथ्वीपर राजाओंको मनुष्योंके बीचमें प्रबन्ध सम्बन्धी कार्य करता हुआ देखकर सारे संसारके प्रबन्धकर्ताको भी वैसा ही कम शक्तिवाला समझ लिया है और जिसप्रकार राजा लोग खुशामद तथा स्तुतिसे प्रसन्न होकर खुशामद करनेवालोंके वशमें आ जाते हैं और उनकी इच्छाके अनुसार ही उलटे सीधे कार्य करने लग जाते हैं उसी प्रकार दुनियाके लोगोंने संसारके प्रबन्धकर्त्ताको भी खुशामद तथा स्तुतिसे वशमें आ जाने वाला मानकर उसकी भी खुशामद करनी शुरू कर दी है और वे अपने आचरणको सुधारना छोड़ बैठे हैं। यही कारण है कि संसारमें ऐसे ऐसे महान् पाप फैल रहे हैं जो किसी प्रकार भी दूर होनेमें नहीं आते। जब संसारके मनुष्य इस कच्चे ख्यालको हृदयसे दूर करके वस्तु स्वभावके अटल सिद्धान्तको मानने लग जावेंगे तब ही उनके दिलोंमें यह विचार जड़ पकड़ सकता है कि जिस प्रकार आंखोंमें मिर्चि झोंक देनेसे या घावपर नमक छोड़ देनेसे दर्दका हो जाना अनिवार्य है और वह कष्ट किसी प्रकारकी खुशामद या स्तुतिके करनेसे दूर नहीं हो सकता, उस ही प्रकार जैसा हमारा आचरण

होगा उसका फल भी हमको अवश्य ही भुगतना पड़ेगा, वह केवल चाटुकारिता या स्तुतिसे टाला न टलेगा जैसा बीज वैसा वृक्ष और जैसी करनी वैसी भरनीके सिद्धान्तपर पूर्ण विश्वास हो जाने पर ही यह मनुष्य बुरे कृत्योंसे बच जाता है और भले कृत्योंकी तरफ झुक सकता है। परन्तु उसके विरुद्ध, जबतक मनुष्यका यह विचार बना रहेगा कि खुशामद करने, स्तुतियां पढ़ने या भेट चढ़ाने, आदिके द्वारा भी मेरे अपराध क्षमा हो सकते हैं तबतक वह बुरे कृत्य करनेसे बच नहीं सकता और न वह शुभ आचरणोंकी तरफ लग सकता है। अतः लोग कारण-कार्यके अटल सिद्धान्तको मानकर वस्तु स्वभावपर पूरा पूरा विश्वास लावें, अपने भले बुरे कृत्योंका फल भुगतनेके वास्ते पूरी तौरसे तैयार रहें और उनका फल टल जाना बिल्कुल ही असम्भव समझें। ऐसा मान लेनेपर ही मनुष्योंको अपने ऊपर पूरा भरोसा होगा वे अपने पैरोंके बल खड़े होकर अपने आचरणोंको ठीक बनानेके लिए कमर बांध सकेंगे और तब ही दुनियांसे ये सब पाप और अन्याय दूर हो सकेंगे। नहीं तो किसी प्रबन्धकर्ताके माननेकी अवस्थामें, अनेक प्रकारके भ्रम हृदयमें उत्पन्न होते रहेंगे और दुनियाके लोग पाप करनेकी तरफ ही झुकेंगे। एक तो यह सोचने लग जायगा कि यदि उस प्रबन्धकर्ताको मुझसे पाप कराना मंजूर न होता तो वह मेरे मनमें पाप करनेका विचार ही क्यों आने देता, दूसरा विचारेगा कि यदि वह मुझसे इस प्रकारके पाप नहीं कराना चाहता तो वह मुझे ऐसा बनाता क्यों, जिससे मेरे मनमें इस प्रकारके पाप करनेकी इच्छा पैदा होवे, तीसरा कहेगा कि यदि वह पापोंको न कराना चाहता तो पापोंको पैदा ही क्यों करता, चौथा सोचेगा कुछ ही हो अब तो यह पाप कर लें फिर संसारके प्रबन्धकर्ताकी खुशामद करके और नजर भेंट चढ़ाकर क्षमा करा लेंगे, गरज यह कि संसारका प्रबन्धकर्ता माननेकी अवस्थामें तो लोगोंको पाप करनेके लिए सैकड़ों बहाने बनानेका अवसर मिलता है परन्तु वस्तु स्वभावके द्वारा ही संसारका संपूर्ण कार्य व्यवहार चलता हुआ माननेकी अवस्थामें सिवाय इसके और कोई विचार ही नहीं उठ सकता कि जैसा करेंगे उसका फल भी हम स्वयं वैसा ही अवश्य भुगतेंगे। ऐसा माननेपर ही हम बुरे आचरणोंसे बच सकते है और अच्छे आचरणोंकी तरफ लग सकते हैं।

यदि कोई प्रबन्धकर्ता होता तो क्या ऐसा ही अन्धेर रहता जैसा कि अब हो रहा है। अर्थात् किसीको भी इस बातकी खबर नहीं कि हमको इस समय जो कुछ भी सुख दुख मिल रहा है वह हमारे कौनसे कृत्योंका फल है। प्रबन्धकर्ता होनेकी हालतमें हमें वह बात प्रकट रूपसे अवश्य ही बतलायी जाती, जिससे हम भविष्यमें बुरे कृत्योंसे बचते और भले कृत्योंकी तरफ बढ़ते, परन्तु अब यह मालूम होना तो दूर रहा कि हमको कौन कौन दुःख किस किस कृत्यके कारण मिल रहा है, यह भी मालूम नहीं है कि पाप क्या होता है और पुण्य क्या। इसीसे दुनियामें यहां तक अंधेर छाया हुआ है कि एक ही कृत्यको कोई पाप मानता है और कोई पुण्य अथवा धर्म। और यही वजह है कि संसारमें सैकड़ों प्रकारके मत फैले हुए हैं। बड़े तमाशेकी बात तो यह है कि सब ही अपने अपने मतको उसी सर्वशक्तिमान प्रबन्धकर्ताका

प्रचार किया हुआ बतलाते हैं। किन्तु ऐसा अंधेर तो मामूली राजाओंके राज्यमें भी नहीं होता ! प्रत्येक राजाके राज्यमें जिस प्रकारका कानून चालू होता है उसके विरुद्ध यदि कोई मनुष्य नियम चलाना चाहे तो वह राजविद्रोही समझा जाता है और दण्ड पाता है, परन्तु सर्वशक्तिमान् परमेश्वरके राज्यमें दिनदहाड़े सैकड़ों ही मतोंके प्रचारक अपने अपने धर्मोंका उपदेश करते हैं, अपने अपने सिद्धान्तोंको उसी एक परमेश्रकी आज्ञा बताकर उसके ही अनुसार चलनेकी घोषणा करते हैं, और यह सब कुछ होते हुए भी उस परमेश्वर या संसारके प्रबन्धकर्ताकी तरफसे कुछ भी रोक-टोक, इस विषयमें नहीं होती। ऐसे भारी अंधेरकी अवस्थामें तो कदाचित् भी यह नहीं माना जा सकता कि कोई महाशक्तिसंपन्न प्रबन्धकर्ता इस संसारका प्रबन्ध कर रहा है; बल्कि ऐसी दशामें तो यही माननेके लिए विवश होना पड़ता है कि वस्तुस्वभावपर ही संसारका सारा ढांचा बंध रहा है और उसीके अनुसार जगतका यह सब प्रबन्ध चल रहा है। यही वजह है कि यदि कोई मनुष्य वस्तुस्वभावको उलटा पुलटा समझकर गलती करता है या दूसरोंको बहकाकर गलतीमें डालता है तो संसारकी ये सब वस्तुएं उसको मना करने अथवा रोकने नहीं जाती और न अपने अपने स्वभावके अनुसार अपना फल देनेसे ही कभी चूकती हैं। जैसे आगमें चाहे तो कोई नादान बच्चा अपने आप हाथ डाल देवे और चाहे किसी बुद्धिमान-पुरुषका हाथ भूलसे पड़ जावे, परन्तु वह आग उस बच्चेकी नादानीका और बुद्धिमानके अनजानपनेका कुछ भी ख्याल नहीं करेगी, बल्कि अपने स्वभावके अनुसार उन दोनोंके हाथोंको जलानेका कार्य अवश्य कर डालेगी। मनुष्यके शरीरमें सैकड़ों बीमारियां ऐसी होती हैं जो उसके विना जाने बूझे दोषोंका ही फल होती हैं, परन्तु प्रकृति या वस्तुस्वभाव उसे यह नहीं बताता कि तेरे अमुक दोषके कारण तुझको यह बीमारी हुई है। इसी तरह हमारे आत्मीय दोषोंका फल भी हमको वस्तुस्वभावके अनुसार ही मिलता है और वस्तुस्वभाव हमको यह नहीं बतलाता है कि हमको हमारे किस रहस्यका कौन फल मिला, परन्तु फल प्रत्येक कृत्यका मिलता अवश्य है।

उपसंहार——

इस प्रकार वस्तुस्वभावके सिद्धान्तानुसार तो यह बात ठीक बैठ जाती है कि सुख दुःख भुगतते समय क्यों हमको हमारे उन कृत्योंकी खबर नहीं होती, जिनके फलरूप हमको वह सुख दुःख भुगतना पड़ता है। परन्तु किसी प्रबन्धकर्ताको माननेकी हालतमें यह बात कभी ठीक नहीं बैठती, बल्कि उलटा बड़ा भारी अन्धेर ही दृष्टिगोचर होने लगता है। यदि हम यह मानते हैं कि जो बच्चा किसी चोर, डाकू 'वेश्या' आदि पापियोंके घर पैदा किया गया है वह अपने भले बुरे कृत्योंके फलस्वरूप ही ऐसे स्थानमें पैदा किया गया है तो प्रबन्धकर्ता परमेश्वर माननेकी अवस्थामें यह बात भी ठीक नहीं बैठती, क्योंकि शराबी यदि शराब पीकर और पागल बनकर फिर भी शराबकी दुकानपर जाता है और पहलेसे भी ज्यादा तेज शराब मांगता है। वस्तुस्वभावके अनुसार तो यह बात ठीक बैठ जाती है कि

शराबने उसके दिमागको ऐसा खराब कर दिया है, जिससे अब उसको पहलेसे भी ज्यादा तेज शराब पीनेकी इच्छा उत्पन्न हो गयी है। जगतके प्रबन्धकर्ताके द्वारा ही फल मिलनेकी अवस्थामें तो शराब पीनेका यही दण्ड मिलना चाहिये था कि वह किसी ऐसी जगह पटक दिया जाय जहांसे वह शराबकी दुकान तक ही न पहुंच सके और ऐसा दुःख पावे कि फिर कभी शराबका नाम तक भी नहीं लेवे इसी तरह व्यभिचार तथा चोरी आदिकी भी ऐसी ही सजा मिलनी चाहिये थी, जिससे वह कदापि व्यभिचार तथा चोरी न करने पाता। जो जीव चोरों तथा वेश्याओंके यहां पैदा किये जाते हैं उनको ऐसी जगह पैदा करना तो चोरी और व्यभिचारकी शिक्षा दिलानेकी ही कोशिश करना है। संसारके प्रबन्धकर्ताके बाबत तो ऐसा कभी भी ख्याल नहीं किया जा सकता कि उसीने ऐसा प्रबन्ध किया हो अर्थात्, वही पापियों और अपराधियोंको चोरों तथा व्यभिचारियोंके घर पैदा करके चोरी और व्यभिचारकी शिक्षा दिलाना चाहता हो। ऐसी बातें देखकर तो लाचार यही मानना पड़ता है कि संसारका कोई भी बुद्धिमान प्रबन्धकर्ता नहीं है—बल्कि वस्तुस्वभावके द्वारा और उसीके अनुसार ही जगतका यह सब प्रबन्ध चल रहा है, अतः किसी प्रबन्धकर्ताकी खुशामद करके या भेंट चढ़ाकर उसको राजी कर लेनेके भरोसे न रहकर हमको स्वयं अपने आचरणोंको सुधारनेकी ही ओर दृष्टि रखनी चाहिये और श्रद्धान बांधे रखना चाहिये कि जगत अनादि निधन है और उसका कोई एक बुद्धिमान प्रबन्धकर्ता नहीं है।

मानवजीवनमें जैनाचारकी उपयोगिता

श्री पं० जगन्मोहनलाल जैन सिद्धन्तशास्त्री

प्रकृत विषयको जाननेके पूर्व यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम मानव समाजकी पूर्वापर स्थितिको जान लें; तथा आचारकी आवश्यकता मनुष्यको कब उत्पन्न हुई ? और जैन मान्यताके अनुसार उसका मूलाधार क्या है ? इसकी भी विवेचना करें।

जैन मान्यता यह है कि यह जगत् अनादि कालसे है और अनन्तकाल तक रहे गा। परिवर्तन-शील होते हुए भी न इसका कोई एक नियन्ता है और न विनाशकर्त्ता है। सर्ग-स्थिति-प्रलय यह वस्तुमात्र का स्वभाव है। एक परमाणु भी इस नियमका अपवाद रूप नहीं है। प्रति समय जगत् तथा उसके प्रत्येक अंशका परिवर्तन अनिवार्य है। कोई शक्ति या कोई व्यक्ति इस स्वाभाविक प्रवृत्तिको रोक नहीं सकता।

जगतकी स्थितिके साथ मानव समाजकी स्थिति है। अन्य जीवधारियोंकी अपेक्षा मनुष्य बुद्धि-वैभवशाली होनेसे श्रेष्ठ प्राणी माना गया है। माना भी जाना चाहिये, क्यों कि ज्ञान (चैतन्य) ही तो जीवका मूल स्वभाव है, वही उसका धन है। जो प्राणी अधिक से अधिक ज्ञान रखता है उसे श्रेष्ठ कहलानेका अधिकार है। मानव समाजको हम आज जिस रूपमें देख रहे हैं वह सदासे ऐसा था यह बात नहीं है। कभी उन्नतिका और कभी अवनतिका समय आता रहता है इसे जैन शास्त्रोंमें क्रमशः 'उत्सर्पिणी' काल और 'अवसर्पिणी' काल कहा है। काल क्रमसे जब उन्नति चरम सीमापर पहुंच जाती है तब अवनतिका काल प्रारम्भ हो जाता है, और जब अवनति चरम सीमापर पहुंच जाती है तब उन्नतिका काल आरम्भ हो जाता है। हिंडोलेको पालकीकी तरह उत्सर्पिणीसे अवसर्पिणी और अवसर्पिणी से उत्सर्पिणी कालका परिवर्तन सदासे, होता आया है और सदा होता जायगा।

प्रत्येक काल दो भागोंमें विभाजित है चाहे वह उन्नति काल हो या अवनति काल, एक भाग "भोग भूमि" कहलाता है, और दूसरा भाग "कर्मभूमि"। वर्तमान काल जिसे आजका संसार उन्नतिका काल कहता है जैन मान्यताके अनुसार "अवसर्पिणी काल" है। अवसर्पिणी कालका प्रारम्भ का हिस्सा 'भोगभूमि' था और वर्तमानका कालांश 'कर्मभूमि' का है। इस कालके प्रारम्भमें मानव समाजकी क्या स्थिति थी ! और उसका विकास कैसे हुआ इन प्रश्नोंपर प्रकाश डालना आवश्यक है।

प्राचीन-युग—

इस युगका प्रारंभ भोगभूमिसे है। उस समय न केवल मानव जीवनकी किन्तु सभी प्राणियोंकी स्थिति भोग प्रधान थी। पूर्वोपार्जित कर्मफल स्वरूप प्रकृत्ति द्वारा दत्त पदार्थोंका भोग ही उनके लिए पर्याप्त था, उन्हें कार्य करनेकी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती थी। इस दृष्टिसे संसार उस समय बहुत सुखी था।

उस समय मनुष्य समाज आजके रूप में नहीं था। न कोई राजा था, न कोई प्रजा। न कोई धनवान् था, न निर्धन, न कोई विद्वान् था, न कोई मूर्ख। न कोई बलवान था, न निर्बल। न कोई सुन्दर था, न असुन्दर। विषमता न थी। सभी सन्तोषी, समझदार, सुन्दर, स्वस्थ और स्वतंत्र थे। कोई किसीकी स्वतन्त्रता में बाधा देनेकी बात सोचता भी न था।

वहां न कल थे, न कारखाने, न फैक्टरियां। एक देशसे दूसरे प्रदेशके लिए मालका आना जाना, आदि भी नहीं होता था। न उनकी कोई सभा थी, न कोई संघ। किसी भी प्रकारके आंदोलन किये जानेका वहां प्रसङ्ग ही नहीं था।

वहां न साम्यवाद था, न कोई अन्यवाद, सब समान विचार, समान आचार तथा समान व्यवहारके व्यक्ति थे। साम्य था, पर 'साम्य-वाद' न था, 'वाद' की आवश्यकता उन्हें कभी नहीं हुई। वे धार्मिक या साम्प्रदायिक विचारके व्यक्ति न थे, और न अधार्मिक थे। उनका जो कुछ वर्तन (जीवन प्रवाह) था न वह त्याग और व्रत रूप था, और न पाप प्रवृत्ति रूप था। वे न मोक्षसाधन करते थे, और न नरक जाने योग्य कर्मसञ्चय करते थे।

प्रकृतिके स्थान वनप्रदेश, नदी-नद, पुलिन-तट, आदि ही उनके विहारस्थल थे। प्रकृतिका पर्यवेक्षण करना, उसकी ही चर्चा करना, उनका एक मात्र दैनिक कृत्य था। कहीं भी नरम घास देखकर प्रकृतिकी गोदमें सो जाते थे। वस्त्राकार वृक्ष-पत्रों व छालोंसे शरीरको ढक लेते थे। विशेष आवश्यकतासे कभी वृक्षके सुन्दर अवयवोंसे घरसा बना लेते और उतनेमें ही परम सन्तोष धारण कर आनन्दित रहते थे।

इस प्रकारकी सुन्दर व्यवस्था किसो एक देशमें ही न थी बल्कि समस्त मानव समुदायकी थी। उस समय सब एकदेश था, विदेश कहीं न था। प्राकृतिक लक्षणोंसेही देश विभाजन था पर मनुष्यके अनधिकृत अधिकार स्थापनके द्वारा कहीं भो देश विभाजन न था।

सन्तान क्रम--

परिवर्तन या परिवर्द्धनकी पद्धति भी वहां विचित्र थी। माता-पिता अपने जीवनमें एकबार हो सन्तानको जन्म देते थे। उनके जीवनके अन्तिम समय में ही सन्तान होती थी, और वह सन्तान अकेली नहीं "नरनारी" के युगल रूपमें होती थो। वे आजकलकी पद्धतिके समान भाई-बहिन नहीं माने जाते थे। उस समय भाई-बहिन-माता-पिता-मामा भानजा-साला-बहिनोई-फूफा-फुआ, आदि कोई रिश्ता नहीं होता था

रिश्ता था तो केवल एक, नर-और नारीका, और वह भी जन्मजात। संतान उत्पन्न होते ही माता पिता स्वर्गस्थ हो जाते और वह बालक-बालिका या युगल विना माताके स्तन-पानके केवल अपने हाथ या पैरका अंगूठा चूसते चूसते ही बाल्यकाल समाप्त कर युवावस्था सम्पन्न हो जाते थे। न उसे पालक ही जरूरत होती न और कोई उसे पालने की चिन्ता करता था। युवा होनेपर दोनों पति पत्नीके रूपमें रहने लगते थे। तब वैवाहिक पद्धति नहीं थी। इस तरह उस युगमें न सामाजिक जीवन था और न सामाजिक समस्याएं ही थीं। सब सुख पूर्वक जीवन यापन करते थे। इसीसे इस युगको भोग भूमि कहते थे।

भोग-भूमिसे कर्म-भूमि—

कालकी गति विचित्र है। उसका चक्र सदा घूमता रहता है। वह किसीको भी स्थिर नहीं रहने देता। उक्त भोग भूमिका क्रम भी धीरे धीरे बदलने लगा। मनुष्यकी इच्छाएं बढ़ने लगीं। उसमें सञ्चयशीलताके भाव आने लगे। प्रकृति भी अपनी असंख्य अनुपम विभूतिमें न्यूनता करने लगी। मनुष्यकी उदारताके साथ ही साथ प्रकृतिकी उदारता भी घटने लगी। अब वृक्षोंसे उतने पदार्थ नहीं मिल पाते थे जो मनुष्यकी सञ्चयशीलताकी वृत्तिका निर्वाह करते हुए भी जन साधारणकी आवश्यकता की भी पूर्ति कर सकें। फलतः परस्परमें झगड़े होने लगे। तब क्रमशः चौदह 'कुलकर' या 'मनु' पैदा हुए। समय समयपर उत्पन्न हुई समस्याओंका निराकरण करके ये महापुरुष जनताका मार्गप्रदर्शन करते थे अतः कुलकर कहे जाते हैं।

जब वृक्षोंको लेकर झगड़ा होने लगा तो पांचवे कुलकरने वृक्षोंकी सीमा निर्धारित कर दी। जब सीमापर भी झगड़ा होने लगा तो छठे कुलकरने सीमाके स्थानपर चिन्ह बनाना प्रारम्भ किया। तब तक पशुओंसे काम लेना कोई नहीं जानता था और न उसकी आवश्यकता ही प्रतीत होती थी। किन्तु अब आवश्यक होनेपर सातवें कुलकरने घोड़े वगैरहपर चढ़ना सिखाया। पहले माता-पिता सन्तानको जन्म देकर मर जाते थे किन्तु जब ऐसा होना बन्द हो गया तो आगेके कुलकरोंने जनताको बच्चोंके लालन पालन आदिकी शिक्षा दी।

पहले इधर उधर जानेका काम न होनेसे कोई नदी पार करना नहीं जानता था। अतः बारहवें कुलकरने पुल, नाव, आदिके द्वारा नदी पार करना सिखाया। पहले कोई अपराध ही नहीं करता था, अतः दण्डनायक और दण्डव्यवस्थाकी भी आवश्यकता नहीं थी। किन्तु जब मनुष्योंमें सञ्चय वृत्ति और लालचने अपना स्थान जमा लिया और उनकी आवश्यकता पूर्तिमें बाधा पड़ने लगी तो मनुष्योंमें अपराध करनेकी प्रवृत्ति भी शुरू हो गयी। अतः दण्डनायक और दण्डव्यवस्थाकी आवश्यकता हुई। पहले केवल 'हा' कह देनेसे ही अपराधी लज्जित हो जाता था। जब उससे काम नहीं चला तो 'हा'! अब ऐसा काम मत करना' इतना दण्ड रखा गया। किन्तु जब उससे भी काम नहीं चला तो उसमें 'धिक्कार' शब्द और जोड़ा गया।

श्री ऋषभदेव—

चौदहवें कुलकरका नाम नाभिराय था। इनके समयमें उत्पन्न होने वाले बच्चोंका नाभिनाल अत्यन्त लम्बा होने लगा तो उन्होंने इसको काटना बतलाया। इसी लिए इनका नाम नाभि पड़ा। नाभिरायके घरमें श्री ऋषभदेवका जन्म हुआ। यही ऋषभ देव इस युगमें जैनधर्मके आद्य प्रवर्तक हुए। इनके समयमें ही ग्राम, नगर, आदिकी सुव्यवस्था हुई। इन्होंने ही लौकिक शास्त्र और लोकव्यवहारकी शिक्षा दी, और इन्होंने ही उस धर्मकी शिक्षा लोगोंको दी जिसका मूल अहिंसा है।

भगवान ऋषभदेवके समयमें प्रजाके सामने जीवनकी समस्या विकट हो गयी थी। क्योंकि जिन वृक्षोंसे लोग अपना निर्वाह करते थे वे लुप्त हो चुके थे। और जो नयी वनस्पतियां पृथ्वीपर उगी थीं उनका उपयोग करना नहीं जानते थे। तब उन्होंने उन्हें स्वयं उगे हुए इक्षु-दण्डोंसे रस निकालकर खाना सिखाया। तथा प्रजाको कृषि, असि, मषी, शिल्प, वाणिज्य और विद्या इन षट्कर्मोंसे आजीविका करने की शिक्षा दी। तथा सामाजिक व्यवस्थाको चलानेके लिए उन्होंने तीन वर्ण स्थापित किये। प्रजा पालन व स्वदेश रक्षा करनेवाला एक वर्ग, कृषि, आदि उद्योग धन्धे करनेवाला दूसरा वर्ग, तथा सेवा कार्य करने-वाला तीसरा वर्ग। और उनके नाम क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र रक्खा।

जैनाचार—

प्रजा सुख और शान्तिसे रहे इसके लिए उन्होंने अहिंसा धर्मका उपदेश दिया। उन्होंने बताया कि दूसरोंको सुखी देखकर सुखी होना और दुःखी देखकर दुखी होना ही पारस्परिक प्रेमका एकमात्र साधन है। प्रत्येक मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह किसी भी मनुष्य, पशु या पक्षी यहां तक कि छोटेसे छोटे जन्तु, कीट, पतंग, आदिको भी न सतावे। प्रत्येक जीव सुख चाहता है। और उसका उपाय यही है कि वह स्वयं अपने प्रयत्नसे दूसरोंको दुखी न करे। यदि प्रत्येक जन जो स्वयं सुखी होना चाहता है दूसरोंको दुखी न करे, यदि प्रत्येक जन जो स्वयं सुखी होना चाहता है दूसरोंको भी सुखी बनानेका प्रयत्न करे तो सहज ही सम्पूर्ण जनता सुखी हो जाय। अतः पारस्परिक अहिंसक व्यवहार ही सुखका एकमात्र साधन है। उसको स्थायी बनाये रखनेके लिए उसके चार उपसाधन हैं। पहला यह कि किसीको धोखा न दिया जाय, जिससे जो कहा हो उसे पूरा किया जाय। ऐसे वचन न बोले जांय जिससे दूसरोंको मार्मिक पीड़ा पहुंचे। दूसरा यह कि प्रत्येक मनुष्य अपने परिश्रमसे उपार्जित वस्तु पर ही अपना अधिकार माने। दूसरोंके परिश्रम पर निर्वाह करनेवाला प्रजाके लिए घातक होता है। यद्यपि व्यवसायी व्यक्ति भी समाजके लिए उपयोगी हैं किन्तु उत्पादक और परिश्रम शील प्रजाका भाग हड़प लेनेवाले व्यवसायी नहीं हैं, घातक जन्तु हैं। ऐसे व्यवसायियोंका गरोह प्रजाकी सुख शान्तिके लिए वांछनीय नहीं है। अतः न्याय विरुद्ध द्रव्यका ग्रहण करना अशान्ति, दुःख और कलहका बीज है। तीसरा यह कि स्त्री-पुरुषको भोगोंमें आसक्त नहीं होना चाहिये।

भोगोंमें आसक्त व्यक्ति जनसमुदायके लिए एक भयंकर जन्तु है। वह न केवल अपने स्वास्थ्यकी ही हानि करता है, बल्कि भावी सन्तानको भी निर्बल बनाता है। तथा इस तरह समाजमें दुराचार और दुर्बलताको फैलानेका पाप करता है। अतः प्रत्येक स्त्रीको अपने पतिके साथ और प्रत्येक पुरुषको अपनी ही पत्नीके साथ संयमित जीवन बिताना चाहिये।

चौथा यह कि संचय वृत्तिको नियमित करना चाहिये; क्योंकि आवश्यकतासे अधिक संग्रह करनेसे मनुष्यकी तृष्णा ही बढ़ती है तथा समाजमें असंतोष फैलता है। यदि वस्तुओंका अनुचित रीतिसे संग्रह न किया जाय तो प्राणियोंको जीवन निर्वाहके साधनोंकी कमी नहीं पड़ सकती। अतः जो अति संग्रह करता है वह जनता को जानबूझकर कष्ट देता है। इस तरह अहिंसाको व्यावहारिक रूप देनेके लिए सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह-परिमाणका पालन करना आवश्यक है। उसके बिना अहिंसाका ढोंग रचना व्यर्थ है तथा अहिंसाको जीवनमें उतारे बिना सुख शान्तिकी चाह करना व्यर्थ है। भगवान ऋषभदेवने प्रत्येक प्राणीका यही आचार धर्म बतलाया था जो आज जैनाचार कहा जाता है।

जैनाचार का मूलाधार--

जैनाचार का मूलाधार अहिंसा है। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह अहिंसा के ही—विभिन्न रूप हैं। यथार्थ बात न कहनेसे, दूसरे व्यक्तिको मिथ्या-परिज्ञान होने से हानि की संभावना है तथा अपने चित्तमें भी कलुषता उत्पन्न हो जाती है। अतः असद्वचन हिंसाका उत्पादक होनेसे हिंसा ही है। इसी तरह पर धनका अपहरण अपने व परके चित्तमें कलुषता उत्पन्न करनेके कारण हिंसा है। यदि वह मालिककी राजीसे ले लिया जाता है तो उसमें हिंसा नहीं है। परस्त्री-गमन भी तीव्र रागका कारण होनेसे हिंसा है। क्यों कि रागादि परिणाम हिंसा स्वरूप हैं। इसी तरह परिग्रहका अति संचय दूसरे मनुष्योंको गरीब बनाता है। उनकी रोटी छीनकर उन्हें दुखी करता है इसलिए वह भी हिंसा ही है। सारांश यह है—जिन कामोंसे दूसरोंको संक्लेश होता है और अपने गुणोंकी हानि होती है वे सम्पूर्ण कार्य हिंसा हैं।

हिंसाका रूप और उसका त्याग--

हिंसा दो प्रकारकी है—एक रक्षणात्मक और दूसरी आक्रमणात्मक। जो हिंसा आत्मरक्षाके लिए अनिवार्य हो वह रक्षणात्मक है। उदाहरणके लिए कोई गृहस्थ व्यापार, उद्योग और कृषि, आदि आजीविकाके साधनोंके बिना नहीं रह सकता है। भले ही वह हिंसक व्यापारोंको छोड़ दे तो भी व्यापारमें परोक्ष हिंसा अवश्य होती है। गृहस्थ इस आरम्भ-जनित हिंसाका त्याग नहीं कर सकता फिर भी वह आक्रमणात्मक हिंसाके द्वारा किसीका धन अनीति पूर्वक नहीं छीनता। किसीको सताता नहीं और न किसीके गुणोंका घात करता है।

दूसरी युद्ध जनित हिंसा है, जो अपनी, अपने कुटुम्बकी, अपने धर्म तथा देशकी रक्षाके लिए करनी पड़ती है। कोई भी जैनाचारका पालक प्रत्यक्ष या परोक्षरूपसे हिंसा करना नहीं चाहता। वह किसीको मारनेके इरादेसे नहीं मारता, फिर भी वह अन्यायका प्रतीकार तो करता है। उक्त स्थितिमें यदि युद्ध अनिवार्य हो जाता है तो वह उससे विमुख नहीं होता। क्योंकि गृहस्थ होनेके नाते उसपर अनेक उत्तरदायित्व हैं।

धर्मके नाम पर हिंसा—

भारतवर्षमें धर्मके नाम पर देवी देवताओंके सामने बलिदानके रूपमें हिंसा होती है। अनेक मनगढ़न्त वाक्य रचकर इस हिंसाकी पुष्टि की जाती है और उसे धर्म कहा जाता है। जैनाचारमें यह हिंसा सब हिंसाओंसे अधिक निंद्य है। क्योंकि इस हिंसाके द्वारा केवल प्राणीका घात ही नहीं होता। बल्कि धर्मके नामपर जनताको पथभ्रष्ट किया जाता है। अतः यह हिंसा सर्व प्रथम त्याज्य है।

जैनाचारके दो रूप—

जैनाचारके दो रूप हैं—एक गृहस्थाचार और दूसरा साधुका आचार। हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह ये सब पापोंके मूल हैं। जो इनसे पूरे तरहसे बचे हुए हैं, वे मुनि या साधु कहलाते हैं। विपत्तियोंका पहाड़ टूट पड़नेपर भी वे हिंसा या कोई अन्य पाप नहीं करते। वे परिपूर्ण ब्रह्मचारी तथा तिलमात्र भी परिग्रह अपने पास नहीं रखते। वे सदा इस बातका ध्यान रखते हैं कि हमारे किसी कार्यसे छोटे से छोटे कीट, पतङ्गको भी कष्ट न पहुंचे। ये जीव मात्रपर सम भाव रखते हैं। उनकी दृष्टिमें सभी जीवधारी समान हैं। वे सबका कल्याण चाहते हैं। उनका सारा समय ज्ञान, ध्यान और तपमें ही बीतता है। वे कभी भी अपने अपराधोंकी उपेक्षा नहीं करते। यदि उनसे कोई अपराध बन पड़ता है, तो उसका वे प्रायश्चित्त लेते हैं। जन कल्याणकी भावनासे वे सदा देश-देशान्तरोंमें विचरते रहते हैं और गृहस्थोंको सुमार्ग बताते हैं। इस प्रकार लौकिक और पारलौकिक हित-साधनमें जैन मुनिओंका बड़ा हाथ है।

गृहस्थाचार—

पहले बताया जा चुका है कि जैन गृहस्थ आक्रमणात्मक हिंसा नहीं करता किन्तु वह रक्षात्मक हिंसाका त्याग नहीं करता। अतः वह अहिंसा-अणुव्रतका पालक है। शेष व्रतोंका भी वह एक देशसे ही पालन करता है। क्योंकि सम्पूर्ण रूपसे पालन करना गृहस्थावस्थामें संभव नहीं है। वह हित और मित वचन बोलता है। अनैतिक ढंगपर पराये धनको गृहण नहीं करता। अपनी विवाहिता पत्नी तक ही अपनी भोग-लालसा सीमित रखता है तथा उतने ही धनका संचय रखता है जितना उसे अपने कौटुम्बिक-निर्वाहके लिए आवश्यक होता है। ये पांच गृहस्थके अणु-व्रत हैं। ईन पांच अणुव्रतोंको पूर्ण करनेकी दृष्टिसे गृहस्थके सात व्रत और भी हैं।

तीन गुणव्रत—

गृहस्थ अपने व्यावसायिक क्षेत्रकी मर्यादा निश्चित कर लेता है। इसे 'दिग्व्रत' कहते हैं। यह मर्यादा जीवन भरके लिए होती है। उसके भीतर भी कुछ समयके लिए जो उस मर्यादाको सीमित किया जाता है यह दूसरा 'देशव्रत' कहलाता है तथा इस नियमित क्षेत्रके भीतर भी वह व्यर्थके काम नहीं करता यह तीसरा 'अनर्थ-दण्डव्रत' कहलाता है। इन तीन व्रतोंके पालनेसे गृहस्थकी लोभ वृत्ति घटती है। उसका जीवन नियमित और संयमित बनता है। इसीसे इन व्रतोंको गुणव्रत कहते हैं। क्योंकि उनके पालनेसे गृहस्थमें गुणोंकी वृद्धि होती है।

शिक्षाव्रत—

प्रत्येक गृहस्थका अन्तिम लक्ष्य स्व-पर-कल्याण है। इसी उद्देश्यसे वह प्रतिदिन तीनों संध्याओंको कुछ समयके लिए एकान्तमें जाकर अपने स्वरूपका विचार करता है। आत्मा क्या है, मैं कौन हूं, मेरा क्या धर्म है, इत्यादि बातोंको वह विचारता है। इसे 'सामायिक' कहते हैं।

सप्ताहमें केवल एक बार नियमित दिनपर वह उपवास करता है और भोजनका त्याग करके सम्पूर्ण व्यवसायोंसे छुट्टी लेकर एकान्त स्थानमें धर्माराधना करता है। इससे उसे बड़ा लाभ होता है, इसे 'प्रोषधोपवास' कहते हैं।

तीसरा शिक्षाव्रत 'भोगोपभोग-परिमाण' है, इसके अनुसार गृहस्थ अपने समस्त भोगोंको प्रतिदिन काम करता जाता है। किसी भी वस्तुका आवश्यकतासे अधिक संग्रह नहीं करता।

चौथा शिक्षाव्रत दान है। इस शिक्षाव्रतके दो अंग हैं—दूसरोंके हितके लिए धनका त्याग तथा सेवा। दोनोंमें ही स्वार्थ त्यागकर उदारतासे वर्तनेकी शिक्षा मिलती है। इसका दूसरा नाम 'वैयावृत्य' भी है।

इस तरह जैन गृहस्थको अल्पसंग्रही, मितव्ययी और निर्लोभी बनानेका विशेष ध्यान रक्खा गया है। क्योंकि उसके लिए परिग्रह त्याग, अनर्थ दण्ड त्याग, भोगोपभोग परिमाण तथा दान इस तरह चार व्रत रक्खे गये हैं। इतने नियमोंके रहते हुए भी धनिककी तृष्णा इतनी बलवती है कि गृहस्थ परिग्रहका संचय कर ही लेता है। इसीसे संचित धनको घटानेके लिये दान नामका शिक्षाव्रत कहा गया है। जो संचित धनको दूसरोंके हितके लिये त्याग देता है उसकी भावना कम ऊंची नहीं होती। ऐसी उदार वृत्ति वाले व्यक्ति ही दीन-दुखी प्राणियोंकी सेवाके लिए एक दिन अपना सब कुछ त्याग देते हैं। इस तरह मानव जीवनमें सदाचारका बहुत महत्त्व है और जैनाचार मनुष्यकी पाशविक वृत्तियोंका नियमन करके मनुष्यको उदार और लोकसेवक बनाता है।

चार भावनाएं—

उक्त नियमोंके सिवाय जैनाचारमें कुछ ऐसी भावनाओंका समावेश किया गया है, जिनका परिपालन मनुष्यको बहुत उन्नत बनाता है। उन भावनाओंमें चार मुख्य हैं। पहली 'सर्व-सत्त्व-समभाव'। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य प्राणिमात्रको अपने बराबर समझे। जिन कामोंके करनेसे उसे स्वयं दुःख होता हो उनका प्रयोग दूसरे प्राणियों पर न करे। अपने ही समान दूसरोंको भी ऊंचा उठानेका प्रयत्न करे। उसका यह विश्वास होना चाहिये कि प्रत्येक जीव अनन्त गुणोंका भंडार है। वह परमात्मा बन सकता है, फिर हीनता कैसी ? इस भावनाके अनुसार गृहस्थको प्रत्येक प्राणिसे मित्रकी तरह व्यवहार करना आवश्यक है।

दूसरी है 'प्रमोद भावना', इसका तह तात्पर्य है कि गृहस्थ गुणीका आदर करता है। उसे देखकर उसका हृदय विकसित हो उठता है। जो गुणी जनोंका आदर करता है वह गुणोंके विस्तार करनेमें सहायक होता है। इसलिए गुणवान्का आदर करना चाहिये।

तीसरी भावना है दया, किसी भी प्राणीको दुखी और पीडित देखकर दयाका भाव अवश्य पैदा होना चाहिये। क्योंकि दयालुताके विना मनुष्यमें स्वार्थ त्यागकी भावना नहीं आ पाती। और स्वार्थ-त्यागके विना दूसरेके दुःखोंको दूर नहीं किया जा सकता है। जो व्यक्ति दूसरोंको सुखी बनाता है, संसार उसका स्वयं मित्र बन जाता है। अतः दुखी जनोंका दुःख मेटनेकी भी भावना आवश्यक है।

संसारमें एक चौथे प्रकारके भी प्राणी होते हैं जिन्हें दुर्जन कहते हैं। दुर्जन अकारण ही विरोध कर बैठते हैं और हितकी बात कहने पर भी सन्मार्गकी ओर नहीं लगते बल्कि उल्टे असन्मार्गकी ओर ही जाते हैं। सद् गृहस्थ ऐसे व्यक्तियोंसे भी घृणा या द्वेष नहीं करता। जहां तक उसका प्रयत्न चलता है, वह उनको सुधारनेकी ही चेष्टा करता है और अपने प्रयत्नमें असफल होनेपर भी खेद खिन्न नहीं होता। वह सदा इस बातका प्रयत्न करता है कि विरुद्ध मार्ग पर चलनेवालोंके प्रति भी मेरे मनमें रोष उत्पन्न न हो। उसकी यह भी भावना रहती है कि संसारसे वैर और विरोधको जितना भी मिटाया जा सके मिटा दिया जाय।

जैनाचारका प्रधान लक्ष्य—

इस तरह प्राणिमात्रमें दया, क्षमा, पवित्रता, सरलता, नम्रता, उदारता, सहिष्णुता, परदुःख कातरता, सेवा परायणता, आदि सद्गुणोंको उत्पन्न करना जैनाचारका प्रधान लक्ष्य है। मानव चरित्रमें जितनी उज्ज्वलता तथा पवित्रता आवश्यक है, जैनाचारमें उसको लानेका ही प्रयत्न किया गया है। जैनाचारके उपर्युक्त संक्षिप्त परिचयसे सहज ही यह समझमें आ सकता है कि मानव जीवनमें जैनाचारका

कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है। एक प्राथमिक जैन गृहस्थ शराब, मांस, जुआ, चोरी, वेश्या, परस्त्री, आदि पापोंका त्यागी होता है। ये ऐसे पाप हैं जिनसे समाज और देश रसातलको जा सकता है। सचमुचमें वह एक स्वर्णयुग था जब जैनाचारका यथार्थ पालन करनेवाले सज्जन भारतमें रहते थे। उस समय प्रजामें सुख, शान्ति और सन्तोष था। कलह, ईर्ष्या और दंभका नाम भी नहीं था। यदि आज भी विश्वके नागरिक जैनाचारको अपने जीवनमें उतार सकें तो संसार सुख और शान्तिका आगार बन सकता है और इस संघर्ष युगका अन्त हो सकता है।

अनन्तकी मान्यता

राय बहादुर प्रा. ए. चक्रवर्ती एम. ए.

आधुनिक दार्शनिकोंकी आपत्ति—

दार्शनिक विद्वानोंने अपने दार्शनिक निर्णयोंको समझानेके लिए अनन्तके विषयमें गणितके शब्दोंका उपयोग किया है। परमेनडीज़ और ज़ोनूसे लेकर काण्ट तथा बर्गसन तकके दार्शनिकोंने समझा है कि अनन्त शब्दमें आत्म-विरोध भरा हुआ है। इस कल्पनाके आधारपर उन्होंने सिद्ध किया है कि आकाश तथा काल स्व-विरोधी हैं। दर्शन-शास्त्रके विद्यार्थी काण्टकी उन विरुद्ध बातों (Antimolies) से सुपरिचित हैं जिन्हें उसने स्व-विरोधी बताया है। उनकी आपत्तिका मुख्य आधार यह है कि आकाशमें प्रदेश नहीं हो सकते और कालमें क्षण (Moments) नहीं हो सकते। यदि कालमें क्षण पाये जावें तो थोड़ेसे मर्यादित कालमें अगणित क्षणोंकी संख्या होगी और तब यही बात स्व-विरोधी बन उठेगी। सर्वत्र ऐसा समझकर दार्शनिकोंने आकाश और कालको अ-यथार्थ मानकर परित्याग कर दिया और इस प्रकार अपनी केवल आदर्शवादी (Idealistic Systems) विचार-प्रणालीका निर्माण किया है।

अनन्त का विरोध—

काण्ट (Kant) इस आधिभौतिक निर्णयपर पहुंचे हैं कि भौतिक-वस्तु-संयुक्त बहिर्जगतमें जो आकाश है वह अयथार्थ और अवास्तविक है। इस निर्णय का आधार यही विचार है कि अनंत विषयक गणित शास्त्रका विचार स्व-विरोधको प्रकट करता है, इसलिए वह असम्भव है। कुछ वर्ष हुए बी. रसल (B, Russel) तथा ह्वाइटहेड (White head) सदृश गणितज्ञोंने स्पष्टरूपसे बतलाया है कि विभाजनके सम्बन्धमें ऐसी कल्पना अनुचित और असिद्ध है। उन्होंने अधिक स्पष्ट किया है कि अनंतकी कल्पना या उसका भाव स्व-विरोधी नहीं है और यह मान्यता सान्त और अनन्त संख्याओंके भ्रमके कारण स्व-विरोधी प्रतीत होती है। गणनाके द्वारा प्राप्त सान्त संख्यामें वे बातें हैं जो अनन्त संख्यामें नहीं पायी जातीं। सान्त संख्यामें दूसरी सान्त संख्याका योग करनेपर अथवा इसमें से दूसरी सान्त संख्याके घटाने पर हानि-वृद्धि पायी जाती है। इस प्रकार १-२-३-४, आदि संख्या माला बताती है कि

'आगे-आगेके अंक एकके जोड़नेसे बढ़ते जाते हैं। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस मालाकी 'एक-सौ-एक' संख्या भी सौमें एक जोड़नेसे ही प्राप्त हो सके गी।

उसका परिहार—

अनन्त संख्यामें यह वैशिष्ट नहीं पाया जाता। उदाहरणार्थ— १, २, ३, ४, आदि संख्याओंकी एक माला लिखिये और ठीक उसके नीचे २, ४, ६, ८, आदि यथा क्रम लिखिये। इनमें सान्त अंकोंकी प्रथम माला अंत रहित है, कारण, उसको विना मर्यादाके गणना कर सकते हैं। इसे ही पारभाषिक—शब्दमें 'अनन्त माला' कहें गे। इसमें पाये जाने वाले अंक अनन्त हों गे। इसी प्रकार २,४,६,८, आदि अंक वाली दूसरी माला भी अंत रहित है और उसे भी अनन्त-अंक-युक्त अनन्त माला कहें गे। प्रथम मालाके प्रत्येक अंकके अनुरूप दूसरी मालामें अंकावली है इस तरह दोंनों मालाएं तुल्य हैं, क्यों कि दोंनों अगणित अंकावलि युक्त हैं। किन्तु द्वितीय मालामें सम-संख्या वाले अंक हैं, विषम संख्याओंका अभाव है। प्रथम मालामें सम और विषम सभी अंक हैं। इसप्रकार एक दृष्टिसे कह सकते हैं कि द्वितीय माला प्रथम मालाका एक अंग है, कारण; वह सब विषम संख्याओंसे शून्य है। यद्यपि, ऊपर देख चुके हैं कि गणितकी दृष्टिसे दोंनों मालाएं सदृश हैं क्योंकि दोंनों अनन्त हैं—अन्त रहित हैं। तथापि एक पहेली-सी सम्मुख आ खड़ी होती है जो ऊपरसे देखने में जटिल ज्ञात होती है कि यदि दोंनों मालाएं सान्त हैं तब तो दूसरी मालामें पहिली मालाकी अपेक्षा अल्पतर अंक होना चाहिये कारण उसमें प्रथम मालाके कुछ अंक नहीं हैं। यह निर्णय अनन्त संख्याओंके सम्बन्धमें नहीं लग सकता क्योंकि प्रथम मालाके प्रत्येक अंकके स्थानमें द्वितीय मालामें अन्य अंकावली है। यह उभय-गत समानता सर्वत्र पायी जाय गी। और चूंकि दोंनों मालाएं अनन्त हैं इसलिए उनकी सदृशता एकताको प्रकट करेगी। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि धन और ऋण सदृश गणितकी प्रक्रिया अनन्त अकोंके सम्बन्धमें अर्थहीन है। अनन्त संख्यामें अन्य संख्याओंके जोड़नेपर वृद्धि नहीं होती तथा अनन्त संख्यामें से कुछ संख्याओं को घटानेपर उसमें हानि भी नहीं हो गी। वह अनन्त ही रहेगी।

अनन्त माला (Series) का शाब्दिक अर्थ अंत-हीन माला है अर्थात् ऐसी संख्याएं जिनका कोई अंत न हो। कालकी अवधि इसी प्रकार 'अनन्त-माला' रूप है। अनंत मालाका नियमके अनुसार अंत नहीं होगा, यह प्रचलित मान्यता आधुनिक गणित-सिद्धान्तोंके अनुसार कुछ संशोधन योग्य है, उदाहरणार्थ—१–२–३–४, आदि अंकोंकी माला अनन्त माला रूप है क्योंकि कितनी ही गणना करते जाइये, उसके अंतिम अंकको प्राप्त नहीं कर सकते। प्रचलित मान्यताके अनुसार भी यह माला अंत रहित अर्थात् अनन्त है। किंतु उसका आरम्भ '१' अंकसे होता है जो कि मालाका प्रथम अंक

(पद) है। यहां हमारे पास आरंभ युक्त अनन्त माला है, उसका अंत नहीं है। साधारण मान्यता भी इस बातको विना कठिनताके स्वीकार करे गी। गणितकी दृष्टिसे इसके विपरीत क्रमवाली अनन्त मालाको भी निकाल सकते हैं। जैसे कि '१' अंक लिखिये और उसकी बाईं ओर $\frac{1}{2}$, $\frac{1}{3}$, $\frac{1}{4}$, $\frac{1}{5}$ आदि भिन्न युक्त अंकोंको लिखते जाइये। इस भिन्न-युक्त अंकवाली मालाका आरंभ यद्यपि '१' अंक है, सथापि यह हीयमान भिन्न-युक्त अनन्त माला है। वह भिन्न-अंक प्राप्त नहीं किया जा सकता, जिसे अंतिम कहा जा सके। क्योंकि सदा उस मनोतीत अंतिम भिन्नसे भी अल्पतर अर्थात् आगेकी संख्याकी कल्पना कर सकते हैं। यह अनंत माला जिसका आरंभ '१' से होता है तथा जो पीछेकी ओर बढ़ती है, अनंत माला कही जा सकती है जिसका आदि तो नहीं है परंतु उसका अंत या पर्यवसान '१' अंकमें होता है।

काण्ट तथा अन्य दार्शनिकोंने समझा था कि आदि-हीन किंतु अंत-युक्त अनंत माला स्व-विरोधी हैं। परंतु गणित शास्त्रकी दृष्टिसे '१' से आरंभ होनेवाली माला जो अनंत-पर्यंत चली जाती है, तथा वह भिन्न-माला (Series of Fractions) जिसका आरंभ '१' है और जो पीछे अनंत तक पहुंचती है; इनमें कोई अंतर नहीं है। इस प्रकार एक ऐसी अनंत संख्या प्राप्त की जाती है जिसका आदि तो है लेकिन अंत नहीं है। तथा दूसरी ऐसी अनंत संख्या प्राप्त होती है जिसका अंत तो है लेकिन आदि नहीं है। गणितकी दृष्टिसे दोनों सम्भव हैं, इसलिए वे स्व-विरोधी और अपरमार्थ शब्दके द्वारा नहीं कही जा सकतीं। यदि आगे वर्धमान-पद-युक्त प्रथम माला यथार्थ है तो उत्तरोत्तर हीयमान-भिन्नरूपवाली द्वितीय माला भी यथार्थ है।

जैन मान्यता--

गणितकी इन मान्यताओंका जैन-दर्शनसे बहुत बड़ा सम्बन्ध है। जैन-दर्शन स्पष्टतया यथार्थ-वादी है, अतः वह आकाश और काल-युक्त विश्वमें वस्तुओंको वास्तविक मानता है। जैनदार्शनिकों ने कालको क्षणोंकी राशि रूप कहा है जिन्हें कालपरमाणु कहते हैं। कालकी परिभाषामें कहा गया है कि वह काल-परमाणुओंकी राशि मालारूप वर्धमान पंक्ति स्वरूप है, ऊर्ध्व प्रचय रूप है अर्थात् एक-एक परमाणु रूप पंक्ति जो उत्तरोत्तर क्षण युक्त या काल परमाणु विशिष्ट है। इस काल संख्याके अनुरूप ही गणितकी धारा है। गणितकी उस धारामें आकाशके प्रदेश हैं। आकाश स्वयं भिन्न भिन्न दिशाओंमें अंश-मालाका पुञ्ज है जो लम्बाई-मोटाई-चौड़ाईके रूपमें विविध विस्तार-युक्त हैं। आकाश और काल इन दोनोंमें अंश विभाग बताया है और आधुनिक गणितज्ञ भी आकाश और कालके इस स्व-विरोधका निराकरण करते हैं। यहां गणित सम्बन्धी धाराका विचार दार्शनिकोंकी सहायता करता है।

अनन्त विभाजन (भूमिति)—

रेखागणितकी एक रेखाको लीजिये। उसे दो, दो बार विभाजित करते जाइये और अनन्त बार प्रत्येकके भाग कीजिये। प्रत्येक विभागका विभागी-करण कभी समाप्त न हो गा। इस धाराके विभागी करणकी अनन्तताकी सम्भावना पहले असम्भव और स्व-विरोधी मानी जाती थी। परन्तु आधुनिक गणितज्ञोंने इसके प्रतिकूल संभावना और अविरोध सिद्ध कर दिया है। असम्भवता इस कल्पना पर निर्भर थी कि एक सान्त धारामें सान्त या सीमित ही अंश हों गे। परंतु स्थिति यह नहीं है। यह ऊपर बताया जा चुका है कि ससीम रेखामें सीमित अंश होते हैं। यहां आप अनंत अंश मालाकी व्यवस्थाका क्रम रेखागणितकी रेखा के अंतों-कोणोंमें पाते हैं जो सादि और सान्त हैं। यदि ससीम रेखामें जिसका काल मर्यादित है उसमें मर्यादातीत अर्थात् अनंत अंश हैं तथा वह अनंत संख्या वाले क्षण विशिष्ट हैं तब यह दार्शनिक-आलोचना कि काल और आकाशमें स्वयं विरोध है, युक्तियुक्त न होगी। अतएव दार्शनिकोंको इस परिणाम पर नहीं पहुंचना चाहिये कि आकाश और काल असत्य तथा असम्भव हैं।

अनादि-अनन्त की सिद्धि—

इस तरह हम जैनदर्शनके अनुसार ऐसे जगतको पाते हैं जिसका न तो आदि है और न अंत, यद्यपि उसमें परिणमन होता रहता है। यह भी सम्भव है कि संसारमें जीव सदा पर्यटन करता रहे। इसतरह एक आत्माकी अपेक्षा संसारका आदि नहीं है। उसी प्रकार अनंत माला भी अनादि होगी। जब आत्मा कर्मके बंधनोंको तोड़कर स्व-स्वरूपको प्राप्त करता है—मुक्त होता है, तब जीवन और मरण रूप संसार परिभ्रमणकी गति रुक जाती है। इस प्रकार इस विषयमें आदि विहीन संसारका अंत हो जायगा। यद्यपि व्यक्तिगत रूपसे आत्माएं संसार-चक्रसे छूटकर मुक्ति पा जाती हैं, तथापि संसारमें विद्यमान अनंत जीवोंकी अपेक्षा संसारकी शृंखला अविच्छिन्न रूपसे चली जाती है। संसारमें विद्यमान अनंत जीवोंकी अपेक्षा संसारकी शृंखला अविच्छिन्न रूपसे चली जाय गी। संसार अनन्त जीवोंका पुञ्ज है, उसमें से कितनेही जीव चाहे वे अनन्त ही क्यों न हो, मुक्त हो जांय, तब भी वह पुञ्ज या अनंत राशि किसी प्रकार कम नहीं हो गी। जिन आत्माओंने निर्वाण प्राप्त किया है वे अनंत हों गी, फिर भी संसारमें विद्यमान जीव राशिकी संख्या पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़े गा। यथार्थमें यह बहुत मनोरंजक बात है कि भौतिक विज्ञानके जैन आचार्योंने आकाश, काल और अनंत प्रचयके विरुद्ध उठायी गयी अनेक शंकाओंके उत्तरमें गणितकी एक पद्धतिको समुन्नत किया था, आधुनिक गणितके सिद्धान्त जिसका समर्थन करते हैं और जिसका प्रचार रसल और व्हाइट हेड जैसे महान् गणितज्ञोंने किया है।

उपसंहार—

सबका निष्कर्ष यह है कि अनन्त-माला या अनन्त-प्रचय स्व-विरोधी नहीं है। यह बात उस समय सहज ही हृदयग्राही हो जाती है, जब यह स्मरण रखा जाय कि साधारण सान्त अंकोंका सम्बन्ध अनंत अंकोंसे नहीं हो सकता है। एक अनंत समुदाय कितनी ही बड़ी संख्याके घटाने या जोड़नेसे न तो क्षीय-मान होगा और न वर्धमान होगा। अनंत-माला सादि हो किंतु सान्त न हो अथवा वह अनादि अनंत हो हो गणितके ये निश्चय भौतिक विज्ञानके जैन-आचार्योंने अपने दार्शनिक सिद्धान्तोंके विशद विवेचनमें भी प्रयुक्त किये थे।
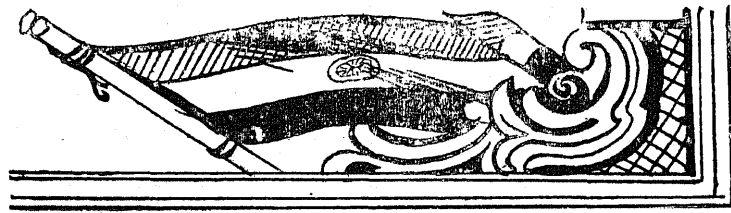
अहिंसा की पूर्व-परम्परा

स्व० आचार्य श्री धर्मानन्द कौशाम्बी

प्राचीन कालसे ही राज-संस्था हिंसाकी भित्तिपर आधारित होती आयी है। एक प्रकारकी राज्य व्यवस्था मिटाकर उसकी जगह दूसरे प्रकारकी स्थापित करनेमें रक्तपात होना अपरिहार्य्य है, ऐसा अब भी बहुतोंको लगता है। राजाओंसे ही देवताओंकी कल्पना निकली हो गी। राजा लोग यदि अधिक प्रिय हों, तो फिर देवता भी वैसे ही क्यों न हों? इसीसे वैदिक कालीन भारतके समान ही मिस्र, सीरिया, ग्रीस, आदि देशोंमें भी यज्ञ यागकी प्रथा लोक प्रिय हुई। भारतमें वैदिक संस्कृति प्रथमतः सिन्धु नदीके प्रदेशमें फैली और बादमें पंजाबके मार्गसे होती हुई धीरे धीरे वह पूर्वकी ओर फैलती गयी।

आदि अहिंसा संस्थापक--

अहिंसात्मक संस्कृतिकी स्थापना करनेका प्रथमतः श्रेय जैन-तीर्थङ्करों को देना चाहिये। आदिनाथसे महावीर स्वामी तक जो चौबीस तीर्थङ्कर प्रसिद्ध हैं, वे सब अहिंसा-धर्मके पुरस्कर्ता थे, ऐसा सभी जैन मानते हैं। अपनी संस्कृति वैदिक संस्कृतिसे भी प्राचीनतर है; ऐसा जैन पण्डित प्रतिपादन करते हैं। स्थानांग सूत्र में लिखा है--

"भरहेरवएसु णं वासेसु पुरिमपच्छिमवज्जा
मज्झिमगा वावीसं अरहंता चाउज्जामं धम्मं पणणवेति।
तं जहा-सव्वातो पाणातिवायाओ वेरमणं, एवं दाणाओ वेरमणं,
सव्वातो अदिन्नदाणाओ वेरमणं सव्वाओ बहिद्धाणाओ वेरमणं।"

अर्थात्--भरत और ऐरावत इस प्रदेशमें पहले और अन्तिम छोड़ कर बाईस तीर्थङ्कर चातुर्याम धर्म उपदेश देते हैं। वह इस प्रकार है 'समस्त प्राणघात से विरति, उसी प्रकार असत्यसे विरति, सर्व अदत्तादान (चोरी) से विरति, सर्व बहिर्धा उदान (परिग्रह) से विरति।'

इस उद्धरणमें भरत और ऐरावत इन दो प्रदेशोंके नाम आते हैं। वैदिक साहित्यकी दृष्टिसे भरत आजकलका पंजाब ठहरता है। ऐरावत कौन प्रदेश है, समझमें नहीं आता। वह पंजाबके पूर्वकी ओर होगा। इन दोनों प्रदेशोंमें प्राचीन तीर्थङ्कर चातुर्याम (चार संयम) धर्मका प्रचार करते थे। पाश्चात्य पण्डितों के मतानुसार भी चातुर्याम धर्मका संस्थापक पार्श्वनाथ तेईसवां तीर्थङ्कर ही था। अतः सबसे पहिले अहिंसा धर्मकी स्थापना और प्रचार करनेका श्रेय-तीर्थङ्करोंको मिलता है, क्योंकि पार्श्वनाथका काल बुद्ध-पूर्व २०० वर्ष है।

इस समय पूर्व प्रदेशमें बहुतसे महाजन सताक राज्य अस्तित्वमें थे। उनमें मगधके उत्तरकी ओर वज्जीका राज्य महा प्रबल था। इस राज्यमें जैनधर्मका प्रचार बहुत था। इसका कारण यह जान पड़ता है कि वहांके मुख्य वासी कृषक थे और यज्ञ-यागोंमें कृषि-उपयोगी जानवरोंकी बलि उन्हें पसन्द न थी। दूसरे जो मल्ल, शाक्य, आदि गणतन्त्र थे, उनमें भी यज्ञ यागको कोई स्थान नहीं था, ऐसा जान पड़ता है। मगध और कौशलके राजा लोग और उनके रक्षित ब्राह्मण जागीरदार लोग बीच बीचमें याग किया करते थे, परन्तु वह जनताको प्रिय न था, क्योंकि ऐसे यज्ञोंमें खेतीके जानवर (गाय, बैल, वगैरह) लोगों से जबर्दस्ती लिये जाते थे। इस प्रकार पूर्वकी ओरसे सभी राष्ट्रोंसे अहिंसा धर्मको आपसे आप जनताका पृष्ठ पोषण मिलता था।

एक उपेक्षा--

जैन साधु प्राणियोंपर दया करनेका उपदेश देते थे, तो भी मनुष्य जातिमें होने वाली लड़ाइयोंके सम्बन्धमें उदासीन रहते थे। स्त्री-कथा, भक्त-कथा, देश-कथा, राज-कथा ऐसी कथाएं वे गर्ह्य मानते[1], अत्यन्त सूक्ष्म जन्तुओंकी रक्षाके निमित वे बड़ी चिन्ता करते। जन्तुओंकी रक्षा करते करते एक दूसरा बड़ा दोष (?) जैन साधुओंमें घुस गया वह यह कि जीवन निर्वाहके लिए वे भिक्षाटनके सिवा और कोई भी शारीरिक कर्म नहीं करते। भिक्षाटन भी नियमित जगह पर ही करते। तपस्या प्रधान नियमोंके कारण जैनधर्म हिन्दुस्तानके बाहर न जा सका और इसीसे जैनधर्मको आजका संकुचित स्वरूप प्राप्त हुआ। ऐसा होने पर भी सर्वप्रथम अहिंसा धर्मका आविष्कार जैन धर्मने ही किया और हिन्दुस्तानके पूर्व प्रदेशकी सामान्य जनताकी मनोभूमिमें भूत-दयाका बीजारोपण किया। अतः अहिंसात्मक सत्याग्रहका आद्य जनकत्व पार्श्वनाथको ही देना पड़ता है।

पार्श्वनाथके बाद तीसरी सदीमें अहिंसाका बड़ा पुरस्कर्ता बुद्ध हुआ। गृह त्यागके पहले वृद्ध, रुग्ण और मृत मनुष्योंको देखकर गौतमको वैराग्य हुआ और इस सम्बन्धमें बहुत सी रसभरी कथाएं बौद्ध ग्रन्थोंमें मिलती हैं। परन्तु त्रिपिटक ग्रन्थके प्राचीन विभागमें इस बातका कोई आधार नहीं। जरा, व्याधि और मरण इस विषयमें गौतमके मनमें बार बार विचार अवश्य आता होगा, ऐसा अंगुत्तर-निकायके एक सुत्तसे जान पड़ता है। परन्तु उसे सबसे भयंकर यदि कोई बात लगी तो यह कि—

'फन्दमानं पजं दिस्वा मच्छे अप्पोदके यथा।
अंज भज्जेहि वारुद्धे दिस्वामं भयमाविसि॥'

अर्थात्—सूख चले हुए पानीमें जैसे मछलियां तड़फड़ाती हैं उसी प्रकार परस्पर विरोध करके तड़फड़ाने वाली इस मनुष्य जातिको देखकर मेरे मनमें भयका संचार हुआ।

---

१. स्थानांग सूत्र न० २८२।

इससे गौतमको मनुष्योंकी पारस्परिक हिंसा वृत्तिसे कितनी घृणा थी, यह स्पष्ट होता है। इसी कारण गृह त्याग करके उसने मनुष्य जातिके कल्याणका नया मार्ग खोज निकाला। जंगलमें रहकर पानी की बूंदमें रहनेवाले जन्तुपर भी दया दिखाना, पर इधर मनुष्य मनुष्यके बीचमें जब घोर संग्राम मचा हुआ हो तो भी उससे उदासीन रहना, इसप्रकारका अहिंसा धर्म बुद्धको पसन्द न था। मानवताको प्राधान्य देनेके कारण बौद्ध धर्मका जैनधर्मसे अधिक फैलाव हुआ। परन्तु भिक्षाटन करना, जमीन खोदने, वगैरहके कामको निषिद्ध समझना और राज्य संस्थाके विषयमें उदासीन रहना, आदि कुछ दोष (?) बौद्धधर्ममें भी रह गये। राजाको कैसे वर्तना चाहिये, इस सम्बन्धमें कुछ सूत्र त्रिपिटकमें हैं। पर राजा यदि दुष्ट हुआ तो प्रजाको क्या करना चाहिये, इस विषयमें कोई विधान नहीं मिलता। वज्जियोंके गण-सत्ताक राज्यकी अभिवृद्धिके लिए बुद्धके सात नियम बना देनेका उल्लेख महापरिनिब्बान-सुत्तके आरम्भमें ही मिलता है। पर प्लैटोके रिपब्लिक जैसे गण-सत्ताक राज्यकी स्थापना और विकास कैसे किया जाता है और उसमें बहुजन समाजका हित कैसे साधा जा सकता है, इसका विचार बौद्ध ग्रन्थोंमें विस्तार पूर्वक नहीं मिलता।

ईसाई अहिंसा तथा समाजवाद—

बुद्धके पश्चात् छठी सदीमें प्रख्यात् अहिंसावादी ईसा हुआ। परमेश्वरका सौम्य रूप बताकर उसने मानवजातिमें अहिंसाके प्रचारका यत्न किया। जैन और बौद्ध भिक्षुओंको जमीन खोदने जैसे कामोंकी मनाही है, वैसी ईसाई साधुओंको नहीं है; परन्तु उन्हें शरीर निर्वाहके लिए शारीरिक परिश्रम करना ही चाहिये, ऐसा कोई नियम भी नहीं है। दूसरा यह कि राजकीय सत्तामें सुधार करनेका भी उन्होंने यत्न नहीं किया। सीजरको कर देना चाहिये या नहीं, यह प्रश्न पूछे जानेपर ईसाने उत्तर दिया—'जो वस्तु सीजरकी हो सो सीजरको दो, और जो वस्तु प्रभुकी हो सो प्रभुको दो'। इसका परिणाम यह हुआ कि ईसाई साधु राज्यसत्तानुवर्ती बन गये और कुछ दिनके बाद पोपने भी राज्य सत्ता लूट ली। किन्तु राज्य संस्थाको अहिंसात्मक बनानेका प्रयत्न ईसाके अनुयाइयोंने कभी नहीं किया।

व्यापार-युगका पश्चिममें उदय होते ही श्रमी जनोंकी तो जैसे मृत्यु आ गयी। उनके दुःखोंका परिमार्जन करनेका जिन सत्पुरुषोंने प्रयत्न किया, वे समाजवादी कहलाये। उनमें और बौद्ध भिक्षुओं, ईसाई पादरियोंमें कोई विशेष अन्तर नहीं रह गया तथा बौद्ध भिक्षु तथा ईसाई पादरी जहां मठ बांध कर रहा करते थे और शान्ति मार्गका उपदेश श्रावकोंको देते थे, वहां शारीरिक परिश्रम नहीं करते थे। इतना ही नहीं, बादमें ये भिक्षु और पादरी राजाओंसे इनाम, जागीरें पाकर जमीदार बन गये। इस कारण साधारण जनता तिरस्कार करने लगी।

रावर्ट ओवेन प्रभृति सोशलिस्टोंका वर्ताव इनके खिलाफ था। गरीबोंके दुःख दूर करनेके लिए उन्होंने यह मार्ग स्वीकार किया। अमरीकामें जहां जमीन बहुत थी, उन्होंने जाकर एक बड़ी बस्ती

स्थापित की। उस बस्तीमें सभीके लिए शारीरिक परिश्रम करना अनिवार्य कर दिया गया। इस प्रकार सम्पत्तिका उत्पादन होने पर प्रत्येकको आवश्यकतानुसार सम्पत्ति विभाजन किया गया और बची हुई सम्पत्ति सार्वजनिक कोषमें रक्खी गयी। परन्तु उनकी इस बस्तीकी आयु पांच-दस वर्षके आगे न बढ़ी। बाहरके लोग इन बस्तियोंमें आकर खलल डालते; सदस्योंमें धर्म प्रभावना और दूसरी भ्रान्त धारणाओंको प्रश्रय और उत्तेजना दिलाते, और इस कारण उनमें आपसी फूट पड़ कर अव्यवस्था मच गयी।

कार्ल मार्क्स-युग--

शान्तिवादी दयालु गृहस्थोंका यह समाजवाद कार्ल मार्क्सको पसन्द न था। ऐसे लोगोंको मार्क्स नन्दनवनीय (Utopian) सोशलिस्ट कहा करता था। फिर भी मार्क्सका समाजवाद इन्हीं नन्दनवनीय समाजवदियोंसे उदय हुआ, यह न भूलना चाहिये। मार्क्सके मतानुसार युद्ध बन्द करनेका उपाय था दुनियां भरके श्रमीजनोंको गठितकर पूंजीपतियों तथा जमीदारोंको नष्ट करना। उसका विचार था कि इस प्रकार सारी दुनिया के श्रमसंगठनसे युद्ध रुक जांयगे और मनुष्य मात्रमें भ्रातृ-भाव फैल जावेगा।

मजदूरोंका सबसे बड़ा शत्रु था राष्ट्राभिमान (Nationalism)। उसे नष्ट करनेके लिए उसने 'Workers International" नामकी एक संस्था स्थापित की वह उसके रहते ही टूट गयी। इसके बाद दूसरी इण्टर नैशनल स्थापित हुई। वह महायुद्धके समयमें विलीन हो गयी। फिर रूसी राज्यक्रान्तिके बाद तीसरी इण्टर नैशनल भी बन गयी, पर इन यत्नोंसे भी शान्ति स्थापना न हुई।

इटलीके सैनिक श्रमिकोंने अबीसीनियाको जो तहस नहस किया, स्पेनमें जर्मन और इटालियन श्रमिकों द्वारा जो अत्याचार किये गये और जापानी श्रमिकों द्वारा चीनमें सहधर्मियोंका जो कत्ले आम किया गया, वह सब इसीका साक्षी है कि 'वर्करस् इन्टरनैशनल" भी एक नन्दनवनीय स्वप्न मात्र रहा।

मानव मात्रमें अहिंसा प्रस्थापित करनेके लिए सबको शारीरिक परिश्रम करना ज़रूरी है, और अहिंसाके आध्यात्मिक बलपर हिंसा-विरोध पर कटिबद्ध हो जाना चाहिये, यही दो सिद्धान्त टालस्टायने दुनियांके सामने रक्खे। परन्तु टालस्टायका उपदेश माननेको पश्चिमी देश तैयार नहीं हुए, और महायुद्ध होकर ही रहा।

महात्मा गांधीकी अहिंसा--

अहिंसाको व्यवहारिक रूप सर्वप्रथम महात्मा गांधीने ही दिया। पाश्चात्य संस्कृतिसे चकाचौंध होकर जो लोग बौद्ध और जैनधर्मके अहिंसा प्रचारको भारतके वर्तमान अधःपतनका कारण बताते हैं, उन्हें गांधीजीने अहिंसा प्रयोगसे खासा जवाब दिया। अहिंसा साधनाके बलपर कैसी तेजस्विनी हो सकती है, यह स्वयं-कृति द्वारा गांधीजीने बताया। कितनी ही बलशाली और शस्त्र सम्पन्न, कोई सत्ता क्यों न हो

पर सहिष्णु और अहिंसामय सत्याग्रहके आगे उसकी सत्ता हार जाती है, यह अभी अभी दुनियां फिरसे जानने, समझने और मनन करने लगी है।

पार्श्व तीर्थङ्करने सूक्ष्म जन्तुओं पर भी दया दिखाना लोगोंको सिखाया। बुद्धने उस दयाका प्रभाव मनुष्य जातिकी ओर बताया। पर इन दो महा विभूतियोंने दयाके साथ शारीरिक परिश्रमको नहीं बांधा। ईसाने अपने शिष्योंको शारीरिक श्रमके लिए मना नहीं किया। पर इन तीनोंने अहिंसाको केवल सिद्धान्तरूपमें संसारके सामने रक्खा उसे व्यवहारिक रूप नहीं दिया। शासन व्यवस्थासे उसका सम्बन्ध पहले पहल टालस्टायने किया, किन्तु इस सिद्धान्तको भी व्यवहारमें लानेका सर्वप्रथम श्रेय महात्मा गांधीको ही है। उन्होंने सर्वप्रथम संसारको दिखाया कि राजनीतिक क्षेत्रमें भी—

नहि वेरेन वेरानि सम्मन्ति ध कदाचन।
अवेरेन च सम्मन्त ध एसधमो सनन्तनो॥

अर्थात्-वैरसे वैर बुझता नहीं, वह मैत्रीसे ही बुझता है—यही सनातन धर्म है।
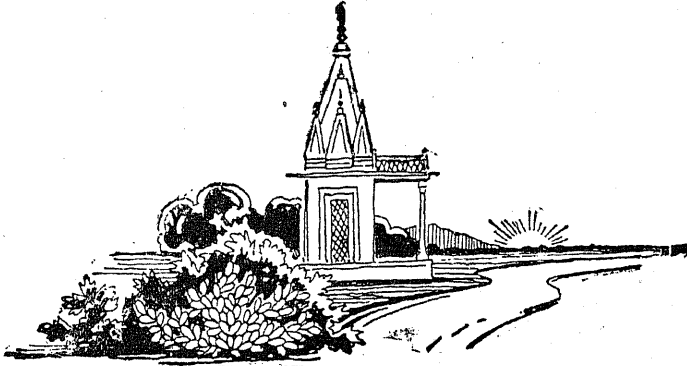
जैनधर्ममें अहिंसा

श्री स्वामी सत्यभक्त न्यायतीर्थ, साहित्य रत्न

जो जन्म लेता है वह एक न एक दिन मरता अवश्य है। या तो एक प्राणी दूसरे प्राणीको मार डालता है अथवा प्रकृति ही उसका जीवन समात कर देती है। इनमेंसे प्राणीको प्रकृतिकी अपेक्षा दूसरे प्राणीका डर ज्यादा है एक प्राणी दूसरे प्राणीके खूनका प्यासा हैं.। इसलिए नीतिवाक्य भी बन गया है—"जीवो जीवस्य जीवनम्"। अर्थात् एक जीव दूसरे जीवके जीवनका आधार है। मनुष्य सबमें श्रेष्ठ प्राणी है! बुद्धिमान होनेसे बलवान भी है। इसलिए यह उपयुक्त नीतिवाक्यका सबसे ज्यादा दुरुपयोग कर सका है। अपने स्वार्थके लिए वह ऐसी हिंसा भी करता है जो आवश्यक नहीं कही जा सकती परन्तु यह कार्य प्राणीसमाज और मनुष्यसमाजकी शान्तिमें बाधक है। इससे आत्मिक उन्नति भी रुक जाती है। इसलिए प्रत्येक धर्ममें थोड़ा-बहुत रूपमें हिंसाके त्यागका उपदेश दिया गया है और इसलिए 'अहिंसा परमो धर्मः" प्रत्येक धर्मका मूल मंत्र बन गया है।

अहिंसाकी सूक्ष्म व्याख्या——

लेकिन जैन धर्मने इस मंत्रकी जैसी सूक्ष्म व्याख्या की है वह बेजोड़ है। जैन धर्मकी अहिंसा, अहिंसाका चरम रूप है। जैनधर्मके अनुसार मनुष्य, पशु, पक्षी, कीड़े, मकोड़े, आदिके अतिरिक्त पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिमें भी जीव हैं। मिट्टीके ढेलेमें कीड़े, आदि जीव तो हैं ही, परन्तु मिट्टी का ढेला स्वयं पृथ्वी-कायिक जीवोंके शरीरका पिंड है। इसी तरह जल बिन्दुमें यन्त्रोंके द्वारा दिखने वाले अनेक जीवोंके अतिरिक्त वह स्वयं जल-कायिक जीवोंके शरीरका पिंड है। यही बात अग्निकाय, आदिके विषयमें भी समझनी चाहिये।

पारसी धर्म पर प्रभाव——

इस प्रकारका कुछ विवेचन पारसियोंकी धर्म पुस्तक 'आवेस्ता' में भी मिलता है। जैसे हमारे यहां प्रतिक्रमणका रिवाज है उसी तरह उनके यहां भी पश्चात्तापकी क्रिया करनेका रिवाज है। उस क्रियामें जो मंत्र बोले जाते हैं उनमेंसे कुछका भावार्थ इस तरह है—"धातु उपधातुके साथ जो मैंने दुर्व्यवहार (अपराध) किया हो उसका मैं पश्चात्ताप करता हूं।" "जमीनके साथ जो मैंने अपराध किया हो उसका मैं पश्चात्ताप करता हूं।' "पानी अथवा पानीके अन्य भेदोंके साथ जो मैंने अपराध किया हो उसका मैं पश्चात्ताप

करता हूं।" "वृक्ष और वृक्षके अन्य भेदोंके साथ जो मैंने अपराध किया हो उसका मैं पश्चात्ताप करता हूं।" "महताब, आफ़ताब, जलती अग्नि, आदिके साथ जो मैंने अपराध किया हो मैं उसका पश्चात्तापकरता हूं।"

पारसियोंका विवेचन जैनधर्मके प्रतिक्रमण-पाठसे मिलता जुलता है जोकि पारसी धर्मके ऊपर जैनधर्मके प्रभावका सूचक है। मतलब यह है कि जैनधर्ममें अहिंसाका बड़ा सूक्ष्म विवेचन किया गया है। एक दिन था जब संसारने इस सूक्ष्म अहिंसाको आश्चर्य और हर्षके साथ देखा था और अपनाया था।

क्या अहिंसा अव्यवहार्य है--

यहां पर प्रश्न होता है कि जब जैनधर्मकी अहिंसा इतनी सूक्ष्म है तो उसका पालन कदापि नहीं हो सकता। वह अव्यवहार्य है इसलिए उसका विवेचन व्यर्थ है। परन्तु जैनधर्मने हिंसा और अहिंसाका विवेचन इतने अच्छे रूपमें किया है कि वह जितना ही उत्कृष्ट है उतनाही व्यवहार्य भी है!

द्रव्यहिंसा और भावहिंसा--

जैनधर्मके अनुसार अपने द्वारा किसी प्राणीके मर जानेसे या दुखी हो जानेसे ही हिंसा नहीं होती। संसारमें सर्वत्र जीव पाये जाते हैं और वे अपने निमित्त से मरते भी रहते हैं। फिर भी जैनधर्म इस प्राणीघातको हिंसा नहीं कहता। वास्तवमें 'हिंसा रूप परिणाम' ही हिंसा है। द्रव्यहिंसाको तो सिर्फ इसलिए हिंसा कहा है कि उसका भावहिंसाके साथ सम्बन्ध है। फिर भी यह बात याद रखना चाहिये कि द्रव्यहिंसाके होने पर भावहिंसा अनिवार्य नहीं है। अगर द्रव्यहिंसा और भाव हिंसाको इस प्रकार अलग न किया गया होता तो जैनधर्मके अनुसार कोई भी अहिंसक न बन सकता और निम्नलिखित शंका खड़ी रहती—

जले जंतुः स्थले जंतुराकाशे जंतुरेव च।
जंतुमालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसकः॥

जलमें जंतु हैं, स्थलमें जंतु हैं और आकाशमें भी जंतु हैं। जब समस्त लोक जंतुओंसे भरा हुआ है तब कोई भिक्षु (मुनि) अहिंसक कैसे हो सकता है? इस प्रश्नका उत्तर यों दिया गया है—

सूक्ष्मा न प्रतिपीड्यन्ते प्राणिनः स्थूलमूर्त्तयः।
ये शक्यास्ते विवर्ज्यन्ते का हिंसा संयतात्मनः॥

सूक्ष्म जीव (जो अदृश्य होते हैं तथा न तो किसीसे रुकते हैं और न किसीको रोकते हैं) तो पीड़ित नहीं किये जा सकते, और स्थूल जीवोंमें जिनकी रक्षा की जा सकती है उनकी की जाती है; फिर मुनिको हिंसाका पाप कैसे लग सकता है? इसीसे मालूम होता है कि जो मनुष्य

करता हूं।" "वृक्ष और वृक्षके अन्य भेदोंके साथ जो मैंने अपराध किया हो उसका मैं पश्चात्ताप करता हूं।" "महताब, आफ़ताब, जलती अग्नि, आदिके साथ जो मैंने अपराध किया हो मैं उसका पश्चात्ताप करता हूं।"

पारसियोंका विवेचन जैनधर्मके प्रतिक्रमण-पाठसे मिलता जुलता है जोकि पारसी धर्मके ऊपर जैनधर्मके प्रभावका सूचक है। मतलब यह है कि जैनधर्ममें अहिंसाका बड़ा सूक्ष्म विवेचन किया गया है। एक दिन था जब संसारने इस सूक्ष्म अहिंसाको आश्चर्य और हर्षके साथ देखा था और अपनाया था।

क्या अहिंसा अव्यवहार्य है--

यहां पर प्रश्न होता है कि जब जैनधर्मकी अहिंसा इतनी सूक्ष्म है तो उसका पालन कदापि नहीं हो सकता। वह अव्यवहार्य है इसलिए उसका विवेचन व्यर्थ है। परन्तु जैनधर्मने हिंसा और अहिंसाका विवेचन इतने अच्छे रूपमें किया है कि वह जितना ही उत्कृष्ट है उतनाही व्यवहार्य भी है!

द्रव्यहिंसा और भावहिंसा--

जैनधर्मके अनुसार अपने द्वारा किसी प्राणीके मर जानेसे या दुखी हो जानेसे ही हिंसा नहीं होती। संसारमें सर्वत्र जीव पाये जाते हैं और वे अपने निमित्त से मरते भी रहते हैं। फिर भी जैनधर्म इस प्राणीघातको हिंसा नहीं कहता। वास्तवमें 'हिंसा रूप परिणाम' ही हिंसा है। द्रव्यहिंसाको तो सिर्फ इसलिए हिंसा कहा है कि उसका भावहिंसाके साथ सम्बन्ध है। फिर भी यह बात याद रखना चाहिये कि द्रव्यहिंसाके होने पर भावहिंसा अनिवार्य नहीं है। अगर द्रव्यहिंसा और भाव हिंसाको इस प्रकार अलग न किया गया होता तो जैनधर्मके अनुसार कोई भी अहिंसक न बन सकता और निम्नलिखित शंका खड़ी रहती—

जले जंतुः स्थले जंतुराकाशे जंतुरेव च।
जंतुमालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसकः॥

जलमें जंतु हैं, स्थलमें जंतु हैं और आकाशमें भी जंतु हैं। जब समस्त लोक जंतुओंसे भरा हुआ है तब कोई भिक्षु (मुनि) अहिंसक कैसे हो सकता है? इस प्रश्नका उत्तर यों दिया गया है—

सूक्ष्मा न प्रतिपीड्यन्ते प्राणिनः स्थूलमूर्तयः।
ये शक्यास्ते विवर्ज्यन्ते का हिंसा संयतात्मनः॥

सूक्ष्म जीव (जो अदृश्य होते हैं तथा न तो किसीसे रुकते हैं और न किसीको रोकते हैं) तो पीड़ित नहीं किये जा सकते, और स्थूल जीवोंमें जिनकी रक्षा की जा सकती है उनकी की जाती है; फिर मुनिको हिंसाका पाप कैसे लग सकता है? इसीसे मालूम होता है कि जो मनुष्य

जीवोंकी हिंसा करनेके भाव नहीं रखता अथवा उनको बचानेके भाव रखता है उसके द्वारा जो द्रव्यहिंसा होती है उसका पाप उसे नहीं लगता है। इसलिए कहा है—

वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते।

अर्थात्—प्राणोंका वियोग करदेने पर भी हिंसाका पाप नहीं लगता। इस बातको शास्त्रकारोंने और भी अधिक स्पष्ट करके लिखा है—

उच्चालदम्मि पादे इरिया समिदस्स णिग्गमट्ठाणे।
आवादेज्ज कुलिंगो मरेज्ज तज्जोग्गमासेज्ज॥
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमोवि देसिदो समये।

अर्थात्—जो मनुष्य देख देखके रास्ता चल रहा है उसके पैर उठाने पर अगर कोई जीव पैर के नीचे आ जावे और कुचले जाकर मर जावे तो उस मनुष्यको उस जीव के मारनेका थोड़ा सा भी पाप नहीं लगता।

हिंसाका पाप तभी लगता है जब वह यत्नाचारसे काम न लेता हो—

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदाहिंसा।
पयदस्स णत्थि बन्धो हिंसामेत्तेण समिदस्स॥

अर्थात्—जीव चाहे जिये चाहे मरे, परन्तु जो अत्याचारसे काम करेगा उसे अवश्यही हिंसाका पाप लगेगा। लेकिन जो मनुष्य यत्नाचारसे काम कर रहा है उसे प्राणिवध हो जानेपर भी हिंसाका पाप नहीं लगता।

विश्वग्जीवचिते लोके क चरन् कोप्यमोक्ष्यत।
भावैकसाधनौ बन्धमोक्षौ चेन्नाभविष्यताम्॥

—सागरधर्मामृत।

अर्थात्—जब कि लोक, जीवोंसे खचाखच भरा है तब यदि बन्ध और मोक्ष भावोंके ऊपर ही निर्भर न होते तो कौन आदमी मोक्ष प्राप्त कर सकता?

समाधि-मरण व्रत—

जब जैनधर्मकी अहिंसा भावोंके ऊपर निर्भर है तब उसे कोई भी समझदार अव्यवहार्य कहनेका दुःसाहस नहीं कर सकता। जैनधर्मके समाधिमरण व्रतके ऊपर विचार करनेसे साफ मालूम होता है कि मरनेसे ही हिंसा नहीं होती। इस सल्लेखना व्रतके महत्व और स्वरूपको न समझकर किसी आदमीने एक पत्र में लिखा था कि जैनी लोग महिनों भूखों रह कर मरनेमें पुण्य समझते हैं। अगर इस भाईने सल्लेखना का रहस्य समझा होता तो कभी ऐसा न लिखता, और न सल्लेखनाको आत्महत्याका रूप ही देता। सल्ले-खना निम्न अवस्थाओंमें की जाती है।

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतिकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥

(स्वामी समंतभद्र)।

अर्थात्—जब कोई उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा और रोग ऐसी हालतमें पहुंच जांय कि धर्मकी रक्षा करना मुश्किल हो तो धर्मके लिए शरीर छोड़ देना सल्लेखना या समाधि मरण है।

समाधि ले लेने पर उपर्युक्त आपत्तियोंको दूर करनेकी फिर चेष्टा नहीं की जाती, उपचार वगैरह बन्द करके वह अंतमें अनशन करते करते प्राणत्याग करता है। सम्भव है कि उपचार करनेसे कुछ दिन और जी जाता। परन्तु जिस कार्यके लिए जीवन है, जब वही नष्ट हो जाता है तब जीवनका मूल्य ही क्या रहता है ? यह याद रखना चाहिये कि आत्माका साध्य शांति और सुख है। सुखका साधन है धर्म और धर्मका साधन है जीवन, जब जीवन धर्मका बाधक बन गया है तब जीवनको छोड़कर धर्मकी रक्षा करना ही उचित है। हर जगह साध्य और साधनमें विरोध होने पर साधनको छोड़ कर साध्यकी रक्षा करना चाहिये। समाधिमरणमें इस नीतिका पालन किया जाता है। इसी बातको अकलंकदेवने यों स्पष्ट किया है—

'यथा वणिजः विविधपण्यदानादानसंचयपरस्य गृहविनाशोऽनिष्टः, तद्विनाशकारणे चोपस्थिते यथाशक्ति परिहरति, दुष्परिहारे च पण्याविनाशो यथा भवति तथा यतते। एवं गृहस्थोऽपि व्रतशीलपुण्य-संचयप्रवर्तमानस्तदाश्रयस्य शरीरस्य न पातमभिवाञ्छति, तदुप्लवकारणे चोपस्थिते स्वगुणाविरोधेन परिह-रति; दुष्परिहारे च यथा स्वगुणविनाशो न भवति तथा प्रयतति। कथमात्मवधो भवेत्"।

—तत्त्वार्थराजवार्तिक।

भावार्थ—कोई व्यापारी अपने घरका नाश नहीं चाहता। अगर घरमें आग लग जाती है तो उसके बुझानेकी चेष्टा करता है। परन्तु जब देखता है कि इसका बुझाना कठिन है तब वह घरकी पर्वाह न करके धनकी रक्षा करता है। इसी तरह कोई आदमी शरीरका नाश नहीं चाहता। परन्तु जब उसका नाश निश्चित हो जाता है तब वह उसे तो नष्ट होने देता है और धर्मकी रक्षा करता है। इसलिए यह आत्मवध नहीं कहा जा सकता।

इस पर कहा जा सकता है कि सर्वज्ञके विना यह कौन निश्चित कर सकता है कि यह मर ही जायगा, क्योंकि देखा गया है कि जिस रोगीकी अच्छे अच्छे चिकित्सकोंने आशा छोड़ दी वह भी जी गया है; इसलिए संशयास्पद मृत्युको सल्लेखनाके द्वारा निश्चित मृत्यु बना देना आत्मवध ही है। दूसरी बात यह है कि चिकित्सासे कुछ समय अधिक जीवनकी आशा है, जब कि सल्लेखनासे वह पहिले ही मर जायगा। अतः यह भी आत्मवध कहलाया और सल्लेखना कराने वाले मनुष्य घातक कहलाये।

निःसन्देह हम लोग सर्वज्ञ नहीं हैं परन्तु दुनियाके सारे काम सर्वज्ञके द्वारा नहीं कराये जा सकते। हम लोग तो भविष्यके एक क्षणकी भी बात निश्चित नहीं जान सकते, परन्तु काम तो ऐसे भी किये जाते हैं जिनका सम्बन्ध भविष्यके क्षणोंसे ही नहीं, युगोंसे होता है। मनुष्यके पास जितना ज्ञान और शक्ति है उसका उचित उपयोग करना चाहिये। सर्वज्ञता प्राप्त नहीं है और थोड़े ज्ञानका उपयोग नहीं किया जा सकता, ऐसी हालतमें मनुष्य बिलकुल अकर्मण्य हो जायगा। इसलिए उपलब्ध शक्तिका शुभ परिणामोंसे उपयोग करनेमें कोई पाप नहीं है। दूसरी बात यह है कि भौतिक जीवन सब कुछ नहीं है—भौतिक जीवनको सब कुछ समझनेवाले जीना ही नहीं जानते; वे जीते हुए भी मृतकके समान हैं। ऐसे भी अनेक अवसर आते हैं जब मनुष्यको स्वेच्छासे जीवनका त्याग करना पड़ता है। युद्धमें आत्म-समर्पण कर देनेसे या भाग जानेसे जान बच सकनेपर भी सच्चे वीर ये दोनों काम न करके मर जाते हैं। वह चीज जिसके लिए वे जीवनका त्याग कर देते हैं, अवश्य ही जीवनकी अपेक्षा बहुमूल्य है। इसलिए उनका यह काम आत्महत्या नहीं कहलाता। बहुत दिन हुए किसी पत्रमें हमने एक कहानी पढ़ी थी, उसका शीर्षक था "पतिहत्यामें पातिव्रत्य"। उसका अंतिम कथानक यों था—युद्धक्षेत्रमें राजा घायल पड़ा था, रानी पासमें बैठी थी। यवन सेना उन्हें कैद करनेके लिए आ रही थी। राजाने बड़े करुण स्वरमें रानीसे कहा "देवि! तुम्हें पातिव्रत्यकी कठिन परीक्षा देनी पड़ेगी।" रानीके स्वीकार करनेपर राजाने कहा कि, "मेरा जीवित शरीर यवनोंके हाथमें जावे इसके पहिले मेरे पेटमें कटारी मार दो"। रानी घबरायी, किन्तु जब शत्रु बिलकुल पास आ गये, तब राजाने कहा 'देवि! परीक्षा दो। सच्ची पतिव्रता बनो।" रानीने राजाके पेटमें कटारी मार दी और उसी कटारीसे अपने जीवनका भी अंत कर दिया। यह था 'पतिहत्यामें पातिव्रत्य' इससे मालूम होता है कि ऐसी भी चीजें हैं जिनके लिए जीवनका त्याग करना पड़ता है। आत्महत्या कायरता है परन्तु उपर्युक्त घटनाएं वीरताके जाज्वल्यमान उदाहरण हैं। इन्हीं उदाहरणोंके भीतर समाधिमरणकी घटनाएं भी शामिल हैं।

हां; दुनियामें प्रत्येक सिद्धान्त और प्रत्येक रिवाजका दुरुपयोग हो सकता है और होता भी है। बंगालमें कुछ दिन पहिले 'अंतक्रिया' का बहुत दुरुपयोग होता था। अनेक लोग वृद्धा स्त्रीको गंगा किनारे ले जाते थे और उससे कहते थे—'हरि' बोलो अगर उसने 'हरि' बोल दिया तो उसे जीते ही गंगा में बहा देते थे। परन्तु वह हरि नहीं बोलती थी इससे उसे बार बार पानीमें डुबा डुबाकर निकालते थे और जब तक वह हरि न बोले तब तक उसे इसी प्रकार परेशान करते रहते थे जिससे घबराकर वह हरि बोल दिया करती थी और वे लोग उसे स्वर्ग पहुंचा देते थे। 'अंतिमक्रिया' का यह कैसा भयानक दुरुपयोग था। फिर भी दुरुपयोगके डरसे अच्छे कामका त्याग नहीं किया जाता, किन्तु यथासाध्य दुरुपयोगको रोकनेके लिए कुछ नियम बनाये जाते हैं। अपने और परके प्राणत्यागके विषयमें निम्न लिखित नियम उपयोगी हैं—

(१) रोग अथवा और कोई आपत्ति असाध्य हो ।

(२) सबने रोगीके जीवनकी आशा छोड़ दी हो ।

(३) प्राणी स्वयं प्राणत्याग करनेको तयार हो ।

(यदि प्राणीकी इच्छा जाननेका कोई मार्ग न हो तो इस क्रिया करने वालेको शुद्ध हृदय से विचारना चाहिये कि ऐसी परिस्थितिमें यह प्राणी क्या चाहता है ।)

(४) जीवनकी अपेक्षा उसका त्याग ही उसके लिए श्रेयस्कर (धर्मादिकी रक्षाका कारण) सिद्ध होता हो ।

इसके अतिरिक्त और भी बहुतसे कारण हो सकते हैं जैसे परिचर्या न हो सकना, आदि; परन्तु उपर्युक्त कारण तो अवश्य होने ही चाहिये । इस कार्य में एक बात सबसे अधिक आवश्यक है । वह है परिणामों की निर्मलता, निःस्वार्थता, आदि । जिस जीवको प्राणत्याग करना है उसीकी भलायी का ही लक्ष्य होना चाहिये । इससे पाठक समझे हों गे कि प्राणत्याग करने और करानेसे ही हिंसा नहीं होती—हिंसा होती है तब, जब हमारे भाव दुःख देनेके होते हैं । मतलब यह कि कोरी द्रव्यहिंसा हिंसा नहीं कहला सकती । साथमें इतना और समझ लेना चाहिये कि कोरा प्राणवियोग हिंसा तो क्या, द्रव्यहिंसा भी नहीं कहला सकता । प्राणवियोग स्वतः द्रव्यहिंसा नहीं है परन्तु वह दुःखरूप द्रव्यहिंसाका कारण होता है इसलिए द्रव्यहिंसा कहलाता है । अकलंकदेवकी निम्नलिखित पंक्तियोंसे भी यह बात ध्वनित होती है—

"स्यान्मतं प्राणेभ्योऽन्य आत्मा अतः प्राणवियोगे न आत्मनः किञ्चिद् भवतीत्यधर्माभावः स्यात् इति । तन्न, किं कारणं ? तद् दुःखोत्पादकत्वात्, प्राण व्यपरोपणे हि सति तत्संबंधिनो जीवस्य दुःखमुत्पद्यते इत्यधर्मसिद्धिः ।" (तत्त्वार्थराजवार्तिक)

इसमें बतलाया है कि 'आत्मा तो प्राणोंसे पृथक है इसलिए प्राणोंके वियोग करने पर भी आत्माका कुछ (बिगाड़) न होनेसे अधर्म न होगा, यदि ऐसा कहा जाय तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि प्राणवियोग होने पर दुःख होता है इसलिए अधर्म सिद्ध हुआ ।'

इससे मालूम हुआ कि द्रव्यहिंसा तो दुःखरूप है । प्राणवियोग दुःखका एक बड़ा साधन है इसलिए वह द्रव्यहिंसा कहलाया । यह द्रव्यहिंसा भी भावहिंसाके विना हिंसा नहीं कहला सकती । जो लोग बाह्यरूप देखकर ही हिंसा अहिंसाकी कल्पना कर लेते हैं वे भूलते हैं । इस विषय में आचार्य अमृतचंद्रकी कुछ कारिकाएं उल्लेखनीय हैं—

अविधायापि हि हिंसाफल भाजन भवत्येकः ।
कृत्वाऽप्यपरो हिंसांहिंसाफलभाजनं न स्यात् ॥

एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम्।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके॥
कस्यापि दिशति हिंसाफल मेकमेव फलकाले।
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलम्॥
हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसा फलं नान्यत्॥
अवबुध्य हिंस्य-हिंसक हिंसा-हिंसाफलानि तत्त्वेन।
नित्यमवगूहमानै र्निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा॥

(पुरुषार्थसिद्ध्युपाय)

'एक मनुष्य हिंसा (द्रव्यहिंसा) न करके भी हिंसक हो जाता है—अर्थात् हिंसाका फल प्राप्त करता है। दूसरा मनुष्य हिंसा करके भी हिंसक नहीं होता। एककी थोड़ी सी हिंसा भी बहुत फल देती है और दूसरेकी बड़ी भारी हिंसा भी थोड़ा फल देती है। किसीकी हिंसा हिंसाका फल देती है और किसीकी अहिंसा हिंसाका फल देती है। हिंस्य (जिसकी हिंसा की जाय) क्या है ? हिंसक कौन है ? हिंसा क्या है ? और हिंसाका फल क्या है ? इन बातोंको अच्छी तरह समझकर हिंसाका त्याग करना चाहिये।'

यहां तक सामान्य अहिंसा का विवेचन किया गया है। जिसके भीतर महाव्रत भी शामिल हैं। पाठक देखेंगे कि इस अहिंसा महाव्रतका स्वरूप भी कितना व्यापक और व्यवहार्य है। अब हमें अहिंसा अणुव्रतके ऊपर थोड़ा सा विचार करना है जिसका पालन गृहस्थों द्वारा किया जाता है।

गृहस्थोंकी अहिंसा—

हिंसा चार प्रकारकी होती हैं—संकल्पी, आरम्भी, उद्योगी और विरोधी। विना अपराधके, जान बूझकर, जब किसी जीवके प्राण लिये जाते हैं या उसे दुःख दिया जाता है तो वह संकल्पी हिंसा कहलाती है, जैसे कसायी पशुवध करता है। झाड़ने बुहारनेमें, रोटी बनानेमें, आने-जाने, आदिमें यत्नाचार रखते हुए भी जो हिंसा हो जाती है वह आरम्भी हिंसा कहलाती हैं। व्यापार, आदि कार्यमें जो हिंसा हो जाती है उसे उद्योगी हिंसा कहते हैं; जैसे अनाजका व्यापारी नहीं चाहता कि अनाजमें कीड़े पड़ें और मरें परन्तु प्रयत्न करनेपर भी कीड़े पड़ जाते हैं और मर जाते हैं। आत्मरक्षा या आत्मीयकी रक्षाके लिए जो हिंसा की जाती है वह विरोधी हिंसा है।

गृहस्थ स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्यागी नहीं है। सिर्फ त्रस जीवोंकी हिंसाका त्यागी है। लेकिन त्रस जीवोंकी उपर्युक्त चार प्रकारकी हिंसामें से वह सिर्फ संकल्पी हिंसाका त्याग करता है। कृषि, युद्ध, आदिमें होनेवाली हिंसा संकल्पी हिंसा नहीं है, इसलिए अहिंसाणुव्रती यह कर सकता है। अहिंसाणुव्रतका निर्दोष पालन दूसरी प्रतिमामें किया जाता है और कृषि, आदिका त्याग आठवीं प्रतिमामें होता है। किसी

भी समय जैन समाजका प्रत्येक आदमी आठवीं प्रतिमाधारी नहीं हो सकता। वर्तमान जैन समाजमें हजार पीछे एक आदमी भी मुश्किलसे अणुव्रतधारी मिल सकेगा। आठवीं प्रतिमाधारी तो बहुत ही कम हैं। जैनियोंने जो कृषि, आदि कार्य छोड़ रक्खा है वह जैनी नहीं व्यापारी होनेके कारण छोड़ा है। दक्षिण प्रांतमें जितने जैनी हैं, उनका बहुभाग कृषिजीवी ही है।

कुछ लोगोंका यह खयाल है कि जैनी हो जानेसे ही मनुष्य, राष्ट्रके कामकी चीज नहीं रहता—वह राष्ट्रका भार बन जाता है। परन्तु यह भूल है यद्यपि इस भूलका बहुत कुछ उत्तरदायित्व वर्तमान जैन समाजपर भी है, परन्तु है यह भूल ही। राष्ट्रकी रक्षाके लिए ऐसा कोई कार्य नहीं है जो जैनी न कर सकता हो, अथवा उस कार्यके करनेसे उसके धार्मिक पदमें बाधा आती हो। जैनियोंके पौराणिक चित्र तो इस विषयमें आशातीत उदारताका परिचय देते हैं। युद्धका काम पुराने समयमें क्षत्रिय किया करते थे। प्रजाकी रक्षाके लिए अपराधियोंको कठोरसे कठोर दंड भी क्षत्रिय देते थे। इन्हीं क्षत्रियोंमें जैनियोंके प्रायः सभी महापुरुषोंका जन्म हुआ है। चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नव नारायण, नव प्रतिनारायण, नव बलभद्र ये त्रेसठ शलाका पुरुष क्षत्रिय थे। चौदह कामदेव तथा अन्य हजारों आदर्श व्यक्ति क्षत्रिय थे। इन सभी को युद्ध और शासनका काम करना पड़ता था। धर्मके सबसे बड़े प्रचारक तीर्थंकर होते हैं। जन्मसे ही इनका जीवन एक सांचेमें ढला हुआ होता है। इनका सारा जीवन एक आदर्श जीवन होता है। लेकिन तीर्थंकरोंमें शान्तिनाथ, कुंथुनाथ, अरनाथने तो आर्यखण्ड तथा पांच म्लेच्छ खण्डोंकी विजय की थी। भगवान नेमिनाथ भी युद्धमें शामिल हुए थे। इस युगके प्रथम चक्रवर्ती सम्राट भरतका वैराग्यमय जीवन प्रसिद्ध है। लेकिन प्राणदण्डकी व्यवस्था इन्हींने निकाली थी। जैनियोंके पुराण तो युद्धोंसे भरे पड़े हैं; और उन युद्धोंमें अच्छे अच्छे अणुव्रतियोंने भी भाग लिया है। पद्मपुराण में लड़ायी पर जाते हुए क्षत्रियों के वर्णन में निम्न लिखित श्लोक ध्यान देने योग्य है—

सम्यग्दर्शन सम्पन्नः शूरः कश्चिदणुव्रती।
पृष्ठतो वीक्ष्यते पत्न्या पुरस्त्रिदशकन्यया॥

इसमें लिखा है कि 'किसी सम्यग्दृष्टि और अणुव्रती सिपाही को पीछे से पत्नी और सामने से देव कन्याएं देख रही हैं।'

अगर जैन धर्म बिलकुल वैश्योंका ही धर्म होता तो उसके साहित्यमें ऐसे दृश्य न होते। इसलिए यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि अपनी, अपने कुटुम्बियोंकी, अपने धन और आजीविका की रक्षाके लिए जो हिंसा करनी पड़ती है वह संकल्पी हिंसा नहीं है, उसका त्यागी साधारण जैनी तो क्या अणुव्रती भी नहीं होता। इससे साफ मालूम होता है कि जैन धर्मकी अहिंसा न तो अव्यवहार्य है, न संकुचित है, और न ऐहिक उन्नतिमें बाधक है। वर्तमानके अधिकांश जैनी अपनी कायरता या अकर्मण्यताको छिपानेके लिए बड़ी बड़ी बातें किया करते हैं परंतु वास्तवमें अहिंसाके साधारण रूपके पालक भी नहीं होते। हां, ढोंग कई गुणा दिखलाते हैं। इन्हें देखकर अथवा इनके आचरण परसे जैन धर्मकी अहिंसा नहीं समझी जा सकती।

जैनाचार तथा विश्व-समस्याएं

[स्व.] डा० वेणीप्रसाद, एम ए., डी. लिट., आदि

'धर्म' शब्दकी यद्यपि अनेक परिभाषाएं की गयी हैं तथापि इसकी मनोवैज्ञानिक परिभाषा 'अनुरूप करण' अथवा 'संस्करण' शब्द द्वारा ही की जा सकती है। किन्हीं भी आध्यात्मिक सिद्धान्तोंकी श्रद्धा हो पर उनका व्यापक तथा गम्भीर क्षेत्र पूर्ण विश्व ही होता है। फलतः जहां एक ओर धर्म जीव तथा अजीवके समस्त लक्षण तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धपर दृष्टि रखता है वहीं दूसरी ओर जीवनकी उन प्रक्रियाओं तथा संस्थाओंके व्यापक आधारोंका भी विशद निरूपण करता है जिनके द्वारा मनुष्य अपने स्वरूपकी व्यक्ति करता हुआ आत्म साक्षात्कारकी ओर जाता है। इन दोनोंमें से द्वितीय आदर्शको लेकर यहां मीमांसा करना उचित है कि विश्व विकासके लिए मानवके वर्द्धमान अनुभवोंके आधारपर सुनिश्चित किये गये नियमोंका धर्ममें कहां तक समावेश हुआ है। अर्थात् धर्म सामाजिक-न्याय, क्षेम तथा सुखमें कहां तक साधक है।

१—अहिंसा—

सामाजिक दृष्टिसे जैन आचार-नियमोंका संक्षिप्त विश्लेषण करनेपर अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच अणुव्रत सामने आते हैं; अणुव्रत, गुणव्रत तथा शिक्षाव्रतोंके लक्षणादि पूर्वक विवेचनको छोड़कर यहां केवल इतना ही विचार करना है, कि सामाजिक-सम्बन्ध, दृष्टि तथा संगठन की अपेक्षासे अणुव्रतोंका क्या स्थान है, क्योंकि ये जैनाचारकी मूल भित्ति हैं। जीवके विकासके समस्त सिद्धांतोंमें अहिंसा प्रथम तथा महत्तम है इस सिद्धांतको प्राचीन आचार्योंने जिस सूक्ष्म दृष्टिसे स्वीकार किया है वह स्वयं ही उसके महत्त्वकी द्योतक है।

बल-छलकी करणी--

दूसरों को ठगने, दास बनाये रखने तथा उनसे अपनी स्वार्थ सिद्धि करानेके लिए व्यक्ति, समष्टि, वर्ग, जाति तथा राष्ट्रोंने अब तक पशुबल अर्थात् अपनी अधिकतर शारीरिक शक्तिका ही उपयोग किया है। अब तक यही मनुष्य के आपसी संबन्धों का नियामक रहा है। अर्थात् इन सबने मनुष्य होने के करण ही मनुष्य के सम्मान की तथा व्यक्तित्वके आधारसे ही व्यक्तित्वके मूल्य की उपेक्षा की है। दूसरी ओर पशुबलसे आक्रान्त पक्षने भी छद्म और छलके आवरणमें उसकी अवहेलना तथा

स्थानान्तरण किया है। बल और छल पूर्य-पूरक हैं और किसी भी सामाजिक व्यवहारका विश्लेषण करने पर एक ही घटनाके दो पक्षोंके रूपमें सामने आते हैं। छलके व्यवहार का क्षेत्र सीमित नहीं है। प्रभुता तथा शोषण की योजनामें बल द्वारा अपूर्ण अंशों की पूर्ति के लिए प्रभु लोग बलका व्यापक प्रयोग करते हैं। दासता आत्मरूप (व्यक्तित्व) की मौलिक व्यक्ति—स्वतंत्रताके विरुद्ध पड़ती है। जिसे कि 'ग्राहम वालेसन' अन्तरंग विकास, विकासकी पूर्णता तथा सरसता एवं उत्कर्षाभिलाषा और विधायकता अर्थात् आत्म रूप की प्राप्तिका प्रेरक सतत साधन कहा है। फलतः दासता प्रतिरोध को उत्पन्न करती है। प्रभु लोग प्रतिरोधके मूलस्रोतों को अशक्त करने तथा प्रचार द्वारा आज्ञाकारी बनाने का मार्ग पकड़ते हैं, अर्थात् उच्च आदर्शों की महत्ता को गिराते हैं. तथा भय, लोभ, अकर्मण्यता, स्वार्थपरता, आदि को उत्तेजना देते है। बल और छलके द्वारा मानव वृत्तियों का ऐसा अनिच्छित समन्वय हुआ है कि एक आधुनिक समाज विज्ञानीको यही निष्कर्ष निकालना पड़ा कि "बल छल ही वे सिद्धान्त हैं जिनपर अब तक मानव संस्कृति अवलम्बित रही है।"

वर्तमान युगकी प्रधान समस्या—

आधुनिक युगने उक्त निष्कर्ष की सत्यता को अधिक चरितार्थ किया है। क्योंकि विगत सौ वर्षोंमें दूर वर्ती अथवा निकट वर्ती विविध जातियों, राष्ट्रों, संस्कृतियों तथा विचार धाराओं का जैसा पारस्परिक विनाश हुआ है वही इसका प्रबल साक्षी है। समन्वय अथवा पुनर्निर्माण अनिवार्य था, किन्तु इस दिशामें किये गये प्रयत्नों का प्रेरक भी दलगत प्रतिष्ठा रही है। फलतः 'बर्ट्रण्डरसल' ऐसे महान् वैज्ञानिक एवं दार्शनिक तक को भी कहना पड़ा कि राजनीतिमें प्रभुता का सिद्धान्त उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना भौतिक विज्ञानमें शक्ति—(Energy) सिद्धान्त है।

गत दो शतियां विज्ञानके सुविदित विकासका इतिहास हैं। इस युगने उन विधायक एवं व्यवस्थापक आविष्कारोंको किया है जिनके फल स्वरूप संसारके स्त्री, पुरुष तथा बालकोंने सुख तथा मनोरञ्जन, ज्ञान एवं संस्कार और शान्ति तथा सुरक्षाको पर्याप्त रूपमें प्राप्त किया है। किन्तु शक्तियोंके उक्त आविष्कार कतिपय देशोंके कुछ विशेष वर्गोंमें ही हुए हैं और वह भी युद्धोंके विराम कालमें। कारण स्पष्ट हैं, इन्हें देश, वर्ग तथा सम्प्रदाय गत वञ्चना एवं निराशा, संघर्ष तथा घृणाके प्राचीन कुभावों का दासी बनानेके कारण ही ऐसा हुआ। स्थिति यह है कि आज मानव बिपुल साधन सामग्रियोंसे घिरा रह कर भी अकिञ्चन है तथा विशद ज्योति की सुविधाओंके सद्भावमें भी गाढ़ान्धकारसे ग्रस्त है।

निराशा एवं तज्जन्य अ-भ्रान्ति—

निराशासे उत्पन्न अ-भ्रान्ति ही वह गुत्थी है जिसे आजका विश्व दार्शनिकों तथा राजनीतिज्ञों की विभिन्न योजनाओं द्वारा सुलझाना चाहता है। पचीस वर्ष पहिले जब प्रथम विश्व-युद्ध समाप्त हुआ

था उस समय भी जनतंत्र, आत्म निर्णय, अन्ताराष्ट्रिय न्याय तथा सहकार, निःशस्त्रीकरण, युद्ध की अवैधता तथा चिरस्थायी शान्ति की साधन-सामग्री की शोध की उत्कट भावना विश्वके कोने कोने में दृष्टिगोचर होती थी। अमेरिकाके 'अध्यक्ष वुडरो विलसन' में ही उस युग की मनोवृत्ति मूर्तिमान हुई थी जिनकी वक्तृता और आदर्शवादिताने पूर्व तथा पश्चिमके समस्त देशोंमें नूतन ज्योति जगा दी थी। तथापि इस मृग-मरीचिकासे मुक्ति पाने तथा द्वितीय युद्धकी कल्पना करनेमें बीस वर्ष ही लगे। इस निराशाका कारण भी वही भूल थी जो विश्व दृढ़-बद्धमूल आर्थिक एवं राजनैतिक विकारों तथा ऊपरी लक्षणोंमें भेद न कर सकनेके कारण करता आया है। राजतंत्र एवं राजनीति का व्यवहार सदैव वेग और अस्थिरता पूर्वक चलता है फलतः राजनीतिज्ञ उस कल्पनासे ही संतुष्ट हो जाते हैं जो उन्हें स्पष्ट ही सुखद दिखती है तथा बाहर दिखने वाले काल्पनिक दोषोंका ही वे प्रतीकार करते हैं। १९१९–२०में यही अखण्ड विश्वमें हुआ था, फलतः शस्त्रीकरणकी प्रतियोगिता, गुप्त राजनीति, आक्रमण, राष्ट्रीयता, साम्राज्यवाद, सबलोंके द्वारा दुर्बलोंका शोषण, जातिमद, महासमर, आदि पुरातन दोषोंकी सन्तान चलती रही और वे अधिक विकृत रूपमें पुनः जाग उठे। विश्वकी इस असफलताका एक दुःखद परिणाम विशेष रूपसे शोचनीय है। सद्यः जात इस अ-भ्रान्तिने विश्वको आज अधिक उद्भ्रान्त बना दिया है जबकि मानव जातिके इतिहासमें यह युग ही उच्च आदर्शों तथा उदार प्रेरणाओं की अविलम्ब अधिकतम अपेक्षा करता है जैसी कि पहिले कभी नहीं हुई थी। पाश्चात्य राजनीतिज्ञ आमूल पुनर्निर्माण को अविलम्ब करनेसे सकुचाते हैं उन्हें उज्ज्वल भविष्य तथा अपने पुरुषार्थ पर भरोसा ही नहीं हैं; ऐसा प्रतीत होता है।

युद्धकी सामाजिक भूमिका—

युद्ध, शस्त्रीकरण तथा दुर्योधन-राजनीतिमें भेद करना आजकी स्थितिमें अत्यन्त दुरूह है, कारण वे पृथक् पृथक् पदार्थ ही नहीं प्रतीत होते हैं। प्रकट उद्देश्य और प्रयोगके अवसरोंकी चर्चाको जाने दीजिये, आज तो ये सब अधिकार-ज्ञापन, विवाद-शमन, आदि उन नीतियोंके साधक उपाय हो रहे हैं जो स्पष्ट ही हिंसाकी नैतिकताका पोषण करती हैं। एक दलके द्वारा दूसरे दलपर किया गया बलात्कार ही इनका आधार है। यदि विवादोंका शमन बलात्कार द्वारा होता है तो इसका यही तात्पर्य है कि आजका समाज पशुबधके सहचारी घृणा, असफलता तथा शोषणसे ग्रस्त है। इनके द्वारा अन्ताराष्ट्रिय सम्बन्ध, राष्ट्रिय संगठन, साहित्य तथा दृष्टि सर्वथा क्षत विक्षत हो गये हैं। समष्टिगत व्यवहार पर बल-छलकी ऐसी गम्भीर एवं स्पष्ट छाया पड़ी है कि यदि हमें आत्मसंस्कार करना है तो प्रथम सिद्धांतको पकड़ना चाहिये। वर्तमान संघर्षके गर्तसे निकलकर शान्ति और सम्पन्नता पानेका एकमात्र उपाय मानव व्यवहारोंका ऐसा संस्कार है जिसके द्वारा 'बल'के सिंहासनपर अहिंसाकी प्रतिष्ठा हो सके। इस तथ्यको हृदयंगम करानेके लिए भगीरथ प्रयत्न करना है।

अन्तारराष्ट्रिय अनुभवोंसे शिक्षा—

सन् १९१९ में स्थापित राष्ट्रसंघ तथा १९३४ तक चलाये गये निःशस्त्रीकरणके प्रयत्नोंने यह स्पष्ट कर दिया है कि गुप्त एवं बद्धमूल कारण 'हिंसा'का प्रतीकार किये विना प्रकट लक्षण 'युद्ध'का विनाश असंभव है। क्यों कि आज हिंसा विश्वकी समस्त दलबन्दीमें व्याप्त है। अहिंसाके उत्तरोत्तर विकासका अर्थ है राजतंत्र तथा आर्थिक व्यवस्थाकी दृष्टिसे एक दलकी दूसरे दलपर प्रभुताका अभाव तथा यूरोप, अमेरिका, एशिया, अफ्रिका तथा समस्तराष्ट्रोंको व्यावहारिक रूपसे विकास, स्वातंत्र्य तथा अवसर समताके सिद्धान्तको स्वीकार कर लेना।

अन्तस्तंत्रमें अहिंसा—

अहिंसाकी प्रतिष्ठाके बाद प्रत्येक देशकी अन्तरंग नीतिका भी नवीकरण हो जाय गा। क्योंकि स्थूल पर्यवेक्षक भी यह भलीभांति जानते हैं कि अधिकांश देशोंकी आर्थिक व्यवस्थाका आधार वहांकी बहुसंख्यक जनताका विकासके अवसरोंके समान विभाजनसे वञ्चना होती है। हमारे साम्प्रदायिक तथा जातिगत विभाजनका हेतु भी अन्ततोगत्वा बल एवं बलपूर्वक विश्वास कराना ही होता है। तथा आंशिक रूपसे पूर्व परम्परा और अभ्यास भी होते हैं। अपर्याप्त साधन सामग्रीके कारण चली आयी संकुचित राष्ट्रीयताको अब स्थान इसलिए नहीं है कि जीवनोपयोगी पदार्थोंकी विपुलताकी संभावनाके कारण वह स्वयं निरस्त हो जाती है। आज तो मानव जीवनके नये आदर्श स्थापित करने हैं। प्रत्येक स्त्री, पुरुष तथा शिशुका योग-क्षेम अभीष्ट है, उन्हें आत्म-विकासके अधिकसे अधिक अवसर समान रूपसे जुटाने हैं। इसे अहिंसा सिद्धान्तके अतिरिक्त और कौन कर सकता है; क्यों कि यह सब उसका स्वरूप ही है।

अहिंसाका विधायक रूप—

यद्यपि 'अहिंसा' [न+हिंसा] शब्द निषेधात्मक है तथापि उसकी शिक्षा केवल निवृत्तिपरक नहीं है अपितु व्यवहार दृष्टिसे सर्वथा प्रवृत्तिपरक है तथा जिसके सुप्रभावसे सुदूर भविष्य भी अस्पृष्ट नहीं रह सकता। अहिंसा किसी भी देशकी सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्थाओंके पारस्परिक सम्बन्धोंका पुनरुद्धार कराती हुई उसके अन्तरंग तंत्रमें आमूल परिवर्तनके लिए प्रेरित करती है। यह अनिवार्य है कि संस्थाओंके पुनर्निर्माणके साथ-साथ हमारी दृष्टि अथवा जीवन विषयक मान्यतामें भी तदनुरूप परिवर्तन हो। जैसा कि 'प्लैटो तथा एरिष्टोटल' को अभीष्ट 'सब प्रकारकी संस्थाओं के अपने विशेष गुण तथा तदनुरूप नैतिकता होनी चाहिये" कथनसे सिद्ध है। यदि किसी संस्थाकी अपनी नैतिकता न हो तो उसकी सजीवता लुप्त हो जाती है और वह पुनर्निर्माण यन्त्रवत् जड़ हो जाता है, तथा अन्ततोगत्वा वह प्रभावहीन अथवा प्रतिगामी हो जाता है। अतः अहिंसाको आदर्श बनाना अनिवार्य है वह किसी भी सिद्धान्ताका अन्यथा बोध अथवा आचरण नहीं होने दे गी।

अहिंसाका क्षेत्र—

उक्त विवेचनका यह तात्पर्य नहीं है कि मानव व्यवहार सर्वथा बल प्रयोगमय ही है। ऐसा होनेपर वस्तु-व्यवहार असंभव हो जायगा। और न समाज ऐसे वातावरणमें चल सकेगा। आदर्श कुटुम्ब अथवा उससे बड़ा अन्य परिवार अथवा समाजके निर्माणके लिए पुष्कल मात्रामें पारस्परिक सहानुभूति एवं सहायता, स्नेह एवं सान्त्वना तथा उत्सर्ग एवं बलिकी सदैव आवश्यकता होती है। विशेष ध्यान देने योग्य बात यही है कि उक्त गुण आजके सामाजिक जीवनमें पर्याप्त मात्रामें नहीं है, उसमें तो पशुबलकी कीट ही बहुत अधिक प्रतीत हो रही है। अतएव इस कीटको निकालकर सामाजिक गुणोंके लिए स्थान करना है। समाजके आर्थिक वातावरण तथा व्यक्तिगत जीवनमें एक आवश्यक अंग-अंगिभाव है; यह भी सबके गले उतरना चाहिये। व्यक्तित्व सामाजिक वस्तु है अर्थात् वह समाजसे उत्पन्न होती है। फलतः वह सामाजिक संघटनमें अन्तर्निहित है।

केवल उपदेश और प्रेरणाही किसी समाजमें नैतिक जीवनका संचार करनेके लिए पर्याप्त नहीं हैं; यह अनादि अनुभव है। यह बीज भी उपयुक्त भूमि, जलवायु एवं वातावरणकी अपेक्षा करता है, यही अहिंसाके प्रस्तावकी वस्तुस्थिति है। पूर्ण मानव समाजका वास्तविक अहिंसामय जीवन तब ही संभव है जब कि विश्वके सामाजिक व्यवहार तथा संस्थाओंकी नींव भी अहिंसापर हो। ऐसी परिस्थितिमें अहिंसाका सार होगा मानवको बल प्रयोगको अपनी प्रकृतिसे सर्वथा मुक्त करके युक्ति, प्रेरणा, सहिष्णुता, सहायता तथा सेवाके भावोंसे ओत प्रोत कर देना।

२—सत्य—

अहिंसाके सिद्धान्त का यथार्थता अथवा सत्यसे घनिष्ट सम्बन्ध है। ऊपर देख चुके हैं कि आक्रमक का बल-प्रयोग आक्रान्त को छलिया बनाता है। यह भी ज्ञात है कि बल बहुधा अपनी लक्ष्य सिद्धिमें असफल ही रहता है, तथा छल और भ्रमका सहारा लेना इसका स्वभाव है। यह वस्तुस्थिति "युद्धमें सब उचित है" इस लोकोक्तिकी पृष्ठभूमि है। समस्त संभव सूत्रोंका उपयोग युद्धमें अंतर्निहित है। आजके युगमें युद्ध 'सर्व-स्वामी' हो गया है अर्थात् बौद्धिक, नैतिक तथा भौतिक समग्र साधनोंकी पूर्णाहुतिका सहारा लेता है। शस्त्रीकरण का भार प्रारम्भमें जनमतको त्रस्त करके अव्यवस्थित सा कर देता है, किन्तु सर्व-स्वामित्व गुण सम्पन्न आधुनिक युद्ध बादमें जनमतके समर्थनके महत्त्वको स्वयं बढ़ाता है और वह सतत सावधानी स्पष्ट हो जाती है जिसके साथ वर्तमान राज्यों की व्यवस्थित प्रभुशक्ति मनोवैज्ञानिक प्रचार द्वारा जनता की स्वीकृति को उत्पन्न कर लेती है। फलतः "युद्ध सबसे पहले सत्यकी हत्या करता है" यह उक्ति सर्वथा चरितार्थ है।

अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा उन्नीसवीं शतीका श्रेष्ठ स्थायी कार्य है। किन्तु उसका सुफल प्रचारके भूतसे दब गया है जिससे आजका सम्पूर्ण वातावरण व्याप्त है। तथा जिसका अनुभव 'ध्वनि क्षेपक यंत्र' द्वारा जल, थल और नभमें किया जा सकता है। देशोंके अंतरंग शासनकी स्थिति भी इस दिशामें बहुत

अच्छी नहीं है। भाषण शैलीका आदर्श निर्वाचनोंमें निम्नतम रूप धारण कर चुका है और कभी कभी 'राजसभा' तथा 'दास-शासन'के नीचतम षडयन्त्रों की सीमामें प्रवेश कर जाता है। ऐसी स्थितिमें सत्यका मार्ग भी अहिंसाके समान साधक है। "सत्यमेव जयते" सूक्ति तथ्य है क्योंकि अन्तमें सत्य की ही विजय देखी जाती हैं। किन्तु मनसा, वाचा, कर्मणा पाला गया सत्य सफलता का सरल मार्ग है ऐसा अर्थ करना भ्रान्ति होगी। आज के समय में यथार्थ अथवा सत्य का मार्ग कण्टकाकीर्ण है। इसमें विरोध, दमन और कष्ट हैं। वह धैर्य, आत्मबल तथा मुनियों ऐसे तप की अपेक्षा करता है।

असत्य मनुष्यकी वह दुर्बलता है जिसका उद्गम पशुबल से है, और पशुबलके विनाशके साथ ही विनष्ट हो सकती है। घरेलू जीवनमें मनुष्य आज भी सत्य बोल सकता है, किन्तु इससे विश्व की गुत्थी की एक ही पाश खुलती है। वर्तमान समस्याके दो पक्ष हैं अर्थात् १—जन साधारणको अपने घरेलू तथा सामाजिक जीवनमें शुद्ध यथार्थता, सत्यता और स्पष्टकारितासे चलने योग्य वातावरण उत्पन्न करना तथा २—सभा, राजतान्त्रिक दल तथा शासनाको भी उक्त सिद्धान्तानुकूल ढंगसे कर्त्तव्य पालन करना सहज कर देना। विशेषकर इन्हें परराष्ट्र नीतिमें भी उसी सत्यता एवं स्पष्ट वादितासे व्यवहार करनेका अभ्यस्त बनाना जिसे वे व्यक्तिगत जीवनमें वर्तते हैं। समाज हितकी दृष्टिसे भी सत्यके उपयुक्त परिस्थितियां उत्पन्न करना आवश्यक है। इससे दूर भविष्यमें ही भला न होगा अपितु तुरन्त ही इसके सुफल दृष्टिगोचर होंगे। एक ही पक्ष जीवन नहीं है, विविध पक्ष परस्पर सापेक्ष हैं और घटनाओंका एक अपरिहार्य चक्र है, यह तथ्य पुनः हमारे संमुख आ खड़ा होता है। अतएव यथा संभव कुप्रवृत्तियों के चक्रको नष्ट करना हमारा धर्म है। राष्ट्रिय तथा अन्ताराष्ट्रिय व्यवहारमें सत्यके उन्नत स्तरको प्राप्त करना उचित और आवश्यक है। सत्य व्यवहार की जितनी प्रगति होगी उतनी ही सरलतासे समाजको वर्तमान अधोमार्गसे निकाल करके उच्चतर युक्ति एवं नैतिकताके सुपथपर लाया जा सकेगा।

३—अस्तेय—

अहिंसा तथा सत्यमय पुनर्निर्माण इस बातकी विशद कल्पना करता है कि प्रत्येक मनुष्य परस्परके व्यवहारमें दूसरोंके स्वत्वों (अधिकारों) को स्वभावतः सुरक्षित रखे। अचौर्य (अस्तेय) अणुव्रतका आत्मा यही है। यद्यपि शब्दार्थ चोरीका त्याग ही होता है तथापि गूढ़ तथा सार अर्थ यही है कि मनुष्य दूसरेके अधिकारोंका अपहरण न करे। तथा 'सर्वभूतहिते रतः' ही रहे।

इसके लिए 'स्वत्व' अथवा अधिकारोंके स्वरूपको दार्शनिक दृष्टिसे समझना आवश्यक है। संक्षेप में कह सकते हैं कि व्यक्तित्वके विकासमें उपयोगी सामाजिक परिस्थितियोंका नाम ही 'स्वत्व' है। फलतः सर्व साधारणको 'स्वत्व' अर्थात् उचित सामाजिक परिस्थितियोंको समानरूपसे पानेका जन्मसिद्ध अधिकार है। स्वत्वोंका सम्बन्ध केवल व्यक्तिसे नहीं है अपितु वे समष्टिकी सम्पत्ति हैं क्योंकि सामाजिक

चेष्टा ही उनकी जन्म तथा स्थितिका प्रधान कारण है। मनुष्य मात्रके लिए प्रशस्त जीवनोपयोगी परिस्थितियां यदि देनी हैं तो व्यक्तिको इन्हें अपने लिए ही नहीं जुटाना चाहिये अपितु ऐसा आचरण करना चाहिये कि दूसरेकी स्थिति भी अक्षुण्ण रहे। इतना ही नहीं प्रत्येक व्यक्तिको दूसरेके लिए अधिकतम सुविधा देनी चाहिये।

जो अपना 'स्वत्व' है वही दूसरेके प्रति कर्त्तव्य है। इस प्रकार स्वत्व और दायित्व अन्योन्याश्रित हैं क्योंकि वे एक ही तथ्यके दो पक्ष हैं। एक ही प्रवृत्ति स्वार्थ दृष्टिसे स्वत्व और परार्थ दृष्टिसे दायित्व होती है। वे सामाजिक गुण हैं और सबके प्रशस्त जीवनकी आवश्यक-भूमिका हैं। इनके 'पूर्वाऽपरत्व' की चर्चा निरर्थक है क्यों कि उनका आधार एक ही है तथा वे 'पूर्य-पूरक' हैं। यदि सब स्वत्वोंके भूखे होकर कर्त्तव्योंकी उपेक्षा करेंगे तो सबके स्वत्व आकाश-कुसुम हो जांय गे। यह मानव जीवन की प्रथम सीढ़ी है जिसपर सबको पुनः सावधानीसे पैर रखना है। दूसरेके स्वत्वोंका ध्यान रखना भी अहिंसामय व्यवहार है; यह मुखोक्त है।

४–ब्रह्मचर्य—

स्वत्वोंका ध्यान तथा कर्त्तव्य पालन पर-प्रेरणासे ही सदैव नहीं चल सकते, 'नैतिकताकी स्थापना' इस संदर्भमें आत्मविरोध है क्योंकि नैतिक आचरणोपयोगी परोक्ष परिस्थितियां जुटाना ही तो शक्य है। सुविदित है कि अहिंसाका व्यापक व्यवहार सर्वथा बल प्रयोगहीन बातावरणमें ही हो सकता है किन्तु नैतिकताका अन्तरंग रूप बाह्य रूपसे सर्वथा भिन्न है इसकी उत्पत्ति अन्तरंगसे होती है। आत्म नियन्त्रण सामाजिक जीवनका उद्गम स्थान है जिसे हम व्यापक रूपमें ब्रह्मचर्याणुव्रतका पालन कहते हैं।

चारित्र—

भलायी अथवा बुरायी जीवका स्वभाव नहीं है वह तो परिणमन शक्ति सम्पन्न है अर्थात् चारित्रके लिए कच्ची मिट्टी है। सरसता तथा सन्तुलनका ही नाम विकास है जो कि व्यापक तथा वर्द्धमान वातावरणके सामञ्जस्यका अंश होता है। नैतिक दृष्टिको कसौटी बनानेके निश्चित उद्देश्यसे इसमें समस्त सहज वृत्तियोंका समिश्रण हो जाता है जिसका परिणाम विवेक और प्रवृत्तिका समन्वय होता है। इसमें वृत्तियोंका पारस्परिक सन्तुलन भी होता है। इस सन्तुलन और सम्मिश्रणसे उस एकरस प्रवृत्तिका उदय होता है जिसे 'आत्मबल' कहते हैं। वह विविध इच्छा शक्तियोंका एक रूप होता है। सुपुष्ट निश्चित आत्मशक्ति ही चरित्रकी सर्वोत्तम परिभाषा है। आत्म-दमनकी प्राचीन परम्पराके विरुद्ध कतिपय अध-कचरे लोगों द्वारा उठाया गया 'इच्छापूर्तिवाद' भी चारित्रका आधार नहीं हो सकता। क्योंकि इच्छापूर्तिवादकी विविध कोटियां है जो अनवस्थाकर हो सकती हैं और सहज ही उन मर्यादाओंको नष्ट कर सकती हैं जिनकी स्थिति चिरस्थायी सुख-शान्तिके लिए अनिवार्य है।

व्यक्तित्वका साध्य अर्थात् आत्मव्यक्तिका एक उद्देश्य उस उच्चतर सामाजिक सहिष्णुतासे एकतानता है जिसे परोपकारिता, बलिदान, सेवा, आदि नामोंसे कहते हैं। ये ही व्यक्तित्वका श्रेष्ठतम रूप हैं। यह अनुशासन तथा आत्मानुशासनका मार्ग है। इसमें तथा प्रबल बलप्रयोगमें बड़ा भेद है। जबरदस्तीके फल पतनोन्मुख नैराश्य तथा निरोध भी हो जाते हैं। किन्तु 'कलम-करने' के समान संयम मानवजीवन रूपी वृक्षमें नूतन पत्र तथा पुष्प आदि द्वारा श्रीवृद्धि ही करता है।

वासना-शान्ति--

यदि मनुष्य प्रत्येक वासनाकी पूर्ति करने लगे, वातावरणसे प्राप्त प्रत्येक उत्तेजनासे आकुल होने लगे, तो जीवन विरोध, चंचलता तथा लघुता(उथलेपन) अवास्तविकताकी क्रीड़ास्थली बन जाय गा। जीवनके मूल स्रोत दबे ही रह जांयगे और लघुताका साम्राज्य हो जाय गा। फलतः अन्य विकासोंके समान आत्म नियन्त्रण ही मानवकी एकमात्र गति है। उसे भले बुरेका विवेक करना होगा। विवेक करनेकी वृत्ति अपनानी पड़ेगी और अपने मनोवाञ्छितोंमें एकतानता लानी हो गी। हेय वृत्तियोंसे मनको हटा कर उपादेय वृत्तियोंमें तल्लीन करना हो गा। हेय वृत्तियोंके लिए जिस उत्साह शक्तिका उभार उठता है उसे उपादेय वृत्तियोंके परिपोषणकी ओर बहाना हो गा। अतृप्त वासनाओंके कारण उत्पन्न उत्कण्ठाकी धाराको तृप्त वृत्तियोंके संतोषसरमें मिलाना होगा।

लोकाचारको समझते ही बालकमें वासनाका उचित निकार प्रारम्भ हो जाता है। जहां पुरुषमें शक्ति, प्रेरणा तथा उत्कण्ठा बढ़ती हैं वहीं उसमें विवेक, नैतिक-निर्माण तथा आत्म-संयमका भी विकास होता है। वासना शान्ति निरोधका नैतिक व्लोम है। वासना, आकांक्षा तथा वृत्तियोंके निरोधका अभाव जीवन शक्तिको इतस्ततः बिखेर दे गा, विकासको रोकदे गा और दैहिक संघननको नष्ट कर दे गा। यदि इनका बलवत् निरोध किया जायगा तो भी जीवन जटिल हो जाय गा, आन्तरिक द्वन्द्वों तथा अनेक-तानताकी सृष्टि होगी और वे स्वप्न, दूषित अभिप्राय, आकुलता एवं विपथगामिताके रूपमें फूट पड़ें गे। अतएव वासना-शान्ति स्वाभाविक प्रकार है जो व्यक्तित्वको अक्षुण्ण रखते हुए संयमकी ओर ले जाता है। न्यूनाधिक रूपसे सभी वासना शान्ति करते हैं किन्तु वह सर्वांग नहीं होती या किसी निश्चित सीमापर ही रुक जाती है क्योंकि न तो उसके पीछे आदर्श या निश्चित संकल्प रहते हैं और न उच्चतर जीवन व्यतीत करनेकी भावना तथा उसकी प्रेरणा एवं उद्देश्य होते हैं। वास्तवमें वासना-शान्ति; नैतिक आकांक्षा तथा विकासानुगामिनी शक्ति एवं सर्वाङ्गीण वृद्धिका सम्मिश्रण है। आपाततः यह जीवन व्यापी उत्तेजनाको शान्त करता है और शुभ, अशुभ भावोंकी वृद्धि होने देता है। आदर्श स्पष्ट और और दृढ़ होते हैं। सर्वाङ्गीणी जीवनमें सहज ही सजीवता आ जाती है। मनुष्यका चतुर्मुख निर्माण

सहज हो जाता है जिसपर नैतिकता फलती फूलती है। जिसके अभावमें व्यक्ति ज्ञान, कुशलता तथा महत्त्वकांक्षाके उस स्तरपर चला जाता है जो उसकी जन्मजात योग्यताओंसे बहुत नीचा होता है।

वासना शान्ति स्वयमेव विकास है क्योंकि यह नैतिक स्तरको उठाती है तथा अर्धज्ञात एवं अज्ञात[१] वासनाओंको जीवनधाराको पतनोन्मुख करनेसे रोकती है। यह वर्हिमुख विवेकको अन्तरंगसे संयुक्त करती है फलतः जीवनमें वासना, तीव्र-भाव तथा आदर्शोंकी एकतानता बनी रहती है। रोधक भावों का लय अथवा रूपान्तर जीवनमें पूर्णताका प्रवेश कराता है। फलस्वरूप व्यक्तित्वके विकास और स्वातंत्र्यकी धारा बनी रहती है। व्यक्तित्वमें नैतिकताका उदय होता है. गुणोंकी दृष्टिसे व्यक्ति सर्वथा परिवर्तित हो जाता है तथा व्यक्ति और वातावरणके बीचके खिंचावकी इतिश्री हो जाती है। सब गुणोंके विकास तथा एकतानता जन्य व्यक्तित्वका एकमात्र आधार होनेके कारण यह कुमार्गोंकी संभावनाको समाप्त कर देता है तथा आनन्दस्रोतको खोल देता है। क्योंकि वृत्तियों तथा अभिप्रायोंकी जटिलता तथा संघर्षसे ही तो औदासीन्य उत्पन्न होता है।

अनुशासन—

वासना शान्ति अनुशासनकी सहचरी है, शक्तिकी निर्मापक साधु कर्तृत्व-वृत्तियोंका समाज सेवामें समुचित उपयोग करती है जिसका महत्व सर्वविदित है। अनुशासन स्वयं कृत आत्मसंयमका सार है। और बाह्य निरोधके विरुद्ध है। बाह्य अभ्याससे अनुशासन नहीं होता। जब सबके भलेमें मनुष्य अपना भला देखता है तो वह आत्म-अनुशासनकी वृद्धि करता है और इस मार्गमें दृढ़तासे बढ़ता जाता है। अनुशासन विधायक गुण है निषेधपरक नहीं। इसके द्वारा मानव शक्तियोंका समुचित उपयोग होता है और वह लगन तथा दायित्व भावनासे आप्लावित हो जाता है। इसके कारण व्यक्तिगत तथा समष्टि-गत चेतनाकी एकता हो जाती है। इसमें विवेककी ही प्रधानता रहती है अर्थात् मनुष्य समझता है कि जातिसे क्या तात्पर्य है, विविध परिस्थितियों द्वारा पुरस्कृत कठिनाइयों, स्थितियों तथा विभिन्न व्यक्तियोंमेंसे किसे चुनना, और अपने निश्चित आदर्श तथा सुलभ साधन सामाग्रीका सामञ्जस्य कैसे करना। बुद्धि तथा नैतिकताकी अन्योन्यरूपताका अनुशासन उत्तम दृष्टान्त है। सामाजिक मान्यताएं, संस्थाओंका उद्देश्य तथा परिस्थितियोंका ऐसा स्पष्ट बोध होना चाहिये कि उसका जीवनमें उपयोग हो सके। अनुशासनबद्ध व्यक्ति अपनी योग्यताका दान करता है और अनायास ही सामाजिक जीवनमें सदा नैतिकताका संचार करता है।

आत्म नियन्त्रण [संयम]—

व्यवहारिक जीवनमें अनुशासनको ही संयम कहते हैं। सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक जीवनमें उन्नत स्तरकी नैतिकताकी सृष्टि करता है। यदि नागरिकोंमें संयम न हो तो उनके संचालक नियम तथा प्रथाएं व्यर्थ हो जांयगी। किन्तु इसका विकास तथा पोषण आवश्यक है क्योंकि

१—यद्यपि यह नामकरण वैज्ञानिक नहीं है।

उस आर्थिक व्यवस्थाका आधार तथा पोषक संयम ही हो गा जो विश्वभरके प्राणियोंकी क्षेम कुशलकी स्थापनाका कारण हो गा।

५–अपरिग्रह––

ब्रह्मचर्यसे जात संयम पंचम अणुव्रतको अनिवार्य कर देता है। अनेक दृष्टियोंसे अपरिग्रह की व्यवस्था जैनधर्मकी अपनी देन है। भोगोपभोगोंके होनेपर भी आत्म नियमन, प्रलोभनोंका दार्शनिक त्याग, उथलेपन तथा विषयातिरेकसे औदासीन्य ही तो तर-तम रूपसे अपरिग्रहके लक्षण हैं। लक्षणकार आचार्योंने यही कहा है कि मनुष्य अपनी वाह्य विभूतिमें अति आसक्त न हो, और प्रलोभनोंकी उपेक्षा करे। मनुष्य जीवनकी आवश्यकता पूर्तियोग्य सम्पत्ति तथा साधन सामग्री रखे वाह्य अर्जनमें आत्म विस्मृत न हो जाय। और पक्षपात, ईर्ष्या, लोभ, दम्भ, भय, घृणा तथा लघुताका त्याग करे। इस अणुव्रतका पालक व्यक्ति सम्पत्ति अथवा साम्राज्यके लिए घृणित एवं वासनामय प्रतियोगिता कदापि न करेगा; जो कि वर्तमान युगकी महा व्याधि है और अनेक महान आपत्तियोंकी जननी है। इस व्रतके कारण होनेवाली मनोवृत्ति वर्तमान युगके लिए अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि इसीके द्वारा निष्ठुर एवं सर्वग्रासी भौतिक वादका निरोध संभव है। विज्ञानने उत्पादन बढ़ाया है तथा इतस्ततः वस्तुओंकी अतिमात्रा भी कर दी है। आजके उद्योगों तथा व्यापारोंने नगरोंकी सृष्टि की है जहां जीवनमें शीघ्रकारिता ही नहीं है कृत्रिमता भी पर्याप्त है। मनुष्य ऐसी जड़ शक्तियोंकी पाशमें पड़ गया है जिन्हें समझना उसे कठिन हो रहा है। आजके व्यापक रोग अर्थात् मानसिक विकार एवं आंशिक या पूर्ण शिथिलता उसे दबाते ही जा रहे हैं। प्रशस्त जीवनके लिए संग्राम अति क्लिष्ट हो गया है और उसी त्यागके बलपर लड़ा जा सकता है जिसे पंचम अणुव्रत सिखाता है। थोड़ेसे दृष्टिभेदके साथ हम इसे 'सम्यक्-विभाजन-ज्ञान' अथवा योग्यताओंकी प्रामाणिकताका मापक कह सकते हैं।

चारित्रकी पूर्णता––

उक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि अणुव्रत अन्योन्याश्रित तथा परस्परमें पूर्य-पूरक हैं। एकके आचरणका अर्थ सबका आचरण होता है तथा दूसरोंके विना एक व्यर्थ हो जाता है। अहिंसाकी प्रधानता है क्योंकि यह प्रशस्त जीवनका मूलाधार है। जैन तथा बौद्ध धर्ममें यह मानवतासे भी व्यापक है क्योंकि इसमें चेतनमात्रका अन्तर्भाव होता है। संयत जीवनकी अहिंसक भाव तथा दृष्टि मूलकता इसकी परिपूर्णताका जीवित दृष्टान्त है। अस्तेय तथा अपरिग्रह अहिंसाके समान शब्दसे ही निषेधात्मक हैं व्यवहारमें पूर्ण रूपसे विध्यात्मक हैं। पांचों अणुव्रत एक संयत तथा आध्यात्मिक जीवनको पूर्ण बनाते हैं जो कि पूर्ण आत्मोत्थानका साधक तथा अनन्त आत्मगुणोंकी सत्य शोधके अनुरूप होता है।

———

जैनधर्मकी ओर एक दृष्टि

श्री प्रा० सीताराम जयराम जोशी, एम० ए०, साहित्याचार्य

एक समय था जब मानव समाजकी प्रगति धर्म मूलक थी। भारत पर बाहरी आक्रमण रूके अभी पूरी शती भी नहीं बीती है पर यहां धर्म या मजहबके नाम पर बड़े बड़े आपसी झगड़े हो चुके हैं और अभी भी उसीके नाम पर लोग एक दूसरेसे अपने दुर्भावको प्रकट करते आ रहे हैं। यह हुई मानव समाजकी भूलकी कथा। किन्तु इस संसारमें धर्म किस लिए प्रवृत्त हुआ ? क्या उसने मनुष्यके कल्याण संपादनके बदले अनर्थ ही खड़े किये हैं ? आदि प्रश्न विचारणीय हैं।

धर्मकी परिभाषा,--

धर्मकी यह सुन्दर व्याख्या सबके लिए माननीय है कि धर्म वह है जिसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयसका लाभ होता है, अभ्युदयमें धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्गका समावेश है। निःश्रेयस यह मोक्षका अपर पर्याय है। अर्थ और काम यह इस लोकमें सर्वाङ्गीण उन्नतिके मूल हैं; यदि वे दोनों धर्मके साथ बिल्कुल संबद्ध हों। यहां पर थोड़ा विचार करना होगा कि धर्मके भीतर अभ्युदय और अभ्युदयके अन्तर्गत धर्म यह कैसे संभव है ? इसका उत्तर विचारने पर यह होगा कि एकही 'धर्म' शब्द व्यापक तथा संकुचित अर्थमें प्रयुक्त है। व्यापक शब्दका अर्थ है 'मनुष्यका चरम लक्ष्य, और संकुचित अर्थमें धर्म युक्तायुक्त विवेकसे संबद्ध है। मनुष्यका अन्तिम लक्ष्य चतुर्वर्ग पुरुषार्थ प्राप्ति है। उसमें लोकभेदसे इहलोक और परलोक माने गये हैं। जीव इस संसारमें जब तक मनुष्य देहको धारणकर विचरण कर रहा है तब तक उसका जगत इह है। मरनेके बादका लोक पर है। इसलिए यहां पर हम जो विवेचना करेंगे वह पुनर्जन्म व परलोक को गृहीत मानकर हो गी। जैनधर्म कर्म मूलक परलोक तथा पुनर्जन्म मानने वालोंमें अग्रणी है इसलिए यहां पर जो लिख रहे हैं वह उसको मान्य है ही, अस्तु।

सृष्टिचक्र--

इस संसारमें प्राणिमात्रके लिए अत्यन्त आवश्यक तथा नैसर्गिक दो पुरुषार्थ हैं जो सभीको अभीष्ट हैं और सभी उन दोनोंको हृदयसे चाहते हैं वे हैं 'अर्थ और काम'। मानव जगत्की पूरी कोशिश इन दोनोंके लिए है, थी और रहेगी। अर्थ और कामके विना जीवनका एक क्षणभी बीत नहीं सकता। तब इनका स्वरूप क्या होगा यह निर्धारणीय विषय है। इस सृष्टिमें या इस निसर्गमें यह नियम स्वभावसे ही अनुस्यूत

है कि पदार्थ मात्र एक दूसरेके उपकारके लिए हैं। यह बात आधुनिक विज्ञानने भी सिद्ध की है। विज्ञान हमें बतला रहा है कि वनस्पति वर्ग और प्राणि वर्ग परस्पर उपकार्योपकारक भावको रखते हैं। निसर्गकी शुद्ध प्राण वायुको सेवन कर प्राणिगण उसको गंदी बनाकर बाहर फेकते हैं। इस गंदे वायुका नाम पाश्चात्य विज्ञानमें कार्बोनिक गैस है। इसीका सेवन वनस्पति करते हैं। उसमें विद्यमान नैत्रोजन नाम की वायु वनस्पति वृद्धिमें नितान्त आवश्यक है। वनस्पतिमें यह धर्म निसर्ग सिद्ध है कि वे नैत्रोजनको पृथक्कर उसका सेवन करते हैं। और पृथक्-करणके द्वारा प्राण वायुको फिर रिहा कर देते हैं जो कि फिर प्राणिमात्रको सदाके लिए काममें आता है यह एक चक्र है जो निसर्गको घटनामें सदाके लिए अनुस्यूत है। पेड़ अपने फलोंका उपयोग अपने लिए नहीं करते हैं। बादल समुद्रके खारा जलको लेकर हजार गुना मीठा पानी जमीन पर बरसाते हैं। इस प्रकारकी निसर्ग रचनासे हम क्या शिक्षा ले सकते हैं?

स्वार्थ त्याग तथा परोपकार—

एक धनिकके पास कुबेरकी संपत्ति है केवल इतने ही से क्या, वह सुखी होगा? अपनेको कृत-कृत्य मान सकेगा? कदापि नहीं। उस धनको यदि वह अपने शरीरकी तथा मनकी इच्छाओंको तृप्त करनेके लिए काममें लावे और इस प्रकार काम पुरुषार्थका लाभ करनेकी कोशिश करे तो धनका कुछ उपयोग जरूर हुआ। अब ये मनकी इच्छाएं उसकी जिस प्रकारकी हों गी इसपर उसका सुख निर्भर होगा। उदात्त इच्छा वह मानी गयी है जिसका प्रत्येक निसर्ग हमारे सामने मौजूद है। 'परोपकाराय सतां विभूतयः' सज्जनोंके अवतार परोपकारके लिए ही हैं। 'सन्तः स्वयं परहिते विहिताभि योगाः' सज्जन स्वयं अपनेको दूसरेका हित करनेमें जोतते हैं। इत्यादि वचन उदात्त ध्येयकेद्योतक हैं। इस सांसारिक जीवनमें उदात्त प्रकारकी जीवन यापना प्राचीन कालसेही वह मानी गयी है जिसमें त्याग बुद्धि हो। इस प्रकारकी त्याग बुद्धिको रखनेवाले और निबाहने वाले त्यागी अर्थात् 'सन्त' पदसे संबोधित होते हैं। ऐसे महान् त्यागी पुरुष सभी धर्मोंमें विद्यमान हैं चाहे वे पुनर्जन्म और परलोक माने या न माने।

जैनधर्मका सार त्याग—

इस त्यागमें जैनधर्मके सिद्धान्त और आदेश अग्रसर हैं। बल्कि जैनधर्म दृढ़ताके साथ इस गुण को संपादन करनेका आदेश साग्रह दे रहा है। इनके चोबीस तीर्थकरोंमें तीन हमें इतिहास द्वारा ज्ञात हैं और त्यागके मूर्तिमान् प्रतीक हैं। त्यागकी उच्च श्रेणी उनके यहां वहां तक पहुंची कि उनको दिगम्बर रहनेका उपदेश दिया। शरीरको दंश करनेवाले मशक, आदि कृमियोंका भी निवारण हिंसाके भयसे निषिद्ध किया गया। इस प्रकार अपने शरीरको कष्ट देकर भी क्षुद्र प्राणियोंकी भी हिंसा टाल दी गयी तब कायिक हिंसा वा वाचिक और मानसिक हिंसाके विषयमें कहनेका कोई अवसर ही नहीं है। इस प्रवृत्तिके मूलमें जो रहस्य भरा हुआ है वह बहुत ही उच्च दर्जेका है। वह यह है कि इस नश्वर शरीरके द्वारा अनश्वर तत्त्वका लाभ

करे जो सब प्राणिमात्रमें विद्यमान है। 'कृमि-कीटकोंमें रहनेवाला चैतन्य तथा मनुष्य शरीरमें रहनेवाला चैतन्य एक है' यह भावना अन्यथा किस प्रकार दृढ़ हो सकती है? यदि यह भावना दृढ़ हो जाय गी तो फिर मनुष्यको इच्छा देहमें सीमित होकर नहीं रह सकती है। उसकी वासनाएं बिल्कुल निर्मूल हो जाय गी और उस पुरुषको मोक्ष रूपी श्रेष्ठ पुरुषार्थ सुकर तथा सुलभ हो गा।

जैन तप,––

जैनधर्मकी तीसरी उपादेय वस्तु 'तप' या 'तपस्या है। तप अर्थात् शरीरको तपाना अर्थात् कष्ट देना। शरीरको वृथा कोई कष्ट न देगा। देहकी उपेक्षा तभी होगी जब उससे अधिक कोई महत्वकी चीज वैसा करनेसे प्राप्त होती हो। विद्यार्थी विद्यालाभके लिए शरीरको तभी कष्ट देंगे जब उनको पूरा विश्वास होगा कि वैसा करनेसे वे अपना अगला जीवन सुखसे व्यतीत करनेमें समर्थ हों गे। स्वादिष्ठ पक्वान्न भक्षण करनेकी इच्छा रखनेवालोंको रसोई बनानेका शारीरिक कष्ट करना होगा। इस प्रकारके शरीरको दिये हुए कष्टभी 'तपस्' शब्दसे बोधित हो सकते हैं। खासकर विद्यार्जनके लिए किये हुए कष्ट या क्लेश तपके भीतर आते हैं। किन्तु तप या तपस्या इनसे भी अधिक महत्त्वके लाभोंकी ओर संकेत कर रहा है। लाभ वही प्रशस्त माना गया है जिसका फिर नाश नहीं होता वह है शाश्वतिक लाभ। शरीरके बाहरकी सभी चीजें चाहे वे कितनेही महत्त्वकी हों—जैसे राज्यपद, अगाध-सम्पत्ति, अप्रतिहत सामर्थ्य, आदि जिनका अन्तर्भाव पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा इन एषणात्रयमें किया गया है। ये सब अशाश्वत हैं। सदाके लिए रहनेवाले नहीं हैं। शाश्वतिक पद एक है जिसको प्राप्त करनेके बाद प्राप्तव्य ऐसी कोई चीज फिर नहीं प्रतीत होती। उसीको आत्यन्तिक सुख कहते हैं। अथवा जिसके प्राप्त करनेसे दुःखका पूर्ण अभाव हो जाता है। यही सभी धर्मोंका चरम लक्ष्य है। और इसीकी प्राप्तिके लिए संसारके सारे धर्म प्रवृत्त हुए हैं। किसी धर्मसे इसकी प्राप्ति देरीसे होता हो और किसीके द्वारा शीघ्र। जब चरम लक्ष्य इस प्रकार एक है तो वहां पहुंचनेके मार्गोंके लिए झगड़ा मचाना यह शुद्ध भूल है। जितने शीघ्र इस भूलको सुधारें उतना ही अधिक श्रेयस्कर है।

रत्नत्रय ही साध्य;—

इन्हीं तीन बातोंको जीवन यापनके प्रधान साधन मानकर जैनधर्म बतला रहा है कि इस शाश्वतिक सुख अथवा निश्रेयसकी प्राप्ति सम्यग्ज्ञान सम्यग्-दर्शन और सम्यक् चारित्रके अभ्यासके द्वारा कर ले। किस धर्मके लिए ये बातें उपादेय नहीं हैं। मानव समाजके धर्मका चरम लक्ष्य जब तक यह था तब तक मानवता का मार्ग उन्नत रहा और साथ साथ सुख समृद्धि रही। जबसे मानव इस चरम लक्ष्यसे च्युत होकर मानव स्वभावमें रहनेवाले द्वेष, लोभ, मत्सरादिसे अभिभूत हुए और क्रोध मदादिकके सहायतासे चरम लक्ष्यके

संपादनमें साधनीभूत उपायोंके लिए झगड़ने लगे तभीसे धर्मयुद्धका बीज बोया गया। जिसका फल महाभारतादि युद्धसे लेकर इस बीसवीं सदीके दो महायुद्धों तक परिणत हुआ। इन्ही बातों पर पूर्ण विचार कर महात्मा गांधी दृढ़ विश्वाससे कहते थे कि सत्य, अहिंसा और समता द्वारा ही संसारमें शांति स्थापित हो गी और उसका संपादन त्याग और तपस्याके द्वारा ही हो गा। न कि पाशवी बलके प्रयोगसे। कौन नहीं कहता कि इस मार्गमें जैनधर्म और बौद्धधर्म दोनों अग्रसर हैं। और कौन सा धर्म नहीं है जो इसे नहीं माने गा यदि उसके अनुयायी मानवीय स्वार्थ वश होकर संसारके कल्याण की ओर दृष्टि न दें।

धार्मिकता का पुनरुत्थान,

सारा संसार त्रिगुणात्मक है। यदि हम कहें कि संसारसे रजोगुण और तमोगुण को मिटा दें गे तो हमारा यह कथन विवेकसे कोसों दूर रहे गा। हां; इतना संभवप्राय है कि यदि अथक कोशिश करें तो सत्त्वगुण समृद्ध होकर अन्य दोनों को अभिभूत करे। यह जब होगा तभी विश्वमें शान्ति स्थापित हो गी। पाशवी बलके प्रयोगसे आज तक संसार का कल्याण कभी न हुआ है; न आगे होगा। इससे यहां पर यह नहीं समझना चाहिए कि निःश्रेयस्के संपादनमें अभ्युदयसे हाथ धो बैठें। ये दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं। विना सच्चे अभ्युदयके निःश्रेयस्की कल्पना ही वृथा है। जैनधर्म करता है, त्याग तभी संभव है जब पासमें पूंजी हो। अभ्युदय रूपी पूंजी पर्याप्त प्रमाणमें रहनेके बाद ही निःश्रेयस् की चर्चा हो सकती है। अभ्युदयमें प्रधान अर्थ और काम हैं। उनका संपादन धर्मके साथ होना चाहिए। और इस विधिके चलाने वाले प्रभावशाली पुरुष अधिकसे अधिक इस संसार में उत्पन्न हों गे तभी इसका उद्धार होगा। इस समय इसी चेष्टा की परम अवश्यकता है। और हम विश्वासके साथ कह सकते हैं कि जैनधर्म इस कार्यमें परम सहायक होगा और है। मानवताके कल्याणके लिए महात्मा गांधीके सदृश हजारों व्यक्तियों की आवश्यकता है। परंतु उसके लिए कठिन तपस्या की नितान्त आवश्यकता है। जिसपर सबसे अधिक जोर जैनधर्म ही दिया है।
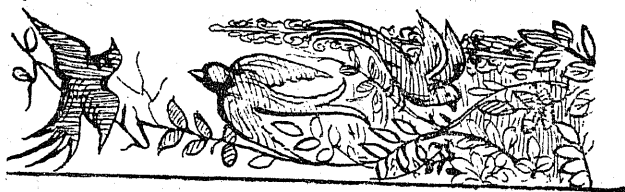
वेदनीय कर्म और परीषह—

श्री पं०, इन्द्रचन्द्र शास्त्री, न्यायतीर्थ

तत्त्वार्थ सूत्रमें सात तत्त्वोंका वर्णन किया गया है। मुमुक्षु प्राणियोंको सात तत्त्वोंका बोध होना आवश्यक है। तत्वोंका वर्णन करते हुए उमास्वामीने तत्त्वार्थसूत्रके नौवें अध्यायमें संवर तत्त्वका वर्णन करते हुए गुप्ति-समिति-धर्म-अनुप्रेक्षा-परीषहजय, आदिको संवरमें कारण बताया है। आस्रवका निरोध करना ही संवर है और निरोध न होने पर आस्रव होता है। अर्थात् परीषहजय संवरका कारण है; इससे विपरीत परीषह आस्रवमें कारण है। "आस्रव निरोधः संवरः' इस सूत्रकी व्याख्या श्री सिद्धसेन गणीने निम्न प्रकार की है।

'कायादयस्त्रयः इन्द्रियकषायाऽव्रतक्रियाश्च पञ्चचतुः पञ्चपञ्चविशंतिः संख्या तेषां निरोधः संवरः।" अर्थात् योग, इन्द्रिय, कषाय, अव्रत, क्रियाएं आस्रवमें कारण हैं। इसका निरोध करना संवर है। संवर कैसे होता है? इसके लिए 'स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परीषहजयचरित्रैः' सूत्रका प्रतिपादन किया गया है। इस सूत्रक्रमसे स्पष्ट ज्ञात होता है, कि योग, आदि आस्रवके कारणोंके विरोधी गुप्ति, समिति आदि हैं। अतः परीषहको आस्रवमें और परीषहजयको संवरमें कारण मानना उचित है। आस्रवसे बंध होता है. बंधका कारण मोहनीय कर्म है। अतः परीषहको आस्रवमें कारण मानने पर मोहनीय का साहचर्य आवश्यक है। विना मोहनीयके परीषह-आस्रव और बंधमें कारण नहीं हो सकतीं।

परीषहका लक्षण—-

"परीति समन्तात् स्वहेतुभिरुदीरिता मार्गाच्यवननिर्जरार्थंसाध्वादिभिः सह्यन्त इति परीषहः।"

'समन्तादापतिताः क्षुत्पिपासादयः सह्यन्त इति परीषहः।' (तत्त्वार्थाधिगम अ० ९ सू० २)

परीषहके इन लक्षणोंमें सह्यन्ते' इस पदसे ज्ञात होता है कि परीषह क्लेशरूप हैं। उस क्लेशके अनुभवको "सहन करना" पदसे प्रकट किया है। 'सहन करना" शब्दका प्रयोग उसी स्थान पर किया जाता है जहां दुःखरूप क्लेश होता है, जहां क्षुधा, आदि क्लेशरूप नहीं वहां सहन करना शब्द निरर्थक ही होगा। जब कुछ है ही नहीं तो सहन किसका किया जाय? पारीषहसे क्लेश रूप परिणाम होते हैं। उन संक्लेश परिणामों पर जब विजय कर ली जाती है, तब वह परीषहजय कहलाती है और वही

संवरका कारण है। जबतक संक्लेश रूप परिणाम रहते हैं, तब तक परीषह है, और तभी तक आस्रव होता है। संक्लेश रूप परिणामों पर विजय होनेसे संवर होता है। अतः क्षुधाजन्य बाधा वा संक्लेश परिणामको क्षुधा परीषह कहते हैं। क्षुधाका संबंध वेदनीयसे है, बाधा जो कि दुःख रूप है, उसका संबंध मोहनीयसे है। अतः वेदनीय और मोहनीय दोनों कर्मोंसे क्षुधा परीषह हो सकती है।

वेदनीय और मोहनीयका संबंध—

"घादिव वेदणीयं मोहस्स बलेन घाददे जीयं।" —कर्मकाण्ड

अर्थात्—वेदनीयकर्म मोहनीयके बलसे घातिया कर्मोंकी तरह जीवोंके गुणोंका घात करता है। क्षुधाकी बाधामें बाधा वेदनीयका काम नहीं हो सकता। उसे मोहनीयकी अपेक्षाकी आवश्यकता है। यदि दुःख और सुख रूप वेदन केवल वेदनीयका हो कार्य माना जाय तो वेदनोयको जीव विपाकी होनेके कारण घातिया कर्म स्वीकार करना चाहिये। जीव विपाकी होनेसे वेदनीयका फल मोहनीयके अभावमें भी जीवमें अवश्य होगा और दुःखरूप वेदन जीवमें होनेसे जीवके गुणोंका घात भी अवश्य होना चाहिये। दुःख रूप वेदन हो और गुणोंका घात न हो यह कैसे संभव हो सकता है। वेदनीयमें जीवके गुणोंको घातनेकी या सुख दुःख वेदनकी शक्ति मोहनीय कर्मके ही कारण है। मोहनीयके अभावमें वह शक्ति से रहित हो जाता है।

'क्षपिताशेषघातिकर्मत्वान्निशक्तीकृतवेदनोयत्वात्।' —धवला टी॰खं॰ १ पृ॰ १९१।

धवलाके इस प्रकरणसे ज्ञात होता है कि वेदनीय कर्म स्वतंत्र सुख दुःख रूप वेदनकी शक्ति से रहित होता है। वेदनीय कर्म अपनी फलदायिनी शक्तिमें सर्वथा स्वतंत्र नहीं है। जिन अघातिया कर्मोंको फल देनेमें घातिया कर्मोंकी अपेक्षा रहती है, वे घातिया कर्मोंके नष्ट हो जानेपर अपनी फल दायिनी शक्तिसे रहित हो जाते हैं। नामकर्म अघातिया कर्म है, नामकर्मके उदयसे इन्द्रियोंकी रचना होती है। इन्द्रियां अपने व्यापारमें वीर्यान्तराय और ज्ञानावरणके क्षयोपशमकी अपेक्षा रखती हैं। जब तक वीर्यान्तराय और ज्ञानावरणका क्षयोपशम नहीं होता तब तक इन्द्रियां कार्य नहीं कर सकतीं। ज्ञानावरण और अंतरायके क्षय हो जानेपर इन्द्रियोंका कोई व्यापार या फल नहीं होता है। उनका अस्तित्व नहींके बराबर है। केवली अवस्थामें इन्द्रियोंका कोई फल नही है। अतः मोहनीय कर्मके अभावमें वेदनीय कर्म शक्ति रहित हो जानेके कारण फलदायक नहीं होता। केवली अवस्थामें वेदनीयका अस्तित्व द्रव्येन्द्रियकी तरह नाम मात्रके लिए रह जाता है।

राजवार्तिकमें अकलंकदेवने वेदनीय और मोहनीयके क्रमका कारण बताते हुए वेदनीयको ज्ञान दर्शन गुणका अव्यभिचारी बताया है। और मोहनीयको विरोधी बताया है। इसका कारण मैं पहिले लिख चुका हूं कि मोहनीयके बलसे वेदनीय कर्म सुख दुःखकी वेदना करा सकता है। इससे यह बात सिद्ध

होती है कि जब वेदनीय मोहनीयका सहचारी रहता है उस समय वह अपने कार्यमें व्यापार करता है, और ज्ञानादि गुणका घात करता है। मोहनीयके अभावमें वेदनीय अपने कार्यमें व्यापार नहीं करता इसीलिए वह ज्ञानादि गुणका अव्यभिचारी है। इसका कारण यह भी है कि वेदनीय मोहनीयके कारण ही जीव विपाकी कहलाता है।

कर्मकाण्डमें अठत्तर प्रकृतियोंको जीव-विपाकी बताया है उसमें वेदनीयकी साता और असाता भी जीव विपाकी हैं। इन जीव विपाकी प्रकृतियोंके उदयसे इनका फल जीवमें पड़ता है। अतः जीवके औदयिक भावोंमें साता असाताको भी सम्मिलित किया गया है या नहीं? यह विचारणीय हैं। उमास्वामीने औदयिक भावोंके भेद गिनाते हुए "गति कषाय लिंग मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकै-कषट् भेदाः" सूत्रका प्रतिपादन किया है। इस सूत्रमें गिनाये हुए इक्कीस भाव ही औदयिक होते हैं। यह मान्यता श्वेताम्बरोंको भी मान्य है। इन इक्कीस औदयिक भावोंमें वेदनीयके साता असाता रूप सुख दुःखको शामिल नहीं किया गया है। इसका कारण यही है कि सुख दुःख रूप परिणाम जब जीव विपाकी होते हैं तब मोहनीयके कारण कषाय रूप ही होते हैं। कषायके अभावमें वेदनीयका असर जीवमें नहीं पड़ता। इसीलिए वेदनीयको ज्ञान दर्शनादि गुणका अव्यभिचारी और मोहनीयको बाधक बताया है। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि क्षुधादि परीषहोंमें वेदनीय और मोहनीय दोनोंका साहचर्य्य है। केवल वेदनीयसे परीषह नहीं हो सकती।

वेदनीयका लक्षण—

"अक्खाणं अणुभवणं वेयणियं सुहसरुवयं सादं।
दुखसरुव मसादं वं वेदयदीदि वेदणियं॥" —गो० द० १४

श्वेताम्बर आचार्य भी इन्द्रियजन्य सुख दुःखको वेदनीयके कारण मानते हैं। वेदनीय जन्य सुख दुःखकी वेदनाका प्रभाव इन्द्रियोंके द्वारा ही होता है। वेदनीय जन्य सुख दुःख वास्तवमें इन्द्रियोंका ही सुख दुःख कहा जाता है। इन्द्रिय सुखके नामसे ही इसका व्यवहार होता है। जिस इन्द्रियका अभाव हो गा उस इन्द्रिय जन्य सुख दुःखका भी अभाव उसमें पाया जाना चाहिये। जहां किसी भी इन्द्रिय-अनिन्द्रियका व्यापार नहीं पाया जाता है, वहां उस सम्बन्धी सुख दुःख नहीं पाया जाता। वहां वेदनीयके प्रभावसे सुख दुःखका वेदन किसी भी तरहसे संभव प्रतीत नहीं होता है। इसलिए जहां इन्द्रियोंके व्यापारका अस्तित्व है और मोहनीय कर्म विद्यमान है वहीं परीषहकी परिभाषा घट सकती है। जहां मोहनीयका सद्भाव नहीं है वहां परिषहका सद्भाव कल्पना मात्र है।

यह भी संभव नहीं कि मोहनीयके अभावमें शुद्ध वेदनीयका कार्य साता असाता रूप रह सके। यह मैं पहिले लिख चुका हूं कि वेदनीय जीव-विपाकी है और उसका फल जीवमें पड़ना चाहिये।

क्षुधा, आदि अनन्त बलकी विरोधी हैं। क्षुधासे अनन्त बलमें बाधा अनिवार्य है अतः हम वेदनीयका फल मोहनीयके अभावमें सक्रिय किसी भी तरह नहीं मान सकते। क्षुधाकी वेदना हो और जीवमें उसका फल न हो यह संभव नहीं है। यदि जीवमें फल स्वीकार करते हैं तो क्षुधा का कार्य अनन्त बलमें बाधा होता है, वह भी मानना पड़ेगा, ऐसा मानने पर विरोध आता है। अतः मोहनीयके विना न तो वेदनीय की प्रकृतियां जीव विपाकी होती हैं और न परीषहमें ही कारण होती हैं। वास्तवमें परीषह शब्द ही मोहनीयके साहचर्य का द्योतक है।

परिषहका सम्बन्ध केवलीसे नहीं है--

इसके साथ यह भी विचारना चहिये कि उमास्वामी ने संवरके भेद प्रतिपादन करते हुए— 'स गुप्ति समिति धर्मानुप्रेक्षा परिषहजय चारित्रैः।' सूत्र का प्रतिपादन किया है। इस संवरके प्रकरणमें गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षाकी अपेक्षा केवलीके नहीं है, अंतरायके क्षय हो जानेसे अनन्त बलके सद्भावसे परिषह जय करने का प्रश्न नहीं है। दूसरा सूत्र है 'मार्गाच्यवन निर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः।' इस सूत्रमें परीषह क्यों सहन करना चाहिये, इसके दो कारण बताये हैं। १–संवरके मार्गसे च्युत न होनेके लिए २–निर्जराके लिए परीषह सहन करना चाहिये। परीषह सहन करनेके लिए इन दोनों कारणोंकी केवलीमें कोई अपेक्षा नहीं है। संवरके मार्गसे च्युत होने का तो वहां प्रश्न ही नहीं है। निर्जरा भी केवलीके परीषह जयसे नहीं होती है। अतः परीषह जयका जो वर्णन किया गया है वह केवली की अपेक्षासे नहीं माना जा सकता। परिषहोंका कर्मोंके अनुसार विभाजन करते हुए सामान्य रूपसे वेदनीय कर्म की अपेक्षासे कुछ वर्णन किया गया है। पूर्वापर संबंधकी अपेक्षा उसका जो विशेषार्थ किया जाता है, उस अर्थ को खोंचातानी का अर्थ नहीं कहा जा सकता।

इसके साथ यह भी विचारणीय है कि यतः परीषहों का संबन्ध असाता वेदनीय से है, अतः असाता वेदनीयका उदय केवली अवस्थामें कार्यकारी हो सकता है या नहीं? असाता-वेदनीयके उदयको सफल बनानेमें अंतराय कर्मके उदयकी भी आवश्यकता होती है। यदि असाता का उदय हो और किसी तरहका अंतराय उपस्थित न हो तो उस असाताका कोई असर नहीं हो सकता। असाता अंतरायकी उपस्थितिमें ही कार्यकारी होता है, किंतु अंतरायके क्षय हो जाने पर असाता उदयका कोई वास्तविक असर नहीं हो सकता। केवलीके अंतरायका पूर्ण क्षय हो चुका है, फिर वहां असातावेदनीय जन्य क्षुधा, आदि परीषह रूपमें कैसे कार्यकारी हो सकती हैं?

परिषहोंका कर्मोंसे सम्बन्ध--

तत्त्वार्थ सूत्रके नवमें अध्यायके नवमें सूत्रमें बाईस परीषहोंका वर्णन है, इसके बाद १०,११,१२ इन तीन सूत्रोंमें किन किन गुणस्थानोंमें कौन कौनसी परीषह हो सकती हैं, यह बतलाया गया है। १३ से

१६ वें सूत्र तक कर्मोंके साथ परीषहोंके विभाजनमें दूसरे कर्मोंका सम्बन्ध रहने पर भी सहायक कर्मको विभाजनमें स्थान नहीं दिया गया। जिस कर्मका जो कार्य है, उसकी मुख्यता लेकर ही परीषहोंका विभाजन किया गया है। कोई भी परीषह केवल किसी एक कर्मका फल नहीं हो सकती। प्रत्येक परीषहके साथ असाता वेदनीयका उदय होना आवश्यक है। जब तक असाता वेदनीयका उदय न होगा तब तक परीषहके कारण भी उपस्थित न हों गे। इसके लिए अन्तराय भी अ-विनाभावी है। असाताका उदय होनेपर भी यदि मोहनीयका उदय न होगा तब तक दुख रूप अनुभव भी न होगा और दुख रूप अनुभवके न होनेपर उसके सहनेका प्रश्न ही नहीं उठ सकता। फिर परीषहकी कल्पना ही निरर्थक हो गी। अतः प्रत्येक परीषह के होनेपर इन कर्मोंकी अपेक्षा आवश्यक है। इन कर्मोंका परीषहोंसे सम्बन्ध कहीं सहायक रूपसे और कहीं मुख्य रूपसे वर्णन किया जाता है। किसी कर्मकी मुखयता लेकर उस कर्मसे इतनी परीषह होती है, ऐसा वर्णन किया गया है।

'क्षुदादयोऽदर्शनान्ताः प्रत्यक्षीकृता द्वाविंशतिरिति न न्यूना नाधिकाः क्षमादि दशलक्षणकस्य धर्मस्य विघ्नहेतवः—अन्तरायकारणभूताः। केचिद् रागादुदयमापादयन्ति केचिद्द्वेषादिति, अतः सर्व एवैते प्रादुष्यन्तः समापतिताः समन्तात् परिषोढव्याः भवन्तीति।" —तत्वार्था टीका पृ० २२९।

अर्थात् क्षुधा परीषहसे लगाकर अदर्शन परीषह तक न एक कम न एक ज्यादा पूरी बाईस परिषह क्षमादि दश लक्षण धर्मके विघ्नमें कारण हैं। अन्तरायके कारणभूत हैं। इन बाईस परीषहोंमें से कुछ तो रागके उदयसे होती हैं और कुछ द्वेषके उदयसे होती हैं इसलिए ये सब बाईस परिषह जोकि चारों तरफसे आती हैं, वे सब सहनीय हैं!

श्वेताम्बर आचार्यकी इस टीकासे ज्ञात होता है, कि वे पूरी बाईस परीषहोंको क्षमादि दश लक्षणधर्ममें विघ्न कारक मानते हैं। साथ ही मोहनीयका उदय भी आवश्यक बताते हैं। इसलिए यह कभी संभव नहीं हो सकता कि केवल वेदनीयके उदयसे परीषह कार्यरूपमें परिणत हो सके। यहां पर "परिषोढव्या भवन्ति" इस पदसे और भी स्पष्ट हो जाता है, कि ये परिषह सहनीय होती हैं। पहिले यह लिख चुका हूं कि मोहनीयका उदय परीषहोंमें आवश्यक है, और सुख दुखका अनुभव मोहनीय कर्मसे होता है, इसलिए परीषहोंको सहनीय शब्दसे युक्त किया गया है। परीषहजय शब्द ही वेदनीयके साथ मोहनीयका द्योतक है! श्वेताम्बर आम्नायमें स्वोपज्ञ भाष्यकी मान्यता है।

एते द्वाविंशति धर्मविघ्नहेतवो यथोक्तं प्रयोजनमभिसन्धायरागद्वेषौ निहत्य परिषोढ़व्या भवन्ति।" —स्वोपज्ञभाष्य पृष्ठ २२९।

यहां पर "रागद्वेषौ निहत्य परिषोढव्या" इस पदसे स्पष्ट ज्ञात होता है, कि परीषह जय राग और द्वेषको विजय करनेसे होता है। परीषह जयकी यही प्रक्रिया है। इसी भाष्यकी टीकामें श्वेताम्बर

आचार्यने स्वीकार किया है, कि कुछ परीषह रागके और कुछ द्वेषके उदय होनेसे होती हैं। यदि केवल वेदनीय कर्मसे तेरहवें गुणस्थानमें परीषह मानी जाय तो फिर परिषह जयकी वहां सम्भावना ही नहीं रहे गी। असाताका उदय होनेसे असाता जन्य परीषह बराबर फल देती रहे गी। उन परीषहों पर विजय करनेका यहां कोई साधन नहीं है। अतः केवली अवस्थामें परिषह जयकी संभावना ही नहीं मानना चाहिए।

फलितार्थ—

श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों सम्प्रदायोंके आचार्योंने परीषहके आने पर राग द्वेषको दूर करना ही परिषह जय कहा है। तेरहवें गुणस्थानमें राग द्वेषका सर्वथा अभाव होता है। अतः केवली अवस्थामें वेदनीय कर्म रहने पर भी परिषहोंकी संभावना नहीं होती।
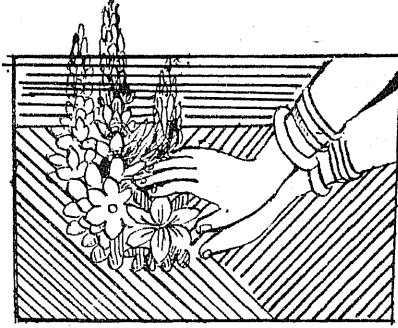
अहिंसाकी साधना

श्री दौलत राम 'मित्र'

जो जितने क्षेत्रमें स्थित प्राणियोंको सुख पहुंचा सके वह उतने क्षेत्रका शासक समझा जाता है, इस दृष्टिसे विचार करने पर विश्वका शासक वह हो सकता है, जो विश्वमें स्थित प्राणिमात्रको सुख पहुंचा सके। सारांश यह है कि संसारी (भौतिक जीवन बद्ध दुःखी) प्राणियोंको सुख रूप चार पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम-तथा मोक्ष) प्राप्त करना है। इनमेंसे धर्म, अर्थ तथा काम ये तीन पुरुषार्थ (भौतिक जीवन संबंधी सुख) तो सुराज्यकी शासन नीतिके द्वारा भी प्राप्त हो सकते हैं[1] किंतु चौथा नहीं। अतएव अंतिम परम पुरुषार्थ मोक्ष (सदाके लिए दुःखमुक्ति) है, वह जिसकी शासन नीतिके द्वारा प्राप्त हो सके, विश्वका शासक वही हो सकता है! वह कौन है? वह है—वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशिता। इन तीन विशेषताओंका धारक जिनदेव[2] और उनकी शासन-नीति-संस्कृति[3] है अहिंसाकी साधना। जो कि प्राणिमात्रको वर्तमान जीवनमें पारस्परिक अभयदान देती हुई अंतमें मोक्ष प्राप्त करा देती है।

अंतिम जिनदेव श्री वर्द्धमान महावीरने आजसे २५०० वर्ष पूर्व श्रावण कृष्णा प्रतिपदाको राजगृही (बिहार) में भव्य जीवोंको इसी अहिंसाकी साधनाका उपदेश दिया था। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, ये सब अहिंसाकी साधनाके भेद हैं।[4] व्रत, संयम, धर्म, निवृत्ति, चारित्र, ये सब अहिंसाकी साधनाके नामांतर हैं।[5] मोक्ष इच्छुकोंको अहिंसाका सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके यथाशक्ति अहिंसाकी साधना करके मोक्षमार्ग पर लगना चाहिये।

---

१. "धर्मार्थ कामफलाय राज्याय नमः।" (नीति वाक्यामृत १।७ सोमदेवसूरि)

२. "मोक्षमार्गस्य नेत्तारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुण लब्धये॥" (तत्वार्थसूत्र उमास्वामि)

३. "संस्कृतिका फल है किसी निर्दिष्ट मार्ग पर सरलतासे जा सकनेकी योग्यताका प्राप्त हो जाना। संस्कृति 'सु' और 'कु' दोनों प्रकारकी हो सकती है। सु-संस्कृति सुमार्ग पर ले जाय गी और कु-संस्कृति कुमार्ग पर ले जाय गी।
संस्कार, हृदयकी तन्मयता-जीवन व्यवहार, ये सब संस्कृतिके रूप हैं।" (ले०)

४ आत्म परिणाम हिंसन, हेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृत वचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय॥" (पु. सि. ४२)

५ पंचाध्यायी २, श्लो. ७५५-५८। ७६४-६५।

अब प्रश्न होता है कि क्या अहिंसाकी साधना शक्य है या अशक्य ? क्योंकि संसारी जीवोंके द्वारा हिंसा तो अनिवार्य है, कहा है, "ऐसी कोई भी क्रिया नहीं जिसमें हिंसा न होती हो।[१]" "संसारमें वह कौन है जिसने पाप (हिंसा) न किया हो ? जिसने पाप न किया वह किस तरह जिया, यह तो बताओ ?[२]

किन्तु ऐसा नहीं है कि संसारी जीवोंके द्वारा अहिंसाकी साधना एकदम असंभव है। यदि ऐसा होता तो संसारी जीवोंका मुक्त होना असंभव हो जाता तथा क्यों साधनाके बलपर गांधीजी उसी निष्कर्ष पर पहुंचते जिसे जैनाचार्योंने पुकार पुकार कर कहा था। तथा जैसा कि उनके निम्न कथनसे स्पष्ट है —

"अगर अहिंसा धर्म सच्चा धर्म है तो हर तरह व्यवहारमें उसका आचरण करना भूल नहीं बल्कि कर्तव्य है। व्यवहार और धर्मके बीच विरोध नहीं होना चाहिये। धर्मका विरोधी व्यवहार छोड़ देने योग्य है। सब समय सब जगह सम्पूर्ण अहिंसा संभव नहीं, यों कहकर अहिंसाको एक ओर रख देना हिंसा है, मोह है, अज्ञान है। सच्चा पुरुषार्थ इसमें है कि हमारा आचरण सदा अहिंसाके अनुसार हो। इस तरह आचरण करने वाला मनुष्य अंतमें परमपद (मोक्ष) प्राप्त करे गा। क्योंकि वह संपूर्णतया अहिंसाका पालन करने योग्य बने गा। और यों तो देहधारीके लिए संपूर्ण अहिंसा बीजरूप ही रहे गी। देहधारणके मूलमें हिंसा है। इसी कारण देहधारीके पालने योग्य धर्मका सूचक शब्द निषेधवाचक "अ-हिंसा" के रूपमें प्रकट हुआ है।"

"बेशक किसी न किसी प्राणीकी किसी न किसी रूपमें हिंसा तो अनिवार्य है। जीव जीवों पर जीते हैं इसलिए और महज इसी लिए बड़े बड़े द्रष्टाओंने उस स्थितिको मोक्ष कहा है जिसमें जीव शरीरसे मुक्त हो,—उस शरीरसे जिसका पालन-संवर्धन करनेके लिये हत्या या हिंसा अनिवार्य होती है। फिर भी मनुष्यके लिए इसी शरीरमें रहते हुए उस पदकी आशा करना असंभव भी नहीं, यदि वह हिंसाकी मात्रा घटाकर कमसे कम कर दे। वह जितना ही जानबूझकर तथा बुद्धि पूर्वक अपने आपको ऐसी हिंसासे दूर रक्खे गा जिसमें अपने निर्वाहके लिए दूसरे प्राणियोंकी हत्या होती हो, उतना ही परमपद (मोक्ष) के नजदीक हो गा। सम्भव है मनुष्य जाति ऐसा जीवन पसंद न करेगी जिसमें कुछ भी आकर्षण (प्रवृत्ति) न दिखायी दे, परन्तु इससे उक्त कथनको बाधा नहीं पहुंचती। वे लोग जो कि पूर्णतः ऐसा निस्वार्थ जीवन व्यतीत कर रहे हैं, और प्राणिमात्रके प्रति करुणामय व्यवहार करते हैं, हमें आत्माके परमपद (मोक्ष) का माहात्म्य समझनेमें सहायता करते हैं। वे मनुष्य जातिको ऊंचा उठाते हैं और उसके आदर्श पथको आलोकित करते हैं।"

---

१ "साक्रिया काऽपि नास्तीह यस्यां हिंसा न विद्यते" (यशस्तिलक चं० उत्तरार्द्ध पृ० ३३५)

२ "नाकरदाह गुनाहदर जहां कीस्त बिगी। आं कसकि गुनाह न कर्द चूं जस्ति बिगीं ॥"

"जीव तो सर्वत्र भरे हुए हैं ऐसी दशामें यदि भावोंके ऊपर बंध और मोक्ष निर्भर न होता तो कौन कहां रहकर मोक्षको प्राप्त करता ?"[1]

"यदि राग द्वेषादि परिणाम न हो, आचरण यत्नपूर्वक हो, तो केवल प्राण पीडनसे हिंसा नहीं हो सकती है, अथवा कोई हिंसक नहीं कहा जा सकता है ।"[2] "यदि शुद्ध परिणाम वाले जीवको भी केवल द्रव्य (शरीर द्वारा होने वाली) हिंसाके संबंधसे पापका भागी माना जावेगा तो कोई अहिंसक बन ही नहीं सकेगा ।"[3] "सूक्ष्म जीव तो पीडित नहीं किये जा सकते, और स्थूल जीवोंमें से जिनकी रक्षा की जा सकती है, की जाती है; फिर संयमीको हिंसाका पाप कैसे लग सकता है ? अर्थात् नहीं ही लगता है "[4]

"जीवोंका घात न करता हुआ भी अधिक पापी (हिंसक) होता है और जीवोंका घात करता हुआ भी न्यून पापी होता हैं, यह केवल संकल्पका फल है, जैसे धीवर और किसान ।"[5]

इन बातोंपरसे यह प्रमाणित होता है कि—संसारी जीवोंके द्वारा अहिंसाकी साधना संभव है ।

अहिंसाके साधकोंकी योग्यता—

अहिंसाके साधक दो तरहके हैं, एक 'अणु' साधक दूसरे 'महा' साधक । अणु-साधक संज्ञी पचेंद्री पशु तथा मनुष्य दोनों ही हो सकते हैं और महा-साधक सिर्फ मनुष्य हो सकते हैं ।

ज्ञान-संहनन[6]—

मनुष्यके पास दो उपादान शक्तियां हैं एक ज्ञान दूसरी संहनन । बस इन्हीं दो शक्तियोंके बलपर मनुष्य हिंसा या अहिंसाका साधक बनता है । जैसे १—जिसका ज्ञान (दृष्टि विज्ञान) असम्यक् होगा और संहनन उत्तम न होगा वह हिंसाका अणु साधक होगा ।

---

१ "विष्वग्जीव चिते लोके क्व चरन् कोऽप्यमोक्षत ।
भावैकसाधनौ बधमोक्षौ चेन्नाभविष्यताम् ॥"
(सागार ध० ४, २३) ।

२ "युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि ।
न हि भवतु जातु हिंसा प्राणव्ययरोपणादेव ॥" (पु. सि. ४५)

३ "जइ सुद्धस्स य बंधो होहिदि वहिरंगवत्थुजोएण ।
णत्थिदु अहिंसगो णाम वाउ—कायादिवध हेदू ॥"

४ "सूक्ष्मा न प्रतिपीड्यन्ते प्राणिनः स्थूलमूर्तयः ।
ये शक्यास्ते विवर्ज्यन्ते का हिंसा संयतात्मनः ॥" (त. राजवा०)

५ "अघ्नन्नपि भवेत्पापी निघ्नन्नपि न पाप भाक् ।
अभिध्यानविशेषेण यथा धीवरकर्षकौ ॥" (यश. चम्पू.)

६. शारीरिक संगठन

२—जिसका ज्ञान असम्यक् होगा और संहनन उत्तम होगा वह हिंसाका महा साधक होगा।

३—जिसका ज्ञान सम्यक् होगा और संहनन उत्तम न होगा वह अहिंसाका अणु साधक (उपासक) होगा।

४—जिसका ज्ञान सम्यक् होगा और संहनन उत्तम होगा वह अहिंसाका महा साधक होगा।

वास्तवमें तो हिंसा या अहिंसाके साधक मनुष्यके पास मुख्य शक्ति एक 'उत्तम संहनन" है। जिसे दूसरे शब्दोंमें शूरत्त्व या वीरत्व कहते हैं। अतएव कहा है—

"जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा" अर्थात् हिंसा-प्रवृत्ति-में जो शूरवीर हो सकते हैं वे ही अहिंसा-निवृत्ति-धर्म-में शूरवीर हो सकते हैं।

"जिनतें घर माहिं कछू न बन्यो—
तिनतें बनमाहिं कहा बनिहैं ?"
"करें वह कर्म गर तो पहुंच जावें सातमें दोज़ख।
करें सद कर्म पावें मोक्ष, शूरा इसको कहते हैं।"

(दौलतराम मित्र)

"देखी हिस्टरी इस बातका कामिल यकीं आया।
जिसे मरना नहीं आया उसे जीना नहीं आया॥"

"हिंसा करनेका पूरा सामर्थ्य रखते हुए भी जो स्वेच्छासे-प्रेम भावसे-हिंसा नहीं करता है वही अहिंसा धर्म पालन करनेमें समर्थ होता है।

"डरकर जो हिंसा नहीं करता है वह तो हिंसाकर ही चुका है। चूहा बिल्लीके प्रति अहिंसक नहीं है, उसका मन बिल्लीकी हिंसा निरंतर करता रहता है।"

(महात्मा-गांधी)

"शूर वही है जिसकी छातीमें घाव हो, पींठमें नहीं। अर्थात् जो मैदाने जंगसे भागा न हो।"

"भाग निकलनेकी-सुविधा-होते हुए भी जो छाती तानकर शत्रुके सामने खड़ा रहे वह शूरवीर है।"

किंतु इस विषयमें एक बात जान लेना अत्यंत जरूरी है कि सम्यक् ज्ञान और उत्तम संहनन (शूर वीरता) ये दोनों बल होते हुए भी यदि मनुष्यकी परिस्थिति अनुकूल नहीं है, जैसे—मनुष्य यदि दूसरे व्यक्तियोंका आश्रय दाता है, कुटुम्बी है या राजा है तो, वह अहिंसाका महान साधक नहीं हो सके गा। बल्कि वह कभी कभी रक्षार्थ अनिच्छापूर्वक[1] हिंसा करता हुआ भी दिखायी दे गा[2]। फिर भी

---

१ पंचाध्यायी २, २७३.५६४।

२ पचाध्यायी २ श्लो ८०९ तथा ८१९। उत्तर पुराण श्लो० ४१९—२०

वह अनिवार्य हिंसाको अहिंसा और आपद्धर्मको धर्म नहीं मानेगा।[१] अस्तु, इस प्रकार अहिंसा व्रतके और उसके साधक जनके दो, दो भेद हो जाते हैं—

अहिंसाके दो भेद—[२]

१ सर्व देश (सकल—समग्र—महा) अहिंसा।

२ एकदेश (विकल—असमग्र—अणु) अहिंसा।

अहिंसा साधक जन के दो भेद—

१ सर्वदेश अहिंसा साधक (वनस्थ=साधु)

२ एकदेश अहिंसासाधक (गृहस्थ=उपासक)

अहिंसाके दो भेद यों हैं—

१ [३]निर्ग्रन्थता, तीनगुप्ति, पंच समिति, दसधर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहजय, पंच चरित्र, बारह तप, ये सर्वदेश अहिंसाके निवृत्यात्मक अंश (अंग) हैं।

२ यथाशक्ति औषधि, आहार, ज्ञान और अभयदान द्वारा दूसरोंके प्राकृतिक या परजन कृत दुःख कष्ट दूर करना गुणपूजा, तथा धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्गका अविरोध रूपसे सेवन करना, ये एक देश अहिंसाके प्रवृत्यात्मक अंश (अंग) हैं।

अहिंसा साधक जनके दो भेद यों हैं—

सर्व देश अहिंसा साधक "वनस्थ" किसीको दुःख नहीं पहुंचाता है क्योंकि इनके अन्दर प्रशस्त राग द्वेषका अल्पांश रह गया है। इनके लिए शत्रु मित्र समान है। क्योंकि ये लौकिक जिम्मेदारी से रहित हैं।

एक देश अहिंसा साधक "गृहस्थ" किसीको सुख पहुंचानेका प्रयत्न करता है तो उसमें किसी को दुःख भी पहुंच जाता है, क्योंकि इनके अंदर प्रशस्त राग द्वेषका अधिकांश विद्यमान है। इनके लिए शत्रु मित्र समान नहीं है। क्योंकि ये लौकिक जिम्मेदारी सहित हैं।

अहिंसाके उपदेशकोंका कर्तव्य—

विद्वान् उपदेशकोंका अथवा लोक नायकोंका कर्तव्य है कि मनुष्यकी ऊपर वर्णित शक्ति और परिस्थितिको ध्यानमें रखकर लोगोंको अहिंसा पालनका उपदेश दें। उपदेशकोंको यह उचित नहीं कि

---

१ 'शास्त्र हिंसाकी आज्ञा नहीं देता, परन्तु प्रसंग विशेषपर हिंसा विशेषको अनिवार्य समझकर उसकी छूट देता है। जो मनुष्य शास्त्रकी दी हुई छूटसे लाभ नहीं उठाता है, वह धन्यवादका पात्र है। अनिवार्य हिंसा, हिंसा न रहकर अहिंसा नहीं हो जाती। हिंसाको हिंसाके ही रूपमें जानना चाहिये।" (म० गांधी)

२ पु० सि० २०९।२११ तथा पंचाध्यायी २, ७५२।

३ "मिथ्यात्ववेद रागास्तथैव हास्यादयश्च षडदोषाः। चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः।" (पु० सि० ११६)

अणुपद प्राप्त गृहस्थोंको अपने सरल-शुभ प्रवृत्तिरूप मार्गसे विचलित करके उन्हें उनके लिए कठिन मार्गमें लगा दें जिससे कि वे किसी ओरके न रहें।

इसमें कोई शक नहीं कि अहिंसापथके पथिककी संहनन शक्तिकी परीक्षाके लिए उसे प्रथम ऊंचा पथ दिखाया जाय जैसा कि कहा है—

"जो तुच्छ बुद्धि उपदेशक साधु धर्मको नहीं कहकर गृहस्थधर्मका उपदेश देता है वह जिनवरके मतसे दंड देने योग्य है[1]।"

किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं लेना चाहिये कि अहिंसापथके पथिकोंको ऊंचे पथमें ज्यों-त्यों ढकेल देनेका षड्यंत्र है। बल्कि अहिंसा पथमें पैर रखनेके पहिले पथिकको खूब सावधान कराना चाहिये। कहा है—

"अपना कल्याण चाहने वालोंको अपनी शक्ति देश, काल, स्थान, सहायक, आदि बातोंका अच्छी तरह विचार करके व्रत (अहिंसा मार्ग) ग्रहण करना चाहिये[2]।"

और इसका यह भी तात्पर्य नहीं लेना चाहिये कि ग्रहस्थ महान अहिंसाके मार्गमें बढ़नेका अभ्यास न करे। किन्तु मौके मौके पर अपने पद और शक्तिके अनुसार उचित अभ्यास अवश्य करते रहना चाहिये, क्यों कि आखिरकार मनुष्यको परम अहिंसा परम पुरुषार्थ रूप जो मोक्ष या परम ब्रह्मत्व है उसे तो प्राप्त करना ही है।

१ पुरुषार्थ सिद्धियुपाय श्लो० १८।

२ सागारधर्मामृत २-७९।

जीव और कर्मका विश्लेषण

श्री पं० बाबूलाल गुलजारी लाल

अनन्त द्रव्योंके समुदाय स्वरूप यह लोक है इसमें पाये जाने वाले ये सम्पूर्ण द्रव्य अनादि काल से हैं और अनन्त काल तक रहेंगे। प्रत्येक द्रव्यकी रचना अनन्त अनन्त गुणोंके सम्मिलनसे हुई है। द्रव्यमें पाये जाने वाले सम्पूर्ण गुण और उनका पारस्परिक मिलाप अनादि है और अविनाशी है अतएव समुदाय स्वरूपी द्रव्य भी अविनाशी हैं। प्रत्येक गुण अपने स्वभावसे च्युत न होनेके कारण, अविनाशी होते हुए भी निरन्तर अपने स्वरूपमें परिवर्तन करता रहता है। इस परिवर्तनके कारण वह अनन्त अवस्थाओंको प्राप्त होता है इन अवस्थाओंका नाम पर्याय है। गुण और पर्यायके समुदायसे बना हुआ प्रत्येक द्रव्य गुणकी अपेक्षा नित्य (ध्रौव्य) है और पर्याय की अपेक्षा अनित्य अर्थात् उत्पाद-व्यय स्वरूप है। द्रव्यकी रचना स्वतः सिद्ध है अतएव यह लोक न तो किसी कर्त्ताके द्वारा रचा गया है और न किसी के द्वारा नष्ट किया जा सकता है।

द्रव्य——

लोकमें पाये जाने वाले सम्पूर्ण द्रव्य जीव और अजीवके भेदसे दो प्रकारके हैं। जिन द्रव्योंमें चेतना (ज्ञान, दर्शन) गुण विद्यमान है वे जीव कहलाते हैं और जिनमें यह गुण नहीं हैं वे अजीव कहलाते हैं। अजीव द्रव्यके पांच भेद हैं १-पुद्गल २-धर्म ३-अधर्म ४-काल तथा ५-आकाश इन पांचों द्रव्योंमेंसे पुद्गल द्रव्य स्पर्श, रस, गंध, वर्ण गुणयुक्त होनेसे मूर्तिक कहलाता है और शेष द्रव्य तथा जीव द्रव्य इन गुणोंसे रहित होनेसे अमूर्तिक कहे जाते हैं यद्यपि वे सब आकार वाले हैं। पुद्गल द्रव्य परमाणु रूप है उनकी संख्या अनन्तनान्त हैं। ये परमाणु अपनेमें विद्यमान रुखाई-चिकनाई इन दो गुणोंके सहारे आपसमें मिलकर स्कन्ध रूप (पिंड) हो जाते हैं और बिखरकर छोटे छोटे पिंड या परमाणु हो जाते हैं। परमाणु पुद्गलकी शुद्ध अवस्था है और स्कन्ध अशुद्ध अवस्था। क्योंकि परमाणु अवस्थामें वह स्वाधीन होता है और स्कन्ध अवस्थामें मिलने वाले परमाणुओं में एक दूसरेसे प्रभावित होते हैं। इसीसे परमाणु अवस्था स्वाभाविक और स्कन्ध अवस्था वैभाविक कही जाती है।

वैभाविकी शक्ति——

जैन सिद्धान्तमें जीव और पुद्गल द्रव्यमें एक वैभाविकी नामकी शक्ति मानी गयी है। इस शक्तिको स्व और पर का निमित्त मिलने पर जीव और पुद्गल द्रव्य विभाव रूप परिणमन करते हैं जैसे

पुद्गलकी वैभाविक अवस्था उसका स्कन्ध रूप है वैसे ही जीवकी वैभाविक अवस्था उसका संसारी होना है, संसार अवस्थामें जीवके मन, वचन और काय योग तथा कषाय भावोंका निमित्त पाकर पुद्गल परमाणु स्कन्ध रूप होकर जीवके साथ सम्बद्ध हो जाते हैं, जिसका प्रभाव जीवके ज्ञानादि गुणोंपर पड़ता है। इस तरहसे जीवके साथ सम्बद्ध इन पुद्गल स्कन्धोंको ही द्रव्य कर्म कहते हैं। इन द्रव्य कर्मोंकी शक्ति की हीनाधिकता जीवके कषाय भावों पर अवलम्बित है। यदि जीवकी कषाय तीव्र होती है तो बंधनेवाले कर्मोंकी स्थिति और फलदान शक्ति भी अधिक होती है, और यदि कषाय मन्द होती है तो कर्मोंकी स्थिति और फलदान शक्ति भी मन्द होती है। इन कर्म स्कन्धोंका जीवके साथ एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध होता है, उसे ही बन्ध कहते हैं।

कर्म सन्तति--

जीवमें अनन्त गुण हैं उन गुणोंमें कर्मपुद्गलोंके बन्धके निमित्तसे विकार उत्पन्न होता है। जैसे जीव अपने ज्ञान गुणके द्वारा प्रत्येक वस्तुको स्वतः जानता है कि प्रत्येक द्रव्य भिन्न भिन्न है और परिणत हुए पुद्गल स्कन्धके प्रभावसे यह पर द्रव्यको अपना मानने लगता है तथा उनके प्रति राग या द्वेष करने लगता है इस प्रकार इसके श्रद्धान गुणोंमें परको निज मानने रूप और चरित्र गुणोंमें पर द्रव्य के प्रति राग द्वेष करने रूप विकार उत्पन्न होता है जिससे यह पर द्रव्योंसे चिपटता फिरता है इस तरह पुद्गल-कर्मोंके निमित्तसे जीवके भाव विकृत होते हैं, विकृत भावोंके निमित्तसे पुद्गल द्रव्य, कर्मत्वको प्राप्त होता है। अनादि कालसे यही अवस्था तब तक चलती रहती है जब तक इसका मोह दूर नहीं होता। कभी किसी सुयोगके मिलनेसे यह सचेत होता है और अपने स्वरूपको जान कर उसपर श्रद्धा लाता है तथा अपने ही स्वरूपमें लीन होता है तब कर्मकी पराधीनतासे छुट्टी पाकर अनंत सुखको प्राप्त होता है। अतः इसे दुखोंसे छुड़ाने वाला सिवाय इसके शुद्ध परिणामोंके और दूसरा कोई नहीं है। हां, यह बात अवश्य है कि अपने शुद्ध स्वरूपका परिचय, शुद्ध स्वरूपको प्राप्त अरिहन्तों या निर्ग्रन्थ-गुरुओं द्वारा होता है उन्हींके द्वारा शुद्ध स्वरूपमें लीन होने की विधि, विदित हो सकती है और इसलिए निमित्त रूपसे श्री अरहंत, सिद्ध, आचार्य, आदि परमेष्ठी इसे सुख प्राप्त कराने वाले कहे जाते हैं और दुखी बननेमें पुग्द्लकर्मोंको निमित्त होनेसे दुख देने वाला माना जाता है। परन्तु वास्तवमें सुखी दुखी होनेमें जीवके अपने ही भाव उपादान कारण हैं।

शिक्षाकी दृष्टिसे समाधिमरणका महत्व

श्रीदशरथलाल जैन 'कौशल'

इस विज्ञानके युगमें संसारकी आंखें मानव समाजके शिक्षणकी ओर बलात् आकर्षित हो रही हैं। विद्वान् बच्चोंके शिक्षा प्रारम्भकी अवस्थाके सम्बन्धमें विचार करते हैं। पहले शिक्षा प्रारम्भकी वय १७, १८, वर्ष थी लेकिन २० वर्ष शिक्षामें बितानेका तात्पर्य होता है पंचमांश काल यों हीव्यतीत कर देना। इसलिए बालकोंके शिक्षणकी उम्र ८, १० वर्ष निर्धारित की गयी। लेकिन १० वर्ष भी अशिक्षामय बिता देना लोगोंको असह्य मालूम होने लगा और उन्होंने निश्चय किया कि जब बच्चे साधारणतया बोलने चालने ओर समझने लायक हो जाते हैं तबसे शिक्षण प्रारम्भ किया जाय इस प्रकार ५ वर्षकी उम्र शिक्षण प्रारम्भके लिए उपयुक्त समझी गयी। लेकिन मनुष्य जीवनकी कीमत समझने वाले विद्वानोंको इससे भी संतोष न हुआ और वे सोचने लगे कि बच्चे जब खेलते हैं तभी खेलके द्वारा उन्हें शिक्षा देनेकी कोशिश क्यों न की जाय। फल स्वरूप 'किंडर गार्डन' द्वारा अक्षरों व अंकोंके आकारादिका ज्ञान करा देनेकी व्यवहारिक सूझ पेश की गयी।

हमारे विचारशील शिक्षा विशारदोंको बच्चेका वह डेढ़ दो वर्ष जब कि वह माता का दूध ही पीता रहता है उस कालमें भी उसे कुछ शिक्षा क्यों न दीक्षा दी जाय इसकी धुन सवार हुई है। मांके दूधके साथ उस बालकको शिक्षण प्रारम्भ करनेके लिए उन्होंने यह खोजपूर्ण निष्कर्ष दिया कि माता यदि शिक्षिता और सद्विचारपूर्ण हो और बच्चेको दुग्ध पान कराते समय सुन्दर भावनाएं उसके हृदयमें जाग्रत रहें तो बच्चेपर शिक्षाके संस्कार डाले जा सकते हैं। इसपर भी काफी अमल किया गया और इस प्रयोगकी सफलता निसंदेह मान्य की गयी। यही कारण है कि हम प्रत्येक धर्म और जातिमें जन्मके समय उनकी धारणाओंके अनुसार कुछ न कुछ संस्कारोंका रिवाज पाते हैं। शोधके कार्योंसे कभी तृप्त न होनेकी वृत्तिके कारण विद्वान् इसके भी आगे सूक्ष्म विचारमें लीन रहे। इटलीमें अभी कुछ काल पहले एक शिक्षा विशारद विद्वान्ने अपनी खोजको आगे बढ़ाया और उन्होंने अपना यह निश्चय किया कि बच्चेके जन्मके समयमें शिक्षण संस्कार डालनेके स्थानपर यदि जब बच्चा गर्भमें रहता है तभी उसके हृदयपर माताके हृदयका संस्कार पड़े तो बालक भी वैसा ही होना चाहिये क्योंकि गर्भावस्थामें बालकका हृदय माताके हृदयसे संबद्ध रहता है माताके विचार उन नौ मासमें जैसे रहेंगे जन्म होनेपर

बच्चा उन्हीं विचारोंकी साकार मूर्ति धारण करे गा। इसको उन्होंने एक उच्च कुलोत्पन्न महिलापर परीक्षा द्वारा प्रमाणित किया है। प्रथम बार जब वह माता गर्भवती हुई तो उसके कमरेमें वीर पुरुषोंके चित्र लगाये गये। उन्हींका परिचय, जीवन चरित्र, उसी ढंगकी कथा कहानियों का साहित्य उसे नौ मास तक बराबर पढ़ाया गया ताकि उस स्त्रीका समय एक विशेष वातावरणमें व्यतीत हो। कहते हैं,उसका वह पुत्र बड़ा शूर-वीर निकला। दूसरी बार जब वह गर्भवती हुई तो उस स्त्रीकी इच्छा हुई कि अबकी बार उसका पुत्र अच्छा संगीतज्ञ निकले इसलिए इस बार उसके शयनागारमें दुनियांके प्रसिद्ध और निपुण गाने और बजाने वालोंके चित्र लगाये गये और उन्हींके चरित्र और गायन वादनके श्रवणमें उसने अपना समय व्यतीत किया इस बार उसका दूसरा पुत्र बड़ा संगीतज्ञ निकला। इसी तरह उसके चार पांच पुत्र हुए जो कि संस्कारों द्वारा कोई प्रसिद्ध चित्रकार, कोई कवि, कोई सफल राजनीतिज्ञ, भिन्न भिन्नविषयोंमें पारंगत हुए।

इसके आगे जैनधर्म—

बस आधुनिक वैज्ञानिकोंकी अंतिम खोज बालकके गर्भमें आने तक ही गयी है। इसके आगे बढ़ना उनकी बुद्धिके लिए अगम्य था लेकिन हमारे त्रिकालज्ञ तीर्थंकारोंने ने अपने दिव्य चक्षुओंके द्वारा इसके आगेका मार्ग खोज निकाला। उन्होंने बताया कि जीवोंका जन्म; मरणके उपरांतकी अवस्था है जिसका मरण अच्छा हो गा उसका उत्तम गर्भमें जन्म होना अनिवार्य है और जिसका मरण बुरी तरहसे हो गा उसका जन्म भी निश्चयसे बुरी योनिमें हो गा जैसा कि एक जगह पं० प्रवर आशाधरजीने कहा है—

काऽपि चेतपुद्गले सक्तो म्रियेथास्तद् ध्रुवं चरेः।
तं कृमीभूय सुस्वादु चिर्भटासक्त भिक्षुवत्॥ (सागार धर्मामृत)

भावार्थ—हे उपासक ! यदि तू किसी पुद्गलमें आसक्त हो कर मरणको प्राप्त हो गा तो कचरिया के भक्षणमें आसक्ति रखनेवाले भिक्षुके समान उसी पुद्गलमें जन्म लेकर उसका ही सदैव भक्षण करने वाला प्राणी होगा। इसलिए परद्रव्यकी आसक्तिको छोड़।

यही कारण है कि दुनियांके तमाम धर्म और कोमोंमें मरण क्रिया को पवित्र और धार्मिक बनानेकी भिन्न भिन्न प्रकारकी क्रियाएं होती देखी जाती हैं और यही भावनाएं काम करती रहती हैं मृतात्माको स्वर्गमें जगह और वहांकी सहज शान्ति मिले ईसाइयोंमें जब कोई मरता है तो मुर्दे स्नान कराकर अच्छे वस्त्राभूषण पहनाकर इत्र फुलेल, आदिसे सुसज्जित करते हैं फिर पादरी साहब बाइबिलका कुछ अंश पढ़ते हैं और उस मृत पुरुषकी आत्माकी शान्तिके लिए उपस्थित लोगोंके साथ दुआ पढ़ी जाती है और मुर्देको सन्दूकमें बन्दकर कब्र स्थानमें दफना देते हैं। इसी तरह मुसलमानोंमें भी मुर्देको कलमेका पानी छिड़क कर और दुआ पढ़कर दफना देते हैं। पारसियोंमें भी इसी तरहकी दुआ प्रार्थनाके बाद मुर्दे या तो दफना दिये जाते हैं या एक कुंएमें पाले गये गिद्धोंको खिला दिये जाते हैं। हिन्दु धर्ममें भी मरण समय दुर्गापाठ, गीतापाठ या राम राम भजनेका रिवाज पाया जाता है और मुर्देको दाहसंस्कारको ले जाते समय, 'राम नाम सत्य है, सत्य बोलो गत्य है' की ध्वनि

की जाती है। बची हुई हड्डी, राख, आदि जिसे फूल कहते हैं गंगा, नर्मदा, आदि पवित्र नदियोंमें सिरा दी जाती हैं और प्रयाग, काशी, गया, आदि तीर्थोंमें पिण्डशुद्धि एवं श्राद्ध, तर्पण, आदि क्रियाएं की जाती हैं। इन तमाम क्रियाओंसे उस मृत जीवका कल्याण हो या न हो पर करने वालोंकी सद्भावना स्पष्ट है।

सल्लेखना—

स्वयं जैनधर्म जीवके शरीर त्यागनेके पूर्व ही उसकी आत्माको सुधारनेका विशेष विधान करता है। जिसे सल्लेखना या समाधिमरण नाम दिया गया है। यद्यपि वैदिक, मुसलमान, ईसाई, आदि धर्मोंमें भी मरणके संस्कार किये जाते हैं तथापि समाधिमरणमें अपनी एक महान् विशेषता है। अन्तिम-क्रियाएं प्राण निकल जाने पर होनेके कारण वैसी ही हैं जैसे सर्प के निकल जाने पर लकीरका पीटना। जैनधर्ममें मरणासन्न जीवके मनोगत विचारोंको सुधारनेका प्रयत्न किया जाता है। उससे उपकारक वस्तुसे राग अनुपकारक वस्तुसे द्वेष स्त्री, पुत्र, आदिसे ममताका सबंध और बाह्याभ्यंतर परिग्रहको छुड़ाकर शुद्ध मन एवं मीठे वचनोंसे कुटुम्बी नौकरों चाकरोंसे दोषोंकी क्षमा याचना करायी जाती है और दूसरोंके द्वारा भी उसे क्षमा करवाया जाता है। क्रम क्रमसे भोजन, आदि छुड़वाया जाता है। जीने मरनेकी इच्छा अथवा उससे भय करना मित्रोंकी याद और भोगोंकी इच्छाका त्याग कराया जाता है। ऐसी सल्लेखना धारण करनेसे जीव धर्मरूपी अमृतका पान कर समस्त प्रकारके दुःखोंसे रहित हो अनंत दुष्कर और अक्षय उत्कर्षशाली अवस्थाको प्राप्त होता है। उसे समझाया जाता है कि इस समय परिणामोंमें संक्लेशता हुई तो तुमको संसारके प्रचुर दुखोंको सहना पड़ेगा। कहा भी है—

> 'विराद्धे मरणे देव दुर्गतिर्दूरवोदिता
> अनन्तश्चापि संसारः पुनरप्यागमिष्यति ॥

हे देव! समाधिमरणके बिगड़ जाने पर दूर पड़ी हुई दुर्गति प्राप्त होती है और अनन्त संसार पुनः आ धमकता है। इस तरह उसे वैराग्यभावनाके द्वारा सज्ज्ञानी और बलवान् आत्मा वाला बनाया जाता है और इस तरह उसके अगले जन्म की सुधारणा की जाती है। इसीको पंडित-मरण अथवा समाधिमरण कहते हैं। इस तरह सद्मरणके द्वारा सुसंस्कृत सद्जन्मकी आशा संभव है लेकिन इसके लिए भी आचार्योंने बताया है कि ऐसा समाधिमरण उसीको संभव है जिसका जीवन सद् अभ्यास सच्चरित्र, सद्विचार और सज्जनोत्तम गुणोंसे परिपूर्ण रहा हो। हम जैसा जाग्रत अवस्थामें विचार और कल्पना किया करते हैं अचेत और सुप्तावस्थामें वही क्रियाएं काम करती रहती हैं। मरण भी इसी तरह अचेत अवस्था है जब कि जाग्रत अवस्थाका अभ्यास कार्य करता है। जिस तरह उत्तम जन्मके लिए समाधिमरणकी आवश्यकता है उसी तरह सद् एवं शान्त मरणके लिये जीवनमें सच्चरित्र और सद्विचार की आवश्यकता है इस तरह हमारी उत्तरोत्तर उन्नतिकी शृङ्खला बनती है अर्थात् श्रेष्ठ जीवनसे श्रेष्ठ मरण और श्रेष्ठ मरणसे श्रेष्ठतर जन्म और उससे श्रेष्ठतम जीवन एवं योनिकी प्राप्ति होती है।

प्रत्येक आत्मा परमात्मा है !

श्री अमृतलाल "चंचल"

किसी सिद्ध सन्तसे एक जिज्ञासुने पूछा—"महात्मन्! आखिर वे भाग्यवान कौन हैं, जिनके हृदयमें सम्यक्त्व अविरल रूपसे निवास करता हैं ?

महात्माजी हंस पड़े और बोले—

अरे बावरे ! सबके हृदयमें शुद्ध सम्यक्त्व समाया हुआ है—सबके हृदय शुद्ध सम्यक्त्वसे जगमगा रहे हैं ! फर्क इतना ही है कि सिर्फ वीर पुरुष, सिर्फ शौर्यवान पुरुष ही उसके गुणोंके प्रसूनोंकी मालिका गुंथनेमें समर्थ होते हैं—उसके गुणोंको व्यक्त कर पाते हैं ।

और शेष ? शेष कापुरुष ! उनके हृदयमें वह सम्यक्त्व रहते हुए भी नहीं ही रहनेके बराबर होता है क्योंकि उनमें ज्ञान-सामर्थ्य ही नहीं होती कि उसके प्रकाशको प्रकट कर सकें ।

आत्मा भी परमात्मा है और परमात्मा भी आत्मा है ! यह बात नहीं है कि परमात्माकी बनावटमें किन्हीं ख़ास परमाणुओंका उपयोग किया गया है और आत्माकी बनावटमें किन्हीं आम का जो परमात्मा है वही और आत्मा भी है !

यहां और कुछ नहीं ! केवल एक दृष्टिमात्रका बदलना है । बूंद और लहरमें कुछ भेद नहीं; दोनों नदीसे भिन्न और कुछ वस्तु नहीं !

फर्क सिर्फ़ नामका है और वह भी एक विशिष्ट कारणसे ! परमात्मा स्वयं समझाते हैं—

सिर्फ अपनेको जानने व न जान लेनेका सवाल ? जिसने अपनेको जान लिया उसने बाजी मार ली—वह परमात्मा बन गया और जो अंधकारमें पड़ा रहा वह पिछड़ गया, वह बना रहा बस हेय बहिरात्मा ! और यहींपर आत्मा और परमात्माके बीच एक मोटी दीवार खड़ी है ।

* बहिरात्मा * अंतरात्मा * परमात्मा

इस दृष्टिसे हम हुए बहिरात्मा, या कितने ही अंशोंमें अन्तरात्मा, पर परमात्मा नहीं ! और इसका एक यही कारण है कि हमने अपनेको नहीं जाना वस्तुके यथार्थ स्वरूपको नहीं पहिचाना !

स्वामी कुंदकुंदाचार्य 'रयणसार' में कहते हैं—

जबतक अपनी आत्माका स्वरूप नहीं जाना गया है, तबतक इस आत्माको कर्मजन्य दुखका भार है ही, और जब यह आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप; टंकोत्कीर्ण स्वर्ण समान ज्ञायक स्वभाव को जान लेता है—अपने शुद्ध स्वभावको प्राप्त हो जाता है, उसी समय अनन्त सुखको स्वयमेव प्राप्त हो जाता है।

हमने अपने आत्मस्वरूपको नहीं जाना, इसीसे हम आजतक भव-समुद्रमें गोते खाते रहे। आत्मानुशासनमें श्री गुणभद्राचार्य कहते हैं—

मामन्यमन्यं मां मत्वा भ्रान्तो भवार्णवे।
नान्योहमहमेवाहमन्योऽन्योऽन्योऽहमस्ति न॥

अर्थात्—भ्रान्तिके होनेसे जो आपको पररूप और परको आप रूप जाना इसीसे विपरीत ज्ञानके कारण तू भव-समुद्रमें भ्रमण करता रहा। अब तू यह जान कि मैं पर पदार्थ नहीं हूं। मैं जो हूं; सो मैं ही हूं और जो ये पर पदार्थ हैं; सो पर ही हैं। उनमें मैं नहीं हूं और वह मेरेमें नहीं हैं।

श्रीमद्शुभचंद्राचार्य भी इसी तथ्यकी पुष्टि करते हुए ज्ञानार्णवमें कहते हैं—

मिथ्यात्वप्रतिनद्धदुर्णयथभ्रान्तेन बाह्यानलं
भावान् स्वान् प्रतिपद्यजन्मगहने खिन्नं त्वया प्राक् चिरं
संप्रत्यस्त समस्त विभ्रमभव चिद्रूपमेकं परम्
स्वस्थं स्वं प्रविगाह्य सिद्धि वनिता वक्त्रं समालोकय॥

अर्थात् हे आत्मन्! तू इस संसार रूपी गहन वनमें मिथ्यात्वके सम्बन्धसे उत्पन्न हुए सर्वथा एकान्त रूप दुर्जय मार्गमें भ्रमरूप होता हुआ, बाह्य पदार्थोंको अपने मानकर व अंगीकार कर चिरकालसे सदैव खेद खिन्न हुआ। अब समस्त विभ्रमोंका भार दूर कर तू अपने आपहीमें रहने वाले उत्कृष्ट चैतन्य स्वरूपका अवगाहन करके उसमें मुक्तिरूपी स्त्रीके मुखका अवलोकन कर!

यद्यपि वह जीवनामका पदार्थ निश्चयनयसे स्वयं ही परमात्मा है, किन्तु अनादि कालसे कर्माच्छादित होनेके कारण यह अपने स्वरूपको नहीं पहिचान पाता है। आचार्य शुभचंद्रजी ज्ञानार्णव में कहते हैं—

अनादि प्रभवः सोऽयमविद्याविषम ग्रहः।
शरीरादीनि पश्यन्ति येन स्वमिति देहिनः॥

अर्थात्—यह अनादि काल से उत्पन्न हुआ अविद्यारूपी विषम आग्रह है जिसके द्वारा यह मूढ़ प्राणी शरीरादिकको अपना मानता है अर्थात् यह शरीर है, सो मैं ही हूं, यह देखता है।

अयं त्रिजगतीभर्त्ता विश्वज्ञोऽनंत शक्तिमान्।
नात्मानमपि जानाति स्वस्वरुपात्परिच्युतः।

अर्थात् यह आत्म तीन जगतका स्वामी है, समस्त पदार्थोंका ज्ञाता है अनन्त शक्तिमान है, परन्तु अनादि कालसे अपने स्वरूपसे च्युत होकर अपने आपको नहीं जानता!

ख्वाजा हाफ़िज सा० फरमाते हैं—

फाश मो गोयमो अज़ गुफ्त—ए-खुद दिल शादम
बंदा-ए-इश्क़मो अज़ हरदो जहां आज़ादम।
कौकबे-बख़्त मरा हेच मुनज्जिम न शिनाख़्त
या रब ! अज़ मादरे-गेती बचे ताला ज़ादम।
तायरे-गुलशने-कुसुम चे विहम शहें-फ़िराक़
फि दरीं दामे-गहे-हारसा चूँ उफ्तादम॥

याने मैं खुल्लमखुल्ला कहता हूं और अपने इस कथनसे प्रसन्न हूं कि मैं इश्कका बंदा हूं और साथ ही लोक और परलोक दोनोंके बंधनोंसे मुक्त हूं। मेरी जन्मपत्रीके ग्रहोंका फल कोई भी ज्योतिषी न बता सका। हे ईश्वर ! सृष्टि-माताने मुझे कैसे ग्रहोंमें उत्पन्न किया है। स्वर्गके उद्यानका पक्षी हूं। मैं अपने वियोगका हाल क्या बताऊं कि मैं इस मृत्युलोकके जाल में कैसे आ फंसा ?

जिस समय यह आत्मा रागद्वेषकी परिणतियोंको ढीली कर हृदय परसे मिथ्यात्वका आवरण हटाता हुआ अपने स्वस्वरूपमें स्थिर होने लगता है तो पर-परिणतियोंका किला ढ़हने लगता है और कर्म की कड़ियां क्रमशः टूटने लगती हैं।

स्वस्वरूपमें रमण करनेसे यह आत्मा कर्मोंका बंधन काटता हुआ क्रमशः अरहन्त पद पा जाता है और फिर समय पाकर स्वयं शुद्ध बुद्ध परमात्मा हो जाता है।

आत्मा और परमात्मामें भेद—

बस इतना फ़र्क है आत्मा और परमात्मामें ! अनादि कालसे कर्मोंसे आच्छादित तेज पुञ्जका नाम आत्मा है और निर्लेप, निष्कल, शुद्ध, अविनाशी, सुखरूप और निर्विकल्पका नाम परमात्मा है ! आईना एक है सिर्फ सफाईका फर्क और वह भी पर्यायार्थिक नयसे, निश्चय नयसे अगर पूछा जावे तो आत्मा और परमात्मामें कोई भेद ही नहीं है जो आत्मा है सो परमात्मा है और जो परमात्मा है सो आत्मा है। आत्मानुशासनमें भी गुणभद्राचार्य कहते हैं—

आजातोऽनश्वरोऽमूर्त्तः कर्त्ता भोक्ता सुखी बुधः।
देह माया मलैर्मुक्तो गत्वोर्द्धमचलः प्रभुः।

अर्थात् आत्मा अजर अमर अमूर्तीक है व्यवहार नयकी अपेक्षा कर्मोंका और निश्चयनयकी अपेक्षा अपने स्वभावका कर्ता है। व्यवहार नयसे अपने सुख दुखका व निश्चय नयसे अपने स्वभावका भोक्ता है। अज्ञानसे इन्द्रिय जनित सुखोंका भोक्ता है। पर निश्चयसे परमानन्द मय ज्ञानस्वरूप है। व्यवहार नयसे देहमात्र है पर निश्चय नयसे यह चेतन है, कर्म फलसे रहित है। लोकके शिखर पर जाकर अचल तिष्ठता है इसलिए प्रभु है ! 'तत्वसार' में श्री देवसेनाचार्य कहते हैं—

सिद्धोहं सुद्धोहं अणंत णाणाइगुण समिद्धोहं।

देहपमाणो णिच्चो असंखदेसो अमुत्तो ण।

अर्थात् मैं ही सिद्ध हूं, शुद्ध हूं, अनंत ज्ञानादि गुणोंसे पूर्ण हूं, अमूर्तिक हूं, नित्य हूं, असंख्यात प्रदेशी हूं और देह-प्रमाण हूं इस तरह अपनी आत्माको सिद्धके समान वस्तु स्वरूपकी अपेक्षा जानना चाहिये।

श्री पूज्यवाद स्वामी समाधिशतकमें कहते हैं—

यः परमात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः।

अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥

अर्थात्—जो कोई प्रसिद्ध उत्कृष्ट आत्मा या परमात्मा है वह ही मैं हूं तथा जो कोई स्वसंवेदन गोचर मैं आत्मा हूं सो ही परमात्मा है। इस लिए जब कि परमात्मा और मैं एक ही हूं तब मेरे द्वारा मैं ही आराधने योग्य हूं कोई दूसरा नहीं। इस प्रकार अपने स्वरूपमें ही आराध्य आराधक भावकी व्यवस्था है।

जैन प्रतीक तथा मूर्तिपूजा—

श्री प्रा० अशोककुमार भट्टाचार्य, एम० ए० बी० एल०, काव्यतीर्थ, आदि

जैन धर्ममें पूजाके आदर्श व्यक्तिकी शारीरिक सदृशता मात्र पर दृष्टि रखकर पूज्यकी प्रतिमा कभी नहीं पुजती; जैसा कि बौद्ध तथा वैदिक धर्मोंमें भी होता है। न जाने कबसे मानवकी बुद्धिने महत्तम देवताकी कल्पनाका आधार उसके शरीरकी सदृशताको न मानकर प्रतीक-चित्रणको ही आदर्श माना है। इन बिम्बात्मक प्रत्युपस्थापनाओंके कुछ ऐसे अर्थ तथा लक्ष्यार्थ होते हैं जो इन्हें सहज ही उन कलामय कृतियोंसे पृथक् सिद्ध कर देते हैं जो केवल शोभाके लिए निर्मित होती हैं। वे चक्षु साक्षात्कारकी अपेक्षा मानसिक व्यापार (विवेक) को अधिक जगाते हैं। भारतीय धर्मोंको अभीष्ट प्रतीक-पूजा अथवा आध्यात्मिक कल्पना वह इतिवृत्त है जो धर्मोंके इतिहासके समान ही प्राचीन है। देवताओं अथवा प्रकृतिकी विविध साकार निराकार वस्तुओंका मानवीकरण (मनुष्यकी देहयुक्त समझना) अर्थात् रूपभेद सर्वथा अर्वाचीन प्रकार है। मथुराके कंकाली टीलेसे निकले अष्ट मांगलिक द्रव्योंके प्रतीक युक्त 'आयागपटों' से जैनधर्म सम्बन्धी उक्त मान्यता भली भांति सिद्ध हो जाती है। ये आयागपट उतने ही प्राचीन माने जाते हैं जितनी अब तक प्राप्त प्राचीनतम जैन मूर्ति है[१]।

बौद्ध साहित्यमें[२] स्वयं महात्मा बुद्धके कुछ ऐसे वक्तव्य भी मिलते हैं जो मानवाकार मूर्तियोंके प्रति उनकी विशेष घृणाके सूचक हैं। तथा मूर्तिमानसे सम्बद्ध प्रतीकात्मक चैत्यकी अनुमोदना भी उसी प्रकरणमें मिलती है। जब बुद्ध दृष्टिके सामने न थे तब ही उनके व्यवहारकी विधि की गयी है। सम्बद्ध प्रतीकोंकी स्थापना बौद्धकलाका वैशिष्ट्य् है जिसकी ठीक समता जैन धर्ममें नहीं मिलती। हस्तलिखित जैन ग्रन्थों अथवा जैन उत्कीर्णन कलामें पाये जाने वाले प्रतीकात्मक प्रत्युपस्थापनोंका विषय पूजनीय पवित्र वस्तुएं हैं। कहीं पर इनमेंसे एक, एकका चित्रण है और कहीं पर सबका एक

---

१ श्री वी० ए० स्मिथकी "मथुराके जैन स्तूप तथा अन्य प्राचीन वस्तुएं" चित्र ७ तथा ९

२ "कतिमुखो भंते चैतियानीति ? ते नि आनन्द ति। कतमानि भंते तेनेति ? शारीरिकम्, पारिभोगिकम्, उद्दे-सिकम् इंति। सक्काण्ण भते तुम्हेंसु, धरंतेसु येव चैत्यन, कातुंति ? आनन्द शारीरिकम् न सुक्ककाष्टातुम, न हि बुद्धानां परिव्भुत काल येव होति—आदि। महाबोधिवंश पृ० ५९।

साथ है। पूर्व उल्लिखित उद्धरणके आधार पर समझा जा सकता है कि गौतम बुद्ध मूर्तिपूजाके विरोधी थे फलतः बौद्ध धर्मके प्रारम्भिक युगमें मूर्तिरूपमें प्रत्युपस्थापन बहुत कम हुआ। तथा उत्तरकालमें अत्यधिक हुआ। दिव्यावदानका[1] यह उल्लेख कि बौद्ध उपासक मूर्तिकी पूजा नहीं करता है किन्तु उन सिद्धान्तोंकी पूजा करता है जिन्हें प्रकट करनेके लिए मूर्ति बनी है; महत्त्वपूर्ण है।

जैनपूजाका आदर्श—

वैदिकों तथा बौद्धोंके समान होते हुए भी मूर्तिपूजा विषयक जैन मान्यताकी अपनी विशेषताएं हैं। उनकी मान्यता है कि तर्थिकर, आदि शलाका पुरुषों अथवा जिनधर्म भक्त शासन देवतादिकी प्रतिकृति होने ही•के कारण मूर्तियोंकी स्थापना नहीं की जाती है अपितु उनकी स्थापनाका प्रधान कारण वे अनन्त दर्शन, आदि विशुद्ध एवं अलौकिक गुण हैं जिनका ध्यान करणीय है तथा जो आत्यन्तिक प्रेय हैं। सारभूत इन गुणोंकी शोधके लिए ही आवश्यक है कि उनका कहीं पर प्रदर्शन किया जाय, ताकि इन आदर्शोंका ध्यान करते समय भक्तोंके हृदयमें अनन्त-दर्शन ज्ञान, वीर्य सुखमय गुणोंकी स्पष्ट छाया पड़े। मूर्तिपूजाका उद्देश्य, उनके द्वारा प्रत्युपस्थापित मूर्तिमानके अलौकिक गुणोंकी महत्ताको प्रचुर रूपसे बढ़ाना है। इसी सिद्धान्तको दृष्टिमें रखते हुए गंगा, आदि नदियों, तालाबोंके अधिष्ठातृ देवी-देवताओंका उद्देश्य भी समझमें आ जाता है। फलतः तर्थिकरकी मूर्तिको उन सब साधनाओं और गुणोंके पुञ्जके रूपमें ग्रहण करना चाहिये, जो कि किसी भी धर्म अथवा युग प्रवर्तकमें होना अनिवार्य हैं। फलतः आराधकके हृदयमें आराध्यकी श्रद्धा बढ़ती ही जाती है।

प्रतिष्ठा—

प्रतिष्ठा वह संस्कार है जिसके द्वारा आराध्य पुरुष अथवा वस्तुकी महत्ता तथा प्रभावकताको मान्य किया जाता है[2]। जब कोई साधु प्रधानताको प्राप्त होता है तो उसे 'आचार्य' पदपर प्रतिष्ठित किया जाता है। इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, शिल्पी, आदि भी वेदाध्ययन, शासन, व्यवसाय, सेवा, कला, आदिमें प्रतिष्ठित किये जाते हैं तथा सामाजिक नियमानुसार तिलक, माला, समर्पण, आदि द्वारा इस विधिको मान्य किया जाता है। यह सर्व विदित है कि तिलक, माला अनुलेपन, आदि विधियोंकी स्वयं कोई महत्ता नहीं है। फलतः इनके कारण किसी व्यक्तिकी महत्ता नहीं बढ़ती, अपितु प्रधानताका कारण तो वह स्वीकृति या मान्यता होती है जिसकी घोषणा यह सब करके की जाती है। इसी प्रकार मूर्ति प्रतिष्ठा भी एक महान प्रतीक है फलतः उसकी दार्शनिक व्याख्या होती है। अर्थात्

१ दिव्यावदान अध्याय, १६।

२—आचार-दिनकर (वर्धमान सूरि) पृ० १४१।

साकार अथवा निराकार मूर्तिमें जो विधिपूर्वक उसके गुणोंका न्यास किया जाता है उसे ही प्रतिष्ठा[1] कहते हैं वह जिनदेवके गुणोंकी मूर्तिमें स्थापना-रूप है। धर्मका कारण होनेसे जिनदेव अथवा अन्य गुणी स्थापनीय होते हैं। इसमें या तो गुणीकी ही प्रधानता होती है गुण गौण रहते हैं अथवा गुणों ही की प्रतिष्ठा होती गुणीका उतना ध्यान नहीं रहता है। इस प्रकार पाषाणसे बनी घटित अथवा अघटित मूर्ति भी जिन, क्षेत्रपाल, बौद्ध, गणधर, विष्णु, गांधी, आदि नामको पाकर पूजी जाती है क्योंकि प्रतिष्ठा द्वारा वे वे देवता अथवा पुरुष उस मूर्तिमें समा जाते हैं ऐसी मान्यता है, क्योंकि अपनी दृढ़ आस्था द्वारा साधक उन्हें वहां देखता है। भवन वासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, वैमानिकादि देव अपनी अपनी अन्तःशक्तिको मूर्तियों में प्रवेश करा देते है ऐसी मान्यताका आधार भी यही है। सिद्धों तथा अर्हन्तोंकी मूर्तियोंकी स्थापनाका भी यही रहस्य है। इसी प्रकार तालाब कुंआ, आदिकी प्रतिष्ठाका भी उक्त तात्पर्य है, अर्थात् देवी देवताओंकी विभूतिकी ही स्थापना होती है अर्हन्त, इन्द्रादि स्वयं नहीं आते हैं। मूर्ति पूजा सम्बन्धी यह जैन मान्यता 'मानव-देव' प्रक्रियाकी पूर्ण समर्थक है। क्योंकि जिनदेव स्वयमेव अनन्त गुणोंके पुञ्ज मुक्त 'मानव' हैं जो फिर कभी भी संसारमें अवतार नहीं लेंगे। वे वैदिक धर्मके अलौकिक शक्ति सम्पन्न सर्वथा देव स्वरूप ब्रह्मा, विष्णु, शिव. आदि 'देव-मानव' के समान नहीं हैं जो स्वयं मुक्त होकर भी अवतार लेते हैं। जैनमूर्ति कलाका विश्लेषण करते समय वैदिक तथा जैन मान्यताके महत्त्वपूर्ण भेद पर दृष्टि रखना आवश्यक है[2]।

मूर्ति पूजाका विकास—

ईसाकी प्रथम अथवा द्वितीय शतीका अन्त आते आते जैनलोग पूर्ण मनुष्य रूपकी मूर्तियोंकी पूजा करने लगे थे यह प्रमाण सिद्ध निष्कर्ष है। यद्यपि सम्राट खारवेलने अपने खंडगिरीके हस्तिगुफा शिलालेखमें अर्हत् मूर्तिका उल्लेख किया है, जिसे लोग अस्पष्ट सा मानते हैं। तथा संदिग्ध भावसे उसकी व्याख्या करते हैं। इन्हीं गुफाओंमें शिलाओंको काटकर बनायी गयी कुछ मूर्तियां भी मिलती हैं। इन सबको छोड़कर यदि मथुराके कंकाली टीलेसे निकली पूर्ण मानवाकार सरस्वतीकी मूर्तिको ही लें। और उसपर पड़ी तिथिका विचार करें तो यह मूर्ति जैन मूर्तिकलाको कुषाण कालतक ले जाती है।

१—साकारे वा निराकारे विधिना यो विधीयते। न्यासस्तदिदमित्युक्त्वा प्रतिष्ठा स्थापना च सा॥
स्थाप्यम् धर्मानुबन्धाङ्ग गुणी गौण गुणोऽथवा।
गुणो गौणगुणी तत्र जिनाद्यन्यतमो गुणी॥
(पण्डिताचार्य आशाधरकृत प्रतिष्ठासारोद्धार पृ० १०)

२ "भुवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी, वैमानिकानां तत्तदधिष्ठानाद् प्रभावसिद्धिमूर्तिषु, गृहवापिकानां तथैव। सिद्धानां चार्हदादीनां प्रतिष्ठाविधौ कृते तत्प्रतिमायां प्रभावव्यातिरेकः संघटने तत्र न तेषां मुक्तिपदवीनामतारः, किन्तु प्रतिष्ठा देवता प्रवेशादेव सम्यग्दृष्टिः सुराधिष्ठानाच्च प्रभावः।" (आचार दिनकर पृ. १४१)

खण्डगिरिकी तो कहना ही क्या है। वहां पर शिलाओं पर ही दिगम्बर जिनोंकी बड़ी मूर्तियां बनी हैं जिनके दोनों पार्श्वोंमें पद्मासन चतुर्मुख जिन मूर्तियां हैं। यह मूर्तियां दो युगोंकी मूर्तिकलाके दृष्टान्त हैं। प्रथम युगकी मूर्तियां समान हैं उनमें कोई विशेष चिन्ह नहीं है किन्तु दूसरे युगकी मूर्तियोंके आसनों पर तीर्थंकरोंके चिन्ह बने हैं। मूर्ति-शास्त्र जिनमें केवल मूर्ति निर्माणका सर्वाङ्ग वर्णन है वे तथा प्रतिष्ठा ग्रन्थ, जो प्रकरण वश ही मूर्ति निर्माण पर प्रकाश डालते हैं ईसाकी नवमीं तथा दसवीं शतीके बाद प्रचुर संख्या में लिखे गये हैं। इस परसे हम यही निष्कर्ष निकालते हैं कि प्रारम्भिक युगमें सामान्य रूपसे मूर्ति पूजा का आदर्श जैनोंको मान्य था तथा शासन देवतादि की विस्तृत मूर्ति पूजा पर उस समय उतना अधिक ध्यान नहीं दिया जाता था। संभव है कि स्वाभाविक तथा आदर्श जैनमूर्ति पूजा पर तान्त्रिक प्रभावके कारण ही उत्तर कालमें दसवीं शतीके लगभग शासन देवतादिकी पूजा-प्रतिष्ठा प्रारम्भ हो गयी हो।

इतना निश्चित है कि ईसाकी चौदहवीं शतीके लगभग जैनमूर्ति कलाका पूर्ण विकास हो चुका था। मूर्तियोंके आकार प्रकारकी समस्त बातें व्यवस्थित हो चुकी थीं। तथा इस समयकी मूर्तियां शासन देवता, आदिकी छोटी छोटी मूर्तियोंसे घिरी रहती थीं। मूर्ति निर्माण तथा उनकी विशेषता विषयक शास्त्रीय नियमोंको लिखनेकी पद्धति बहुत पहिलेसे चली आयी है। श्रीठक्कर फेरू कृत 'वत्थुसार पयरणम्' (वि सं० १३७२ १,३१५ ई०) के अनुसार विम्बके ऊपर तीन छत्र होना चाहिये[1]। वे इतने गहरे तथा गोल होना चाहिये कि नासिकाको ढंक सके। मूर्तिके दोनों ओर यक्ष तथा यक्षिणी होना चाहिये तथा आसन पर नवग्रहोंके आकार खुदे रहना चाहिये। मूर्तिकी ऊंचाईका प्रमाण अंगुलों में होना चाहिये जो ग्यारहसे अधिक न हो। यदि मूर्ति पाषाणसे बनी हो तो वह सर्वथा निर्दोष (धब्बा, लकीर, आदि रहित) एक पाषाण खण्डकी होनी चाहिये। पूर्वोल्लिखित 'आकार दिनकर' जिसकी रचना १५ वीं शतीमें हुई थी, भी उक्त व्यवस्थाओंका पोषक है। उसमें लिखा है कि घरके चैत्यालयमें विराजमान मूर्ति (गृह-बिम्ब) की ऊंचाई ग्यारह अंगुलसे अधिक नहीं ही होना चाहिये[2]। मूर्तिके लिए लाये गये पाषाण या लकड़ीकी परीक्षाके विषयमें 'विवेक-विलास, में पूरी प्रक्रिया मिलती है। उसमें लिखा है पिसे चावलोंका उबला लेप नरियलकी गिरीके साथ मिलाकर मूर्तिको लगानेसे ही उसपरकी लकीर आदि प्रकट हो जाती है। उदाहरण के लिए; यदि मूर्तिपर मधु, भस्म, गुड़, आकाश, कपोत, अत्यन्त लाल, गुलाबी, पीला, नारंगी, तथा कई रंगोंकी लकीरें हों तो समझना चाहिये कि पत्थरमें खद्योत (जुगुनू) वालूकण, लालमेंढक, पानी, छिपकली, मेंढक, गिरगिट, नक्र, चूहा, सांप तथा बिच्छू अवश्य होंगे फलतः ऐसा पाषाण त्याज्य है। पंडिताचार्य आशाधरजी के प्रतिष्ठा सारोद्धारसे ज्ञात होता है कि दिगम्बर परम्परा भी इस दिशामें पूर्ण जागरूक थी। उसमें लिखा है कि सुन्दर रंगका देदीप्यमान पाषाण ही मूर्ति बनाने योग्य होता है उसमें धब्बे, लकीरें, आदि

---

१ विवेक विलासका उद्धरण वत्थुसार, पयरणम् पृ० ८३।

२ एका दशांगुल बिम्ब सर्वकामार्थकारकम। एतत्प्रमाणंख्यातं ततो ऊर्ध्वं न कारयेत् ॥ आचार दिनकर पृ० १४३।

कोई दोष नहीं होना चाहिये। बजाने पर टंकारकी ध्वनि आनी चाहिये। यदि घरके चौत्यालयके लिए मूर्ति है तो वह एक वितस्ति (१२ अंगुल) से ऊंची नहीं होनी चाहिये। लेजाने योग्य मूर्तियोंको आसन पर मन्दिरमें रक्खा जा सकता है घरू-चैत्यालयमें नहीं। पूजनीय मूर्तिमें कोई भी दोष नहीं होना चाहिये, अन्यथा वह अशुभ हो जाती है। कोई भी अंग खण्डित नहीं होना चाहिये विरूप भी नहीं होना चाहिये, जैनदेवोंके आकार में भ्रान्ति नहीं होना चाहिये। उनके वक्षस्थल पर श्रीवत्स अवश्य होना चाहिये। डाढ़ी, मूंछ, आदिके बालोंके चिन्ह नहीं होना चाहिये, उसके साथ अष्ट प्रातिहार्य भी होना चाहिये। विशेष चमत्कारकी बात तो यह है कि मूर्तिकी भावभंगी पर पूरा ध्यान दिया गया है, यथा— मूर्तिको नेत्रही न नहीं होना चाहिये अपितु वे न तो अधिक खुली होनी चाहिये और न कम खुली ही, ऊपरकी ओर भी दृष्टि नहीं होनी चाहिये, न कटाक्ष ही होने चाहिये और न सर्वथा नीचे की ही ओर होनी चाहिये[1] अपितु 'नासा-दृष्टि' (नाकपर दृष्टि) होनी चाहिये, ताकि उससे स्थिरता और विरक्तिका भान हो[2]।
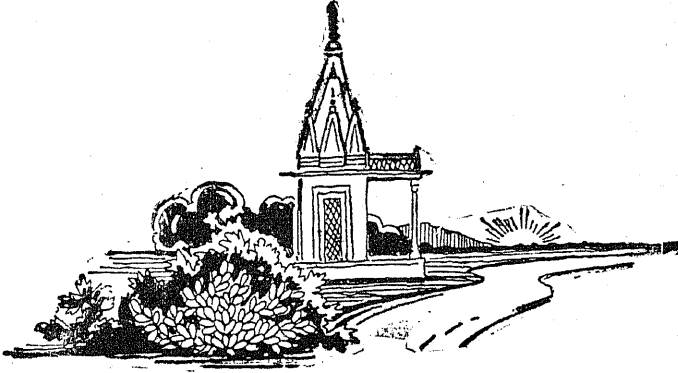
१ 'सद्वर्णात्यन्त तेजस्का बिन्दुरेखाद्यदूषिता। सशब्दा सस्वरा चार्हद् बिम्बाय प्रवरा-शिला ॥'

(प्रतिष्ठा सारोद्धार पृ० ६)

२ वसुनन्दिकृत प्रतिष्ठासारसंग्रह, अध्याय ४।

जैनधर्ममें कालद्रव्य

श्री प्रा० य. ज. पद्मराजैय्या, एम. ए.

जैनधर्म अनेकात्मक यथार्थ-वाद है। इसके अनुसार एक द्रव्य चेतन तथा पांच द्रव्य जड़ हैं। इसमें प्रतिपादित काल द्रव्यकी 'सत्' स्वरूपता न्याय वैशेषिकके समान होते हुए भी उससे विशिष्ट है।

काल द्रव्य दो प्रकारका है १ निश्चयकाल तथा २—व्यवहार काल। निश्चयकाल लोकाकाशके प्रदेशोंमें व्याप्त काल परमाणु स्वरूप है। कालाणु परस्परमें सम्बद्ध नहीं हैं। अतः वह अस्तिकाय नहीं है। वे कालाणु एक, रत्नोंकी मालाके समान हैं। 'बर्गसन' के अनुसार समयके स्थानान्तरणसे उत्पन्न परिवर्तन तथा एलेक्जेण्डरके मतसे क्षेत्र-समयके संयोगसे उत्पन्न परिणाम क्षेत्रके समान; जैनदृष्टिसे वर्तना निश्चय-कालद्रव्यका असाधारण लक्षण है। कालकी साक्षात् दृष्ट भिन्नता अर्थात् पृथक् पृथक् काल तथा एक काल-धाराके भेदका कारण वस्तुओंकी द्रव्य तथा पर्यायरूप अवस्थाएं ही हैं। काल द्रव्योंके परिवर्तनमें निमित्त कारण मात्र है।

वस्तुओंके 'परिणाम' तथा क्रियाके द्वारा ही व्यवहार कालका ज्ञान होता है। यथा संसारमें होनेवाला प्राचीन, नवीन आदि व्यवहार। जितने समयमें पुद्‌गलका एक परमाणु एकसे दूसरे काल प्रदेशमें पहुंचता है उतना कालका सूक्ष्मतम परिमाण ही है। घंटा, दिन, मुहूर्त, आदि समयके परिमाण व्यवहार कृत हैं। काल द्रव्य विषयक जैन मान्यताका असाधारण लक्षण यही है कि उसे जगतके पदार्थोंमें सारभूत पदार्थ माना है।

पदार्थ व्यवस्था—

यतः जैनधर्म द्वैतात्मक[1] (अनेकान्तात्मक) यथार्थवाद है फलतः उसकी दृष्टिमें भौतिक विश्वके निर्माता पांच अजीव द्रव्य—१-पुद्‌गल, २-धर्म, (गतिका निरपेक्ष निमित्त) ३-अधर्म (स्थिति का निरपेक्ष निमित्त), ४-आकाश (अवकाश दाता) तथा ५-काल हैं। जीव सचेतन द्रव्य है जिसे मिलाने पर सब द्रव्य छह होते हैं। ये ही इस विश्वके निर्माता, आदि हैं।

---

१. अनन्त जीव माननेके कारण भी यह अनेकात्मक द्वैत स्वरूप है। ब्रह्माद्वैत, आदिके समान नहीं।

जैन धर्मकी समस्त प्रक्रिया इसलिए है कि बद्ध आत्माका विकास हो और वह सिद्धत्वको प्राप्त कर सके। इस प्रक्रियामें भौतिक जगत उस क्षेत्रका काम देता है जिसमें जीवका अजीवसे[1] संग्राम होता है और अन्तमें वह विजयी होता है।

जैन धर्ममें काल द्रव्यको जिस मात्रामें यथार्थता एवं अनिवार्य पदार्थता प्राप्त हुई वह भारतके अन्य किसी दर्शनमें नहीं मिलती, केवल न्यायवैशेषिक ही एक ऐसा दर्शन है जिसने इसका पदार्थ रूपसे विवेचन किया है। आधुनिक बौद्धिक जगत्में भी, दार्शनिक, भौतिक विज्ञानके पंडित, गणितज्ञ तथा मनोवैज्ञानिकोंके सामने कालकी समस्या है। फलतः स्याद्वादने काल द्रव्यको किस दृष्टिसे देखा है इसका प्रकाशन आजकी विचारधारा की निश्चित ही सहायता कर सकेगा।

काल द्रव्यका स्वरूप—

ऊपर देख चुके हैं कि जैन दार्शनिकोंने कालके निश्चय तथा व्यवहार ये दो भेद किये हैं। पूर्ण लोकाकाशके आकाश प्रदेशोंमें व्याप्त कालाणु ही निश्चय काल हैं। इन कालाणुओंमें बंधका कारण वह शक्ति नहीं है जिसके कारण ये स्कन्ध रूप धारण कर सकें। अतएव रत्नोंकी राशिसे[2] इनकी तुलना की जाती है। इस उपमाका आधार केवल इतना ही है कि कालाणु मालामें बद्ध रत्नोंके समान पृथक् पृथक् ही रहते हैं और अस्तिकाय रूप धारण नहीं करते। क्योंकि अस्तिकाय वही द्रव्य कहलाता है जिसमें अस्तित्व तथा कायत्व ये दोनों धर्म हों। कालाणुओंमें अस्तित्व मात्र है कायत्व नहीं है फलतः उसे अस्तिकायोंमें नहीं गिना है। शेष पांचों द्रव्य अस्तिकाय हैं क्योंकि उनमें कायत्व, अर्थात् बहु-प्रदेशित्व पाया जाता है।

कालाणु ऊर्ध्व प्रचय रूप होते हैं[3] इनमें आकाश प्रदेशोंके समान तिर्यक्प्रचय[4] नहीं होता। 'अक्रम घटनाओंकी मालाका योग काल-द्रव्यका स्वरूप नहीं है अपितु भूतसे वर्तमान तक चली आयी स्थायित्वकी (वर्तना) धारा ही उसका स्वरूप है'' इस मान्यताको यहां प्रधानता दी गयी है। जगतकी वस्तुओंमें ऊर्ध्वप्रचयकी मान्यताका मूलाधार संसारकी घटनाओंकी उत्तरोत्तर अग्रगामिता, वृद्धि तथा विकास ही मालूम देते हैं। तथा दूसरा हेतु कालाणुओंमें अस्तिकायताका अभाव तो स्पष्ट ही है।

---

१ अजीव पुद्गल द्रव्य है जो कार्माण वर्गणाके रूपमें जीवसे चिपक जाता है और उसके आत्मिक गुणोंको आवृत्य कर देता है।

२ परमार्थकाल, मुख्यकाल तथा द्रव्यकाल निश्चयकालके नाम हैं, पर्याय काल तथा समय ये व्यवहार कालके नाम हैं।

३ द्रव्यसंग्रह-गाथा २२।

४ ए० चक्रवर्तीकृत पंचास्तिकाय समयसारकी भूमिका, तथा गाथा ४९ एवं उसकी टीका व. बी फैंडगोन कृत प्रवचनसारका अनुवाद।

वर्तनाका महत्त्व—

स्थायित्वकी एकता (वर्तना) ही कालका प्रधान लक्षण है। यदि यह न हो तो संसार उड़ती हुई क्षणिकताका प्रदर्शन मात्र हो जायगा। यही कारण है कि अकलंकभट्ट[1] ऐसे महान् आचार्योंने कालद्रव्यमें 'वर्तना' को इतनी अधिक प्रधानता दी है! इसी स्थायित्व विशेषताके कारण जगतकी वस्तुओंमें स्थायित्व तथा वृद्धि होती है। बर्गसनके अनुसार क्षेत्रविभागके कारण कालकी एकता है तथा एलेक्जेण्डरके मतसे क्षेत्र कालात्मक परिवर्तनका सांचा (प्रक्रिया) इसका कारण है किन्तु जैन दर्शन वर्तनाको ही इसका कारण मानता है।

काल स्वरूपकी व्याख्या

स्व स्वरूपकी अपेक्षा काल अणुरूप है किन्तु उसका लक्षण 'वर्तना' अथवा सातत्य है। समयमें पृथक्ता तथा एकता सहभावि हैं। यह बड़ा वैचित्र्य है किन्तु कालकी पृथकता तथा वर्तनामें समन्वय सिद्ध करनेके लिए श्री 'बर्टाण्ड रसल' द्वारा दिये गये भौतिक, मनोवैज्ञानिक तथा तार्किक हेतु[2] जैन दृष्टिका ही समर्थन करते हैं। किन्तु इस आपत्तिको जैनधर्मकृत वस्तु स्वभाव व्यवस्था तथा कालका स्वरूप सहज ही सरल कर देते हैं। उत्पाद (नूतन पर्याय), व्यय (पूर्व पर्याय विनाश) तथा ध्रौव्य (मूल द्रव्यका स्थायित्व) ही द्रव्यका स्वरूप[3] है। काल द्रव्यमें भी ये तीनों होते हैं। द्रव्य सामान्य ध्रुवत्व और पर्यायत्वमें कोई विरोध नहीं है उसी प्रकार कालकी प्रत्येक क्षणकी पृथकता तथा वर्तनामें कोई पूर्वापर विरोध नहीं है। जैन दर्शनानुसार प्रतिक्षणकी पर्याय रूपता तथा वर्तना (स्थायित्व) अथवा विनाश और स्थायित्व साथ ही साथ चलते हैं।

परिणाम हेतुता—

वस्तुओंके परिवर्तन तथा कालकी जैनधर्म सम्मत सापेक्षताका सिद्धान्त जैन मान्यताकी रोचक वस्तु है। श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कहते हैं 'काल वही है जो वस्तुके परिवर्तनमें सहायता करे[4]।" किन्तु काल परिवर्तनोंका निमित्त ही है जैसे कि कुम्भकारके चक्रके नीचेका पाषाण चक्रकी गतिमें निमित्त होता है वह गतिको उत्पन्न नहीं करता[5]। 'समय स्वमेव सद्भूत कारण है' बर्गसनकी इस मान्यताके यह प्रतिकूल पड़ता है। फलतः इसे हम कालकी निमित्तता तथा उपादानताका विवाद कह सकते हैं।

---

१ "वर्तनाग्रहणमादौ अभ्यर्हितत्वात्। राजवार्तिक पृ० २२९

२ 'अवर नोलेज ओफ एक्सटर्नल वर्ल्ड" पृ० १४५

३ तत्त्वार्थसूत्र अ० ५ सू० ३०।

४ द्रव्यसंग्रह गाथा ११।

५ "स्वकीयोपादानरूपेण स्वमेव परिणममानानां पदार्थानां कुम्भकारचक्रायाधस्तन शिलावत् ⋯ पदार्थपरिणते र्यत्सहकारित्वं सा वर्तना मन्यते॥" (पूर्वोक्त गाथा २१ की वृत्ति)

व्यवहार काल—

स्याद्वादमें व्यवहार काल तथा निश्चय कालमें क्या सम्बन्ध है ? व्यवहार कालको 'समय' शब्दसे कहा है जब कि निश्चय कालको 'काल' शब्दसे ही कहा है। वस्तुओंमें होने वाले परिणाम[1] तथा क्रिया[2] द्वारा ही समयका भान होता है। वह कालात्मक परत्व (दूर) तथा अपरत्व व्यवहारका मूल स्रोत है। निश्चय कालके द्वारा अपने परिणामका निश्चय कारनेके कारण समय परायत्त (पराधीन) है। क्षण, घंटा, दिन, वर्ष, आदि उसके परिणाम हैं। एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेश तक जानेमें अणुको जो समय लगता है उसे ही समय (कालका सबसे छोटा प्रमाण) कहते हैं। इसी इकाईसे घंटा, दिन, वर्ष, आदि बनते है।

जगतकी सुघटित घटनाओंके आधारपर होने वाले घंटा, दिन, आदि भेदोंके निश्चयके समान समयकी सत्ताका निर्णायक निश्चयकाल है। व्यवहार कालको उपचारसे काल कहते हैं। ज्योतिषी देवोंकी गति तथा वस्तूपरिणामनके आधारपर समय भेदकी मान्यता जैन दर्शनकी दृष्टिमें उतनी ही भ्रान्त है जितना इस प्रकारकी गति तथा क्रियाको उनकी सत्ताका कारण मानना है।

काल द्रव्यका जैन विवेचन विध्यात्मक दृष्टिसे इसलिए महत्त्वका है कि वह कालको विश्वके पदार्थोंमें अन्तरंग और मूल तत्त्व मानता है। 'न्यूटनके प्रिन्सिपा'का निम्न उद्धरण जैन मान्यताकी प्रतिध्वनि मात्र है—"शुद्ध तथा स्वस्थ समय बाहिरी वस्तुओंकी अपेक्षा न करके अपने सहज स्वभावानुसार सम गतिसे चलता है। जिसका दूसरा नाम स्थायित्व (वर्तना) है" परत्व, अपरत्व, आदि आपेक्षिक, बाह्य तथा साधारण (व्यवहार) समयरूप मान वाह्य तथा इन्द्रियजन्य है जिसका निर्णय परिणामसे होता है यद्यपि यह ठीक तथा अप्रामाणिक भी होता है। इसका शुद्ध समय, (निश्चय काल) के स्थानपर व्यवहार होता है, जैसे घंटा, दिन, मास, वर्ष, आदि।

---

१ ओदन-पाक परिणामका उदाहरण है। सूर्यका भ्रमण गतिका दृष्टान्त है। विशेष रागवार्तिक पृ० २२७ प्रवचगसार कारिका २१–२३।

२ प्रवचनसार गाथा ४७ तथा टीका।

जैनधर्म तथा सम्पत्ति—

श्री प्रा० गोरावाला खुशालजैन, एम०, ए०; साहित्याचार्य, आदि,

धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इस चतुर्वर्ग समन्वित मनुष्य जीवनमें धर्म प्रधान है क्योंकि अन्ततोगत्वा वही मोक्षका साधक होता है। अर्थ तथा काम उसके साधक अंग हैं जैसा कि "तीनोंके परस्पर अविरोधी[1] सेवन द्वारा ही मानव जीवनके दिन सार्थक होते हैं" कथनसे स्पष्ट है। यही कारण है कि जैन साहित्यमें जीव-उद्धार, आत्म-विद्या या धर्मशास्त्रकी बहुलता है। कवि कल्पनाके सुकुमार विलास काव्य भी इससे अछूते नहीं हैं[2]। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि जैन साहित्यने मानव जीवनकी उपेक्षा करके केवल ऊपर (स्वर्ग, मोक्ष) अथवा नीचे (नरक) देखनेकी ही शिक्षा दी है तथा आंखोंके सामने खड़े संसारकी उपेक्षा की है। "अपने भलेके लिए उत्सुक किसी होनहार व्यक्तिने शान्त सुन्दर वनमें बैठे मूर्तिमान दर्शन-ज्ञान-चरित्र गुरूजीसे पूछा 'भगवन! मेरा भला किसमें है? उत्तर मिला आत्यन्तिक स्वतंत्रता (मोक्ष) में। वह कैसे हो? सच्ची दृष्टि, ज्ञान तथा चरित्र द्वारा। यह तीनों कैसे प्राप्त हो सकते हैं? तत्वोंके श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण द्वारा। तत्व क्या हैं? चेतन तथा अचेतन, उनका आकर्षण, सम्बन्ध, विरक्ति, वियोग तथा आत्म स्वरूपप्राप्ति ये सात तत्त्व हैं[3]?" इस प्रकार जैन धर्म शास्त्रको देखने पर ज्ञात होता है कि इन्होंने "जीवकी जीविका तथा जीव उद्धार" का सांगोपांग प्रतिपादन किया है। मनुष्य संसार ही में न फंस जाय इसलिए उन्होंने अपने व्याख्यानोंमें ही मुक्तिको प्रधानता नहीं दी अपितु संसार तथा मोक्षके प्ररूपक शास्त्रको भी धर्मशास्त्र ही नाम दिया। फलतः प्राणिशास्त्र, भूगोल, भौतिक, आदि विविध-विज्ञान, जीवकी सम्पत्ति, राज्य, आदि समस्त व्यवस्थाएं धर्मशास्त्रसे अनुप्राणित हैं और धर्मशास्त्रके अंग हैं। उदाहरणार्थ आजके युगकी प्रधान समस्या सम्पत्तिको लीजिये—स्थूल दृष्टिसे देखने पर कोई 'जैन सम्पत्ति शास्त्र' ऐसी पुस्तक नहीं मिलती और कहा जा सकता है कि

---

१ "अहानि यान्ति त्रयसेवयैव।" सागारधर्मा० १,१५।

२ प्रत्येक काव्यमें नायक आदर्श गृहस्थ जीवनसे विरक्त होता है और तप करके ज्ञानको पूर्ण करता है तथा धर्मोपदेश देता है। दृष्टव्य पुरुषदेव चम्पू, धर्मशर्माभ्युदय, आदि अनेक काव्य।

३ आचार्य पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धिकी उत्थानिका पृ० १ तथा मोक्षशास्त्र, आदि।

धर्मशास्त्र क्यों पढ़ा जाय उससे आर्थिक समस्याका हल तो होता नहीं। पर स्थिति ऐसी नहीं है। यदि मनुष्यके अन्तरंग शत्रु सहज-विश्वासकारिता, भ्रान्ति तथा अज्ञानके लिए सम्यक् दर्शन तथा ज्ञानका विशद प्रतिपादन है, युद्धादि हिंसाओंसे बचानेके लिए अहिंसा, असत्य व्यवहार तथा कूटनीति (डिप्लोमैसी) के लिए सत्य, व्यक्तिगत चोरी तथा राष्ट्रिय अन्ताराष्ट्रिय आर्थिक शोषणसे बचानेके लिए अचौर्य तथा स्त्रीको सम्मान और समानता जिनाकारीनिरोध एवं सुसन्तानके लिए ब्रह्मचर्यका उपदेश है तो पूंजीवादके मस्तकपर कच्चे तागेमें बंधी 'अपरिग्रह' रूपी तलवार भी लटक रही है। क्या देवपूजा, युक्ताहार-विहार, आदि करनेसे ही मनुष्यके कर्त्तव्य पल जाते हैं? जैन धर्मशास्त्र उत्तर देता है 'नहीं'। धार्मिक होनेके लिए पहली शर्त यही है कि धन न्यायपूर्वक कमाये[१]। न्यायसे भी यदि अधिक कमाये तो क्या करे? देवपूजा गुरुसेवा, आदिके समान ही ज्ञान, औषधि, आहारादिकी व्यवस्थामें उनके लिए उत्सर्ग कर दे जो अभावग्रस्त हैं[२]। क्या ऐसे व्यवसाय कर सकता है जिसमें हिंसा हो अर्थात् दूसरोंकी आजीविका जाती हो, दूसरोंको अपने श्रम तथा साधनाके फलसे वञ्चित होना पड़ता हो, आदि? उत्तर मिलता है कदापि नहीं। ऐसा व्यक्ति अहिंसक भी नहीं हो सकता[3] 'न्यायोपात्त धनः' तो बहुत बादमें आनेवाली योग्यता है। किन्तु इसपरसे यह अनुमान करना कि "जैन धर्ममें परम्परया सम्पत्ति व्यवस्थाके संकेत हैं' शीघ्र-कारिता होगी। क्योंकि जैनधर्म स्पष्ट कहता है कि यदि हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचारसे बचना है तो परिग्रहसे[४] बचो। इस व्रतका विवेचन तो स्पष्ट एवं सर्वाङ्गीण सम्पत्ति-शास्त्र है।

आजके विकृत मानव जीवनके पांच द्वार हैं। उन पांचोंमेंसे एक, एकपर एक एक पाप करके ही मनुष्य प्रवेश पा सकता है। आजके तथोक्त शिष्ट प्रथम चार द्वारोंसे प्रवेश करते हुए सकुचाते हैं। किन्तु पञ्चम द्वारपर पहुंचते ही सोचते हैं "परिग्रह कर लो इसमें हिंसादि पाप तो हैं नहीं" परिणाम वही हो रहा है जो उस पौराणिक व्यक्तिकी दशा हुई थी जिसने मांसभक्षण, मद्यपान तथा वेश्यागमनसे बचकर भी जुआ खेलना स्वीकार कर लिया था और फिर उसके बाद पूर्व त्यक्त तीनों कुकर्म भी किये थे। इसी प्रकार परिग्रहका इच्छुक व्यक्ति सर्वप्रथम अ-स्वस्थ, अनुशासन हीन अर्थात् अब्रह्मचारी होता है, उसके लिए चोरी करता है, चोरीको छिपानेके लिए असत्य व्यवहार करता है और असत्यसे उत्पन्न अनर्थोंको न्यायोचित सिद्ध करनेके लिए हिंसाकी शरण ली जाती है। अर्थात् पाप उत्पत्तिका क्रम व्रतक्रमका

---

१ "न्यायसम्पन्न विभवः...गृहिधर्माय कल्पते॥' (योगशास्त्र १, ४७-५६)
"न्यायोपात्तधनः..सागारधर्मं चरेत्।" (सागरधर्मा० १ ११)

२ देवपूजा गुरूपास्ति...दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने॥"

३ सागारधर्मामृत ५, २१-२३।

४ योगशास्त्र २, ११०-११ सागरधर्मा० ४, ६३—६५।

पूर्ण व्लोम है क्योंकि अहिंसाकी पूर्णताके लिए[1] सत्य आवश्यक होता है। सत्यके आते ही चोरी वञ्चना असंभव होती है, इसके कारण कामाचार रुक जाता है फलतः ब्रह्मचर्य आता है और ब्रह्मचर्यके उदित होते ही उसकी मर्यादाको सुपुष्ट करनेके लिए सुतरां व्यक्ति अपरिग्रही हो जाता है।

परिग्रहमें पाप कल्पना—

किन्तु आश्चर्य तो यह है कि परिग्रहको अनर्थोंका निमित्त कहकर तथा संचयकी मुक्तकंठसे निन्दा करके भी किसी धर्मने परिग्रहको स्पष्ट रूपसे पापोंमें नहीं गिनाया। अधिकसे अधिक यही किया कि उसे यमोंमें अर्थात् विशेष व्रतोंमें गिना दिया है[2]। किन्तु जैनधर्मने परिग्रहको उतना ही बड़ा तथा घातक पाप कहा है जितने बड़े तथा भीषण हिंसा, आदि हैं[3] इतना ही नहीं मुक्तिको भी उन्होंने परिग्रह हीनता पूर्वक माना जैसा आदि-जैन (दिगम्बर) परम्परासे सुस्पष्ट है[4]। हिंसादि ऐसे पाप हैं जिनकी पाप-रूपता जगतकी दृष्टिमें स्पष्ट है, कर्त्ता भी सकुचाता है क्योंकि शासन व्यवस्था भी इन्हें अपराध मानती है और दण्ड देती है। किन्तु सम्पत्ति या परिग्रह ऐसा पाप है जिसे विश्व पाप तो कहे कौन बुरा भी नहीं समझता। भौतिक-समाजवादी भी इसके व्यक्तिगत-सम्पत्ति होनेके विरुद्ध हैं राष्ट्रीकरण अथवा समाजीकरण करके इसकी अमर्याद वृद्धिको वे अपना लक्ष्य मानते हैं। किन्तु जैनधर्मकी दृष्टिमें प्रत्येक अवस्थामें परिग्रह पाप है जैसा कि निम्न लक्षणोंसे स्पष्ट है—

परिग्रह-परिमाण के लक्षण—

इस युगके प्राचीनतम आचार्य कुन्दकुन्दने गृहस्थ धर्मका वर्णन करते हुए केवल 'परिग्गहारंभ परिमाणं'[5] कह कर अपने युग (ई० पू० प्रथम शती) के सहज सात्त्विक समाजको केवल सुवर्ण, आभरण आदि परिग्रह तथा सेवा, कृषि, वाणिज्य, आदि आरम्भोंको आवश्यकताके अनुकूल रखनेका आदेश दिया था। किन्तु वीरप्रभुके तथा केवलियोंके बाद ज्यों ज्यों समय बीतता गया त्यों त्यों लोग उनके उपदेशको भूलते गये। वह समय तथा मन्दकषायी (सरल) समाज भी न रहे जो 'साधारण संकेत को पाकर ही पापके बाप[6] परिग्रह' से बच जाते फलतः मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी आवश्यक हुआ। इस श्रेणीके आचार्योंमें सर्वप्रथम आचार्य उमास्वामि हैं जिनके तत्त्वार्थसूत्र अथवा मोक्षशास्त्रकी

---

१ "सत्यादीनि तत्परिपालनार्थानि, सस्यस्य वृत्तिपरिक्षेपवत्" सर्वा० सि० पृ० २०० तथा राजवा० पृ० २६९

२ "अहिंसा सत्यमस्तेय ब्रह्मचर्या-परिग्रहाः।" योगसूत्र २,३०।

३ तत्त्वार्थ सूत्र ७,१ तथा समस्त टीकाएं।

४ दृष्टव्य प्रतिमाक्रम, षष्ठगुणस्थान, परीषहादि विवेचन।

५ चरित्र प्राभृत गा० २३।

६. दशधर्म पूजामें शौच धर्मका भाग।

मूल जैनसम्प्रदायके सिवा उत्तर कालीन सम्प्रदायोंमें भी पूर्ण मान्यता है। इनके अनुसार मूर्छा (अर्थात् गाय, भैंस, मणि, मुक्ता, आदि बाह्य तथा राग, द्वेष, आदि अन्तरंग पर-पदार्थोंके संरक्षण रूप स्वभाव) ही परिग्रह है[1]। 'मूर्छा' शब्दका प्रयोग ही उस समयके समाजकी मानसिक स्थितिका सूचक है। सूत्र ग्रन्थ होनेके कारण इस लक्षणमें वह विशदता नहीं है जो आ० कुन्दकुन्दके संकेतमें है। विशेषकर उस वैज्ञानिक सावधानीका तो आभास भी नहीं है जो कि स्वामी कार्तिकेयके उपदेशका वैशिष्ट्य है। उनकी दृष्टिमें आत्मतृप्त होकर संतोष अमृत द्वारा लोभका विनाश, संसारकी विनाश शीलताके कारण तृष्णा नागिन का हनन तथा धन, धान्य, सुवर्ण, क्षेत्र, आदिका परिमाण मात्र परिग्रह परिमाण नहीं है, अपितु परिमित परिग्रही होनेके लिए उक्त त्यागके पहिले कार्यकारी उपयोग-आवश्यकता[2] को जानना आवश्यक है। अर्थात् यथेच्छ परिमाण करना अपरिग्रह नहीं है अपितु शरीर तथा आत्माका प्रशस्त सम्बन्ध बनाये रखने के लिए अनिवार्य आवश्यकता अनुसार परिमाण करना ही परिग्रहपरिमाण व्रत हैं।

स्वामी समन्तभद्रकी क्रान्ति—

जब हम स्याद्वादावतार स्वामी समन्तभद्रको देखते हैं तो स्वामी कार्तिकेयके संकेतको भाष्य रूपमें पाते हैं। वे धन, धान्य, आदि परिग्रहका परिमाण करके उससे अधिकमें निस्पृह रहे कहकर ही परिग्रह विरतिका उपदेश समाप्त नहीं करते अपितु 'इच्छा परिमाण[3]' नाम देकर व्रतके साध्यको मुखोक्त कर देते हैं। अर्थात् यथेच्छ परिमाण कर लेना व्रत नहीं है अपितु इच्छाका निरोध भी आवश्यक है। आचार्यको मानव मनःस्थिति 'लाभाल्लोभः प्रपजायते' का स्पष्ट ज्ञान था। वे जानते थे कि जीवनमें सहस्र रुपया कमानेकी योग्यता न रखनेवाला भी लाखोंका नियम करेगा। 'येन केन प्रकारेण सम्पत्ति कमानेमें लीन बुद्धिमान पुरुष करोड़ों, अरबोंका नियम करेगा, खूब दान देकर त्यागमूर्ति भी बनेगा और स्वयं भी व्रतके शव (करोड़ोंका परिमाण) को लिए हुए व्रती तथा नेता बनेगा। अपने जीवनके अनुभवों के आधार परभी उन्हें यह ज्ञान था कि मनुष्य ग्रहीत नियमके आत्माको निकालकर भी किस कुशलतासे वाह्य रूपको बनाये रखता है फलतः उन्होंने "इच्छा परिमाण" से स्वामी कार्तिकेयके कार्यकारी मात्र वस्तुओं का परिमाण; अधिक अथवा विलास साधक वस्तु परिमाण नहीं, पर स्पष्ट जोर दिया[4]। फलतः स्पष्ट है कि जैन साहित्यके प्रथम युगके आचार्योंने विश्व समाजमें सम्पत्तिको लेकर होनेवाली अव्यवस्थाओंको रोकने के लिए यही व्यवस्था की थी कि मनुष्य क्षेत्र, धन, धान्य, गृह, कुप्य (सूती, ऊनी, रेशमी वस्त्र, माल्य

---

१. "मूर्च्छा परिग्रहः" तत्त्वार्थसूत्र, १,७।

२. 'स्वामी कार्तिकेयानुपेक्षा "उपओगं जाणित्ता अण्णुव्वयं पंचमं तस्स" गा० ३३९—४०

३. "धन धान्यादिग्रन्थ परिमायि ततोधिकेषु निःस्पृहता। परिमित परिग्रहः स्यादिच्छा परिमाण नामपि ॥"

रत्नकरण्ड श्रावकाचार ३.१५

४. रत्नखण्ड ३, १५ की व्याख्या पृ. ४६। (मा. ग्र. मा.)

अनुलेपन आधुनिक पाउडर, क्रीम, साबुन, आदि), शय्या, आसन (मोटर, आदि), द्विपद (मनुष्य दासी, दास) पशु तथा भाण्ड (सब प्रकारके बर्तन, आदि) के स्थूल भेदसे दश प्रकारके परिग्रहको उतना ही रखे जितना उसके लिए कार्यकारी[1] हो अर्थात् जिसके न होनेसे जीवन यात्राके रुक जानेकी आशंका हो।

लक्षणोंके भाष्य—

आचार्य उमास्वामिके 'तत्त्वार्थ सूत्र' को मानव जीवनके सकल मनोरथोंका पूरक बना देनेका श्रेय पूज्यपाद स्वामीको है[2]। परिग्रहके लक्षण का सूत्र तथा उसके विरतिपरक भाष्यको लीजिये-"मूर्छा क्या है? गाय, भैंस, मणि, मुक्ता, चेतन-जड़ आदि बाह्य तथा मोह जन्य रागादि परिणाम रूप अन्तरंग उपाधियोंके अर्जन, संरक्षणादि स्वरूप संस्कारका न छूटना ही मूर्च्छा है। तब तो आध्यात्मिक ही परिग्रह या मूर्च्छा होगी वाह्य छूट जायगा ? सत्य है, प्रधान होनेके कारण अन्तरंग परिग्रह ही परिग्रह है। क्यों कि धन-धान्यादि न होनेपर भी यह मेरा है, इस संकल्प मात्रसे जीव परिग्रही हो जाता है। अथ बाह्य परिग्रह नहीं ही होता है ? होता ही है 'ममेदम्' मूर्छाका कारण होने से। सम्यक्ज्ञानादिको भी रागादिके समान परिग्रहत्व आ जाय गा ? नहीं, 'प्रमत्तयोगात्' ही मूर्छा परिग्रह है। समयक दर्शन-ज्ञान-चारित्रवान् अप्रमत्त होता है, उसे मोह नहीं होता अतः वह परिग्रही नहीं होता। ये आत्माके ही रूप हैं, रागादि कर्मकृत हैं। अतएव इनमें संकल्प होने से परिग्रह होता है और उसी से समस्त दोष होते हैं। 'ममेदम्' संकल्प होते ही संरक्षणादि अनिवार्य हो जाते हैं उनके समारम्भ में हिंसा अनिवार्य है। इसके लिए झूठ भी बोलता है। चोरी (चुङ्गी, आयकर आदि से प्रारम्भ होकर चोर बाजारी आदि में परिणत होती है) भी करता है। तथा व्यभिचार भी करता कराता है[3]।" इस प्रकार यह भाष्य परिग्रहको सब पापों की खान तथा कायिक या बाह्य परिग्रहको ही पाप नहीं बताता अपितु उसके मनोवैज्ञानिक रूपको भी 'हाथका कंगन' कर देता है। आजके सर्वोत्ताम अर्थशास्त्री मार्क्सवादी भी केवल 'सम्पत्तिके व्यक्तिगत स्वामित्व'को ही हेय समझते हैं किन्तु जैनधर्म कहता है कि सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण या समाजीकरण भी पर्याप्त नहीं है। सबसे घातक तथा निकृष्ट सम्पत्ति तो यह है जो कहता है 'रूस मेरा, मार्क्सवाद मेरा, आदि'। अर्थात् सम्पत्तिका तथोक्त समान विभाजन (प्रत्येक से उसकी सामर्थ्य भर काम लेना और उसकी

---

१. कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा गा. ३४० की व्याख्या—"उपयोग ज्ञात्वा-कार्यकारित्वं परिज्ञाय परिग्रहाणां संख्यां करोति यः स पञ्चमाणुव्रतधारी स्यात्" (अकलंक सार० भवनकी हस्तलिखित प्रति पृ. १४९)

२. तत्त्वार्थ सत्रकी उनके द्वारा रचित टीका यथार्थ नामा "सर्वार्थसिद्धि" है।

३. सवार्थसिद्धि पृ० २०७-८। (कल्लप्पा, भरमप्पा निटवेके जैन मुद्रणालय कोल्हापुर का प्रकाशन शक्काब्द १८३९.)

आवश्यकता भर देना) भी पर्याप्त नहीं है। अपितु इस विभाजनके पूर्व 'मुझे भी इतना पानेका अधिकार है' आदि इन संकल्पोंकी समाप्ति अनिवार्य है। नहीं तो प्रथम विश्व युद्धके बीस वर्ष बाद दूसरा विश्व युद्ध आया और उसकी समाप्तिके संस्कार पूर्ण विना हुएही तीसरेका सूत्र पात हो गया है। तथा पूज्यपाद स्वामी द्वारा घोषित; राष्ट्रियता सिद्धान्त अथवा वाद, आदि रूपी परिग्रहका त्याग न हुआ तो विश्व युद्ध-मय होकर स्वयं ही विनष्ट हो जायगा।

श्वेताम्बर सम्प्रदायमें स्वोपज्ञ भाष्य रूपसे मान्य टीका ने "इच्छा—प्रार्थना—काम-अभिलाषा-कांक्षा, गार्द्धर्य (लोलुपता) को ही मूर्च्छा" कहकर उक्त भाव को स्पष्टतर कर दिया है[1]। अर्थात् अहिंसादि के पालन के लिए परिग्रह विरति अनिवार्य और इसके लिए उपर्युक्त सबका न होना अनिवार्य है।

अकलंक भट्टका राजवार्तिक भाष्य जहां पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि टीका को विस्तृतकर के सुगम तथा पूर्ण कर देता है वहीं अपनी मौलिक सूझ तथा प्रतिभाके द्वारा उसे क्षेत्र कालोपयोगी भी कर देता है। 'समस्त दोष परम्परा का मूल परिग्रह है' तथा 'इस परिग्रहके ही कारण व्यसन रूपी महासमुद्र में डूबना नहीं रुकता[2]' ये वाक्य बड़े महत्त्व के हैं क्यों कि जब तक परिग्रहीको हत्यारे, झूठे, चोर और जिनाकारके समान नहीं समझा जायगा तब तक संसारमें शान्ति चन्द्रिकाका उदय असम्भव है। शास्त्रार्थी अकलंक भट्टने संभवतः "जिसके धन है वह साधु है, विद्वान् है, गुणी है...सब कुछ है[3]।" इस अनर्थकारी मनोवृत्ति पर ही उक्त प्रहार किया था। इस श्लोक का युग आध्यात्मिक संस्कृति प्रधान भारतके सामाजिक इतिहासका निकृष्टतम समय था। जिसकी विरासत आज भी फलफूल रही है और अपने नीचतम रूपको धारण करके मानवको भूखा और नंगा बना रही है। मानवताके इतिहासमें परिग्रह पाप तथा उसकी विरक्तिके उक्त स्वरूपके प्रचारकी जितनी आवश्यकता आज है उतनी इसके पहिले कभी नहीं थी।

उत्तर कालीन आचार्योंके लक्षण—

श्री हेमचन्द्र सूरिकी दृष्टिसे "लोलुपताके फल स्वरूप असंतोष, अविश्वास तथा आरम्भको दुःखका कारण मानकर मनुष्य परिग्रहका नियन्त्रण करे" परिग्रहविरतिका लक्षण है। इसके बाद उनने कारिकाओं द्वारा परिग्रहकी दृष्टान्त पूर्वक पापरूपता, दोष मूलता, संसार कारणता तथा परिग्रह

---

१. सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम सूत्र पृ० १६१ (परमश्रुत प्रभावकमण्डल का संस्करण वीनि. सं २४३२.)

२. राजवार्त्तिक पृ० २७९, "तन्मूलाः सर्वदोषानुषगाः" "इहापि अनुपरतव्यसनमहार्णवावगाहनम्।"

३, पचतत्र, मित्र भेद, श्लो० २ से २० तक।

त्यागकी महिमाका सांगोपांग वर्णन किया है[१]। विवेचनको सूत्रानुसारी होते हुए भी लोकोपयोगी बना देता तो आचार्यकी विशेषता ही थी जो कि इसमें स्पष्ट लक्षित होती है।

पंडिताचार्य आशाधरजी "चेतन, अचेतन तथा चेतना-चेतन पदार्थोंमें 'मेरा है' इस संकल्पको ग्रन्थ (परिग्रह, उलझन) कहते हैं। उसको थोड़ा करना ग्रन्थपरिमाण व्रत है[२]।" इसके बाद दो पद्यों द्वारा अन्तरंग[३] तथा बहिरंग[४] परिग्रहोंके भेद गिनाये हैं। पूर्वाचार्योंके समान सागारधर्मामृत कार भी 'देश, समय, जाति, आदिको दृष्टि में रखते हुए तथा इच्छाको रोक कर धन, धान्य, आदिका मरण पर्यन्त परिमाण करनेका उपदेश देते हैं। वैशिष्ट्य यह है कि एक बार किये गये परिमाणको भी यथाशक्ति पुनः पुनः कम करनेका भी आदेश देते हैं[५]।' इस आदेशके बलपर आजकल प्रचलित परिग्रह परिमाणकी प्रथाका कतिपय सधर्मी समर्थन करना चाहेंगे। किन्तु निर्भीक, जागरूक पं० आशाधरजी ऐसे धर्मनेताके वक्तव्यकी यह व्याख्या, व्याख्याताके अन्तरंगका प्रतिबिम्ब हो सकती है, पं. आशाधरजी का संकेत नहीं। 'देश, समय, जात्यादि' पद तो परिमाणकी विगत तथा अप्रमत्तताका स्पष्ट सूचक है। अर्थात् व्रतीको वर्तमान सब क्षेत्रों, उष्ण शीतादि समयों, आदि सबकी अवश्यकताका ख्याल करके नियम करना चाहिये तथा इसे भी घटाना चाहिये। बढ़ाना किसी भी अवस्था में जैनधर्म नहीं हो सकता। पंडिताचार्यका यह लक्षण सोमदेव सूरिके "कुर्याच्चेतो निकुञ्चनम्[६]" का विशद भाष्य सा लगता है। श्री अमृतचन्द्र सूरि का वर्णन भी श्री सोमदेव सूरिके ही समान है[७]। आचार्य शुभचन्द्र ने अपनी महाविरक्ति प्रकाशक शैलीके अनुसार परिग्रहका पूर्वाचार्योंके ही समान होकर भी हृदय द्रुत कर देने वाला निरूपण किया है[८] ब्रह्मचर्य के पालनके लिए अपरिग्रह अनिवार्य है और परिग्रह होनेसे कामदेव रोका ही नहीं जासकता इस व्रत तथा पापक्रमका "सूर्य अन्धकार मय हो जाय, सुमेरु चञ्चल हो जाय किन्तु परिग्रही जितेन्द्रिय नहीं हो सकता।" तथा परिग्रह "कामरुपी सर्पके लिए वामी है[९]" द्वारा स्पष्ट समर्थन किया है। इस प्रकार अन्य आचार्योंके

---

१. योगशास्त्र २, १०६ से ११५ तथा स्वोपज्ञ टीका।

२. सागारधर्मामृत ४, ५९।

३. उद्यत्क्रोधादि हास्यादि षट्क वेद त्रयात्मकम् (मिथ्यात्व सहितम्) सा. ४. ६०।

४. क्षेत्रं, धान्यं, धनं वस्तु, कुप्यं शयनमासनम्। द्विपदा पशवो भाण्ड बाह्या दश परिग्रहाः। (यशस्तिलक उत्त. पृ. ३६६)

५. "परिमितमपि शक्तितः पुनः कृशयेत्।" सागरध० ४. ६२।

६. यशस्तिलक चम्पू उत्त० पृ. ३६६।

७. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय कारिका १११-१२८।

८. ज्ञानार्णव, प्रकरण १६ श्लो १. ४२।

९. "अपि सूर्यस्त्यजेद्धाम स्थिरत्वं वा सुराचलः। न पुनः संगसंकीर्णो मुनिः स्यात्संवृतेन्द्रियः॥ २६ स्मरभोगीन्द्र वल्मीकम्।" ज्ञानार्णव पृ १८०।

प्रतिपादन भी दिये जा सकते हैं जो कि उनके देश, काल, आदि की सामाजिक परिस्थितिके विवेक तथा साहस पूर्ण हल होंगे

लक्षणोंका फलितार्थ--

उक्त प्रधान लक्षणोंकी समीक्षाके आधार पर कहा जा सकता है कि सावधानीके साथ देश काल, आदिका अविकल विचार करके इच्छा तथा मनोवृत्तिको पूर्ण नियन्त्रित करते हुए जो जविनोपयोगी वस्तुओंका कार्यकारी मात्र परिणाम किया जाता है वही परिग्रह परिमाण व्रत है।

भ्रान्त प्रथा—

प्रश्न उठता है कि जब इतना सूक्ष्म विवेचन मिलता है तो यथेच्छ परिमाण करके परिग्रह परिमाण व्रती बननेकी पद्धति कैसे व्यवहारमें आयी। तथा हिन्दी टीकाकारों[1] की क्षेत्रादि, हिरण्यादि धनादि, द्विपदादि कुप्यमानातिक्रमादि[2] को स्थूल सी व्याख्यामें भी वर्तमान प्रथाका सैद्धान्तिक समर्थन सा क्यों प्राप्त होता है? परिमाण स्वरूप आज क्यों देखा जाता है कि अनावश्यक धन, धान्यादिके स्वामी हजारों दासी दासोंके परिश्रमकी कमायी पर विलास करने वाले साधर्मी केवल संख्या-निश्चित कर लेनेके कारण परिमित-परिग्रही कहे जाते हैं। संभवतः इस भ्रान्त मान्यताके मूलमें सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियां जितनी कारण हुई हैं उससे अधिक कारणता उस अज्ञानको है जो १३ वीं १४ वीं शतीके बाद मौलिक विद्वानोंके न होनेके कारण जड़ जमाता गया। साथही साथ पड़ोसी धर्मोंका प्रभाव भी उदासीन कारण नहीं रहा है। इनके अतिरिक्त द्रव्य; वह भी दृष्ट अहिंसाके पालक हो जानेके कारण जैन नागरिक अन्य व्यवसायोंसे हाथ खींचते गये और वाणिज्यके ही उपासक बन गये। फलस्वरूप 'दिन दूनी रात चौगुनी' सम्पत्तिके संचयको न्याय करनेके लिए उनका परिग्रह परिमाण व्रतके स्वरूपको तदनुकूल बनाना स्वाभाविक ही था। अर्थ प्रधान युग होनेके कारण धर्मोपदेशक पंडितोंने भी अपने कर्त्तव्योंका नैतिकतासे पालन नहीं किया, जिसका कि पं० आशाधर[3] जी को स्पष्ट उल्लेख करना पड़ा था फलतः परिग्रह परिमाणको विकृत होना पड़ा। क्योंकि लक्षणों तथा उनकी व्याख्या परिमित परिग्रहके 'अनिवार्य आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए कार्यकारी परिमाण' रूपका संकेत करती है। इतना ही नहीं इसके पालनकी भूमिका, इसमें आनेवाले दोषों, आदिका वर्णन भी इसका समर्थक है।

---

१ रत्नकरण्डश्रावकाचारकी भाषा वचनिका, मोक्षमार्गप्रकाश, सुदृष्टि तरंगिणी आदिके व्याख्यानोंके अंश।

२ "असयारम्भविणिविति संजणयं। खेत्ताइहरिण्णई धणाइ दुपयाई कुप्पमानकमे।"

श्रावकधर्म विधिप्रकरणम् गा० ८७-८।

३ "पण्डितैर्भ्रष्ट चारित्रै ....इत्यादि।"

परिग्रह परिमाणके पोषक—

प्रश्न हुआ कि अहिंसा, आदि व्रतोंके पुष्ट करनेके लिए क्या करना चाहिये ? उत्तर मिला ठीक है उनको दृढ़ करनेके लिए पांच, पांच भावनाएं हैं[1]। पञ्चम व्रतको पुष्ट करने लिए 'पांचों इन्द्रियोंके प्रिय तथा अप्रिय भोग्य विषयोंके उपस्थिति होनेपर प्रिय विषयोंमें आसक्त न होना तथा अप्रिय विषयोंसे आकुल अथवा उद्वेजित न होना इन पाचों भावनाओंका होना आवश्यक है[2]। इसके अतिरिक्त हिंसा, आदिके समान परिग्रहको भी अभ्युदय तथा निश्रेयसके लिए आवश्यक क्रियाओं एवं साधनोंका नाशक (अपाय) निन्दनीय[3] (अवद्य) तथा दुःखोंका कारण अथवा दुःखमय[4] ही मानना चाहिये। प्रवृत्ति परक भी साधक हैं—प्राणिमात्रको 'मित्र समझना, गुणियोंको देखकर प्रमुदित होना, दुखियोंपर करुणा भाव रखना तथा अशिष्ट उन्मार्ग गामियोंके प्रति तटस्थताकी भावना रखनेसे भी व्रत पुष्ट होता है[5]।

पोषकों की यह व्यवस्था पहिले तो यह बताती है कि "मनसा वाचा कर्मणा" सांसारिक विषयोंके प्रति कैसा भाव रखना उचित है, परिग्रही भी उतना ही पापी तथा निन्दनीय है जितना हत्यारा, ठग, चोर तथा व्यभिचारी है, परिग्रह अपने तथा दूसरोंके दुखका कारण भी है दूसरोंको दुःख न हो भाव ही मैत्री है, तब परिग्रह परिमाणके साथ साथ हजारों श्रमिकों, कृषकों आदिको कंकाल बना देना कैसे चलेगा ! गुणियोंके प्रति भक्ति तथा अनुराग ही प्रमोद है तो परिग्रही (जोकि 'हत्यारे' के समान भीषण आज नहीं लगता) की प्रशंसा, आदर, आदि ही नहीं उन्हें समाज, देशका कर्णधार बना देना कैसे वीर प्रभुका मार्ग होगा ? अनुग्रहका भाव ही कारुण्य है ऐसी स्थितिमें, तटस्थ बहुजन समुदायको जाने दीजिये किन्तु क्या परिग्रही साधर्मी अपने श्रमिकों, आदि की दीन हीन दशाको भी नहीं जानते ? यदि जानते हैं तो उनकी कमायी को अपने अहंकारकी पूजा, आत्म प्रतिष्ठा, आदिके कार्यमें क्यों लगाते है। श्रमिक-कृषक तो 'पानीमें पियासी मीन' है। उस भूखे रसोइयेके समान है जो 'पेटपर पत्थर बांधकर' 'छप्पन भोजन' तयार करता है तब भी परिग्रही सज्जनको अपने पर भी दया नहीं (अर्थात् नीच पापसे बचना) आती। यह सब करके भी उनके अज्ञान, शराब, सिनेमा, अपव्ययका राग अलापा जाता है। आश्चर्य तो यह है कि जो उनके जीवनको सर्वथा अभाव ग्रस्त करके उन्हें विपरीतवृत्ति बनानेवाले हैं वे ही उनके

---

१. "तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च।" ७-३ मोक्ष शास्त्र।
२. "मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रिय विषय रागद्वेषवर्जनानि पंच।" ७,८ "
३. "हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्य दर्शनम्।" ७, ९ "
४. "दुःखमेव वा।" " १० "
५. "मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थानि च—
—सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनयेषु।" ७, ११ "

सबसे बड़े निन्दक हैं और अविनयी, अशिष्ट, आदि कहकर दबाना चाहते हैं। क्या यह सब भी आगमानुकूल माध्यस्थ भाव है ?

परिमित-परिग्रहके अतिचार—

व्रतोंके अतिचारोंकी स्पष्ट व्याख्याका श्रेय सूत्रकार उमास्वामी महाराजको है। उनके अनुसार भूमि (जमींदारी), वास्तु (सब प्रकारके मकान), हिरण्य (परिवर्तन व्यवहारका कारण मुद्रा), सुवर्ण (सोना चांदी, आदि), धन (गाय-भैंस), धान्य (सब अनाज), दासीदास (प्रधानतया घरू तथा खेत, मिलों आदिमें काम करने वाले भी) तथा कुप्य (कपड़े, विलास सामग्री) के पूर्व निश्चित प्रमाणको लोभके कारण बढ़ानेसे परिग्रह परिमाण व्रतमें दोष आते हैं[1]। जब मर्यादाका उल्लंघन हुआ तो अव्रत (व्रत-भंग) ही हो जायगा, दोष क्यों ? आचार्यका अतिक्रम शब्दका प्रयोग साभिप्राय है। क्योंकि कृतनिश्चयके विषयमें उल्लंघनकी इच्छा द्वारा मानसिक शुद्धिको क्षत करना ही अतिक्रम है, शील व्रतादिका उल्लंघन होनेपर व्यतिक्रम हो जाता है, त्यक्त विषयमें प्रवृत होना अतिचार है तथा कृत निश्चयका बारम्बार उल्लंघन अनाचार है[2]। यद्यपि उत्तरकालमें प्रथम तीन शब्दोंका पूरी सावधानीसे प्रयोग नहीं हुआ ऐसा लगता है, पर आचार्योंको अन्यमनस्क मानना उचित नहीं। वस्तुस्थिति तो ऐसी प्रतीत होती है कि जहां 'व्यतिक्रमाः पञ्च'[3] आदि प्रयोग है वहां आचार्य मनोवैज्ञानिक गम्भीरताका संकेत करते हैं। इसी दृष्टिसे जब हम वैयाकरण, तार्किक, धर्मशास्त्री पूज्यपादको 'अतिक्रम'का भाष्य अत्यन्त लोभके कारण उक्त पदार्थोंके प्रमाणका 'अतिरेक'[4] करते पाते हैं, तथा अकलंक भट्टको इस वाक्यको वर्तिकका[5] रूप देते पाते हैं तो आपाततः यह शब्द विशेष विचारणीय हो जाते हैं। प्रकृति प्रत्ययका विचार करनेपर अतिरेक शब्दका अर्थ होता है अस्वाभाविक वृद्धि अथवा खींचना। फलतः सूत्रकार तथा भाष्यकारोंको कृत प्रमाणके उल्लंघनकी भावना अथवा 'वर्तन' ही अभीष्ट नहीं है अपितु वे इनके प्रमाणकी अस्वाभाविक मर्यादाको भी अतिचार ही मानते हैं।

स्वामि समन्तभद्र प्रणीत अतिचार—

समस्त तत्त्व व्यवस्थारूपी लोहेको स्याद्वाद पार्श्वपाषाणका स्पष्ट स्पर्श कराके स्वर्णमय कर देने वाले स्वामी समन्तभद्रकी चिन्ताधारामें अवगाहन करके परिग्रह परिमाणके अतिचारोंने भी अधिक

१ तत्त्वार्थसूत्र ७, २९।

२ "क्षतिं मनःशुद्धिविधेरतिक्रमं, व्यतिक्रमं शीलवृत्तेर्विलंघनम्।
प्रभोऽतिचारं विषयेषु वर्तनं वदन्त्यनाचार मिहातिसक्तताम् ॥ ९ ॥ (अमितगतिसूर द्वात्रिंशतिका)

३ रत्नकरण्ड श्रावकाचार ३, १०।

४ सर्वार्थसिद्धि पृ० २१६।

५ 'तीव्रलोभाभिनिवेशादतिरेकाः प्रमाणातिक्रमाः।'' राजवर्तिक पृ० २८८।

उपयोगी रूप पाया है। स्वामीकी दृष्टिमें क्षेत्र-वस्तु हिरण्य सुवर्ण, धन-धान्य, दासी-दास तथा कुप्य[1] के कृत प्रमाणका अतिक्रम मात्र परिमित परिग्रह व्रतके अतिचार नहीं हैं; अपितु अति वाहन, अतिसंग्रह, अति विस्मय (विषाद), अतिलोभ तथा अतिभार वहन ये पांच अतिचार हैं[2]। उनकी दृष्टिसे कृत प्रमाणके अतिक्रमका तो अवसर है ही नहीं। हां; कृत प्रमाणमें भी उक्त बातें करना अतिचार है। स्वामीकी यह मौलिक मान्यता उनके टीकाकार प्रभाचन्द्र आचार्यके हाथों पड़ते हैं मध्यान्हके सूर्यके समान तापक और प्रकाशक हो उठी है। "लोभकी अत्यन्त लोलुपताको रोकनेके लिए परिग्रह परिमाण कर लेने पर भी पुनः लोभके झोंकेमें आकर जो बहुत चलाता है अर्थात् बैल, घोड़ा, आदि सहज रूपसे जितना चल सकते हैं उससे अधिक चलाना अतिवाहन है। कागज, अन्न, आदि आगे विशेष लाभ देंगे फलतः लोभके वश होकर इन सबका अतिसंचय करता है। अथवा दुकानसे हटाकर गुप्त कर देता है ताकि और अधिक लाभ हो तथा अधिक भार लादता है। ये पांचों अतिचार हैं"[3]।

स्वामी ऐसे प्रबल प्रतापी एवं पुरुषार्थी गुरुके मन्तव्योंकी इससे अच्छी टीका अन्य कोई भी नहीं कर सका है। क्योंकि जहां इसमें कृत प्रमाणमें जरासा भी हेर फेर करनेका अवकाश नहीं है वहीं यह भी स्पष्ट है कि जितना सहज है स्वाभाविक है अनिवार्य है उससे अधिक कुछ भी नहीं कराया जा सकता, अन्यथा इच्छापरिमाण असंभव है। स्वामीके समयकी परिस्थितियोंसे पूर्ण परिचित न होकर भी यह कहा जा सकता है कि आजकी परिस्थितियोंके लिए तो यह व्याख्या सर्वथा उपयुक्त है—वर्तमान युगमें पशुओंकी तो बात ही क्या है मानव समाजका एक बहुत बड़ा भाग ही कामके भारके अति वाहन (ओवर टाइम) काम करनेके कारण असमयमें ही काल कवलित हो रहा है। नरवाहन (रिकशा) सहज हो गया है। किसानोंसे लेकर बड़े से बड़े व्यापरियोंने धान्य, वस्त्रादिका खूब संचय करनेकी ठान रखी है। शासन द्वारा थोड़ी सी भी कड़ायी किये जाते ही सार्वजनिक रूपसे मानवता शत्रु ये तथोक्त सम्पत्तिशाली 'हाय तोबा (अति विस्मय) मचा देते हैं। दैनंदिन जीवनोपयोगी वस्तुओंके दाम चतुर्गुण मिलने परभी ये इसीलिए नहीं बेचते हैं कि आगे अधिक लाभ होगा। तथा अतिवहन आरोपणकी तो चर्चा उठना ही व्यर्थ है। फलतः कहा जा सकता है कि वर्तमान विश्वकी अन्य समस्याओंके समान आजकी जटिल आर्थिक वृत्तियोंका भान भी जैनाचार्योंको था तथा उन्हींके मार्गपर चलनेसे इनका स्थायी निकार हो सकता है।

---

१ सर्वार्थसिद्धि पृ० २१६, राजवार्त्तिक पृ० २८८, सभाष्य तत्वार्थाधिगम पृ० १६८।

२ "अतिवाहनातिसंग्रह विस्मयलोभातिभार वहनानि। परिमितपरिग्रहस्य पंच विक्षेपाः पञ्च लक्ष्यन्ते।" रत्नकरंड ३,१६

३ लोभातिगृद्धि (नि) वृत्यर्थं परिग्रहपरिमाणे कृते पुनर्लोभावेशवशादति वाहनं-यावन्तं हि बलीवर्दादयः सुखेन गच्छन्ति ततोऽप्यतिरेकेणवाहनं करोति...आदि। दृष्टव्य रत्न० श्रा० ३, १६ की टीका पृ० ४७।

सोमदेवसूरी[१] हेमचन्द्रसूरि[२], पण्डिताचार्य आशाधर[३], अमृतचन्द्र सूरि[४], हरिभद्र सूरि[५], आदि, आचार्योंने उमास्वामिका ही अनुकरण किया है। श्रीहेमचन्द्र सूरि तथा पण्डिताचार्यकी व्याख्याएं गृहस्थोंके मनोवैज्ञानिक विश्लेषणकी दृष्टिसे बड़े महत्वकी हैं। पाप प्रवृत्तिमें मनुष्य कैसे अपने आप प्रगति करता है इसका सजीव चित्र इन व्याख्याओंमें दृष्टिगोचर होता है। पण्डिताचार्यने स्वामी तथा सोमदेव सूरिके अतिचारोंको भी टीका[६] में निर्देश करके अपनी तटस्थता एवं बहुश्रुतताका परिचय दिया है।

सम्पत्ति त्यागका उपदेश—

कितनी सम्पत्ति रखे, अनिवार्य आवश्यकता पूर्ति योग्य ही सम्पत्ति रखनेका अभ्यास कैसे करे तथा सम्पत्ति बढ़ानेकी लालसा अर्थात् उसके दोषोंसे कैसे बचे, इतना प्ररूपण करके ही जैनशास्त्र संतुष्ट नहीं हुआ है! अपितु पापमय आचरण अर्थात् दूसरेके स्वत्वोंका अपहरण करनेसे रोकनेके लिए कहा है कि संसार तथा शारीरके वास्तविक रूप पर दृष्टि[७] रखे तो वह सुतरां मन्दकषायी अर्थात् अनासक्त रहेगा। इसी संसार शरीरके स्वभावके चिन्तवनका विस्तृत रूप बारह[८] भावनाएं हैं। इनमें भी प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति रूपसे सम्पत्तिका वर्णन आया है तथापि प्रारम्भिक आठ भावनाओंमें सम्पत्तिके त्यागको विविध दृष्टियोंसे बताया हैं। इन आठमें भी प्रथम अनित्य भावनामें तो सम्पत्तिकी अनर्थ-मूलकता अनावृत रूपमें चित्रित की गयी है।

अध्रुव (अनित्य) भावना—

आध्यात्मरसिक युगाचार्य कुन्दकुन्द स्वामीने स्पष्ट कहा कि हे मन? जिन माता, पिता, सम्बन्धी, आत्मीयजन, सेवक, आदिको तूं अपना समझ कर मोहरूप परिग्रह बढ़ाता है तथा जिन इन्द्र

१. 'कृत प्रमाणाल्लोभेन धनादधिकसंग्रहः।
पञ्चमाणुव्रतज्यानी करोति गृहमेधिनाम्॥" (यशस्तिथक चम्पू उत्त० पृ. ३६७)

२. योगशास्त्र, ३, ९५-९६ तथा टीका।

३. सागार धर्मामृत ४, ६४ तथा टीका।

४. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय श्लो. १८७।

५. श्रावकधर्मप्रकरणम् गा. ८८ तथा देवसूरिकी टीका।

६. सागार धर्मामृत पृ. १२५

७. "जगत्काय स्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम्" (तत्त्वार्थसूत्र ७, १२)

८. "अनित्याशरण संसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रव संवर निर्जरा लोकबोधदुर्लभ धर्मस्वाख्याततत्त्वानु चिन्तनमनुप्रेक्षाः।" (त. सू. ९, ७)

और सम्राटों ऐसे श्रेष्ठ भवन, मोटर, वायु-जलयान आदि वाहन, शय्या, कुर्सी-सोफा (आसन), आदिके जुटानेमें हीं जीवन बिता रहा है वे सब अनित्य हैं ।[1]

युगाचार्यके इस सूत्रका भाष्य स्वामी कार्त्तिकेयके मुखसे सुननेको मिलता है—'जन्म मरणके साथ, यौवन वार्धक्यको आंचलमें बांधे तथा लक्ष्मी अन्तरंगमें विनाश छिपाये आती है'[2] । लक्ष्मीमें विनाश छिपा है ? हां, यदि ऐसा न होता तो 'पुण्यात्मा पौराणिक युगके चक्रवर्ती तथा प्रतापी कैसर, हिटलर, आदिका विभव कहां गया ? तब दूसरोंकी कैसे स्थिर रहेगी । कुलीन, धीर, पंडित, सुभट, पूज्य (धर्म गुरु, आदि) धर्मात्मा, सुन्दर, सज्जन तथा महा पराक्रमियोंकी समस्त सम्पत्तियां देखते देखते घुल जाती हैं ।' तब इसका क्या किया जाय ? "दो दिनकी चांदनी तथा जल तरंगके समान चञ्चला इस लक्ष्मीके दो ही उपयोग है अपनी आवश्यकताकी पूर्ति करो तथा शेष दूसरोंको दे दो ।' तो लोग इतनी अधिक सम्पत्ति क्यों कमा रहे हैं ? 'वे आत्मवञ्चक हैं उनका मनुष्य जीवन व्यर्थ है क्योंकि वे लक्ष्मीके उक्त दो उपयोग नहीं करते हैं । अथवा उसे (लक्ष्मीको) कहींपर रखकर पत्थरके समान जड़ तथा भारभूत कर रहे हैं । इस प्रकार उनके गाढ़े पसीनेकी कमायी भी दूसरोंकी हो जाती है । क्योंकि वह जगतके ठग राजा अथवा उद्योगपति अथवा कुटुम्बियोंके काम आवेगी ।' तब क्या करे ? 'सीधा मार्ग है । लक्ष्मीको बढ़ानेमें आलस्य मत करो तथा सदैव उसे कुटुम्ब, ग्राम, पुर, जनपद देश तथा विश्वके प्रति अपने विविध कर्त्तव्योंकी पूर्तिके लिए व्यय करते रहो । लक्ष्मी उसीकी सफल है जो सम्पत्तिके उक्त स्वरूपको समझकर अभावग्रस्त लोगोंको कर्त्तव्य परायण बनानेके लिए, किसी भी प्रकारके प्रतिफलकी आशा न करके अनवरत देता रहता है[3] ।' यही कारण है कि जैन आचार शास्त्रमें दान उतना ही आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण है जितनी देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, विनय, व्रत, आहार, आदि हैं[4] । इस व्यवस्थाका असाधारण महत्व यह है कि एक ओर मनुष्य न्यायपूर्वक अधिकसे अधिक कमाने में शिथिलता नही कर सकता तथा दूसरी ओर उसे अपनी आवश्यकताओंसे अधिक मात्रामें रोक नहीं सकता अन्यथा वह परिग्रही (हत्यारेके समान पापी) हो जायगा । दान[5]रूपसे उसे अपनी न्यायोपार्जित सम्पत्तिका उत्सर्ग करता हुआ ही वह धार्मिक (नैतिक नागरिक) हो सकता है ।

---

१ "वरभवण जाण वाहण सयणासण देवमणुधरायाणं ।
मादु पिदु सजण भिच्च संबधिणो य पिदिवियाणिच्चा ॥" (बारस अणुवेखावा गा. ३)

२ स्वामी कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ५ ।

३ स्वामी कर्त्तिकेयानुप्रेक्षा गा० १०-२० । इनमें 'अणावरयं देहि' ।
'विहलिय लोयाण' 'तथा णिरवेरवो' पद विशेष महत्वके हैं ।

४. जो वड्ढमाण लच्छिं अणवरयं देहि धम्मकज्जेसु ।" (कार्त्तिकेय० गा० ९१)

५. "अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ।" :"विधि-द्रव्य-दातृ-पात्र विशेषात्तद्विशेषः ।" दानप्रकरण स्वयं अति-विस्तृत है । तत्त्वार्थ सूत्र ७, ३८,३९)

परिग्रहके कुपरिणाम्—

प्रश्न उठता है कि आत्म शक्तिका पूरा उपयोग करके न्यायमार्गसे सम्पत्ति कमा कर अपनी तथा दूसरोंकी आवश्यकता पूर्ण करना धर्म (कर्त्तव्य) है । तथापि; यदि कोई उसका पालन न करे जैसा कि आज जैनी भी कर रहे हैं ? सूत्रकार कहते हैं "परिग्रह यहां तथा भवान्तर में भी अनिष्ट कारक है[1]" "इस लोक में परिग्रही मांसके टुकड़ेको लिये उड़ने वाले पक्षीके समान है । उसपर दूसरे आक्रमण करते हैं । उसे कमाने तथा सुरक्षित रखने में कौन ऐसा अनर्थ है जो न होता हो ? ईंधनसे अग्निके समान मनुष्य धनसे कभी तृप्त नहीं होता । लोभ में पड़कर उचित—अनुचितका ज्ञान खो बैठता है और अपना अगला जन्म भी बिगाड़ता है[2]"

शंका होती है मरने पर क्या होता है ? "बहुत आरम्भ तथा परिग्रह करनेसे प्राणीको नरकायु प्राप्त होती है[3]।" क्योंकि कर्त्तव्य—अकर्त्तव्यका ज्ञान न रहनेसे श्रमिकोंकी हिंसा, भागीदारोंको धोखा (असत्य) एक वस्तु में दूसरी मिलाना, बहुतसा छिपाकर बेचना (चोरी) आदि सब ही पाप शिष्ट सम्पत्तिशाली करता है । तथा यदि "थोड़ा (जीवनके यापनके लिए कार्यकारी) आरम्भ परिग्रह हो तो पुनः मनुष्य जन्म पायेगा [4] ।" मानव समाजको सम्पत्तिमें कोई विशेष अनौचित्य नहीं दिखता किन्तु पांच पापों में परिग्रह ही केवल ऐसा पाप है जिसे मनुष्यके पतनके प्रति साक्षात कारणता है । जबकि शासन एवं समाजकी दृष्टि में गुरुतर समझे जाने वाले पापोंको परम्परया ही कारणता है । वस्तु स्थिति तो यह है कि 'परिग्रहसे इच्छा उत्पन्न होती है इच्छाके अतिरेक या विघातसे क्रोध, क्रोधसे हिंसा और हिंसासे समस्त पाप होते हैं[5] ।' यह एक मनो वैज्ञानिक तथ्य है कि हिंसाके ही लिए हिंसा, झूठके ही लिए झूठ, चोरीके ही लिए चोरी तथा असंयमके लिए ही असंयम तो 'न भूतो न भविष्यति' हैं ।

निष्कर्ष—

तात्पर्य यह कि सम्पत्ति समस्त अनर्थोंकी जड़ है । फलतः अपने असि, मसि, कृषि, वाणिज्य आदि व्यवसायसे अर्जित सम्पत्तिमेंसे व्यक्ति उतनी ही अपने पास रखे जो उसकी जीवन यात्राके लिए अनिवार्य हो । उससे अधिक जो भी हो उसे उनके लिए दे दे जो अपनी आवश्यकता पूर्ति भरके लिए भी नहीं कमा पाते हैं । अर्थात् शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्यके लिए उपयोगी मात्र परिग्रह रखना प्रत्येक व्यक्तिका धर्म है । अर्थ तथा काम प्रधान इस युगमें यह प्रश्न किया जाता है कि जब

१. "इहामुत्रापायावद्य दर्शनम् ।" (त० सू० ७, ९)

२. सर्वार्थ सिद्धि पृ० २०३, राजवर्त्तिक पृ० २७२, स० त० भा० पृ० १५५, आदि ।

३. तत्त्वार्थ सूत्र ६, १५ ।

४. „ ६, १७ ।

५. ज्ञानार्णव १६, १२ ।

सब देश अपने जीवन निर्वाहके स्तरको उठा रहे हैं तब आवश्यक वस्तुओंके कार्यकारी परिमाणका उपदेश देशकी अवनतिका कारण हो सकता है। किन्तु यह संभावना दूसरी ओर ही है। उन्नतसे उन्नत जीवन स्तर करनेकी भावनाका ही यह कुपरिणाम है कि आजका विश्व स्थायीरूपसे युद्धके चंगुल में फंसा नजर आ रहा है। आकाश अनन्त है फलतः यदि उठने अथवा शिर उठानेकी प्रतियोगिताकी जाय तो उसकी समाप्ति असंभव है। हां; पृथ्वी सीमित है फलतः हमारे पैर एके धरातल पर रहें (रहते ही है) ऐसी व्यवस्था सम्भव है। जब तक मानव समाज अपने आप कमसे कममें संतुष्ट होनेके लिए मनसा, वाचा, कर्मणा प्रस्तुत न होगा तब तक अर्थिक गुत्थी उलझी ही रहे गी। तथा आर्थिक स्तर यदि किसी भूभागमें उठा भी तो आध्यात्मिक स्तम्भों पर खड़ा न होनेके कारण वह स्वयं, धराशायी हो जायगा। यही कारण है कि साम्यवाद भी साम्राज्यवादके प्रत्येक अस्त्रसे काम ले रहा है तथा उसीके मार्ग पर बढ़ा चला जा रहा है। तटस्थ पर्यवेक्षक नाम-भेदके अतिरिक्त और कोई तात्विक अन्तर नहीं देखता है। पूंजीवादका अन्त पूंजीको एक स्थलसे दूसरे स्थल पर रखनेसे ही न होगा। अपितु पूंजीके वीभत्स रूपका सक्रिय ज्ञान तथा पूंजीमय मनोवृत्तिके विनाशसे होगा जैसा कि विरक्त युवराज श्री शुभचन्द्राचार्य के—

> एनः किं न धनप्रसक्तमनसां नासादि हिंसादिना,
>
> कस्तस्यार्जनरक्षण क्षयकृतै र्नादाहि दुःखानलैः।
>
> तत्प्रागेव विचार्य वर्जय वरं व्यामूढ़ वित्तस्पृहा,
>
> मेनैकास्पदतां न यासि विषयैः पापस्य तापस्य च ॥

इस कथन से स्पष्ट है तथा परिमित-परिग्रह अर्थात् संयमवादका सार है।
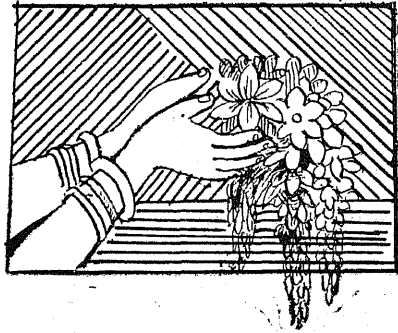
इतिहास-

साहित्य—

जैनधर्मका आदि देश

श्री प्रा० एस० श्रीनीलकण्ठ, शास्त्री, एम्० ए०

सुप्रचलित भ्रान्ति--

'जैनधर्म भी बौद्धधर्मके समान वैदिक कालके आर्योंकी यज्ञ-यागादिमय संस्कृतिकी प्रतिक्रिया मात्र था' कतिपय इतिहासकारोंका इस मतको यों ही सत्य मान लेना चलता व्यवहार सा हो गया है। विशेषकर कितने ही जैनधर्मको तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथके पहिले प्रचलित माननेमें भी आनाकानी करते हैं, अर्थात् वे लगभग नौवीं शती ईसा-पूर्व तक ही जैनधर्म मानना चाहते हैं। प्राचीनतम युगमें मगध यज्ञ-यागादि मय वैदिक मतके क्षेत्रसे बाहर था। तथा इसी मगधको इस कालमें जैनधर्म तथा बौद्ध धर्मकी जन्मभूमि होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। फलतः कितने ही विद्वान् कल्पना करते हैं कि इन धर्मोंके प्रवर्तक आर्य नहीं थे। दूसरी मान्यता यह है कि वैदिक आर्योंके बहुत पहले आर्योंकी एक धारा भारतमें आयी थी और आर्य पूरे भारतमें व्याप्त हो गये थे। उसके बाद उसी आर्य वंशके यज्ञ-यागादि संस्कृति वाले लोग भारतमें आये, तथा प्राचीन अ-वैदिक आर्योंको मगधकी ओर खदेड़कर स्वयं उनके स्थान पर बस गये। आर्योंके इस द्वितीय आगमनके बाद ही संभवतः मगधसे जैनधर्मका पुनः प्रचार आरम्भ हुआ तथा वहीं पर बुद्ध धर्मका प्रादुर्भाव हुआ है।

सिन्धु-कछार-संस्कृति—

३०००२– ५०० ईसा पूर्वमें फूली फली 'सिन्धुकछार सभ्यता' के भग्नावशेषोंमें दिगम्बर मत, योग, वृषभ-पूजा तथा अन्य प्रतीक मिले हैं, जिनके प्रचलन का श्रेय आर्यों अर्थात् वैदिक-आर्योंके पूर्ववर्ती समाजको दिया जाता है। 'आर्य-पूर्व' संस्कृतिके शुभाकांक्षियोंकी कमी नहीं है; यही कारण है कि ऐसे लोगोंमें से अनेक लोग वैदिक आर्योंके पहलेकी इस महान संस्कृतिको दृढ़ता पूर्वक द्रविड़-संस्कृति कहते हैं। मैंने अपने "मूल भारतीय धर्म" शीर्षक निबन्धमें सिद्ध कर दिया है कि तथोक्त अवैदिक लक्षण (यज्ञ-यागादि) का प्रादुर्भाव अथर्ववेदकी संस्कृतिसे हुआ है। तथा मातृदेवियों, वृषभ, नाग, योग, आदिकी पूजाके बहुसंख्यक निदर्शनोंसे तीनों वेद भरे, पड़े हैं। फलतः 'सिन्धु कछार संस्कृति 'पूर्व-

वैदिक युगके' बादकी ऐसी संस्कृति है जिसमें तांत्रिक प्रक्रियाएं पर्याप्त मात्रामें घुल मिल गयी थीं। प्राचीन साहित्य जैन तीर्थंकरों तथा बुद्धोंको असदिग्ध रूपसे क्षत्रिय तथा आर्य कहता है फलतः जैनधर्म तथा बौद्ध धर्मकी प्रसूतिको अनार्योंमें बताना सर्वथा असंभव है।

जैनधर्मका आदि-देश प्राचीन भरतखण्ड--

अतएव जैन धर्मके मूल स्रोतको आर्य संस्कृतिकी किसी प्राचीनतर अवस्थामें खोजना चाहिये, जैसाकि बौद्ध धर्मके लिए किया जाता है। अपने पूर्वोल्लिखित निबन्धमें मैं सिद्ध कर चुका हूं कि समस्त भारतीय साधन सामग्री यही सिद्ध करती है कि जम्बूद्वीपका भरतखण्ड ही आर्योंका आदि-देश था। हमारी पौराणिक मान्यताका भारतवर्ष आधुनिक भौगोलिक सीमाओंसे बद्ध न था अपितु उसके आयाम विस्तारमें पामीर पर्वत माला तथा हिन्दूकुश भी सम्मिलित था, अर्थात् ४० अक्षांश तक विस्तृत था। प्राचीनतम जैन तथा वैदिक मतोंके ज्योतिष-ग्रन्थों और पुराणोंमें भारतके उक्त विस्तारका स्पष्ट रूपसे प्रतिपादन किया गया है। जैनधर्मके ज्योतिष ग्रन्थ 'सूर्यप्रज्ञप्ति', 'काल-लोकप्रकाश', 'चन्द्रप्रज्ञप्ति' आदिमें दिया गया पञ्चाङ्ग बहुत कुछ उस पञ्जिकाके समान है जो वेदाङ्ग ज्योतिष' (ल० ९३८० ईसा पूर्व) में पाया जाता है। जैन मान्यताके दो सूर्य, दो चन्द्र, तथा सत्ताईस नक्षत्रोंकी दो मालाओंको वैदिक साहित्यको दृष्टिमें रखते हुए ही उचित रूपमें समझ सकते हैं। सूर्यप्रज्ञप्तिके उन्नीसवे प्राभृतमें विविध मत[1] दिये गये हैं।

ज्योतिष ग्रन्थोंका आधार—

१, ३, ७, ७½, १२, १४ से लेकर १००० पर्यन्त सूर्यों की संख्याके विषयमें विविध उद्धरण वैदिक साहित्यमें भी प्रचुरतासे पाये जाते हैं। वर्ष, ग्रहण, अयन, आदिके चक्रोंके समान सूर्योंकी उक्त संख्याओं को भी सन्दर्भके अनुसार समय (व्यवहार काल) के प्रमाण रूपमें जानना चाहिये, शब्दार्थ रूपमें नहीं। प्रकृत निबन्धमें हम ज्योतिष शास्त्र सम्बन्धी समस्त मान्यताओंकी व्याख्या करनेका प्रयत्न नहीं करें गे। यहां हमारा इतना ही उद्देश्य है कि उन असंदिग्ध वर्णनों पर विचार करें जो इस तथ्य को प्रकाशमें लाते हों कि जैन तथा वैदिक ग्रन्थोंके आधारसे ज्योतिषके वे निष्कर्ष संभवतः किस स्थानपर निकाले गये हों गे। स्व० डाक्टर र० शामशास्त्री[2] द्वारा काल-लोक प्रकाशके आधार पर बतायी गयी

१—"ता कति न चन्दिमसूरिया, सव्वलोयं ओभासंति, उज्जोवन्ति, तवेंति, बभासेंति य हि तेत्ति वदेज्जा? तत्थ खलु इमाओ दुवालस पडिवित्तिओ पण्णत्ताओ। तत्थेमे एवमांहसु। त एके चन्दे, एगे सूरे, सव्वलोअं ओभासंति उज्जोएति, तवेन्ति पभासेत्ति। एगे एवं आहसु। एगे पुण एवमहांसु ता तिण्ण चन्दा तिण्ण सूरा सव्वलोयं ओभासंति। एगे एवमांहसु ता आउट्ठं चन्दा ता आउट्ठं सूरा सव्वलोअं ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेन्ति, पगासंति एगे एवमाहसु एतेन अभिलावेण नेतव्वम्। सत्त चन्दा, सत्त सूरा, दस चन्दा, दस सूरा बारस चन्दा, बारस सूरा...।" (सूर्यप्रज्ञप्ति १९ प्राभृत पृ० २७१)

२—द्रप्र पृ० ११५।

पञ्च वार्षिक युगकी व्यवस्था वैदिक पञ्चाङ्गमें भी पायी जाती है। जैन ग्रन्थोंमें (सूर्य-घड़ी की) कील तथा दोनों (उत्तर, दक्षिण) अयनोंमें होनेवाली उसकी छायाके प्रमाणका विषम वर्णन मिलता है। दक्षिणायनके प्रथम दिन चौवीस अंगुल ऊंची शंकुकी छाया भी २४ अंगुल होगी। इसके आगे प्रत्येक सौरमासमें इस छायाका प्रमाण चार अंगुल बढ़ता ही जाता है। यह वृद्धि उत्तरायणके प्रथम दिन तक होती ही रहती है और उस दिन प्रारम्भिक प्रमाणसे दूनी अर्थात् अड़तालीस अंगुल हो जाती है। इसके बाद उसमें हानि प्रारम्भ होती है तथा हानि की प्रक्रिया वृद्धिके समान ही रहती है। काल लोक-प्रकाशके अनुसार प्रत्येक युगके पांच वर्षमें दक्षिणायनके प्रथम दिनसे वृद्धिका क्रम निम्न प्रकार होगा —

प्रथम वर्ष—श्रावण	बहुल	१—२	पाद	(४८ अङ्गुल)
माघ	,,	७—४	पाद	(४८ अङ्गुल)
द्वितीय वर्ष—श्रावण	,,	१२	,,	(२४ ,,)
माघ	शुद्ध	१	,,	(४८ ,,)
तृतीय वर्ष—श्रावण	,,	१०	,,	(२४ ,,)
माघ	बहुल	१	,,	(४८ ,,)
चतुर्थ वर्ष—श्रावण	शुद्ध	७	,,	(२४ ,,)
माघ	बहुल	१३	,,	(४८ ,,)
पञ्चम पर्ष—श्रावण	शुद्ध	४	,,	(२४ ,,)
माघ	,,	१०	,,	(४८ ,,)

वैदिक साहित्यमें युग-चक्रके वर्षों को संवत्सर, परिवत्सर, अनुवत्सर, इद्वत्सर तथा ईड़ावत्सर अथवा संवत्सर, परिवत्सर, ईड़ावत्सर, इद्वत्सर तथा वत्सर नामोंसे उल्लेख किया है। 'वृषाकपि ऋक' की व्याख्या विद्वानोंके लिए जटिल समस्या रही है। किन्तु जैसा कि मैं स्पष्ट दिखा चुका हूं कि यह ऋक् प्रातः, मध्याह्न, गोधूलि तथा रात्रि रूप दिनके चार भागोंका स्पष्ट उल्लेख करती है। इनकी स्थिति को इन्द्राणी, इन्द्र, वृषाकपि तथा वृषाकपायी[1] इन चार प्रतीकों द्वारा व्यक्त किया गया है। इस प्रकरणमें बतायी गयी लम्बा गोधूलि तथा संध्या ४० अक्षांशके स्थान पर ही संभव है। इसका समर्थन निदानसूक्त[2]के निम्न उद्धारणसे भी होता है—"अग्निष्टोम यज्ञमें बारह स्तोत्रा तीन मुहूर्तोंको अतिक्रान्त नहीं करते हैं अतएव सबसे छोटे दिनका प्रमाण केवल बारह मुहूर्त[3] होता है। सूर्यप्रज्ञप्तिका यह कथन कि बड़ेसे बड़ा दिन १८ मुहूर्त[4]का होता है यह ऋक्के उक्त कथनसे सर्वथा मिलता जुलता है।

---

१ ऋक्वेद १०-७-२। अथर्ववेद १०-१२६।

२ अध्याय ९ सू ७। ३—९ घंटा ३६ मि०। ४—१४ घंटा २४ मि०।

अन्य साधक उद्धरण—

इसके अतिरिक्त सूर्यप्रज्ञप्ति[1] में उल्लिखित कलिजोग कलियुग, द्वापर युग्म, त्रेता, कृत युग्म तथा वैदिक नाम कलि, द्वापर, त्रेता तथा कृतयुगमें गाढ़ समता है। आर्यपञ्चांगमें युग तथा पर्व पर्यायवाची रहे जिसका अर्थ प्राचीन समयमें पक्ष (शुक्ल, कृष्ण) होता था। 'भगवतीसूत्रमें' भी 'कृतयुग्म शब्द आया है। डा० जैकोबीके मतसे भगवतीसूत्रका रचनाकाल चौथी शती ईसापूर्वके अन्त या तीसरी शती ई० पू० होना चाहिये। वैदिक वर्षका प्रारम्भ संभवतः वर्षा ऋतुके प्रारम्भमें माघ (संभवतः एकाष्टक दिन माघ बहुल जैसा कि सूत्रसे प्रतीत होता है) में हुआ होगा। इसका पोषण 'मण्डूक ऋक्[2]' तथा 'एकाष्टक ऋक्[3]' से स्पष्ट होता है। मध्य एशिया तथा बुखारा प्रान्तमें अब भी वर्षाका प्रारम्भ उसी दिनके आसपास होता है जिस दिन शरदृतुमें दिनरात बराबर होते हैं। जब कि दक्षिणायनके साथ ही भारतमें वृष्टि प्रारम्भ हो जाती है इसी आधार पर डा० जैकोबीका अनुमान है कि मघा या फाल्गुनीमें दक्षिणायनके साथ वर्ष प्रारम्भ होती थी तथा उत्तरायण भाद्रपदोंमें होता था। जैन तथा वैदिक परम्परामें प्रचलित नक्षत्रोंके विषम अन्तरालोंको ध्यानमें रखते हुए उक्त ज्योतिष सम्बन्धी घटनाका समय मोटे रूपसे २२८० तथा ३२४० के बीच अथवा ४२०० ईसापूर्व निश्चित किया जाना चाहिये। उत्तर कालीन वेदाङ्ग ज्योतिष तथा जैन ग्रन्थोंमें दक्षिणायनका समय आश्लेषा का मध्य तथा उत्तरायणका समय धनिष्ठा (१३२० ईसापूर्व) में दिया है कहीं कहीं इससे भी पहिलेके समयकी सूचक घटनाएं मिलती हैं। गर्ग तथा जैन प्रक्रियाके अनुसार समान दिनरात के चक्र की तिथि श्रवण और मघामें भी मिलती हैं जिससे ८०४० ई० पू० का संकेत मिलता है। जिस समय सूर्य विशाखा और कृत्तिकाके चक्रमें होकर मकर या कर्क रेखा पर रहता है।

सरस्वती आख्यानका महत्व—

वेदोंके सरस्वती आख्यानमें भी ज्योतिषशास्त्र सम्बन्धी सारगर्भित उल्लेख हैं। विशेषकर उस समय जब यह नदी समुद्र तक बहती थी तथा गंगा और यमुनासे भी अधिक पवित्र मानी जाती थी। इसके तटपर जब यज्ञ प्रारम्भ हुआ था तब वसन्तके प्रारम्भमें होने वाला सम दिनरात संभवतः मूल नक्षत्र में पड़ा था। यह नक्षत्र अब भी सरस्वती विषयक कार्योंके लिए पवित्र माना जाता है यद्यपि अब यह दशहरे पर उदित होता है। तैत्तिरीय संहितामें सरस्वती तथा अमावस्याको समान कहा है तथा सरस्वतीके प्रिय सरस्वान्‌को पूर्णिमा से अभिन्न बताया है। यतः मूल नक्षत्रमें पड़ी अमावस्या वसन्तके सम दिनरातका संकेत करती है और यज्ञके वर्षके प्रारम्भकी सूचक थी, नक्षत्र भी मूल (प्रारम्भ, जड़)

---

१ सूर्य प्र० पृ० १६७।

२ ऋग्वेद ७-१०३-७।

३ अथर्ववेद ३-१०।

से गिने जाते हैं और उसके बाद ज्येष्ठा (सबसे बड़ा), आदि आते हैं। उत्तर वैदिक-युग तक नक्षत्रोंकी सूची कृत्तिकासे प्रारम्भ होती थी। इसके उपरान्त सरस्वती नदी तथा राजस्थानका समुद्र विलीन हो गया और इनकी जलराशिका बहुभाग गंगा तथा जमुनामें बह गया। इन सबके आधार पर वसन्तके सम दिन-रातके मूल नक्षत्रमें पड़नेका समय १६६८० ई० पू. का सूचक है। भूगर्भशास्त्र सम्बन्धी तथा ज्योतिषशास्त्रीय प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि आर्य लोग अत्यन्त प्राचीन युगमें भी सरस्वती देशके प्रभु थे। हिम युग (Wurm) जिसके विस्तारका समय अब तक प्राप्त विवेचनोंके स्थूल निष्कर्षके आधार पर ८०००० से ५०००० ई० पू० के बीचमें समझा जाता है; उसके बाद एक पावर्षोत्तर (वर्षाके बादका) युग आया था जो २५००० ई० पू० तक रहा होगा।

यह सब निष्कर्ष यूरोपके लिए ठीक बैठते हैं तथा भारतमें उष्ण जलवायु इससे काफी पहले प्रारम्भ हो गयी होगी। यूरोपमें भी इस समय तक मानव समाज पूर्व-पाषाण युग तथा, अधम, मध्य एवं उत्तम पाषाण-युगको पार कर चुका था। तथा ५०००० ई० पू० तक यूरोपकी मूसरिन (प्रारम्भिक पाषाण), अवेशियन (मध्य पाषाण) तथा मेगडैलिनियन (अन्तिम पाषाण) संस्कृतियां भी समाप्त हो चुकी थीं। सबसे पहिले मनुष्य (Homo Pekeniensis) का आविर्भाव हिम प्रवाह (Glacial) युगके प्रारम्भमें हुआ होगा जिसका समय ल० ५०००००० ई० पू० आंका जाता है, फलतः कह सकते हैं कि मानवका विकास उष्ण प्रदेशोंमें अधिक वेगसे हुआ होगा। वैदिक आर्यों, जैनों तथा बौद्धोंका पुरातत्त्व इस प्रकार हमें २०००० ई० पू० तक ले जाता है तथा इनका आदि-देश भारतवर्षमें ही होना चाहिये जोकि उस समय ४० अक्षांश तक फैला था। यह अत्यन्त आवश्यक है कि जैनधर्मके विद्यार्थी 'सुषुमा दुष्षमा' कल्पों तथा तीर्थंकरोंकी जीवनीमें आनेवाले विविध आख्यानोंका गम्भीर अध्ययन करके निम्न वाक्यको सार्थक करें।—

जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासन जिनशासनम्।
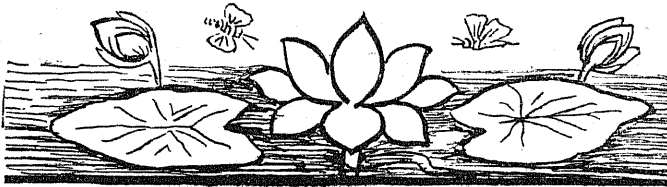
जैनाचार्य और बादशाह मोहम्मदशाह

श्री महामहोपाध्याय पं० विश्वेश्वरनाथ रेऊ

मुग़ल बादशाह मोहम्मद शाह वि० सं० १७७३ से १८०५ तक दिल्लीके तख्त पर था। इसने अपने २२ वें राज्य वर्षमें चौंणोदमें प्रसिद्ध राजवैद्य भट्टारक गुरां पण्डित उदयचन्द्रजी महाराजके पूर्वाचार्योंको एक फरमान दिया था। उससे मुग़ल बादशाहोंकी जैन-धर्मके प्रति श्रद्धा और उस समयके हिन्दू और मुसलमानोंके सौहार्दका पता चलता है। यह फरमान २० जिलहिज (अर्थात् चैत्र वदि ६ विक्रम संवत् १७९६) को लिखा गया था और इस समय उक्त गुरां साहबके पास विद्यमान है।

आगे हम उक्त फरमानका भावार्थ उद्धृत करते हैं—

"श्री बाबाजी ज्ञान सागर स्वामीजी और······स्वामीको अजमेरके सूबेमें रहनेवाले प्रत्येक हिन्दू व मुसलमानके घरसे और ख़ासकर हर बनिये और जतीसे हर धानकी फसल पर एक रुपया और एक नारियल लेनेका अधिकार दिया गया था; और क्यों कि यह अधिकार पीढ़ी दर पीढ़ीके लिए था, इसलिए इसे बादशाह मोहम्मदशाहने भी दिया है।"

इस फरमानसे ज्ञात होता है कि यह अधिकार मोहम्मदशाहके पूर्वके बादशाहोंके समयसे ही चला आता था और इसके विषयमें मुसलमानोंको भी कोई आपत्ति नहीं थी।

इन बातोंकी पुष्टि जोधपुर नरेश महाराजा विजय-सिंहजीके फरमान[1] से भी होती है, जिसमें परम्परा गत उक्त भेटोंको लेते रहनेके अधिकारकी पुष्टि की गयी है।

---

१. ये दोनों फरमान अभी अप्रकाशित हैं। शीघ्रही प्रकाशित करानेकी व्यवस्था हो रही है

राष्ट्रकूट कालमें जैनधर्म—

श्री डाक्टर अ० स० अल्तेकर, एम० ए०, डी० लिट०

दक्षिण और कर्नाटक अब भी जैनधर्मके सुदृढ़ गढ़ हैं। यह कैसे हो सका? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिए राष्ट्रकूट वंशके इतिहासका पर्यालोचन अनिवार्य है। दक्षिण भारतके इतिहासमें राष्ट्रकूट राज्यकाल (ल० ७५३–९७३ ई०) सबसे अधिक समृद्धिका युग था। इस कालमें ही जैनधर्मका भी दक्षिण भारतमें पर्याप्त विस्तार हुआ था। राष्ट्रकूटोंके पतनके बाद ही नये धार्मिक सम्प्रदाय लिङ्गायतोंकी उत्पत्ति तथा तीव्र विस्तारके कारण जैनधर्मको प्रबल धक्का लगा था। राष्ट्रकूट कालमें जैनधर्मका कोई सक्रिय विरोधी सम्प्रदाय नहीं था फलतः वह राज्य-धर्म तथा बहुजन-धर्मके पदपर प्रतिष्ठित था। इस युगमें जैनाचार्योंने जैन साहित्यकी असाधारण रूपसे वृद्धि की थी। तथा ऐसा प्रतीत होता है कि वे जन-साधारणको शिक्षित करनेके सत्प्रयत्नमें भी संलग्न थे। वर्णमाला सीखनेके पहिले बालकको श्री 'गणेशायनमः' कण्ठस्थ करा देना वैदिक सम्प्रदायोंमें सुप्रचलित प्रथा है, किन्तु दक्षिण भारतमें अब भी जैननमस्कार, वाक्य 'ओम् नमः सिद्धेभ्यः [ओनामासीधं[1]]' व्यापक रूपसे चलता है। श्री चि० वि० वैद्यने बताया है कि उक्त प्रचलनका यही तात्पर्य लगाया जा सकता है कि हमारे काल (राष्ट्रकूट) में जैनगुरुओंने देशकी शिक्षामें पूर्णरूपसे भाग लेकर इतनी अधिक अपनी छाप जमायी थी कि जैनधर्मका दक्षिणमें संकोच हो जानेके बाद भी वैदिक सम्प्रदायोंके लोग अपने बालकोंको उक्त जैन नमस्कार वाक्य सिखाते ही रहे। यद्यपि इस जैन नमस्कार वाक्य के अजैन मान्यता परक अर्थ भी किये जा सकते हैं तथापि यह सुनिश्चित है कि इसका मूलस्रोत जैन संस्कृति ही थी।

इसकी भूमिका—

राष्ट्रकूट युगमें हुए जैनधर्मके प्रसारकी भूमिका पूर्ववर्ती राज्यकालोंमें भलीभांति तयार हो चुकी थी। कदम्ब वंश (ल० ५ वी ६ ठी शती ई०) के कितने ही राजा[2] जैनधर्मके अनुयायी तथा अभिवर्द्धक

---

१ मध्यभारत तथा उत्तर भारतके दक्षिणी भागमें इस रूपमें अब भी चलता है।

२ इण्डियन एण्टीक्वायरी ६-पृ० २२ तथा आगे।

" ७ " ३४ "

थे। लक्ष्मेश्वरमें कितने ही कल्पित अभिलेख (ताम्रपत्रादि) मिले[1] हैं जो संभवतः ईसाकी १० व अथवा ११ वीं शतीमें दिये गये होंगे तथापि उनमें उन धार्मिक दानोंका उल्लेख है जो प्रारम्भिक चालुक्य राजा विनयादित्य, विजयादित्य तथा विक्रमादित्य द्वितीयने जैन धर्मायतनों को दिये थे। फलतः इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उक्त चालुक्य नृपति यदा कदा जैनधर्मके पृष्ठपोषक अवश्य रहे होंगे अन्यथा जब ये पश्चात्-लेख लिखे गये तब 'उक्त चालुक्य राजा ही क्यों दातार' रूपमें चुने गये तथा दूसरे अनेक प्रसिद्ध राजाओंके नाम क्यों न दिये गये' इस समस्याको सुलझाना बहुत ही कठिन हो जाता है। बहुत संभव है कि ये अभिलेख पहिले प्रचारित हुए तथा छीलकर मिटा दिये गये मूल लेखोंकी उत्तरकालीन प्रतिलिपि मात्र थे। और भावी इतिहासकारोंके उपयोगके लिए पुनः उत्कीर्ण करवा दिये गये थे, जोकि वर्तमानमें उन्हे मनगढ़न्त कह रहे हैं। तलवाड़के गंग राजवंशके अधिकांश राजा जैन धर्मानुयायी तथा अभिरक्षक थे। जैन धर्मायतनोंको गंगराजा राचमल्ल द्वारा प्रदत्त दानपत्र कुर्ग[2]में मिले हैं। जब इस राजाने वल्हमलाई पर्वत पर अधिकार किया था तो उसपर एक जैनमन्दिरका निर्माण[3] कराके विजयी स्मृतिको अमर किया था। प्रकृत राज्यकालमें लक्ष्मेश्वरमें 'राय-राचमल्ल वसति, गंगा-परमादि चैत्यालय, तथा गंग-कन्दर्प-चैत्यमन्दिर' नामोंसे विख्यात जैनमन्दिर[4] वर्तमान थे। जिन राजाओंके नामानुसार उक्त मन्दिरोंका नामकरण हुआ था वे सब गंगवंशीय राजालोग जैनधर्मके अधिष्ठाता थे; ऐसा निष्कर्ष उक्त लेख परसे निकालना समुचित है। महाराज मारसेन द्वितीय तो परम जैन थे। आचार्य अजितसेन उनके गुरू थे। जैनधर्ममें उनकी इतनी प्रगाढ़ श्रद्धा थी कि उसीके वश होकर उन्होंने ९७४ ई० में राज्य त्याग करके समाधि मरण (सल्लेखना) पूर्वक प्राण विसर्जन किया था। मारसिंहके मंत्री चामुण्ड-राय चामुण्डराय पुराणके रचयिता स्वामिभक्त प्रबल प्रतापी सेनापति थे। श्रवणबेलगोलामें गोम्मटेश्वर (प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवके द्वितीय पुत्र बाहुबली) की लोकोत्तर, विशाल तथा सर्वाङ्ग सुन्दर मूर्तिकी स्थापना इन्होंने करवायी थी। जैनधर्मकी आस्था तथा प्रसारकताके कारण ही चामुण्डरायकी गिनती उन तीन महापुरुषोंमें की जाती है जो जैनधर्मके महान प्रचारक थे। इन महापुरुषोंमें प्रथम दो तो श्री गंगराज तथा हुल्ल थे जो कि होयसल वंशीय महाराज विष्णु-वर्द्धन तथा मारसिंह प्रथमके मन्त्री थे। नोलंबावाड़ी में जैनधर्मकी खूब वृद्धि हो रही थी। एक ऐसा शिलालेख मिला है जिसमें लिखा है कि नोलम्बावाड़ी प्रान्तमें एक ग्रामको सेठने राजासे खरीदा था तथा उसे धर्मपुरी[5] (वर्तमान सलेम जिलेमें पड़ती है) में स्थित जैन धर्मायतनको दान कर दिया था।

---

१ इ० एण्टी० ७, पृ० १११ तथा अगे।

२ इ० एण्टी० ६ पृ १०३।

३ एपीग्राफिका इण्डिका, ४ पृ १४०।

४ इ० एण्टी० ७ पृ १०५-६।

५ एपी. इ. भा. १० पृ. ५७।

जैन राष्ट्रकूट राजा—

राष्ट्रकूट राजाओंमें भी अमोघवर्ष प्रथम वैदिक धर्मानुयायीकी अपेक्षा जैन ही अधिक था। आचार्य जिनसेनने अपने 'पार्श्वाभ्युदय' काव्यमें 'अपने आपको उस नृपतिका परम गुरू लिखा है, जो कि अपने गुरू पुण्यात्मा मुनिराजका नाम मात्र स्मरणकरके अपने आपको पवित्र मानता था[1]।' गणितशास्त्रके ग्रन्थ 'सारसंग्रह' में इसबातका उल्लेख है कि 'अमोघ वर्ष' स्याद्वाद धर्मका अनुयायी था[2]। अपने राज्यको किसी महामारी से बचानेके लिए अमोघवर्षने अपनी एक अंगुली की बली महालक्ष्मीको चढ़ायी थी[3]। यह बताता है कि भगवान् महावीरके साथ साथ वह वैदिक देवताओंको भी पूजता था। वह जैनधर्मका सक्रिय तथा जागरूक अनुयायी था। स्व० प्रा० राखाल दास बनर्जीने मुझे बताया था कि बनवासीमें स्थित जैनधर्मा यतनोंने अमोघवर्षका अपनी कितनी ही धार्मिक क्रियाओंके प्रवर्तकके रूपमें, उल्लेख किया है। यह भी सुविदित है कि अमोघवर्ष प्रथमने अनेक बार राजसिंहासनका त्याग कर दिया था। यह बताता है कि वह कितना सच्चा जैन था। क्यों कि सभवतः कुछ समय तक 'अकिञ्चन' धर्मका पालन करनेके लिए ही उसने यह राज्य त्याग किया होगा। यह अमोघवर्षकी जैनधर्म-आस्था ही थी जिसने आदिपुराणके अन्तिम पांच अध्यायोंके रचयिता गुणभद्राचार्यको अपने पुत्र कृष्ण द्वितीयका शिक्षक नियुक्त करवाया था[4]। मूलगुण्डमें स्थित जैन मन्दिरको कृष्णराज द्वितीयने भी दान दिया था[5] फलतः कहा जा सकता है कि यदि वह पूर्णरूपसे जैनी नहीं था तो कमसे कम जैनधर्म का प्रश्रयदाता तो था ही। इतना ही इसके उत्तराधिकारी इन्द्र तृतीयके विषयमें भी कहा जा सकता है। दानवुलपदु[6] शिलालेखमें लिखा है कि महाराज श्रीमान् नित्यवर्ष (इन्द्र तृ.) ने अपनी मनोकामनाओंकी पूर्तिकी भावनासे श्री अर्हन्तदेवके अभिषेक-मंगलके लिए पाषाणकी वेदी (सुमेरू पर्वतका उपस्थापन) बनवायी थी। अन्तिम राष्ट्रकूट राजा इन्द्र चतुर्थ भी सच्चा जैन था। जब वह बारम्बार प्रयत्न करके भी तैल द्वितीयसे अपने राज्यको वापस न कर पाया तब उसने अपनी धार्मिक आस्थाके अनुसार सल्लेखना व्रत धारण करके प्राण त्याग कर दिया था[7]।

जैन सामन्त राजा—

राष्ट्रकूट नृपतियोंके अनेक सामन्त राजा भी जैन धर्मावलम्बी थे। सौनदत्तिके रट्ट शासकोंमें लगभग सबके सब ही जैन धर्मावलम्बी थे। जैसा कि राष्ट्रकूट इतिहासमें लिख चुका हूं अमोघवर्ष प्रथमका

१. इ. एण्टी. भा. ७ पृ. २१६--८।

२. विण्टर नित्शका 'ग्रैशीचर्दा' भा. ३ पृ. ५७५।

३. एपी. इ. भा. १८ पृ. २४८।

४. जर्नल ब. ब्रा. रो. ए. सो., भा. २२ पृ. ८५।

५. ,, ,, ,, भा. १० पृ. १८२।

६. आर्के० सर्वे० रि. १९०५-६ पृ. १२१-२।

७. इ. एण्टी० भा. २३ पृ. १२४।

प्रतिनिधि शासक बङ्केय[1] भी जैन था। यह बनवासीका शासक था अपनी राजधानीके जैनधर्मायतनोंको एक ग्राम दान करनेके लिए इसे राजाज्ञा प्राप्त हुई थी[2]। बङ्केयका पुत्र लोकादित्य जिनेन्द्र देव द्वारा उपदिष्ट धर्मका प्रचारक था; ऐसा उसके धर्म गुरू श्री गुणचन्द्रने भी लिखा है। इन्द्र तृतीयके सेनापति श्रीविजय[3] भी जैन थे इनकी छत्र छायामें जैन साहित्यका पर्याप्त विकास हुआ था।

उपर्युल्लिखित महाराज, सामन्त राजा, पदाधिकारी तो ऐसे हैं जो अपने दान-पत्रादिके कारण राष्ट्रकूट युगमें जैनधर्म प्रसारकके रूपसे ज्ञात हैं, किन्तु शीघ्र ही ज्ञात हो गा कि इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक जैन राजा इस युगमें हुए थे। इस युगने जैन ग्रन्थकार तथा उपदेशकों की एक अखण्ड सुन्दर माला ही उत्पन्न की थी। यतः इन सबको राज्याश्रय प्राप्त था फलतः इनकी साहित्यिक एवं धर्मप्रचारकी प्रवृत्तियोंसे समस्त जनपद पर गम्भीर प्रभाव पड़ा था। बहुत संभव है इस युगमें रट्ट जनपदकी समस्त जनसंख्याका एक तृतीयांश भगवान महावीरकी दिव्यध्वनि (सिद्धान्तों) का अनुयायी रहा हो। अल-बरूनीके[4] उद्धरणोंके आधार पर रशीद-उद-दीनने लिखा है कि कोंकण तथा थानाके निवासी ई० की ग्यारहवीं शतीके प्रारम्भमें समनी (श्रमण अर्थात बौद्ध) धर्मके अनुयायी थे। अल-इदरिसीने नहरवाला (अनहिल पट्टन) के राजाको बौद्ध धर्मावलम्बी लिखा है। इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि जिस राजाका उसने उल्लेख किया है वह जैन या, बौद्ध नहीं। अतएव स्पष्ट है कि मुसलमान बहुधा जैनोंको बौद्ध समझ लेते थे। फलतः उपर्युल्लिखित रशीद-उद-दीनका वक्तव्य दक्षिणके कोंकण तथा थाना भागोंमें दशमी तथा ग्यारहवीं शतींके जैनधर्म-प्रसारका सूचक है बौद्ध धर्मका नहीं। राष्ट्रकूट कालकी समाप्तिके उपरान्त ही लिंगायत सम्प्रदायके उदयके कारण जैनधर्मको अपना बहुत कुछ प्रभाव खोना पड़ा था क्यों कि किसी हद तक यह सम्प्रदाय जैनधर्मको मिटाकर ही बढ़ा था।

जैन संघ जीवन—

इस कालके अभिलेखोंसे प्राप्त सूचनाके आधार पर उस समयके जैन मठोंके भीतरी जीवनकी एक झांकी मिलती है। प्रारम्भिक कदम्ब[5] वंशके अभिलेखोंसे पता लगता है कि वर्षा ऋतुमें (चतुर्मास) अनेक जैन साधु एक स्थान पर रहा करते थे। इसीके (वर्षाके[6]) अन्तमें वे सुप्रसिद्ध जैन पर्व पर्यूषण मनाते थे। जैन शास्त्रोंमें पर्यूषणका बड़ा महत्व है। दूसरा धार्मिक समारोह फाल्गुन शुक्ला अष्टमी से

१. हिष्ट्री ओ० दी राष्ट्रकूटस् पृ. २७२-३।

२. एपी. इ. भा. ६ पृ. २९।

३. एपी. ई. भा. १० पृ. १४९।

४. इलियट, १. पृ. ६८।

५, इ. एण्टी. भा. ७ पृ. ३४

६. एन एपीटोम ओफ जैनिज्म पृ. ६७६-७।

प्रारम्भ होता था और एक सप्ताह तक चलता था। श्वेताम्बरोंमें यह चैत्र शुक्ला ८ मी से प्रारम्भ होता है। शत्रुञ्जय[1] पर्वत पर यह पर्व अब भी बड़े समारोहसे मनाया जाता है क्यों कि उनकी मान्यतानुसार श्री ऋषभदेवके गणधर पुण्डरीकने पांच करोड़ अनुयायियोंके साथ इस तिथिको ही मुक्ति पायी[2] थी। यह दोनों पर्व षष्ठ शतीके दक्षिणमें सुप्रचलित थे फलतः ये राष्ट्रकूट युगमें भी अवश्य बड़े उत्साहसे मनाये जाते हों गे क्यों कि जैनशास्त्र इनकी बिधि करता है और ये आज भी मनाये जाते हैं।

राष्ट्रकूट युगके मन्दिर तो बहुत कुछ अंशोंमें वैदिक मन्दिर कलाकी प्रतिलिपि थे। भगवान महावीर की पूजनविधि वैसी ही व्यय-साध्य तथा विलासमय हो गयी थी जैसी कि विष्णु तथा शिवकी थी। शिलालेखोंमें भगवान महावीरके 'अङ्गभोग' तथा 'रङ्गभोग' के लिए दान देनेके उल्लेख मिलते हैं जैसा कि वैदिक देवताओंके लिए चलन था। यह सब भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट सर्वाङ्ग आकिंचन्य धर्मकी विकृत व्याख्या नहीं थी ?

जैन मठोंमें भोजन तथा औषधियोंकी पूर्ण व्यवस्था रहती थी तथा धर्म शास्त्रके शिक्षण[3] की भी पर्याप्त व्यवस्था थी ?

अमोघवर्ष प्रथमका कोन्नूर शिलालेख तथा कर्कके सूरत ताम्रपत्र जैन धर्मायतनोंके लिए ही दिये गये थे। किन्तु दोनों लेखोंमें दानका उद्देश्य बलिचरु-दान, वैश्वदेव तथा अग्निहोत्र दिये हैं। ये सबके सब प्रधान वैदिक संस्कार हैं। आपाततः इनको करनेके लिए जैन मन्दिरोंको दिये गये दानको देख कर कोई भी व्यक्ति आश्चर्यमें पड़ जाता है। संभव है कि राष्ट्रकूट युगमें जैनधर्म तथा वैदिक धर्मके बीच आजकी अपेक्षा अधिकतर समता रही हो। अथवा राज्यके कार्यालयकी असावधानीके कारण दानके उक्त हेतु शिलालेखोंमें जोड़ दिये गये हैं। कोन्नूर शिलालेखमें ये हेतु इतने अयुक्त स्थान पर हैं कि मुझे दूसरी व्याख्या ही अधिक उपयुक्त जंचती है।

राष्ट्रकूट युगका जैन साहित्य--

जैसा कि पहिले आचुका है अमोघवर्ष प्रथम, कृष्ण द्वितीय तथा इन्द्र तृतीय या तो जैनधर्मानुयायी थे अथवा जैनधर्म के प्रश्रय दाता थे। यही अवस्था उनके अधिकतर सामन्तोंकी भी थी। अतएव यदि इस युगमें जैन साहित्यका पर्याप्त विकास हुआ तो यह विशेष आश्चर्यकी बात नहीं है। ८ वीं शतीके मध्यमें हरिभद्रसूरी हुए हैं तथापि इनका प्रान्त अज्ञात होनेसे इनकी कृतियोंका यहां विचार नहीं करें गे। स्वामी समन्तभद्र यद्यपि राष्ट्रकूट कालके बहुत पहिले हुए हैं तथापि स्याद्वादकी सर्वोत्तम व्याख्या तथा तत्का-

१, भादोंके अन्तमें पर्यूषण होता है। तथा चतुर्मासके अन्तमें कार्त्तिककी अष्टान्हिका पड़ती हैं।

२. इनसाइक्लोपीडिया ओफ रिलीजन तथा इथिकस् भा. ५, पृ. ८७८।

३. जर्नल बो. ब्रा. रो. ए. सो; भा. १० पृ- २३७।

लीन समस्त दर्शनोंकी स्पष्ट तथा सयुक्तिक समीक्षा करनेके कारण उनकी आप्तमीमांसा इतनी लोकप्रिय हो चुकी थी कि इस राज्यकालमें ८वीं शतीके आरम्भसे लेकर आगे इस पर अनेक टीकाएं दक्षिणमें लिखी गयी थीं।

राष्ट्रकूट युगके प्रारम्भमें अकलंकभट्टने इसपर अपनी अष्टशती टीका लिखी थी। श्रवण बेल-गोलाके ६७ वें शिलालेखमें अकलंकदेव राजा साहसतुंगसे अपनी महत्ता कहते हुए चित्रित किये गये हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि ये साहसतुङ्ग दन्तिदुर्ग द्वितीय थे। इस शिलालेखमें बौद्धोंके विजेतारूपमें अकलंक भट्टका वर्णन है। ऐसी भी दंतोक्ति है कि अकलंकभट्ट राष्ट्रकूट सम्राट कृष्ण प्रथमके पुत्र थे[1]। किन्तु इसे ऐतिहासिक सत्य बनानेके लिए अधिक प्रमाणोंकी आवश्यकता है। आप्तमीमांसाकी सर्वाङ्गसुन्दर टीकाके रचयिता श्री विद्यानन्द इसके थोड़े समय बाद हुए थे। इनके उल्लेख श्रवणबेलगोलाके शिला-लेखों[2]में हैं।

न्याय-शास्त्र--

इस युगमें जैनतर्कशास्त्रका जो विकास हुआ है वह भी साधारण न था? ८ वीं शतीके उत्तरार्धमें हुए आ० मणिक्यनन्दीने ही 'परीक्षामुख सूत्र[3]' की रचना की थी। नौवीं शतीके पूर्वार्द्धमें इसपर आ० प्रभाचन्द्रने अपनी विख्यात 'प्रमेयकमल मार्तण्ड' टीका लिखी थी। इन्होंने मार्तण्डके अतिरिक्त 'न्यायकुमुदचन्द्र' भी लिखा था। जैन तर्कशास्त्रके दूसरे आचार्य जो कि इसी युगमें हुए थे व मल्लवादी थे, जिन्होंने नवसारीमें दिगम्बर जैन मठकी स्थापनाकी थी जिसका अब कोई पता नहीं है? कर्क स्वर्णवर्ष[4] के सूरतपत्रमें इनके शिष्यके शिष्यको ८२१ ई० में दत्त दानका उल्लेख है इन्होंने धर्मोत्तरा[5]चार्यकी न्यायविन्दु टीकापर टिप्पण लिखे थे जो कि धर्मोत्तर टिप्पण नामसे ख्यात है। बौद्ध ग्रन्थके ऊपर जैनाचार्य द्वारा टीका लिखा जाना राष्ट्रकूटकालके धार्मिक समन्वय तथा सहिष्णुता की भावनाका सर्वथा उचित फल था।

अमोघवर्षकी राजसभा तो अनेक विद्वानोंरूपी मालासे सुशोभित थी। यही कारण है कि आगामी अनेक शतियोंमें वह महान् साहित्यिक-प्रश्रयदाताके रूपमें ख्यात था[6]। उसके धर्मगुरू जिनसे-नाचार्य हरिवंश पुराणके रचयिता थे, यह ग्रन्थ ७८३ ई० में समाप्त हुआ था। अपनी कृतिकी प्रशस्तिमें उस वर्षमें विद्यमान राजाओंके नामोंका उल्लेख करके उनने प्राचीन भारतीय इतिहासके शोधक विद्वानों पर बड़ा उपकार किया है वह अपनी कृति आदिपुराणको समाप्त करने तक जीवित नहीं रह सके थे।

---

१ पीटरसनकी रिपोर्ट सं २,७९। ज० ब० ब्रा० रो० ए० सो० भा० १८ पृ २१३।

२ एपी० कर्ना० भा० २ सं २५४।

३ भारतीय न्यायका इतिहास पृ० १७९

४ एपी० इं० भा० २१

५ भा० न्या० पृ १९४-५१

६ इ० एण्टी० १९०४ पृ० ९७।

जिसे उनके शिष्य गुणचन्द्रने ८६७ ई० में समाप्त किया था; जो बनवासी[1] १२००० के शासक लोका-दित्यके धर्मगुरु थे। आदिपुराण जैनग्रन्थ है जिसमें जैन तीर्थंकर, आदि शलाका-पुरुषोंके जीवन चरित्र हैं। आचार्य जिनसेनने अपने पार्श्वाभ्युदय काव्यमें शृङ्गारिक खंडकाव्य मेघदूतके प्रत्येक श्लोककी अन्तिम पंक्ति (चतुर्थ चरण) को तपस्वी तीर्थंकर पार्श्वनाथके जीवन वर्णनमें समाविष्ट करनेकी अद्भुत बौद्धिक कुशलताका परिचय दिया है। पार्श्वाभ्युदयके प्रत्येक पद्यकी अन्तिम पंक्ति मेघदूत[2]के उसी संख्याके श्लोकसे ली गयी है। व्याकरण ग्रन्थ शाकटायनकी अमोघवृत्ति[3] तथा वीराचार्यका[4] गणित-ग्रन्थ 'गणितसारसंग्रह' भी अमोघवर्ष प्रथमके राज्यकालमें समाप्त हुए थे।

तद्देशीय साहित्य—

कनारी भाषामें प्रथम लक्षणशास्त्र 'कविराजमार्ग' लिखे जानेका श्रेय भी सम्राट अमोघवर्षके राज्यकालको है। किन्तु वह स्वयं रचयिता थे या केवल प्रेरक थे यह अब भी विवादग्रस्त है[5]। प्रश्नोत्तर-मालाका रचयिता भी विवादका विषय है क्योंकि इसके लिए श्री शंकराचार्य, विमल तथा अमोघवर्ष प्रथमके नाम लिये जाते हैं। डा० एफ० डवल्यू० थोमसने तिब्बती भाषाके इसके अनुवादकी प्रशस्तिके आधारपर लिखा है कि इस पुस्तिकाके तिब्बती[6] भाषामें अनुवादके समय अमोघवर्ष प्रथम इसका कर्त्ता माना जाता था। अतः बहुत संभव है कि वही इसका कर्त्ता रहा हो।

दसवीं शतीके मध्य तक दक्षिण कर्णाटकके चालुक्य वंशीय सामन्तोंकी राजधानी गंगधारा भी साहित्यिक प्रवृत्तियोंका बड़ा केन्द्र हो गयी थी। यहीं पर सोमदेव[7]सूरिने अपने 'यशस्तिलकचम्पू' तथा 'नीति वाक्यामृत'का निर्माण किया था। यशस्तिलक यद्यपि धार्मिक पुस्तक है तथापि लेखकने इसको सरस चम्पू बनानेमें अद्भुत सहित्यिक सामर्थ्यका परिचय दिया है। द्वितीय पुस्तक राजनीतिकी है। कौटिल्यके अर्थशास्त्रकी अनुगामिनी होनेके कारण इसका स्वतंत्र महत्त्व नहीं आंका जा सकता है तथापि यह ग्रन्थ साम्प्रदायिकतासे सर्वथा शून्य है तथा कौटिल्यके अर्थशास्त्रसे भी ऊंची नैतिक दृष्टिसे लिखा गया है।

---

१ इ० एण्टी० भा० १२ पृ० २१६।

२ इसमें अपने को लेखक अमोघवर्षका 'परमगुरु, कहता है।

३ इ० एण्टी० १९१४ पृ० २०५।

४ विण्टरनित्श गजैटी भा० ३ पृ० ५७।

५ इ० एण्टी० १९०४ पृ० १९९।

६ ज० ब० ब्रा० रो० ए० सो- १२ पृ० ९८०।

७ यशस्तिलकचम्पू पृ० ४१९।

महाकवि पम्प—

इस राज्यकालमें कर्णाटक जैनधर्मका सुदृढ़ गढ़ था। तथा जैनाचार्योंको यह भली भांति स्मरण था कि उनके परमगुरु तीर्थंकरने जनपदकी भाषाओंमें धर्मोपदेश दिया था। परिणाम स्वरूप १० वीं शतीमें हम कनारी लेखकोंकी भरमार पाते हैं। जिनमें जैनी ही अधिक थे। इनमें प्राचीनतम तथा प्रधानतम महाकवि पम्प थे इनका जन्म ९०२ ई० में हुआ था। आन्ध्र देशके निवासी होकर भी कनारी भाषाके आदि कवि हुए थे। इन्होंने अपनी कृति आदिपुराणको ९४१ ई० में समाप्त किया था, यह जैन ग्रन्थ है। अपने मूल ग्रन्थ 'विक्रमार्जुन विजय'में इन्होंने अपने आश्रयदाता 'अरिकेशरी द्वितीय[1]' को अर्जुनरूपसे उपस्थित किया है, अतः यह ग्रन्थ ऐतिहासिक रचना है। इसी ग्रन्थसे हमें इन्द्र तृतीयके उत्तर भारत पर किये गये उन आक्रमणोंकी सूचना मिलती है जिनमें उसका सामन्त अरिकेशरी द्वितीय भी जाता था। इस कालके दूसरे ग्रन्थकार 'असंग' तथा 'जिनचन्द्र' थे जिनका उल्लेख पूनने किया है यद्यपि इनकी एक भी कृति उपलब्ध नहीं है। पून कवि १० शतीके तृतीय चरणमें हुए हैं। यह संस्कृत तथा कनारी भाषामें कविता करनेमें इतने अधिक दक्ष थे कि इन्हें कृष्ण तृतीयने उभयकुल चक्रवर्तीकी उपाधि दी थी। इनकी प्रधान कृति 'शान्ति पुराण[2]' है। महाराज मारसिंह द्वितीयके सेनापति चामुण्ड-रायने 'चामुण्डरायपुराण' को दसवीं शतीके तीसरे[3] चरणमें लिखा था। रन्न भी प्रसिद्ध कनारी कवि थे। इनका जन्म ९४९ ई० में हुआ था। इनका 'अजितनाथपुराण[4]' ९९३ ई० में समाप्त हुआ था। जैन धर्म ग्रन्थोंका पुराण रूपमें रचा जाना बताता है कि राष्ट्रकूट युगमें जैनधर्मका प्रभाव तथा मान्यता दक्षिणमें असीम थी।

---

१ कर्णाटक भाषाभूषण, भूमिका० पृ० १३-४

२ ” ” ” १५।

३ एपी० इ० भा० ५, पृ० १७५।

४ ” ” ६ ” ७२।

कौल धर्मका परिचय

श्री डा० प्रा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, एम० ए०, पीएच० डी०

महाकवि राजशेखरका समय लगभग ९०० ई० माना जाता है। इनके प्राकृत नाटक 'कर्पूर-मञ्जरी'[१] में इन्द्रजालिक भैरवानन्दके मुखसे कुछ ऐसी बातें सुननेको मिलती हैं जिनमें 'कौल धर्म' के विषयमें आकर्षक तथा निहित हैं। 'अपने गुरुओंके प्रसादसे कौलधर्मके अनुयायी मंत्र, तंत्र तथा ध्यानके लिए कष्ट नहीं करते थे। खान-पान तथा विषय भोगमें भी उनके यहां कामाचार चलता था। वे भीषण कुलटा युवतीसे विवाह करते थे, मांस भक्षण उनके लिए सहज था तथा मदिरा तो ग्राह्य थी ही। वे भिक्षान्नका भोजन करते थे, तथा चर्मखण्ड ही उनकी शय्या थी। भगवान् ब्रह्मा तथा विष्णुने ध्यान, वेद-शास्त्रोंका अध्ययन तथा यज्ञ-यागादिका मुक्ति प्राप्तिके साधन रूपसे उपदेश दिया हो गा किन्तु उनका आदर्श देव उमापति इस दिशामें अद्भुत है; क्योंकि उन्होंने मदिरापान तथा स्त्री-संभोग द्वारा ही मुक्तिका उपदेश दिया है। जैसा कि कर्पूरमञ्जरीके निम्न उद्धारणोंसे स्पष्ट है—

मंताण तंताण ण किं पि जाणे झाणं च णो किं पि गुरुप्पसाआ।
मज्जं पिआमो महिलं रमामो मोक्खं च जामो कुलमग्गलग्गा॥

रंडा चंडा दिक्खिआ धम्मदारा,
मज्जं मंसं पिज्जए खज्जए अ।
भिक्खा भोज्जं चम्म खंडं च सेज्जा
कोलो धम्मो कस्स णो भाइ रम्मो॥

किंच—

मुत्तिं भणंति हरि ब्रह्ममुहा वि देवा
झाणेण वेअपढणेण कउक्किआहिं।
एक्केण केवल मुमादइएण दिट्ठो
मोक्खो समं सुरअ केलि सुरारसेहिं॥

'पृथ्वी पर चन्द्रमाको ले आनेकी, सूर्यको मध्य आकाशमें कीलित कर देनेकी तथा स्वर्गीय यक्ष, सिद्ध, देव तथा अप्सराओंको नीचे ले आनेकी[२]' भैरवानन्दकी गर्वोक्ति भी इसी धारामें है—

---

१. कोनो द्वारा सम्पादित हरवार्ड मालाके केम्ब्रिज हस्तलिखित ग्रन्थ (१९०१)

२. कर्पूरमञ्जरी १, २२-२४।

दंसेमि तं पि ससिणं वसुहावइएणं
थंभेमि तस्स वि रइस्स रहं णहद्धे।
आणेमि जक्ख सुर सिद्ध गणं गणाओ।
तं णत्थि भूमिवलए मह जं ण मज्झं॥

अधिक संभावना यही है कि ये सब योग्यताएं भैरवानन्दको प्राप्त विशेष सिद्धियां रहीं हों। तथा साधारणतया प्रत्येक कौल धर्मानुयायीमें नहीं पायी जाती रहीं हो।

देवसेनाचार्यक वर्णन--

श्री देवसेनाचार्यने अपने 'दर्शनसार[1]' को वि० सं० ९९० अर्थात् ९३३ ई० में समाप्त किया था। फलतः वे राजशेखरके समकालीन थे। अपने 'भावसंग्रह[2]' में उन्होंने कतिपय अजैन दर्शनों तथा धर्मोंकी समीक्षा की है। इसी प्रसंगसे इन्होंने भी कौलधर्मके विषयमें कुछ विस्तृत उल्लेख किया है। इन्होंने 'कौल' तथा 'कविल'[3] पंथोंको एक दूसरे में मिला दिया हैं तथा प्राकृत और अपभ्रंशके पद्योंको एक साथ रख दिया है, इस पर से मेरे मनमें विचार आता है कि देवसेनने अपने समयके प्रचलित तथा सुविदित मन्तव्योंको केवल एकत्रित कर दिया है। उन्होंने न तो कौल धर्मके सिद्धान्तग्रन्थोंका ही अध्ययन किया है और न इस धर्मके अनुयायियोंके सम्पर्कमें आकर स्वयं उन्हें जाननेका प्रयत्न किया है। उनके अधिकांश उद्गार राजशेखरके उद्धरणोंके अत्यन्त समान हैं तथा निम्नलिखित सूचनाएं राजशेखरकी अपेक्षा अधिक हैं—'नारी शिष्योंके साथ मनमाना कामाचार कौलधर्मके अनुकुल है, इन्द्रियभोग बहुत महत्त्वपूर्ण है, मदिरापान तथा मांस भक्षणके साथ, साथ जीव-हिंसा भी इस धर्मके अनुकूल है। इस धर्ममें आराध्य देव वासनासे आक्रान्त है तथा 'माया' एवं 'शून्य' नाम लेकर पूजा जाता है, गुरु लोग इन्द्रिय-भोगोंमें लीन रहते हैं, स्त्रीकी वय, पद, प्रतिष्ठा, आदिका कोई विचार नहीं है। वह केवल भोग विलासका साधन है। 'भाव संग्रह[4]' के कुछ संशोधित पद्य निम्न प्रकार हैं—

"रंडा मुंडा चंडी, सुंडी दिक्खिदा धम्मदारा
सीसा कंता कामासत्ता कामिया सा वियारा।
मज्ज मांसं मिट्ठं भक्खं भक्खियं जहि सोक्खं
कवले धम्मे विसवे रम्मे तं जि हो मोक्ख सोक्खं॥
रत्ता मत्ता कामासत्ता दूसिया धम्म मग्गा

---

१. 'भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट की पत्रिका प्र. १५ भा. ३-४ (पूना १९३४)

२. माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला बम्बई (१९२१)।

३. कौलधर्मका विस्तृत वर्णन मेरे सांख्य विभागमें दिया है।

४, भा० सं० पृ० १८२-८५।

दुट्ठा कट्ठा रिट्ठा भुट्ठा णिंदिया मोक्खमग्गा।
अक्खे सुक्खे अग्गे दुक्खे णिब्भरं दिराणचित्ता।
णेरइ याणं दुक्खट्ठाणं तस्स सिस्सा पउत्ता॥
मज्जे धम्मो मंसे धम्मो जीव हिंसाई धम्मो
राई देवो दोसी देवो माया सुराणं वि देवो।
रत्ता मत्ता कंता सत्ता जे गुरु वि पुज्जा
हा हा कट्ठं णट्ठो लोओ अट्टमट्टं कुणंतो॥
धूय मायरि वहिणि अराणा वि पुत्तत्थिणि
आयति य वासवयणु पयडे वि विप्पें।
जह रमिय कामाउरेण वेयगव्वे उप्पण दप्पे।
वंभणि छिंपिणि डोंवि णडि य वरुडि रज्जइ चम्मारि
कवले समइ समागइ य भुत्तिम परणारि।

जसहरचरिऊका वर्णन--

श्री पुष्पदन्ताचार्यके 'जसहरचरिऊ'[1] (यशोधरचरित) के मूलमें श्रीगन्धर्व (१३०८ ई०) द्वाराबादमें सम्मिलित कर दिये गये अंशोंमें भी कौलाचार्यका चमत्कार-पूर्ण वर्णन मिलता है।

कौलाचार्यके शरीरका वर्णन भी रुचिकर है। जैसा कि भैरव नामसे स्पष्ट है उनका साधारण आकार प्रकार भीषण होता है। वह शिरपर रंग विरंगी टोपी पहिनते हैं जो दोनों कानोंको ढके रहती है हाथमें बत्तीस अंगुल लम्बा दण्ड रहता है जिसे पकड़नेका उनका प्रकार बड़ा विचित्र है। गलेमें योगपट्ट पहिनते हैं, अद्भुत रूपसे सुसज्जित रहते हैं, पैरोंमें लकड़ीकी खड़ाऊं पहिने रहते हैं तथा सुन्दर टोंटी दार पतली आवाजका बाजा (सींग) लिये रहते हैं।

उनके अन्य गुणोंका विवेचन करते लिखा है--वह कपटी तथा क्रूर होता है; जोरसे चिल्लाता हुआ वह द्वार, द्वार भोजन मांगता फिरता है। वह लोगोंको अपने सम्प्रदायमें दीक्षित करता है। वह इन्द्रिय भोगोंमें आसक्त होता है और कुछ भी खा सकता है। वह अपनेको अज तथा चिरञ्जीवि कहता है तथा चारों युगोंकी समस्त घटनाओंका साक्षात्-द्रष्टा कह कर उन्हें गिनाना प्रारम्भ कर देता है। वह अपने आपको अद्भुत शक्ति सम्पन्न कहता है; वह सबको शान्त रख सकता है, वह सूर्यकी गति रोक सकता है, चन्द्रिकाको बीचमें ही ढक सकता है, वह विविध विद्या तथा मंत्रोंका प्रभु है। वह महा शक्तिशाली पुरुष है जो कि सब कुछ कर सकता है। सम्बद्ध पंक्तियां निम्न प्रकार हैं[2]—

१, कारञ्जा जैन ग्रन्थमालामें श्रीवैद्य द्वारा सम्पादित संस्करण (१९३१) भूमिका पृ० १७ तथा मूल ६, आदि।

२. जसहरचरिऊ प्र० ५, २०-६, १५, ६, २८-७, ३।

"तहो रज्ज करंत हो जणुपालंत हो मंत महल्लि हिं परियरिउ।
एत्तहिं राय उरहो धणकण पउरहो संपत्तउ कउलायरिउ॥
तहिं जगह भयाउलु अलिय रासि भइरउ अहि हाणि सव्वगासि।
तहि भमहि भिक्खयरू देइ सिक्ख अणुगयहं जणहं कुलमग्ग दिक्ख।
बहुसिक्ख हिंस हियउ डंभधारि, घरि घरि हिंडइ हुंकार कारि।
सिरि टोप्पी दिएण खएण वएण सा झंपवि संठिय दोएिण कएण।
अङ्गुल दुतीस परिमाण, दंडु हत्थे उप्फालिवि रहई चंडु।
गलि जोगवट्ट सज्जिउ विचित्तु पाउडिय जुम्भु पइ दिएणु दित्तु।
तड तड तड़ तड तडिय सिंगु सिंगग्गु छेवि किउ तेण चंगु।
अप्पि अप्पहो माहप्पु दप्पु अणउंछिउ जंपई थुणइ अप्पु।
महु पुरउ पसप्पिय जुयचयारि हउं जरइ ण घिप्पमि कप्प धारि।
णल णहुस वेणु मंधाय जेवि महि भुंजिवि अवरइं गयइं ते वि।
मइं दिट्ठ रामरावण भिडंत संगामरंगि णिसियर पडंत।
मइं दिट्ठ जुहिट्ठिलु वंधुसहिउ दुज्जोहणु ण करइ विरहु कहिउ।
हउं चिरजीविउ माकरहु भंत्ति हउं सयलहं लोयहं करमि संति।
हउं थंभिमि रविहि विमाणुजंतु चंदस्स जोएह छायमि तुरंतु।
सव्वउ विज्जउ महु विप्फुरंति बहु तंत मंत अग्गइ सरंति।
जोइसरु मणि तुट्ठउ चिंतइ दुट्ठउ इंदिय सुट्ठु महु पुज्जइ।
जं जं उद्देसमि तं भुंजेसमि आरासहु संपज्जइ।
ता चवइ जोइ महु सयलु रिद्धि विप्फुरइ खणंतरि विज्जसिद्धि।
हउं हरण करण कारण समत्थु हउं पयडु धरावलि गुण पसत्थु।
जं जं तुहुं मग्गति किं पि वत्थु तं तं हउं देमि महा पयत्थु॥"

गन्धर्व तथा राजशेखरके उद्धरणोंकी सूक्ष्म समीक्षा द्वारा मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि साक्षात् अथवा परम्परया प्रथम विद्वान् द्वितीयके ऋणी हैं। 'कर्पूरमञ्जरी' में आये 'भैरव' तथा 'जोइसरु' शब्दोंका प्रयोग 'जसहर चरिऊ' में भी हुआ है। अन्तर इतना है कि प्रथममें 'भैरवानन्द' पद है। दोनों वर्णनोंमें कौलाचार्यके अधिकांश गुण समान हैं तथा 'सूर्यको मध्य आकाशमें रोक दूं' कथनका तो शब्द-विन्यास भी समान है।

बहुत संभव है कि कौलधर्म तथा कौलाचार्यके उपर्युल्लिखित वर्णनों तथा उल्लेखोंको धार्मिक पक्षपातने कुछ अतिरंजित किया हो, तथापि राजशेखर तथा देवसेनके उद्धरणोंमें तथा उक्त अन्य सामग्रीमें दशमीं शतीमें प्रचलित कौलधर्मका अच्छा चित्र मिलता है जो कि उसके स्थूल ज्ञानके लिए पर्याप्त है।

भगवान् महावीरकी निर्वाणभूमि

श्री प्रा० डा० राजबली पाण्डेय, एम० ए०, डी० लिट०

इस बातको सभी मानते हैं कि भगवान् महावीरका निर्वाण पावा-(अ-पापा) पुरीमें हुआ था। आज कल श्रद्धालु जैन जिस स्थानको उनकी निर्वाणभूमि समझ कर तीर्थयात्रा करने जाते हैं वह पटना जिलान्तर्गत राजगृह और नालन्दाके बीच बड़गांवमें स्थित है। प्रस्तुत लेखकके मतमें आधुनिक पावाकी प्रतिष्ठा भावना-प्रसूत, पश्चात्-स्थानान्तरित और कल्पित प्रतीत होती है। वास्तविक पावापुरी उससे भिन्न और दूरस्थ थी।

निर्वाण वर्णन—

मूल ग्रन्थोंमें भगवान् महावीरके निर्वाणके सम्बन्धमें निम्नलिखित वर्णन मिलते हैं—

१—जैन कल्पसूत्र और परिशिष्ट-पर्वन्के अनुसार भगवान् महावीरका निर्वाण (देहावसान) मल्लोंकी राजधानी पावामें हुआ। मल्लोंकी नव शाखाओंने निर्वाणस्थान पर दीपक जला कर प्रकाशोत्सव मनाया।

२—बौद्धग्रन्थ मज्झिमनिकाय (३-१-४) में यह उल्लेख है कि जिस समय भगवान् बुद्ध शाक्यदेशके 'साम' ग्राममें विहार कर रहे थे उस समय 'निगंठ-नातपुत्त' अभी अभी पावामें मरे थे।

३—बौद्धग्रन्थ अट्ठकथासे भी इस बातकी पुष्टि होती है कि मरनेके समय भगवान् महावीर नालन्दासे पावा चले आये थे।

ऊपरके वर्णनोंसे नीचे लिखे निष्कर्ष निकलते हैं—

१—जिस पावामें भगवान् महावीरका निर्वाण हुआ वह मल्लोंकी राजधानी थी।

२—उपर्युक्त पावा शाक्यदेशके निकट थी; दूसरे वर्णनसे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है।

३—जिस तरह भगवान् बुद्ध अपने निर्वाणके पूर्व राजगृहसे चलकर कुशीनगर आये उसी प्रकार भगवान् महावीर भी नालन्दासे पावा पहुंच गये थे। भगवान् बुद्धका कुशीनगरके मल्लोंमें और भगवान् महावीरका पावाके मल्लोंमें बड़ा मान था।

समस्या—

अब प्रश्न यह है कि मल्लोंकी राजधानी पावा कहां पर स्थित थी। यह निश्चित है कि बौद्ध और जैन साहित्यमें जिन गणतंत्रोंका वर्णन मिलता है उनमेंसे पावाके मल्लोंका भी एक गणतंत्र था। मल्लोंकी दो मुख्य शाखाएं थीं—(१) कुशीनगरके मल्ल और (२) पावाके मल्ल। मल्लोंकी नव छोटी छोटी शाखाओंका भी वर्णन मिलता है जिनको मल्लकि (लघुवाचक) कहते थे। इनके सभी वर्णनोंसे यही निष्कर्ष निकलता है कि मल्लोंकी सभी शाखाएं निकटस्थ, पड़ोसी और एक संघमें संघटित थीं। अतः मल्लोंकी दूसरी प्रमुख शाखाकी राजधानी पावा प्रथम प्रमुख शाखाकी राजधानी कुशीनगरसे दूर न होकर पास होनी चाहिये। अब यह निर्विवाद रूपसे सिद्ध हो गया है कि कुशीनगर देवरिया जिलान्तर्गत (कुछ समय पहले गोरखपुर जिलान्तर्गत) कसया नामक कसबेके पास अनुरुधवाके डूहों पर स्थित था। बौद्धकालीन गणतंत्र बड़े बड़े राज्य नहीं थे। उन राज्योंमें राजधानी और उनके आस पास के प्रदेश सम्मिलित होते थे; संभवतः ये यूनानके 'नगरराष्ट्रों' से कुछ बड़े थे। इस परिस्थितिमें पावा कहीं कुशीनगरके पास स्थित होनी चाहिये।

पावाका स्थान—

पावाकी स्थिति और दिशाके संकेत बौद्ध साहित्यमें निम्न रूपसे मिलते हैं—

१. प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थ 'महापरिनिब्बान सुत्तान्त' में निर्वाणके पूर्व भगवान् बुद्धकी राजगृहसे कुशीनगर तककी यात्राके मार्ग और चारिका का वर्णन मिलता है। इसके अनुसार वे राजगृहसे नालन्दा, नालन्दासे पाटलिपुत्र (जो अभी बस रहा था), पाटलिपुत्रसे कोटिग्राम, कोटिग्रामसे नादिका, नादिकासे वैशाली, वैशालीसे भण्डुग्राम, भण्डुग्रामसे हस्तिग्राम (हथुआके पास), हस्तिग्रामसे अम्बग्राम (अमिया), अम्बग्रामसे जम्बुग्राम, जम्बुग्रामसे भोगनगर (बदरांव), भोगनगरसे पावा और पावासे कुशीनगर गये। इस यात्रा-क्रममें पावा भोगनगर (बदरांव) और कुशीनगरके बीचमें होनी चाहिये। एक बात और ध्यान देनेकी है। भगवान् बुद्ध रक्तातिसारसे पीडित होते हुए भी पावासे कुशीनगर पैदल एक दिन में विश्राम करते हुए पहुंचे थे। अतएव पावा कुशीनगर से एक दिनकी हलकी यात्राकी दूरी पर स्थित होनी चाहिये।

२. दूसरे बौद्ध ग्रन्थ 'चुल्लनिद्देसके' 'सिङ्गिय सुत्तमें' भी एक यात्राका उल्लेख है। इसमें हेमक, नन्द, दूभय, आदि जटिल साधु अल्लकसे चले थे और उनके मार्गमें क्रमशः निम्नलिखित नगर पड़े।

कोसम्बिञ्चापि साकेतं सावत्थिं च पुरुत्तमं।
सोतव्यं कपिलवत्थुं कुसिनारञ्च मंदिरं॥
पावञ्च भोगनगरं वेसालि मागमं पुरं।

ऊपरके अवतरणसे भी स्पष्ट है कि वैशालीकी ओरसे पावा नगरी भोगनगर (बदरांव) और कुशीनगरके बीचमें पड़ती थी।

इन सब बातोंको ध्यानमें रखकर जो सड़क कुशीनगरसे वैशाली (= बसाढ़ विहारके मुजफ्फर-पुर जिलेमें) की ओर जाती है उसी पर पावा नगरीको ढूढ़ना चाहिये। इसी रास्ते पर कुशीनगरसे लगभग ९ मीलकी दूरी पर पूर्व-दक्षिण दिशामें सठियांव (फाजिल नगर) के डेढ़मील विस्तृत भग्नावशेष हैं। ये अवशेष भोगनगर और कुशीनगरके बीचमें स्थित हैं। 'महापरिनिब्बान सुत्तान्त' से यह भी पता लगता है कि पावा और कुशीनगरके बीचमें दो छोटी नदियां बहती थीं। फाजिलनगर और कुशीनगरके बीचमें ये नदियां शुन्दा (सोना) और घाधी (ककुत्था) के रूपमें वर्तमान हैं। अतः सभी परिस्थितियों पर विचार करते हुए पावापुरीकी स्थिति फाजिलनगर ही निश्चित जान पड़ती है। फाजिलनगर नाम नया है और मुसलिम शासनके सयय पड़ा था। यहीं एक टीले पर एक मुसलमान फकीरकी समाधि भी बन गयी है। परन्तु इसके पास ही में विहारोंके भग्नावशेष और जैनमूर्तियोंके टुकड़े पाये जाते हैं। ये अवशेष इस बातकी ओर संकेत करते हैं कि इस स्थानका सम्बन्ध बौद्ध और जैनधर्मोंसे था और इससे लगा हुआ एक विस्तृत नगर बसा था। दुर्भाग्यवश यहां खननकार्य अभी बिल्कुल नहीं हुआ है। खुदायी होनेपर इस स्थानका इतिहास अधिक स्पष्ट और निश्चित हो जायगा।

अन्य मान्यताएं—

कुछ विद्वानोंने पावाकी स्थिति अन्यत्र निश्चित करनेकी चेष्टा की है। कनिंगहमने पावाको वर्तमान पडरौना (ज्याग्राफिकल डिक्शनरी आफ् ऐंसियंट इंडिया) और महापंडित राहुल सांकृत्यायनने पावाको रामकोला स्टेशनके पास 'पपउर' माना है। इन अभिन्नताओंमें थोड़ेसे शब्दसाम्यको छोड़कर और कोई प्रमाण नहीं हैं। ये दोनों स्थान कुशीनगरसे पश्चिमोत्तर कपिलवस्तु और श्रावस्ती जानेवाले मार्गपर स्थित हैं और कुशीनगरसे वैशाली जानेवाले मार्गकी ठीक उलटी दिशामें हैं। अतः पडरौना और पपउर पावा नहीं हो सकते। प्रसिद्ध विद्वान् स्व० डा० काशीप्रसाद जायसवालने बौद्धकालीन राज्योंकी स्थिति और भूगोल पर ध्यान न देकर अपने ग्रंथ 'हिन्दूपोलिटी' (भाग १ पृ० ४८) में मल्लोंके राज्यको कुशीनगरसे पटनाके दक्षिण तक विस्तृत और अस्पष्ट रूपसे आधुनिक पावाको मल्लोंकी राजधानी पावा मान लिया है जो सर्वथा भ्रान्त है।

कतिपय मौलिक विरोध—

वर्तमान पावाको मल्लोंकी राजधानी और भगवान् महावीरकी निर्वाण भूमि मान लेनेमें कई प्रबल आपत्तियां हैं—

१. भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीर दोनोंके समकालीन मगधके राजा बिम्बसार और अजातशत्रु थे। मगध राज्य गंगाके दक्षिण सम्पूर्ण दक्षिण-विहार पर फैला था। उसकी राजधानी उस

समय पाटलिपुत्र न होकर राजगृह (राजगिरि) थी। अजातशत्रु बड़ा ही महत्वाकांक्षी, साम्राज्यवादी और गणतंत्रोंका शत्रु था। उसने गंगाके उत्तरमें स्थित 'वज्जिसंघ' और उसके सहायक मल्ल-संघको दस वर्षके भीषण युद्धके बाद परास्त किया था। अतः राजगृहके निकट पड़ोसमें मल्लोंकी राजधानी पावाका होना राजनैतिक दृष्टिसे बिल्कुल असंभव है। और मगध तथा काशी दोनों पर अधिकार रखनेवाले अजात-शत्रुके समयमें गंगाके दक्षिणमें मल्ल राज्यका विस्तार उससे भी अधिक असंभव था।

२. 'महापरिनिब्बानसुत्तान्त' से तत्कालीन भूगोल और उस समयके मार्गोंकी दिशाएं स्पष्ट मालूम होती हैं। दक्षिण-विहारमें स्थित राजगृहसे प्रारम्भ होनेवाला मार्ग उत्तरमें चलकर गंगाको पाटलिपुत्र पर पार करता था। इसके बाद वह वैशाली (उत्तर विहारका मुजफ्फरपुर जिला) पहुंचता था। उसी मार्ग पर पश्चिमोत्तरमें चलकर भोगनगर और कुशीनगरके बीचमें पावापुरी पड़ती थी! भगवान् बुद्ध बीमारीकी अवस्थामें भी पावासे चलकर पैदल एक दिनमें कुशीनगर पहुंचे थे। राजगृहके निकटस्थ वर्तमान पावा कुशीनगरसे दस मीलसे अधिककी दूरी पर है; अतः यह वास्तविक पावा नहीं हो सकती।

३. वर्तमान पावापुरीमें प्राचीन नगर अथवा धर्मस्थानके कोई अवशेष नहीं मिलते हैं। वर्तमान मंदिरादि प्रायः आधुनिक हैं। यह बात इस स्थानकी प्राचीनतामें सन्देह उत्पन्न करती है। वर्तमान पावा संभवतः मुसलिम शासनके समय स्थानान्तरित हुई मालूम होती है। इसको भगवान महावीरकी निर्वाण भूमि माननेमें एक बात कारण हो सकती है। यह नालन्दाके अति निकट है; संभवतः उनकी अंतिम यात्रा यहींसे प्रारम्भ हुई हो। परन्तु उनका देहावसान मल्लोंकी राजधानी पावामें ही हुआ[1] था।

१, पावा की ओर अभी बहुत कम लोगों का ध्यान गया है। संभवतः अपने अज्ञान और मुसलिम आतंक के कारण जैन जनता ने इसका परित्याग कर दिया हो। परन्तु अब ऐतिहासिक चेतना स्थानीय जनता में जागृत हो रही है और गत वर्ष वहां पावा हाई स्कूल नामक विद्यालय खोला गया। पास के ही कुशीनगर में सरकार की ओर से खनन कार्य हुआ है और श्रीमन्त बिरलाजी ने कई भव्य इमारतें बनवा दी हैं। पावा अभी सरकार और श्रद्धालु श्रीमंतों की प्रतीक्षा कर रही है।

तामिल-प्रदेशोंमें जैनधर्मावलम्बी

श्री प्रा० एम० एस० रामस्वामी आयंगर, एम० ए०

श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

भारतीय सभ्यता अनेक प्रकारके तन्तुओंसे मिलकर बनी है। वैदिकोंकी गम्भीर और निर्भीक बुद्धि, जैनकी सर्वव्यापी मनुष्यता, बुद्धका ज्ञान-प्रकाश, अरबके पैगम्बर (मुहम्मद साहब) का विकट धार्मिक जोश और सगठन-शक्ति, द्रविड़ोंकी व्यापारिक प्रतिभा और समयानुसार परिवर्तनशीलता, इन सबका भारतीय जीवन पर अनुपम प्रभाव पड़ा है और आज तक भी भारतियोंके विचारों, कार्यों और आकांक्षाओं पर उनका अदृश्य प्रभाव मौजूद है। नये नये राष्ट्रोंका उत्थान और पतन होता है, राजे महाराजे विजय प्राप्त करते हैं और पददलित होते हैं; राजनैतिक और सामाजिक आन्दोलनों तथा संस्थाओंकी उन्नतिके दिन आते हैं और बीत जाते हैं, धार्मिक सम्प्रदायों और विधानोंकी कुछ काल तक अनुयायियोंके हृदयोंमें विस्फूर्ति रहती है। परन्तु इस सतत परिवर्तनकी क्रियाके अन्तर्गत कतिपय चिरस्थायी लक्षण विद्यमान हैं, जो हमारे और हमारी सन्तानोंकी सर्वदाके लिए पैतृक-सम्पत्ति हैं। प्रस्तुत लेखमें एक ऐसी जातिके इतिहासको एकत्र करनेका प्रयत्न किया जायगा, जो अपने समयमें उच्चपद पर विराजमान थी, और इस बात पर भी विचार किया जायगा कि उस जातिने महती दक्षिण-भारतीय सभ्यताकी उन्नतिमें कितना भाग लिया है।

जैन धर्मकी दक्षिण यात्रा--

यह ठीक ठीक निश्चय नहीं किया जा सकता कि तामिल प्रदेशोंमें कब जैनधर्मका प्रचार प्रारम्भ हुआ। सुदूरके दक्षिण-भारतमें जैनधर्मका इतिहास लिखनेके लिए यथेष्ट सामग्रीका अभाव है। परन्तु दिगम्बरोंके दक्षिण जानेसे इस इतिहासका प्रारम्भ होता है। श्रवणबेलगोलाके शिलालेख अब प्रमाणकोटिमें परिणत हो चुके हैं और १६ वीं शतीमें देवचन्द्रविरचित 'राजावलिकथे' में वर्णित जैन-इतिहासको अब इतिहासज्ञ विद्वान् असत्य नहीं ठहराते। उपर्युक्त दोनों सूत्रोंसे यह ज्ञात होता है कि प्रसिद्ध भद्रबाहु (श्रुतकेवली) ने यह देखकर कि उज्जैनमें बारह वर्षका एक भयङ्कर दुर्भिक्ष होने वाला

है, अपने १२००० शिष्योंके साथ दक्षिणकी ओर प्रयाण किया। मार्गमें श्रुतकेवलीको ऐसा जान पड़ा कि उनका अन्त समय निकट है और इसलिए उन्होंने कटवप्र नामक देशके पहाड़ पर विश्राम करनेकी आज्ञा दी। वह देश जन, धन, सुवर्ण, अन्न, गाय, भैंस, बकरी, आदिसे सम्पन्न था। तब उन्होंने विशाखमुनिको उपदेश देकर अपने शिष्योंको उसे सौंप दिया और उन्हें चोल और पाण्ड्य देशोंमें उसके अधीन भेजा। राजावलिकथेमें लिखा है कि विशाखमुनि तामिल-प्रदेशोंमें गये, वहां पर जैनचैत्यालयोंमें उपासना की और वहांके निवासी जैनियोंको उपदेश दिया। इसका तात्पर्य यह है कि भद्रबाहुके मरण (अर्थात् २९७ ई० पू०) के पूर्व भी जैनी सुदूर दक्षिणमें विद्यमान थे। यद्यपि इस बातका उल्लेख राजावलिकथेके अतिरिक्त और कहीं नहीं मिलता और न कोई अन्य प्रमाण ही इसके निर्णय करनेके लिए उपलब्ध होता है, परन्तु जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदायमें विशेषतः उनके जन्मकालमें, प्रचारका भाव बहुत प्रबल होता है, तो शायद यह अनुमान अनुचित न होगा कि जैनधर्मके पूर्वतर प्रचारक पार्श्वनाथके संघ दक्षिणकी ओर अवश्य गये होंगे। इसके अतिरिक्त जैनियोंके हृदयोंमें ऐसे एकान्त स्थानोंमें वास करनेका भाव सर्वदासे चला आया है, जहां वे संसारके झंझटोंसे दूर प्रकृतिकी गोदमें, परमानन्दकी प्राप्ति कर सकें। अतएव ऐसे स्थानोंकी खोजमें जैनी लोग अवश्य दक्षिणकी ओर निकल गये होंगे। मदरास प्रान्तमें जो अभी जैन मन्दिरों, गुफाओं, और वस्तियोंके भग्नावशेष और धुस्स पाये जाते हैं वही उनके स्थान रहे होंगे। यह कहा जाता है कि किसी देशका साहित्य उसके निवासियोंके जीवन और व्यवहारोंका चित्र है। इसी सिद्धान्तके अनुसार तामिल-साहित्यकी ग्रन्थावलीसे हमें इस बातका पता लगता है कि जैनियोंने दक्षिण भारतकी सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओंपर कितना प्रभाव डाला है।

साहित्यिक प्रमाण--

समस्त तामिल-साहित्यको हम तीन युगोंमें विभक्त कर सकते हैं--

१ संघ-काल।

२ शैव नयनार और वैष्णव अलवार काल।

३ अर्वाचीन काल।

इन तीन युगोंमें रचित ग्रन्थोंसे तामिल-देशमें जैनियोंके जीवन और कार्यका अच्छा पता लगता है।

संघ-काल--

तामिल लेखकोंके अनुसार तीन संघ हुए हैं। प्रथम संघ, मध्यम संघ और अन्तिम संघ। वर्तमान ऐतिहासिक अनुसन्धानसे यह ज्ञात हो गया है कि किन किन समयोंके अन्तर्गत ये तीनों संघ हुए। अन्तिम संघके ४९ कवियोंमें से 'वक्किरार'ने संघोंका वर्णन किया है। उसके अनुसार प्रसिद्ध वैयाकरण थोलकपियर प्रथम और द्वितीय संघोंका सदस्य था। आन्तरिक और भाषासम्बन्धी प्रमाणोंके आधारपर अनुमान किया

जाता है कि उक्त ब्राह्मण वैयाकरण ईसासे ३५० वर्ष पूर्व विद्यमान हो गा। विद्वानोंने द्वितीय संघका काल ईसाकी दूसरी शती निश्चय किया है। अन्तिम संघके समयको आजकल इतिहासज्ञ लोग ५ वीं, ६ ठीं शती में निश्चय करते हैं। इस प्रकार सब मतभेदोंपर ध्यान रखते हुए ईसाकी ५ वीं शतीके पूर्वसे लेकर ईसाके अनन्तर ५ वीं शती तकके कालको हम संघ-काल कह सकते हैं। अब हमें इस बातपर विचार करना है कि इस कालके रचित कौन ग्रन्थ जैनियोंके जीवन और कार्योंपर प्रकाश डालते हैं।

सबसे प्रथम, 'थोलकपियर' संघ-कालका आदि लेखक और वैयाकरण है। यदि उसके समयमें जैनी लोग कुछ भी प्रसिद्ध होते तो वह अवश्य उनका उल्लेख करता, परन्तु उसके ग्रन्थोंमें जैनियोंका कोई वर्णन नहीं है। शायद उस समय तक जैनी उस देशमें स्थायी रूपसे न बसे हों गे अथवा उनका पूरा ज्ञान उसे न हो गा। उसी कालमें रचे गये 'पथुपाट्टु' और "एट्टुथोगाई" नामक काव्योंमें भी उनका वर्णन नहीं है, यद्यपि उपर्युक्त ग्रन्थोंमें विशेष कर ग्रामीण जीवनका वर्णन है।

कुरल––

दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ महात्मा 'तिरुवल्लुवर' रचित 'कुरल' है, जिसका रचना-काल ईसाकी प्रथम शती निश्चय हो चुका है। 'कुरल' के रचयिताके धार्मिक-विचारोंपर एक प्रसिद्ध सिद्धान्तका जन्म हुआ है। कतिपय विद्वानोंका मत है कि रचयिता जैन धर्मावलम्बी था। ग्रन्थकर्ताने ग्रन्थारम्भमें किसी भी वैदिक देवकी वन्दना नहीं की है बल्कि उसमें 'कमल-गामी' और 'अष्टगुणयुक्त' आदि शब्दोंका प्रयोग किया हैं। इन दोनों उल्लेखोंसे यह पता लगता है कि ग्रन्थकर्ता जैनधर्मका अनुयायी था। जैनियोंके मतसे उक्त ग्रन्थ 'एलचरियार' नामक एक जैनाचार्यकी रचना है[1]। और तामिल काव्य 'नीलकेशी' का जैनी भाष्यकार 'समयदिवाकर मुनि' 'कुरल'को अपना पूज्य-ग्रन्थ कहता है। यदि यह सिद्धान्त ठीक है तो इसका यही परिणाम निकलता है कि यदि पहले नहीं तो कमसे कम ईसाकी पहली शतीमें जैनी लोग सुदूर दक्षिणमें पहुंचे थे और वहांकी देशभाषामें उन्होंने अपने धर्मका प्रचार प्रारम्भ कर दिया था। इस प्रकार ईसाके अनन्तर प्रथम दो शतियोंमें तामिल प्रदेशोंमें एक नये मतका प्रचार हुआ, जो बाह्याडम्बरोंसे रहित और नैतिक सिद्धान्त होनेके कारण द्राविड़ियोंके लिए मनोमुग्धकारी हुआ। आगे चलकर इस धर्मने दक्षिण भारतपर बहुत प्रभाव डाला। देशी भाषाओंकी उन्नति करते हुए जैनियोंने दाक्षिणात्योंमें आर्य विचारों और आर्य-विद्याका अपूर्व प्रचार किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि द्राविड़ी साहित्यने उत्तर भारतसे प्राप्त नवीन सन्देशकी घोषणा की। मि० फ्रेज़रने अपने "भारतके साहित्यक इतिहास" (A Literary History of India") नामक पुस्तकमें लिखा है कि "यह जैनियों हो के प्रयत्नोंका फल था कि दक्षिणमें नये आदर्शों नये साहित्य और नये भावोंका सञ्चार हुआ।" उस समयके द्राविड़ोंकी उपासनाके विधानों पर विचार करनेसे यह अच्छी तरहसे समझमें आ जायगा कि जैनधर्मने उस देशमें

१ एलचरियार, एलाचार्य अथवा इलाचार्यका तद्देशीय रूप प्रतीत होता है। यह नाम जैन युगाचार्य कुन्द कुन्द स्वामीका अपर नाम था।

जड़ कैसे जमायी। द्राविड़ोंने अनोखी सभ्यताकी उत्पत्ति की थी। स्वर्गीय श्री कनकसबाई पिल्लेके अनुसार, उनके धर्ममें बलिदान, भविष्यवाणी और आनन्दोत्पादक नृत्य प्रधान कार्य थे। जब ब्राह्मणोंके प्रथम दलने दक्षिणमें प्रवेश किया और मदुरा या अन्य नगरोंमें वास किया तो उन्होंने इन आचारोंका विरोध किया और अपनी वर्ण-व्यवस्था और संस्कारोंका उनमें प्रचार करना चाहा, परन्तु वहांके निवासियोंने इसका घोर विरोध किया। उस समय वर्ण-व्यवस्था पूर्णरूपसे परिपुष्ट और संगठित नहीं हो पायी थी। परन्तु जैनियोंकी उपासना, आदिके विधान ब्राह्मणोंकी अपेक्षा सीधे सादे ढंगके थे और उनके कतिपय सिद्धान्त सर्वोच्च और सर्वोत्कृष्ट थे। इसलिए द्राविड़ोंने उन्हें पसन्द किया और उनको अपने मध्यमें स्थान दिया, यहां तक कि अपने धार्मिक जीवनमें उन्हें अत्यन्त आदर और विश्वासका स्थान प्रदान किया।

कुरलोत्तर काल--

कुरलके अनन्तरके युगमें प्रधानतः जैनियोंकी संरक्षतामें तामिल-साहित्य अपने विकासकी चरम सीमा तक पहुंचा। तामिल-साहित्यकी उन्नतिका वह सर्वश्रेष्ठ काल था। वह जैनियोंकी भी विद्या तथा प्रतिभा का समय था, यद्यपि राजनैतिक-सामर्थ्यका समय अभी नहीं आया था। इसी समय (द्वितीय शती) चिर-स्मरणीय 'शिलप्पदिकारम्' नामक काव्यकी रचना हुई। इसका कर्त्ता चेर-राजा सेंगुत्तुवनका भाई 'इलंगोब दिगाल' था। इस ग्रन्थमें जैन-सिद्धान्तों, उपदेशों और जैनसमाजके विद्यालयों और आचारों आदिका विस्तृत वर्णन है। इससे यह निःसन्देह सिद्ध है कि उस समय तक अनेक द्राविडोंने जैनधर्मको स्वीकार कर लिया था।

ईसाकी तीसरी और चौथी शतियोंमें तामिल-देशमें जैन धर्मकी दशा जाननेके लिए हमारे पास काफी सामग्री नहीं है। परन्तु इस बातके यथेष्ट प्रमाण प्रस्तुत हैं कि ५ वीं शतीके प्रारम्भमें जैनियोंने अपने धर्मप्रचारके लिए बड़ा ही उत्साहपूर्ण कार्य किया। 'दिगम्बर दर्शन' (दर्शन सार ?) नामक एक जैन ग्रन्थमें इस विषयका एक उपयोगी प्रमाण मिलता है। उक्त ग्रन्थमें लिखा है कि सम्वत् ५२६ विक्रमी (४७० ईसवीं) में पूज्यपादके एक शिष्य वज्रनन्दी द्वारा दक्षिण मथुरामें एक द्राविड़-संघकी रचना हुई और यह भी लिखा है कि उक्त संघ दिगम्बर जैनियोंका था जो दक्षिणमें अपना धर्मप्रचार करने आये थे।

यह निश्चय है कि पाण्ड्य राजाओंने उन्हें सब प्रकारसे अपनाया। लगभग इसी समय प्रसिद्ध 'नलदियार' नामक ग्रन्थकी रचना हुई और ठीक इसी समयमें ब्राह्मणों और जैनियोंमें प्रतिस्पर्धाकी मात्रा उत्पन्न हुई।

इस प्रकार इस 'संघकाल' में रचित ग्रन्थोंके आधारपर निम्नलिखित विवरण तामिल-देश स्थित जैनियोंका मिलता है।

(१) थौलकपियरके समयमें जो ईसाके ३५० वर्ष पूर्व विद्यमान था, कदाचित् जैनी सुदूर दक्षिण देशोंमें न पहुंच पाये हों।

(२) जैनियोंने सुदूर दक्षिणमें ईसाके अनन्तर प्रथम शतीमें प्रवेश किया हो।

(३) ईसाकी दूसरी और तीसरी शतियोंमें, जिसे तामिल-साहित्यका सर्वोत्तम-काल कहते हैं, जैनियोंने भी अनुपम उन्नति की थी।

(४) ईसाकी पांचवीं और छठीं शतियोंमें जैनधर्म इतना उन्नत और प्रभावयुक्त हो चुका था कि वह पाण्ड्य राज्यका राजधर्म हो गया था।

शैव-नयनार और वैष्णव-अलवार काल--

इस कालमें वैदिक धर्मकी विशिष्ट उन्नति होनेके कारण बौद्ध और जैनधर्मोंका आसन डगमगा गया था। सम्भव है कि जैनधर्मके सिद्धान्तोंका द्राविड़ी विचारोंके साथ मिश्रण होनेसे एक ऐसा विचित्र दुरंगा मत बन गया हो जिसपर चतुर ब्राह्मण आचार्योंने अपनी वाण-वर्षा की होगी। कट्टर अजैन राजाओंके आदेशानुसार; सम्भव है राजकर्मचारियोंने धार्मिक अत्याचार भी किये हों।

किसी मतका प्रचार और उसकी उन्नति विशेषतः शासकोंकी सहायतापर निर्भर है। जब उनकी सहायताका द्वार बन्द हो जाता है तो अनेक पुरुष उस मतसे अपना सम्बन्ध तोड़ लेते हैं। पल्लव और पाण्ड्य-साम्राज्योंमें जैनधर्मकी भी ठीक यही दशा हुई थी।

इस काल (५ वीं शतीके उपरान्त) के जैनियोंका वृत्तान्त सेक्किल्लार नामक लेखकके ग्रन्थ 'पेरिय पुराणम्'में मिलता है। उक्त पुस्तकमें शैवनयनार और अन्दारनम्बीके जीवनका वर्णन है, जिन्होंने शैव गान और स्तोत्रोंकी रचनाकी है। तिरुज्ञान-संभाण्डकी जीवनी पढ़ते हुए एक उपयोगी ऐतिहासिक बात ज्ञात होती है कि उसने जैनधर्मावलम्बी कुन्पाण्ड्यको शैवमतानुयायी किया। यह बात ध्यान देने योग्य है। क्योंकि इस घटनाके अनन्तर पाण्ड्य नृपति जैनधर्मके अनुयायी नहीं रहे। इसके अतिरिक्त जैनी लोगोंके प्रति ऐसी निष्ठुरता और निर्दयताका व्यवहार किया गया, जैसा दक्षिण भारतके इतिहासमें और कभी नहीं हुआ। संभाण्डके घृणाजनक भजनोंसे, जिनके प्रत्येक दशवें पद्यमें जैनधर्मकी भर्त्सना थी, यह स्पष्ट हो जाता है कि वैमनस्यकी मात्रा कितनी बढ़ी हुई थी।

अतएव कुन्पाण्ड्यका समय ऐतिहासिक दृष्टिसे ध्यान रखने योग्य है, क्यों कि उसी समयसे दक्षिण भारतमें जैनधर्मकी अवनति प्रारम्भ होती है। मि० टेलरके अनुसार कुन्पाण्ड्यका समय १३२० ईसवीके लगभग है, परन्तु डा० काल्डवेल १२९२ ईसवी बताते हैं। परन्तु शिलालेखोंसे इस प्रश्नका निश्चय हो गया है। स्वर्गीय श्री वेंकटैयाने यह अनुसन्धान किया था कि सन् ६२४ ई० में पल्लवराज नरसिंहवर्मा प्रथमने 'वातापी' का विनाश किया। इसके आधार पर तिरुज्ञान-संभाण्डका समय ७ वीं

शतीके मध्यमें निश्चित किया जा सकता है। क्योंकि संभाण्ड एक दूसरे शैवाचार्य 'तिरुनत्रुकरसार' अथवा लोकप्रसिद्ध अय्यारका समकालीन था, परन्तु संभाण्ड 'अय्यार' से कुछ छोटा था। और अय्यारने नरसिंहवर्माके पुत्रको जैनीसे शैव बनाया था। स्वयं अय्यार पहले जैनधर्मकी शरणमें आया था और उसने अपने जीवनका पूर्वभाग प्रसिद्ध जैन विद्याके केन्द्र तिरुप्पदिरिप्पुलियारके विहारोंमें व्यतीत किया था। इस प्रकार प्रसिद्ध ब्राह्मण आचार्य संभाण्ड और अय्यारके प्रयत्नोंसे, जिन्होंने कुछ समय पश्चात् अपने स्वामी तिलकवथिको प्रसन्न करनेके हेतु शैव-मतकी दीक्षा ले ली थी, पाण्ड्य और पल्लव राज्योंमें जैनधर्म की उन्नतिको बड़ा धक्का पहुंचा। इस धार्मिक संग्राममें शैवोंको वैष्णव अलवारोंसे विशेषकर 'तिरुमलि-सैप्पिरन्' और 'तिरुमंगई' अलवारसे बहुत सहायता मिली, जिनके भजनों और गीतोंमें जैनमत पर घोर कटाक्ष हैं। इस प्रकार तामिल-देशोंमें नम्मलवारके समयमें (१० वीं शती ई०) जैनधर्मका अस्तित्व सङ्कटमय रहा।

अर्वाचीन-काल—

नम्मलवारके अनन्तर हिन्दू-धर्मके उन्नायक प्रसिद्ध आचार्योंका समय है। सबसे प्रथम शंकराचार्य हुए, जिनका उत्तरकी ओर ध्यान गया। इससे यह प्रकट है कि दक्षिण-भारतमें उनके समय तक जैनधर्मकी पूर्ण अवनति हो चुकी थी। तथा जब उन्हें कष्ट मिला तो वे प्रसिद्ध जैनस्थानों श्रवण-बेलगोल (मैसूर) टिण्डिवनम् (दक्षिण-अरकाट), आदि में जा बसे। कुछने गंग राजाओं की शरण ली जिन्होंने उनका रक्षण तथा पालन किया। यद्यपि अब जैनियोंका राजनैतिक प्रभाव नहीं रहा, और उन्हें सब ओरसे पल्लव, पांड्य और चोल राज्यवाले तंग करते थे, तथापि विद्यामें उनकी प्रभुता न्यून नहीं हुई। 'चिन्तामणि' नामक प्रसिद्ध महाकाव्यकी रचना तिरुलकतेवर द्वारा नवीं शतीमें हुई थी। प्रसिद्ध तामिल-वैयाकरण पविनन्दि जैनने अपने 'नन्नूल' की रचना १२२५ ई० में की। इन ग्रन्थों के अध्ययनसे पता लगता है कि जैनी लोग विशेषतः मैलापुर, निदुम्बई, (?) थिपंगुदी (तिरुवलूरके निकट एक ग्राम) और टिण्डिवनम् में निवास करते थे।

अन्तिम आचार्य श्रीमाधवाचार्यके जीवनकालमें मुसलमानोंने दक्षिण पर विजय प्राप्त की जिसका परिणाम यह हुआ कि दक्षिणमें साहित्यिक, मानसिक और धार्मिक उन्नतिको बड़ा धक्का पहुंचा और मूर्तिविध्वंसकोंके अत्याचारोंमें अन्य मतावलम्बियोंके साथ जैनियोंको भी कष्ट मिला। उस समय जैनियोंकी दशाका वर्णन करते हुए श्रीयुत बार्थ सा० लिखते हैं कि 'मुसलमान-साम्राज्य तक जैनमतका कुछ कुछ प्रचार रहा। किन्तु मुसलिम साम्राज्यका प्रभाव यह पड़ा कि हिन्दू-धर्मका प्रचार रुक गया, और यद्यपि उसके कारण समस्त राष्ट्रकी धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक अवस्था अस्तव्यस्त हो गयी, तथापि साधारण अल्प संस्थाओं, समाजों और मतोंकी रक्षा हुई।'

दक्षिण भारतमें जैनधर्मकी उन्नति और अवनतिके इस साधारण वर्णनका यह उद्देश सुदूर दक्षिण-भारतमें प्रसिद्ध जैनधर्मके इतिहासका वर्णन नहीं है। ऐसे इतिहास लिखनेके लिए यथेष्ठ सामग्रीका अभाव है। उत्तरकी भांति दक्षिण-भारतके भी साहित्यमें राजनैतिक इतिहासका बहुत कम उल्लेख है।

हमें जो कुछ ज्ञान उस समयके जैन इतिहासका है वह अधिकतर पुरातत्त्व-वेत्ताओं और यात्रियोंके लेखोंसे प्राप्त हुआ है, जो प्रायः यूरोपियन हैं। इसके अतिरिक्त वैदिक ग्रन्थोंसे भी जैन इतिहासका कुछ पता लगता है, परन्तु वे जैनियोंका वर्णन सम्भवतः पक्षपातके साथ करते हैं।

इस लेखका यह उद्देश नहीं कि जैनसमाजके आचार विचारों और प्रथाओंका वर्णन किया जाय और न एक लेखमें जैन-गृह-निर्माण-कला, आदि का ही वर्णन हो सकता है। परन्तु इस लेखमें इस प्रश्नपर विचार करनेका प्रयत्न किया गया है कि जैनधर्मके चिर-सम्पर्कसे हिन्दू समाज पर क्या प्रभाव पड़ा है।

जैनी लोग बड़े विद्वान् और ग्रन्थोंके रचयिता थे। वे साहित्य और कलाके प्रेमी थे। जैनियोंकी तामिल-सेवा तामिल देश वासियोंके लिए अमूल्य है। तामिल-भाषामें संस्कृतके शब्दोंका उपयोग पहले पहल सबसे अधिक जैनियों ने ही किया। उन्होंने संस्कृत शब्दोंको तामिल-भाषामें उच्चारण की सुगमताकी दृष्टिसे यथेष्ट रूपमें बदल डाला। कन्नड़ साहित्यकी उन्नतिमें जैनियोंका उत्तम योग है। वास्तवमें वे ही इसके जन्मदाता थे। 'बारहवीं शतीके मध्य तक उसमें जैनियों ही की सम्पत्ति थी और उसके अनन्तर बहुत समय तक जैनियों ही की उसमें प्रधानता रही। सर्व प्राचीन और बहुतसे प्रसिद्ध कन्नड़ ग्रन्थ जैनियों ही के रचे हैं (लुइस राइस)। श्रीमान् पादरी एफ. किटेल कहते हैं कि 'जैनियोंने केवल धार्मिक भावनाओंसे नहीं, किन्तु साहित्य-प्रेमके विचारसे भी कन्नड़ भाषाकी बहुत सेवा की है और उक्त भाषामें अनेक संस्कृत ग्रन्थोंका अनुवाद किया है।"

अहिंसाके उच्च आदर्शका वैदिक संस्कारों पर प्रभाव पड़ा है जैन-उपदेशोंके कारण ब्राह्मणोंने जीव-बलि-प्रदानको बिलकुल बन्द कर दिया और यज्ञोंमें जीवित पशुओंके स्थानमें आटेकी बनी मूर्तियां काममें लायी जाने लगीं।

दक्षिण-भारतमें मूर्तिपूजा और देव-मन्दिर-निर्माणकी प्रचुरताका भी कारण जैनधर्मका प्रभाव है। शैव-मन्दिरोंमें महात्माओंकी पूजाका विधान जैनियों ही का अनुकरण है। द्राविड़ोंकी नैतिक एवं मानसिक उन्नतिका मुख्य कारण पाठशालाओंका स्थापन था, जिनका उद्देश्य जैनविद्यालयोंके प्रचारक मण्डलोंको रोकना था।

उपसंहार—

मदरास प्रान्तमें जैन-समाजकी वर्तमान दशा पर भी एक दो शब्द कहना उचित होगा। गत मनुष्य-गणनाके अनुसार सब मिलाकर २७००० जैनी इस प्रान्तमें थे, जिनमेंसे दक्षिण कनारा, उत्तर

और दक्षिण करनाटकके जिलोंमें २३००० हैं। इनमेंसे अधिकतर इधर उधर फैले हुए हैं और गरीब किसान और अशिक्षित हैं। उन्हें अपने पूर्वजोंके अनुपम इतिहासका तनिक भी बोध नहीं है। उनके उत्तर भारतवाले भाई जो आदिम जैनधर्मके अवशिष्ट चिन्ह हैं, उनसे अपेक्षाकृत अच्छा जीवन व्यतीत करते हैं। उनमें से अधिकांश धनवान् व्यापारी और महाजन हैं। दक्षिण भारतमें जैनियोंकी विनष्ट प्रतिमाएं, परित्यक्त गुफाएं और भग्नमन्दिर इस बातके स्मारक हैं कि प्राचीनकालमें जैन समाजका वहां कितना विशाल विस्तार था और किस प्रकार ब्राह्मणोंकी धार्मिक स्पर्धाने उनको मृतप्राय कर दिया। जैन समाज विस्मृतिके अंचलमें लुप्त हो गया, उसके सिद्धान्तों पर गहरी चोट लगी, परन्तु दक्षिण में जैनधर्म और वैदिक धर्मके मध्य जो कराल संग्राम और रक्तपात हुआ वह मदुरामें मीनाक्षी मन्दिर के स्वर्णकुमुद सरोवरके मण्डपकी दीवारों पर अंकित है तथा चित्रोंके देखनेसे अब भी स्मरण हो आता है।

इन चित्रोंमें जैनियोंके विकराल-शत्रु तिरुज्ञान संभाण्डके द्वारा जैनियोंके प्रति अत्याचारों और रोमाञ्चकारी यातनाओंका चित्रण है। इस रौद्र काण्डका यहीं अन्त नहीं है। मड्यूरा मन्दिरके बारह वार्षिक त्योहारोंमें से पांचमें यह हृदय-विदारक दृश्य प्रति वर्ष दिखलाया जाता है। यह सोचकर शोक होता है कि एकान्त और जनशून्य स्थानोंमें कतिपय जैन-महात्माओं और जैनधर्मकी वेदियों पर बलिदान हुए महापुरुषोंकी मूर्तियों और जनश्रुतियोंके अतिरिक्त, दक्षिण-भारतमें अब जैनमतावलम्बियोंके उच्च-उद्देशों, सर्वाङ्ग व्यापी उत्साह और राजनैतिक प्रभावके प्रमाण स्वरूप कोई अन्य चिन्ह विद्यमान नहीं है।

मथुराके प्राचीन टीले

श्री प्रा० भगवतशरण उपाध्याय, एम. ए.

इस लेखका उद्देश्य मथुराके प्राचीन टीलोंकी खुदाइयोंसे प्रादुर्भूत कलानिधियों; विशेष कर जैन भग्नावशेषोंका सिंहावलोकन है। यह उचित ही है कि मथुरा-सी प्राचीन नगरीका संबंध भारतीय पुरातत्त्व और कलाके अनेक स्तरोंसे रहा हो। यद्यपि अत्यन्त प्राचीन महाभारत कालके आनुवृत्तिक अवशेष वहां नहीं मिलते परन्तु भारतीय गौरवकालकी कलाके सारे विशिष्ट स्तर वहां मिल गये हैं। इन स्तरोंमें वैदिक, जैन, बौद्ध, सभी धर्मोंकी प्रतिमाएं बड़ी संख्यामें उपलब्ध हुई हैं। इनमें जैनकलाका तो मथुरा मुख्य केन्द्र बन गयी थी।

कटरा-टीलेकी खुदाइयां—

१८५३ की जनवरीमें जेनरल सर अलेक्जैंडर कनिंघमको कटरामें कुछ स्तंभ-शिखर (Capital) और स्तंभ मिले। इनमेंसे एक तो वेष्टनी स्तंभ पर उत्कीर्ण नारी मूर्तिका अवशेष था। उस नारी मूर्तिको वृक्षके नीचे खड़ी होनेके कारण उस पुरातत्त्वविद्ने भ्रमवश 'साल वृक्षके नीचे खड़ी माया' कही। उसी समय उस विद्वानको गुप्तकालीन (प्रायः ४९० ई० का) एक भग्न अभिलेख भी मिला जिसमें चन्द्रगुप्त द्वितीय तक की गुप्त-वंशावलि दी हुई थी।

१८६२ ई० में कनिंघमने खोजका काम फिर शुरू किया। उसी कटरा-टीलेसे उन्हें एक सुन्दर अनेक दृश्योंसे उत्कीर्ण तोरण द्वार मिला। इस कालकी सबसे महत्त्वपूर्ण अभिप्राप्ति एक खड़ी बुद्ध प्रतिमा थी। इस पर के (५४९-५० ई०) लेखसे सिद्ध है कि इस मूर्तिको 'बौद्ध परिव्राजिका जयभट्टा ने यशविहारको दान किया था'। इस मूर्तिसे यह भी सिद्ध है कि इस स्थानपर कभी 'यश' नामका बौद्ध विहार अवस्थित था और वह कमसे कम छठी शती ईस्वीके मध्यतक जीवित रहा। बादमें इसके भग्न आधार पर केशवदेवका विष्णु-मन्दिर खड़ा हुआ जिसका हवाला विदेशी यात्री ट्रैवर्नियर, बर्नियर और मनुक्चीने अपने भ्रमण वृत्तान्तोंमें दिया है। औरङ्गजेबने इस मन्दिरको गिराकर इसके भग्नावशेषपर मस्जिद बनवायी। उस प्राचीन मन्दिरकी अधोरेखा (आसन) आज भी देखी जासकती है। बौद्ध मूर्ति अब लखनऊके संग्रहालयमें सुरक्षित है। इस स्थलको 'कटरा-केशवदेव' कहते हैं।

जमालपुर टीला—

१८६० ई० में आगरा रोड पर जमालपुरके पास जमालपुर-टीलेमें हाथ लगाया गया। कनिंघमने इसे 'जेलवाला टीला' कहा है। हम इसे 'जमालपुर टीला' ही कहेंगे। इस टीलेसे अनेक मूर्तियां, स्तंभ, वेदिका-भग्नावशेष, छोटे प्रस्तर-स्तूप, छत्र, आदि उपलब्ध हुए। कनिंघमने यहांसे मिली दो विशाल बुद्धकी खड़ी मूर्तियां, दो बैठी आदमकद बौद्ध प्रतिमाओं और एक फुट भर चौड़ी हथेलीका जिक्र किया है। सर अलेग्जैंडरकी रायमें यहांसे प्राप्त मूर्तियोंमें सबसे महत्त्वपूर्ण 'बैनास' की थी जो अब लखनऊ संग्रहालयमें प्रदर्शित है। उसी स्थानसे अनेक सिंह प्रतिमाएं और बीसियों भग्न स्तंभ तथा वेदिका-स्तम्भ प्राप्त हुए। इनके अतिरिक्त प्रायः बीस स्तंभ-आधार मिले जिनमेंसे पन्द्रहपर अभिलेख खुदे थे। ये अधिकतर कुषाण राजा कनिष्क और हुविष्कके शासनकालके थे। इसी स्थानमें बुद्धकी वह अद्भुत अभयमुद्रामें खड़ी प्रतिमा मिली जिसे देखनेके लिए दूर दूरसे यात्री आते हैं। पांचवीं शती ईस्वी की यह मूर्ति यशदिन्न' का अक्षय दान है।

कंकाली टीला—

कचहरीकी जमीनसे भी प्रायः तीस स्तंभ-आधार, उपलब्ध हुए है। जिनमेंसे पन्द्रहपर अभिलेख खुदे थे। श्रीमित्र और डाउसनने इन अभिलेखोंका सम्पादन किया था। १८८१-८२ ई० में कनिंघमने मथुरा संग्रहालयमें तीस हिन्दू-शक स्तंभ देखे। १८७१ में कनिंघमने 'कंकाली' और 'चौबारा' टीलोंमें हाथ लगाया। कंकालीटीला मथुराके सारे अन्य टीलोंसे अधिक उर्वर प्रमाणित हुआ। यह कटरासे प्रायः आध मील दूर दक्षिणकी ओर है। उससे प्रसूत मूर्ति राशिका पता उस समयसे कुछ साल पूर्व ही लग गया था जब उसे कुछ आदमियोंने ईंट निकालनेके लिए खोदा था। फिर हल्की खुदाईके जरिए हार्डिञ्ज साहबने दो विशाल बुद्ध मूर्तियां प्राप्त की थीं।

इसी कंकाली टीलेके पश्चिमी भागको खोदते हुए कनिंधम साहबको तीर्थंकरोंकी अभिलिखित भग्न मूर्तियां, वेदिका-स्तंभ और वेष्ठनी आदिके भग्न अवशेष मिले। टीलेमें खड़ी ईंटकी दीवारोंसे सिद्ध है कि यहां हिन्दू-शककालमें जैन विहार खड़े हों गे। यहांसे उपलब्ध जिन बारह अभिलेखोंका कनिंघमने हवाला दिया है वे कनिष्कके शासनकालके पांचवें वर्षसे लेकर वासुदेवके राज्य-कालमें ९८ वें वर्ष तकके हैं। कंकाली टीलेका यह जैन भवन उस प्राचीन कालसे मुस्लिम कालतक निरन्तर जैन उपासकोंकी धार्मिक अभितृप्ति करता रहा था। जैसा कि यहांसे मिली विक्रमीय बारहवीं शतीकी अनेक अभिलिखित जैनमूर्तियों-से प्रमाणित है।

कंकाली टीले और कटरेके बीच भूतेश्वरका शिव मंदिर है। उसके पीछेके टीलेपर एक ऊंचा वेदिका-स्तंभ खड़ा था। उसे ग्राउज़ साहबने मथुरा संग्रहालयको प्रदान किया। इसपर आदमकद

छत्रधारिणीकी मूर्ति उत्कीर्ण है। इसके सिरेका दृश्य किसी जातकका है। इस पर १०० की संख्या प्राचीन लिपिमें उत्कीर्ण है। संभवतः इस वेदिकामें इस प्रकारके १०० स्तूप बने हुए थे।

भूतेश्वरके दक्षिण क्षेत्रसे भी अनेक भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं। यहां एक चौपालमें जड़े पांच सुन्दर स्तंभ मिले जिनमें से प्रत्येक पर सामने वामन-पुरुषको अपना आधार बनाये खड़ी नारी मूर्ति उत्कीर्ण है। इनके पीछे जातक कथाएं उत्कीर्ण हैं।

सन् १८७१ में कनिंघमने चौबारा नामका टीला खोदा। चौबारा कटरासे मील भर दक्षिण-पश्चिम प्रायः एक दर्जन टीलोंका समूह है। सन् १८६८ में ही सड़क निकालते समय इनमें से एक में एक सुवर्णकी वस्तु मिली। दूसरेसे एक पेटिका मिली जो अब कलकत्तेके संग्रहालयमें है। इनमें से एकसे एक अद्भुत पारसीक स्तंभ-शीर्ष भी उपलब्ध हुआ था। इनमें मानव मुखवाले चार पशु उल्टे बने हैं। यह स्तंभ-शीर्ष भी कलकत्तेके संग्रहालयमें ही है। चौबाराके ही एक टीलेसे ग्राउजको एक विशाल बुद्ध मस्तक मिला, जिसके ललाटके बीच 'ऊर्णा' का छिद्र बना हुआ है। यहांसे भी अनेक वेदिका-स्तंभ, भग्न प्रतिमाएं, आदि मिलीं।

ऊपर बताये स्थानोंके अतिरिक्त ग्राउज साहबने अनेक अन्य टीलों का हवाला दिया है जिनसे प्रभूत कला-रत्न प्रसूत हुए हैं। पालीखेड़ा गांवके बाहर वह प्रसिद्ध शिलापट्ट मिला जिसे 'बैकेनेलियन ग्रूप' कहते हैं और जिस पर उभरा हुआ दृश्य 'पातातिशय' का है। इस दृश्य पर ग्रीक शैलीकी स्पष्ट छाप है। इसी टीले में तीन स्तंभोंके घंटाकार आधार एक दूसरे से तेरह फीटकी दूरी पर मिले थे जिससे जान पड़ता है कि इस स्थल पर कभी कोई मन्दिर खड़ा था। नाग की प्रसिद्ध मूर्ति सैदाबाद तहसीलके कूकरगांवमें मिली थी।

जमुनाके तटपर सीतलाघाटीके ऊपर पुराने किले में कनिंघम को 'एक टूटी, नग्न, जैन मूर्ति मिली थी जिसके 'हिन्दू-शक' अभिलेखमें अंक और शब्दोंमें ५७ का वर्ष तिथि रूपमें उत्कीर्ण है।' अर्जुन-पुरके उत्तर रानीकीमंडीमें जिनमूर्तिका एक अभिलिखित आधार मिला है जिसमें ६२ वें वर्ष, ग्रीष्मके तृतीय मास और पांचवें दिनका उल्लेख है।

कंकाली टीला—

सन् १८८८–९१ में डा० फुहरर ने कंकालीटीलेको और सन् १८६६ में कटरा-टीलेको खोदा था। कंकाली टीलेमें दो जैन मन्दिरोंके भग्नावशेष मिले और एक ईटोंका बना स्तूप मिला जिसका व्यास ४७ फीट था। इन खुदाइयों में प्रभूत मूर्ति राशि मिली। केवल सन् १८९०–९१ की खुदाइयों में ७३७ मूर्तियां उपलब्ध हुई। इनमें अनेक द्वारोंके बाजू, देहली, स्तंभादि भी थे १८८९–९१ की खुदाइयों में विशेष अभिप्राप्ति जैन मूर्तियों और अभिलेखों की हुई। कंकालीटीला जैन भग्नावशेषोंकी समाधि सिद्ध हुआ।

मथुराकी खुदाइयां १८६६ में समाप्त हुईं जिनका आरंभ सन् १८५३ में हुआ था। प्रायः इन ४४ वर्षोंमें जो पुरातत्त्व संबंधी वस्तुएं प्राप्त हुईं उनसे इतिहास, भाषा, लिपि, आदि पर बहुत प्रकाश पड़ा है। इनका लिपि विस्तार तो मौर्य-काल से लेकर गुप्त-काल तक रहा है। इन स्थलोंसे उपलब्ध अभिलेखों से ज्ञात होता है कि किस प्रकार प्राकृत धीरे धीरे संस्कृत के शिकंजे में जकड़कर टूट गयी और संस्कृत ही अधिकतर इस कालके पश्चात् अभिलेखों की भाषा बन बैठी। इन अभिलेखों से कुषाण राजाओं की शासन अवधियां भी प्रायः स्थिर हो गयी हैं। परन्तु जो इन खुदाइयोंका सबसे बड़ा प्रभाव पड़ा है। वह है भारतीय तक्षण-कलाके इतिहास पर। भारतीय कुषाण-कला मथुराके ही आधार से उठी और फैली थी। गान्धार-ग्रीक शैलीका भारतीय-करण भी अधिकतर यहीं हुआ था।

जैन मूर्तिकला—

ऊपर लिखी खुदाइयों में जो जैन मूर्तियां और अन्य भग्नावशेष मिले हैं वे अधिकतर और मूलतः कंकालीटीले से ही उपलब्ध हुए हैं। प्रमाणतः प्राचीन मथुरामें जैन सम्प्रदायका विहार इसी कंकालीटीलेकी भूमिपर अवस्थित था। वहां के अभिलेखों से सिद्ध है कि यह जैन-आवास मुस्लिम विजयों के समय तक जीवित था जब मथुराके अन्य प्राचीन पीठ कभीके खण्डहर बन चुके थे।

इस टीले से डा० फुहररने जैन तीर्थंकरों की अनेक मूर्तियां खोद निकाली थीं। ये मूर्तियां विविध काल और विभिन्न परिमाणकी हैं और अब लखनऊ संग्राहालयमें प्रदर्शित हैं। मथुराके संग्राहालयमें भी लगभग ८०–९० की संख्यामें इस प्रकारकी कुछ नग्न मूर्तियां सुरक्षित हैं। इधर हाल की खुदाइयोंमें भी कुछ जैन मूर्तियां मिली हैं परन्तु वे अधिकतर भग्न हैं।

तीर्थंकर मूर्तिकी कल्पना यथार्थतः पूर्णतया भारतीय है। इनके ऊपर किसी प्रकारका ग्रीक-प्रभाव नहीं है और जैन 'आयागपट्टों' पर खुदी आकृतियां तो निस्सन्देह, जैसा उनके अभिलेखोंसे सिद्ध है, प्राक्कुषाणकालीन हैं। तीर्थंकर-मूर्ति बुद्ध और बोधिसत्त्वकी मूर्तियों से अपनी नग्नताके कारण सरलतासे पहचानी जा सकती हैं। जैन मूर्तिकी यह सबसे स्पष्ट और सशक्त पहचान है यद्यपि यह बात दिगम्बर सम्द्रदायकी ही मूर्तियों के संबंध में यथार्थतः कही जा सकती है, श्वेतांबरोंकी मूर्तियां वस्त्राभूषण, मुकुटादि से सुशोभित रहती हैं। मथुरा और लखनऊ संग्रहालयों की सारी जैन मूर्तियां (तीर्थंकर) दिगम्बर संप्रदायकी ही हैं। बुद्ध-मूर्तियों की भांति इनके हाथ और पैरोंके तलवों पर तो महापुरुष-लक्षण उत्कीर्ण होते ही हैं, उनके वक्षके मध्यमें भी ये लक्षण होते हैं। बुद्ध मूर्तियोंके केशकी भांति इनके केश भी अधिकतर घुंघराले और ऊपर दाहिनी ओरको घुमे होते हैं। परन्तु प्राचीनतर मूर्तियोंमें केश कन्धों पर खुले गिरे होते हैं। प्राचीन जैन तीर्थंकर मूर्तियोंके न तो 'उष्णीष' होता है न 'ऊर्णा' परन्तु मध्यकालीन प्रतिमाओंके मस्तक पर एक प्रकार का हल्का शिखर मिलता है।

पद्मासन—

बैठी जिन मूर्तियां प्रायः सदा ध्यान मुद्रामें उत्कीर्ण होती हैं। जिनके हाथ गोदमें पड़े होते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ये प्रतिमाएं 'फिनिश' और कलात्मकतामें बौद्ध मूर्तियोंकी बराबरी नहीं कर सकतीं। उनकी अनवरत एक-रूपता और रूढ़ि-लाक्षणिकता दर्शकको निराश कर देती है यद्यपि इन मूर्तियोंमें भी कभी कभी अपवाद मिल जाते हैं।

प्राचीन तीर्थंकर मूर्तियोंमें से एक मथुरामें सुरक्षित नं० बी० ४ है। इस पर कुषाण राज वासु-देवके शासनकालका एक अभिलेख खुदा है। इसके आधार पर सामने दो सिंहोंके बीच धर्मचक्र बना है जिसके दोनों ओर उपासकोंके दल हैं। कुषाण कालीन तीर्थंकर मूर्तियों पर इस प्रकारका प्रदर्शन एक साधारण दृश्य है। उस कालकी बुद्ध-मूर्तियोंकी भी यही विशेषता है, अंतर केवल इतना है कि उनमें धर्म-चक्रके स्थान पर किसी बोधिसत्त्वकी प्रतिमा खुदी होती है। उपासकोंका जो प्रदर्शन होता है वह वास्तवमें उन मूर्तियोंके दाताओंका है। एक बृहदाकार बैठी जिन मूर्ति बी० १ है जो संभवतः गुप्तकालीन है यद्यपि इसकी शैली प्रायः कुषाणकालीन ही है।

खड्गासन—

खड़ी जिन मूर्तियां बैठी मूर्तियोंसे अधिक सादी हैं। कलाका दम इनमें तो और भी घुट गया है। बाहुओंका पार्श्वोंमें गिरना भावोंकी कठोरता और आकृतिकी नीरसताको और बढ़ा देता है। यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि जैनमूर्तियां तपकी कठोरताका प्रतीक हैं और इनकी शुष्कता सर्वथा अचेतन नहीं है। तीर्थंकरोंकी एक विशिष्ट प्रकारकी मूर्ति 'प्रतिमा सर्वतो भद्रिका' नामसे विख्यात है। यह मूर्ति चतुर्मुखी होती है, वर्गाकार इसका रूप होता है। इसमें चारों ओर तीर्थंकर खड़ी अथवा बैठी मुद्रामें बने होते हैं। इसके आधारके चारों किनारों पर उपासकों की आकृतियां उत्कीर्ण होती हैं। इसमें से एकका मस्तक नागके फणोंकी छायामें प्रदर्शित होता है। यह आकृति सातवें तीर्थंकर सुपार्श्व नाथ अथवा तेईसवें तीर्थंकर पार्श्व-नाथ की है। इस प्रकारकी अनेक 'सर्वतो भद्रिका' प्रतिमाएं मथुरा और लखनऊके संग्रहालयोंमें संग्रहीत हैं। कुषाण और गुप्तकालीन मूर्तियोंमें विभिन्न तीर्थंकरोंकी विशेषताएं साधारणतया नहीं दी होती हैं। नागफणों वाला लक्षणमात्र जहां तहां मिल जाता है, हां नीचेके अभिलेखोंमें प्रायः मूर्तिके तीर्थंकर का नाम खुदा होता है।

चिन्ह तथा आयागपट—

मध्यकालीन जिन-मूर्तियोंके आधार पर अधिकतर एक विशिष्ट 'चिन्ह' (लाञ्छन) बना होता है जिससे उनके तीर्थंकरोंकी संज्ञा स्पष्ट हो जाती है। प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ अथवा ऋषभनाथ

का लाञ्छन वृषभ है। जैनमूर्तियां अधिकतर (मध्यकालीन) अकेली नहीं होतीं। इनमें विशिष्ट मूर्तिके समीप अनेक अनुचरोंकी आकृतियां उत्कीर्ण होती हैं जिनमें चमरधारक किनारों पर खड़े होते हैं, उपासक झुके होते हैं। इनके अतिरिक्त गजारोही, खजवाही, आदि अनेक पार्षद भी सजग खिंचे होते हैं। स्वयं तीर्थंकर छत्रके नीचे बैठे होते हैं। जैन कलामें भी बौद्ध कलाकी ही भांति यक्षोंकी परम्पराका समावेश हुआ है। जैन मूर्तियोंकी पूजाके अतिरिक्त इस संप्रदायमें एक और वस्तुकी भी पूजा हुआ करती थी। यह एक प्रकारका प्रस्तर फलक होता था जिसे 'आयागपट' कहते थे और जिसकी भूमि स्तूप, तोरण और अन्य आकृतियोंसे भरी होती थी। इसके अनेक नमूने मथुरा और लखनऊके संग्रहालयोंमें सुरक्षित हैं।
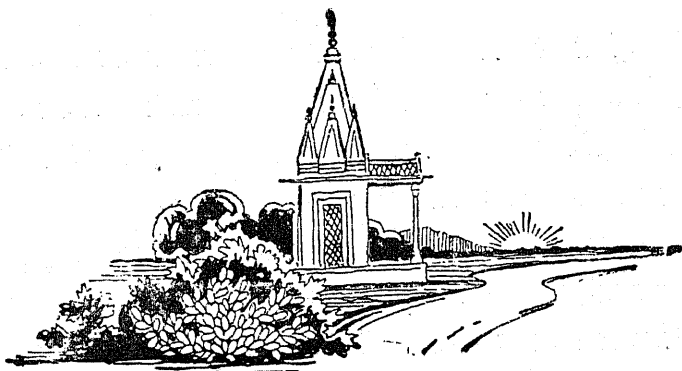
मथुरासे प्राप्त दो नवीन जैन अभिलेख

श्री क्यूरेटर कृष्णदत्त वाजपेयी, एम० ए०

ईसापूर्व सातवीं शतीसे लेकर लगभग बारहवीं शती तक मथुरा नगरी जैनधर्म और कलाका प्रधान केन्द्र थी। कंकाली टीले तथा अन्य स्थानोंसे प्राप्त सैकड़ों तीर्थंकर-मूर्तियां मांगलिक चिह्नोंसे (अष्टमंगल द्रव्य) युक्त आयागपट्ट, देवोंकिन्नरों आदिसे वंदित स्तूप, अशोक, चंपक नागकेशर वृक्षोंके नीचे आकर्षक मुद्राओं में खड़ी हुई शालभंजिकाओंसे सुशोभित वेदिका-स्तंभ तथा अनेक प्रकारके कलापूर्ण शिलापट्ट, शिरदल, आदि यह उद्घोषित करते हैं कि मथुराके शिल्पी अपने कार्यमें कितने पटु थे! साथ ही जैनधर्मके प्रति तत्कालीन जनताकी अभिरुचिका भी पता चलता है। मथुराके पुरातत्त्व संग्रहालयमें मैंने धर्म और कलाके अध्ययनकी अपार सामग्री देखी है। आशा है कि कंकाली टीलेसे खुदायीमें प्राप्त वह सामग्री जो १८८८–९१ में ई० में लखनऊ संग्राहलयमें भेज दी गयी थी फिर मथुरा वापस आ जाय गी, जिससे एक स्थान पर ही सारी सामग्रीका अध्ययन करनेमें सुगमता हो सके गी।

मथुरा शहर तथा जिलेके अनेक प्राचीन स्थानोंसे अब भी प्रति वर्ष सैकड़ों मूर्तियां, आदि प्राप्त होती रहती हैं। हालमें कई जैन शिलालेख भी मिले हैं, जिनमें से दो का संक्षिप्त उल्लेख यहां किया जाता है—

पार्श्वनाथ-प्रतिमाकी चौकीपर का लेख—

यह लेख सं० २८७/२४ ध्यान मुद्रामें बैठे हुए भगवान् पार्श्वनाथकी विशाल प्रतिमा (ऊंचाई २ फी० १० इं०) की चौकी पर खुदा हुआ है, जो इस प्रकार है—

"संवत् १०७१ श्रीमूलसंघः श्रावक वणिक् जसराक भार्या सोमा... ."

लेखका अभिप्राय यह है कि संवत् १०७१ में श्रीमूल संघके श्रावक जसराक नामक वणिक की भार्या सोमाने भगवान् पार्श्वनाथकी प्रतिमा प्रतिष्ठापित की। यह संवत् विक्रम संवत है। मथुरासे प्राप्त अन्य समकालीन मूर्तियों पर भी इसी संवत्का व्यवहार हुआ है। अतः प्रस्तुत मूर्तिका निर्माण काल १०१४ ई० आता है।

वर्धमान प्रतिमाका लेख—

यह लेख सं० ३२०८ मूर्तिकी चौकी पर दो पंक्तियोंमें खुदा हुआ है और इस प्रकार है—
(पं० १) "सं ८२ हे मासे १ दिवसे १० एत......"
(पं० २) "[भगि] निये जयदेवीये भगवतो वर्धमा [न]....."

दोनों पंक्तियोंके अन्तिम अंश पत्थरके टूट जानेसे नष्ट हो गये हैं। लेख कुषाण-कालीन ब्राह्मी लिपिमें हैं तथा इसकी भाषा पाली है, जो मथुरासे प्राप्त अधिकांश जैन अभिलेखोंमें मिलती है। लेखका तात्पर्य है कि सं० ८२ की हेमंत ऋतुके प्रथम मासके दसवें दिन किसी श्रावककी भगिनी जयदेवीने भगवान् वर्धमानकी प्रतिमा स्थापित की। सं० ८२ निश्चय ही शक संवत् है। इसके अनुसार मूर्ति-स्थापना का काल १६० ई० आता है, जब कि मथुरामें कुषाणवंशी वासुदेवका शासन था।

निष्कर्ष—

उपर्युक्त दोनों लेख संवत्-सहित होनेके कारण महत्त्वके हैं। पहले लेखका संवत् १०७१ है। कंकाली टीलेसे १८८९ ई० की खुदाईमें डा० फ्यूहररको दो विशालकाय तीर्थंकर प्रतिमाएं मिलीं थीं। दोनों श्वेताम्बर सम्प्रदायके द्वारा प्रतिष्ठापित की गयी थीं, जैसा कि उनके लेखोंसे पता चलता है। इनमें से एक पर विक्रम संवत् १०३८ (= ९८१ ई०) तथा दूसरी पर सं० ११३४ (= १०७७ ई०) खुदा है। पार्श्वनाथकी मूर्ति, जिसका वर्णन ऊपर किया गया है इन दोनों मूर्तियोंके निर्माण कालोंके बीचमें बनी थी। इतिहाससे पता चलता है कि महमूद गजनीने १०१८ ई० में मथुराका प्रथम विध्वंस किया। ऊपरकी तीनों मूर्तियोंमें से दो का निर्माण इस विध्वंसकारी कालके पहले ही हो चुका था और तीसरी (सं० ११३४ वाली) का बादमें। परंतु पहली दोनों अच्छी दशामें प्राप्त हुई हैं और कहींसे नहीं टूटी हैं, जब कि सं० ११३४ वाली मूर्तिके दोनों बाहु बुरी तरहसे तोड़ डाले गये हैं। हो सकता है कि पहले वाली दोनों मूर्तियां किसी तरह सुरक्षित कर ली गयी हों और इसी लिए वे अभग्नावस्थामें प्राप्त हो सकी हैं।

स्त्रियोंका धर्म प्रेम—

ऊपर जिन दोनों लेखोंका उल्लेख किया गया है उनके संबंधमें दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि दोनोंमें महिलाओंके द्वारा दानका कथन है। पहली मूर्ति (नं० २८५४) एक वणिककी भार्या सोमाके द्वारा निर्मित करायी गयी तथा दूसरी (नं० ३२०८) जयदेवीके द्वारा। यह बात ध्यान देनेकी है कि मथुरासे प्राप्त सैकड़ों जैन अभिलेखोंसे पता चलता है कि धर्मके प्रति स्त्रियोंकी आस्था पुरुषोंसे कहीं अधिक थी और धर्मार्थ दान देनेमें वे सदा पुरुषोंसे अग्रणी रहती थीं। उदाहरणार्थ, 'माथुराक लवदास'की भार्या तथा फल्गुयश नर्तककी स्त्री शिवयशाने एक एक सुंदर आयागपट्ट बनवाया, जो

इस समय लखनऊ संग्रहालयमें हैं। इसी प्रकारका एक अत्यन्त मनोहर आयागपट्ट (मथुरा म्यू० नं० क्यू. २) वसु नामकी वेश्याने, जो लवणशोभिकाकी लड़की थी, दानमें दिया। वेणी नामक श्रेष्ठीकी धर्मपत्नी कुमारमित्राने एक सर्वतोभद्रिका प्रतिमाकी स्थापना करवायी और सुचिलकी स्त्रीने शांतिनाथ भगवान् की प्रतिमा दानमें दी। मणिकार जयभट्टिकी दुहिता तथा लोहवणिज फल्गुदेवकी धर्मपत्नी मित्राने वाचक आर्यसिंहकी प्रेरणासे एक विशाल जिन प्रतिमाका दान दिया। आचार्य बलदत्तकी शिष्या 'तपस्विनी' कुमारमित्राने एक तीर्थंकर मूर्तिकी स्थापना करवायी। ग्रामिक जयनागकी कुटुम्बिनी तथा ग्रामिक जयदेवकी पुत्रवधूने सं० ४० (= ११८ ई०) में एक शिलास्तंभका दान दिया। गुहदत्तकी पुत्री तथा धनहस्तकी पत्नीने धर्मार्थ नामक एक श्रमणके उपदेशसे एक शिलापट्टका दान किया, जिसपर स्तूप-पूजाका दृश्य अंकित है। श्राविका दत्ताने सं० २० (= ९८ ई०) में वर्धमान प्रतिमाको प्रतिष्ठापित किया। राज्यवसुकी स्त्री तथा देविलकी माता विजयश्रीने एक मासका उपवास करनेके बाद सं० ५० (= १२८ ई०) में भगवान् वर्धमान की प्रतिमाकी स्थापना करायी थी। इस प्रकारके अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनसे इस बातका स्पष्ट पता चलता है कि प्राचीन मथुरामें जैनधर्मकी उन्नतिमें महिलाओंका बहुत बड़ा भाग था।
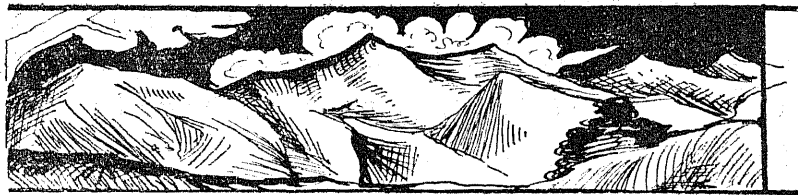
पुरातत्त्वकी शोध जैनोंका कर्तव्य

श्री डा० वेन्सेन्ट ए० स्मिथ, एम्० ए०

पुरातत्त्व सम्बन्धी खोजकी आवश्यकता—

जो विद्यार्थी भारतवर्ष संबंधी किसी विषयका अध्ययन करते हैं वे सब इस बातको न्यूनाधिक रूपमें भली भांति जानते हैं कि पुरातत्त्वकी खोज द्वारा पिछले ७०–८० वर्षमें ज्ञानकी कितनी वृद्धि हुई है। पुरातत्त्वसंबंधी खोजके अनुसार मौखिक और लिखित कथाओंके प्रमाणकी मर्यादा निश्चित की गयी है और इन्हीं अन्वेषणोंकी सहायतासे मैं प्राचीन भारतका कथामय इतिहास लिखनेमें समर्थ हुआ हूं। बड़ी मेहनतके साथ लगातार जमीन खोदनेसे जो सिक्के, शिलालेख, भवन, धर्म-पुस्तकें, चित्र और बहुत तरहकी स्फुट अवशिष्ट चीजें मिली हैं उनकी सहायतासे हमने प्राचीन ग्रंथोंमें लिखे हुए भारतीय इतिहासके ढांचेकी पूर्ति की है, अपने ज्ञानको जो पहले अस्पष्ट था शुद्ध बनाया है और कालक्रमकी मज़बूत पद्धतिकी नींव डाली है।

जैनोंके अधिकारमें बड़े बड़े पुस्तकालय (भंडार) हैं जिनकी रक्षा करनेमें वे बड़ा परिश्रम करते हैं। इन पुस्तकालयोंमें बहुमूल्य साहित्य भरा पड़ा है जिनकी खोज अभी बहुत कम हुई है। जैन ग्रंथ ख़ास तौर पर ऐतिहासिक और अर्ध-ऐतिहासिक समाग्रीसे परिपूर्ण हैं। परन्तु साहित्य संबंधी कथाएं बहुधा त्रुटिपूर्ण हैं। इसलिए सत्यके निर्णयके लिए पुरातत्त्व संबंधी खोजकी जरूरत है।

धनाढ्य जैनोंका कर्तव्य—

दूसरे समाजोंको देखते हुए जैनसमाजमें धनाढ्य मनुष्योंकी संख्या बहुत बड़ी चढ़ी है और ये लोग किसी तरहके सार्वजनिक काममें, जो उनके चित्तका आकर्षण करता हो, सुभीतेके साथ रुपया खर्च कर सकते हैं। मेरा भाषा संबंधी ज्ञान इतना काफी नहीं है कि मैं साहित्य ग्रन्थोंकी परीक्षा कर सकूं अथवा उनका सम्पादन कर सकूं। अतएव मैं एक और विषयके संबंधमें, जिसका मैं जानकार हूं, कुछ कहने का साहस करता हूं और मैं कुछ ऐसी सम्मतियां देता हूं, जिनके अनुसार चलनेसे बहुतसी बहुमूल्य बातें हाथ लग सकें गी। मेरी इच्छा है कि जैनसमाजके लोग और विशेष कर धनाढ्य लोग जो रुपया खर्च कर सकते हैं पुरातत्त्वसंबंधी खोजकी ओर ध्यान दें और इस काममें अपने धर्म और समाजके इतिहासकी ओर विशेष लक्ष्य रखते हुए धन खर्च करें।

खोजके लिए पर्याप्त क्षेत्र—

खोजके लिए बहुत बड़ा क्षेत्र पड़ा है। आजकल जैनमतावलम्बी अधिकतर राजपूताना और पश्चिमी भारतवर्षमें रहते हैं। परन्तु हमेशा यह बात नहीं रही है। प्राचीन कालमें महावीर स्वामीका धर्म आजकलकी अपेक्षा बहुत दूर दूर तक फैला हुआ था। एक उदाहरण लीजिये—जैनधर्मके अनुयायी पटना के उत्तर वैशालीमें और पूर्व बंगालमें आजकल बहुत कम हैं; परन्तु ईसाकी सातवीं शतीमें इन स्थानोंमें उनकी संख्या बहुत ज्यादा थी। मैंने इस बातके बहुतसे प्रमाण अपनी आखोंसे देखे हैं कि बुंदेलखंडमें मध्यकालमें और विशेष कर ग्यारहवीं और बारहवीं शतियोंमें जैनधर्मकी विजय-पताका खूब फहरा रही थी। इस देशमें ऐसे स्थानों पर जैनमूर्तियोंका बाहुल्य है, जहां पर अब एक भी जैनी नहीं दिखता। दक्षिण और तामिल देशोंमें ऐसे अनेक प्रदेश है जिनमें जैनधर्म शतियों तक एक प्रभावशाली राष्ट्रधर्म रह चुका है किन्तु वहां अब उसका कोई नाम तक नहीं जानता।

चन्द्रगुप्तमौर्यके विषयमें प्रचलित कथा—

जो बातें मैं सरसरी तौर पर लिख चुका हूं उनमें खोजके लिए बेहद गुंजाइश है। मैं विशेषकर एक महत्त्वपूर्ण बातकी खोजके लिए अनुरोध करता हूं। वह यह है कि महाराज चन्द्रगुप्त मौर्य 'श्रीभद्रबाहु' के साथ श्रवणबेलगोला गये, और फिर उन्होंने जैनसिद्धान्तके अनुसार उपवास करके धीरे धीरे प्राण तज दिये, यह कहां तक ठीक है[1] निस्संदेह कुछ पाठक यह जानते हों गे कि इस विषय पर मिस्टर लूइस राइस और डाक्टर फ्लीटमें खूब ही वादविवाद हो चुका है। अब समय आ गया है कि कोई जैन विद्वान् कदम बढ़ावे और इस पर अपनी दृष्टिसे वादविवाद करे। परन्तु इस काम के लिए एक वास्तविक विद्वानकी आवश्यकता है, जो ज्ञानपूर्वक विवाद करे ऊटपटांग बातोंसे काम नहीं चले गा।

---

१ लेखक ने अपने भारतीय इतिहासके तीसरे संस्करणमें चन्द्रगुप्त मौर्यके सम्बन्ध में जो कुछ लिखा हैं, उसे यहां दे देना अनुपयुक्त न होगा। उन्होंने लिखा है—

'मैंने अपनी पुस्तकके द्वितीय संस्करणमें इस कथाको रद्द कर दिया था। और बिल्कुल कल्पित ख्याल किया था। परन्तु इस कथा की सत्यताके विरुद्ध जो जो शंकाएं हैं उन पर पूर्ण रूपसे पुनः विचार करने से अब मुझे विश्वास होता है कि यह कथा संभवतया सच्ची है। और चन्द्रगुप्त ने वास्तवमें राजपाट छोड़ दिया हो गा। और वह जैन साधु हो गया हो गा। निःसन्देह इस प्रकार की कथाएं बहुत कुछ समालोचनाके योग्य हैं और लिखित साक्षीसे ठीक ठीक पता लगता नहीं, तथापि मेरा वर्तमानमें यह विश्वास है कि यह कथा सत्य पर निर्धारित है और इसमें सचायी है। राईस साहब ने इस कथा की सत्यताका अनेक स्थलों पर बड़े जोर से समर्थन किया है पृ. १४६)।' यद्यपि जैन विद्वानोंने इस दिशामें कुछ नहीं किया है तथापि 'स्वान्तः सुखाय' ऐतिहासिक शोधमें रत विद्वानों की साधना ने भारतके आदि-सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्यके जैन वर्णन की सत्यता प्रमाणित कर दी है। जिसको जैन साहित्यकी सहायता से सर्वाङ्ग सुन्दर बनाया जा सकता है।

आजकलकी विद्वन्मंडली हर बातके प्रमाण मांगती है और यह चाहती है कि जो बात कही जाय वह ठीक हो और उसके विषयमें जो विवाद किया जाय वह स्पष्ट और न्याययुक्त हो।

दक्षिणका धार्मिक युद्ध—

जिन बड़े बड़े प्रदेशोंमें जैनधर्म किसी समय फैला हुआ था बल्कि बड़े जोर पर था वहां उसका विध्वंस किन किन कारणों से हुआ, उनका पता लगाना हमारे लिए सर्वथा उपयुक्त है। और यह खोज जैनविद्वानोंके लिए बड़ी मनोरंजक भी हो गी।

इस विषयसे मिलता जुलता एक विषय और है जिसका थोड़ा अध्ययन किया गया है। वह दक्षिणका धार्मिक युद्ध है और खासकर वह युद्ध है जो चोलवंशीय राजाओंको मान्य शैवधर्म और उनके पहले के राजाओंके आराध्य जैनधर्ममें हुआ था।

अध्ययनके लिए कुछ पुस्तकें—

इन बातोंकी अच्छी तरह खोज करनेके लिए हमको पहले जैनस्मारकों, मूर्तियों और शिलालेखों का कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये। बहुतसे ऐसे स्मारक (मन्दिर, महल, आदि) अब भी जमीनके नीचे दबे पड़े हैं और आवश्यकता है कि कोई कुशल शोधक उनको खोदकर निकाले। जो व्यक्ति जैनोंके महत्त्व-पूर्ण भग्नावशेषोंकी जांच करना चाहे उसको प्राचीन चीनी यात्रियों और विशेषकर हुएनसांग की पुस्तकोंका अध्ययन करना चाहिये। हुएनसांगको यात्रियोंका राजा कहनेमें अत्युक्ति न हो गी। उसने ईसाकी सातवीं शती में यात्रा की थी और बहुतसे जैन स्मारकोंका हाल लिखा, जिनको लोग अब बिलकुल भूल गये हैं। हुएनसांगकी यात्रा संबंधी पुस्तकके बिना किसी पुरातत्त्वान्वेषीका काम नहीं चल सकता। हां मैं जानता हूं कि जो जैन विद्वान् उपर्युक्त पुस्तकोंसे काम लेना चाहता है वह यदि चीनी भाषा न जानता हो, तो उसको अंगरेजी या फ्रेंच भाषाका जानकार होना चाहिये। परन्तु मैं ख्याल करता हूं कि आजकल बहुत से जैनी अपने धर्मशास्त्रोंके विद्वान होकर अंगरेजी पर भी इतना अधिकार रखते हैं कि वे इस भाषाकी उन तमाम पुस्तकोंका उपयोग कर सकते हैं, जो उनको सफलता पूर्वक अध्ययन करनेमें जरूरी हों और एक ऐसे समाजके मनुष्योंको, जो सम्पत्ति शाली हैं, पुस्तकोंके मूल्यसे न डरना चाहिये।

जैनस्मारकोंमें बौद्धस्मारक होनेका भ्रम—

कई उदाहरण इस बातके मिले हैं कि वे इमारतें जो असलमें जैन हैं, गलतीसे बौद्ध मान ली गयी थीं। एक कथा है जिसके अनुसार लगभग अठारह सौ वर्ष हुए महाराज कनिष्कने एक बार एक जैन स्तूपको गलतीसे बौद्ध स्तूप समझ लिया था और जब वे ऐसी गलती कर बैठते थे, तब इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि आजकलके पुरातत्त्ववेत्ता, जैन इमारतोंके निर्माणका यश कभी कभी बौद्धोंको दे देते हों। मेरा विश्वास है कि सर अलेक्जेण्डर कनिंघमने यह कभी नहीं जाना कि जैनोंने भी बौद्धोंके समान स्वभावतः

तूरूप बनाये थे और अपनी पवित्र इमारतोंके चारों ओर पत्थरके घेरे लगाये थे। कनिंघम ऐसे घेरोंको हमेशा 'बौद्ध घेरे' कहा करते थे और उन्हें जब कभी किसी टूटे फूटे स्तूपके चिन्ह मिले तब उन्होंने यही समझा कि उस स्थानका संबंध बौद्धोंसे था। यद्यपि बम्बईके विद्वान् पंडित भगवानलाल इन्द्रजीको मालूम था कि जैनोंने स्तूप बनवाये थे और उन्होंने अपने इस मतको सन् १८६५ ईसवीमें प्रकाशित कर दिया था, तो भी पुरातत्त्वान्वेषियोंका ध्यान उस समय तक जैनस्तूपोंकी खोजकी तरफ न गया जब तक कि तीस वर्ष बाद सन १८९७ ईसवीमें बुहलरने अपना "मथुराके जैनस्तूपकी एक कथा" शीर्षक निबंध प्रकाशित न किया। मेरी पुस्तक-जिसका नाम "मथुराका जैनस्तूप और अन्य प्राचीन वस्तुएं" है सन् १९०१ ईसवीमें प्रकाशित हुई जिससे सब विद्यार्थियोंको मालूम हो गया कि बौद्धोंके समान जैनोंके भी स्तूप और घेरे किसी समय बहुलतासे मौजूद थे। परन्तु अब भी किसीने जमीनके ऊपरके मौजूद-स्तूपोंमें से एकको भी जैनस्तूप प्रकट नहीं किया। मथुराका स्तूप जिसका हाल मैंने अपनी पुस्तकमें लिखा है बुरी तरहसे खोदे जानेसे बिलकुल नष्ट हो गया है। मुझे पक्का विश्वास है कि जैनस्तूप अब भी विद्यमान हैं और खोज करने पर उनका पता लग सकता है और स्थानोंकी अपेक्षा राजपूतानेमें उनके मिलनेकी अधिक संभावना है।

कौशाम्बी विषयक चर्चा—

मेरे खयालमें इस बातकी बहुत कुछ संभावना है कि जिला इलाहाबादके अंतर्गत 'कोशम' ग्रामके भग्नावशेष प्रायः जैन सिद्ध होंगे—वे कनिंघमके मतानुसार बौद्ध नहीं मालूम होते। यह ग्राम निस्संदेह जैनोंका कौशाम्बी नगरी रहा होगा और उसमें जिस जगह जैन मन्दिर मौजूद है वह स्थान अब भी महावीरके अनुयायीयोंका तीर्थक्षेत्र है। मैंने इस बातके पक्के सबूत दिये हैं कि बौद्धोंकी कौशाम्बी नगरी एक अन्य स्थान पर थी जो बारहटसे दूर नहीं है। इस विषय पर मेरे निबंधके प्रकाशित होनेके बाद डाक्टर फ्लीटने यह दिखलाया है कि पाणिनिने कौशाम्बी और वन-कौशाम्बीमें भेद किया है। मुझे विश्वास है कि बौद्धोंकी कौशाम्बी नगरी वन (जंगल) में बसी हुई वन-कौशाम्बी थी।

मैं कोशमकी प्राचीन वस्तुओंके अध्ययनकी ओर जैनोंका ध्यान खास तौर पर खींचना चाहता हूं। मैं यह दिखलानेके लिए काफी कह चुका हूं कि इस विषयकी बहुत सी बातोंका निर्णय होना बाकी है।

प्राप्त प्रतिष्ठित स्मारकोंका पुनः निरीक्षण—

भूमिके ऊपर प्राप्त जैन खण्डहरोंके रूपको सावधानीके साथ अनुशीलन करने और लिखने से बहुतसी बातोंका पता लग सकता है। इन भवनोंका अध्ययन जैन ग्रंथों और चीनी प्रवासियों तथा अन्य लेखकोंकी पुस्तकोंके साथ करना चाहिये। जो मनुष्य इमारतोंके निरीक्षण करने और उनका

वर्णन लिखने का काम करें उनको सफलता प्राप्त करने के लिए उन मानचित्रोंको जो प्राप्य है बुद्धिमानी के साथ काममें लाना चाहिये; आसपासके स्थानोंका हाल साफ साफ लिखना चाहिये, हरएक चीज का नाम ठीक ठीक लिखना चाहिये और खूब फोटो लेने चाहिये। चाहे भूमि खनन का काम न भी किया जाय तो भी ऐसे निरीक्षणोंसे जैनधर्मके इतिहास पर और विशेष कर इस बात पर कि जैनधर्मका विध्वंस उन देशों में कैसे हुआ जहां उसके किसी समय बहुसंख्याक अनुयायी थे, बहुत प्रकाश पड़ेगा।

ग्रंथावलि—

मैं सब जिज्ञासुओंसे अनुरोध करता हूं कि वे श्रो० गुरिनौके महान् ग्रन्थ "जैनग्रन्थावलिके विषयमें निबंध" को पढ़ें। यह ग्रन्थ पेरिस में सन् १९०६ ईसवीमें छपा था। इस ग्रन्थका एक परिशिष्ट "जैनग्रन्थावली पर टिप्पणियाँ" भी जुलाई-अगस्त सन् १९०९ के एशियाटिक जरनलमें निकल चुका है। सन् १९०९ ईसवी तक जैनधर्मके विषयमें पुस्तकों, समाचारपत्रों इत्यादि में जो कुछ किसी भी भाषामें छप चुका है उन सबका परिचय उन ग्रंथोंमें दिया गया है। ये ग्रंथ फ्रेंच भाषाओंमें हैं परन्तु जो मनुष्य फेंच भाषा नहीं जानता वह भी इन पुस्तकों से लाभ उठा सकता है।

खनन कार्य—

महल इत्यादिकी खोजके लिए जमीनको खोदनेका काम ज्यादा मुश्किल है और यह काम यदि विस्तारके साथ किया जाय, तो पुरातत्त्व विभागके डाइरेक्टर जनरल या किसी प्रांतीय अधीकारी की सम्मतिसे होना चाहिये। बुरे प्रकार से और लापरवाही के साथ खुदायी करनेसे बहुत हानी हो चुकी है। मैं ऊपर कह आया हूं कि मथुराके बहुमूल्य जैनस्तूपका किस तरह सत्यानाश हो गया और उसकी खुदायीके संबंधकी जरूरी बातें फोटो, इत्यादि भी नहीं रक्खे गये। यह जरूरी है कि खुदायी का काम होते समय जरा जरा सी बातोंको भी लिखते जाना चाहिए जो चीज जिस जगह पर मिले उस स्थानको ठीक ठीक लिख लेना चाहिये, और शिलालेखों पर कागज चिपकाकर उनकी नकल उतार लेनी चाहिये। खुदायीके काममें प्रवीण निरीक्षककी आवश्यकता है।

कार्यारम्भ-प्रकार—

अन्तमें मैं यह प्रस्ताव करता हूं कि जैनोंको एक पुरातत्त्वसंबंधी समिति स्थापित करनी चाहिए जो ऊपर कहे हुए मार्गके अनुसार ऐतिहासिक खोजका कार्यक्रम तैयार करे और आवश्यकतानुसार धन इकट्ठा करे। धनकी मात्रा बहुत होनी चाहिये। यदि कोई जैन कार्यकर्ता, जो पर्याप्त योग्यता रखता हो और जिसे जैन समाजसे वेतन मिलता हो सरकारी पुरातत्त्व विभाग (Archaeological survey) में उसकी सेवाएं समर्पित कर दी जाय, तो वह बहुत काम कर सकता है यह और भी अच्छा होगा कि ऐसे कई कार्यकर्ता सरकारी अधिकारियोंके निरीक्षणमें काम करें।

———

महावीर स्वामीकी पूर्व परम्परा

श्री प्रा० त्र्यम्बक गुरुनाथ काले, एम० ए०

बुद्ध और पार्श्वनाथ—

देवसेनाचार्यकृत दर्शनसारमें,[1] जो कि संवत् ९९० में उज्जैनमें लिखा गया है, यह लिखा है कि पार्श्वनाथ स्वामीके तीर्थ (भ० पार्श्वनाथके कैवल्यसे भ० महावीरकी कैवल्य प्राप्ति तकका काल) में एक बुद्धिकीर्ति नामका साधू था, जो शास्त्रोंका ज्ञाता और पिहिताश्रवका शिष्य था तथा पलाशनगरमें सरयू नदीके तटपर तपश्चर्या कर रहा था। उसने सोचा कि मरी हुई मछलीका मांस खानेमें कोई हानि नहीं है क्यों कि वह निर्जीव है। फिर तप करना छोड़कर और रक्तवस्त्र पहिनकर वह बौद्ध धर्मका उपदेश देने लगा[2]। इस प्रकार जैनमतानुसार बुद्ध पहले जैनमुनि था, जिसने विपरीत विचार करके मांस भक्षण करनेका उपदेश दिया और लाल वस्त्र धारण कर अपना धर्म चलाया। इतना ही नहीं, कहा जाता है कि जैन बौद्धोंके समकालीन थे, किन्तु ये उन नव दीक्षित बौद्धोंसे भी पहले के हैं। इस कारण जैनधर्म की प्राचीनताका अनुसन्धान जैन, बौद्ध और ब्राह्मण ग्रन्थोंके आधार पर करना चाहिये।

जैनशास्त्रानुसार बुद्ध महावीरके शिष्य नहीं थे। किन्तु जैनी कहते हैं कि वह पिहिताश्रवका शिष्य था जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। कोलब्रुक, स्टीवेनसन, मेजर-डेलामेन, डाक्टर हैमिल्टन, इत्यादिने गौतमबुद्धको भ० महावीरके प्रशिष्य गौतम इन्द्रभूतिका स्थानीय समझानेकी भूल की है। यह (गौतम इन्द्रभूति) महावीरके मुख्य गणधर भी थे। इस प्रकार जब कि गौतम गणधर महावीरके शिष्य थे तब कहा जाने लगा कि, गौतमबुद्ध महावीरके शिष्य थे। परन्तु जैनीलोग इस भ्रान्तिसे बिलकुल मुक्त हैं। यह बात ऊपर बतला दी गयी है कि, बुद्धिकीर्ति पिहिताश्रवका शिष्य था जो कि पार्श्वनाथ तीर्थंकरके तीर्थकालमें हुए हैं।

---

१. बाबू बनारसीदास द्वारा संपादित "जैन इतिहास माला प्र. १ पृ. १६।

२. "सिरि पासणाह तित्थे सरऊतीरे पलास णयरत्थे।
पिहियासवस्स सिस्सो महासुओ बुड्ढिकित्ति मुणी। ६।
तिमि पूरणासणेणय अगणिय पावज्ज जाओ परिभट्टो।
रत्तंवरं धरित्ता पविट्ठियं तेन एयंतं। ७।"

साधू आत्मारामने स्वरचित 'अज्ञानतिमिर भास्कर' में पार्श्वनाथ स्वामीके समयसे लगाकर कवल-गच्छकी पट्टावली लिखी है, जोकि इस प्रकार है—

श्री पार्श्वनाथ,	श्री आर्य समुद्र,
श्री शुभदत्त गणधर,	श्री स्वामी प्रभासूर्य,
श्री हरिदत्त जी,	श्री केशिस्वामी,

साधू आत्मारामजीका ऐसा भी कथन है कि पिहिताश्रव; स्वामी प्रभासूर्यके शिष्य अनेक साधुओंमें से एक थे। उत्तराध्ययनसूत्र तथा दूसरे जैनग्रन्थोंसे हमें यह मालूम होता है कि 'केशि' पार्श्वनाथकी परम्पराका था और भ० महावीरके समय जीवित था। तब बुद्धिकीर्तिको भी महावीरका समकालीन मानना स्वाभाविक हो जाता है, क्योंकि केशिके समान उस (बुद्धिकीर्ति) के भी गुरू पिहिताश्रव मुनि थे। ऐसा मालूम होता है कि उसकी उत्पत्ति भ० महावीरसे हुई थी।

हमें श्री अमितिगति आचार्यकृत 'धर्मपरीक्षा' ग्रन्थसे भी जो कि संवत् १०७० में बना था ऐसा मालूम होता है कि पार्श्वनाथके शिष्य मोग्गलायनने महावीर से वैरभाव करके बौद्धधर्म चलाया। उसने शुद्धोदनके पुत्र बुद्धको परमात्मा समझा था। धर्मपरीक्षा अध्याय १८ में इस प्रकार लिखा है—

"रुष्टः वीरनाथस्य तपस्वी मोडिलायनः। शिष्यः श्री पार्श्वनाथस्य विदधे बुद्धदर्शनम्। ६८।
शुद्धोदनसुतं बुद्धं परमात्मानमब्रवीत्। प्राणिनः कुर्वते किं न कोप वैर पराजिताः। ५९।"

यहां प्रथम श्लोकमें जो "शिष्य" शब्द आया है, उसका अर्थ शिष्य प्रशिष्य करना चाहिये। 'महावग्ग' ग्रन्थके द्वारा हमें मालूम होता है कि, मोग्गलायन और सारिपुत्त ये दोनों ब्राह्मण संजय परिव्राजकके अनुयायी थे, जो संजयके मना करने पर भी बुद्धके पास गये थे और उसके शिष्य बन गये। इस प्रकार 'धर्मपरीक्षा' ग्रन्थके अनुसार जब कि मोग्गलायन पार्श्वनाथके शिष्यका शिष्य था, तब उपर्युक्त संजय भी जो की मोग्गलायनका उपदेशक था वह भी केशीके समान पार्श्वनाथकी परम्पराका होगा। और तब मोग्गलायन महावीरका समकालीन होना चाहिये। श्रेणिक चरित्र और दूसरे जैन ग्रन्थोंमें ऐसी सूचनाएं भरी पड़ी हैं कि, महावीरके अरहंतपनेके पहिले ही बुद्धने अपने नवीन मतका उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया था[1]।

ऊपरके उदाहरणोंसे ऐसा प्रतीत होता है कि मोग्गलायन ने बौद्धधर्म नहीं चलाया, तब धर्मपरीक्षा के श्लोकका ऐसा अर्थ करना चाहिये कि मोगलायनने बुद्धको अपने धर्मके प्रचार में दूसरोंकी अपेक्षा अधिक सहायता दी। बौद्ध ग्रन्थोंसे भी इस बातकी पुष्टि होती है। क्यों

१ जैनइतिहास माला पृ० २३

कि मोग्गलापन और सारिपुत्त ये दोनों बुद्धके अग्रगण्य शिष्य थे। इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि, ब्राह्मणधर्म, जैनधर्म और बौद्धधर्म ये तीनों प्राचीन भारतके व्यापक सैद्धांतिक वायुमंडलसे उत्पन्न हुए हैं। इस सम्बन्धमें यह कहना अनुचितन होगा कि आधुनिक इतिहासकारोंने भारतकी प्राचीनताको बहुत विपरीत समझा है। अर्थात् अधिकांश लोगोंने यह समझ रक्खा है कि, प्राचीन भारतमें ब्राह्मणधर्मके सिवाय अन्य किसी भी धर्मका अस्तित्व नहीं था। परन्तु उस ब्राह्मण धर्मका रूप कैसा था, इस बातको उन्होंने कभी नहीं समझना चाहा। यदि भारतकी पुरातन सभी बातोंको वे 'ब्राह्मणधर्म' नाम देते हैं, तो उनकी कल्पना ठीक है। परन्तु 'ब्राह्मणधर्म' से यदि वे वैदिकधर्म अथवा वैदिक यज्ञादि ही लेते हैं, तो मैं नहीं समझ सकता कि, प्राचीन भारतमें ब्राह्मणधर्म के सिवाय अन्य कोई धर्म नहीं होना किस प्रकार प्रामाणिक युक्तियों द्वारा सिद्ध हो सकता है। भारतकी प्राचीनतम अवस्था जैनशास्त्रोंमें ठीक ठीक चित्रित की गयी है। जैनशास्त्रोंमें लिखा है कि जब ऋषभदेव अपना धर्मोपदेश करते थे, उस समय ३६३ पाखण्डों (मतों) के नेता भी अपना अपना धर्मोपदेश करते थे। शुक्र अर्थात् बृहस्पति उनमेंसे एक थे, जिन्होंने चार्वाक मत निकाला। निःसन्देह प्राचीन भारतकी ऐसी ही स्थिति जान पड़ती है। प्राचीन समयमें यहां एक ही मतका एक ही उपदेशक नहीं था, किन्तु भिन्न भिन्न धार्मिक मन्तव्योंके उपदेश करने वाले अनेक शिक्षक थे जिन्होंने अपनी अपनी बुद्धिके अनुसार जीवन और जगतके स्वरूपको दर्शाया था। प्राचीन कालमें वैदिक, सांख्या, चार्वाक, जैन, बौद्ध और अन्यान्य अनेक धार्मिक सिद्धांतोंकी शाखाएं थीं, जिनमेंसे कई तो सदाके लिए नष्ट हो गयीं। इन धर्मोंके उस समय बहुतसे कट्टर पक्षपाती थे। परन्तु प्राचीन भारतमें पर-निर्भरता नहीं थी अर्थात् सबके मन्तव्य स्वतन्त्र थे।

प्रोफेसर मैक्सम्यूलर ने अपनी ७६ वर्षकी अवस्थामें लिखा था कि—"ज्यों ज्यों मैं अनेक मतों का पठन करता गया त्यों त्यों विज्ञानभिक्षु, आदिके इस मन्तव्यकी सत्यताका प्रभाव मेरे हृदय पर अधिकाधिक पड़ता गया कि, षट्दर्शनके भिन्न भिन्न मन्तव्योंसे परे एवं पूर्व एक ऐसा सर्वसाधारण भण्डार है जिसे कि राष्ट्रीय (भारतीय) सिद्धान्त या व्यापक तथा सर्वप्रिय सिद्धान्त कह सकते हैं। यह सिद्धान्त विचार और भाषाका एक बहुत बड़ा मानसरोवर है, जो कि बहुत दूर उत्तरमें अर्थात् अत्यन्त पुरातन समयमें विकसित हुआ था। प्रत्येक विचारकको अपने अपने मनोरथके अनुसार इसमेंसे विचारोंको ग्रहण करनेकी स्वतंत्रता थी।" प्राचीन भारतमें उधार लेने की प्रणाली नहीं थी अर्थात् विविध ऋषियोंके जीवनके सम्बन्धमें विभिन्न स्वतंत्र विचार थे। और जो दर्शन आज हमारे देखने में आते हैं, वे उन्हीं ऋषियोंके अभिप्रायोंके लिपि बद्ध रूप हैं। यद्यपि अनेकानेक सैद्धान्तिक पद्धतियों और उनके जन्मदाताओंका जीवनचरित्र सदाके लिए लुप्त हो गया है।

जैनशास्त्रोंके अनुसार जैनधर्मके प्रवर्तक न महावीर हैं और न पार्श्वनाथ, किन्तु इस कालचक्र में ऋषभदेव जैनधर्मके प्रथम महोपदेशक हुए हैं। शुक्र अर्थात् बृहस्पति, ऋषभदेवके समकालीन

अनेक व्यक्तियोंमें से एक हो सकते हैं। उस समय बुद्धिकी अत्यन्त तीक्ष्णता अधिक सुलभ थी। भागवत पञ्चम स्कन्ध, अध्याय २-६ में जो ऋषभदेवका कथन आया है वह इस प्रकार है—

भागवतमें कहा है कि ऋषभदेव दिगम्बर थे और जैनधर्मके चलाने वाले थे। भागवत अध्याय ६ श्लोक १-११ में ग्रन्थकर्ता ने 'कोंका', 'वेंका' और 'कुटक', के आर्हत् राजाके विषय में लिखा है कि, यह राजा अपनी प्रजासे ऋषभदेवका जीवनचरित्र सुनेगा और कलियुगमें एक धर्म चलावेगा जिससे उसके अनुयायी ब्राह्मणोंसे घृणा करेंगे और नरकको जावेंगे। ईस्वी सनकी पहिली शती में होनेवाले—हुविष्क और कनिष्कके समयके जो शिलालेख मथुरामें मिले हैं उनमें भी ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकरका वर्णन आया है। वहीं पर कुछ ऋषभदेवकी मूर्तियां भी मिली हैं जिन्हें जैनी पूजते हैं। इन शिललेखोंसे स्पष्ट विदित होता है कि, ईस्वी सनकी पहिली शतीमें ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर रूप में माने जाते थे। यदि महावीर या पार्श्वनाथ ही जैन धर्मके चलानेवाले होते, तो उनकी मूर्ति भी 'जैन धर्मके प्रवर्तक, इस उल्लेख सहित स्थापितकी जाती ? महावीरका निर्वाण ईस्वी सन से ५२७ वर्ष पहिले और पार्श्वनाथ का निर्वाण उससे २५० वर्ष पहिले अर्थात् ईस्वी सन से ७७७ वर्ष पूर्वमें हुआ है। किन्तु उस समयसे कुछ ही शतियोंके पश्चात् उत्कीर्ण शिलालेखोंसे यह बात प्रगट होती है कि इस कालमें ऋषभदेव जैनधर्म के आदि प्रवर्तक (प्रचारक) हुए हैं। इस सबके प्रकाशमें यह कहना सर्वथा भ्रान्त है कि, केवल वैदिक धर्म ही प्राचीन भारत में फैला हुआ था। कदाचित् ऐसा होना संभव है कि उस समय वैदिक धर्म और इतर धर्म प्रायः समान स्वतंत्रता के साथ प्रसारित हो रहे हों! प्राचीन भारत का अधिकांश सैद्धान्तिक और धार्मिक साहित्य लुप्त एवं विनष्ट हो गया है। जो[1] बार्हस्पत्यसूत्र एक समय मिलते थे, अब उनका भी पता नहीं है। इस प्रकार दूसरे बहुत से सिद्धान्त सूत्र अब नहीं मिलते। इस कारण से उनके वर्ण्य विषयों से हम अनभिज्ञ हैं। केवल वैदिक साहित्य ही संयोगवश नष्ट होते होते बच गया है। लगभग अशोक के समय से जैन और बौद्ध साहित्य का भी लिपिबद्ध

१—सैकरेड बुक्स ओफ ईष्ट भा. ४५।

होना शुरू हुआ था। अनेक ग्रन्थ इससे भी पीछे बने।

पार्श्वनाथका इतिहास—

उत्तराध्ययनसूत्र और सूत्रकृतांगसूत्रकी भूमिका में प्रा० जैकोबी लिखते हैं:—"पाली चातुय्याम" जिसे कि संस्कृतमें 'चातुर्याम' कहते हैं, प्राकृतमें 'चातुज्जाम' बोला जाता है। यह एक प्रसिद्ध जैन संज्ञा है जो कि पार्श्वनाथके चार व्रतोंको प्रकट करती है जिसके समक्ष ही महावीरके पंचमहाव्रत (पंचमहाव्वय) कहे गये हैं। इस प्रकरणमें मैं समझता हूं कि, बौद्धोंने एक भ्रान्ति की है। अर्थात् उन्होंने महावीरको जो ज्ञातृपुत्र उपाधि लगायी है, वह वास्तवमें उनसे पूर्व हुए पार्श्वनाथके पीछे लगनी चाहिये थी। यह एक नगण्य भूल है। क्योंकि गौतम-बुद्ध और बौद्ध आचार्य उपर्युक्त उपाधिकी योजना निर्ग्रंथ धर्मके वर्णनमें तब तक कभी न करते, जब तक कि उन्होंने उसे पार्श्वनाथके अनुयायी लोगोंसे न सुनी होती। और यदि महावीरका धर्म बुद्धके समयमें भी निर्ग्रंथोंके द्वारा ही विशेष रूपसे प्रतिपालित होता तो भी वे ऐसी उपाधि कभी नहीं लगाते। इस प्रकार बौद्धोंकी भूलसे ही जैनधर्म सम्बन्धी इस दंतकथाकी सत्यताकी पुष्टि होती है कि महावीरके समयमें पार्श्वनाथके अनुयायी विद्यमान थे।"

"पार्श्वनाथका ऐतिहासिक महापुरुष होना संभव है। इस बातको सब मानते हैं और उनके अनुयायियों तथा मुख्यतया केशीका जो कि महावीरके समयमें जैनधर्मके नेता थे, जैनशास्त्रमें इस प्रकार वास्तविक रूपसे वृत्तान्त पाया जाता है कि उन शास्त्रोंकी सत्यतामें सन्देह उत्पन्न होनेका कोई कारण ही नहीं दिखता।"

जैनधर्मके प्राचीन इतिहासकी रचनामें मेरा यही मुख्य उद्देश्य है कि, पार्श्वनाथके अनुयायी महावीरके समयमें विद्यमान् थे, यह दन्तकथा जिसको वर्तमान समयके सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं; अधिकतर स्पष्ट हो जाय। पार्श्वनाथ और महावीरके अन्तरालमें जितना समय व्यतीत हुआ है उसके विषयमें जैकोबीने एक टिप्पण लिखा है। वह इस प्रकार है—"जैन ग्रन्थोंमें जो विवेचन किया है, उससे प्रकट होता है कि, पार्श्वनाथ और महावीरके बीचके कालमें यतिधर्मका आचरण शिथिल हो गया होगा। यह बात तभी संभव हो सकती है, जब कि अन्तिम दो तीर्थंकरोंके बीचका समय यथोचित रूपसे निश्चित किया जाय। इसके द्वारा पार्श्वनाथके २५० वर्ष पीछे महावीर हुए ऐसा जो सब मनुष्यों का अनुमान है, उसकी भली भांति पुष्टि होती है।"

"इस प्रकार पार्श्वनाथ और महावीरके जीवनचरित्रका विस्तारसे पठन करने पर उत्तरीय भारतकी राजनैतिक स्थिति स्पष्ट रूपसे प्रकट हो जाती है, क्योंकि उनके समयका निर्णय हो गया है। यहां तक शोधको ले जाना भारतके प्राचीन इतिहासकी सुदृढ़ भूमिकापर पहुंच जाना है। पश्चिमी

१—सैकरेड बुक्स ओफ ईष्ट भा. ४५।

विद्वानोंने भी अन्तिम दोनों तीर्थंकरोंको ऐतिहासिक महापुरुष स्वीकार किया है। और ज्यों ज्यों जैनियोंके प्राचीन ग्रंथ देखनेमें आवें गे, त्यों त्यों वे इनसे भी पहिले होनेवाले तीर्थंकरोंके अस्तित्वको भी प्रायः स्वीकार कर लेंगे। भारतकी प्राचीन राज-नैतिक और सामाजिक स्थितिपर जो जैन और बौद्ध कथाओंसे प्रकाश पड़ता है उसकी उपेक्षा करना उचित नहीं है। इन कथाओंका बहुत सूक्ष्म दृष्टिसे अनुसन्धान किया जाना चाहिये। पौराणिक जैन और बौद्ध कथाओंको एकत्र करने से भारतका लुप्तप्राय प्राचीन इतिहास किस प्रकार प्रकाशमें आकर सदा के लिए निश्चित हो सकता है, यह बात मैंने इस ग्रन्थमें दरसा दी है।"

"जैन और बौद्ध दोनों धर्म एक ही भूमि पर उत्पन्न हुए हैं, इस कारण उनकी ऐतिहासिक कथाए भी एक सी हैं। विना यथेष्ट कारणके हमें इन दंतकथाओंपर अविश्वास नहीं करना चाहिये। हमें उनका अनुसन्धान तुलनात्मक पद्धतिसे और बारीकीसे करना चाहिये। जब सब प्रकारकी दन्तकथाओं और उनके उल्लेखोंका पठन तथा तुलना की जायगी, तभी हमें कुछ ऐतिहासिक रहस्य मालूम हो सकते हैं, अन्यथा भारतके प्राचीन इतिहासका कभी निर्णय नहीं हो सकेगा।"
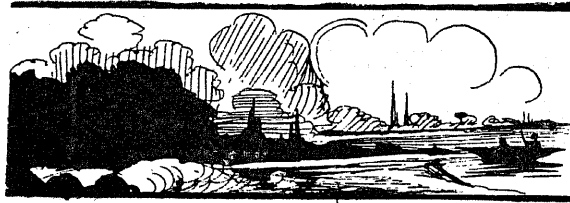
भारतीय इतिहास और जैन शिलालेख

श्री डा० ए० गेरीनोट, एम० ए० डी० लिट०

अक्सर विद्वान् कहा करते हैं कि, यद्यपि भारतवर्षीय साहित्य विपुल और विस्तीर्ण है, तथापि उसमें ऐतिहासिक ग्रंथ बहुत थोड़े हैं। और जो हैं, उनमें इतिहासके साथ दूसरी मनगढ़ंत बातोंकी तथा दन्तकथाओंकी खिचड़ी कर दी गयी है। यह कथन यद्यपि ठीक है, तो भी भारतवर्षमें जो अगणित शिलालेख हैं, उनसे भारतवर्षके साहित्यमें जो इतिहासकी कमी है, वह बहुत अंशोंमें पूर्ण हो सकती है। इसके लिए जी० मेबल डफका भारतीय कालक्रम (The Chronalogy of India) का पहला पृष्ठ और विनसेंट ए० स्मिथ कृत भारतीय इतिहास (The Histary of India) की पहली आवृत्तिका तेरहवां पृष्ठ पढ़ना चाहिये।

दक्षिणके जैन शिलालेख--

सबसे अधिक शिलालेख दक्षिण भारतमें हैं। मि० ई० हुलश, मि० जे० एफ० फ्लीट और लूइस राईस, आदि विद्वानोंने साउथ इण्डिया इन्स्क्रिपशन इंडियन एन्टीक्वेरी, एपिग्राफिआ कर्णाटिका, आदि ग्रन्थोंमें वहांके हजारों लेखोंका संग्रह किया है। ये शिलालेख शिलाओं तथा ताम्रपत्रोंपर संस्कृत, और पुरानी कन्नड़ आदि भाषाओंमें खुदे हुए हैं। प्राचीन कन्नड़के लेखोंमें जैनियोंके लेख बहुत अधिक हैं; क्योंकि उत्तर कर्णाटक और मैसूर राज्यमें जैनियोंका निवास प्राचीन कालसे है।

उत्तर भारतमें जो संस्कृत और प्राकृत भाषाके लेख मिले हैं, वे प्राचीनता और उपयोगिताकी दृष्टिसे बहुत महत्त्वके हैं। इन लेखोंमें भी जैन लेखोंकी संख्या बहुत अधिक है। सन् १९०८ में जो जैन शिलालेखोंकी रिपोर्ट मेरे द्वारा प्रकाशित की गयी है, उसमें मैंने सन् १९०७ के अंत तक प्रकाशित हुए समस्त जैन लेखोंके संग्रह करनेका प्रयत्न किया था। उक्त रिपोर्टमें ८५० लेखोंका संक्षिप्त पृथक्करण किया गया है। जिनमेंसे ८०९ लेख ऐसे हैं, जिनका समय उनपर लिखा हुआ है, अथवा दूसरे साक्षियोंसे मालूम कर लिया गया है। ये लेख ईस्वी सन् से २४२ वर्ष पूर्वसे लेकर ईस्वी सन् १८६६ तकके अर्थात् लगभग २२०० वर्षके हैं और जैन इतिहासके लिए बहुत ही उपयोगी साधन सामग्री हैं।

इन शिला-शासनों तथा ताम्रलेखोंके प्रारंभमें बहुधा जैनाचार्यों तथा धर्म गुरुओंकी विस्तीर्ण पट्टावलियां रहती हैं। उदाहरणके लिए शत्रुञ्जय तीर्थके आदीश्वर भगवानके मंदिरका शिलालेख लीजिए, जो कि वि० संवत् १६५० (ईस्वी सन् १५९३) का है। उसमें तपागच्छकी पट्टावली इस प्रकार दी हुई है[१]—तपागच्छके स्थापक श्री जगचन्द्र (वि० सं० १२८५), आनन्द-विमल (वि० सं० १५८२), विजयदान सूरि, हरिविजय सूरि (वि० सं० १६५०) और विजयसेन सूरि। इसी प्रकारसे दूसरा शिलालेख अणहिल्लपाटणका एपिग्राफिआ इंडियाकी पहली जिल्दके ३१९–३२४ पृष्ठोंमें छपा है। उसमें खरतरगच्छके उद्योतनसूरिसे लेकर जिनसिंह सूरि तकके पहले ४५ आचार्योंकी पट्टावली दी है।

मथुराके लेख—

मथुरामें डा० फुहररने कनिष्क और उसके पश्चाद्वर्ती इंडो-सिथियन राजाओंके अनेक शिलालेखोंका पता लगाया था और प्रो० ब्युल्हरने एफिग्राफिआ इंडियाकी पहली दूसरी जिल्दमें उनका बहुत ही आश्चर्यजनक वृत्तान्त प्रकाशित किया था। इसी विषयपर सन् १९०४ में इंडियन एण्टीक्वेरीके ३३वें भागमें प्रो० लुडरने एक और लेख लिखा था और उक्त लेखोंका संशोधन तथा परिवर्तन प्रगट किया था। मथुराके लेख जैन धर्मके प्राचीन इतिहासके लिए बहुत ही उपयोगी हैं। क्योंकि वे कल्पसूत्रकी स्थविरावलीका समर्थन करते हैं और प्राचीनकालके भिन्न-भिन्न गणोंका, उनके मुख्य मुख्य विभागों, कुलों और शाखाओं सहित परिचय देते हैं। जैसे 'कोटिक गण' स्थानीय कुल और वाज्रीशाखा, ब्रह्मदासिक कुल और उच्चनागरी शाखा, इत्यादिके उल्लेख।

जैन शिलालेखों तथा ताम्रपत्रोंसे इस बातका भी पता लगता है कि, एक देशसे जैनी दूसरे देश में कब फैले तथा उनका अधिकाधिक प्रसार कब हुआ। ईस्वी सन्से २४२ वर्ष पहले महाराजा अशोक अपने आठवें आज्ञापत्रमें जो कि स्तम्भपर खुदा हुआ है, उनका (जैनियोंका) 'निर्ग्रन्थ' नामसे उल्लेख करते हैं। ईस्वी सन्से पहले दूसरी शताब्दिमें उनका उड़ीसाके उदयगिरि नामक गुफाओंमें 'अरहन्त'के नाम से परिचय मिलता है और मथुरामें भी (कनिष्क हुविष्कके समयमें) वे बहुत समृद्धिशाली थे; जहां कि दानोंके उल्लेख करने वाले तथा अमुक भवन अमुकको दिया गया यह बतलाने वाले अनेक जैन लेखोंका पता लगा है।

श्रवणबेलगोला—

ईस्वी सन्के प्रारंभके एक शिलालेखमें गिरनार पर्वतका सबसे पहले उल्लेख मिला है, जिससे यह मालूम होता है कि, उस समय जैनी भारतके वायव्यमें भी फैल चुके थे। इसी प्रकार आचार्य श्री भद्रबाहुके अधिपत्यमें वे दक्षिणमें भी पहुंचे थे और वहां श्रवण बेलगोलामें उन्होंने एक प्रसिद्ध मन्दिरकी

१. देखो एपिग्राफिआ इण्डिया भाग २, पृष्ठ ५०-५९।

स्थापना की थी। मि० लूइस राईसके द्वारा संग्रह किये हुए संस्कृत तथा कन्नड़ भाषाके सैकड़ों शिलालेख श्रवण बेलगोलाके पवित्रतम ऐतिहासिक वृत्तान्त प्रगट करते हैं। इस पहाड़पर सुप्रसिद्ध मंत्री चामुंडरायने गोम्मट्टेश्वरकी विशाल प्रतिमा स्थापित की थी। गोमट्ट स्वामीकी दूसरी प्रतिमा कारकलमें शक संवत् १३५३ (ई० सन्० १४३२) में और तीसरी बेनूरमें शक संवत् १५२५ (ई० सन् १६०४) प्रतिष्ठित हुई थी।

दक्षिण भारतके जुदे जुदे शिलालेख बहुत सी ऐतिहासिक बातोंको विशद करते हैं। हलेबीडके एक शिलालेखसे मालूम होता है कि, वहां गंगराज मंत्रीके पुत्र बोपने पार्श्वनाथका मन्दिर बनवाया था। और वहां बहुतसे प्रसिद्ध-प्रसिद्ध आचार्योंका देहोत्सर्ग हुआ था। 'हनसोज' देशीयगणकी एक शाखाका स्थान था। हमचा [हुंम्मच] नामक स्थानमें 'उर्वीतिलक' नामक सुन्दर मन्दिर बनवाया गया था और उसे गंगराज-कुमारी चत्तलदेवीने अपर्ण किया था। मलेयारका कनक-पर्वत कई शताब्दियों तक बहुत ही पवित्र समझा जाता था। इन सब बातोंका ज्ञान उक्त स्थानोंमें मिले हुए लेखोंसे होता है।

स्फुट लेख--

उत्तर भारतके मुख्य शिलालेख आबू, गिरनार और शत्रुञ्जय पर्वत सम्बन्धी हैं। आबू पर्वत पर सबसे अधिक प्रसिद्ध मन्दिर दो हैं—एक आदिनाथका और दूसरा नेमिनाथका। पहला अणहिल्लपाटणके भक्तिवंत व्यापारी विमलशाहने वि० सं० १०८८ (ईस्वी. सन् १०३१) में बनवाया था और दूसरा चालुक्य (सोलंकी) वंशीय वाघेला राजा वीरधवलके सुप्रसिद्ध मंत्री तेजपालने और उसके भाई वस्तुपालने बनवाया था। उसके दोनों भाइयोंने एक मनोहर मन्दिर गिरनार पर्वतपर और कई मन्दिर शत्रुञ्जयपर बनवाये थे।

ऐतिहासिक महत्त्व--

जैनियोंके शिलालेख और ताम्रलेख भारतके सामान्य इतिहासके लिए भी बहुत सहायक हैं। बहुतसे राजाओंका पता केवल जैनियोंके ही लेखोंसे लगता है। जैसे कि, कलिंग (उड़ीसा) का राजा खारवेल। निश्चित रूपसे यह राजा जैनधर्मका अनुयायी था। उसके राज्य कालका एक विशाल शिलालेख स्वर्गीय पं० भगवानलाल इन्द्रजीने प्रकाशित किया था और उसके विषयमें उन्होंने बहुत विवेचन किया था। उक्त शिलालेख 'णमो अरहंताणं णमो सव्वसिद्धाणं' इन शब्दोंसे प्रारम्भ होता है। उस पर मौर्य संवत् १६५ लिखा हुआ है। अर्थात् वह ईस्वी सन्से लगभग १५६-५७ वर्ष पहलेका है। खारवेलकी पहली रानी जैनियोंपर बहुत कृपा रखती थी। उसने जैन मुनियोंके लिए उदयगिरिमें एक गुफा बनवायी थी।

दक्षिण भारतके राजाओंमें मैसूरके पश्चिम ओरके गंगवंशीय राजा जैनधर्मके जानकार और अनुयायी थे। शिलालेखोंके आधारसे प्रगट होनेवाली एक कथासे मालूम होता है कि, नन्दिसंघके सिंहनन्दि नामक आचार्यने गंगवंशका निर्माण किया था और इस वंशके बहुतसे राजाओंके गुरु जैनाचार्य

थे। जैसे अविनीत (कोंगणी वर्मन), राचमल्ल (ई० स० ९७७), परमर्दिदेव और उसके उत्तराधिकारी (ग्यारहवीं शताब्दिका अंत और बारवींका प्रारंभ), इत्यादि। सुप्रसिद्ध चामुंडराय जिसने श्रवणबेलगोला में गोमट्टस्वामीकी अद्भुत प्रतिमा स्थापित की थी, यह दूसरे मारसिंहका प्रधानमंत्री था। इस मारसिंहने गुरू अजितसेनकी उपस्थितिमें जैनधर्मकी क्रियानुसार मरण किया था अर्थात् समाधिमरण किया था।

श्री फ्लीटके कथनानुसार कदम्ब वंशीय राजा भी जैन थे। काकुत्स्थवर्म और देववर्मा आदिने जैन सम्प्रदायके भिन्न-भिन्न संघोंको बड़ी-बड़ी भेटें दी थीं।

पश्चिमके सोलंकी (चालुक्य) राजा यद्यपि वैष्णव थे, परन्तु वे निरन्तर दान और भेंटोंके द्वारा जैनियोंको संतुष्ट करते रहते थे। दक्षिणके महाराष्ट्र प्रान्तमें जैनधर्म सामान्य प्रजाका धर्म गिना जाता था। मलखेड़के (मान्य खेट), राष्ट्रकूट (राठौर) राजाओंके आश्रयसे जैनधर्मने; विशेषतया दिगम्बर सम्प्रदायने बहुत उन्नति की थी। नवमी शताब्दिमें दिगम्बर सम्प्रदायको अनेक राजाओंका आश्रय मिला था। राजा अमोघ वर्ष (ई० सं० ८१४–८७७) ने तो अपनी सहायता द्वारा इस सम्प्रदायका एक बड़े भारी रक्षकके समान प्रचार एवं प्रसार किया था, और सम्भवतः उसीने प्रश्नोत्तर रत्नमालाकी रचना की थी।

सौनदत्तीके रट्टवंशी राजा पहले राष्ट्रकूटोंके करद सामन्त थे, परन्तु पीछेसे स्वतंत्र हो गये थे। वे जैनधर्मके अनुयायी थे। उनके किये हुए दानोंका उल्लेख ईस्वीसन् ८७५ से १२२९ तकके लेखोंमें मिलता है। सान्तर नामके अधिकारियोंका एक और वंश मैसूरके अन्तर्गत् हुम्मचमें रहता था। ये भी जैनी थे और उनके धर्मगुरु जैनाचार्य थे।

बारहवीं और तेरहवीं शताब्दिमें होय्सल नामक वंशके राजाओंने मैसूर प्रान्तमें अपने अधिकारकी अति वृद्धि की थी। पहले ये कलचुरी वंशके करद राजा थे, परन्तु जब उक्त वंशका पतन हुआ, तब उनके उत्तराधिकारी हो गये। इस वंशके सबसे प्राचीन और प्रमाणभूत राजा विनयादित्य और उसका उत्तराधिकारी अरियंग ये दोनों तीर्थंकरोंके भक्त थे। इस वंशके प्रख्यात राजा विट्टिग अथवा विल्टिदेवको रामानुजाचार्यने विष्णुका भक्त बनाया था और इससे उसका नाम विष्णुवर्धन प्रसिद्ध हुआ था। उसकी राजधानी द्वारसमुद्रमें जिसे कि अब हलेबीडु कहते हैं, थी। इसके सिवाय गंगराज, मरीयन, भारत, आदि मंत्रियोंका भी यहां आश्रय मिला था। उन्होंने उन सब मन्दिरोंका फिरसे जीर्णोद्धार कराया था, जिन्हें कि चोल नामके आक्रमण कारियोंने नष्ट कर दिया था और उन्हें बड़ी बड़ी जागीरें लगा दी थीं। जैन शिलालेखोंमें १५ वीं शताब्दिके साल्ववंशीय राजाओंका भी उल्लेख मिलता है, ये जैनधर्मके अनुयायी थे।

यह लेख यद्यपि छोटा है, परन्तु मेरी समझमें यह बतलाने के लिए काफ़ी है कि जैन शिलालेखोंमें कितनी ऐतिहासिक बातोंका उल्लेख है। इन लेखोंका और जैनियोंके व्यवहारिक साहित्यका नियमित अभ्यास भारतवर्षके इतिहासका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए बहुत ही उपयोगी होगा।

कारकलका भैररस राजवंश

श्री पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

कारकल मद्रास प्रान्तके दक्षिण कन्नड जिलेमें स्थित है। आजकल यह विशेष समृद्धिशाली नहीं है; सिर्फ ताल्लुकेका प्रधान स्थान मात्र है। यही कारकल ईसाकी १३वीं शतीसे लेकर १७वीं शती तक अर्थात् लगभग ५०० वर्ष पर्यन्त विशेष समृद्धिशाली रहा है। इन शतियोंमें यहांपर जैन धर्मानुयायी भैररस नामक एक प्राचीन राजवंश शासन करता रहा है। प्रारंभमें तो यह वंश स्वतंत्र ही था। पर पीछे इसे होयसल, विजयनगर आदि कर्णाटकके अन्य बलिष्ठ प्रधान शासकोंकी अधीनतामें रहना पड़ा। बल्कि उस जमानेमें इस जिलेमें बंग, चौट, अजिल, सावंत, मूल, तोलहार, बिन्नाण, कोन्नार, भारस, होन्नय, कंबलि आदिके वंशज भी छोटे-छोटे राज्य स्थापित करके भिन्न-भिन्न प्रदेशोंमें शासन करते रहे हैं। इन राजवंशोंमेंसे अजिल, चौट, आदिके वंशजोंने भी जैनधर्मकी पर्याप्त सेवा की है।

भैररस वंश—

इसी भैररस वंशमें उत्पन्न पाण्ड्य राजा विरचित 'भव्यानन्दशास्त्र' से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि कारकलके भैररस वंशने 'हुंच'में नया राज्य स्थापित किया, जो कि वहां पर दीर्घकाल तक राज्य करने वाले राजा जिनदत्तरायके वंशकी ही एक शाखा थी। 'जिनदत्तरायचरित'और हुंचके कतिपय लेखोंसे[1] इस वंशका परिचय निम्न प्रकार मिलता है—

"प्राचीन कालमें उत्तरमधुरा [वर्तमान मथुरा] के सुविख्यात उग्रवंशमें वीरनारायण, आदि अनेक शासक हुए हैं। इसी वंशमें राजा 'साकार' हुआ था, जो एक भील लड़कीपर आसक्त होकर अपनी सहधर्मिणी रानी श्रीयला एवं पुत्र जिनदत्तरायसे भी उदासीन हो गया था। फलस्वरूप एक रोज उक्त भीलकी लड़की पद्मिनीके दुरुपदेशसे वह अपने सुयोग्य पुत्र जिनदत्तराय तकको मरवा डालनेके लिए उतारू हो गया था ; क्योंकि जिनदत्तके जीवित रहते भीलनीके पुत्र मारिदत्तको राज्य नहीं मिल सकता था। पर इस षड्यंत्रका पता अपने गुरु सिद्धान्तकीर्तिके द्वारा रानी श्रीयलाको पहले ही लग गया था। श्रीयलाने कुलदेवी पद्मावतीकी प्रतिमाके साथ प्रियपुत्र जिनदत्तरायको तुरंत ही मधुरासे हटा दिया।

---

१ देखें—नगर संबन्धी लेख नं० ५८ आदि।

जिनदत्त घूमता-घूमता कुछ कालके बाद मैसूर राज्यके 'हुंच' स्थानपर पहुंचा। वहां पर भीलोंकी मददसे यह एक नया राज्य स्थापित करके उसका शासन करने लगा। पीछे इसने दक्षिण मधुराके प्रसिद्ध पाण्ड्यवंशी राजा वीरपाण्ड्यकी पुत्री पद्मिनी और अनुराधाके साथ विवाह किया।

नामकरण—

राजा जिनदत्तरायके पार्श्वचन्द्र तथा नेमिचन्द्र नामक दो पुत्र हुए थे। पार्श्वचन्द्रने अपने नामके अंतमें 'पाण्ड्य भैरवराज' यह नूतन उपाधि जोड़ ली थी। भैरवी पद्मावतीके द्वारा अपने पिताकी रक्षा एवं अपनी माताका पाण्ड्य वंशीया होना ही इस उपनामको अपनानेका कारण बतलाया जाता है। इस वंशके सभी शासक 'पाण्ड्य भैरव' इस उपनामको बड़े आदरके साथ अपने नामके आगे जोड़ते रहे। पूर्वोक्त कारकलका भैरस ईर्सी 'भैरवरस' का बिगड़ा हुआ रूप है। भैररसवंशके राजाओंमें निम्नलिखित राजा विशेष उल्लेखनीय हैं—

पाण्ड्यदेव अथवा पाण्ड्यचक्रवर्ती [ई० सन् १२६१]—इसने कारकलमें **'आनेकेरे'** नामक एक सुविशाल सुन्दर सरोवर खुदवाया था, जो कि आज जीर्णावस्थामें है। कहा जाता है कि अपने हाथियोंको पानी पिलाने, आदिके लिए ही राजाके द्वारा यह विशाल सरोवर खुदवाया गया था। सरोवरके नामसे भी इस बातकी पुष्टि होती है। बादमें इस सरोवरके उत्तर पार्श्वमें एक सुन्दर जिनालय भी बना है, जिसे पावापुरका अनुकरण कहा जा सकता है।

रामनाथ [ई० सन् १४१६]—इसने भी कारकलकी पूर्वदिशामें एक विशाल जलाशय निर्माण कराकर अपने ही नामपर इसका नाम 'रामसमुद्र' रखा था। वस्तुतः यह जलाशय एक छोटासा कृत्रिम समुद्र ही है। इससे कारकल निवासियोंका असीम उपकार हुआ है।

वीर पाण्ड्य [ई० सन् १४३१]—कारकलकी लोकविश्रुत विशाल मनोहारी गोम्मटेश-मूर्तिको इसीने स्थापित किया था। इसकी प्रतिष्ठा महोत्सवमें विजयनगरका तत्कालीन शासक देवराय [द्वितीय] भी सम्मिलित हुआ था। मूर्ति-निर्माण, प्रतिष्ठा, आदिका विस्तृत वृत्तांत 'गोम्मटेश्वरचरिते' में कवि चन्द्रमने सुन्दर ढंगसे दिया है उसीमें से थोड़ासा अंश नीचे उद्धृत किया जाता है—

श्री बाहुबलि मूर्ति—

"मेरे महलके दक्षिण भागमें अवस्थित उन्नत पर्वत ही इस नूतन निर्मित विशालकाय जिनबिंबकी स्थापनाके लिए योग्य स्थान है, ऐसा सोचकर राजा वीरपाण्ड्यने गुरु ललितकीर्तिके पास जाकर अपने मनके शुभ विचारको उनसे निवेदन किया। ललितकीर्तिजी और वीरपाण्ड्य अपने उच्च कर्मचारियोंके साथ तत्क्षण ही उक्त पर्वतपर गये। भाग्यवश गुरु ललितकीर्तिजीकी नजर वहांपर एक विशाल शिलापर पड़ी और अभीष्ट जिनबिंब-निर्माणके लिए आपने उसी शिलाको उपयुक्त बताया।

राजा वीरपाण्ड्यने गुरुकी सम्मतिको सहर्ष स्वीकार किया और जल, गंध, आदि उत्तम अष्टद्रव्योंको मंगाकर उस शिलाकी प्रारंभिक पूजा की। बादमें भट्टारकजीको मठपर पहुंचाया एवं मंत्री, पुरोहित, आदिको विदा कर राजा वीरपाण्ड्य अपने महलपर चला आया।

कुछ समय बाद एक रोज वीरपाण्ड्यने शिल्पशास्त्रके मर्मज्ञ, कुशल कई शिल्पियोंको बुलवाकर श्री बाहुबलिस्वामीकी एक विशालकाय भव्य प्रतिमा तैयार कर देनेके लिए सम्मानपूर्वक आज्ञा दी। शिल्पियोंसे मूर्तिनिर्माण संबन्धी सूक्ष्म परामर्श तथा विचार-विनिमयके बाद मूर्तिनिर्माणकार्यकी देख-रेख राजाने अपने पुत्र युवराज कुमारके हाथमें सौंप दी। साथ ही साथ राजाने ज्योतिष शास्त्रके मर्मज्ञ अपने सभा-पण्डितोंको बुलवाकर इसके प्रारंभके लिए शुभमुहूर्त निकलवाया। वीरपाण्ड्य गुरु ललितकीर्तिजीके साथ जिनालय गया और पूजा, अभिषेकादिके अनंतर प्रारब्ध मूर्तिनिर्माण कार्य निर्विघ्न संपन्न हो इसलिए अनेक व्रत, नियम, आदि स्वीकार किये। ललितकीर्तिजी, मंत्री, पुरोहित, आदि राजपरिवारके साथ वह पर्वतपर गया और निर्दिष्ट शुभ मुहूर्तमें अभिषेक-पूजादि पूर्वक मूर्तिनिर्माणका कार्य प्रारंभ करवाया। मूर्तिनिर्माणका कार्य राजकुमारकी देख-रेखमें निर्विघ्न रूपसे चलता रहा। बीच-बीचमें राजा भी जाकर योग्य परामर्श दिया करता था। दीर्घकालीन परिश्रम एवं प्रचुर अर्थव्ययसे जब मूर्ति तयार हुई तब राजाको उसे पर्वतपर ले जाने की तीव्र चिंता हुई। फलस्वरूप इसके लिए बीस पहियोंकी एक मजबूत, एवं विशाल गाड़ी तयार करवायी गयी। गाड़ी तयार होते ही दस हजार मनुष्यों ने इकट्ठे होकर उस प्रतिमाको गाड़ीपर चढाया। बड़ी-बड़ी मजबूत रस्सियोंको बांधकर राजा, मंत्री पुरोहित, सेनानायक तथा एकत्रित जनसमुदाय मिलकर वाद्य एवं तुमुल जयघोषके साथ गाड़ीको ऊपरकी ओर खींचने लगे। दिनभर खींचते रहने पर भी उस दिन गाड़ी थोड़ी ही दूर चढ़ सकी।

सायंकाल होते ही हज़ारों खंभोंको गाड़कर गाड़ी वहीं बांध दी गयी। दूसरे दिन प्रातः काल होते ही फिर कार्य शुरू हुआ। उस दिन गाड़ी कुछ अधिक दूर तक ले जायी गयी। इस प्रकार एक मास तक क्रमसे अधिक-अधिक खींच-खींच कर मूर्ति पर्वतके शिखरपर पहुंचायी गयी। राजा आगन्तुकोंका अन्न, फल, पान, सुपारी, आदिसे यथेष्ट सत्कार करता रहा। इस धार्मिक उदारताको देख कर जनता मुक्तकण्ठसे उसकी प्रशंसा करती रही। पहाड़के ऊपर मूर्ति २२ खंभोंसे बने हुए एक विशाल एवं सुंदर अस्थायी मण्डप में पधारायी गयी। और पूर्ववत् राजकुमारके निरीक्षणमें लगातार एक साल तक मूर्ति निर्माणका अवशिष्ट कार्य सम्पन्न होता रहा। मूर्तिकी लता, नासाग्र दृष्टि, आदि रचना की पूर्ति पहाड़ पर ही हुई। मूर्ति निर्माण कार्य समाप्त होते ही वीरपाण्ड्यने शिल्पियोंको भर-पूर भेंट दी तथा संतुष्ट करके घर भेजा। इसके बाद पहाड़ पर मण्डप निर्माण करा कर शा० शक १३५३ विरोधिकृत संवत्सर, फाल्गुन शुक्ला द्वादशी [ई० सन् १४३२, फरवरी ता० १३] के स्थिर लग्न में श्री १००८ बाहुबलि

मूर्तिकी स्थापना बड़ी धूम धामसे करायी। इस बिंब-प्रतिष्ठोत्सव में विजयनगरका तत्कालीन शासक राजा देवराज भी सम्मिलित हुआ था[1]।'

इम्मडि भैरवराय [ई० सन् १५०५] यह बड़ा प्रतापी राजा था। अपने राज्यकालमें स्वतंत्र होनेके लिए इसने फिर एक बार प्रयत्न किया था। पर इसमें इसे सफलता नहीं मिली। कारकलकी 'चतुर्मुख-बसदि' का निर्माण इसी ने कराया था। यह मंदिर दर्शनीय है और कला की दृष्टिसे अपना वैशिष्ट्य रखता है। इसे इम्मडि भैरवरायने शा० शक-१५०८, ई० सन् १५८६ में बनवाया था। इसका मूल नाम 'त्रिभुवनतिलक-चैत्यालय' है। यह सारा मंदिर शिलानिर्मित है। इसके चारों तरफ एक-एक द्वार है, इसलिए यह चतुर्मुख-बसदि कहलाता है। प्रत्येक द्वारमें अर, मल्लि एवं मुनिसुव्रत इन तीर्थंकरों को तीन प्रतिमाए विराजमान हैं। पश्चिम तरफ २४ तीर्थंकरोंकी २४ मूर्तियां भी स्थापित हैं। इनके अतिरिक्त दोनों मण्डपोंमें भी कई जिनबिंब हैं। दक्षिण और वाम भागमें वर्तमान ब्रह्म यक्ष और पद्मावती यक्षणीकी मूर्तियां बड़ी चित्ताकर्षक हैं। मंदिरके खंभों एवं दीवालोंमें खुदे हुए पुष्प, लताएं और भिन्न-भिन्न चित्र इम्मडि भैरवके कला प्रेमको व्यक्त कर रहे हैं। दन्तोक्ति है कि इसे बारह-मंजिला बनवानेकी उसकी लालसा थी। पर वृद्धावस्थाके कारण अपना संकल्प पूर्ण नहीं कर सका इस बातकी पुष्टि मंदिरकी बनावटसे भी होती है।. भैरवरायने मंदिरके लिए 'तोलार' ग्राम दानमें दे दिया था; जैसा कि पश्चिम दिशाके दरवाजेमें स्थित शिलालेखसे प्रमाणित होता है। इस मंदिर निर्माणका इतिहास बड़ा ही रोचक है।

त्रिभुवन तिलक चैत्यालय--

सन् १५८४ में एक रोज शृङ्गेरी शंकराचार्य-मठके तत्कालीन पीठाधीश श्री नरसिंह भारती कारकलके मार्गसे कहीं जा रहे थे। जब यह बात भैरवरायको मालूम हुई तो उन्होंने सम्मान पूर्वक उनसे भेंट की और नवनिर्मित, अप्रतिष्ठित, सुन्दर जिनमंदिरमें उन्हें ठहराया तथा स्वामीजीको अपनी राजधानीमें कुछ समय तक ठहरनेके लिए आग्रह किया। इस पर भारतीजीने उत्तर दिया कि जहां पर अपने नित्य कर्मानुष्ठानके लिए देवमंदिर नहीं है, वहां पर मैं नहीं ठहर सकता। इस उत्तरसे राजाको मार्मिक चोट लगी। फलस्वरूप जिस नूतन निर्मित जिन-मंदिरमें भारतीजी ठहराये गये थे उसीमें राजाने तत्-क्षण 'शेषशायी अनन्तेश्वर विष्णु' भगवान्‌की एक सुन्दर मूर्ति स्थापित करा दी। यह मंदिर कारकलमें आज भी मौजूद है। कलाकी दृष्टिसे उक्त मूर्ति बहुत सुन्दर है। यह समाचार जब गुरू ललितकीर्तिजीको ज्ञात हुआ, तो राजा भैरवरायपर वे बहुत रुष्ट हुए। दूसरे रोज भैरवराय प्रतिदिनकी तरह जब ललित-कीर्तिजीके दर्शनको गये और उन्हें नमस्कार करने लगे तब असंतुष्ट भट्टारकजीने खड़ाऊं सहित पैरोंसे उन्हें ठुकरा दिया। साथ ही साथ कहने लगे कि तुम जैनधर्मद्रोही हो। राजाने हाथ जोड़कर नम्रतासे प्रार्थना की

१—विशेष के लिये जैन-सिद्धान्त-भास्कर, भाग ५, किरण २ देखें।

कि सभी धर्मोंको एक-दृष्टिसे देखना राजाका धर्म है। इसीलिए जैनमंदिर वैदिकोंको दे दिया; मेरे अप-राधोंको क्षमा करें। साथ ही साथ भट्टारकजीके समक्ष राजाने यह प्रतिज्ञा की कि एकही सालके अंदर मैं दूसरा इससे भी अधिक प्रशस्त जिनमंदिर तयार करवा दूंगा, जिससे मुझे अभ्युदय एवं निश्रेयसकी प्राप्ति हो। इस प्रतिज्ञासे बद्ध होकर भैरवरायने एक सालके भीतर इस 'त्रिभुवन तिलक' जिनचैत्यालयका निर्माण कराया था। यह मंदिर जैनमठके सामने उत्तर दिशामें है।

उपर्युक्त शासकोंके अतिरिक्त अभिनव पाण्ड्यदेव[१], हिरिय भैरवदेव[२] आदि राजाओंने भी जैनधर्मकी अच्छी प्रभावना की है। शासक ही नहीं, इस वंशमें कई वीर शासिकाएं भी हुई हैं।

भैररसोंकी सभामें विद्वानोंका भी अच्छा आदर था। इसका मुख्य कारण यह है कि इस वंशके कई शासक स्वयं भी अच्छे कवि थे 'भव्यानन्द-शास्त्र' के रचयिता पाण्ड्य क्ष्मापति, 'क्रियानिघण्टु' के प्रणेता वीरपाण्ड्य, आदि इस बात के साक्षी हैं। भव्यानन्द-शास्त्र छोटासा सुभाषित ग्रंथ है।

उस समयके संस्कृत कवियोंमें ललितकीर्ति, नागचंद्र, देवचन्द्र, कल्याणकीर्ति, आदि तथा कन्नड कवियोंमें रत्नाकर, चन्द्रम, आदिके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन कवियोंमें नागचन्द्रने 'विषापहारस्तोत्रटीका', कल्याणकीर्तिने 'जिनयज्ञफलोदय', [सं०][३] 'ज्ञानचन्द्राभ्युदय', 'कामनकथे', 'अनुप्रेक्षे', 'यशोधरचरिते,' 'फणिकुमारचरिते', 'जिनस्तुति', 'तत्त्वभेदाष्टक', सिद्धराशि' और 'चिन्मयचिन्तामणि' [क०] रत्नाकरने 'भरतेश्वरवैभव' और 'शतकत्रय' [रत्नाकर शतक, अपराजितेश्वर शतक और त्रिलोक शतक][४] तथा चन्द्रमने 'गोम्मटेश्वरचरिते[५]' 'जैनाचार', आदि की रचना की थी।

कारकलके शेष जैन स्मारकोंका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है—

मठकी पूर्वदिशामें थोड़ी दूर पर एक पार्श्वनाथ बसदि है, जो 'बोम्मराय-बसदि' नामसे विश्रुत है, बाहुबलिपर्वत पर चढ़ते हुए बीचमें एक छोटा मंदिर है। इसका भी नाम 'पार्श्वनाथ-बसदि' है। पर्वत पर बाहुबली स्वामीके सामने दाहिनी और बायीं तरफ शीतलनाथ एवं पार्श्वनाथ तीर्थंकरोंके दो मंदिर हैं। हिरियंगड़ि जाते समय मार्गमें क्रमशः श्रमण या चन्द्रनाथ बसदि, आनेकेरे बसदि और अरमने बसदि ये तीन मन्दिर मिलते हैं। आनकेरे बसदिमें चन्द्रनाथ, शान्तिनाथ और वर्धमान तीर्थंकरोंकी प्रतिमाएं तथा अरमने बसदिमें आदिनाथ तीर्थंकरकी प्रतिमा विराजमान है। हिरियंगड़िमें वाम पार्श्वकी दक्षिण दिशामें

---

१ ई० सन् १४५७ में कारकलके हिरियंगडिस्थ नेमीश्वर बसदिको दत्त दानपत्र।

२ ई० सन् १४६२ में मूडबिद्रीके होसबसदिको दत्त दानपत्र।

३ विशेषके लिए दृष्टव्य 'प्रशस्ति-संग्रह'।

४ रत्नाकरके सब ग्रन्थोंका हिन्दी अनुवाद सोलापुरसे प्रकाशित हो चुका है।

५ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' भाग ५, किरण २ देखें।

आदिनाथ एवं पार्श्वनाथ बसदि और दक्षिण पार्श्वकी उत्तर दिशामें पार्श्वनाथ और आदिनाथ देवालय हैं। इसी हिरियंगडिके हातेके भीतर बायीं ओर दक्षिण दिशामें आदिनाथ, अनन्तनाथ तथा धर्म-शान्ति-कुंथु तीर्थंकरोंके तीन मंदिर हैं। इस अन्तिम मंदिरके बगलमें एक निषीधिका बनी हुई है, जिसमें क्रमशः निम्नलिखित व्यक्तियोंकी मूर्तियां और नाम अंकित हैं—१, कुमुदचन्द्र भ० २, हेमचन्द्र भ० ३, चारुकीर्ति पण्डितदेव ४, श्रुतमुनि ५, धर्मभूषण भ० ६, पूज्यपाद स्वामी। नीचेकी पंक्तिमें क्रमशः १, विमलसूरि भ० २, श्रीकीर्ति भ० ३, सिद्धान्तदेव, ४, चारुकीर्तिदेव ५, महाकीर्ति महेन्द्रकीर्ति। इस प्रकार उक्त इन व्यक्तियोंकी मूर्तियां छह छहके हिसाबसे तीन-तीन युगलरूपमें बारह मूर्तियां खुदी हैं। हिरियंगडिका विशाल एवं उन्नत मानस्तंभ बहुत ही सुन्दर है। यह मानस्तंभ नेमिनाथ भगवान्के विशाल एवं भव्य मन्दिरके सामने स्थित है।
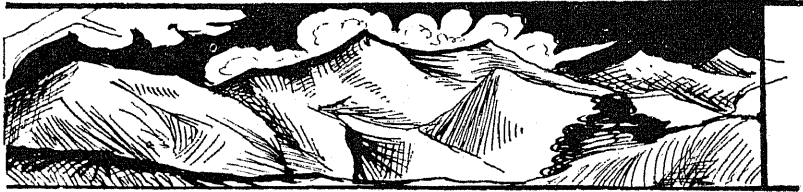
ग्वालियरका तोमर वंश और उसकी कला

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी, एम० ए०, एलएल० बी०

प्रभातकालीन तारागणोंके सामान मध्यकालमें भारतीय राजवंश मुस्लिम-सौभाग्य-सूर्यकी किरणोंके प्रवाहमें विलीन होते गये। देशके विभिन्न भागोंमें अनेक छोटे छोटे राज्य स्थापित होगये थे। इनमेंसे अनेक वंशोंका इतिहास उनकी वीरताके कारण तो महत्त्व रखता ही है परन्तु आज भी उनसे निर्माण की हुई कलाकृतियां मिलती हैं जो उनकी ओर हमारी जिज्ञासा जाग्रत कर देती हैं। ग्वालियर-गढ़पर स्थित मध्यकालीन स्थापत्य कलाके रत्न मानमंदिरको देखकर तथा विशालकाय एवं प्रशान्त मुख-मुद्रा-मयी तीर्थंकरोंकी चरण-चौकियोंपर उल्लिखित अभिलेखोंको देखकर यह जाननेकी इच्छा प्राकृतिक रूपसे उत्पन्न होती है कि इन कृतियोंके निर्माता कौन थे?

तोमर राज्यका उदय—

ग्वालियरपर सन् १३७५ से प्रायः सवा सौ वर्षतक तोमरोंका राज्य रहा। इस वंशके वीरसिंह, उद्धरणदेव, विक्रमदेव, गणपतिदेव, डूगरेन्द्रसिंह, कीर्तिसिंह और मानसिंहके नाम अद्वितीय वीरों एवं कलाके आश्रयदाताओंके रूपमें आज भी प्रसिद्ध हैं। तैमूर लंगके आक्रमणके समय भारतकी मुस्लिम सत्ता डांवाडोल हो गयी थी। इसी समय वीरसिंह तोमरने ग्वालियर-गढ़पर अधिकार कर लिया और मानसिंह तोमर तक इनका प्रतापी वंश स्वतंत्र राजाके रूपमें राज्य करता रहा। महाराज मानसिंहकी मृत्युके पश्चात् तोमरोंकी स्वतंत्र सत्ता तिरोहित हो गयी। मानसिंहके पुत्र विक्रमासिंह लोदियोंके अधीन हो गये और वे लोदियोंकी ओरसे पानीपतकी युद्ध भूमिमें लड़े भी थे।

डूंगरेन्द्रदेव—

तोमरवंशके राज्यकी स्थापना होते ही उसे पड़ोसी सुल्तानोंसे लोहा लेना पड़ा और यह युद्ध अनवरत रूपसे चलता ही रहा। उद्धरणदेव, विक्रमदेव, गणपतिदेवके राज्यकालकी कोई घटना ज्ञात नहीं, परन्तु डूंगरेन्द्रदेवको मालवाका हुशंगशाह और दिल्लीका मुबारकशाह सतत कष्ट देते रहे थे। हुशंगशाहसे पीछा छुड़ानेको उसे मुबारिकशाहकी सहायता लेनी पड़ी थी और उसे कर भी देना पड़ा था। डूंगरेन्द्रसिंह अपने बाहुबल और राजनीतिक बुद्धिके द्वारा अपनी स्वतंत्र सत्ताको कायम रख सके

थे। इन्होंने नरवरगढ़को जीतनेका असफल प्रयास किया था, और आगे चलकर नरवरगढ़ तोमरोंके अधीन हो भी अवश्य गया था; क्योंकि वहांके जय-स्तंभ पर तोमरोंकी वंशावली उत्कीर्ण है।

डूंगरेन्द्रदेवका जैनधर्मको प्रोत्साहन—

डूंगरेन्द्रदेव अपनी राजनीतिक चातुरी एवं वीरताके लिए तो प्रसिद्ध हैं ही, साथ ही उनका नाम ग्वालियर-गढ़की जैनमूर्तियोंके निर्माताके रूपमें भी अमर रहे गा। उनके राज्यकालमें इन अद्वितीय प्रतिमाओंका निर्माण प्रारंभ हो गया था। इन महाराजके कालमें अनेक समृद्ध भक्तोंने अपनी श्रद्धा एवं सामर्थ्यके अनुरूप विशाल जैन प्रतिमाओंका निर्माण किया और इन प्रतिमाओंकी चरण चौकियोंपर अपने साथ अपने नरेशका भी उल्लेख कर दिया। विक्रम संवत् १४९७ तथा १५१० की कुछ मूर्तियोंकी चरण चौकीपर उनके निर्माण संवत्के साथ साथ गोपाचल दुर्ग, महाराज डूंगरेन्द्रसिंहका उल्लेख है।

पितृपादानुगामी कीर्तिसिंह--

महाराज डूंगरेन्द्रदेवके तीस वर्षके शासनकालके पश्चात् उनके पुत्र कीर्तिसिंहका राज्य प्रारंभ हुआ। उन्हें भी अपने २५ वर्षके लम्बे राज्यकालमें कभी जौनपुर और कभी दिल्लीके सुल्तानोंको मित्र बनाना पड़ा। इन महाराजके कालमें ग्वालियर गढ़की शेष जैन प्रतिमाओंका निर्माण हुआ।

गोपगिरिकी जैनमूर्तियां--

ग्वालियर-गढ़की इन प्रतिमाओंको ५ भागोंमें विभाजित किया जासकता है—(१) उरवाही समूह (२) दक्षिण-पश्चिम समूह (३) उत्तर-पश्चिम समूह (४) उत्तर-पूर्व समूह तथा (५) दक्षिण-पूर्वी समूह। इनमें से उरवाही द्वारके एवं किंग जार्ज पार्कके पासके समूह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। उरवाही समूह अपनी विशालतासे एवं दक्षिण-पूर्वका समूह अपनी अलंकृत कला द्वारा ध्यान आकर्षित करता है।

उरवाही जैन प्रतिमाएं—

उरवाही समूहमें २२ प्रतिमाएं हैं जिनमें छह पर संवत् १४९७ से १५१० के बीचके अभिलेख खुदे हैं। इनमें सबसे ऊंची खड़ी प्रतिमा २० नम्बरकी है। इसे बाबरने २० गजका अनुमान किया था परन्तु वास्तवमें यह ५७ फीट ऊंची है। चरणोंके पास यह ९ फीट चौड़ी है। २२ नम्बरकी नेमिनाथजी की मूर्ति बैठी हुई बनी हुई है जो ३० फीट ऊंची है। १७ नम्बरकी प्रतिमा पर तथा आदिनाथकी प्रतिमाकी चरण चौकी पर डूंगरेन्द्रदेवके राज्यकालका संवत् १४९७ का लम्बा अभिलेख खुदा है।

दक्षिण-पश्चिमके जिनबिम्ब--

दूसरा दक्षिण-पश्चिमका समूह एक-खंभा तालके नीचे उरवाही दीवालके बाहरकी शिला पर है। इस समूहमें पांच मूर्तियां प्रधान हैं। २ नम्बरकी स्त्री-प्रतिमा लेटी हुई ८ फीट लम्बी है। इस पर ओप किया

हुआ है। यह प्रतिमा त्रिशला माताकी ज्ञात होती है। ३ नम्बरके प्रतिमा-समूहमें एक स्त्री-पुरुष तथा बालक हैं। यह संभवत: महाराज सिद्धार्थ, माता त्रिशला तथा महावीर स्वामी की हैं।

उत्तर पश्चिमकी मूर्तियां--

उत्तर पश्चिम समूहमें केवल आदिनाथकी एक प्रतिमा महत्वपूर्ण है क्योंकि इस पर सं० १५२७ का एक अभिलेख खुदा हुआ है। इसी प्रकार उत्तर-पूर्व समूह भी कला की दृष्टिसे महत्त्वहीन है। मूर्तियां छोटी छोटी हैं और उन पर कोई लेख नहीं है।

दक्षिण पूर्वकी कलामय विशाल मूर्तियां--

दक्षिण-पूर्वी समूह मूर्तिकलाकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। यह मूर्ति समूह फूलबागके ग्वालियर दरवाजेसे निकलते ही लगभग आधमील तक चट्टानोंपर खुदी हुई दिखती हैं। इनमें से लगभग २० प्रतिमाएं २० फुटसे ३० फुट तक ऊंची हैं और इतनी ही ८ से १५ फुट तक ऊंची हैं। इनमें आदिनाथ नेमिनाथ, सुपद्म (पद्मप्रभु), चन्द्रप्रभु, सम्भू (संभव) नाथ, नेमिनाथ, महावीर, कुम्भ (कुन्थ) नाथ की मूर्तियां हैं जिनमें से कुछ पर संवत् १५२५ से १५३० तकके अभिलेख खुदे हैं।

जैसा पहले लिखा जा चुका है डूंगरेन्द्रसिंह तथा कीर्तिसिंहके शासनकालमें ईसवी सन १४४० तथा १४७३ के बीचमें ग्वालियर गढ़की संपूर्ण प्रतिमाओंका निर्माण हुआ है। इस विशाल गढ़की प्रायः प्रत्येक चट्टानको खोदकर उत्कीर्णकने अपने अपार धैर्यका परिचय दिया है और इन दो नरेशोंके राज्यमें जैन-धर्मको जो प्रश्रय मिला और उसके द्वारा मूर्तिकला का जो विकास हुआ उसकी ये भावमयी प्रतिमाएं प्रतीक हैं। तीस वर्षके थोड़े समयमें ही गढ़की प्रत्येक मूक एवं बेडौल चट्टान महानता, शांति एवं तपस्याकी भावनासे मुखरित हो उठी। प्रत्येक निर्माणकर्ता ऐसी प्रतिमाका निर्माण कराना चाहता था जो उसकी श्रद्धा एवं भक्तिके अनुपातमें ही विशाल हो और उत्कीर्णकने उस विशालतामें सौन्दर्यकी पुट देकर कलाकी अपूर्व कृतियां खड़ी कर दीं। छोटी मूर्तियोंमें जिस बारीकी एवं कौशलकी आवश्यकता होती है, वह और अनुपात इन प्रतिमाओंमें अधिकतर दिखायी देता है।

मूर्तिभञ्जक बाबर—

इन मूर्तियोंके निर्माणके लगभग ६० वर्ष पश्चात् ही बाबरकी वक्रदृष्टि इनपर पड़ी। सन् १५२७ में उसने उरवाही द्वारकी प्रतिमाओंको ध्वस्त कराया। इस घटनाका बाबरने अपनी आत्मकथामें बड़े गौरवके साथ उल्लेख किया है। बाबरके साथियोंने उन मूर्तियोंके मुख तोड़ दिये थे जो पीछेसे जैनियों द्वारा बनवा दिये गये। अस्तु।

महाराज मानसिंह--

कीर्तिसिंहके पश्चात् कल्याणमल राजा हुआ। उसके राज्यकालकी कोई उल्लेखनीय घटना ज्ञात नहीं परंतु इनके पुत्र मानसिंह तोमर अत्यन्त प्रतापशाली तथा कलाप्रिय नरेश थे। इनके राज्यकालमें दिल्लीके बहलोल लोदीने ग्वालियरपर आक्रमण प्रारंभ कर दिये। कूटनीतिसे और कभी धन देकर मानसिंहने इस संकटसे पीछा छुड़ाया। बहलोल १४८९ में मरा और उसके पश्चात् सिकंदर लोदी गद्दीपर बैठा। इसकी ग्वालियरपर दृष्टि थी परन्तु उसने इस प्रबल राजाकी ओर प्रारंभमें मैत्रीका ही हाथ बढ़ाया और राजाको घोड़ा तथा पोशाक भेजी। मानसिंहने भी एक हजार घुड़सवारोंके साथ अपने भतीजेको भेंट लेकर सुलतानसे मिलने बयाना भेजा। इस प्रकार महाराज मानसिंह सन् १५०७ तक निष्कंटक राज्य कर सके। १५०१ में तोमरोंके राजदूत निहालसे क्रुद्ध होकर सिकंदर लोदीने ग्वालियरपर आक्रमण किया। मानसिंहने धन देकर एवं अपने पुत्र विक्रमादित्यको भेजकर सुलह कर ली। सन् १५०५ में सिकंदर लोदीने फिर ग्वालियरपर आक्रमण किया। मानसिंहने धन देकर एवं अपने पुत्र विक्रमादित्यको भेजकर सुलह कर ली। सन् १५०५ में सिकंदर लोदीने फिर ग्वालियरपर आक्रमण कर दिया। अबकी बार ग्वालियरने सिकंदरके अच्छी तरह दांत खट्टे किये। उसकी रसद काट दी गयी और बड़ी दुरवस्थाके साथ वह भागा। सन १५१७ तक फिर राजा मानसिंहको चैन मिला। परन्तु इस बार सिकंदरने पूर्ण संकल्पके साथ ग्वालियर पर आक्रमण करनेकी तैयारी की। तैयारी कर ही रहा था कि सिकंदर मर गया।

तोमर वंशका अस्त--

सिकंदरके बाद इब्राहीम लोदी गद्दीपर बैठा। राज्य संभालते ही उसके हृदयमें ग्वालियर गढ़ लेनेकी महत्त्वाकांक्षा जाग्रत हुई। उसे अपने पिता सिकंदर और प्रपिता बहलोलकी इस महत्वाकांक्षामें असफल होनेकी कथा ज्ञात ही थी अतः उसने अपनी संपूर्ण शक्तिसे तैयारी की। जब गढ़ घिरा हुआ था उसी समय मानसिंहकी मृत्यु हो गयी। मानसिंहके पश्चात् तोमर लोदियोंके अधीन हो गये। विक्रमादित्य तोमर अपने नाममें निहित स्वातंत्र्यकी भावनाको निभा न सके।

मानसिंह जितने बड़े योद्धा थे उतने ही बड़े प्रजा हितैषी तथा कलाप्रेमी थे। आज ग्वालियरके तमर-घारमें मानसिंहका नाम वीर विक्रमादित्यके समान ही प्रख्यात है और उनकी कथाएं आज भी सर्व-साधारणमें प्रचलित हैं।

गूजरि मृगनयना--

मानसिंह और गूजरी मृगनयनाकी प्रेम कथा जहां आज जन-मन-रंजन करती है वहां उसका मूर्त रूप गूजरीमहल आज भी उस प्रेम कथाको अमर कर रहा है। कहते हैं महाराज मानसिंह एक दिन

मृगयाको गए। उन्होंने एक अपूर्व सुंदरीको जंगली भैंसोंको परास्त करते देखा। अद्भुत रूप और अपार बलकी उस मूर्तिको देखकर महाराज उसपर मोहित हो गये और उसको रानी बनानेका संकल्प किया। उस गूजर-कन्याका नाम मृगनयना था। उसके लिए गूजरी-महल पृथक् बनवाया गया और उसकी इच्छानुसार उसके ग्राम राईसे उसके महल तक पानीका नल लगवाया गया।

संगीत प्रेम—

महाराज मानसिंह संगीतके भी बहुत प्रेमी थे। इनके कालमें 'मानकुतूहल' नामक एक संगीत ग्रंथकी रचना हुई। इससे ज्ञात होता है कि 'ध्रुपद' का अविष्कार इन्हीं महाराजने किया। इनके समय समस्त भारत देशके प्रसिद्ध गायक इनकी सभामें एकत्रित हुए थे और उनकी सलाहसे ही यह ग्रंथ लिखा गया था।

चित्र-(मान)महल—

मानसिंह द्वारा निर्मित 'चित्रमहल' जिसे अब 'मानमंदिर' कहते हैं हिन्दू स्थापत्यकलाका ग्वालियरमें ही नहीं, सम्पूर्ण भारतमें अप्रतिम उदाहरण है। मध्यकालके भवनोंमें या तो मन्दिर मठ प्राप्त होते हैं या अत्यंत ध्वस्त भवन प्राप्त हुए हैं। राजपूतोंके जो प्रासाद मिलते भी हैं वे मुगलोंके समकालीन या उनके पश्चात् के होनेके कारण उन पर मुगल-कलाका प्रभाव स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। यह पूर्व-मुगलकालीन राजमहल ही एक ऐसा उदाहरण है जो विशुद्ध भारतीय शैलीमें बना है और निश्चय ही जिसने मुगल स्थापत्य-कलाको प्रभावित किया है।

इस महलको सजानेके लिए अत्यन्त सुंदर उत्कीर्णन एवं चित्रकारीका उपयोग किया गया है। सारा महल कभी सुंदर चित्रोंसे सुशोभित था। ये चित्र अब बिल्कुल नष्ट हो गये हैं परन्तु आज भी इस रंगमहलकी नानोत्पल रचित चित्रकारी अपने चटकीले रंगोंसे चित्तको आकर्षित करती है। इतनी ही शताब्दियोंके पश्चात् भी इनके रंग ज्यों के त्यों बने हुए हैं। दक्षिणी एवं पूर्वी पार्श्वमें नानोत्पलखचित हंस एवं कदलीकी पंक्तियां, वृक्ष, सिंह, हाथी, आदि अत्यंत मनोरम हैं।

मानमंदिरके आंगनों एवं झरोखोंमें अत्यंत सुंदर खुदायीका काम है। आंगनोंमें खंभों, भीतों, तोड़ों, गोखोंमें सुन्दर पुष्पों, मयूरों, सिंह, मकर, आदिकी खुदायी की गयी है।

इस महलकी नानोत्पलखचित चित्रकारी, इसमें मिलने वाली उत्कीर्णक की छैनीका कौशल इसे भारतकी महानतम कलाकृतियोंमें रखता है। इसके दक्षिणी पार्श्वकी कारीगरीको देखकर कहा जा सकता है कि मानसिंह 'हिन्दू शाहजहां' था, जिसके पास न तो शादजहांका साम्राज्य तथा वैभव था

और न वह शांति; अन्यथा वह उससे कहीं अच्छे भवन निर्माण कर जाता। इस प्रासादके निर्माणसे मुगल वादशाहोंने पर्याप्त स्फूर्ति प्राप्त की होगी। बाबरने अपनी जीवनीमें इस महलकी भूरि भूरि प्रशंसा की है। संभवतः आगराकी नानोत्पलखचित कारीगरीमें ग्वालियरके कारीगरोंका योग अवश्य होगा और आगरा तथा सीकरीका स्थापत्य इस महलसे स्पष्टतः प्रभावित है।

बाबरको इस महलका छोटापन अखरा है। परन्तु यह न भूलना चाहिए कि यह निर्माण उन महाराजा मानसिंहने कराया है जिनके सिंह-द्वार पर शत्रु सतत प्रहार करता रहता था और जिसे अपने चित्रमहलको भी यह सोचकर बनाना पड़ा होगा कि अवसर पड़ने पर उसमें राजपूत रमणियां अपनी रक्षा भी कर सकें।
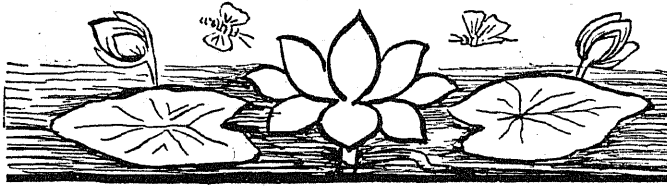
प्राचीन सिंधप्रान्तमें जैनधर्म—

श्री अगरचन्द्र नाहटा

भारतके ग्राम, नगर, जनपद, आदिका इतिहास अब भी अन्धकारमें है। जैनधर्मके प्रचारक साधुगण सदा पैदल घूमते रहते थे फलतः उन्हें देशके कोने कोनेका सद्यात् परिचय रहता था। फलतः उनकी पट्टावलियां, विविध प्रशस्तियां, आदि प्राचीन भारतके भूगोलको तैयार करनेमें विशेष साधक हैं। यही दृष्टि इस लेखकी प्रेरक है[1]। जैनधर्ममें कई सम्प्रदाय हैं, प्रत्येक सम्प्रदायमें अनेक गच्छ, शाखा, आदि हैं। फलतः यहां केवल सिन्धप्रान्त और उसमें भी केवल 'खरतरगच्छ' को लेकर सामग्री संकलित की है।

भ० महावीरका समकालीन सिन्ध--

भारतकी प्रसिद्ध नदियां गंगा-सिन्धुको जैनशास्त्रोंमें शाश्वत कहा है। इनकी इतनी प्रधानता थी कि सिन्धुके किनारे बसा प्रान्त ही सिन्धु हो गया था तथा ग्रीक आक्रमणकारियोंने तो पूरे भारतको ही इस नदीके नामानुसार पुकारना प्रारम्भ कर दिया था। पन्नवणा सूत्रमें दिये आर्य देशों में 'सिन्धु-प्रान्त' का भी नाम है। इसकी राजधानी वीतभयपत्तन (भेहरा) थी। भगवान महावीरके सययमें इसका शासक उदयन[2] था। जिसकी पटरानी पद्मावतीके अतिरिक्त प्रभावती, आदि अनेक रानियां थीं। उसके प्रभावतीसे अभीचिकुमार नामका पुत्र उत्पन्न हुआ था। उदयनके राज्यमें सिन्धु, सौवीर, आदि सोलह जनपद तथा ३६३ नगर थे। महासेन, आदि दश मुकुटधारी राजा उसके सामन्त थे। उदयन जैन श्रमणोंके उपासक थे। एकबार पौषधशालामें रात्रि जागरण करते समय उनके मनमें आया 'वह देश धन्य है जहां वीर प्रभुका विहार हो रहा है। मेरे वीतभय नगरमें पधारें तो मैं भी वैयावृत्य करूं। चम्पामें विराजमान वीरप्रभुके दिव्यज्ञानमें उक्त अभिलाषा झलकी और समवशरण सिन्धकी राजधानीमें जा पहुंचा। राजा विरक्त हुआ, पुत्रका राज्याभिषेक करना चाहा, विचार आया राज्य पाकर पुत्रभोग विलासमें पड़ जायगा इस प्रकार मैं उसके संसार भ्रमणका निमित्त बनूंगा। अतः अपने भानजे केशरी-

---

१—जैन साहित्य विशाल है अतः मेरा वर्णन एक सम्प्रदाय विशेषके साहित्यका आश्रय लेकर है।

२—श्री भगवतीसूत्र शतक १३, उद्देश ६।

कुमारको राज्य दे दिया। राजपुत्र अभीचिकुमार भी चम्पाके राजा 'कौणिक' के पास चला गया और पितासे वैरभाव रखता हुआ वहीं सल्लेखना पूर्वक मरा तथा असुरकुमार देव हुआ। इस प्रकार इस युगमें जैनधर्मका सिन्धमें पुनः प्रचार हुआ था।

इसके पश्चात भी पंजाबमें अनेक जैनमुनि आते रहे हैं। इनकी तालिका मुनिदर्शन विजयजीने "पंजाबमें जैनधर्म" शीर्षक लेखमें दी थी, किन्तु भ्रान्त तथा संदिग्ध होनेके कारण मैं उसका उल्लेख नहीं करूंगा[1]। उद्योतन सूरी कृत "कुवलय माला[2]"(वि० सं० ८३५) से पता चलता है कि चन्द्रभागा के तीरपर पव्वइया; वर्तमान चाचर नगरी थी। इस नगरीके राजा तोररायके गुरु हरिभक्त सूरि थे। यदि तोरराय तोरमाण थे तो हरिभद्र सूरिका समय वि० ८०० न होकर ५५६-५८९ वि० के आगे पीछे होना चाहिये। अर्थात् इस समय चाचरके आसपास (साकलके आसपास नहीं) जैन आचार्योंका अच्छा प्रभाव था। इसी अन्तरालमें उपकेश गच्छ[3] के कुछ आचार्य सिन्ध गये थे ऐसा इस गच्छके चरित्रसे पता लगता है। किन्तु इसका समर्थक कोई समकालीन प्रमाण नहीं है।

खरतरगच्छ सिन्धमें[4]

गणधर सार्द्धशतक (सं० १२९५) तथा वृहद्वृत्ति[5]में उल्लेख है कि खरतर गच्छके आचार्य वल्लभसूरि कामरुकोट तथा जिनदत्तसूरि[6] उच्चनगर गये थे। इसके बाद इस गच्छके मुनियोंके सिन्ध आवागमनकी धारा अविरलरूपसे बहती रही जैसा कि आगेके विवरणसे स्पष्ट है। इताना ही नहीं इस गच्छका सिन्धसे साक्षात् सम्बन्ध एक दशक पहिले तक रहा है। यति पूनमचन्द्रजी का स्वर्गवास अभी हुआ है इनके पूर्वज गत ३०० वर्षसे वहांके गुरुपदको सुशोभित करते आये थे। खरतर गच्छकी रुद्रपल्लीप बेगड़, आचार्य, आदि शाखाओंके विषय में न लिखकर यहां पर केवल जिनभद्रसूरि शाखासे सम्बद्ध सामग्री का ही संकलन किया है। अंचलगच्छके यतिचन्द्र द्वारा रचित कर्मग्रन्थकी "बालबोध भाषाटीका, तपा गच्छके आचार्य सोमसुन्दर सूरिका 'नव तत्त्वालोक बोध' लोंका गच्छकी उत्तर शाखाका 'उत्तरार्धगच्छ' नाम, इन गच्छोंके पाञ्चाल-सम्बन्धके सूचक हैं। इसके अतिरिक्त खरतर गच्छीय आचार्योंने

---

१ तक्षशिलाके स्तूपका निर्माता संप्रति था। कालिकाचार्यका पान्चाल विहार, आदि भ्रान्तियों के उदाहरण हैं।

२ सिंन्धी ग्रन्थमालामें मुनि जिनविजयजी द्वारा सम्पादित।

३ उपकेशिगच्छ प्रबन्धमें श्रीकक्कसूरि, पद्मप्रभ उपाध्याय, देवदत्त सूरि, आदिके उपाख्यान।

४ कितने ही स्थान अब सिन्धमें नहीं हैं, पहिले थे फलतः मैंने आसपासके सब ही स्थानोंका उल्लेख किया है।

५ गायकवाड़ ग्रन्थमाला (बड़ोदा) में प्रकाशित "अपभ्रंश काव्यत्रयी।"

६ मुनिदर्शनविजयजीकी इनके विषयकी मान्यताएं पोषक प्रमाण न होनेसे निराधार हैं।

सिन्धी भाषामें भी रचनाएं की थी जैसा कि कविवर समयसुन्दरसूरिके 'मृगावती चौपाई', जटमल तथा समरथकी 'वखनी' आदि से स्पष्ट है।

किसी समय सिन्धप्रान्त जैनोंका गढ़ था। यद्यपि आज जैनी वहां बहुत विरल हो गये हैं तथापि कितनी ही जगह जैन मन्दिर, उपाश्रय, आदि दुर्दशा ग्रस्त होकर पड़े हैं। गणधर सार्द्धशतक बृहद्वृत्ति, विज्ञप्ति त्रिवेणी पट्टावलियां, वहां रचित ग्रन्थ, वहां पर की गयीं ग्रन्थोंकी विविध प्रतिलिपियां तथा आदेशपत्रोंकी बहुलता उक्त अनुमानको स्वयं सिद्ध कर देती हैं।

धर्मप्रचारके सम्बन्धसे उल्लिखित कतिपय स्थान--

विस्तृत वर्णनके विना ही निम्नाङ्कित स्थानोंकी तालिका इस तथ्यकी साक्षी है कि ११ वीं शतीके मध्यसे ही सिन्ध प्रान्त धर्म-विहारमें रत जैनाचार्योंका कार्यक्षेत्र हो गया था।

क्रमांक	स्थान	वि० सम्वत्	आचार्य	विशिष्ट घटना
१	मरूकोट (मारोठ)	११३०	श्री जिनवल्लभसूरी	भाणुमन्दिर प्रतिष्ठा, आदि
२	उचनगर	११६७	श्री जिनदत्त सूरी	भूत-प्रतिबोध, धर्मदीक्षा, आदि
३	वीठपहिण्डा (भटिण्डा)	११७०	,,	श्रविका-सन्देह निवारण, आदि
४	नगरकोट	११७३	श्री जिनपालोपाध्याय	शास्त्रार्थ विजय, प्रतिष्ठा, आदि
५	देवराजपुर (देरावर)	११७३	श्री जिनचन्द्र सूरी	साधुदीक्षा, प्रतिष्टा, आदि
६	क्यासपुर	११७३	,,	दीक्षोत्सव, आदि
७[1]	बहिरामपुर	१३८४	श्री जिनकुशल सूरी	पार्श्वविधि मन्दिर बन्दना, आदि
८	मालिकपुर	,,		देवराजपुर उत्सवमें योगदान, आदि
९	खोजावाहन	१३८६	,,	धर्मोपदेश, विहार, आदि
१०	सिलारवाहन	,,	,,	धर्मप्रभावना, विहार, आदि
११	राणुककोट	१३८४	,,	जिनबिम्ब प्रतिष्ठा, आदि
११	परशुरोरकोट	१३८०	,,	जिनकुशल सूरी का विहार
१३	सरस्वतीपत्तन	१४२२	श्री संघतिलकाचार्य	सम्यक्त्वसतति, आदि १० ग्रन्थ रचे
१४	नन्दनवनपुर	१४६८	श्री वर्द्धमान सूरी	आचारदिनकर रचना, देवबन्दन,
१५	मम्मणवाहण	९४८३	श्री जयसागरोपाध्याय	चतुर्मास
१६	द्रोहड़ोट्टा (ड्हड़)	१४८३	श्री जयसागरोपाध्याय	चतुर्मास, ग्रन्थटीका, आदि
१७	फरीदपुर	१४८३	,,	संघयात्रा ,, आदि
१८	माबारखपुर	,,	,,	धर्मप्रभावना, मूर्तिस्थापना ,,

१ ये सातों स्थान न्यूनाधिक रूपमें जैन संस्कृतिकी लीलाके प्रधान केन्द्र रहे हैं।

१६	निश्चिन्दीपुर	१४८४	,,	सुल्तानके दीवानको धर्मोपदेश
२०	तलपाटक (तलवाड़ा)	,,	,,	संघयात्रा बिहार विनय
२१	मलिकवाहणपुर	,,	,,	,, चतुर्मास, ग्रन्थरचना
२२	कंगदक दुर्ग (कांगड़ा)	,,	,,	आदिनाथ मन्दिर बन्दना
२३	गोपाचलपुर	,,	,,	शान्तिनाथ ,, ,,
२४	कोटिलग्राम	,,	,,	पार्श्वनाथ ,, ,,
२५	कोठीपुर	,,	,,	महावीर ,, ,,
२६	देवपालपुर	,,	,,	प्रवेशोत्सव, चतुर्मास
२७	हिसार	१५४७	श्री क्षेमराज उपाध्याय	उपदेश स० ग्रन्थादि रचना
२८	मुलतान[1]	१६४६	,, जिनचन्द्र सूरि	ग्रन्थ रचना, धर्मयात्रा, आदि
२९	कसुरपुर	१६४७	,,	विहार
३०	लाहौर	१६४८	श्री वाचक महिमराज	शान्ति स्तवन, चतुर्मास, ग्रन्थरचना
३१	हापाणई	,,	,, जिनचन्द्रसूरि	विहार
३२	काश्मीर (गजनी गोलकुंज)	,,	,, बाबा मानसिंह	,,
३३	रोहतासपुर	,,	,, ,,	,,
३४	श्रीनगर	१६४९	,, ,,	,, (लौटते समय)
३५	चन्दुवेलि पत्तन	१६५२	श्री जिनचन्द्र सूरि	,, धर्मोत्सव
३६	तोसामपुर	१६५६	उपाध्याय गुणविनय	ग्रन्थरचना
३७	हाजी खानडेरा	१६६०	श्री यशकुशल सूरि	स्वर्गवास, ग्रन्थरचना
३८	शीतपुर (सिद्धपुर)	१६६९	,, समयसुन्दर उपाध्याय	धर्मप्रचार, ग्रन्थरचना
३९	किरहोर	१६९२	,, विमलकीर्ति	स्वर्गारोहण
४०	सामुही	१६९४		ग्रन्थरचना

१. श्री धर्मप्रमोदने चैत्यबन्दन भाष्यवृत्ति तत्त्वार्थ दीपिका (१६४६), कनकसोमने मंगलकलश चौ० (१६४८), श्री जयनिधानने सुरप्रियरास (१६६५), पद्मराजने क्षुलक चौ० तथा स्तवन (१६६७), समयसुन्दरने मृगावती रास तथा कर्मछत्तीसी (१६६८), ज्ञानचन्द्रने ऋषिदत्ता चौ० (१६७४), राजहंसने विजयसेठ चौ० (१६८२), विमलकीर्तिने प्रतिक्रमण ग० स्तवन (१६८०), जिन समुद्रसूरिने आतमकरणी संवाद (१७११), सुमतिरंगने मोहविवेक चौ० (१७२२), हरिकेश चौ० (१७२७), तथा जम्बू चौ० (१७२९), रंगप्रमोदने चंपक चौ० (१७१५), विनयलाभने वच्छराज चौ० (१७३७) धर्ममन्दिरने दयादीपिका चौ० (१७४०) मोहविवेकरास (१७४१) तथा परमात्मप्रकाश चौ० (१७४२), देवचन्द्रने धर्मदीपिका चौ० (१७६६) तथा मायान्यायने नवतत्त्व भगवानी-स्तवन बनाया।

४१	सक्कीनगर (बन्नूदेश)	१७०९	श्री जिनचन्द्र सूरि	ग्रन्थरचना (औरंगशाहके राज्यमें)
४२	मेहरा	१७२२	,, रामचन्द्र	सामुद्रिकभाषा ग्रन्थ रचना, आदि
४३	थट्टा	१६९१	श्रावक लखमसी	त्रिलोकसुन्दरी मंगलकलश ,,
४४	कंडयारा	१७५५	श्री जिनचन्द्रसूरि	भीमसेन चौ० ,,
४५	गाजीपुर	१७१८	,, जिनसमुद्र सूरि	ग्रन्थ रचना
४६	जालिपुर	१७५५	,, समरथ	रसिकप्रियापरटीका ,,

ग्रन्थ प्रतिलिपियोंके कतिपय स्थान—

इनके अतिरिक्त ऐसे स्थानोंकी भी प्रचुर मात्रा है जहां पर अनेक ग्रन्थों[1] की प्रतिलिपियां करायी गयीं। यथा—

क्र०	स्थान	काल (वि० सं०)	ग्रन्थ संख्या
१	मुलतान	१६४३–१६५६	५९
२	मारोठ	१६३९–१६१५	५६
३	सरसा	१७३१–१८७७	१४
४	मेहरा	१७३२–१७७७	२
५	सीतापुर	१६६३	१
६	हाजीखानडेरा	१६७५–१८७३	१०
७	खारवारा	१७४४	१
८	उच्चनगर	१६४९–१७१५	३
९	शीतपुर	१६७८	१
१०	किरहोर	१६८४–१७१३	२
११	देवराजपुर	१६१७–१६६३	२
१२	मोजगढ़	१७४८–१८७८	१७
१३	बाहालपुर	१८४३–१८५४	७
१४	लमानगर	१८०४	२
१५	बांगा	१८०१–१८८२	१०
१६	लुधियान	१८५५	१
१७	बन्नू	१७४५–१७६१	२

१ 'नाहटा ग्रन्थभण्डार' में संकलित ग्रन्थोंके आधारपर।

१८	नवरंगखांकोट	१७४६	१
१६	दुन्नियापुर	१६७५	१
२०	डेराइसमाइलखां	१७२२–१८०८	१४
२१	डेरागाजीखां	१७५८–१८७३	५
२२	सक्कीनगर	१७३३–१८४८	६
२३	अमरसर	१६०७–१८९०	३
२४	मूलस्थान	१७४०–१७४४	२
२५	लामपुर	१६४८	१
२६	लाहोर	१७ वीं शती	१
२७	हिसार	१५०६	१
२८	स्यालकोट	१८१४–१८३८	२
२६	रावलपिण्डी	१८ वीं शती	१
३०	पटियाला	१८७५–१८७८	२
३१	फरीदकोट	१८१८	१

कतिपय चतुर्मास (वर्षावास)—

सिन्ध प्रान्तमें हुए चौमासोंके आदेशोंके अब भी इतने अधिक उल्लेख मिलते है कि उनके द्वारा जैनधर्मकी प्रान्त भरमें व्यापकता स्वयं सिद्ध हो जाती है।

क्र०	स्था०	काल	आचार्य	चतुर्मास
१	हाजीखानडेरा	१७४६–१७८८	श्रीविद्याविमल, आदि	१०
२	मारोठ	१७४८–१७८७	”	८
३	देवराजपुर	१७६८	श्री जिनजय सूरि	१
४	डेरा इस्माइल खां	१७६८–१७८८	श्री कल्याणसागर आदि	७
५	मुलतान	१७७६–१७८८	श्री मुक्तिमन्दिर ,,	१४
६	बांग-मेहट	१७७८–१७८८	श्री केहरि विद्याविमल ,,	११
७	बन्तु	१७८०–१७८८	श्री सत्यधीर ,,	७
८	खाइबारो	१७६०	श्री वदिर ,,	१
९	वंगो-ईसाकोट	१७९१	श्री ज्ञानप्रमोद ,,	१
१०	वांगा-लया	१७९६	श्री महिमाविजय ,,	१

११	सरसा	,,	श्री पुण्योदय	,,	१
१२	भटनेर	१७९८	श्री राजमूर्ति	,,	१

निष्कर्ष——

इसी प्रकार बन्दना, स्तवन, स्वर्गवास, आदिके स्थानोंके उल्लेखोंकी अत्यधिक प्रचुरता है। किन्तु भारतीय धर्मोंके लिए समय कैसा घातक होता जा रहा है कि मुलतान, आदि कतिपय स्थानोंके सिवा सिन्ध (वर्तमान पंजाब, सीमाप्रान्त तथा सिन्ध) में जैनियोंके दर्शन भी दुर्लभ हो गये हैं। और टोरी पार्टीके द्वारा प्रारब्ध भारत-कर्त्तनने तो इन प्रान्तोंसे समस्त भारतीय धर्मोंको ही अर्द्धचन्द्र दे दिया है।
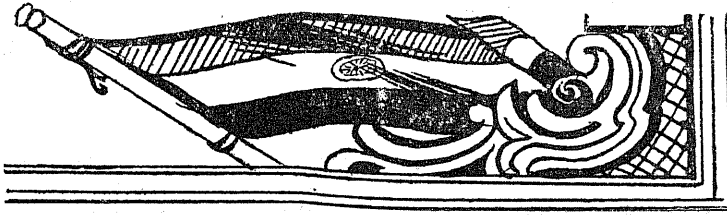
कुण्डलपुर अतिशयक्षेत्र

श्री सत्यप्रकाश

जी० आई० पी० रेलवेकी बीना-कटनी ब्रांच पर दमोह नामका रेल्वे स्टेशन है। दमोहसे लगभग चौबीस मील पर कुण्डलपुर एक छोटा सा गांव है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह स्थान अद्भुत बातोंका केन्द्र है, इसी लिए जैन इसे अतिशयक्षेत्र कहते हैं।

दमोहसे कुण्डलपुरकी यात्रा बैलगाड़ी, टांगा या प्राईवेट कारसे की जाती है। सड़क पक्की नहीं है। यात्रियोंकी सुविधाके लिए राष्ट्रीय सरकारकी सहातायसे दमोहकी जिला कौंसिल पक्की सड़क बनानेका विचार कर रही है। जब उसका यह विचार क्रियात्मक रूप धारण करेगा तो निश्चय ही स्थान बाहिरी दुनियांमें एक महान आकर्षण उत्पन्न करेगा।

प्रकृतिका यह सुरम्य प्रदेश घोड़ेके नालके आकारकी सुन्दर पहाड़ियोंसे घिरा हुआ है और प्रतिवर्ष चौबीसवें तीर्थङ्कर वर्धमान महावीरकी अभ्यर्थना करनेके लिए हजारों जैन यात्रियोंको आकृष्ट करता है। पहाड़ियोंके बीचमें एक सुन्दर तालाब है जिसे 'वर्धमान सागर' कहते हैं। इसके चारों ओर तथा पहाड़ियों पर बने हुए अंठावन जैन मन्दिरोंका व्यूह इन्द्र धनुषके रूपमें इस तालाबमें प्रतिबिम्बित होता है। इन मन्दिरोंका नकशा सुन्दर है और इनकी सजावट बहुमूल्य है। ये मन्दिर केवल अपनी श्रेष्ठता, सुन्दरता और कलापूर्ण निर्माणके लिए ही स्मरणीय नहीं हैं, किन्तु अपने ऐतिहासिक महत्त्वके लिए भी स्मरणीय हैं। वे अपने अन्दर १४०० वर्ष प्राचीन जैन संस्कृति और सभ्यताके इतिहासको सुरक्षित किये हैं।

बड़ेबाबा-(महावीर) मन्दिर--

यहांका मुख्य मन्दिर 'बड़े बाबाका मन्दिर'के नामसे प्रसिद्ध है। यह घोड़ेके नालके आकारकी पहाड़ियोंके बीचमें समुद्रकी सतहसे तीन हजार फीटकी ऊंचाईपर स्थित है। इस मन्दिरमें वर्द्धमान महावीरकी दीर्घकाय मूर्ति स्थापित है, जो सुन्दर पद्मासन आकृतिमें एक पत्थरको काटकर बनायी गयी है। यह मूर्ति बारह फीट ऊंची है और तीन फीट ऊंचे आसनपर स्थित है। शुद्ध कलामयता, सौन्दर्य और आकारकी स्पष्टताकी दृष्टिसे समस्त भारतमें इसकी समकक्ष दूसरी मूर्तियां कम हैं। और जैन कला तथा सभ्यताके

अवशिष्ट बचे बहुमूल्य स्मारकोंमें से है। इस स्थानके प्रशान्त वातावरणसे प्रत्येक व्यक्ति अत्यन्त प्रभावित होता है, यहांपर बैठे हुए भगवान महावीर प्रेम, अहिंसा और सत्यके अविनश्वर सिद्धान्तका उपदेश देते हुएसे प्रतीत होते हैं।

शिलालेख—

यहां ऐसे बहुतसे स्थान हैं जिन्हें यदि खोदा जाय तो महत्त्वके ऐतिहासिक तथ्य प्रकट हो सकते हैं और इस स्थानके प्राचीन इतिहासपर प्रकाश डाल सकते हैं। यहां मरम्मत और नव-निर्माणकी अत्यन्त आवश्यकता है। दो मन्दिर, जो सम्भवतः छठी शतीके हैं, ढहकर ढेर हो गये हैं उनकी मरम्मत होना जरूरी है।

सातवींसे ग्यारहवीं शती तकके बीचमें इस स्थानकी भाग्यरेखाको बतलानेवाला कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। दमोह प्रदेशके रायपुराके निवासी सिंघई मनसुखभाईने वि० सं० ११८३ में महावीरकी उक्त मूर्तिकी प्रतिष्ठा करायी थी। इससे स्पष्ट है कि उस समय तक यह स्थान अच्छी तरह प्रसिद्ध हो चुका था। एक गुमठी (लघु-मन्दिर) में एक शिलालेख सं० १५०१ का तथा दूसरा सं० १५३२ का पाया गया है। यहां १६वीं शतीकी बहुतसी मूर्तियां हैं जो आज भी अच्छी हालतमें हैं। इस तरह ग्यारहवींसे सोलहवीं शतीतक की ऐतिहासिक शृङ्खला अखण्डित रूपमें मिलती है।

ऐतिहासिक तलघरा—

बड़े बाबाके मन्दिरके पीछे एक बरामदा है, जो ऐतिहासिक शृङ्खलाकी अप्राप्य कड़ियोंको जोड़नेमें मदद दे सकता है;किन्तु यह बन्द है। इस मन्दिरके नीचे एक बड़ा अन्धकारपूर्ण भौंयरा (भूमिघर) है। इसका मुंह भी बन्द है। कहा जाता है कि बड़े बाबाकी मूर्तिके जानुओंके बीचमें एक छेद था। यदि इसमें कोई सिक्का डाला जाता था तो वह एक विचित्र शब्द करता हुआ किसी गुप्त स्थानमें चला जाता था। उसमें सिक्का डालना व्यर्थ समझकर प्रबन्धकोंने लगभग पन्द्रह वर्ष पूर्व इस छेदको बन्द करा दिया। किसीने यह खोज करनेका प्रयत्न नहीं किया कि सिक्का कहां चला जाता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि सिक्का अवश्य ही नीचेके भौंयरेमें चला जाता है। यदि उस भौंयरेको खोला जाय तो प्राचीन सिक्कोंका एक ढेर निकल सकता है और तब छठी शतीसे लेकर आजतकका इतिहास खोज निकालना कठिन नहीं होगा।

फतहपुर—

कुण्डलपुरसे लगभग आधे मीलकी दूरी पर फतहपुर नामका एक छोटा सा गांव है। यहां पर 'रुक्मनी मठ' के नामसे प्रसिद्ध जैन मन्दिरके अवशेष पाये जाते हैं। यह मन्दिर छठी शतीमें बनाया

गया था कुण्डलपुरके मन्दिरोंमें छठी शतीकी जो मूर्तियां पायी जाती हैं वे सब इसी मन्दिरसे लायी गयी थी। सड़कके किनारे पीपलके वृक्षकी छायामें एक सुन्दर चबूतरा बना हुआ है। रुक्मणी मठके कुछ अवशेषोंको इस पर सजाया हुआ है।

इतिहासज्ञ आज भी इस दुविधामें हैं कि छठी शताब्दीमें ऐसी कौनसी घटना हुई थी जिसके कारण इस स्थान पर बड़े बाबाकी ऐसी विशाल मूर्तिका निर्माण हुआ। फिर भी यह तो स्मरण रखना ही चाहिये कि उस समय यह स्थान गुप्त शासकोंके राज्यमें था और वे जैनधर्मके अनुयायी थे।

कुछ इतिहासज्ञोंका ऐसा मत है कि यह वही कुण्डलपुर है जहांसे महामुनि श्रीधर स्वामीने निर्वाण प्राप्त किया था, और तभीसे यह स्थान पूज्य माना जाने लगा है। किन्तु जब तक इस विषयका समस्त जैन प्रमाण एक मतसे समर्थन न करें तबतक निश्चितरूपसे कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

बुन्देलेराजा—

यह बात निर्विवाद है कि बुन्देले राजाओंमें यह स्थान अति प्रसिद्ध था और वे इसे पूज्य मानते थे, क्योंकि इन मन्दिरोंके पुनर्निर्माणमें तथा प्रबन्धमें उनकी गहरी दिलचस्पीके प्रमाण मिलते हैं। बड़े बाबाके मन्दिरके प्रवेश द्वार पर लगे संस्कृत शिलालेखसे इस बातका समर्थन होता है। इसके सिवा बहुतसे ऐतिहासिक उल्लेख यह बतलाते हैं कि बुन्देले राजा इस मन्दिरका बड़ा सन्मान करते थे।

एक समय धूप, वर्षा और तूफानके भयंकर थपेड़ोंने इस विशाल कृतिको जमीन्दोज कर दिया था और बड़े बाबाका प्रसिद्ध मन्दिर मलवेका ढेर बन गया था। किन्तु प्रकृतिके इन भयानक तूफानोंके बीचमें भी बड़े बाबाकी विशाल मूर्तिको कोई हानि नहीं पहुंची। धीरे धीरे समय बीतता गया और यह मूर्ति मिट्टी, घास और झाड़ियोंसे ढक गयी। जंगली जानवरोंने इसे अपना आवास बना लिया और एक समय ऐसा आ पहुंचा कि कोई मनुष्य इसके दर्शन करनेका साहस भी नहीं कर सकता था। जो मनुष्य इस बातसे परिचित थे कि यहां एक मन्दिर था, वह इसे 'मन्दिर टीला' कहने लगे। इस तरह इस शान्त एवं प्रसन्न स्थानको भय और विस्मयके पर्दैने आच्छादित कर लिया और वर्षों तक भी यह पर्दा दूर न हो सका। इस तरह लगभग दो सौ वर्ष तक यह प्राचीन मन्दिर पृथ्वीके गर्भमें छिपा रहा।

राजा छत्रसालद्वारा पुनर्निर्माण—

सं० १७५०के लगभग एक आजन्म ब्रह्मचारी जैन साधु नमिसागरने इस मन्दिर-टीलेको देखा। भव्य मूर्तिके दर्शनसे वह इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने दुखी मनुष्य समाजके कल्याणके लिए मंदिरके

जीर्णोद्धारका संकल्प किया। एक सर्वविश्रुत किंवदन्तीके अनुसार उसका स्वप्न पूर्ण होनेका समय तब आया जब औरंगजेबकी सेनाकी पकड़से भागकर वीर बुन्देला छत्रसाल खण्डहरोंमें छिपनेके लिए यहां आया। यहां रहते हुए उसे केवल मानसिक शान्ति ही नहीं मिली, किन्तु उसकी आत्मा एक विलक्षण शक्तिसे भरपूर हो गयी। अतः जब वह वहांसे चला तो उसने यह प्रतिज्ञा की कि यदि मैं मुगल साम्राज्यके चंगुलसे अपनी मातृ-भूमिको स्वतंत्र करनेके अपने प्रयत्नमें सफल हो सका तो मैं इस विशाल मन्दिरका पुनर्निर्माण ही नहीं कराऊंगा; बल्कि इसकी प्राचीन कीर्ति और वैभवको भी पुनः स्थापित करूंगा।

कुछ वर्षोंके बाद मुगल सम्राटको छत्रसालसे पराजित होना पड़ा। छात्रसालने अपने खोये हुऐ प्रदेशोंको पुनः प्राप्त किया। बड़े बाबाकी मूर्तिके सामने उसने जो प्रतिज्ञा की थी उसे वह भूला नहीं। अतः उसने उस पवित्र कर्तव्यको पूरा करनेके लिए राज्यके खजानेको खोल देनेकी आज्ञा दी।

जब महाराज छत्रसाल राजकीय ठाटबाटके साथ मन्दिरको देखनेके लिए पधारे तो एक बार पुनः प्राचीन इतिहासका नवनिर्माण हुआ। मन्दिरका पुनर्निर्माण हो चुकनेपर वि० सं० १७५७ में माघसुदी १५ को सोमवारके दिन महाराज छत्रसालने बड़े बाबाकी विशाल मूर्तिका पूजन किया। और मन्दिरके खर्चके लिए बहुत सा द्रव्य तथा सोने चांदीका सामान दिया। उनका दिया हुआ पीतलका एक बड़ा थाल (कोपर) मन्दिरके भण्डारमें आज भी सुरक्षित है। छत्रसालकी इच्छाके अनुसार ही इस स्थानका नाम बदल कर 'कुण्डलपुर अतिशयक्षेत्र' और तालाबका नाम 'वर्धमान-सागर' रक्खा गया। तबसे इस मन्दिरकी ख्याति दूर दूर तक फैलती ही गयी है।

इस ऐतिहासिक घटनाकी स्मृतिमें प्रति वर्ष माघसुदी एकदशी से पूर्णिमा तक एक बड़ा मेला भरता है और बड़े बाबाका दर्शन करनेके लिए लाखों लोग सविशेष जैनी एकत्र होते हैं।
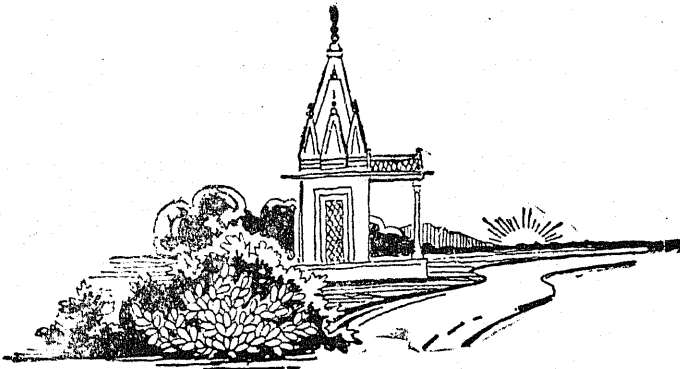
पौराणिक जैन इतिहास

श्री प्रा० डाक्टर हरिसत्य भट्टाचार्य, एम० ए०, पीएच० डी०

शलाका पुरुष——

आगमोंके अनुसार जैनधर्म अनादि है यद्यपि आधुनिक विद्वानोंने भगवान महावीरको जैनधर्मका प्रवर्तक माननेकी भ्रान्ति की है तथापि वे दूरातिदूर अतीत कालसे लेकर समय समय पर हुए जैनधर्मके प्रमुख एवं सर्वज्ञ प्रचारक;इस युगके चौबीस तीर्थंकरोंमेंसे अन्तिम ही थे। जैन पुराणोंमें चौबीस तीर्थंकरोंके अतिरिक्त विविध शलाका (महा) पुरुषोंके चरित्र भी भरे पड़े हैं जिनमें देव-योनिमें उत्पन्न इन्द्रादिका समावेश नहीं किया गया है। सबसे विलक्षण और मौलिक मान्यता तो यह है कि जैनधर्म वैदिक धर्मोंके समान भगवानको जगतके कर्त्ताके रूपमें नहीं स्वीकार करता। जैन भगवान मानव है; हां कुछ अधिक विवेकी एवं विकसित स्थिति में; वह उत्पन्नहोता है, मरता है,अपने पूर्ववर्ती तीर्थंकरोंको अपना आदर्श मानता है और मोक्ष जानेके लिए उसे मानव योनिमें आना अनिवार्य है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जैन भगवान तथा बौद्ध भगवानमें कई दृष्टियोंसे समानता है।

जैन पुराणोंके चौदह कुलकरों (शलाका पुरुषों) तथा वैदिक मान्यताके चौदह मनुओंमें भी बहुत कुछ समता है। क्योंकि ये कुलकर अपने समयके प्रजा वत्सल विशिष्ट पुरुष थे।

जैन कल्प——

काल अनन्त है तथापि मानव इतिहासकी दृष्टिसे उसमें करोड़ों वर्षोंके समय विभागों (कल्पों) की कल्पना की है। प्रत्येक कल्पमें उत्सर्पिणी (वर्द्धमान चारित्र) तथा अवसर्पिणी (हीयमान चरित्र सुख) अर्ध-चक्र होते हैं। वर्तमानमें अवसर्पिणी चल रहा है! इनमें प्रत्येकके १—सुषमा-सुषमा (सर्वथा सुख चारित्रमय), २—सुषमा, ३—सुषमा-दुषमा (सुख दुख मिश्रित), ४—दुषमा-सुषमा, ५ दुषमा (वर्तमान) तथा ६—दुषमा-दुषमा भेद होते हैं। वैशिष्ट्य इतना है कि अवसर्पिणीका षष्ठ (दुषमा-दुषमा) युग उत्सर्पिणीका प्रथम युग होता है।

भोगभूमि तथा कुलकर——

अवसर्पिणीके प्रारम्भमें भोगभूमि रहती है अर्थात् मनुष्य विना श्रमके भवन, वस्त्र, भोजन,

भाजन, आदि जीवनपयोगी वस्तुएं कल्पवृक्षोंसे यथेच्छ मात्रामें प्राप्त करते हैं। तृतीयकाल सुषमा-दुषमाके अन्तमें कल्पवृक्षोंकी वदान्यता घटती है, आकाशमें सूर्य चन्द्र दिखते हैं, क्योंकि कल्पवृक्षोंका उद्योत कम हो जानेके कारण सूर्य-चन्द्रके प्रकाश दिखने लगते हैं। इन दोनों प्रकाश पुञ्जोंको देखते ही उस युगके लोग सहज ही भीत हो जाते हैं। तब एक 'प्रतिश्रुत' महापुरुष भीत लोगोंको उक्त ज्योतिष्क देवोंका रहस्य समझाते हैं। फलतः जनका भय विलुप्त हो जाता है और इस प्रकार प्रतिश्रुत प्रथम कुलकर होते हैं। कल्पवृक्षोंका तेज क्षीयमाण था अतः आकाशमें तारे भी दिखने लगे तब द्वितीय कुलकर सम्मतिने समस्त ज्योतिष्कोंके विषयमें आश्चर्य-चकित जनको समझाया। यही सम्मति ज्योतिष विज्ञानके प्रतिष्ठापक थे। तृतीय कुलकर क्षेमंकरने उस समयके जनको पशुओं तथा हिंस्र जन्तुओंसे दूर रहने तथा उनका विश्वास न करनेका उपदेश दिया। कल्पवृक्षोंके क्रमिक विलयके कारण पशुओं तथा जन्तुओंकी घातक वृत्ति अधिकतर स्पष्ट होती जाती थी। आपाततः इनसे अपनी रक्षा करनेके लिए चतुर्थ कुलकर क्षेमंधरको लाठी, आदि अस्त्र धारण करनेकी सम्मति देनी पड़ी। कल्पवृक्षोंकी दातृ शक्ति वेगसे घट रही थी फलतः जीवनो-पयोगी वस्तुओंको प्राप्त करनेके लिए लोगोंमें कलह होने लगी अतः पञ्चम कुलकर सीमंकरने कल्पवृक्षोंकी व्यक्तियोंकी अपेक्षा सीमा निश्चित कर दी। अब कल्पवृक्षोंकी शक्ति नष्टप्राय थी अतः षष्ठ कु० सीमंधरने वृक्षोंकी सीमा सुनिश्चित कर दी ताकि जीवनोपयोगी वस्तुओंके लिए पारस्परिक कलह न हो। सप्तम कु० विमलभानुने जनको हाथी, घोड़ा, ऊंट, आदि पालकर अपने काममें लानेकी शिक्षा दी। भोगभूमिके नियमानुसार अबतक सन्तान उत्पन्न होते ही पितर मर जाते थे किन्तु अष्टम कु० चक्षुष्मान्‌के समयसे वे सन्तानोत्पत्तिके बाद कुछ समय तक जीवित रहने लगे। इससे लोग घबड़ाये फलतः कुलकरने सन्तान रहस्य समझाया। नवम कु० यशस्वानने सन्तानको आशिष देना, दशम कु० अभिचन्द्रने शिशुपालन तथा ग्यारहवें कु० चन्द्राभने शिशुपालन विधिका पूर्ण विकास किया। नदी, समुद्र, आदि पार करनेके लिए नौका तथा ऊंचे पर्वतादि पर चढ़नेके लिए सीढ़ियां बनानेकी शिक्षा मरुदेव बारहवें कु० ने दी थी। तेरहवें कु० प्रसेनजितने विवाह प्रथाका सूत्रपात किया तथा अन्तिम कु० नाभिरायके समयमें कल्पवृक्ष सर्वथा लुप्त हो गये। भोगभूमि कर्मभूमि हो गयी थी। जीवनकी आवश्यकता पूर्तिको लेकर भीषण समस्याएं खड़ी हो गयी थीं लोग श्रम करना नहीं जानते थे फलतः नाभिरायने उन्हें धान, आदिका उपयोग बताया और अन्य कामोंकी शिक्षा दी। यह भी बताया कि सद्यःजात शिशुओंका नाभ कैसे काटना। वस्तुओंके गुण दोष बताये। मिट्टीके बर्तन बनाकर उन्हें पकाना सिखाया। इनकी धर्मपत्नी मरुदेवी थीं जिनके गर्भसे ऋषभदेव उत्पन्न हुए थे।

दार्शनिक विवेचन—

क्या कुलकरोंके उक्त वर्णनसे कुछ सैद्धान्तिक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं? सर्वप्रथम सामाजिक परिणाम तो यह हो सकता है कि जैन शास्त्र आधुनिक चिन्ता-कष्ट बहुल संसारके पहिले मौलिक सुखमय

युगकी कल्पना करता है। इस वर्णनको देखते ही वैदिक कृतयुगका स्मरण हो आता है जिसमें न्यूनाधिक रूपमें ऐसा ही सुखैकान्त था। यहूदी शास्त्रोंके 'इडन उद्यान' का जीवन भी कुछ ऐसा ही शुद्ध भोगमय जीवन बिताना था, जब कि यहूदी मान्यतामें केवल एक युगलाका ही वैसा सुखमय जीवन था। तथा यही युगल सृष्टिके आदि पितर थे। इतना स्पष्ट है कि दुःखमय वर्तमान युगसे बहुत पहिले शुद्ध सुखमय युगकी कल्पना सर्व सम्मत है।

पाश्चात्य विद्वानोंका मत है कि 'ईडन उद्यान' का जीवन एकान्त पूर्ण अज्ञानावस्थाका परिचायक है, अर्थात् उस समय विवेक, विचार तथा समन्वयकी योग्यताका सर्वथा अभाव था। सामाजिक दृष्टिसे मानवकी यह वह अवस्था थी जब इसे पशु समुदायसे अलग करना कठिन था तथा मस्तिष्क सद्यःप्रसूत शिशुके समान था। निषिद्ध ज्ञान-फलका आस्वादन विवेक अथवा पुरुषत्वकी जाग्रतिका रूपक है तथा वहीं वर्णित मानव अधःपातकी युक्तियुक्तता सिद्ध करनेके लिए "जहां अज्ञान ही सुख है वहां विवेकी होना पाप है।" कहावतकी शरण लेने को चरितार्थ करना हो जाता है।

इस प्रकारसे भोगभूमिकी व्याख्या नहीं की जा सकती क्योंकि जहां यहूदी वृक्षका फल चखते ही सुखमय संसारसे पतन हो गया वहीं कल्पवृक्ष जैनभोगभूमिके मूलाधार हैं। तब कल्पवृक्षके रहस्यकी क्या व्याख्या की जाय? 'मानवकी कल्पनानुसार वस्तु दाता' शाब्दिक अर्थ है। जैन मान्यतामें ऐसे वृक्ष भोगभूमिमें होते हैं। वैदिक धर्मानुसार सत्कर्म करके स्वर्गमें उत्पन्न होने वाले लोगोंकी समस्त इच्छाएं ये वृक्ष पूर्ण करते है, अस्तु कल्पवृक्ष पूर्वकृत सुकर्मोंके फलस्वरूप यथेच्छ सुखभोग देते हैं। मण्डूकोपनिषद्के "दो सवर्ण घनिष्ट मित्र पक्षी एक ही वृक्ष पर बड़े होते हैं उसमेंसे एक मधुर फल खाता है दूसरा उन फलोंको केवल देखता है" इस कथनमें मधुर फलों तथा भोक्तासे क्रमशः सत्कर्म तथा आत्मा इष्ट हैं। फलतः कल्पवृक्षके उत्तम फलोंसे भी जीवके सत्कर्मोंके परिणाम ही अभीष्ट हो सकते हैं। इसी प्रकार उनके लयसे पुण्य समाप्ति तथा पुनः श्रम-शान्तिमय जीवनका संकेत है। गीताके "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" से भी यही संकेत है। जैन भोगभूमि कल्पनाका भी इतना ही सार है कि पुण्यकर्मोंके फल सुखमय जीवन वितानेके बाद श्रम-चिन्तामय जीवनका प्रारम्भ होता है।

ज्ञानसाधनका फल भोगभूमि—

स्पष्ट है कि जैन भोगभूमि विवेक तथा साधनाका फल है, जब कि यहूदी सुखमय जीवन अज्ञान जन्य था। यहूदी शास्त्रानुसार ज्ञान पतनका कारण था। तब 'क्या मूर्खता सुख है तथा विवेकी होना लण्ठता है?' यह शंका सर्वथा उचित प्रतीत होती है। भारतीय दृष्टि यहां भी स्पष्ट है विवेक तथा संयम द्वारा सत्कर्म बंधते हैं जिनका फल सुखभोग होता है तथा इनकी समाप्ति पर जीव सुखमय जीवनसे भ्रष्ट हो कर श्रममय जीवन प्रारम्भ करता है। फलतः कर्म-नियम तथा इसीका अंग पुनर्जन्म नियम भारतीय भोगभूमिका व्यवस्थापक है।। यह विवेचन यहूदी 'सुखमय जीवन' की निम्न नैतिक

व्याख्या करनेको प्रलुब्ध करता है—सुखमय जीवनसे आत्माकी शुद्धावस्थाका संकेत है, जब आत्मा ही सब कुछ अथवा समस्त पदार्थ आत्मास्वरूप होते हैं। फिर रागद्वेष रूपी कुफलका आत्मा आस्वादन करता है और जन्म, जरा, मृत्युमय संसारमें आ पड़ता है। आत्म-आनन्द समाप्त हो जाता है। यही शुद्धात्मा रूपी कल्पवृक्षका विलय अथवा ईडन-उद्यानसे पतन है। फिर ईश्वरके अभिशापको लिये जीवका अनन्त संसार प्रारम्भ हो जाता है,[1] क्या यह मनुष्यका महा पतन नहीं है ?

कुलकर तथा मानवसमाजका विकास—

दूसरी महत्त्वकी बात यह है कि कुलकरवृत्तमें हम मानव समाजके क्रम विकासको स्पष्ट देखते हैं। प्रत्येक प्राचीन राष्ट्रके प्रारम्भिक कालमें हम आदर्श युगकी कथा तो पाते हैं, साधारण स्थितिसे समाजके क्रमिक विकासका इतिवृत्त नहीं मिलता। किन्तु जैन साहित्यमें व्यक्तियोंके चरित्रके समान ही समाज-पुरुषका प्रारम्भसे वर्णन मिलता है जिसमें समाजके जीवन संग्राम तथा परिस्थितियोंके अनुकूल बननेका इतिहास निहित है। आधुनिक विचारक कौमटीका भी मत है कि 'मनुष्यके शारीरिक एवं मानसिक अध्ययनके पहिले मानव समाजका अध्ययन होना ही चाहिये। आधुनिक विद्वान मानते हैं कि प्राणि-विज्ञानकी प्रणालीसे मानवसमाजके विकासका अध्ययन करके कौमटीने बड़ा उपकार किया है, तथापि उत्तरकालीन विकासवादी विद्वानोंका मत उनके उक्त विचारके विपरीत है। अर्थात् व्यक्तिकी उन्नति विकासमान सामाजिक प्रगतिकी किसी सीमा तक सहचारिणी है। समाजके विकासका मानव-विकासके समान होना अनिवार्य नहीं है। उत्तरोत्तर अधिक तृप्ति करने वाले कार्योंने मनुष्यका विकास किया है। किन्तु सामाजिक गठनकी आधारशिला तो वह क्षमता है जो प्रकृतिकी गम्भीरतम परिस्थितियों में भी मनुष्यको निर्वाचन और अनुगमन द्वारा बनाये रखती है; 'अधिकतम तृप्ति' नहीं। जैन कुलकरोंका वर्णन उक्त सामाजिक विकासका सजीव चित्र है। पहलेसे चले आये सुखसम्पत्तिकी अभिवृद्धि जैन कर्मभूमि (आधुनिक युग) का स्वरूप नहीं है अपितु कल्पवृक्षोंके लयके कारण आकुल तथा त्रस्त लोगोंके आतंक एवं अनिष्टकी आशंकाओंको शान्त करते हुए वर्तमान मानव समाज को आगे बढ़ाना है। कर्मभूमिके आदिमें सबसे पहिले ज्योतिष्क देव दिखते हैं। अर्थात् प्रारम्भ ज्योतिष-विज्ञानसे होता है। इसके बाद मनुष्य अपने तथा पशुओंमें भेद करता है, इससे आत्मरक्षाके लिए समस्त साधन जुटाता है। अपने हिंस्र साथियोंसे निपट लेनेके बाद मानव जीवनोपयोगी सामग्रीके जुटानेमें लग जाता है और इस प्रकार अपने वर्गके योग-क्षेमकी व्यवस्था करता है। इस प्रकार घरू व्यवस्थाके पश्चात् वह पशुओंको अपने कार्यमें साधक बनाता है तथा पहलेके इन शत्रुओंको सेवक बना लेता है। इसके उपरान्त वह अपने वर्गके शरीरकी चिन्ता करता है; जन्मसे ही बालककी पूरी परिचर्या प्रारम्भ होती है फलस्वरूप मनुष्य

१—यद्यपि जैन मान्यतानुसार न मुक्तका पुनः संसार प्रवेश संभव है और न ईश्वरके अभिशापसे पतन अथवा वरदान द्वारा अभ्युत्थान ही हो सकता है।

पूर्ण स्वस्थ, सुन्दर और बलिष्ट होता है। फिर क्या है समुद्र पार करना, पहाड़ पर चढ़ना, आदि साहसिक कार्य प्रारम्भ हो जाते हैं। साहसका उदय सामाजिक स्थितिको जटिल बनाता है, व्यवस्था एवं शान्तिके नियम अनिवार्य होते हैं। विवाह-प्रथा प्रारम्भ होती है। पशुपालन अथवा भ्रमणका स्थान कृषि एवं वाणिज्य ले लेते है फलतः घर भोजन-भाजन पूर्ण हो जाते हैं।

जैन शास्त्रोंके अनुसार आधुनिक प्राग्-इतिहास युगके बहुत पहिले उक्त प्रकारसे मानव समाजका विकास हुआ था। उस समय शासन अथवा वर्ग-तंत्र भी न था। यद्यपि उक्त समस्त वर्णन को सरलतासे वस्तुस्थिति नहीं कहा जा सकता तथापि इतना निश्चित है कि सूर्य चन्द्रादि दर्शनसे युगारम्भ हुआ तथा भारतीय, बेबलोनियन, मिश्री, ग्रीक, चाइनी, आदि विद्वानोंने इस विज्ञानको आगे बढ़ाया। फलतः जैन पुराण 'ज्योतिष प्राचीनतम विज्ञान है[1]' कथनकी पुष्टि करता है। 'यह संसार पानी और आगसे अवश्य नष्ट होगा यह जानकार ही प्राक्-प्रलयकालिक यहूदी 'अदम' आदि ऋषियोंने ईंट तथा संगमरमरके स्तम्भ बनवाये थे। तथा उनपर ज्योतिषके मूल तत्त्व उत्कीर्ण किये थे' कथा भी उक्त मान्यताकी पोषक है।

मानवका विकास ?—

यदि भोगभूमिसे कर्मभूमिका सिद्धान्त सत्य है तो कहना होगा कि मनुष्य प्रारम्भमें जंगली जन्तुओंके साथ रहता था। यह तथ्य मानव और पशुके बीचमें दृष्ट वर्तमान महान अन्तरके कारण भी उपेक्षित नहीं हो सकता। अर्वाचीन पर्यवेक्षकोंकाभी मत है कि आज भी सांस्कृतिक प्रथम श्रेणीमें पड़े लोगों और पशुओंमें अत्यधिक समता होती है। उनमें वैसा अन्तर नहीं होता जैसा पूज्य गांधीजी और व्याघ्रमें होता है। यह अन्तर महान विकासका फल है। डाक्टर पिकार्डका "अनन्त संसारका रचयिता जगन्नियन्ता भी उन्हीं द्रव्योंसे बना है जिनसे वह पशु बना है जिसे पालतू बनाकर वह अपने काम लाता है अथवा मारकर भाग जाता है।" कथन भी उक्त समताका समर्थक है। श्री सी० व्राईटका "आत्मबोधकी जाग्रति" शीर्षक निबन्ध स्पष्ट बताता है कि मानवकी उच्चतम बौद्धिक वृत्तियोंका प्रारम्भ उस साधारण बुद्धिसे हुआ है जो निम्नतम पशु तथा साधारण व्यक्तिमें समान रूपसे पायी जाती है। मनुष्यने दर्शन तथा अभ्यास द्वारा अपना ज्ञान बढ़ाया और संभवतः इसी कारण पशुसे वह विलक्षण हो गया। पहिलेके साथी अब एक साथ न रह सकते थे। ज्ञान वृद्धिके साथ, साथ मनुष्यकी वृत्ति कोमल हो गयी थी फलतः वह हिंस्र पशुसे दूर रहने लगा, आत्मरक्षाके लिए अस्त्र बनाये, पशुओंको पराजित किया और पालतू बना लिया। यह वर्णन अक्षरशः सत्य न भी हो किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि सुदूर प्राग्-ऐतिहासिक कालमें मानव समाजके विकासका क्रम ऐसा ही रहा हो गा।

१—इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका भा० २ पृ० ७४४ (९ म संस्करण)।

यह भी स्वाभाविक है कि मानवके उत्तरोत्तर विकासकी गति बढ़ने पर सबसे पहिले उसे जीवनोपयोगी वस्तुओं और विशेषकर भोज्य पदार्थोंके प्रभाव क्षेत्रोंकी सीमा निर्धारित करनी पड़ी हो गी। क्षेत्र विभाजनने वर्ग तथा कुलोंकी सृष्टि की हो गी। जनबल ही समाज या कुलकी शक्ति होती है अतः संस्कृत न होने पर भी मानवने शिशुपालनकी चिन्ता की हो गी। बर्द्धमान जनबलने मानवको साहसिक बनाकर समुद्रके उस पार तथा पर्वतशिखरपर पहुंचा दिया। जीवन जटिल हुआ, सामाजिक व्यवस्थाएं बनीं, विवाह आया, कृषि तथा शिल्पोंका आविर्भाव हुआ। तथा इसके साथ ही प्रारम्भिक समाजका अन्त तथा संस्कृत समाज (कर्मभूमि) का उदय हुआ।

आधुनिक अनुमान--

आदिम समाजके संस्कृत होनेकी प्रक्रियाकी अनेक श्रेणियां आधुनिक अन्वेषकोंने निश्चित की हैं। इन्हें श्री निलससन तथा थोमसनने पाषाण, तांबा तथा लौह-युग नाम दिये हैं। यह वर्गीकरण एशिया तथा यूरपके विकासक्रममें तो ठीक बैठता है किन्तु पोलीनेशिया, मध्य-दक्षिण अफ्रिका, पेरू तथा मैक्सिकोके अतिरिक्त अमरीकाके लिए उपयुक्त नहीं है। इन देशोंमें पाषाणसे लौह-युग आया है, ताम्रयुग नहीं हुआ है। अतः यह वर्गीकरण सार्वभौम नहीं है।

असंस्कृत (आष्ट्रेलिया तथा ब्राजीलके आदिम निवासी), वन्य (रोमन साहित्यमें वर्णित जर्मनिक लोग) तथा संस्कृत (ईसासे पूर्वके ग्रीक तथा रोमन लोग) के भेदसे किया गया वर्गीकरण अधिक संगत है। इसमें वृद्धिकी धारा भी स्वाभाविक है क्यों कि मूल मूढ़ मानवसे पुरुष शिकारी तथा फलफूल संचयकर्ता होता है, इसके बाद निश्चित कृषक बन जाता है।

जैन वर्गीकरण सबसे आगे--

किन्तु यह सब अनुमान मानवके इतिहासको वर्ग-युग तक ही ले जाते हैं। उससे आगे नहीं सोच सकते। किन्तु जैन मान्यता मानवताके इतिहासको दूरातिदूर उस प्रारम्भिक युगमें ले जाती है जिसकी कल्पना करना भी कठिन है। संभवतः यह उस युगसे प्रारम्भ करती है जब मानव पशु समूहके साथ रहता था अतः समाज विज्ञानके पंडितोंका कर्त्तव्य हो जाता है कि वे इस वर्णनको व्यर्थ और काल्पनिक कहनेके पहले इसका उचित तथा पूर्ण विचार करें।

तीर्थङ्कर--

अन्तिम कुलकर श्री नाभिरायको अपनी रानी मरूदेवीसे श्रीऋषभदेव नामका पुत्र हुआ था। वास्तवमें यही पुत्र इस कर्मभूमिका आदि व्यवस्थापक था। फलतः इनका पुरुदेव, आदिनाथ, आदीश्वर, आदि नामों द्वारा पुराणोंने उल्लेख किया है। यह इतने महान एवं साधु शासक थे कि

वैदिक धर्मग्रंथोंने भी इनको अवतार रूपसे पूज्य पुरुष माना है। घोरातिघोर तप करके इन्होंने कैवल्य प्राप्ति की थी तथा सर्वज्ञ होकर जैन धर्मका उपदेश दिया था।

श्री ऋषभदेवके कार्य--

मुनि दीक्षा ग्रहण करनेके पहिले उन्होंने अपने आचरण तथा शिक्षा द्वारा देश विश्वको व्याकरण, तर्क, छन्द, गणित, साहित्य, संगीत, नृत्य चित्रण, निर्माण, वास्तु, औषधि, प्राणिशास्त्र, आदिका प्रामाणिक उपदेश दिया था। कृषि तथा वाणिज्य उन्होंने सिखाया, भूमिको देश, जनपद, आदि विभागोंमें विभक्त किया, नगर तथा पुरोंको बसाया, समस्त ललित कलाओंका उपदेश दिया। ईखका रस निकालना सिखानेके कारण ये 'इक्ष्वाकु' कहलाये। मानव समाजको इन्होंने कर्मानुसार क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन तीन वर्णोंमें विभक्त किया था। इनके पुत्र भरत चक्रवर्तीने अनिच्छापूर्वक ब्राह्मण वर्णकी आगे चलकर व्यवस्था की थी।

जैन मान्यतानुसार ऋषभदेव अरबों (८२ हजार वर्ष कम लगभग एक सागर) वर्ष पहिले हुये थे। ऐतिहासिक विद्वान् इनके समय तथा ऐतिहासिकताका निर्णय करनेके लिए प्रयत्नशील हैं। इतना निश्चित है कि ऋषभदेवकी पूज्यता अति प्राचीन है बौद्ध ग्रन्थों[१]ने भी उनका इस रूपसे उल्लेख किया है। फलतः इसका विगत बार विचार करना यहां शक्य नहीं है।

शेष तेईस तीर्थङ्कर--

भगवान् ऋषभदेवके बाद सर्वश्री अजित, शंभव, अभिनन्दन, सुमति, पद्म, सुपार्श्व, चन्द्र, पुष्पदन्त, शीतल, श्रेयान्स, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुन्थ, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व तथा वर्द्धमान ये तेईस तीर्थंकर और हुए हैं। जिन्होंने समय समय पर जैनधर्मरूपी मसालको उठाकर जगको आलोकित किया है। इनके जीवन चरित्र समान हैं। सबही अनेक पूर्व जन्मोंमें साधना द्वारा आत्मविकास करते हैं अन्तमें उत्तम स्वर्गका जीवन व्यतीत करके तीर्थङ्कर रूपसे गर्भमें आते हैं। इन्द्रादि देव उनके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान तथा मोक्ष कल्याणोंको मनाते हैं। वे अपने अन्तिम भवमें तीनों ज्ञानोंके साथ उच्चकुलमें उत्पन्न होते हैं, निरपवाद सदाचारी, दयालु तथा विचारक होते हैं। विशेष वय आते ही संसारसे विरक्त हो कर तप करते हैं, केवली होकर संसार दावानलमें पड़ी मानवताको कर्त्तव्य तथा नैतिकताका उपदेश देते हैं। तथा अन्तमें विनश्वर शरीरको त्यागकर सिद्धशिला पर चले जाते हैं जहां पर अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख एवं वीर्य हैं।

अरिष्टनेमि—

यादवकुमार नेमिनाथका जीवन करुणरससे आप्लावित है, इसी कारण उसने अधिकतम

१—न्याय बिन्दु, आदि ग्रन्थ।

लोगोंको आकृष्ट किया है। महाभारतके सूत्रधार महान राजनीतिज्ञ श्री कृष्ण इनके ककेरे भाई थे। फलतः आत्मवत् सर्वगुण सम्पन्न भाईकी ओरसे इनका आशंकित हो उठना सर्वथा स्वाभाविक था। दोनों भाईयोंमें द्वन्द्वका अवसर आया पर अहिंसक नेमि किसी सशस्त्र प्रतियोगिताके लिए तैयार न हुए। भार-उठानेकी प्रतियोगिता हुई जिसमें दर्शक जनताने नेमिनाथको विजयी घोषित किया। बलभद्रने कृष्णजी को समझाया अतएव कृष्णजी भी होनहार ऋषि छोटेभाईका आदर करने लगे। श्रीकृष्णजी तथा रुक्मिणीके आग्रह पर नेमिनाथ राजपुत्री राजीमतीके साथ विवाह करनेको सम्मत हुए। बारात जिस समय कन्याके पिताके द्वार पर जा रही थी, नेमिनाथने घिरे हुए पशुओंकी दीन ध्वनि सुनी। कारण पूछने पर जाना कि विवाहमें आये विविध राजाओंके भोजनके लिए कन्याके पिताने उन निरपराध पशुओंको बांध रखा है। उनका हृदय भय तथा उदासीसे व्याप्त हो गया, पशुओंको तुरन्त मुक्त करवा दिया। 'और विवाह ? जिसका प्रारम्भ ही इतना घातक है उसका परिणाम ?' कल्पना करते ही अपने आप सब वस्त्राभूषण उतार कर फेंक दिये, ऊर्जयन्त (गिरनार) पर चढ़ गये और तपलीन हो गये। कुमारी राजी-मतीने यह सब सुना "मनसे मैं उनकी ही धर्मपत्नी हूं" कहकर उनके ही पीछे पीछे गिरनार पर चली गयीं। राजुलके वियोग, विलाप, आदिका चित्रण इतना कारुणिक है कि पत्थरको भी आंसू आ जाते हैं। तथा उनकी दृढ़ता तथा साधना ऐसी थी कि सचमुच ही 'नीलकमलकी पंखुड़ीने विजलीको काट दिया' था। नेमिनाथ सर्वज्ञ हो जानेपर जब धर्मोपदेश दे रहे थे तब यादवोंके विषयमें प्रश्न किये जाने पर उन्होंने यादवकुलका नाश, द्वारका जलना और अपने कुटुम्बी द्वारा श्रीकृष्णजीको मृत्युकी भविष्यवाणी की थी जो कि अक्षरशः सत्य हुई थी।

श्री नेमिनाथ कृष्णजीके भाई थे। कृष्णजीके समयके विषयमें विविध मान्यताएं हैं, सबसे अधिक प्रचलित मान्यता यही है कि कृष्णजी ३०००–१४०० ई० पूर्वके लगभग हुए हों गे। इसी आधार पर नेमिनाथका समय निर्णय करना अनुचित न हो गा। तथापि जैन मान्यताके अनुसार नेमिके ८५००० वर्ष बाद पार्श्वनाथ हुए हैं। यतः भारतीय कालक्रमका अन्तिम निर्णय नहीं हुआ है अतएव जैन काल गणनासे लाभ उठाया ही जा सकता है।

श्री पार्श्वनाथ--

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ अधिक ख्यात हैं जैसा कि कलकत्ता, आदि नगरोंमें प्रतिवर्ष निकलने वाले विशाल रथोत्सवों, सर्वत्र प्राप्त मूर्तियों, आदिसे सुस्पष्ट है। जैन पुराणोंके अनुसार ये भ० महावीरसे २४६ वर्ष पूर्व मुक्तिको गये हैं। जैन मान्यतानुसार ही वे पूरे १०० वर्ष जीवित थे अर्थात् वे ८७२ ई० पू० में उत्पन्न हुए ८४३ में ३० वर्षकी अवस्था होनेपर दीक्षा ली और ७७२ ई० पूर्वमें सम्मेद शिखर अथवा 'पार्श्वनाथ पर्वत' से मुक्ति पधारे। यह स्थान पू० भा०रे० के प्रधान शाखा (ई० ई० रे० ग्राण्ड कोर्ड) मार्गपर स्थित है। यहां प्रतिवर्ष हजारों जैनी ही नहीं अपितु विचारक एवं शान्त पुरुष भी जाते हैं।

श्री महावीर—

अन्तिम अर्हंत तीर्थस्वामी महावीरकी ऐतिहासिकताके विषयमें अब शंका नहीं की जाती है। उनके जीवनसे सम्बद्ध अधिकांश स्थानोंका भी निश्चय हो गया है। बौद्ध साहित्यमें उनके उल्लेख भरे पड़े हैं। इनके पिता यद्यपि सम्राट नहीं थे तथापि वैशालीके निकटस्थ कुण्डनपुर जनतंत्रके प्रधान थे। विदेहके जनतंत्रके प्रधान राजा चेटक उनकी माता त्रिशलाके पिता थे। इनकी मौसी चेलना सम्राट बिम्बसार (मगध) की रानी थी। दूसरी मौसी कोशलाधिप प्रसेनजितसे ब्याही थी। अतः भगवान महावीर उस समयके प्रधान राजवंशोंके निकटतम सम्बन्धी थे। जैन वर्षका आरम्भ कार्त्तिक शुक्ला प्रतिपदाके उषाकालसे होता है। हरिवंश (जैन) पुराण तथा अन्य साक्षियोंके बलपर स्पष्ट है कि दीपावलिका प्रारम्भ भगवान वीरके निर्वाणसे हुआ है। गुजरात, आदि कितने ही भारतके प्रान्तोंमें नूतन वर्षका प्रारम्भ कार्त्तिक शुक्ला प्रतिपदासे होता है। यह जैनधर्मके प्रसार एवं प्रभावके द्योतक हैं। नेमिचन्द सिद्धान्त चक्रवर्तीके 'त्रिलोकसार'के अनुसार वीर-निर्वाणके ६०५ वर्ष बाद शक राजाने शासन किया। अब शक सं० १८७० है अर्थात् भ० वीरने १८७०+६०५=२४७५ वर्ष पूर्व निर्वाण प्राप्त किया अथवा वे २४७५–१९४८–५२७ ई० पूर्व मोक्ष गये थे। 'आर्यविद्या सुधाकर'के मतसे वीर प्रभु वि० सं० से ४७७ वर्ष पूर्व मुक्त हुए। अब वि० सं० २००५ है अतः वीर निर्वाणका वर्ष २००५+४७०=२५७५–१९४८= ५२७ ई० पू० ही होगा। दिगम्बर सरस्वती गच्छकी पट्टावलियोंसे भी इसकी पुष्टि होती है। यतः वर्द्धमान प्रभु ७२ वर्ष जीवित रहे अतः वे ५९९ ई० पू० में उत्पन्न हुए, ५६९ ई० पू० में दीक्षा ली, ५५७ ई० पू० में सर्वज्ञ हुए और ५२७ ई० पू० में मुक्त हुए।

जैनदर्शन तथा तीर्थंकर—

तीर्थंकरोंके जीवनके अनुसंगसे जैनदर्शनका रुचिकर अध्ययन हो सकता है। प्रत्येक तीर्थंकर साधारण जीवसे उन्नति करते करते पूर्ण पुरुष (केवली) बनता है। जैनधर्ममें उसका वही स्थान है जो अन्य धर्मोंमें ईश्वरका है। किन्तु वह जगत्कर्त्ता नहीं है केवल आदर्श है। जगत्कर्तृत्वका निषेध यदि नास्तिकता है तो जैनधर्म अवश्य नास्तिक कहा जा सकता है, किन्तु पुनर्जन्म, कर्म तथा लोकान्तरको माननेके कारण न वह (जैनधर्म) नास्तिक है और न शून्यवादी अथवा भोगवादी ही है। ईश्वरके जगत्कर्तृत्वका उसमें किया गया खण्डन[1] अत्यन्त वैज्ञानिक है। यह कठोर आचरणके भामण्डलसे दैदीप्यमान विधायक भारतीय मानवता-वाद है। भारतके समस्त दर्शन आत्म साक्षात्कारकी उत्कट अभिलाषाके

१—नव्य न्याय और वैशेषिकको छोड़कर समस्त भारतीय दर्शनोंने भी ईश्वरके कर्तृत्वका निषेध किया है। ये दोनों भी उसे केवल निर्माता मानते हैं। प्राचीन न्यायने कर्म और फलमें सम्बन्ध बनाये रखनेके लिए उसे माना है, प्राण अथवा पञ्च भूतोंका कर्ता नहीं। इसके अतिरिक्त शेष वैदिक दर्शनों तथा बौद्ध दर्शनने भी ईश्वरका स्पष्ट निषेध किया है।

प्रतिफल हैं तथापि मानवताकी स्पष्ट छाया जितनी जैनधर्ममें है उतनी अन्यत्र सुलभ नहीं। यह सत्य है कि वैदिक धर्ममें भी राम, कृष्ण, आदि विशिष्ट मानव पूज्य हैं, तथापि इन धर्मोमें दैवी पूज्य पुरुषोंकी भी कमी नहीं है। इतना ही नहीं राम, कृष्ण, आदि भी परमात्माके अवतार होनेके ही कारण पूज्य हैं। बौद्धधर्म भी यद्यपि जगत्कर्ता नहीं मानता और मनुष्य-बुद्धकी ही पूजा करता है तथापि बौद्धोंका विश्वास था कि निर्वाण प्राप्त बुद्ध अथवा बोधिसत्त्व भक्तोंकी निर्वाण यात्रामें अथवा तदर्थ साधनामें सहायक होते हैं। ऐसी मान्यताको विशुद्ध 'दृष्टवाद' नहीं कहा जा सकता। निर्दोष एवं सबल दृष्ट (कर्म) वाद किसी भी रहस्यमय अदृष्ट कारणको नहीं मानता। शतियों पहिले हुए व्यक्तिको अपने अनुयायियोंके आत्मिक विकासमें सहायक मानना जैन साधक स्वमेव जैनधर्म-विद्रोह है क्योंकि यह स्वभाव (प्रकृति) विरुद्ध है। विवेकी साधक स्वयमेव जैनधर्मकी अशरण-अनुप्रेक्षा पर आकृष्ट हो जाता है और आत्मसिद्धिके मार्ग पर बढ़ता जाता है। "हे आत्मन ! संसारमें तुम दुःख परम्परा हो, कोई तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकता, सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके तुम ही अपनी रक्षा कर सकते हो, सन्मार्गपर आते ही पाप-शोक स्वयं नष्ट हो जायगे" आ०सोमदेवकी यह मानसी वृत्ति शुद्ध साधक (जैनी) की हो जाती है। वह तीर्थङ्करकी भी दया या कृपा स्वीकार नहीं कर सकता। यही शुद्ध जैनदृष्टि है।

जैनपूजाका आदर्श—

तब तीर्थंकर आदर्श क्यों ? और उनकी मूर्तिकी पूजा आत्मसिद्धिमें साधक क्यों ? क्यों कि तीर्थंकर संसारसे परे हैं, न वे किसीके भलेमें और न बुरेमें तब उनकी पूजासे प्रयोजन ? सत्य है,साधक-बाधक, रूपसे उनकी पूजा नहीं है। जैनमूर्ति पूजाका उद्देश्य तो मानवके चर्म तथा ज्ञान-नेत्रोंके सामने सांसारिक त्यागके विशुद्ध एवं महानतम आदर्शको रखना है। जिसके द्वारा आत्माका आत्यन्तिक विशुद्ध विकास होता है। अर्थात् तुम भी मेरे समान तीर्थंकर हो सकते हो यही जैनपूजाका सार है। जैन मूर्तिपूजा अवश्य है पर यह 'मूर्तिमान् (आदर्श) की पूजा' है। फलतः जैनी अपने पूजन-ध्यान पुरुषार्थ द्वारा आत्मसिद्धि करता है पूज्य (आदर्श) तीर्थंकरोंकी कृपासे नहीं। "जब चित्त बहिर्मुख एवं चंचल हो तब मनुष्यको पंचपरमेष्ठीका ध्यान करना चाहिये। इससे मोह तथा भोगेच्छा समाप्त होती हैं और चित्त शान्त हो जाता है। पर्याप्त अभ्यास द्वारा जब चित्त शान्त स्वस्थ हो जाय तब शुद्ध, ज्ञानी एवं शाश्वत आत्म स्वरूपका ध्यान करे।" श्री ब्रह्मदेवका यह आदर्श ही जैन पूजन-ध्यानका आदर्श है।

चक्रवर्ती—

जैनदृष्टिमें मनुष्यगति सर्वश्रेष्ठ है। यदि जैनधर्म 'सेश्वर' है तो मानव तीर्थङ्कर ही उसके ईश्वर हैं, वे मनुष्य रूपमें ईश्वर नहीं; अपितु ईश्वर होने वाले मनुष्य हैं। अर्थात् जैनधर्म मानवधर्म है। उसके कुलकर वैदिक मनुओंके समान परमब्रह्मकी सन्तान न होकर साधारणमनुष्य थे, जैनदेव भी वे मनुष्य और

मनुष्यसे हीन जीव हैं जो मरकर स्वर्गमें जन्म लेते हैं। समस्त जैन महापुरुष मनुष्य ही थे। यही मानवतामय दृष्टि जैनधर्म तथा विश्वके समस्त धर्म और सविशेष वैदिक धर्ममें महान् भेद कर देती है। फलतः जैन चक्रवर्ती भी नर थे, नारायणके अवतार नहीं। ये विश्व विजयी सम्राट नर थे जिन्होंने विश्वके छहों खण्डों पर शासन किया तथा अन्तमें जैनी दीक्षा लेकर आत्म सिद्धि भी की। भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शान्तिनाथ, कुंथनाथ, अरनाथ, सभूम, पद्म, महापद्म, हरिषेण, जय तथा ब्रह्मदत्त ये बारह चक्रवर्ती हुए हैं। इनमें भरत तथा सगर प्रधान हैं। वैदिक साहित्यने भी भरतकी भूरि भूरि प्रशंसा की है। ऋषि वाल्मीकिने दाशरथि भरतको आदर्श भाई बताया है। पाण्डवों तथा कौरवोंके पूर्व पुरुष भरतकी कीर्ति वेदव्यासने गायी है। तीसरे जड़ भरतकी यशोगाथा भी विशाल है। हमारे देशको भारतवर्ष नाम देनेवाले भरतभी सुविदित हैं। कवियोंके कुलगुरु नाट्यशास्त्रके रचयिता भरतको कौन नहीं जानता। जैन पुराणोंके भरतभी आचार, राजनीति तथा नृत्यशास्त्रके पण्डित थे। उनके नामानुसार ही हमारा देश भरतखण्ड कहलाया। ये भ० ऋषभदेवके ज्येष्ठ पुत्र थे, पिताके मुनि हो जाने पर राज्य सिंहासन पर बैठे थे। इन्हें 'चक्र-रत्न' की प्राप्ति हुई थी जो चक्रवर्तीके सिवा नारायण प्रतिनारायणको भी सिद्ध होता है। इस वृत्ताकार सुन्दर (सुदर्शन) चक्रपर सहस्र देवता पहरा देते हैं। चलानेवालेके सम्बन्धियोंके सिवा यह शस्त्र सबको निश्चित मार देता है। इसके द्वारा नारायण, प्रति-नारायणको मारता है। किन्तु नारायण पर चलाये जानेपर वह उसकी परिक्रमा करके उनके हाथमें चला जाता है।

भरत तथा बाहुबलि—

भरत चक्रवर्तीने इस चक्रद्वारा पूरे विश्वको विजय किया था। विजय यात्रासे लौटनेपर चक्र राजधानीके द्वार पर रुक गया। नैमित्तिकोंने बताया आपके वैमातुर भाई बाहुबलिने आपको सम्राट नहीं माना है। इसपर दोनों भाइयोंकी सेनाएं लड़नेको प्रस्तुत हो गयीं। मंत्रियोंने नरसंहार बचानेके लिए 'द्वन्द्व' की सम्मति दी। बाहुबलिने भरतको दृष्टि, जल तथा मल्लयुद्धमें परास्त किया। कुपित भरतने चक्र चला दिया जो बन्धु बाहुबलिका कुछ भी न कर सका। बाहुबलिको वैराग्य हुआ और वे दीक्षा लेकर मुनि हो गये। दशमी शतीमें चामुण्डराय द्वारा निर्मित श्रवणबेलगोला की ५७ फी० उन्नत विशाल वीरता, वैराग्य तथा करुणा बरसाने वाली गोम्मटेश बाहुबलि मूर्ति आजभी इस समस्त कथानकको मानस चक्षुओं पर अंकित कर देती है।

इसके बाद भरतका चक्रवर्ती-अभिषेक हुआ। यह सुयोग्य परम धार्मिक शासक थे। इन्होंने मानव-समाजकी व्यवस्थाको सुदृढ़ बनाया था। पठन-पाठन, पूजन-ध्यान को प्रोत्साहन देने के लिए इन्होंने चौथा ब्राह्मण वर्ण स्थापित किया था। अपने पूज्य पिताकी निर्वाणभूमि कैलाश पर्वतपर बहत्तर जिनमन्दिर बनवाये थे। अन्तमें इन्होंने दीक्षा ली और अन्तमुर्हूर्तमें कैवल्य प्राप्त किया था।

चक्रवर्ती सगर--

रामायणके अश्वमेध यज्ञकर्ता सगर, उनके यज्ञ-अश्वकी इन्द्र द्वारा चोरी, अधोलोकमें कपिल ऋषिके निकट बांधना, सगरके पुत्रोंका भूमि खोदकर सागर (समुद्र) बनाते हुए घोड़े को खोजना, ऋषिकी चोर समझ कर अवज्ञा करना, उनकी कोपाग्निमें भस्म होना, इनके उद्धारके लिए, सगरसे भगीरथ तककी साधना तथा गंगावतरण भारतकी सुविदित कथायें हैं। जैन पुराणोंके सगर चक्रवर्ती थे तथा इनके साठ सहस्र प्रतापी पुत्र थे। पुत्रोंने पितासे कर्यादेश चाहा फलतः उन्होंने कैलाश पर्वतपर स्थित उक्त बहत्तर जिन मन्दिरोंको सुरक्षित बनानेके लिए उसके चारों ओर खायी खोदकर गंगानदीके पानीसे भर देनेकी आज्ञा दी जिसे उन्होंने पूर्ण किया। मणिकेतु नामका विद्याधर सम्राट सगरका मित्र था जो इन्हें संसारसे विरक्त करना चाहता था पर सगरका मोह शान्त न होता था अतः उसने एक युक्ति निकाली—उसने सर्परूप धारण करके कैलाशपर काम करने वाले सगर पुत्रोंको विष ज्वालासे मृतवत् मूर्च्छित कर दिया। फिर ब्राह्मणका रूप धारण करके अपने पुत्रके शवको लेकर सगरके पास गया और पुत्रको जीवित करनेकी प्रार्थना की। सगरने संसारकी अनित्यताका पाठ पढ़ाकर दीक्षा लेनेकी सम्मति दी। इसपर ब्राह्मणने सगरको पुत्रोंकी कैलाशपर हुई तथोक्त मृत्युका समाचार देकर मुनि होनेका काकु (व्यङ्ग्य) किया। सगरने रानी विदर्भाके पुत्र भगीरथको राज्य देकर दीक्षा ली। इसके बाद मणिकेतुने कैलाशके निकट गंगा तटपर सब पुत्रोंको चेतन कर दिया। वे सब भी मुनि हो गये। पिताके निर्वाणके बाद भागीरथने भी और घोर तप किया। देवोंने आकर गंगा जलसे उनका अभिषेक किया, अभिषेक जल उनके पैरोंके नीचेसे फिर गंगामें गया। उसी दिनसे गंगा भागीरथी कहलायी और पुण्य मानी जाने लगी। इसके बाद भगीरथका निर्वाण हो गया।

सगरके वर्णनोंकी विशेष छान बीनके विना ही इतना कहा जा सकता है कि गंगा; जैन दृष्टिमें स्वर्गसे आने, ब्रह्माके कमण्डलुसे निकलने अथवा शिवजीके मस्तकपर गिरनेसे पवित्र नहीं है, अपितु मानव ऋषि भगीरथके पुण्य चरणोदकके प्रवाहके कारण पवित्र हो गयी है। अर्थात् यह वर्णन भी जैनधर्ममें प्रधान मानवताका पोषक है।

नारायण--

ब्रह्मवैवर्त पुराण[1] तथा विष्णुपुराण[2]के लोकोत्तर देव पुरुष नारायण भी जैनधर्ममें मनुष्य थे। वे विश्व नियन्ता परमब्रह्म नहीं थे जो कि पृथ्वी पर आये हों।

१ नर शब्दका अर्थ मुक्ति है, जिसमें मुक्त आत्मा परमब्रह्म तुल्य हो जाता है अतः ईश्वर नारायण है। अथवा नर-पापी, उसका अयन-मार्ग (मोक्ष) अतएव नारायण परमब्रह्म है। अथवा नर तथा अयनके अर्थ मुक्ति तथा ज्ञान भी है।

२ नर अर्थात् आप (जल) अथवा मनुष्य सन्तान अतएव क्षीर समुद्र निवास अथवा अवतारके कारण परमब्रह्म

जैन नारायण महाशक्ति शाली मानव है जो पृथ्वीके तीन खंडोंपर ही शासन करता है तथा मुनि दीक्षा विना लिये ही राज्य करता, करता मर जाता है तथा उत्तर भवोंमें मुक्त होता है। जैन मान्यतानुसार त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयंभू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुण्डरीक, दत्त, लक्ष्मण तथा कृष्ण ये नौ नारायण हुए हैं इनमें लक्ष्मण और कृष्ण वैदिक मान्यताके प्रधान पुरुष हैं अतः उनका ही यहां विवेचन करें गे।

जैन दृष्टिसे नारायण मनुष्य है, वैदिक दृष्टिमें वह परम ब्रह्म है तथा पापरत मानव जातिका उद्धारक है। 'नार' तथा 'नारायण' दोनों शब्दोंका अर्थ 'मनुष्य-पुत्र' है। इस दृष्टिसे हम 'जीससकी 'मनुष्य पुत्रता' के निष्कर्षपर पहुंचते हैं "किसी मन्वन्तरमें नारायण नर ऋषिके पुत्र होते हैं।" यह मान्यता भी जीससके आख्यानकी समकक्ष है क्योंकि 'मनुष्य पुत्र होकर भी वह पतित मानवताका उद्धारक ईश्वर था। फलतः नारायणके शब्दार्थके विषयमें जैन, वैदिक तथा ईसाई एकमतसे ही हैं।

प्रति-नारायण—

नारायणोंके शत्रुओंको प्रतिनारायण नाम दिया गया है। प्रत्येक प्रति-नारायण, नारायणके चक्रसे मरता है, मरकर नरक जाता है और अनेक भव बाद मुक्ति प्राप्त करता है। अश्वग्रीव, तारक, मेरक, मधु, निशुंभ, बलो, प्रह्लाद, रावण तथा जरासंध नौ जैन प्रतिनारायण हैं। इनमेंसे कुछके कुकर्मोंके आख्यानसे वैदिक शास्त्र भरे पड़े हैं। अश्वग्रीव, मधुकैटभ, तारक, निशुंभ, बलि आदिके विषयमें जहां वैदिक तथा जैन कथाग्रन्थ सहमत हैं वहीं वे प्रह्लादके विषयमें भिन्न हैं। वैदिक मान्यतामें प्रह्लाद भक्ति और आराधनाकी मूर्ति एवं प्रधान नारायणभक्त हैं। रावण और जरासंध तो प्रमुख प्रतिनारायण हैं ही।

बलभद्र—

जैन बलभद्र नारायणोंके बड़े वैमातुर भाई होते हैं। इनका नारायणों पर अपार स्नेह होता है। ये दीक्षा धारण करते हैं और मरकर उच्चतम स्वर्ग या मोक्ष पाते हैं। अचल, विजय, भद्र, सुप्रभ, सुदर्शन, आनन्द, नन्दन, पद्म, (राम) तथा राम (बलभद्र) जैन मान्यताके नव-बलभद्र हैं। नव-बलभद्रोंमेंसे पद्म (श्रीराम) तथा बलदेव प्रमुख हैं। वैदिक पुराणोंके तो ये प्रधान नायक ही हैं।

ऊपरके संक्षिप्त वर्णनसे ऐसी आशंका हो सकती है कि जैन नारायण, प्रतिनारायणादि चरित्र रामायण महाभारतके रूपान्तर मात्र हों गे। किन्तु वस्तु स्थिति ऐसी नहीं है। वैदिक साहित्यमें राम-कृष्ण, नारायण तथा लक्ष्मण-बलदेव अनन्त हैं। जयदेव, आदिने बलदेवजीको भी नारायण लिखा है, इस आधारसे जैन बलभद्र-नारायण, अदिके क्रमकी पुष्टि होती है। इस प्रकार पर्याप्त समता होते हुए भी दोनों वर्णनोंमें बहुत वैलक्षण्य भी है जैसा कि निम्न वर्णनसे स्पष्ट होगा।

ही नारायण कहलाता है। अथवा नर प्रकृतिसे परे पच्चीसवां तत्त्व है, नरकी कृति 'नार' कहलाता है अतएव सारी सृष्टिका आधार होनेके कारण भगवान्'नारायण है।

पद्मचरित--

पद्म (राम)-चरित और वाल्मीकि रामायणमें बहुत समता है। पद्म जन्म, शिक्षा-दीक्षा, विवाह, अभिषेक तथा वनवासके वर्णनोंमें विशेष अन्तर नहीं है। सूर्पणखाको चन्द्रनखा कहा है। इसकी आसक्तिको लेकर खरदूषणसे युद्ध होता है। रावण वनमें आता है और सीताके रक्षक भाईको दूसरे भाईकी विपत्तिका समाचार देकर छल करता है। सीतापहरण, अशोक वृक्षके नीचे रखना, सुग्रीवका उद्धार, सुग्रीवका भोगरत होना, लक्ष्मणका क्रोध, हनुमानद्वारा सीताका चूडामणि लाना, हनुमान राक्षस युद्ध, इन्द्रजीत की नागपाशमें बंधना, भारी हानि करके वापस आना, विभीषणका रावणको उपदेश, विभीषण-रामसन्धि, युद्ध, लक्ष्मण पर शक्ति प्रहार तथा अन्तमें लक्ष्मण द्वारा रावणका मारा जाना, विभीषणको लंकाका राज, तीनोंका अयोध्या वापस आना, रामका सुराज्य, जनतामें सीताका प्रच्छन्न अपवाद, सीतात्याग, लवकुश जन्म, पुत्रों द्वारा राम-लक्ष्मण पराजय, माताकी पवित्रताका ख्यापन, सीताकी अग्निपरीक्षा, आदि समान बातें हैं।

वैलक्षण्य--

जैन वर्णनानुसार दशरथ-पुत्र तथा जनक-पुत्रीको रावणके पतनका कारण किसी मुनिने बताया था। फलतः उसके भीत होनेपर विभीषणने दोनों राजाओंको निःसन्तान मार देनेका वचन देकर उसे साहस दिलाया था। नारदसे यह समाचार पाकर दोनों राजा जंगलमें चले गये थे। राजा अत्यन्त अस्वस्थ हैं कहकर शय्या पर उनकी मूर्तियां लिटा दी गयी थीं जिनके शिर विभीषण द्वारा भेजे गये हत्यारोंने काट कर रावणके सामने उपस्थित कर दिये थे।

राजा जनकके युगल सन्तान हुई थी। इनमेंसे लड़केका पूर्वभवका वैरी उसे चुरा ले गया था। अपने कुकर्मका ध्यान आते ही उसने लड़केको रथनूपुरके राजा चन्द्रगतिके यहां छोड़ दिया। और इन्होंने भामण्डल नाम रखकर अपनी सन्तानके समान उसे पाला था। सीताके सौन्दर्यकी चर्चासे यह आकृष्ट था अतः स्वयंवरमें रामको सफल सुनकर उनसे लड़ने आया, किन्तु अपना वास्तविक सम्बन्ध स्मरण करके बहिनके विवाह में सानन्द सम्मिलित हुआ था।

लक्ष्मणजीने वनवासमें सिंहोदरको हराकर उसके राज्यका आधा भाग जिनभक्त वज्रकर्णको दिया था। नलकूबर नरेश बालखिल्यकी भीलोंसे रक्षा की थी। बालखिल्यकी पुत्री वनमाला उनसे प्रेम करने लगी थी। राजा पृथ्वीदेवकी पुत्री कल्याणमालाको आत्महत्यासे बचाया तथा अनेक विवाह किये।

हनूमानजीका श्रीशैल नामसे उल्लेख है। तथा इन्हें कामदेव अर्थात् सुन्दर एवं सबल पुरुष बताया है। दशरथके वरदानोंकी कथा भी रोचक है। रावणके भयसे वनवासमें घूमते हुए दशरथ केकय

देश पहुंचे और राजपुत्रीके स्वयंवर मण्डपमें जा पहुंचे। कैकयीने इन्हें ही वरण किया फलतः शेष राजाओं से घोर संग्राम हुआ जिसमें कैकयीने सारथिका काम किया और पतिकी विजयका कारण हुई। राजाने दो वर मांगनेको कहा जिन्हें कैकयीने उचित समयपर लेनेकी बात कह कर छोड़ दिया। और रामके अभिषेकके समय रामको वनवास तथा भरतको राज्य मांगा।

रामसीता विवाह प्रसंग भी भिन्न है। मयूरमतिके म्लेच्छ राजा अंशरङ्कलने जनकके ऊपर आक्रमण किया। भीत विदेहराजने दशरथसे सहायता मांगी। राम और लक्ष्मण सहायताको गये तथा म्लेच्छोंको अकेले ही मार भगाया। कृतज्ञतामें जनकने सीता रामसे व्याहनेका वचन दिया। नारद सीता के सौन्दर्य पर आकृष्ट थे अतः उसे देखने गये। दर्पणके सामने खड़ी सीता दढियल विरूप प्रतिबिम्ब देखते ही डराकर भाग गयी। नारदने भामण्डलको सीतासे विवाह करनेके लिए उकसाया, चन्द्रगतिने सीताको पुत्रवधू रूपसे मांगा किन्तु पूर्व प्रतिज्ञावश जनक उसे स्वीकार न कर सके। फलतः सीताके स्वयंवरमें वज्रावर्त तथा सागरावर्त धनुषों के चढाने की समस्या उत्पन्न की गयी और राम-लक्ष्मण ही सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हुए।

जटायु कथा भी भिन्न है। दण्डकारण्यमें रहते समय राम मुनियोंकी प्रतीक्षा कर रहे थे कि उसी समय गुप्ति और सुगुप्ति मुनि एक मासके उपवासके बाद वहांसे निकले। रामने उन्हें आहारदान दिया। वृक्षपर बैठा गिद्ध इससे इतना प्रभावित हुआ कि वह मुनियोंके चरणमें गिर पड़ा। दया करके मुनियोंने उसे श्रावकाचारका उपदेश दिया, जिसे उसने ग्रहण भी किया।

सीतापहरणकी कथा भी दूसरे रूपमें है। वनमें लक्ष्मणको सूर्यहास्य खड्गकी गंध आयी जिसे लेकर उन्होंने एक वंसोंके झुण्डपर परखा। छूते ही वह कट गया और उसमें सूर्यहास्यके लिए तप लीन खरदूषणका पुत्र शम्बूक भी कट गया। प्रतिदिनकी भांति भोजन लेकर आनेपर माता चन्द्रनखाने अपने पुत्रको मरा पाया। घातकका पता लगाने को निकलने पर उसने दोनों भाइयोंको देखा और उनपर मोहित हो गयी। अपमानित हुई फलतः युद्ध हुआ। जैन मान्यतामें खरदूषण एक व्यक्ति है। रामायणकी शूद्र शम्बूककी हत्याके अनुचित कार्यसे जैनपुराणोंने रामको खूब बचाया है। जब रावण अपने बहनोईकी सहायतार्थ आ रहा था तो उसने विमानमें से सीताको देखा, मोहित होकर लक्ष्मणका आर्तनाद किया जिसे सुनते ही राम सहायतार्थ दौड़ गये और वह सीताको ले भागा।

विराध नामके दैत्यको वनमें भाइयोंने मारा था किन्तु जैन कथानुसार पटललंकाके राजा विराधितने लक्ष्मणकी खरदूषणके विरुद्ध सहायता की थी और सीताहरणके बाद शोक संतप्त भाइयोंका मार्ग प्रदर्शन किया था।

सबसे बड़ा वैलक्षण्य तो यह है कि जैन कथामें किष्कन्धाके सुग्रीव, आदि वानर रावणके

वंशज एवं मित्र थे। हनूमानजी रावणके दामाद थे। रावण तथा राक्षस दैत्य नहीं थे अपितु ये जैनी सद्गृहस्थ थे तथा इन्हीं वानरवंशी हनूमानादिकी सहायतासे सीताका उद्धार हुआ था।

साहसगति नामके व्यक्तिने मायारूप धारण करके सुग्रीवकी पत्नीको छलना चाहा था। फलतः वापस आनेपर जब द्वारपालादिने उस महलके भीतर न जाने दिया, तब राम-लक्ष्मणकी सहायतासे उसने साहसगति को मार कर अन्तःपुर तथा राज्य बचाया इस प्रकार जैन पुराण बालिको भ्रातृवधू गमन तथा रामको छल-वधके पापसे बचाता है। लक्ष्मणने कोटिशिला उठाकर वानर वंशियोंको यह विश्वास दिला दिया था कि उनका जन्म रावणको मारनेके लिए ही हुआ था। जैन पुराणोंमें सेतु बनानेकी कथा नहीं है, मेघनाद, इन्द्रजीत दो भाई थे रावणके पुत्र नहीं। लक्ष्मणकी शक्तिका उपचार द्रोणमेघकी पुत्री विशल्याका स्नान जल बताया है। हनूमान उसे विमानमें लाये थे तथा उसके स्नान जलको लगाने से सब सैनिक भी स्वस्थ हो गये थे। अन्तमें वह लक्ष्मणको व्याही गयी थी।

इसी प्रकार लक्ष्मणपर रावणने चक्र चलाया जो उनके हाथमें आगया फिर वही चक्र लक्ष्मणने रावणपर चलाया और मार डाला। यह जैन वर्णन वैदिक 'मृत्युवाण' कथाके सदृश है। कुम्भकर्ण, इन्द्रजीत मेघनाद युद्धमें बन्दी बनाये गये थे मुक्त होते ही साधु होगये और तप करके आत्मसिद्धि की। युद्ध समाप्ति पर जब तीनों अयोध्या आये तो लक्ष्मणको राजा बनानेका प्रस्ताव हुआ पर उन्होंने स्वीकार नहीं किया राम राजा हुये। कैकयी, मन्दोदरी, आदिने दीक्षा धारण की। मथुराके राजा मधुको दुराचरणके कारण हटा दिया गया था उसके स्थान पर शत्रुघ्नको राजा बनाया गया था।

सीताके पुनः वनवासकी कथा समान होनेपर भी वे वाल्मीकि-आश्रममें नहीं गयी थीं। पुण्डरीकपुरके राजा वज्रजंघने उन्हें अपने यहां आनेको निमन्त्रण दिया था। उनके पुत्रोंके नाम अनङ्ग-लवण और मदनाकुंश थे। पिता काकासे युद्ध, इनकी विजय, सीताकी अग्निपरीक्षा आदिका उल्लेख पहले हो चुका है। अन्तमें सीता पृथ्वीमती आर्यिकासे दीक्षा लेती हैं।

राम लक्ष्मणकी मृत्यु कथा भी विचित्र है। भाइयोंके स्नेहकी परीक्षा करनेके लिए देवोंने रामको मूर्च्छित करके लक्ष्मणको उनके मरणका समाचार दिया। सुनते ही लक्ष्मणके प्राण पखेरू उड़ जाते हैं। चेतन होनेपर राम पूरे छह मास तक लक्ष्मणका शरीर लेकर घूमे अन्तमें अपने कार्यकी व्यर्थता को जानकर उन्होंने संसार छोड़कर तप करना प्रारम्भ किया और मोक्ष गये।

कुकल्पना परिहार--

जैसाकि पहले उल्लेख हो चुका है राक्षस, वानर, आदि न दैत्य थे और न बन्दर। जैन पुराण इन्हें विद्याधर कहते हैं अर्थात् ये रामचन्द्रजीके समानही संस्कृत थे। महाभारत तथा पुराणोंके आर्य-अनार्य विवेचनके आधार पर कहा जा सकता है कि यह जैन मान्यता सर्वथा उचित एवं मानवता पूर्ण

है। इतना ही नहीं ये सच्चे जैनी थे। इसी कारण कतिपय विद्वानोंका मत है कि वाल्मीकि आदि आचार्यों ने दक्षिण देश वासियों को राक्षस आदि लिखा होगा। किन्तु यह तर्क निस्सार प्रतीत होता है क्योंकि छठी सातवीं शतीके पहिले धर्मभेद ऐसा उत्कट न था। एक व्यापक भारतीय धर्म था जिसमें जैन, बौद्ध तथा वैदिक धर्मके समस्त सिद्धान्त निहित थे। धार्मिक आस्थाके विषयमें लोग पूर्ण स्वतन्त्र तथा सहिष्णु थे। यही कारण है कि जैन, वैदिक तथा बौद्ध पुराण ग्रन्थोंमें दूसरे धर्मोंका खण्डन मण्डन निन्दा, तो बहुत बड़ी बात है उल्लेख भी नहीं मिलता। सब अपने पूज्य पुरुषोंका वर्णन करते हैं। इतना ही नहीं वैदिक तथा जैन मान्यताके राम, आदि शलाका पुरुष एक ही हैं। यदि वाल्मीकिको राक्षस कह कर दाक्षिणात्य जैनोंका अपमान ही करना होता तो वे जैनोंके पद्म (राम) को अपना नायक क्यों बताते अतः स्पष्ट है कि रावणादिके वंशोंके नाम ही राक्षस, आदि थे। वे संस्कृत प्रतिभाशाली पुरुष थे।

धार्मिक द्वेष अभारतीय--

यद्यपि शशांक द्वारा बोधिवृक्षका काटना,बौद्धाचार्यों द्वारा शंकराचार्यको तेलकी उबलती कड़ाई में डाल देना,तथा शंकराचार्य द्वारा जैन मन्दिर मूर्तियोंका अनवरत विनाश ऐसी घटनाओंके उल्लेख इधरके भारतीय इतिहासमें मिलते हैं तथापि यह निश्चित है कि ऐसी घटनाएं स्थानीय एवं व्यक्ति विशेष कृत थीं। भारतीय जनमत इतना संकुचित एवं पतित कभी नहीं हुआ है। कर्म, पुनर्जन्म, आदि सिद्धान्त सर्वमान्य रहे हैं। जनमें धार्मिक सहिष्णुता तथा सौहार्द ही रहा है। छठी शती ई० पू० के बाद भी श्रेणिक अथवा बिम्बसार, चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, शक विजेता चन्द्रगुप्त का सब धर्मोंके ग्रन्थोंमें आत्मरूपसे वर्णन तथा हर्षका 'सर्व धर्म समानत्वम्' आदि उक्त जनमतके ही पोषक हैं।

क्या पद्मचरित रूपक मात्र है!--

यद्यपि पद्मचरितको भूतार्थ माननेवाले मनीषियोंका बाहुल्य है तथापि कतिपय ऐसे विद्वान् भी हैं जो पूरी कथाको सीता भूमिजा अथवा 'जुता खेत' अथवा शक्ति तथा राम (शुद्ध पूर्ण पुरुष) का रूपक ही मानते हैं। किन्तु वस्तु स्थिति इसके सर्वथा प्रतिकूल है। रामके वंशजों की उपस्थितिके अतिरिक्त भौगोलिक, वास्तुविद्या सम्बन्धी तथा अन्य साक्षी इतने अधिक हैं कि राम-सीताको कल्पना प्रसूत मानना बुद्धिके साथ बलात्कार ही होगा। जैन पुराणों का रामवर्णन तो निर्णायक प्रमाण है कि रामादि ऐतिहासिक पुरुष थे क्योंकि माया (सीता) का परमब्रह्म (राम) से मिलन ऐसा वेदान्तकी मान्यताका समर्थन करनेके लिए वैज्ञानिक जैनाचार्य कभी इतना श्रम न करते। उनके लिए यह मिथ्यात्वका पोषण होता जिसे वे कदापि स्वीकार न करते। यही निष्कर्ष बौद्ध रामकथासे निकाला जा सकता है, यद्यपि उसमें सीताका रामकी बहिन रूपसे चित्रण है।

इसीप्रकार श्री र०च०दत्तका अनुमान 'रामायण वैदिक घटनाका रूपक है, अर्थात् इसमें इन्द्र (राम) के द्वारा वृत्तसे मेघों (सीता) के उद्धारकी कथा है, भी उक्त युक्तियोंके कारण ही नहीं टिकता। वेदबाह्य धर्म जैन अथवा बौद्ध त्रिकालमें भी वैदिक मान्यताके पोषक वर्णन को इतना महत्त्व न देते साथ ही साथ कल्पनाकी नूतनताके लिए लिखित प्रमाणोंकी उपेक्षा भी वाञ्छनीय नहीं है। जैसे कि जैन पुराण भी रामको कौरव पाण्डवोंका पूर्ववर्ती लिखते हैं तथापि कतिपय विद्वान इन सब साहित्यिक प्रमाणों की उपेक्षा करके महाभारतको रामायणसे पहिले ले जाना चाहते हैं, अस्तु। जैनपुराणोंका मानवतापूर्ण सयुक्तिक वर्णन आजभी शोधकोंके मार्ग का आलोक हो सकता है।

कृष्णचरित--

वैदिक मान्यतामें वृन्दावनकी रासलीलाका नायक युवक, कुरुक्षेत्रका महाशिक्षक वीराग्रणी तथा राजनीतिज्ञोंके कुलगुरु श्रीकृष्णकी कथाका जैनरूप भी बड़ा आकर्षक है। इसके अनुसार ये अन्तिम नारायण थे। यादववंशी महाराज वासुदेवके देवकीकी कुक्षिसे कृष्ण तथा रोहिणीसे राम (बलदेव) उत्पन्न हुए थे। मथुराधिप उग्रसेन, उनका पुत्र कंस, मगधाधिप जरासंध, रुक्मिणी, आदि रानियां तथा बहुत कुछ वर्णन समान है। अन्तमें द्वीपायन मुनिकी विराधनाके कारण द्वारका जलकर भस्म होती है और धोखेमें एक आखेटकके बाणसे कृष्णजीका देहावसान होता है।

वैलक्षण्य--

यदुवंश--का प्रारम्भ ययातिसे न हो कर मथुराके प्राचीनतम राजा ही से होता है जिसके वंशमें यदु नामका राजा हुआ था। इसके उत्तराधिकारी अपनेको यादव कहने लगे थे। यदुका पुत्र शुर था जिसके पुत्र शौरि तथा सुवीर थे। मथुरा राज्य सुवीरको देकर शौरिने कुशार्त देशमें राज्य स्थापित किया था जहां उसके अन्धक वृष्णि, आदि पुत्र हुए तथा सुवीरके पुत्र भोजक वृष्ण कहलाये। पुत्रको राज्य देकर सुवीर अपने सिन्धुदेशके नगर सौवीरपुरमें रहने लगा था उसके ही पुत्र पौत्र उग्रसेन तथा कंस थे।

समुद्रविजय, अक्षोभ्य, स्तमित, सागर, हिमवान, ऐहल, धरण, पूर्ण, अभिचन्द्र तथा वासुदेव ये दश अन्धकवृष्णिके पुत्र थे। इनकी दोनों पुत्रियां कुन्ती तथा माद्री पाण्डु तथा दमघोषसे विवाही थीं। कुन्तीके पुत्र पाण्डव थे तथा दमघोषका पुत्र शिशुपाल था। वासुदेवजीका जैन वर्णन बड़ा ही रोचक है। ये इतने सुन्दर थे कि स्त्रियां देखते ही इनपर मुग्ध हो जाती थीं। फलतः नागरिक ललनाओंके शीलको सुरक्षित रखनेके लिए ही स्नेही बड़े भाई समुद्रविजयने इन्हें घरमें रह कर ललित कलाओं के अभ्यास करनेकी प्रेरणा की थी। किन्तु एक कुटिल दासीने उनसे इस स्नेह कारागारके विषयमें कह दिया। फलतः नगरके बाहर अपनी आत्महत्याकी सूचनाके साथ एक मुर्देको जलाकर ये भाग निकले। तथा

वर्षों घूमते तथा सैकड़ों विवाह करते हुए एक दिन रुधिर राजाके नगरमें पहुंच कर मृदंगवादकके वेशमें उनकी पुत्री रोहिणीकी स्वयंवर सभामें जा खड़े हुए। रोहिणीने इन्हें ही वरण किया फलतः समुद्रविजयके नेतृत्वमें अज्ञात कुलशील नीच युवकसे युद्ध छिड़ा किन्तु तुरन्त ही समुद्रविजयने इन्हें पहिचान लिया और युद्ध भ्रातृमिलनमें परिवर्तित हो गया।

कंस—की कथा बड़ी रोचक है। जब वह अपनी माता धरिणीके गर्भमें था तब उसे अपने पति उग्रसेनका मांस खानेकी इच्छा हुई। फलतः बालककी घातकता स्पष्ट हो गयी। इसीलिए उसके उत्पन्न होते ही उसे मृतक कह कर नदीमें बहा दिया गया। इस पेटीको एक सेठने उठाया और निःसन्तान होनेके कारण बालकको बड़ा किया; जो कि अत्यन्त उदण्ड एवं दुष्ट था अतः वह कुमार वासुदेवकी सेवामें रख दिया गया जहां उसकी कुमारसे बड़ी प्रीति हो गयी तथा कुमारके साथ उसने अस्त्रविद्या एवं रणकला सीखी।

जरासङ्घ—अपने समयका प्रधानतम राजा था उसका प्रत्येक शासन सर्वत्र मान्य था। एक दिन उसने राजा समुद्रविजयको सिंहपुराधीश सिंहरथके हाथ पैर बांधकर अपनी सभामें उपस्थित करनेकी आज्ञा दी और यह भी घोषित किया कि जो सिंहरथको बन्दी बनाकर लाये गा उसे अपनी पुत्री जीवद्यशा तथा यथेच्छ राज्य दूंगा। समुद्रविजयने युद्धकी तैयारी की किन्तु इस युद्धको वासुदेवने करना चाहा अतएव कंसको साथ लेकर उन्होंने आक्रमण किया और घोर संग्रामके बाद सिंहरथको बन्दी बनाकर जरासंधकी राजसभामें भेज दिया। किन्तु उसकी मातृ-पितृकुल विघातिनी जीवद्यशासे विवाह करनेको तैयार न हुए। यतः कंसने सिंहरथके हाथ पैर बांधे थे अतः उससे विवाह हो सकता था। किन्तु श्रेष्ठिपुत्र कंससे विवाहकी बात सुनते ही जरासंध जल उठता। इस द्विविधाके समय ही सेठने कंसके वास्तविक माता पिताका परिचय दे दिया। फलतः जीवद्यशा उससे व्याह दी गयी। किन्तु कंस अपने माता पिता पर अत्यन्त कुपित हुआ और मगधकी सेनाकी सहायतासे उन्हें हरा कर तथा बन्दी बनाकर स्वयं मथुराका राजा बन बैठा। वह अपने मित्र वासुदेवको कभी न भूल सका। उसके आग्रह तथा विनयसे उन्होंने उसकी ककेरी बहिन देवकीसे विवाह किया था। कंसने विवाहोत्सव बड़ी साज सज्जाके साथ मनाया था। भोजमें मदिराकी नदियां बह रही थीं। यथेच्छ मदिरापान करके सब उन्मत्त थे ऐसी अवस्थामें ही जीवद्यशाने अपने मुनि देवरका हाथ पकड़कर कामाचारके लिए कहा। क्रोधावेशमें मुनिके मुखसे निकल गया कि इस भ्रष्ट विवाहकी सन्तान ही कंसको मारे गी। इसी कारण चेतन होने पर कंसने वसुदेवजीसे अपने बालक उसे देनेकी प्रार्थना की थी जिसे सरल वासुदेवने स्वीकार कर लिया था।

देवकी सन्तति—

देवकीके लगातार छह पुत्र हुए। तथा महितपुरकी सेठानी सुलसाके भी देवकीके साथ मृत

पुत्र होते थे। फलतः शीघ्रतासे बच्चे बदल दिये जाते थे जिन्हें निर्दय कंस मसल कर फेंक देता था। सातवीं सन्तान कृष्णजी थे जिन्हें नन्दकी धर्मपत्नी यशोदाकी लड़कीके साथ बदला गया था। तथा कंसने भविष्य वाणीको मिथ्या मानकर लड़कीको नहीं मारा था। गोपाल बालिकाओंके साथ क्रीडा, पूतना तथा कंसके लोगोंको मारना तथा कंसको मारकर उग्रसेनको पुनः राजा बनानेकी कथा समान है। उग्रसेनकी पुनः राज्यप्राप्तिके अवसरपर श्रीकृष्णजीका प्रथम विवाह कंसकी बहिन सत्यभामाके साथ हुआ था। समस्त विशेषताओंका वर्णन न करके इतना लिखना पर्याप्त है कि जैन कृष्णचरितकी सबसे बड़ी विशेषता अरिष्टनेमिका चरित्र है जिसका ऊपर उल्लेख कर आये हैं।

कौरव-पाण्डव युद्ध—का जैन वर्णन वैदिक महाभारत कथासे बहुत विलक्षण है। जैन कथा-नुसार यह युद्ध प्रधानतया कौरव-पाण्डव प्रतियोगिता ही न थी। क्यों कि कंसकी विधवा जीवद्यशाने अपने पिताके सामने जाकर अपनी दुःख कथा कही। फलतः प्रबल प्रतापी जरासंधने द्वारका साम्राज्यके स्वामी कृष्ण तथा यादवोंके प्रतिकूल युद्धकी तयारी की। इस युद्धमें शिशुपाल, कौरव, आदि जरासंधके पक्षमें गये तथा पाण्डव आदि श्रीकृष्णके पक्षसे लड़े। फलतः यह युद्ध जरासंध-कृष्ण युद्ध था तथा कृष्णजीके हाथ ही जरासंध मरा था।

द्वारका दहन तथा कृष्णमृत्यु—जब अरिष्टनेमिको कैवल्य प्राप्ति हो चुकी तथा दिव्यध्वनि (उपदेश) खिर रही थी तब द्वीपायन मुनि द्वारकाको नष्ट करेंगे तथा श्रीकृष्णजी अपने वैमातुर भाई जराकुमारके हाथसे मरें गे" यह सुनते ही सब स्तब्ध रह गये। शायद मदिरापान द्वारकाके नाशका कारण हो अतः कृष्णजीने मदिरा पान निषेध करा दिया था, द्वीपायन मुनि भी दूर वनमें जाकर तप करने लगे थे। "मैं अपने भाईको मारूंगा। कदापि नहीं, मेरे जीते जी कोई भैयाका बाल भी न छू सकेगा।" ऐसा निर्णय करके सशस्त्र जराकुमार द्वारकाके चारों ओर वनोंमें पहरा देने लगे थे।

वैशाखके तापसे त्रस्त शाम्बका सहचर कादम्बरी (जहां द्वारकाकी मदिरा भरकर फेंक दी गयी थी) के पास पहुंचा और उसने पानीके स्थान पर खूब मदिरा पी ली। तथा अपने स्वामीके लिए भी ले गया। मदिरा पीते ही शाम्ब इतना लोलुप हुआ कि दोनों गुफामें गये और इतनी अधिक पियी कि मूर्छित हो गये। वहीं द्वीपायन तप कर रहे थे शाम्ब ने इन्हें देखा और बोला 'यही हमारी द्वारका का नाश करेगा?' यह सुनते ही यादव कुमारोंने उनपर आघात किये और वे मृतवत मूर्छित हो गये। यादव कुमारोंसे यह दुःखद समाचार सुनते ही कृष्ण तथा बलभद्र मुनिराजके पास गये, क्षमा याचना की, किन्तु मृत्युकी पीड़ामें मुनि शान्त न हो सके मुखसे निकल पड़ा "तुम दोनोंके अतिरिक्त कोई नहीं बचे गा, द्वारका जलेगी, सब नष्ट हो जायंगे।" उदास मनसे कृष्णजी लौटे घोषणा कर दी कि सब पवित्र जीवन व्यतीत करें। स्वयं भी रैवतकपर जाकर भ० नेमिनाथका प्रवचन सुनते थे।

मरण बिगड़ जानेके कारण द्वीपायन मरकर यक्ष हुए तथा प्रतिशोध लेनेके लिए द्वारका पहुंचे, किन्तु वहांका धार्मिक जीवन देखकर विवश हो गया। वह ग्यारह वर्ष तक प्रतीक्षा करता रहा। तथा निराश हो ही रहा था कि द्वारकावासी कठोर धार्मिक जीवनसे ऊबने लगे। लोगोंका यह भाव देखकर उसका साहस बढ़ा और जब फिर द्वारकामें मदिरा बही तथा मांस भक्षणादि अनाचार फैला वह टूट पड़ा। भीषण बवण्डर आया तथा द्वारका भभक उठी। यक्ष शक्तिसे कीलित यादव इतने निशक्त होगये थे कि कुछ भी न कर सके। सबसे दुःखद मरण तो वासुदेव, रोहिणी और देवकी का था जिन्हें बचानेके लिए राम (बलदेव) तथा कृष्णने कोई प्रयत्न न छोड़ा था। तथापि अपनी आंखोंके आगे माता पिताको जलते देखना पड़ा था। इसके बाद दोनों भाई निकल गये और द्वीपायनके उत्पातमें द्वारका छह मास तक जलती रही।

कृष्ण मरण—इसके बाद दोनों भाइयोंने पाण्डवोंके यहां जानेका निश्चय किया। जब वे कौशम्ब वनसे जा रहे थे तो दुःखी, शोकसंतप्त, श्रान्त श्रीकृष्णजीको जोरकी प्यास लगी। वे थककर बैठ गये और चिन्तित तथा अनिष्ट आशंकासे पूर्ण राम जलकी खोजमें गये। श्रान्त कृष्ण कपड़ा ओढ़कर पड़ गये और सो गये। उनका उघडा रक्त पादतल दूरसे दिख रहा था। बारह वर्षसे वनमें घूमते हुए जराकुमारने दूरसे हिरण समझ कर बाण मारा। तीव्र वेदनासे कृष्णजी जाग पड़े और मारकको पुकारा उसने अपनी कथा कही। भावीकी सत्यतापर विश्वास करके कृष्णजीने जराकुमारको गले लगाया जो उन्हें देखते ही मूर्च्छित हो गया था, चैतन्य आनेपर रोने लगा, कृष्णजीने कहा "जाओ, जो होना था हो गया, राम यदि तुम्हें देखें गे तो मार डालें गे।" मरते भाईका आदेश मानकर वह चला गया।

जब कमलपत्रोंमें पानी लेकर बलदेव लौटे और भाईको चुप पाया तो पहिले सोता समझा। फिर मृत समझकर उनका विवेक ही नष्ट हो गया। इनके विलाप तथा छह मास तक भटकनेकी कथा इतनी करुणाद्र है कि पत्थरको भी आंसू आ जांय। अन्तमें उन्होंने दाह संस्कार किया तथा मुनि हो गये। जब वे मरकर ब्रह्मलोक स्वर्ग गये तो वहां उत्पाद शय्यासे उठते ही उन्हें भाईकी स्मृति आयी किन्तु स्वर्ग तथा मनुष्य लोकमें उनके जीवको न पा सके तब अधोलोकों (नरकों) में दृष्टि डाली-और वालुका प्रभामें भाईको देखा। वहीं पहुंचे, लानेका मोहमय प्रयत्न किया किन्तु असफल रहे। विवेकी कृष्णजीने बतलाया कि मरते समय मैं अत्यन्त अशान्त, क्रुद्ध तथा द्वीपायनके प्रति प्रतिशोध पूर्ण था अतः मेरा यह पतन हुआ। अब तो यह सहना ही है। इसके बाद मैं मरकर मध्यलोक, फिर अधोलोक, फिर वैमानिकदेव, तथा अन्तमें जितशत्रुके 'अमान' नामका तीर्थङ्कर पुत्र होऊं गा। इसके बाद किस प्रकार रामकृष्णको ईश्वर का रूप प्राप्त हुआ, आदिका वर्णन है।

जैन कृष्णकथा भी यही सिद्ध करती है कि वे काल्पनिक पुरुष नहीं थे अपितु ऐतिहासिक व्यक्ति थे। हुएनसांगका वर्णन भी इस निष्कर्षका समर्थक है। उसने लिखा है "धर्म अथवा कुरुक्षेत्र

थानेश्वरके पास था। प्राचीन भारतमें दो राजा थे. उनमें सतत युद्ध हुआ था। पहिले यह निश्चय हुआ कि कुछ विशिष्ट पुरुष लड़ें और उसपरसे जय-पराजयका निश्चय हो किन्तु जनता नहीं मानी। दो में से एक राजाने युक्ति निकाली और एक ब्राह्मणसे धार्मिक पुस्तक लिखाकर गुफामें रख दी। फिर घोषित किया कि उसे स्वप्नमें एक पुस्तक दिखी है। इसपर सब लोग गुफामें गये और एक पुस्तक वहां पायी। पुस्तक पढ़कर लोगोंको विश्वास हो गया कि युद्धमें मरनेसे स्वर्ग मिलता है। लोग लड़नेके लिए प्रस्तुत हुए। भीषण युद्ध हुआ और भूमि शवोंसे पट गयी। तभीसे उस स्थान पर अस्थिपंजरोंकी बहुलता है।" इस प्रकार स्पष्ट है कि जैन कथा साहित्य प्राचीन इतिहाससे भरा पड़ा है। केवल एक 'पार्जी-टर' की पतीक्षा है।
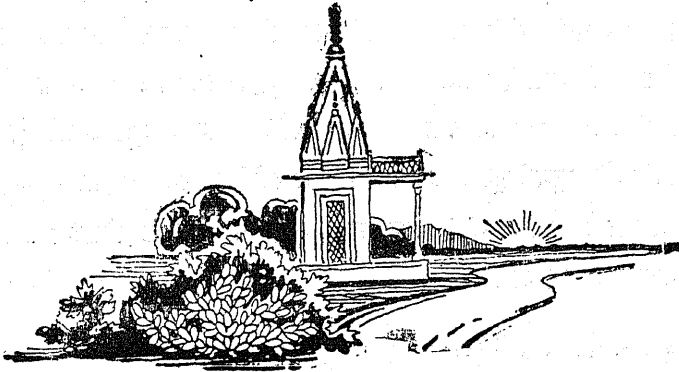
सार्द्धद्विसहस्राब्दिक-वीर-शासन

श्री कामताप्रसाद जैन, डी० एल०, एम० आर० ए० एस०

'जैनं जयतु शासनम्' वाक्यसे लक्षित वीर (जिन) शासनकी पताकाको फहराते हुए ढाई हजार वर्ष पूर्ण हो गये हैं। जैन शासन आज भी भारत भूमिमें प्रकाशमान है, यह कम गौरवकी बात नहीं है। यह गौरव जैन शासनकी अहिंसा मूलकताका सुपरिणाम है। अहिंसा-संस्कृति जैन शासनका जीवन है और इसीसे उसका अस्तित्व सत्य, शिव तथा सुन्दर है। 'आज जैन शासन सर्वाङ्गीण एवं सर्वतोभद्र नहीं रहा है? ठीक है। बाह्यविकारसे कोई भी संसारी बचा नहीं है—जीवन परिवर्तनशील है—स्वभावपर विभावकी विजय होती देखी जाती है! अतः आज यदि वीर प्रभुका जिन शासन सारे लोकमें स्थूल दृष्टिसे विजयी नहीं दिखता तो इसमें अटपटापन क्या है? उन्नति और अवनति स्थूल जगतके दो सहज रूप हैं। वीर शासन इन दोनों रूपोंके झूलेमें झूलता आया है! सूक्ष्म दृष्टिसे देखिये जिन शासन भाव-रूपेण सारे लोकमें सदा जयशील रहा है और रहे गा! 'वत्थु सहावो धम्मो' के वैज्ञानिक सिद्धान्त के कारण ही सदा सब स्थानोंपर प्रधानपद पाता रहे गा।

जैनधर्म भारतसे बाहर नहीं गया?—

ढाई हजार वर्षोंके इस लम्बे अन्तरालमें वीरशासनकी कतिपय मुख्य घटनाओंका उल्लेख करना ही यहां अभीष्ट है! जैन शासन धर्मप्रधान रहा है। हां, यह बात अवश्य है कि उसका धर्मक्षेत्र केवल कर्म-काण्डमें सीमित नहीं रहा! फलतः उसकी मर्यादाको मानने वाले केवल धार्मिक गृहस्थ ही नहीं, बड़े-बड़े शासक और योद्धा व्यक्ति एवं जन समूह रहे हैं। इस लिए जैनशासन धर्म, समाज और राजनीतिको हमेशा अनुप्राणित करता आया है। अजैन और पाश्चात्य विद्वानोंने जो अन्वेषण किये हैं वे श्लाघनीय हैं, परंतु निर्भ्रान्त नहीं कहे जा सकते। उनकी यह धारणा है कि जैनधर्म भारतके बाहर गया ही नहीं। जैन एवं बौद्ध मूर्तियोंके सूक्ष्म अन्तरको समझ लेना आसान नहीं है। कुछ विद्वान तो सर विलियम जोन्सके जमानेकी तरह आज भी जैन और बौद्धको एक समझनेकी भ्रान्ति कर रहे हैं। इसीलिए हाथी गुंफाका शिलालेख—मथुराका जैनस्तूप, आदि बौद्ध अनुमान किये जाते रहे। आज यह भ्रान्ति दूर हो गयी है और विद्वन्मंडली जैन और बौद्ध दो स्वतंत्र मतोंको मानने लगी है; परन्तु यह भ्रान्ति अब भी

तदवस्थ है कि जैनधर्मका अस्तित्व भारतके बाहर नहीं रहा है इस भ्रान्तिको पनपने देनेका दायित्व स्वयं जैनियों पर है। यदि वे जागरुक होते और अज्ञान तिमिरको मेंटनेकी भावनासे अनुप्राणित होते तो आज विद्वज्जगतकी जैनधर्मके विषयमें कुछ और ही धारणा होती !

जैनधर्मका प्रचार तीर्थंकर भगवानने समस्त आर्यखंडमें किया था। भरतक्षेत्रके अन्तर्गत आर्यखंडका जो विस्तार शास्त्रोंमें बतलाया गया है, उसको देखते हुए वर्तमानमें उपलब्ध जगत उसीके अन्तर्गत सिद्ध होता है। कविवर वृन्दावनदास, स्व० पं० गोपालदासजी वरैया प्रभृति विद्वानोंने भी इस मतका पोषण किया है[1]। स्व० पंडिताचार्यजीका कहना था कि करीब डेढ़ हजार वर्ष पहले दक्षिण भारतमें बहुतसे जैनी अरब देशसे आकर बसे थे[2]। तिरुमलय पर्वतके शिलालेखमें एलिनीया यवनिका, राजराजपावगत और विदुगदलगिय पेरूमल नामक जैनधर्मानुयायी राजाओंका उल्लेख हैं, जिन्होंने उस पर्वत पर मूर्तियां आदि स्थापित की थीं[3]। इनमें पहले राजा एलिनयवनिकाके नामसे ऐसा लगता है कि वह विदेशी थे। साथही अन्तिम राजा पेरूमलके विषयमें कहा गया है कि सन् ८२५ ई० में वह मक्का गये थे[4]। अतः इन राजाओंका सम्बन्ध अरबदेशसे स्पष्ट है। मौर्यसम्राट् सम्प्रतिने अरब और ईरानमें जैनमुनियोंका विहार कराया था। श्री जिनसेनाचार्यने भ० महावीरके विहारसे पवित्र हुए देशोंमें यवनश्रुति, क्वाथतोय, सूरुभीरु, तार्ण-कार्ण, आदि देश भी गिने हैं;[5] जो निस्सन्देह भारतबाह्य देश हैं। यवनश्रुति पारस्य अथवा यूनानका बोधक है। क्वाथतोय देश 'लाल सागर' का तटवर्ती देश अबीसीनिया, अरब, इथ्यूपिया, आदि हो सकते हैं, जहां एक समय श्रमण साधुओंका विहार होता था[6]। सूरुभीरु संभवतः 'सुरभि' नामक देशका बोधक है, जो मध्यएशियामें क्षीरसागर के निकट अक्षस (oxus) नदीसे उत्तरकी ओर स्थित था[7]। तार्ण 'तूरान' और 'कार्ण' काफिर-स्तान हो सकते हैं। भरत द्विग्विजय अथवा प्रद्युम्नकुमारके भ्रमणवर्ती देशोंका यदि अन्वेषण करके पता लगाया जाय, तो उपलब्ध सारे लोकमें जैनधर्मका अस्तित्त्व सिद्ध होगा। इस विषयमें एक तुच्छ प्रयास हमने किया है। कोई कोई पाश्चात्य विद्वान् भी अब इस दिशामें अन्वेषण करनेके लिए अग्रसर हुए हैं। श्री सिल्वांलेवीने जैनधर्मका प्रभाव सुमात्रा आदि प्रदेशोंमें बताया था[8]। हालमें संभवतः 'सामराइच-

१ 'भगवान् पार्श्वनाथ' पृ० १५६।

२ ऐशियाटिक रिसर्चेज, भा० ९ पृ० २८३-२८४।

३ मद्रास-मैसूरके प्राचीन जैन स्मारक, पृ० ७९-९० व ११९।

४ हरिवंशपुराण (पं० गजाधरलाल) टीका पृ० १८।

५ 'भ० पार्श्वनाथ' पृ० १७३-२०२।

६ इंडियन हिस्टोरीकल क्वारटली, भा० २ पृ० २९।

७ 'भ० पार्श्वनाथ' में नागवंशजोंका परिचयादि।

८ विश्वभारती पत्रिका, वैशाख-आसाढ़, २००१ पृ० ११७

कहा' के आधारसे डा० वासुदेवशरण अग्रवालने भारतसे बाहरके कटाह, आदि कुछ ऐसे द्वीपोंका पता लगाया है, जहां जैनी आते जाते थे[1]। तात्पर्य यह कि जैनशासनका क्षेत्र केवल भारतवर्षको समझना निर्भ्रान्त नहीं है ! जैनेन्द्र धर्मचक्र भारतसे बाहरके देशोंमें भी प्रवृत्त हुआ था।

भ० महावीरकी प्रथम धर्मदेशनाद्वारा ही मगधसाम्राज्यकी राजधानी राजगृहके निकट स्थित विपुलाचल पर्वत पर जिन शासनका उदय हुआ था। तत्कालीन वैदिक पंडित इन्द्रभूति गौतम और उनके भाइयोंकी जैनधर्म दीक्षाके साथ आगे बढ़ा था,यह अहिंसा संस्कृतिकी जय थी क्योंकि बाह्य क्रियाओं और पशुबलिमें धर्मकी आस्थाका अन्त हुआ था। समाजमें स्त्रियों और शूद्रोंको समुचित स्थान मिला। धर्म और समाज जैन मुद्रासे अङ्कित हुए फलतः राजनीति पर भी उसकी छाप लगी। मेरे मतसे साम्राज्यवादीश्रेणिक (बिम्बसार) और कुणिक (अजात शत्रु) जिनशासनके अनन्य संरक्षक और प्रसारक हुए। गणतंत्रवादी संघ-पतियोंमें अग्रणी चेटक महाराज भी महावीरके अन्यतम उपासक थे। उनके अहिंसा आदर्शने भारतशासनमें एक नवीन धारा बहा दी, निरामिष भोजन और संयमका महत्व स्पष्ट हुआ, परस्पर सहयोग और संगठनसे रहकर जीवन बितानेका परिणाम भारतका प्रथम मगध साम्राज्य हुआ।

संघ धर्म—

जैन शासनकी यह विजय संघ-धर्म व्यवस्थाकी देन थी। वीर मार्गमें शासन-सूत्र सर्वज्ञ आचार्योंके हाथोंमें रहता था। उसमें मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका संघ थे। मुनिसंघको श्रुतज्ञान भी गुरु परम्परासे कंठस्थ रूपमें मिलता था। साधुओंका सारा ही संघ 'निर्ग्रन्थ' नामसे प्रसिद्ध था। जैनके स्थानपर निर्ग्रन्थ शब्द प्रयुक्त होता था। स्वयं भ० महावीर निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र नामसे प्रसिद्ध थे। निर्ग्रन्थ साधु (श्रमण) अचेलक (नग्न) रहते थे।[2]

आर्यिका संघका जीवन भी निश्चित था। सती चन्दनबालाके नेतृत्वमें जैन आर्यिकाएं स्वपर-कल्याणमय जीवन बिताती थीं। 'पद्मपुराण' में (पृ० ८८३) तथा 'थेरीगाथा' (१०७) से यह भी स्पष्ट है कि आर्यिकाएं केशलुञ्चन करतीं, धूल धूसरित शरीर रहतीं और एक वस्त्र पहना करती थीं।[3] मुनि और आर्यिकाओंका लक्ष्य मोक्ष था।

---

१ "भारतकी सीमाकी बाहरी प्रदेशोंमें भी जैन उपदेशकोंने धर्मप्रचारके प्रयत्न किये थे। चीना यात्री हुएनसांगके किलापिशीमें आँखों देखे उल्लेखसे, हरिभद्रजीके शिष्योंकी कथासे एवं कुच विषयकी हकीकतके ग्रुइनबेडलके जर्मन अनुवाद से सिद्ध है कि वीर-धर्मके उपदेशकों को समुद्रका कोई बाधा न थी।"—प्रो० हेल्मुथ फान ग्रोसनाथ।

२ दिघ्घनिकाय (पाटिक सुत्त) महावग्ग ८।१५, ३-६-३८-१६; जातकमाला पृ० १४५, दिव्यावदान पृ० १८५, ऋग्वेद संहिता १०-१३५; वेदान्तसूत्र २।२।३३, वराहमिहिर संहिता १९-६१ तथा ४५-५० दशकुमार चरित २; महाभारत ३।२६—२७; विष्णुपुराण ३।१८; दाठावंसो इत्यादि।

३ Psalms of the Sisters, p. 63 व 'भ० महावीर और भ० बुद्ध पृ० २५९-२६२।

मुनि संघके साथ आंशिक व्रत (अणुव्रत) धारक भी रहते थे। उनकी ग्यारह श्रेणियां (प्रतिमाएं) आत्मोन्नति अनुसार थीं। ग्यारह प्रतिमाधारी श्रावक (१) ऐलक और (२) क्षुल्लक निर्ग्रन्थ कहे गये हैं—ये 'एकशाटक' एक या दो वस्त्र रखनेके कारण कहलाते थे।'[१]

उत्तर कालमें श्वेताम्बर समुदायन संघको 'जिनकल्पी' और 'स्थविरकल्पी' भागोंमें विभक्त करके सवस्त्र मुनिपदका भी विधान किया है। श्वेताम्बर आगम ग्रंथों में कहीं भी जिनकल्प–स्थविरकल्प विभाग नहीं मिलते हैं। यह भेदकल्पना उत्तरकालीन है। संभवतः बारह वर्षोंके दुष्कालके पश्चात् निर्ग्रन्थ संघके दो भाग हुए। मुनिचर्या दोनोंकी समान है श्वे० 'आचाराङ्ग सूत्रमें दिगम्बर मुद्राका ही सर्वोत्कृष्ट धर्म रूपसे प्रतिपादन किया है[२] —

जैकोबीने लिखा है कि मुमुक्षुको मुनिपद धारण करने पर नग्न होनेका विधान है। नग्न मुनिको तरह तरहके परीषह सहन करने पड़ते हैं[३]। 'उत्तराध्ययनसूत्र' में भी अनगारधर्मका निरूपण करते हुए उसे अचेलपरीषह सहन करने वाला लिखा है[४]। 'ठाणांग सूत्र' में भ० महावीर कहते हुए बताये गये हैं कि 'श्रमणनिर्ग्रन्थको नग्नभाव, मुंड़भाव, स्नान नहीं करना, आदि उपादेय हैं[५]।' निर्वाण पानेके लिए मुमुक्षु नग्न (दिगम्बर) मुनि होते थे[६]।

'आचारांग सूत्र' में हीनशक्ति मुमुक्षुको क्रमशः तीन, दो और एक वस्त्र धारण करनेका विधान है। 'उत्तराध्ययन सूत्रमें पहले पांच अध्ययनोंमें अनगारधर्म[७] का निरूपण करके—पांचवेंमें अचेलक अनगारको अकाममरण (सल्लेखना) करनेका उपदेश देकर, छठवें अध्ययनमें स्पष्टतः 'क्षुल्लक निग्रन्थ' (खुड्डागनियंठ) को उपदेश दिया है और सातवें अध्ययनका शीर्षक 'ऐलक' (एलयं) रखकर चरित्र नियमोंका निरूपण भेड़की उपमा देकर किया है यह सब अचेलकताका समर्थक है।

प्राचीन बौद्ध ग्रन्थोंमें निर्ग्रन्थ श्रमण अचेलक (नग्न) ही लिखे हैं। उनमें गृहत्यागी उदासीन श्रावकोंका उल्लेख 'गिही ओदात् वसना'—'मुण्डसावक' और 'एकशाटक नियंठ' नामसे

---

१ आदिपुराण ३८।२५८।

२ Sutras, Pt. 1, P. P. 55-6.

३ 'जे अचेले परिवुसिए तस्सणं भिक्खुस्स णो एवं भवइ—'

४ 'अदुवा तत्थ परक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति'

५ 'समणाणं निग्गंथाणं नग्गभावे, मुंडभावे, अण्हाणए। ठणाङ्गसूत्र। ९।३।६८

६ समयं स जये भुजे जयं अपरिसाडियं ॥ ३५ ॥

७ 'जस्सट्ठाए कीरठ्ठ नग्गभावो जाव तमट्ठं आरोहेइ। भगवती सूत्र ९।३३!

Gaina Sutras (S, B. E.) Pt. 1. P|P. 67-73.

मिलता है[1]। भारतीय पुरातत्त्वमें प्राचीन मौर्यकालीन और अन्य मूर्तियां नग्न ही मिली हैं—सवस्त्र श्रमणत्वकी ज्ञापक कोई मूर्ति नहीं मिलती है।

केवली काल—

भ० महावीरके निर्वाणके पश्चात् जिनशासनकी प्रभावना केवली और श्रुतकेवलियों द्वारा की गयी है। शिशुनाग वंशके राजाओंके अतिरिक्त अन्य भारतीय शासक भी उसके पोषक रहे हैं। नन्दवर्द्धन, आदि कई नन्दवंशी नरेश भी जिनेन्द्रभक्त थे। इसके उपरान्त चन्द्रगुप्त मौर्य मगधके राज्यसिंहासनपर आरूढ़ हुए और भारतके सार्वभौम सम्राट् हुए। श्रुतकेवली भद्रबाहु उनके गुरु थे। चन्द्रगुप्त मौर्य और उनके पुत्र विन्दुसारने धर्मप्रचारका उद्योग किया था। जैसा कि सम्राट् अशोकके लेखोंसे स्पष्ट है।[2] चन्द्रगुप्त मौर्य श्रुतकेवली भद्रबाहुसे दीक्षा लेकर मुनि हो गये थे और संघके साथ धर्मोद्योत करते हुए दक्षिण-भारत गये थे[3]। शक सं० ५७२ ल० के शिलालेखमें इन गुरु-शिष्यके विषयमें कहा गया है "जैनधर्म भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मुनीन्द्रके तेजसे भारी समृद्धिको प्राप्त हुआ था[4]। हरिषेण 'कथाकोष' में सम्राट् चन्द्रगुप्तको सम्यग्दर्शन सम्पन्न महान् श्रावक लिखा है[5]। श्रीयतिवृषभाचार्यने उन को अन्तिम मुकुटबद्ध राजा लिखा है जिसने मुनि दीक्षा ली थी[6]। इनके बाद सम्प्रति और सालिसूकने देश-विदेशमें जिनशासन का ध्वज फहराया था[7]। सम्प्रतिने भी अशोककी तरह धर्म लेख खुदवाये थे।

मौर्यकालमें ही जिनशासन सूर्य सम्प्रदायगत संघर्षके राहुसे ग्रसित हुआ। उस समयकी उल्लेखनीय घटना जैन संघका दक्षिण भारतमें पहुंचना है। कहा जाता है वहां इससे पहले जैनधर्म नहीं था, किन्तु वस्तुस्थिति कुछ और ही है। कारण इस समय तक जैनधर्म दक्षिण भारतसे भी आगे सिंहलद्वीपतक जा चुका था[8]। जैन शास्त्रोंके अनुसार भ० महावीरके बहुत पहलेसे जैनधर्म दक्षिण भारतमें

---

१ महावग्ग ८,१५ ३-१, ३८, चुल्लवग्ग ८,२८,३, संयुत्तनिकाय २,३,१०,७ दीघनिकाय. पाटिकसुत्त, कस्स पसीहनादसुत्त अंगुत्तरनिकाय पृ० ३,७०-३

२ सप्तम स्तम्भलेख—अशोकके धर्मलेख पृ० ३७१।

३ म०म० नरसिंहाचार्य कृत 'श्रावणबेलगोल' नामक पुस्तक।

४ 'श्रीभद्रबाहु स चन्द्रगुप्त मुनीन्द्रयुग्मदिनोप्पेवल्'।
भद्रमागिद धर्म्ममन्दु वलिक्केबन्दिनिसल्कलो ॥'—जैनशिलालेखसंग्रह (सं० १७) पृ० ६।

५ श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० ४०, ५४ व १०८ देखो।

६ 'तत्काले तत्पुरि श्रीमांश्चन्द्रगुप्तो नराधिपः। सम्यग्दर्शन सम्पन्नो बभूव श्रावको महान् ॥ २६ ॥
भद्रबाहुवचः श्रुत्वा चन्द्रगुप्तो नरेश्वरः। अस्यैक योगिनः पार्श्वे दधौ जैनोश्वरंतपः ॥ ३६ ॥ इत्यादि।

७. संक्षिप्त जैन इतिहास, भा० २ खंड १ पृ० २१८-२९८।

८. महावंश-स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म, भा० १ पृ० ३३

था[3]। श्रीभद्रबाहु-संघके दक्षिण भारतमें पहुंचनेसे धर्ममें नूतन जागृति अवश्य आयी थी। किन्तु इस घटनाका कुपरिणाम जैनसंघकी एकताका विनाश था। श्रुतकेवली भद्रबाहु तक दिगम्बर और श्वेताम्बर जैनी प्राय: एक थे और उनके गुरु भी प्राय: एक थे, परंतु भद्रबाहुके बाद ही दोनों सम्प्रदायोंकी अपनी अपनी मान्यताएं तथा गुरु-परम्पराएं हो गयीं। उसके पश्चात् लगभग ईसाकी छठी शतीतक मूल मार्ग निर्ग्रन्थ नामसे प्रसिद्ध रहा और उनका संघ 'निर्ग्रन्थ-संघ' कहलाता रहा[२]। किन्तु स्थूलभद्रादिके साथ जो आचार्य व मुनि उत्तर भारतमें रह गये थे, उन्होंने दुष्कालके प्रभावानुसार वस्त्र, पात्रादि ग्रहण कर लिये थे। उन्होंने जिनागमकी वाचना और परम्परा निर्धारित करनेके लिए एक संघ भी बुलाया था; परन्तु उसमें भद्रबाहु स्वामी सम्मिलित नहीं हुए थे। उस समय जिनकल्प और स्थविरकल्प रूप श्रमण लिङ्गकी कल्पना की गयी। श्रीहरिषेणने लिखा है कि "जिन मुनियोंने गुरुके वचनोंको इष्ट नहीं माना, उन्होंने जिनकल्प और स्थिविर कल्प ये दो भेद ही कर डाले। अशक्त, कातर और परमार्थको नहीं जाननेवाले उन साधुओंने अर्धफालक (आधा वस्त्र) रखनेवाला मत चालू किया।" बादमें इसी अर्द्धफालक मतसे श्वेतपट (श्वेताम्बर) सम्प्रदायकी उत्पत्ति वलभी नगरमें राजाज्ञासे हुई। राजाने स्पष्ट कहा कि 'या तो आप लोग अर्द्धफालक त्यागकर पूर्ण निर्ग्रन्थ हो जाइये और यदि निर्ग्रन्थता धारण करनेकी शक्ति नहीं है तो अर्धफालकी विडम्बनाको त्यागकर सीधे सादे वस्त्रोंको पहन लीजिये[3]।' तभीसे श्वेताम्बर सम्प्रदायकी उत्पत्ति हुई। इसी प्रकारका कथन भ० रत्ननन्दिकृत 'भद्रबाहुचरित्र' में भी मिलता है।

प्राचीन निर्ग्रन्थवेशके प्रतिपालक आचार्योंने चाहा कि जैनसंघमें फूट न पड़े—स्थूलभद्राचार्यने प्रायश्चित लेकर दिगम्बर वेशको धारण किया; परन्तु उनके शिष्यगण न माने। प्रारम्भमें नग्नताके प्रति एकदम बगावत न हो सकी फलतः मध्यममार्ग ग्रहण किया। वे नग्न रहे; परन्तु शीतनिवारण और चर्याके समय लज्जानिवारणके लिए खंड-वस्त्र पासमें रखने लगे अर्थात् वस्त्र रखते हुए भी नग्न रहे। आचेलक्य मूलगुणकी सर्वथा विराधना उन्होंने नहीं की। जैसा कि कंकालीटीला मथुरासे प्राप्त तथा ई० प्रथम द्वितीय शती तकके बिल्कुल नग्न श्रमणोंके चित्रणसे सिद्ध है; परन्तु लज्जा निवारणके लिए उनके हाथकी कलायीपर वस्त्रका टुकड़ा पड़ा हुआ है[४]। कण्ह श्रमणका पट्ट एवं

१. संक्षिप्त जैन इतिहास, भा० ३ खंड १ पृ० ६०—६६

२. "जैन सिद्धांत भास्कर"-भा० १० कि० तथा भा. ११ कि० १।

३, यदि निर्ग्रन्थतारूपं ग्रहीतुं नैव शक्नुथ। ततोऽर्धफलकं हित्वा स्वविडम्बनकारणम्।
ऋजुवस्त्रेण चाच्छाद्य स्वशरीरं तपस्विनः। तिष्ठत प्रतिचेतस्का मद्वाक्येन महीतले॥'

४. बौद्ध स्तूप (Vodha Stupa) में वस्त्रधारी व नग्न श्रमण चित्रित हैं। (....a naked ascetic, who as usual, has a piece of cloth hanging over his right arm.—Dr. Buhler) प्लेट नं० १७ में कण्ह श्रमण इसी रूपमें चित्रित हैं, जिनका उल्लेख श्वेताम्बर साहित्यमें है। प्लेट नं० ४ में नैगमेषकी मूर्तिके पास एक ऐसे ही अर्द्धफालकीय श्रमण चित्रित हैं। डा० अग्रवालने एक अन्य पाषाण पाटमें ऐसे ही एक श्रामणका अस्तित्व बताया है। (जैन ऐटीक्वेरी, भा० १० पृ० ३।)

अन्य पट्ट इसी प्रकारके हैं। उनपर कोट्टिय आदि श्वेताम्बरीय गणों विषयक लेख भी अङ्कित हैं; स्पष्ट है कि उनको श्वेताम्बर संघके पूर्वाचार्योंने प्रतिष्ठापित कराया था। सारांश यह कि मुनिवेष, स्त्रीमुक्ति, आदि बातोंको लेकर निर्ग्रन्थसंघ दो भागोंमें विभक्त हो गया। तथा यापनीयसंघकी स्थापना इन दोनों संघोंके एकीकरणके लिए की गयी थी। कलिङ्ग सम्राट् ऐल खारवेलने इससे बहुत पहले सब ही प्रकारके निर्ग्रन्थ श्रमणोंका सम्मेलन कुमारी पर्वतपर बुलाया और उसमें द्वादशाङ्ग वाणीके उद्धार द्वारा संघमें ऐक्य स्थापनाका उद्योग किया, दुर्भाग्यवश वह भी असफल रहे।

मौर्योत्तर काल

मौर्योंके पश्चात् शुङ्गवंश और आन्ध्रवंशके ब्राह्मण धर्मानुयायी शासकोंने भारतके सार्वभौम सम्राट् बननेका उद्योग किया। उनके द्वारा वैदिक धर्मकी विशेष उन्नति हुई। जैनशासन-सूर्य यहींसे अवनतिरूपी राहुसे ग्रस्त होने लगा। फिर भी जैनाचार्योंने भ० महावीरके आदर्शको जीवित रखनेमें कुछ उठा न रखा। उस समय भारतमें जैनोंके मुख्य केन्द्र कलिङ्ग, उज्जैनी, मथुरा, गिरिनगर और दक्षिणभारतके कई नगर थे। कलिङ्ग और दक्षिण भारतमें प्राचीन निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) संघका एकाधिपत्य था। उज्जैन, मथुरा और गिरिनगरमें दिगम्बरोंके साथ श्वेतपट संघका भी पर्याप्त प्रभाव था। बौद्धग्रन्थ 'दाठावंश' से प्रगट है कि ईसाकी ४ थी-५ वीं शतियोंमें दिगम्बर जैनी राजमान्य थे। स्वयं कलिङ्ग नरेश जिनके उपासक थे। चीनी यात्री हुएनसांगके समय जैनधर्म यद्यपि राजधर्म नहीं रहा परंतु अंग-बंग और कलिंगकी जनता उसकी अनन्य उपासक थी। उज्जैनमें जैनाचार्योंने सम्राट् विक्रमादित्यको जैनधर्ममें दीक्षित किया था। उसके उपरांत उज्जैनका शासकवर्ग मध्यकालतक किसी न किसी रूपसे जैनधर्मसे प्रभावित रहा। दिग० जैन परम्पराके आचार्योंका केन्द्र होनेका सौभाग्य उज्जैनको मुस्लिम कालतक प्राप्त रहा। मथुरा जब विदेशी–शक और हूण-शासकोंके अधिकारमें था तब शकवंशके राजा मनेन्द्रर, अजय, रुद्रसिंह और नाहपान भी जैनधर्मसे विशेष प्रभावित हुए थे। निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) और श्वेतपट संघके आचार्योंने इन विदेशियोंसे घृणा नहीं की; कंकाली टीलासे उपलब्ध पुरातत्व इस बातका साक्षी है कि उस समय अनेक यवन (Greek) पार्थीय (Parthians) एवं शकलोग जैनधर्ममें दीक्षित हुए थे। गंधी, माली, गणिका, नट, आदि साधारण स्थितिके लोगोंके लिए भी जैनसंघके द्वार खुले हुए थे–वे मुनियोंको दान देते थे, और जिनपूजाके लिए जिनेन्द्र प्रतिमाएं और मंदिर निर्माण कराते थे। मथुरा वैष्णव सम्प्रदायका मुख्य केन्द्र था। सन्तान प्रदायक देवता नैगमेष देवकी पूजा करते थे। जब ये वैष्णव जैनी हुए, तो नैगमेषकी मान्यता भी जैनसंघमें प्रचलित हो गयी—श्वेताम्बर सम्प्रदायने इसको विशेष महत्त्व दिया। दिगम्बरोंमें इसका एक उल्लेख 'हरिवंशपुराण' में मिलता है। गिरिनगर निर्ग्रन्थ संघका मुख्य केन्द्र रहा—प्राचीन कालमें श्वेताम्बर संघ यहां सफल न हुआ। अतः अपना केन्द्र वल्लभीको बनाया और वल्लभी राजवंशके आश्रयसे उसका आधिपत्य सारे गुजरातपर

हो गया। निर्ग्रन्थ (दि०) आगमका उद्धार भी गिरिनगरके पास चन्द्रगुफामें विराजमान श्री धरसेनाचार्य द्वारा हुआ था।

संघभेद—

निर्ग्रन्थ संघकी दोनों धाराएं भी अन्तर भेदोंमें बंट गयी थीं। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें चौरासी गच्छोंके उत्पन्न होनेकी बात कही जाती है। दिगम्बर सम्प्रदायमें भी आचार्य अर्हद्बलिके समयसे निर्ग्रन्थ संघ, जो श्वेताम्बरोंसे अपनेको अधिक प्राचीन माननेके कारण 'मूलसंघ' नामसे प्रसिद्ध था, निम्नलिखित चार संघोंमें बंटगया था—

१ नन्दिसंघ—नन्दिवृक्षके नीचे चौमासा माढ़ने वाले आचार्य माघनन्दि के नेतृत्वमें।

२ सेनसंघ—आचार्य जिनसेनके नेतृत्वमें।

३ सिंहसंघ—सिंह गुफामें चातुर्मास विताने वाले आचार्यके नेतृत्वमें।

४ देवसंघ—देवदत्ता नर्तकीके आवासमें चौमासा वितानेवाले आचार्यके नेतृत्वमें।

ईसाकी प्रारम्भिक शतियोंमें जैन संघमें आन्तरिक आपत्तिका प्राबल्य रहा—उसका कारण केवलियोंके अभावके साथ वीर-वाङ्मयका अभाव भी था। ऋषियोंको भिन्न परम्पराएं और मान्यताएं याद थीं और वे अपनी अपनी बात कहते थे। अतएव प्रमाणिक शास्त्रोंको लिपि बद्ध करानेके लिए ही चन्द्रगुफामें स्थित श्रीधरसेनाचार्यने कर्णाटिक देशसे भूतबलि और पुष्पदन्त मुनियोंको बुलाकर उनको वीर वाणी सुनायी थी किन्तु यह सिद्धांत ग्रन्थ दिगम्बर जैनोंको ही मान्य रहे। श्वेताम्बरोंने इसके बहुत बाद वल्लभीमें देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण (ई० ५ वीं श०) की अध्यक्षतामें अपने अङ्गोपाङ्ग-श्रुतका संकलन किया और तभी वह लिपिबद्ध किया गया। संघ छिन्न-भिन्न हुआ। प्रत्येक विभक्तसंघका आचार्य अपनी मानमर्यादा और अपने भक्त बढ़ानेकी धुनमें संघके एक रूपको भूल गया था। कालकसूरि शकदेश गये और शक शाही राजाओंको प्रबोधकर श्रावक बनाया। उन्हें गुजरातमें लिवा लाये और गर्दभिल्लके अत्याचारका अन्त किया। आंध्रवंशके शातवाहन नरेश भी जैनधर्मसे प्रभावित हुए थे। मूलसंघाग्रणी आचार्यप्रवर श्री कोण्डुकुन्द पद्मनन्दि स्वामीने पल्लवनरेश कुमार शिव स्कन्धवर्माको जैनधर्मका अनुयायी बनाया। पल्लवनरेशोंके दानपत्र प्राकृतभाषामें हैं। कोंडुकुन्दस्वामीके महान् व्यक्तित्वका प्रभाव सारे भारतमें व्याप्त हुआ। उनका 'कुरल' काव्य तामिलदेशमें वेद-तुल्य मान्य हुआ[१]। निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) श्वेतपट, यापनीय, कूर्चक, आदि संघोंके आचार्योंने कदम्ब सम्राटोंको भी जिनेन्द्रका भक्त बनाया, तथा जनताको भी[२]। कदम्ब सम्राट् श्री रविवर्माका शासनलेख आजके संसारके लिए भी हितकर है—

१. "प्रवचन सार" की श्री उपाध्ये द्वारा लिखित भूमिका।

२. संक्षिप्त जैन इतिहास, तृतीय भाग द्वितीय खंड पृ० २५-३२। 'जैनहितैषी' भा० १४ पृ० २२७।

"महाराज रविने यह अनुशासन पत्र महानगर पलासिकमें स्थापित किया कि श्री जिनेन्द्रदेव-की प्रभावनाके लिए उस ग्रामकी आमदनीमेंसे प्रतिवर्ष कार्तिकी पूर्णिमाको श्री अष्टान्हिकोत्सव, जो लगातार आठ दिनों तक होता है, मनाया जाया करे; चातुर्मासके दिनोंमें साधुओंका वैयावृत्य किया जाया करे और विद्वज्जन उस महानताका उपभोग न्यायानुमोदित रूपमें किया करें।...धर्मात्मा ग्रामवासियों और नागरिकोंको निरन्तर जिनेन्द्रभगवान्‌की पूजा करनी चाहिये। जहां जिनेन्द्रकी सदैव पूजा की जाती है, वहां उस देशकी समृद्धि होती है, नगर आधि-व्याधिके भयसे मुक्त रहते हैं और शासकगण शक्तिशाली होते हैं।" (हल्सी जिला बेलगांवका दानपत्र)[१]।

गंगवंश-स्थापना--

श्री सिंहनन्द्याचार्यने दक्षिणभारतमें गङ्ग साम्राज्यकी स्थापना की थी। उत्तर भारतमें शुङ्ग, कण्वादि राजवंश वैदिक धर्मको प्रोत्साहन दे रहे थे। मौर्योंके साथ ही भारतकी अखंड राष्ट्रीयता खटाईमें पड़ गयी। महाभारत-कालीन स्पर्द्धा वैदिक शासकोंके हृदयोंमें अड्डा जमा चुकी थी। प्रत्येक शासक भरत चक्रवर्ती बननेकी धुनमें अकारण खून बहाता था। इस राजनैतिक परिस्थितिमें उत्तरके बहुत-से राजवंश भ्रष्ट होकर दक्षिणकी ओर चले गये। गङ्गवंशके संस्थापक ददिग और माधव भी उत्तर भारतसे ही दक्षिणमें पहुंचे थे। ददिग और माधव राजपुत्रोंने श्री सिंहनन्द्याचार्यसे जैनधर्मकी दीक्षा ली और प्रतिज्ञा की कि वे और उनकी सन्तति सदा ही जिनेन्द्रभक्ति और अहिंसाधर्मके प्रभावक रहेंगे। अपने वचनको उन्होंने खूब निभाया। उनके शासनकालमें जैनधर्म का विशेष अभ्युदय हुआ। श्रवण बेलगोलकी विश्वविख्यात् बाहुबलि गोम्मटदेवकी विशालकाय सुन्दर प्रतिमाका निर्माण गङ्ग सेनापति वीरवर चामुण्डरायने किया था।

यापनीयसंघ—

यापनीय संघके आचार्योंने जैन संघोंमें पारस्परिक समुदार भावनाको बढ़ाया। श्रावक पारस्परिक अनैक्यसे परे थे। एक ही श्रावक उदारता पूर्वक सब ही सम्प्रदायोंके साधुओंको दान देता था। दक्षिण भारतमें शिल्पियोंने एक 'वीर पंचल' संस्था स्थापित की थी, जिसमें सुनार, लुहार, भरिया, बढ़ई और राज (मैमार) सम्मिलित थे। यह शिल्पी अपनेको शूद्र नहीं मानते थे, बल्कि विश्वकर्मा ब्राह्मण कहलाते थे। इनके नामके साथ 'ओझा' और 'अचारी' शब्दोंका प्रयोग होता था। प्रसिद्ध गोम्मटमूर्तिके एक शिल्पीका नाम 'विदिग ओज्झा' था। व्यापारियोंने संघोंकी स्थापना की थी।

---

१ कदम्बनरेश मृगेशवर्माका दानपत्र छपा है। उससे निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) और श्वेतपट (श्वेताम्बर) संघोंका अस्तित्व स्पष्ट है।

आजीविकाके अनुसार उनका वर्ण नियत होता था। सबकी वैदेशिक वंशपरम्परा भी उनके नामके साथ जीवित रहती थी। इस प्रकार जैनाचार्योंने अपनी समुदार संघव्यवस्थामें सामाजिक वैषम्यको मेटनेका प्रयत्न किया था। सम्यक्त्व और जैनाचार ही श्रावकत्व पानेके लिए मुख्य योग्यताएं थीं।

पांचवीं शतीमें श्री वज्रनन्दि आचार्यके तत्त्वावधानमें मदुरामें एक "जैनसंघ" की स्थापना की गयी, जिसका उद्देश्य जैन विद्वानों और साहित्यकारोंकी कृतियोंका आदर और प्रचार करना था।

सातवीं-आठवीं शतीसे दक्षिण भारतमें भी जैनोंकी अवनति प्रारंभ हुई। इस समय तक चालुक्य, राष्ट्रकूट, पल्लव, पाण्ड्य और कलचुरिवंशके नरेश जैनधर्मके भक्त थे। राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्ष के गुरू प्रसिद्ध जैनाचार्य श्री जिनसेन थे। कहते हैं, उनके उपदेशसे सम्राट् अमोघवर्ष ऐसे प्रभावित हुए कि दिगम्बर मुनि हो गये। उनका रचा हुआ नीतिग्रंथ सुभाषित 'रत्नमाला' विश्वसाहित्यका एक अमूल्य रत्न है। अप्परने पल्लव नरेश महेन्द्रवर्म्माको शैव बनाया। पाण्ड्य नरेश सुन्दर भी शैव हुए। इन दोनों नरेशोंके जैनसे शैव होनेपर शैवधर्म प्रबल हुआ। चोलनरेश तो पहलेसे ही जैन विरुद्ध थे। परिणामतः जैन मंदिर और मूर्तियां नष्ट की गयीं और अनेक जैनी बलात् शैवधर्ममें दीक्षित किये गये। सुन्दरने बहुत ही जुल्म ढाया—जिन आठ हजार जैनोंने अपना धर्म नहीं छोड़ा उनको उसने शूलीपर चढ़ा दिया। इन भाग्यशाली धर्मवीरोंकी मूर्तियां, अर्काटके लिवलूर देवालयकी दीवालोंपर अङ्कित हैं। इस समयमें भी जनताके सहयोगसे आचार्य सुदत्तने 'होय्सल' राजवंशकी स्थापना की थी। राजा, विष्णुवर्द्धन तक सब ही होय्सल नरेश जैनधर्मानुयायी रहे और उनके धर्मगुरू एवं राजगुरु होनेका सौभाग्य भी जैनाचार्योंको प्राप्त रहा। विष्णुवर्द्धनके सेनापतियोंमें दण्डाधिप 'अमृत' शूद्र थे। गंगराज आदि सेनापति जैन ही थे। जैनाचारकी मान्यता प्रत्येक वर्ग और जातिमें थी। जैन मंदिरोंकी दान परिपाटीको चलानेके लिए दातारोंने प्रत्येक मंदिरको दो-चार गावोंकी आमदनी दे रक्खी थी, जिसका उपभोग उस मंदिरके आचार्य करते थे। वैष्णवाचार्य श्री रामानुजने द्वारसमुद्रमें प्रवेश किया और अपनी विद्यासे विष्णुवर्द्धनको प्रभावित किया। विष्णुभूप वैष्णव धर्मभक्त हो गये और बेलूरमें उन्होंने नयनाभिराम-केशव मंदिर बनवाया। अपने धर्मको जनप्रिय बनानेके लिए रामानुजने भी अहिंसाको अपनाया और वैष्णव मठोंमें जैन मंदिरोंकी भांति चारों प्रकारके दान देनेकी व्यवस्था की। जैन प्रणालीको अपनाकर ही वह वैष्णव मतको फैलानेमें सफल हुए।

यद्यपि सम्राट् विष्णुवर्द्धन वैष्णव हो गये; फिर भी वह चोल और काकतीय नरेशोंके समान जैनोंको कष्ट नहीं पहुंचा सके। प्रत्युत जैनधर्मके प्रति उनकी नीति उदार रही। उन्होंने जैन मंदिरोंको भी दान दिये और जैन उत्सवोंमें भाग लिया। सम्राट्की इस नीतिका कारण सम्राज्ञी सान्तल देवी और सेनापति

गङ्गराज थे। सम्राज्ञी और प्रधान सेनापति जीवनके अन्ततक जिनेन्द्रभक्त थे। इनके बाद जैन मुद्रांकित वैष्णव सम्प्रदाय ही बढ़ता गया।

विजयनगर काल

विजयनगर साम्राज्यने विदेशी यवनों (मुसलमानों) से मोर्चा लेनेके लिए साम्प्रदायिक संघर्षका अन्त किया। जैन, शैव और वैष्णव-सबही कंधासे कंधा लगाकर विदेशियोंके आक्रमणको व्यर्थ करनेके लिए टूट पड़े। इस ऐक्यने वैदिक राज्यकी जड़ एक शतीके लिए और मजबूत बना दी। वैष्णव जोरदार थे। एकदफा वह जैनियोंसे उलझ गये। सम्राट बुक्करायने समझौता कराया। वैष्णवोंको जैनोंका सम्मान करनेके लिए बाध्य किया। यद्यपि विजयनगर साम्राज्यमें धर्म स्वातन्त्र्य था; तो भी जैनेतर धर्मोंको अधिक सुविधा थी। सोलहवीं शतीमें पुनः जैन शासनको उन्नत होता हुआ पाते हैं। श्री विद्यानन्द आचार्य एक महावादी रूपमें प्रगट हुए थे। उन्होंने राजदरबारोंमें जाकर परवादियोंसे शास्त्रार्थ किये और उन्हे निग्रह स्थानको पहुंचाया। श्रीरंगपट्टम् के राजदरबारमें श्री विद्यानन्दजीने ईसाई पादरियोंसे वाद किया और विजय पायी। फलतः वह राजवंश जैनी हो गया[1]। ऐसे ही उन्होंने कई राजवंशोंको जैनधर्ममें दीक्षित किया था। किन्तु लिंगायत और वैष्णवोंके आक्रमणोंको जैन सहन नहीं कर सके। अनेक राजवंश जैनधर्म विमुख अथवा राजच्युत कर दिये गये। उधर मुसलमानोंके आक्रमणोंने जैनोंके संगठनको छिन्न भिन्न कर दिया। इसका परिणाम जैनोंका ह्रास हुआ।

दक्षिणमें मुसलमानोंके पैर जम जाने पर जैनोंने मुसलमान शासकोंको भी प्रभावित किया। सुल्तान हैदरअलीसे भी उन्होंने श्रवणबेलगोलके लिए पुराने गांव प्राप्त किये थे[2]।

उत्तरभारत--

उत्तर भारतमें जैनधर्मकी स्थिति विचित्र रही है। ग्रामीण जनतामें भी जैनधर्मकी श्रद्धा गुप्तकाल तक गहरी थी। जैन मन्दिर भारतियोंके लिए शिक्षा और संस्कृतिके केन्द्र थे। सम्राट् हर्षने जिस समय प्रयागमें विद्वत्सम्मेलन बुलाया था तो उसमें भाग लेनेके लिए कई सौ जैन विद्वान् भी पहुंचे थे[3]। गुप्तराजवंशके कई सम्राट् भी जैनधर्मसे प्रभावित थे। चीनी यात्री फाह्यान् और हुएनसांगके यात्रा वर्णनसे स्पष्ट है कि मध्यभारतमें जैनधर्मकी अहिंसाका काफी प्रभाव था। बंगाल, बिहार और उड़ीसामें एकमात्र दिगम्बर जैनधर्म ही काफी समय तक था। गुप्तवंशके राजपुरुषोंमें श्री हरिगुप्त एवं

---

१. राइस कृत मैसूरएण्ड कुर्ग, पृ० २०९।

२. स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म, भा० २ पृ० १३२।

३. संक्षिप्त जैन इतिहास, भा० २ खंड २ पृ० १०९।

देवगुप्तके विषयमें कहा जाता है कि उन्होंने श्वेताम्बर जैनाचार्यसे साधुपदकी दीक्षा ली थी[1]। गुप्तसम्राटोंके सेनापति भी जैन थे। भेलसाके निकट उदयगिरिमें गुप्त सेनापतिने जैन गुफामंदिर बनवाकर बड़ा उत्सव किया था। जैनधर्मके साथ ही जैनकलाकी भी पर्याप्त उन्नति हुई थी। गुप्तकालीन जैनकलाके नमूने सारे उत्तर भारतमें फैले पड़े हैं। गुप्तकालमें ही देवगढ़के अधिकांश दिव्य मंदिरों और मूर्तियोंका निर्माण हुआ था।

बङ्गाल और कलिंगमें भी इस समय तक दिगम्बर जैनधर्मका प्रचार था। पहाड़पुरमें प्रसिद्ध निर्ग्रन्थ (दि० जैन) संघ विद्यमान था। उसके अध्यक्ष आचार्य गुहनन्दि संभवतः नन्दिसंघके गुरू थे[2]। उस सयय पुंड्रवर्धन नगरमें (४७८ ई०) ब्राह्मणनाथशर्मा और उसकी भार्या रामी रहते थे। वे पुंड्रवर्द्धनके अयुक्तक (जिलाधीश) और नगर सभा (City Council) अध्यक्ष (नगरश्रेष्ठी) के पास पहुंचे और तब प्रचलित रीतिके अनुसार उन्होंने कुछ भूमि प्राप्त करनेके लिए तीन दीनार राजकोषमें जमा करा दिये। उस भूमिको इस प्रकार मोल लेकर उन्होंने वटगोहालिके जैन विहारमें, जिसके अध्यक्ष आचार्य गुहनन्दि थे, एक विश्रामगृह बनानेके लिए एवं जिनपूजाके लिए चन्दन, धूप, गंध, दीप, पुष्प, आदि चढ़ानेके लिए भेंट कर दी[3]। उस समय ब्राह्मणादि चारों ही वर्णोंके लोग थे। कलिङ्गमें तो जैनधर्म राष्ट्रधर्म बना हुआ था। कलिंग-नृप गुहशिव दिगम्बर जैनधर्मका अनुयायी था। उसीके समयसे कलिंगमें जैनधर्मके विरुद्ध षड्यन्त्र होने लगा था। फलतः कुछ जैनी कलिंग छोड़कर पटनामें जा रहे थे[4]। कामरूपके दक्षिणमें समतट और पूर्वीय बंगालमें भी दि० जैन असंख्य थे। कुमारीपर्वत (खंडगिरि-उदयगिरि) पर बारहवीं शती तकके जैन लेख मिलते हैं और बंगाल-बिहारमें इससे भी बादकी निर्मित हुई जिनमूर्तियां यत्र तत्र बिखरी हुई मिलती हैं, जो इस बात की साक्षी है कि मुसलमानों के आगमन-समय तक वहां जैनधर्म प्रचलित था। जिनके वंशधर सराकों (श्रावकों) की अब भी बड़ी संख्या है।

मध्यभारतमें हैहय और कलचूरि वंशके राजा भी जैनधर्मसे प्रभावित थे। राजपूताना, गुजरात और कर्णाटकमें शासनाधिकारी चालुक्य, राष्ट्रकूट (राठौर), सोलंकी आदि राजवंश भी जैनधर्मके संरक्षक थे। उनमेंसे कई राजाओंने जैनाचारका पालन भी किया था। सम्राट् कुमारपालने अपने शौर्य और दानका सिक्का चारों दिशाओंमें जमा रखा था। इन राजाओंके अधिकांश राजकर्मचारी जैन ही थे।

सिंध प्रान्तमें भी जैन श्रमण अपने मतका प्रचार कर रहे थे। मुसलमानोंको पहले पहले श्रमणोपासक शासकोंसे ही मोर्चा लेना पड़ा था मुसलमानोंके पैर भारतमें मुहम्मद गोरीके आक्रमणके

---

१. जैनिज्म इन नार्थ इण्डिया, पृ० २१०-२१३।

२. इण्डियन हिस्टोरीकल क्वार्टरली, भा२ ७ पृ० ४४१ व बृहत्कथाकोष (सिंघी ग्रं०), भूमिका।

३. वी० सी० लॉ वॉल्यूम, (पूना १९४६), भा० २ पृ० २५२-२५३।

४. दाठावंसो अ० २ तथा दिगम्बरत्व और दि० मुनि, पृ १२५।

बाद ही जमे थे। इस समय तक दोनों ही जैन सम्प्रदायोंमें नाना गच्छ और संघ हो गये थे। श्रमण लोग मठों और उपाश्रयोंमें रहने लगे थे। जैन जनता में ब्राह्मणोंकी रूढ़िवादता घर कर गयी थी। फलतः जैनियोंने भी मुसलमानोंको अपने धर्ममें दीक्षित करना बन्द कर दिया। उन्हें अपने धर्मायतनों और साधर्मियोंकी रक्षा करनेकी ही फिक्र थी। इसलिए मुसलमानोंको 'म्लेच्छ' कहकर उनके सम्पर्कमें हिन्दुओं को नहीं आने दिया गया। किन्तु ज्योंही मुसलमान यहांके शासनाधिकारी हुए और शान्ति स्थापित हुई, त्योंही जैनाचार्यों और साधुओंने उनपर अपना प्रभाव डालनेका प्रयत्न किया।

मुसलिम युग—

सुल्तान मुहम्मद गोरीके सम्बन्धमें कहा जाता है कि उन्होंने अपनी बेगमके आग्रहसे एक दिगम्बर जैन साधुको बुलाकर अपने दरबारमें सम्मानित किया था[१]। कर्णाटक देशसे श्री महासेन आचार्य बुलाये गये थे जिन्होंने अलाउद्दीनके दरबारमें परवादियोंका मद चूर करके जैननधर्मका सिक्का जमाया था[२]। दिल्लीके सेठ पूर्णचन्द्र सुलतान अलाउद्दीनके कृपापात्रोंमें थे। वह दिल्लीसे एक जैनसंघ श्री गिरिनार तीर्थकी वन्दनाको ले जानेमें समर्थ हुये थे[३]। गुजरात विजयके समय सुलतानका समागम दि० जैन साधु श्रुतवीर स्वामीसे हुआ था[४]। उन्होंने श्वेताम्बर जैन आचार्य रामचन्द्र सूरिका भी सम्मान किया था[५]। गुजरातके शासक अलपखांके द्वारा ओसवाल जैनी समरसिंह सम्मानित हुये थे[६]। इस समय वैयक्तिक प्रभावों द्वारा ही जैनधर्मकी प्रतिष्ठा थी। जैनियोंकी संख्या करोड़ोंमें थी वे अपने ज्ञान, सदाचार और सम्पत्तिके कारण सर्वत्र सम्माननीय थे। गयासुद्दीन तुगलकके मन्त्री होनेका गौरव प्राग्वाट कुलके दो जैनी भाइयों सूर और वीरको प्राप्त था[७]। बादशाह मुहम्मद तुगलकको कर्णाटक देशके दिगम्बर जैनाचार्य सिंहकीर्त्तिने प्रभावित किया था[८]। तुगलक वंशके सम्राट् फीरोजशाहने भी एक दिगम्बर जैन आचार्यको निमंत्रित किया था। यह आचार्य एक खंडवस्त्र धारण करके राजमहलमें भी गये थे और बेगमको धर्मोपदेश दिया था। राजमहलसे वापस आकर उन्होंने वस्त्र उतार दिया था और

१. इंडियन ऐंटीक्वायरी, भा० २१ पृ० ३६१।

२. जैनसिद्धान्त भास्कर भा० १ कि० ४ पृ० १०९ व भा० ५ पृ० १३८।

३. जैनहितैषी, भा० १५ पृ० १३२।

४. जैनसिद्धान्त भास्कर, भा० ३ पृष्ठ ३५ व भा० ५ पृष्ठ १३९।

५. Der Jainisms, p. 66.

६. पुरात्तत्व (अहमदाबाद) पुस्तक ४ अंक ३-४ पृ० २७७-२७९।

७. कर्णाटक हिस्टोरीकल रिव्यू, भा० ४ पृष्ठ ८६ फुटनोट।

८, कर्णाटक हिस्टो० रिव्यू०, भा० पृष्ठ ८५।

प्रायश्चित लिया था[१]। दि० जैन गुरु विशालकीर्ति भी दिल्ली आये थे और यवन दरबारमें जैन ध्वजको ऊंचा किया था।[२] मार्कोपोलो, ट्रावरनियर, बरनियर, आदि विदेशी यात्रियोंने भारतमें दिगम्बर साधुओंको धर्म प्रचार करते हुए पाया था[३]।

उक्त कालीन मुसलिम राज्यकालमें मुगल-सम्राटोंका शासनकाल विशेष प्रख्यात् रहा है। मुगल शासकोंको भी जैनाचार्योंने प्रभावित किया था, जिसके कारण जैनोंको अपने धर्मको पालनेकी पूर्ण सुविधा मिली थी। सम्राट् अकबरके दरबारी और राजकर्मचारी होनेका गौरव सरदार कर्मसिंह, साहुटोडर, राजा भारामल्ल आदि जैन महानुभावोंको प्राप्त था[४]। हरिविजयसूरि, विजयसेन, जिनचन्द्र, भानुचन्द्र प्रभृति श्वेताम्बर जैनाचार्योंने अकबर और जहांगीरको जैनधर्मकी शिक्षा दी थी[५]। ईसाई पादरी पिनहेरो (Pinheiro) ने तो यहां तक लिखा कि अकबर जैनियोंके नियमोंको पालते थे[६]—मानो वह जैनी हो गये थे। अहिंसाधर्मको प्रकाशमें आनेका अवसर एक बार फिर अकबरके शासनमें प्राप्त हुआ था[७]। अपने धर्मका प्रचार करने की प्रत्येक धर्मावलम्बीको स्वाधीनता पुनः प्राप्त हुई थी। वे मुसलमानोंकी शुद्धि भी कर सके थे। राजनियमानुसार हिन्दू भी एक मुसलमान कन्यासे व्याह कर सकता था, बशर्ते कि वह हिन्दू होनेके लिए तैयार हो। बलात् धर्मपरिवर्तन निषिद्ध था[८]। जहांगीरके शासनकालमें रजौरी नामक स्थानके हिन्दुओंने अनेक मुसलमान कन्याओंको हिन्दू बनाकर व्याहा था। सम्राट्को यह सामूहिक धर्म परिवर्तन असह्य हुआ और उन्होंने इसपर कानूनी बन्दिश लगा दी[९]। जैनियोंमें भी सामाजिक संकीर्णता आगयी थी—इसलिए वह भी इस दिशामें आगे नहीं बढ़ सके। किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि अकबरके शासनकालमें जैनियोंकी संख्या कई करोड़ थी[१०]। कविवर बनारसीदासजी शाहजहांके कृपापात्र थे। सम्राट् औरंगजेबने दिगम्बर जैनाचार्यका सम्मान किया था।

भट्टारक प्रथाका जन्म—

फीरोजशाहके समयमें दिगम्बर जैन आचार्यने धर्म प्रभावनाके लिए वस्त्रधारण किया था, उसका

---

१. भट्टारकमीमांसा (सूरत) पृ० २।

२. कर्णाटक हिस्टा० रिव्यू, भा० ४ पृष्ठ ७८-८२।

३. दिगम्बरत्व और दिगम्बरमुनि, पृष्ठ २४६-२६०।

४. जैन सिद्धांतभास्कर, भा० ५ पृष्ठ १४१-१४१।

५. 'सूरीश्वर और सम्राट्' नामक पुस्तक।

६. He follows The sect fo vrai (Jain). Pinheiro.

७. पुरातत्त्व (अहमदाबाद) पुस्तक ५ अंक ४ पृष्ठ २४-२३।

८. इण्डियन कल्चर भाग ४ अंक ३ पृष्ठ ३०४।

९. इंडियन कलचर, भा० ४ अंक ३ पृष्ठ ३०६-३०८।

१०. आईन-इ,अकबरी (लखनऊ) भा३ पृष्ठ ८७-८८३।

परिणाम भयंकर हुआ। दि० जैनाचार्य मठों और मन्दिरोंमें तो पहलेसे ही रहने लगे थे मन्दिरों को जागीरें लगी हुई थीं। वह दिगम्बरी दीक्षा लेते थे, केशलोंच करते थे, और वस्त्र ग्रहण कर लेते थे। आहारके समय नग्न हो जाते थे। ओसवाल, खंडेलवाल, आदि भट्टारकों द्वारा जैनधर्ममें दीक्षित की हुई जातियां हैं। इन भट्टारक लोगोंने एक धर्म-शासन व्यवस्था बना ली थी प्रत्येकका शासनक्षेत्र मण्डल कहलाता था। उस मण्डलके जैनियों धर्म-शासनाधिकारी भट्टारक 'मंडलाचार्य, कहा जाता था। मंडलाचार्यकी आज्ञानुसार ही विवाह, आदि सामाजिक कार्य होते थे, जिनके लिए वे भट्टारक श्रावकोंसे कर वसूल करते थे। प्रत्येक श्रावक अपनेको किसी न किसी भट्टारकके 'अन्वय' से सम्बन्धित बताता था। इस प्रथासे यह लाभ तो अवश्य हुआ कि प्रत्येक मंडलके जैनी सुसंगठित और धर्मरत रहे। बाहरके आक्रमणका भय उनको नहीं रहा। भट्टारक म० उनको येनकेन प्रकारेण धर्ममें दृढ़ रखते थे। किन्तु सबसे महान् क्षति यह हुई कि जैन संघ लुप्त हो गया।

उपजातियोंकी सृष्टिके कारण—

१. गुरू-परम्परा—प्रत्येक मंडलके गुरू (भट्टारक) अलग थे। इसलिए इस आधारसे कोई कोई उपजाति अस्तित्वमें आयी। भट्टारकोंने उन भक्तोंमें अनेक गुणोंका विधान करके उनका नामकरण किया। जैसे पंचम, चतुर्थ जातियां[१]। २. आजीविका के आधारसे भी उपजातियां बन गयीं, क्योंकि उस जातिमें वही आजीविका प्रचलित थी; जैसे कासार, सेतवाल जातियां[२]। ३. आवास क्षेत्रकी अपेक्षासे अधिकांश जातियां अस्तित्वमें आयीं। अर्थात् जिस देश अथवा जिस ग्राममें उनके पूर्वजोंका आवास था, उसकी अपेक्षा उनका नामकरण हुआ; जैसे गोल्लदेशके गोलालारे, लम्बकांचन देशके लम्बकंचुक; खंडेला नगरके खंडेलवाल; ओसियाके ओसवाल; श्रीमालके श्रीमाली, इत्यादि। ४. प्राचीन कुलों और गुणों के वंशज होनेकी अपेक्षासे भी कुछ उपजातियां अस्तित्वमें आयी हैं। कौटिल्यने गणतंत्रोंको 'वार्ताशस्त्रोपजीवी' लिखा है। अर्थात् वे वार्ता (कृषि, पशुपालन या वणिज) और अस्त्र (सैनिक वृत्ति) से अपनी आजीविका अर्जित करते थे। उदाहरणार्थ अग्रेय गणतंत्र के वार्ता-उपजीवी वंशज आजकलके अग्रवाल हैं।

कुछ लोगोंका ख्याल है कि खंडेलवाल आदि उपजातियां अनादि हैं, परंतु वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। शास्त्रोंमें इनका उल्लेख नहीं मिलता। सिद्धान्त द्वारा अनादिता सिद्ध नहीं होती। अनादि

---

१. मूर्ति और यंत्रलेखोंमें ऐसे अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं।

२. कुंडनगर कृत ऐंटीक्वटीज ऑफ कोल्हापुर स्टेट। एक शिलालेखमें पंचम जातिके श्रावकोंको पंचव्रतादि संयुक्त होनेकारण पंचम लिखा है।

२. कासार वर्तन बनानेका काम करते हैं (बम्बईके प्राचीन जैनस्मारक)

तो मानव जाति है। उस एक मानव जातिको टुकड़ोंमें बांटनेका काम तो मानवका है। ऋषभदेवने समष्टिका ध्यान रखकर मानवोंके वर्ग किये किन्तु मुस्लिम कालमें (१३ वीं, १४वीं शतीमें) मानवके व्यक्तिगत स्वार्थने उसको छोटी छोटी उपजातियोंमें बांट दिया। तदुपरान्त उनमें जड़ता आ गयी और अपनी ही उपजातिमें विवाह करनेके लिए लोग बाध्य हुए। भट्टारकगण शिथिलाचारमें फंस गये; उन्होंने श्राद्ध, तर्पण, आदि वैदिक क्रियायोंको जैनियोंमें प्रचलित किया और ब्राह्मण-पुरोहितोंकी तरह ही श्रावकोंसे खूब रुपया वसूल किया। श्री टोडरमल्ल आदिने भट्टारकीय शिथिलताका भंडाफोड़ किया और शास्त्रोंकी भाषाटीका करके धर्मज्ञानका प्रचार सर्व साधारणमें किया। फलतः जैनी अपने विवेक से काम लेनेके योग्य बन सके।

इस समय सुधारकी एक जबरदस्त लहर भारतमें आयी। प्रत्येक सम्प्रदायमें जड़ मूर्तिपूजा और जाति-पांतकी कट्टरताका विरोध किया गया। नये-नये सम्प्रदाय बने, तारणपंथ और स्थानकवासी पंथ मूर्तिपूजाका अंत और सामाजिक उदारताको लेकर अवतरित हुए। मध्यवर्ती सुधारकोंने मूर्तिपूजाके समर्थनमें युक्ति और विवेकसे काम लिया। दीवान अमरचंद और मुनि ब्रह्मगुलालकी कृतियां यही बताती हैं। जयपुर, आगरा, आदि स्थान सुधारकोंके केन्द्र थे। इन सुधारकोंने अंधविश्वास और धर्ममूढ़ताको जैनोंमें पनपने नहीं दिया। भट्टारकीय-प्रथाको गहरा धक्का लगा, जिससे वह मरणासन्न हो गयी। किन्तु ये सब संगठित संस्थाके रूपमें नहीं थे। इसलिए धीरे धीरे जैसे जैसे पंडित-गृहस्थोंका अभाव होता गया और पंचायतोंमें पक्षपात और अविवेक घुसता गया वैसे वैसे यह दोनों ही निष्प्रभ हो गये। आज पंचायतें हैं ही नहीं और हैं भी तो शक्तिहीन।

इस कालमें पुरोहितोंने जैनोंके प्रति घोर विष उगला। क्योंकि जैनी ब्राह्मण-पुरोहितोंको अपने मांगलिक कार्योंमें नहीं बुलाते थे और न दान-दक्षिणा देते थे, वे दयनीय स्थितिमें थे। प्रान्त-प्रान्त जैनोंका यदि अध्ययन किया जाय तो प्रायः इसी तरह की स्थिति दीख पड़ेगी। मुस्लिम कालके प्रारंभमें जहां जैनी इतने उदार थे कि एक वेश्या तक को श्राविका बना सकते थे, वहां इस कालमें वह इतने संकुचित हुए कि सन्मार्गसे उन्मुख हुए अपने जैनी भाई या बहनको भी संभालकर घरमें न ला सके। उनमें जातिगत पारस्परिक स्पृद्धा भी हो चली थी; जिसने जातिवाचक जैनमंदिरोंको जन्म दिया। मन्दिर और भगवान् भी अग्रवाल, खंडेलवाल, पद्मावतीपुरवाल, आदि हो गये। इस मिथ्या धारणाका जहर अभी तक जैनोंमें से गया नहीं है। इस दयनीय स्थिति से विधर्मी प्रचारकों ने मनमाना लाभ उठाया। अनेक जैनी ईसाई बनाये गये तो बहुत-से मुसलमान हो गये।

आधुनिक युग—

जैन ही नहीं, जैनेतर वैदिक सम्प्रदायों पर भी ऐसे ही आक्रमण हो रहे थे पर किसी में

प्रतिक्रिया नहीं थी। इस विषम समयमें स्वामी दयानन्द आगे आये। वह गुजरातमें रहते थे और स्थानकवासी जैन साधुओंका प्रभाव उन पर पड़ा था[1]। उन्होंने सभी सम्प्रदायों पर बुरी तरह आक्रमण किया। सब लोग तिलमिला उठे, सबको अपना घर सम्हालनेका होश आया। जैनियोंने यद्यपि दयानंदजीसे सफल मोर्चा लिया; परन्तु उतना पर्याप्त नहीं था। जैनियों में धर्मज्ञान फैलानेकी आवश्यकता प्रतीत हुई। जैनोंमें दिग्गज विद्वान् भी तैयार करना आवश्यक प्रतीत हुआ। फलतः मथुराके वार्षिक मेलापर श्री "जैनधर्म संरक्षिणी महासभा" की स्थापना दिगम्बर जैनियोंने की। सब ही दिगम्बर जैन उसके सदस्य हो सकते थे। "जैनसंघ" की पुनरावृत्ति करना ही मानो उसके संस्थापकोंका ध्येय था। उपजातियोंको भुलाकर सब ही जैनी उसमें सम्मिलित हुए और उन्होंने भ्रातृभावका अनुभव किया। उस समय जैनोंमें इतनी कट्टरता थी कि सब जैनी खुले आम सबके यहां 'रोटी' भी नहीं खा सकते थे। श्रावकाचार दोनों पालते थे; परंतु उप जातिका अभिमान उसमें बाधक था। महासभामें सम्मिलित होनेसे जैनियों की यह कट्टरता मिट गयी सब ही जैनी एक दूसरे के सम्पर्कमें आये और वात्सल्य भावको प्राप्त हुए। महासभाने "जैन महाविद्यालय" की भी स्थापना की, जिसका उद्देश्य उच्चकोटिके संस्कृतज्ञ विद्वान् उत्पन्न करना था। समाज सुधारके लिए महासभाने बाल वृद्ध-विवाह, वेश्यानृत्य, बखेर, आतिशबाजी, आदि कुरीतियोंके विरुद्ध आवाज उठायी थी।

कुछ अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगोंके हृदयोंमें संगठनके भावका उदय अवश्य हुआ और उन्होंने "जैन यंग मेनस ऐसोसियेशन" को जन्म दिया। वही "आल इंडिया जैन एसोसियेशन" ("भारत जैन महामंडल") के रूपमें परिवर्तित हो गया है; किन्तु वह भी जैनसंघको पुनः संगठित बनानेमें असफल रहा। इसके बाद दो दल हो गये। एक दल स्थितिपालनको ही पर्याप्त समझता था और दूसरा निरन्तर सुधार करना चाहता था। महासभाके महाविद्यालयको कोलिज बनानेपर संघर्ष प्रारम्भ हुआ। उपरान्त वह संघर्ष धर्म ग्रन्थ छपाने, कोलिज-स्कूल खोलने, दस्साओंको पूजा करने देने, आदि बातोंको लेकर बढ़ता ही गया। समाजमें जागृतिकी लहर दौड़ गयी विद्यालय और पाठशालाएं खोली गयीं। श्राविकाश्रम भी खोले गये। इस कालमें जैन शिक्षाको विशेष प्रोत्साहन पूज्य पं० स्व० गोपालदासजी वरैया द्वारा मिला। उन्होंने दस्साओंको पूजा करने देनेका पक्ष लिया था। खतौलीके मुकद्दमेमें दस्साओंकी तरफसे गवाही भी दी। (१) अजैनोंको जैनी बनाने और उनसे रोटी बेटी व्यवहार करने, (२) चारित्रभ्रष्टोंकी शुद्धि करने, (३) दस्साओंको दर्शन पूजन करने देने, (४) अन्तर्जातीय विवाह करने और (५) पुरुष-स्त्रीको समान रूपमें धर्म शिक्षा देनेपर वरैयाजीने जोर दिया था। इन उपायों द्वारा ही पुनः एक अखंड जैन-संघका जन्म संभव था। दिल्लीके पूजा-महोत्सवके

---

1. Modern Religious Movement in India (Calcutta) P 104.

समय उत्साही युवकों और नेताओंने "अ० भारतीय दिगम्बर जैन परिषद्" की स्थापना की। १९२३ में परिषदका जन्म हुआ और तबसे वह कतिपय उन्हीं सुधारोंका प्रचार करनेका प्रयत्न कर रहा है, जिनका प्रतिपादन पंडित-प्रवर स्व० गोपालदासजी वरैयाने सबसे पहले किया था।

महासभाकी सुसुप्ति तथा परिषद्के आधुनिक जोशको देख कर ही दि० जैनोंमें 'भा० दि० जैन-संघ' का उदय हुआ। प्रारंभमें संघ द्वारा विधर्मियोंसे सफल शास्त्रार्थ किये गये। जिनसे काफी धर्म प्रभावना हुई। अब कुछ वर्षोंसे समयके साथ संघने अपनी नीति बदल दी है। अब उसके द्वारा समाजमें सर्वदा एवं विशेष उत्सवों पर धर्मोपदेशक भेजकर प्रचार कार्य होता है। जैनधर्मके कुछ ग्रन्थ भी संघने प्रकाशन किये हैं। किन्तु इतनेसे लुप्त दि० जैनसंघको पुनः अस्तित्वमें नहीं लाया जा सकता।

पुरुषोंके साथ महिलाओंमें श्राविकाश्रमों द्वारा जो जागृति हुई, उसका श्रेय स्व० श्री मगनबाईजी, श्री कंकुबाईजी और श्री ललिता बाईजीके साथ विदुषीरत्न पं० चन्दाबाईजीको भी प्राप्त है। उनके उद्योगसे ही 'भा० दि० जैन महिला परिषद' का जन्म हुआ; जिसके द्वारा जैनमहिलाओंमें कुछ जागृति फैलायी जा रही है। महिलोद्धारके लिए भी बहुत कुछ करना शेष है।

सांस्कृतिक उद्धार और इतिहासान्वेषणके लिए जैनियोंने कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं किया है। एकमात्र पत्र 'जैनसिद्धान्तभास्कर' आरासे प्रगट हो रहा है। यद्यपि ग्रन्थोद्धारके लिए 'श्री माणिकचंद्र ग्रन्थमाला', 'श्री लक्ष्मीचंद्र ग्रन्थमाला', 'श्री चवरेसीरीज', प्रभृति अनेक संस्थाएं कार्य कर रही हैं; किन्तु प्रकाशनके साथ उनके द्वारा जैनसाहित्यके लोकव्यापी प्रसारका उद्योग नहीं हो रहा है। श्वेताम्बर समाज लोकमें अपने साहित्यका प्रसार करनेमें अग्रसर है। श्वेताम्बरीय संस्थाओं 'सिंघी जैन ग्रन्थ-माला' आदि का रूप सार्वजनिक है। काशीकी भारतीय ज्ञानपीठने अपना दृष्टिकोण उक्त संस्था परसे विशाल तो बनाया है; परन्तु अभी तक उसके द्वारा कोई ठोस कार्य नहीं हुआ है। लोकमें अहिंसा-संस्कृतिका प्रसार करनेके लिए जैनियोंको मिलकर कोई कदम उठाना चाहिये। अन्यथा जैन युवक ही जैनत्वसे बहक रहे हैं।

श्वेताम्वर और स्थानकवासी जैनसमाजोंमें भी अपनी अपनी सभाएं सामाजिक व्यवस्थाके लिए हैं। किन्तु उनके समाजका नेतृत्त्व उनके आचार्यों और साधुओंके हाथमें है। साधुसंघमें यद्यपि जाति-पांतिका ध्यान नहीं रक्खा जाता है, प्रत्येक जातिका मुमुक्षु साधु हो जाता है; परन्तु श्रावक-संघ तो दि० जैनोंकी भांति श्वेताम्बरोंमें भी बंटा हुआ है और जैनसंघकी एकताको मिटाये हुए हैं। इस प्रकार गत ढाई हजार वर्षों की यह रूप रेखा इस कल्पके अवसर्पिणीत्वको ही सिद्ध करती है।

संस्कृत साहित्यके विकासमें जैनविद्वानोंका सहयोग

श्री डा० मंगलदेव, शास्त्री, एम, ए०, पीएच० डी०

भारतीय विचारधाराकी समुन्नति और विकासमें अन्य आचार्योंके समान जैन आचार्यों तथा ग्रन्थकारोंका जो बड़ा हाथ रहा है उससे आजकलकी विद्वन्मण्डली साधारणतया परिचित नहीं है। इस लेखका उद्देश्य यही है कि उक्त विचारधाराकी समृद्धिमें जो जैन विद्वानोंने सहयोग दिया है उसका कुछ दिग्दर्शन कराया जाय। जैन विद्वानोंने प्राकृत, अपभ्रंश, गुजराती, हिन्दी, राजस्थानी, तेलगु, तामिल, आदि भाषाओंके साहित्यकी तरह संस्कृत भाषाके साहित्यकी समृद्धिमें बड़ा भाग लिया है। सिद्धान्त, आगम, न्याय, व्याकरण, काव्य, नाटक, चम्पू, ज्योतिष, आयुर्वेद, कोष, अलङ्कार, छन्द, गणित, राजनीति, सुभाषित आदिके क्षेत्रमें जैन लेखकोंकी मूल्यवान संस्कृत रचनाएं उपलब्ध हैं। इस प्रकार खोज करने पर जैन संस्कृत साहित्य विशाल रूपमें हमारे सामने उपस्थित होता है। उस विशाल साहित्यका पूर्ण परिचय कराना इस अल्पकाय लेखमें सम्भव नहीं है। यहां हम केवल उन जैन रचनाओंकी सूचना देना चाहते हैं जो महत्त्वपूर्ण हैं। जैन सैद्धान्तिक तथा आरम्भिक ग्रन्थोंकी चर्चा हम जान बूझकर छोड़ रहे हैं।

जैनन्याय—

जैन न्यायके मौलिक तत्त्वोंको सरल और सुबोध रीतिसे प्रतिपादन करने वाले मुख्यतया दो ग्रन्थ हैं। प्रथम, अभिनव धर्मभूषणयति-विरचित न्यायदीपिका, दूसरा माणिक्यनन्दिका परीक्षामुख'

न्यायदीपिकामें प्रमाण और नयका बहुत ही स्पष्ट और व्यवस्थित विवेचन किया गया है। यह एक प्रकरणात्मक संक्षिप्त रचना है जो तीन प्रकाशोंमें समाप्त हुई है।

गौतमके 'न्यायसूत्र' और दिङ्नागके 'न्यायप्रवेश' की तरह माणिक्यनन्दिका 'परीक्षामुख' जैनन्यायका सर्व प्रथम सूत्रग्रन्थ है। यह छह परिच्छेदोंमें विभक्त है और समस्त सूत्र संख्या २०७ है। यह नवमी शतीकी रचना है और इतनी महत्वपूर्ण है कि उत्तरवर्ती ग्रन्थकारोंने इस पर अनेक

इस लेखकी प्रायः समग्र सामग्री पं० राजकुमारजी साहित्याचार्य द्वारा प्राप्त हुई है। इसके लिए उनको धन्यवाद है।

विशाल टीकाएं लिखी हैं। आचार्य प्रभाचन्द्र [७८०-१०६५ ई०] ने इस पर बारह हजार श्लोक परिमाण 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' नामक विस्तृत टीका लिखी है। बारहवीं शतीके लघु अनन्तवीर्यने इसी ग्रन्थ पर एक 'प्रमेय रत्नमाला' नामकी टीका लिखी है। इसकी रचना-शैली इतनी विशद और प्राञ्जल है और इसमें चर्चित किया गया प्रमेय इतने महत्वका है कि आचार्य हेमचन्द्रने अनेक स्थलों पर अपनी प्रमाण-मीमांसामें इसका शब्दशः और अर्थशः अनुकरण किया है। लघु अनन्तवीर्यने तो माणिक्य-नन्दिके परीक्षामुखको अकलङ्कके वचनरूपी समुद्रके मन्थनसे उद्भूत 'न्यायविद्यामृत'[१] बतलाया है।

उपर्युक्त दो मौलिकग्रन्थोंके अतिरिक्त अन्य प्रमुख न्यायग्रन्थोंका परिचय देना भी यहां अप्रासंगिक न होगा। अनेकान्त वादको व्यवस्थित करनेका सर्व प्रथम श्रेय स्वामी समन्तभद्र, (द्वि० या तृ० शती ई०) और सिद्धसेन दिवाकर (छठीं शती ई०) को प्राप्त है स्वामी समन्तभद्रकी आप्तमी-मांसा और युक्त्यनुशासन महत्वपूर्ण कृतियां हैं। आप्तमीमांसामें एकान्त वादियोंके मन्तव्योंकी गम्भीर आलोचना करते हुए आप्तकी मीमांसा की गयी है और युक्तियोंके साथ स्याद्वाद सिद्धान्त की व्यवस्था की गयी है। इसके ऊपर भट्टाकलङ्क (७२०-७८० ई०) का अष्टशती विवरण उपलब्ध है तथा आचार्य विद्यानन्दि (९ वीं० श० ई०) का "अष्टसहस्री" नामक विस्तृत भाष्य और वसुनन्दिकी (देवागमवृत्ति) नामक टीका प्राप्य हैं। युकत्यनुशासनमें जैन शासनकी निर्दोषता सयुक्तिक सिद्ध की गयी है। इसी प्रकार सिद्धसेन दिवाकर द्वारा अपनी स्तुति प्रधान बत्तीसियोंमें और महत्वपूर्ण सन्मतितर्क भाष्य में बहुत ही स्पष्ट रीतिसे तत्कालीन प्रचलित एकान्तवादोंका स्याद्वाद सिद्धान्तके साथ किया गया समन्वय दिखलायी देता है।

भट्टाकलङ्कदेव जैनन्यायके प्रस्थापक माने जाते हैं और इनके पश्चाद्भावी समस्त जैन तार्किक इनके द्वारा व्यवस्थित न्याय मार्गका अनुकरण करते हुए ही दृष्टिगोचर होते हैं। इनकी अष्टशती, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, लघीयस्त्रय और प्रमाणसंग्रह बहुत ही महत्वपूर्ण दार्शनिक रचनाएं हैं। इनकी समस्त रचनाएं जटिल और दुर्बोध हैं। परन्तु वे इतनी गम्भीर हैं कि उनमें 'गागर में सागर' की तरह पदे पदे जैन दार्शनिक तत्त्वज्ञान भरा पड़ा है।[१]

आठवीं शतीके विद्वान आचार्य हरिभद्रकी अनेकान्तजयपताका तथा षट्दर्शनसमुच्चय मूल्यवान और सारपूर्ण कृतियां हैं। ईसाकी नवीं शतीके प्रकाण्ड आचार्य विद्यानन्दि के अष्टसहस्त्री, आप्तपरीक्षा और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, आदि रचनाओंमें भी एक विशाल किन्तु आलोचना पूर्ण अद्भुत-विचार-राशि बिखरी हुई दिखलायी देती है। इनकी प्रमाणपरीक्षा नामक रचनामें विभिन्न प्रामाणिक मान्यताओंकी आलोचना की गयी है और अकलङ्क-सम्मत प्रमाणोंका सयुक्तिक समर्थन किया गया है। सुप्रसिद्ध

१, अकलङ्कवचोऽम्भोधेरुद्दध्रे येन धीमता।
न्याय विद्यामृतं तस्मै नमो "माणिक्यनन्दिने।" 'प्रमेयरत्नमाला' पृ० २.

तार्किक प्रभाचन्द्र आचार्यने अपने दीर्घकाय प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र में जैन प्रमाण शास्त्रसे सम्बन्धित समस्त विषयोंकी विस्तृत और व्यवस्थित विवेचना की है। तथा ग्यारवीं शतीके विद्वान् अभयदेवने सिद्धसेन दिवाकरकृत सन्मतितर्ककी टीकाके व्याजसे समस्त दार्शनिक वादोंका संग्रह किया है। बारहवीं शतीके विद्वान् वादी देवराजसूरिका स्याद्वादरत्नाकर भी एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है तथा कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमांसा भी जैन न्यायकी एक अनूठी रचना है।

उक्त रचनाएं नव्यन्यायकी शैलीसे एक दम अस्पृष्ट हैं। हां, विमलदासकी सप्तभंगतरङ्गिणी और वाचक यशोविजयजी द्वारा लिखित अनेकान्तव्यवस्था, शास्त्रवार्तासमुच्चय तथा अष्टसहस्रीकी टीका अवश्य ही नव्यन्यायकी शैलीसे लिखित प्रतीत होती हैं।

व्याकरण

आचार्य पूज्यपाद (वि० छटीं श०) का 'जैननेन्द्र व्याकरण' सर्व प्रथम जैन व्याकरण ग्रन्थ कमाना जाता है। महाकवि धनञ्जय (८ वीं श०) ने इसे 'अपश्चिम रत्न[1]' बतलाया है? इस ग्रन्थ पर निम्न लिखित चार टीकाएं उपलब्ध हैं:—

(१) अभयनन्दिकृत महावृत्ति, (२) प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्कर, (३) आचार्य श्रुतकीर्तिकृत पञ्चवस्तु-प्रक्रिया तथा (४) पं० महाचन्द्रकृत लघुजैनेन्द्र।

प्रस्तुत जैनेन्द्रव्याकरणके दो प्रकारके सूत्रपाठ पाये जाते हैं। प्रथम सूत्र-पाठके दर्शन उपरि लिखित चार टीका-ग्रन्थोंमें होते हैं और दूसरे सूत्रपाठके शब्दार्णव-चन्द्रिका' तथा शब्दार्णवप्रक्रिया' में। पहले पाठमें ३००० सूत्र हैं। यह सूत्रपाठ पाणिनीयकी सूत्र-पद्धतिके समान है। इसे सर्वाङ्ग सम्पन्न बनानेकी दृष्टिसे महावृत्तिमें अनेक वार्तिक और उपसंख्याओंका निवेश किया गया है। दूसरे सूत्र-पाठमें ३७०० सूत्र हैं। पहले सूत्र पाठकी अपेक्षा इसमें ७०० सूत्र अधिक हैं और इसी कारण इसमें एक भी वार्तिक आदिका उपयोग नहीं हुआ है। इस संशोधित और परिवर्द्धित संस्करणका नाम शाब्दार्णव[1] है। इसके कर्ता गुणनन्दि (वि० १० श०) आचार्य हैं। शब्दार्णव पर भी दो टीकाएं उपलब्ध हैं :—(१) शब्दार्णव चन्द्रिका और (२) शब्दार्णवप्रक्रिया। शब्दार्णवचन्द्रिका सोमदेव मुनिने वि० सं० १२६२ में लिखकर समाप्त की है और शब्दार्णवप्रक्रियाकार भी बारहवीं[2] शतीके चारूकीर्ति पण्डिताचार्य अनुमानित किये गये हैं।

---

१. "प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
धनञ्जयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिम ॥" धनञ्जय नाममाला,

२. जैन साहित्य और इतिहास (पं० नाथूराम प्रेमी) का 'देवनन्दि और उनका जैनेन्द्र व्याकरण' शीर्षक निबन्ध।

महाराज अमोघवर्ष (प्रथम) के समकालीन शाकटायन या पाल्यकीर्तिका शाकटायन-(शब्दानुशासन) व्याकरण भी महत्वपूर्ण रचना है। प्रस्तुत व्याकरण पर निम्नाङ्कित सात टीकाएं उपलब्ध हैं—

(१) अमोघवृत्ति—शाकटागनके शब्दानुशासन पर स्वयं सूत्रकार द्वारा लिखी गयी यह सर्वाधिक विस्तृत और महत्वपूर्ण टीका है। राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्षको लक्ष्यमें रखते हुए ही इसका उक्त नामकरण किया गया प्रतीत होता है। (२) शाकटायन न्यास—अमोघवृत्ति पर प्रभाचन्द्राचार्य द्वारा विरचित यह न्यास है। इसके केवल दो अध्याय ही उपलब्ध हैं। (३) चिन्तामणि टीका (लघीयसी वृत्ति)—इसके रचयिता यक्षवर्मा हैं। और अमोघवृत्तिको संक्षिप्त करके ही इसकी रचना की गयी है। (४) मणि प्रकाशिका—इसके कर्ता अजितसेनाचार्य हैं। (५) प्रक्रियासंग्रह—भट्टोजीदीक्षितकी सिद्धान्तकौमुदीकी पद्धतिपर लिखी गयी यह एक प्रक्रिया टीका है, इसके कर्ता अभयचन्द्र आचार्य हैं। (६) शाकटायन-टीका—भावसेन त्रैविद्यदेवने इसकी रचना की है। यह कातन्त्रकी रूपमाला टीकाके भी रचयिता हैं। (७) रूप-सिद्धि—लघुकौमुदीके समान यह एक अल्पकाय टीका है। इसके कर्ता दयापाल (वि० ११ वीं श०) मुनि हैं।

आचार्य हेमचन्द्रका सिद्धहेम शब्दानुशासन भी महत्वपूर्णरचना है। यह इतनी आकर्षक रचना रही है कि इसके आधारपर तैयार किये गये अनेक व्याकरण ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक जैन व्याकरण ग्रन्थ जैनाचार्योंने लिखे हैं और अनेक जैनेतर व्याकरण ग्रन्थोंपर महत्वपूर्ण टीकाएं भी लिखी हैं। पूज्यपादने पाणिनीय व्याकरणपर 'शब्दावतार' नामक एक न्यास लिखा था जो सम्प्रति अप्राप्य है और जैनाचार्यों द्वारा सारस्वत व्याकरणपर लिखित विभिन्न बीस टीकाएं आज भी उपलब्ध हैं[१]।

शर्ववर्मका कातंत्र व्याकरण भी एक सुबोध और संक्षिप्त व्याकरण है तथा इसपर भी विभिन्न चौदह टीकाएं प्राप्य हैं।

अलङ्कार—

अलंकार विषयमें भी जैनाचार्योंकी महत्वपूर्ण रचनाएं उपलब्ध हैं। हेमचन्द्र और वाग्भटके काव्यानुशासन तथा वाग्भटका वाग्भटालंकार महत्वकी रचनाएं हैं। अजितसेन आचार्यकी अलंकार-चिन्तामणि और अमरचन्द्रकी काव्यकल्पलता बहुत ही सफल रचनाएं हैं।

जैनेतर अलंकार शास्त्रोंपर भी जैनाचार्योंकी कतिपय टीकाएं पायी जाती हैं। काव्यप्रकाशके ऊपर भानुचन्द्रगणि, माणिक्यचन्द्र, जयनन्दिसूरि और यशोविजयगणि (तपागच्छ) की टीकाएं

१. जिनरत्नकोश (भ० ओं० रि० इ०, पूना)।

उपलब्ध हैं। इसके सिवा दण्डीके काव्यादर्शपर त्रिभुवनचन्द्रकृत टीका पायी जाती है और रुद्रटके काव्यालंकार पर नेमिसाधु (११२५ वि० सं०) के टिप्पण भी सारपूर्ण हैं।

नाटक—

नाटकीय साहित्यके सृजनमें भी जैन साहित्यकारोंने अपनी प्रतिभाका उपयोग किया है। उभयभाषा-कविचक्रवर्ती हस्तिमल्ल (१३ वीं श०) के विक्रान्तकौरव (जयकुमार-सुलोचना), सुभद्राहरण, मैथिलीकल्याण, और अञ्जनापवनञ्जय उल्लेखनीय नाटक हैं। आदिके दो नाटक महाभारतीय कथाके आधार पर रचे गये हैं और उत्तरके दो रामकथाके आधार पर। हेमचन्द्र आचार्यके शिष्य रामचन्द्रसूरिके अनेक नाटक उपलब्ध हैं। जिसमें नलविवाह, सत्य हरिश्चन्द्र, कौमुदीमित्रानन्द, राघवाभ्युदय, निर्भयभीमव्यायोग, आदि नाटक बहुत ही प्रसिद्ध हैं।

श्रीकृष्णमिश्रके 'प्रबोधचन्द्रोदय' की पद्धति पर रूपकात्मक (Allegorical) शैलीमें लिखा गया यशःपाल (१३ वीं सदी) का मोहराजपराजय एक सुप्रसिद्ध नाटक है। इसी शैलीमें लिखे गये वादिचन्द्रसूरिकृत ज्ञानसूर्योदय तथा यशश्चन्द्रकृत मुदित-कुमुदचन्द्र असाम्प्रदायिक नाटक हैं। इनके अतिरिक्त जयसिंहका हम्मीरमदमर्दन नामक एक ऐतिहासिक नाटक भी उपलब्ध है।

काव्य—

जैन काव्य-साहित्य भी अपने ढंगका निराला है। काव्य-साहित्यसे हमारा आशय गद्यकाव्य, महाकाव्य, चरितकाव्य, चम्पूकाव्य, चित्रकाव्य और दूतकाव्योंसे हैं। गद्यकाव्यमें धनपालकी तिलकमञ्जरी (९७० ई०) और ओयडदेव (वादीभसिंह ११ वीं सदी) की गद्यचिन्तामणि महाकवि बाणकृत कादम्बरीके जोड़की रचनाएं हैं।

महाकाव्यमें हरिचन्द्रका धर्मशर्माभ्युदय, वीरनन्दि का चन्द्रप्रभचरित, अभयदेवका जयन्त-विजय, अर्हद्दासका मुनिसुव्रतकाव्य, वादिराजका पार्श्वनाथचरित, वाग्भटका नेमिनिर्वाणकाव्य, मुनिचन्द्रका शान्तिनाथचरित और महासेनका प्रद्युम्नचरित, आदि उत्कृष्ट कोटिके महाकाव्य तथा काव्य हैं। चरितकाव्यमें जटासिंहनन्दिका वराङ्गचरित, रायमल्लका जम्बूस्वामीचरित, असंग कविका महावीरचरित, आदि उत्तम चरितकाव्य माने जाते हैं।

चम्पूकाव्यमें आचार्य सोमदेवका यशस्तिलकचम्पू (वि० १०१६) बहुत ही ख्यातिप्राप्त रचना है। अनेक विद्वानोंके विचारमें उपलब्ध संस्कृत साहित्यमें इसके जोड़का एक भी चम्पूकाव्य नहीं है। हरिश्चन्द्र महाकविका जीवन्धरचम्पू तथा अर्हद्दासका पुरुदेवचम्पू (१३ वीं शती) भी उच्च कोटिकी

रचनाएं हैं। चित्रकाव्यमें महाकवि धनञ्जय (८ वीं० श०) का द्विसन्धान, शान्तिराजका पञ्चसन्धान, हेमचन्द्र तथा मेघविजयगणीके सप्तसन्धान, जगन्नाथ (१६९९ वि० सं०) का चतुर्विंशति सन्धान तथा जिनसेनाचार्यका पार्श्वाभ्युदय उत्तमकोटिके चित्रकाव्य हैं।

दूतकाव्यमें मेघदूतकी पद्धति पर लिखे गये वादिचन्द्रका पवनदूत, चरितसुन्दरका शीलदूत, विनयप्रभका चन्द्रदूत, विक्रमका नेमिदूत और जयतिलकसूरिका धर्मदूत उल्लेखनीय दूत-काव्य हैं।

इनके अतिरिक्त चन्द्रप्रभसूरिका प्रभावकचरित, मेरुतुङ्गकृत प्रबन्धचिन्तामणि (१३०६ ई०) राजशेखरका प्रबन्धकोष (१३४२ ई०) आदि प्रबन्धकाव्य ऐतिहासिक दृष्टिसे बड़े ही महत्वपूर्ण हैं।

छन्दशास्त्र--

छन्दशास्त्र पर भी जैन विद्वानोंकी मूल्यवान रचनाएं उपलब्ध हैं। जयकीर्ति (११९२) का स्वोपज्ञ छन्दोऽनुशासन तथा आचार्य हेमचन्द्रका स्वोपज्ञ छन्दोऽनुशासन महत्वकी रचनाएं हैं। जयकीर्तिने अपने छन्दोऽनुशासनके अन्तमें लिखा है कि उन्होंने माण्डव्य, पिङ्गल, जनाश्रय, सैतव, श्रीपूज्यपाद और जयदेव आदिके छन्दशास्त्रोंके आधारपर अपने छन्दोऽनुशासनकी रचना की है[1]। वाग्भटका छन्दोऽनुशासन भी इसी कोटिकी रचना है और इसपर इनकी स्वोपज्ञ टीका भी है। राजशेखरसूरि (११७९ वि०) का छन्दःशेखर और रत्नमंजूषा भी उल्लेखनीय रचनाएं हैं।

इसके अतिरिक्त जैनेतर छन्दशास्त्रों पर भी जैनाचार्योंकी टीकाएं पायी जाती हैं। केदारभट्टके वृत्तरत्नाकर पर सोमचन्द्रगणी, क्षेमहंसगणी, समयसुन्दर उपाध्याय, आसड और मेरुसुंदर, आदिकी टीकाएं उपलब्ध हैं। इसी प्रकार कालिदासके श्रुतबोध पर भी हर्षकीर्ति, हंसराज, और कान्तिविजयगणीकी टीकाएं प्राप्य हैं। संस्कृत भाषाके छन्दःशास्त्रोंके सिवा प्राकृत और अपभ्रंश भाषाके छन्द शास्त्रोंपर भी जैनाचर्योंकी महत्वपूर्ण टीकाएं उपलब्ध हैं।

कोश—

कोशके क्षेत्रमें भी जैन साहित्यकारोंने अपनी लेखनीका यथेष्ट कौशल प्रदर्शित किया है। अमरसिंहगणीकृत अमरकोष संस्कृतज्ञ समाजमें सर्वोपयोगी और सर्वोत्तम कोष माना जाता है। उसका पठन-पाठन भी अन्य कोषोंकी अपेक्षा सर्वाधिक रूपमें प्रचलित है। धनञ्जयकृत धनञ्जय नाममाला दो सौ श्लोकोंकी अल्पकाय रचना होने पर भी बहुत ही उपयोगी है। प्राथमिक कक्षाके विद्यार्थियोंके लिए जैनसमाजमें इसका खूब ही प्रचलन है।

---

१ मांडव्य-पिङ्गल-जनाश्रय-सैतवाख्य, श्रीपूज्यपाद-जयदेव बुधादिकानाम्।
छन्दांसि वीक्ष्य विविधानपि सत्प्रयोगान्, छन्दोऽनुशासनमिदं जयकीर्तिनोक्तम्॥

अमरकोषकी टीका (व्याख्यासुधाख्या) की तरह इसपर भी अमरकीर्तिका एक भाष्य उपलब्ध है। इस प्रसङ्गमें आचार्य हेमचन्द्र विरचित अभिधानचिन्तामणि नाममाला एक उल्लेखनीय कोशकृति है। श्रीधरसेनका विश्वलोचनकोष, जिसका अपरनाम मुक्तावली है एक विशिष्ट और अपने ढंगकी अनूठी रचना है। इसमें ककारान्तादि व्यञ्जनोंके क्रमसे शब्दोंकी संकलना की गयी है जो एकदम नवीन है।

मन्त्रशास्त्र—

मन्त्र शास्त्रपर भी जैन रचनाएं उपलब्ध हैं। विक्रमकी ग्यारहवीं सदीके अन्त और बारहवींके आदिके विद्वान् मल्लिषेणका भैरवपद्मावतीकल्प, सरस्वती-मन्त्रकल्प और ज्वालामालिनीकल्प महत्वपूर्ण रचनाएं हैं। भैरव[1]-पद्मावती-कल्पमें, मन्त्री-लक्षण, सकली-करण, देव्यर्चन, द्वादशरञ्जिकामन्त्रोद्धार, क्रोधादिस्तम्भन, अङ्गनाकर्षण, वशीकरण यन्त्र, निमित्त, वशीकरण तन्त्र और गारुड़मन्त्र नामक दस अधिकार हैं तथा इसपर बन्धुषेणका एक संस्कृत विवरण भी उपलब्ध है। ज्वाला-मालिनीकल्प नामक एक अन्य रचना इन्द्रनन्दिकी भी उपलब्ध है जो शक सं० ८६१ में मान्यखेटमें रची गयी थी। विद्यानुवाद या विद्यानुशासन नामक एक और भी महत्त्वपूर्ण रचना है जो २४ अध्यायोंमें विभक्त है। यह मल्लिषेणाचार्यकी कृति बतलायी जाती है; परन्तु अन्तःपरीक्षणसे प्रतीत होता है कि इसे मल्लिषेणके किसी उत्तरवर्त्ती विद्वान्ने ग्रथित किया है[2]। इनके अतिरिक्त हस्तिमल्लका विद्यानुवादाङ्ग तथा भक्तामर-स्तोत्र मन्त्र भी उल्लेखनीय रचनाएं हैं।

सुभाषित और राजनीति—

सुभाषित और राजनीतिसे सम्बन्धित साहित्यके सृजनमें भी जैन लेखकोंने पर्याप्त योगदान दिया है। इस प्रसङ्गमें आचार्य अमितगतिका सुभाषित रत्नसन्दोह (१०५० वि०) एक सुन्दर रचना है। इसमें सांसारिक विषय-निराकरण, मायाहंकार-निराकरण, इन्द्रियनिग्रहोपदेश, स्त्रीगुणदोष विचार, देवनिरूपण आदि बत्तीस प्रकरण हैं। प्रत्येक प्रकरण बीस बीस, पच्चीस पच्चीस पद्योंमें समाप्त हुआ है। सोमप्रभकी सूक्तमुक्तावली, सकलकीर्तिकी सुभाषितावली, आचार्य शुभचन्द्रका ज्ञानार्णव, हेमचन्द्राचार्यका योगशास्त्र, आदि उच्चकोटिके सुभाषित ग्रन्थ हैं। इनमें से अन्तिम दोनों ग्रन्थोंमें योगशास्त्रका महत्त्वपूर्ण निरूपण है।

राजनीतिमें सोमदेवसूरिका नीतिवाक्यामृत बहुत ही महत्वपूर्ण रचना है। सोमदेवसूरिने अपने समयमें उपलब्ध होने वाले समस्त राजनैतिक और अर्थशास्त्रीय साहित्यका मन्थन करके इस

---

१. इस ग्रन्थको श्रीसाराभाई मणिलाल नवाब अहमदाबादने सरस्वतीकल्प तथा अनेक परिशिष्टोंके साथ गुजराती अनुवाद सहित प्रकाशित किया है।

२. जैन साहित्य और इतिहास (श्री पं० नाथूराम प्रेमी) पृ० ४१५।

सारवत् नीतिवाक्यामृतका सृजन किया है, अतः यह रचना अपने ढंगकी मौलिक और मूल्यवान् है।

आयुर्वेद्--

आयुर्वेदके सम्बन्धमें भी कुछ जैन रचनाएं उपलब्ध हैं। उग्रादित्यका कल्याणकारक, पूज्यपादका वैद्यसार अच्छी रचनाएं हैं। पंडितप्रवर आशाधर (१३ वीं सदी) ने वाग्भट या चरकसंहितापर एक अष्टाङ्ग हृदयोद्योतिनी नामक टीका लिखी थी, परन्तु सम्प्रति वह अप्राप्य है। चामुण्डरायकृत नरचिकित्सा, मल्लिषेणकृत बालग्रहचिकित्सा तथा सोमप्रभाचार्यका रस-प्रयोग भी उपयोगी रचनाएं हैं।

कला और विज्ञान—

जैनाचार्योंने वैज्ञानिक साहित्यके ऊपर भी अपनी लेखनी चलायी। हंसदेव (१३ वी सदी) का मृगपक्षीशास्त्र एक उत्कृष्ट कोटिकी रचना मालूम देती है। इसमें १७१२ पद्य हैं और इसकी एक पाण्डुलिपि त्रिवेन्द्रमकी राजकीय पुस्तकागारमें सुरक्षित हैं। इसके अतिरिक्त चामुण्डराय कृत कूपजलज्ञान, वनस्पतिस्वरूप, निधानादिपरीक्षाशास्त्र, धातुसार, धनुर्वेद, रत्नपरीक्षा, विज्ञानार्णव आदि ग्रन्थ भी उल्लेखनीय वैज्ञानिक रचनाएं हैं।

ज्योतिष, सामुद्रिक तथा स्वप्नशास्त्र—

ज्योतिषशास्त्रके सम्बन्धमें जैनाचार्योंकी महत्वपूर्ण रचनाएं उपलब्ध हैं, गणित और फलित दोनों भागोंके ऊपर ज्योतिर्ग्रन्थ पाये जाते हैं। जैनाचार्योंने गणित ज्योतिष् सम्बन्धी विषयका प्रतिपादन करनेके लिए पाटीगणित, बीजगणित, रेखागणित, त्रिकोणमिति, गोलीय रेखागणित, चापीय एवं वक्रीय त्रिकोणमिति, प्रतिभागणित, शृङ्गोन्नतिगणित, पञ्चाङ्ग निर्माणगणित, जन्मपत्र निर्माणगणित, ग्रहयुति-उदयास्त सम्बन्धी गणित एवं यन्त्रादिसाधन सम्बन्धित गणितका प्रतिपादन किया है।

जैनगणितके विकासका स्वर्णयुग छठवींसे बारहवीं शती तक है। इस बीच अनेक महत्वपूर्ण गणित ग्रन्थोंका ग्रथन हुआ है। इसके पहलेकी कोई स्वतन्त्र रचना उपलब्ध नहीं है। कतिपय आगमिक ग्रन्थोंमें अवश्य गणित सम्बन्धी कुछ बीजसूत्र पाये जाते हैं।

सूर्यप्रज्ञप्ति तथा चन्द्रप्रज्ञप्ति प्राकृतकी रचनाएं होने पर भी जैनगणितकी अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा प्राचीन रचनाएं हैं। इनमें सूर्य और चन्द्रसे तथा इनके ग्रह, तारा, मण्डल, आदिसे सम्बन्धित गणित तथा अनेक विद्वानोंका उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। इनके अतिरिक्त महावीराचार्य (९ वीं सदी) का गणितसारसंग्रह; श्रीधरदेवका गणितशास्त्र, हेमप्रभसूरिका त्रैलोक्यप्रकाश और सिंहतिलक-सूरिका गणिततिलक, आदि ग्रन्थ भी सारगर्भित और उपयोगी है।

फलित ज्योतिषसे सम्बन्धित होराशास्त्र, संहिताशास्त्र, मुहूर्तशास्त्र, सामुद्रिकशास्त्र, प्रश्नशास्त्र

सारवत् नीतिवाक्यामृतका सृजन किया है, अतः यह रचना अपने ढंगकी मौलिक और मूल्यवान् है।

आयुर्वेद--

आयुर्वेदके सम्बन्धमें भी कुछ जैन रचनाएं उपलब्ध हैं। उग्रादित्यका कल्याणकारक, पूज्यपादका वैद्यसार अच्छी रचनाएं हैं। पंडितप्रवर आशाधर (१३ वीं सदी) ने वाग्भट या चरकसंहितापर एक अष्टाङ्ग हृदयोद्योतिनी नामक टीका लिखी थी, परन्तु सम्प्रति वह अप्राप्य है। चामुण्डरायकृत नरचिकित्सा, मल्लिषेणकृत बालग्रहचिकित्सा तथा सोमप्रभाचार्यका रस-प्रयोग भी उपयोगी रचनाएं हैं।

कला और विज्ञान—

जैनाचार्योंने वैज्ञानिक साहित्यके ऊपर भी अपनी लेखनी चलायी। हंसदेव (१३ वी सदी) का मृगपक्षीशास्त्र एक उत्कृष्ट कोटिकी रचना मालूम देती है। इसमें १७१२ पद्य हैं और इसकी एक पाण्डुलिपि त्रिवेन्द्रमकी राजकीय पुस्तकागारमें सुरक्षित हैं। इसके अतिरिक्त चामुण्डराय कृत कूपजलज्ञान, वनस्पतिस्वरूप, निधानादिपरीक्षाशास्त्र, धातुसार, धनुर्वेद, रत्नपरीक्षा, विज्ञानार्णव आदि ग्रन्थ भी उल्लेखनीय वैज्ञानिक रचनाएं हैं।

ज्योतिष, सामुद्रिक तथा स्वप्नशास्त्र—

ज्योतिषशास्त्रके सम्बन्धमें जैनाचार्योंकी महत्वपूर्ण रचनाएं उपलब्ध हैं, गणित और फलित दोनों भागोंके ऊपर ज्योतिर्ग्रन्थ पाये जाते हैं। जैनाचार्योंने गणित ज्योतिष् सम्बन्धी विषयका प्रतिपादन करनेके लिए पाटीगणित, बीजगणित, रेखागणित, त्रिकोणमिति, गोलीय रेखागणित, चापीय एवं वक्रीय त्रिकोणमिति, प्रतिभागणित, शृङ्गोन्नतिगणित, पञ्चाङ्ग निर्माणगणित, जन्मपत्र निर्माणगणित, ग्रहयुति-उदयास्त सम्बन्धी गणित एवं यन्त्रादिसाधन सम्बन्धित गणितका प्रतिपादन किया है।

जैनगणितके विकासका स्वर्णयुग छठवींसे बारहवीं शती तक है। इस बीच अनेक महत्वपूर्ण गणित ग्रन्थोंका ग्रथन हुआ है। इसके पहलेकी कोई स्वतन्त्र रचना उपलब्ध नहीं है। कतिपय आगमिक ग्रन्थोंमें अवश्य गणित सम्बन्धी कुछ बीजसूत्र पाये जाते हैं।

सूर्यप्रज्ञप्ति तथा चन्द्रप्रज्ञप्ति प्राकृतकी रचनाएं होने पर भी जैनगणितकी अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा प्राचीन रचनाएं हैं। इनमें सूर्य और चन्द्रसे तथा इनके ग्रह, तारा, मण्डल, आदिसे सम्बन्धित गणित तथा अनेक विद्वानोंका उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। इनके अतिरिक्त महावीराचार्य (९ वीं सदी) का गणितसारसंग्रह; श्रीधरदेवका गणितशास्त्र, हेमप्रभसूरिका त्रैलोक्यप्रकाश और सिंहतिलक-सूरिका गणिततिलक, आदि ग्रन्थ भी सारगर्भित और उपयोगी है।

फलित ज्योतिषसे सम्बन्धित होराशास्त्र, संहिताशास्त्र, मुहूर्तशास्त्र, सामुद्रिकशास्त्र, प्रश्नशास्त्र

और स्वप्नशास्त्र आदि पर भी जैनाचार्योंने अपनी रचनाओंमें पर्याप्त प्रकाश डाला है और अनेक मौलिक ग्रन्थ भी लिखे हैं। इस प्रसङ्गमें चन्द्रसेन मुनिका केवलज्ञान होरा, दामनन्दिके शिष्य भट्टवासरका आयज्ञानतिलक, चन्द्रोन्मीलन प्रश्न, भद्रबाहु-निमित्तशास्त्र, अर्धकाण्ड, मुहूर्तदर्पण, जिनपाल गणीका स्वप्नविचार तथा दुर्लभराजकी स्वप्नचिन्तामणि, आदि उपयोगी ग्रन्थ हैं।

जैसा ऊपर कहा गया है, इस लेखमें संस्कृत साहित्यके विषयमें जैन विद्वानोंके मूल्यवान् सहयोगका केवल दिग्दर्शन ही कराया गया है। संस्कृत साहित्यके प्रेमियोंको उन आदरणीय जैनविद्वानोंका कृतज्ञ ही होना चाहिए। हमारा यह कर्तव्य है कि हम हृदयसे इस महान् साहित्यसे परिचय प्राप्त करें और यथासम्भव उसका संस्कृत समाजमें प्रचार करें।
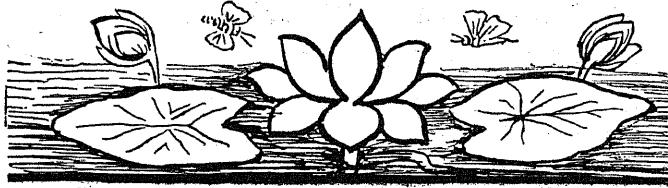
स्वामी समन्तभद्र तथा पाटलिपुत्र

श्री डी० जी० महाजन

'पूर्वं पाटलिपुत्र मध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चान्मालव सिन्धु ठक्क विषये काञ्चीपुरे वैदिशे ।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं,
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम्[1] ॥'

श्रवण बेलगोलाके शिलालेखका यह श्लोक आचार्य स्वामी समन्तभद्रके नामको पाटलिपुत्रसे सम्बद्ध करता है। कतिपय विद्वानोंका मत है कि स्वामीने मगधके पाटलिपुत्रकी यात्राकी थी। श्री पं० जुगलकिशोर मुख्तार भी श्रवणबेलगोलकी ऐतिहासिकताके कारण उक्त विचारसे सहमत हैं[2]। किन्तु सन् '४५—'४६ की भा० इतिहास परिषद्के निमित्तसे दक्षिण जाते समय कडलोर जानेका अवसर मिला। किसी समय यह स्थान 'पाटलिपुत्र' नामसे ख्यात था यह सुनते ही विचार आया कि उक्त शिलालेखका पाटलिपुत्र मगधकी राजधानी थी अथवा दक्षिण भारतका यह प्राचीन स्थान ?

विचारना यह है कि स्वामी पाटलिपुत्र क्यों गये होंगे ? क्या उस समय यह नगर शिक्षा तथा संस्कृतिका केन्द्र था ? क्या मगधकी राजधानी होनेके कारण यह नगर सुसमृद्ध था ? चन्द्रगुप्त मौर्य तथा उसके प्रधान वंशधरोंके कालमें पाटलिपुत्र राजनगरीके वैभव तथा गुणोंसे समलंकृत था। ई० पू० दूसरी शतीमें (१८४ ई० पू०) मौर्य साम्राज्यको समाप्त करके शुंगवंशके संस्थापक पुष्यमित्र तथा उसके पुत्र अग्निमित्रके हाथों आते ही युद्धमें ध्वस्त पाटलिपुत्र राजकृपासे भी वञ्चित कर दिया गया था। शुंगोंकी राजधानी विदिशा (भेलसा) चली गयी थी जिसके खण्डहर वेसनगरमें आज भी विद्यमान हैं। शुंगोंकी दूसरी राजधानी उज्जैनी थी[3]।

हस्तिगुम्फा शिलालेख द्वारा सुविख्यात कलिंगराज एल खारवेलने ई० पू० प्रथम शतीमें मगध

१. शि. सं. ५४ (प्राचीन) ६७ (नवीन) पू. सं. १०६० में लिखित 'मल्लिषेण प्रशस्ति'

२. आप्तमीमांसा पृ. ४ तथा स्वामी समन्तभद्र (पं. जुगल किशोर मुख्तार)

३. टी. एल शाहका 'प्राचीन भारत' भा. ४ पृ. ११३—४।

पर आक्रमण किया था। इस युद्धमें अग्निमित्रको दास राजा[1] (सामन्त) ही नहीं बनना पड़ा अपितु खारवेलने पाटलिपुत्र पर ऐसा प्रहार किया कि वह ध्वस्त हो गयी और अतीत वैभव तथा महत्ताको पुनः प्राप्त न कर सकी। अबतक ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिला जिसके आधार पर यह कल्पनाकी जा सके कि स्वामीके समयमें पाटलिपुत्रके गये दिन वापस आगये हों गे। स्वामीका बहु-मान्य समय शक सं० ६० या १३८ ई० है फलतः उपर्युक्त घटना क्रमके आधारसे तो यही कहा जा सकता है कि इन दिनों मगधका पाटलिपुत्र अवनति पथपर ही अग्रसर रहा होगा। फलतः शिक्षा संस्कृतिके विकासकी वहां कल्पना करना दुःसाहस होगा। इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि अपनी पड़ोसके तामिलनाडु प्रदेशमें ही स्थित प्रमुख शिक्षा-संस्कृति केन्द्र काञ्चीवरम (काञ्चीपुरम्) मदुरा, आदिको छोड़कर वे सुदूरवर्ती पाटलिपुत्र क्यों जाते? उरयूर, काञ्ची, मदुरा, भादलपुर, आदिमें जैनमठों, वसतियों तथा पल्लियोंको भरमार थी[2]। यह भी अनुमान है कि स्वामीने काञ्ची या निकटस्थ प्रदेशमें दीक्षा ली हो गी[3]। इसके बाद उन्हें भस्मक रोग 'भस्मक व्याधि' हो गया था। तब अपने जीवनको खतरेमें डालकर इतनी लम्बी तथा व्यर्थ यात्रा क्यों की हो गी? शिलालेखपर विचार करनेसे इतना तो झलकता है कि जन्म तथा दीक्षा स्थानसे निकट दक्षिण पाटलिपुत्रको स्वामीने अविजित नहीं छोड़ा हो गा[4]। क्योंकि उपरिलिखित दक्षिण भारतीय समुन्नत नगरोंमें भादलपुर (पाटलिपुत्र) भी था। इन शिक्षा-संस्कृति केन्द्रोंमें वैदिक, जैन तथा बौद्धोंके बीच अनेक शास्त्रार्थ भी हुए थे। प्राचीन युगमें इसका तामिल नाम 'तिरुपादरीपुलियूर' अथवा तिरुप्पापुलियूर था, तथा जो मद्रास प्रेसीडेंसीके आर्काट जिलेका मुख्य स्थान वर्तमान कडलौर है[5]।

इसकी प्राचीन वस्ती 'पेट्टा' है जो वर्तमान नगरसे दो मील दूर है। यहांपर साढे चार फुट ऊंचा जिनबिम्ब मिला था जिसे मंडम ग्रामके व्यक्तिने विष्णुमूर्ति समझ कर अपने ग्राममें वृक्षके नीचे विराज कर पूजना प्रारम्भ कर दिया था। तैलादि चढ़ानेसे मूर्तिपर काले धब्बे पड़ गये हैं। यहांसे एक सड़क सौ फुट ऊंचे पहाड़को पार करती हुई गेडीलम नदीके तीरपर स्थित 'त्रिकहिन्द्रपुर को जाती है। यहीं पर भूमिगर्भस्थ मन्दिर, मठ, आदि प्राचीन पाटलिपुत्रके भग्नावशेष हैं। ये १२ से १५ मील तकके घेरेमें फैले हैं। तथा इनके अस्तित्वकी सूचना यत्र तत्र ऊपर खड़े या पड़े स्तम्भ आदि देते

---

१. लूईस राइसकृत श्रवणबेलगोलके शिला०, कर्नाटक शब्दानुशासन, महावशिष्ट, भ. ओं. रि. ३, रिपोर्ट (१३३—४) पृ. ३२०।

२, स्वामी समन्तभद्र पृ० १२।

३. श्रवण-वेलगोल शिलालेख (प्रा०) ५४, (न०) ६७ "काञ्च्यान्नानाटकोऽहं.." पद्य।

४. 'स्टडीज इन साउथ इण्डियन जैनिज्म" पृ० ३०। इण्डि० ऐण्टी, पट्टावलि, आदि।

५. आर्कैलोजिकल सर्वे ओफ इण्डिया ७।

हैं। पल्लव राजकालमें निर्मित विष्णुमन्दिर इनमें प्रधान तथा प्राचीनतम है। गैडिलम नदीके प्रवाह परिवर्तनने भी बहुतसे अवशेषोंको भूगर्तमें सुला दिया है। मंडम ग्राममें विराजमान मूर्ति पहिले यहीं पड़ी थी[१]।

तामिल ग्रन्थोंके[२] आधारपर सिद्ध है कि ई० सनके प्रारम्भसे राजा महेन्द्रवर्मन (प्रथम) के शैव होने तक दक्षिण पाटलिपुत्र एक समुन्नत नगर था जो कि वर्तमान 'तिरुवेदीपुर' हो सकता है। स्वयं शैव हुए अप्पर जैन साधुके सम्पर्कसे महेन्द्रवर्मन शैव हुए थे। तथा मुनि व्याघ्रपादने पदरि (पाटलि) वृक्षके नीचे यहांपर शिवपूजा की थी फलतः इसका नाम पादरी (पाटलि) पुत्र पड़ गया था। कडलोरसे पन्द्रह मील दूर पनरुती नगरसे डेढ़ मीलकी दूरीपर 'तिरुवदीकरी स्थान है जो प्राचीन पाटलिपुत्रका उपनगर था। यहां 'गुणधर-इच्चरम' नामका एक मन्दिर है जो प्रारम्भमें जैनमन्दिर रहा होगा। यद्यपि इस समय गर्भगृहमें विशाल शिवलिंग शालुंका (योनिपीठ) में विराजमान है तथापि मन्दिरके बाहर नीमके वृक्षके नीचे रख दी गयी जैनमूर्ति मन्दिरके इतिहासकी ओर संकेत करती है। मूर्तिके खण्डित मुख, शिर तथा आसन बतलाते हैं कि मन्दिर किसका था। यद्यपि साढ़े तीन फीट ऊंची पद्मारून इस मूर्तिमें चिन्ह तथा प्रशस्ति लेख नहीं हैं तथापि कलाकी दृष्टिसे यह पल्लवकालीन प्रतीत होती है।

उक्त मन्दिरसे कुछ फर्लांगकी दूरी पर 'विरतेश्वर' मन्दिर है। स्थूल उन्नत दीवालों तथा गोपुर युक्त इस मन्दिरके मध्यमें एक सरोवर है तथा इसके भीतरी चक्रमें एक जैन पद्मासन अखण्डित मूर्ति रखी है। यह मूर्ति आकार प्रकारसे उक्त मूर्तिके समान है। यह वही मन्दिर है जहां अप्परने जिन धर्म छोड़कर शिवधर्म स्वीकार किया था[३]। ये जन्मसे जैन थे धर्मसेन नामसे मुनि होकर अपने संघके आचार्य हुए थे। एक दिन 'तिरुनरुन कुण्ड' की यात्रार्थ जाते समय संघसे रुष्ट होकर लौटे और अपने परिवर्तन के साथ साथ महावीर-मन्दिरको भी विरतेश्वर शैव मन्दिर बना दिया।

इन जैन भग्नावशेषों तथा तामिल साहित्य[४] से समृद्ध दक्षिण पाटलिपुत्रका अस्तित्व सिद्ध होता है जैसा कि टोण्डामण्डल, पोन्नारके विवेचन तथा वहां उत्पन्न वीर, विद्वान, आदिके वर्णनसे स्पष्ट है[५]। तथा यह आदिसम्राट चन्द्रगुप्तमौर्यकी राजधानीके समान ही सम्पन्न बतायी गयी है। देखना यह है कि क्या तिरुपादरीपुलीयूरका पाटलीपुत्र हो सकता है? 'पादरी' वृक्षके अनुसार इसका नाम पड़ा था। तथा पुली=व्याघ्र और युर=स्थान शुद्ध तामिल हैं। फलतः उक्त घटनाओंसे मुनि व्याघ्र-

१. एपी० इ० भा० ६ पृ० ३२१।

२. तामिल पेरिय, स्थल तथा तेवारम पुराण।

३. प्रा० ए० चक्रवर्तीकी तिरुवल्लुवर कुरलकी भूमिका।

४. तामिल 'पाटलियुर पुराण' ह० लि० ग० सं० ११३६।५।

५. पारिजातकाचल महात्म्य, कान्चीपुराण, तिरुपादिपुलियुर कालाबम्ब, आदि

पादका नाम जोड़ देनेसे स्पष्ट 'तिरुपादलिपुलीयुर' बनता है। तामिल पुराणोंमें[1] पादलि, पाटलि वन आदिके वर्णन भी नगरके अस्तित्वके ही समर्थक हैं। खण्डरोंमें मिले शिलालेख भी "तल्लैत्यप तिरुपादलि पुलीयुर" इसके समर्थक हैं। अप्पर तथा महेन्द्रवर्मनका धर्म परिवर्तन, फलतः जैनधर्मका भीषण दमन तथा जैन संस्कृति केन्द्रका विनाश आदि सिद्ध करते हैं कि दक्षिण पाटलिपुत्र किसी समय 'जैनं जयतु शासनम्' की जय घोषसे अप्लावित था। इसकी पुष्टि आस-पासके ग्रामोंमें प्राप्त जैनधर्मायतन तथा निषिधकाओं[2] से भी होती है।

फलतः यदि उक्त श्लोकका पाटलिपुत्र दक्षिण भारतका था तो संभवतः तोण्डामण्डलस्थ तिरु=श्री पादली=पाटली पुलि=व्याघ्रपाद युर=स्थान हो सकता है। फलतः उक्त विवेचन मनीषियोंके लिए साधक ही होगा।
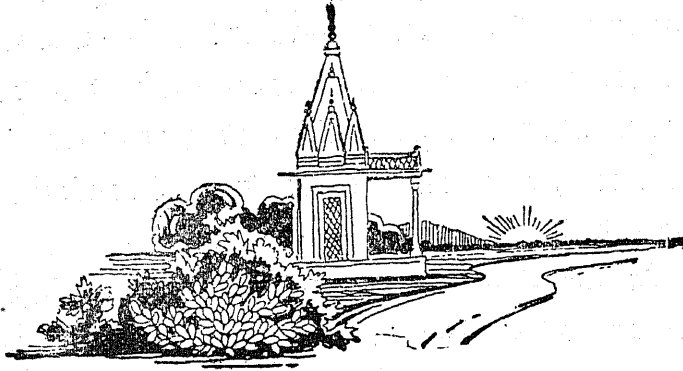
१. वी० जगदीश अय्यरका आरकाट जिला इतिहास, आर० सर्वे० ई० पृ० ६५।

२. दन्तोक्ति है कि दक्षिण आर्काटके तिरुवन्नमलै तथा तिरुक्कोरलूरमें छः हजार मुनियोंकी निषिधकाएं बनी थीं।

तिलोयपणत्ती और यतिवृषभ

श्री पं० जुगलकिशोर मुख्तार, अधिष्ठाता वीरसेवामन्दिर

ग्रंथका सामान्य परिचय और महत्व--

तिलोयपण्णत्ती (त्रिलोकप्रज्ञप्ति) तीन लोकके स्वरूपादिका निरूपक महत्वपूर्ण प्रसिद्ध प्राचीन ग्रंथ है—प्रसंगोपात्त जैनसिद्धान्त, पुराण और भारतीय इतिहासकी भी कितनी ही सामग्री इसमें है। इसके सामान्यजगत्स्वरूप, नरकलोक, भवनवासिलोक, मनुष्यलोक, तिर्यक्लोक, व्यन्तरलोक, ज्योतिर्लोक, सुरलोक, और सिद्धलोक नामके नौ महा अधिकार हैं। अवान्तर अधिकारोंकी संख्या १८० के लगभग है; क्योंकि द्वितीयादि महाधिकारोंके अवान्तर अधिकार क्रमशः १५, २४, १६, १६, १७, १७, २१, ५ ऐसे १३१ हैं और चौथे महाधिकारके जम्बूद्वीप, धातकी-खण्डद्वीप और पुष्करद्वीप नामके अवान्तर अधिकारोंमें से प्रत्येकके फिर सोलह, सोलह (४८) अन्तर-अधिकार हैं। इस तरह यह ग्रंथ अपने विषयका विस्तारसे प्ररूपण करता है। इसका प्रारम्भ-सिद्धि कामनाके लिए सिद्धस्मरणमय निम्न गाथासे होता है—

"अट्ठविह-कम्म-वियला णिट्ठिय-कज्जा पणट्ठ-संसारा।
दिट्ठ-सयलट्ठ-सारा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु॥ १॥"

अन्तिम भाग इस प्रकार है—

"पणमह जिणवरवसहं गणहरवसहं तहेव गुण [हर] वसहं।
दट्ठूण परिसवसहं [?] जदिवसहं धम्म-सुत्त-पाढग-वसहं॥ ६-७८॥
चुण्णिसरूवं अत्थं करणसरूव पमाण होदि किं [?] जं तं।
अट्ठ-सहस्स-पमाणं तिलोयपण्णत्ति णामाए॥ ७६॥

एवं आइरिय-परंपरागए तिलोयपण्णत्तीए सिद्धलोयस्वरूवणिरूवणपण्णत्ती णाम णवमो महाहियरो सम्मत्तो॥

मग्गप्पभावणट्ठं पवयण-भत्तिप्पचोदिदेण मया।
भणिदं गंथप्पवरं सोहंतु बहु सुदाइरिया॥ ८०॥
तिलोयपण्णत्ती सम्मत्ता॥"

इन तीन गाथाओंमें पहली ग्रंथका अन्त-मंगल है। इसमें ग्रंथकार यतिवृषभाचार्यने, 'जदि-वसहं' पदके द्वारा श्लेषरूपसे अपना नाम भी सूचित किया है[1]। इसके द्वितीय और तृतीय चरण कुछ अशुद्ध जान पड़ते हैं। दूसरे चरणमें 'गुण' के अनन्तर 'हर' और होना चाहिये। देहलीकी प्रतिमें भी त्रुटित अंशके संकेत पूर्वक उसे हाशियेपर दिया है, जिससे वह उन गुणधराचार्यका भी वाचक हो जाता हैं जिनके 'कसायपाहुड' सिद्धान्तग्रंथपर यतिवृषभने चूर्णिसूत्रोंकी रचना की है और 'आर्या गीति' के लक्षणानुरूप चौथे चरणके समान दूसरेमें २० मात्राएं हो जाती हैं। तीसरे चरणका पाठ पहले 'दट्ठूण परिसवसहं' प्रकट किया गया था[2] जो देहलीकी प्रतिमें भी पाया जाता है, और उसका संस्कृत रूप 'दृष्ट्वा परिषद् वृषभं' दिया था, जिसका अर्थ होता है—परिषदोंमें श्रेष्ठ परिषद् [सभा] को देखकर। परंतु परिसका अर्थ कोषमें परिषद् नहीं मिलता किंतु स्पर्श उपलब्ध होता है, परिषद्का वाचक परिसा शब्द स्त्रीलिंग है[3] शायद यह देखकर अथवा किसी दूसरे अज्ञात कारणवश हालमें 'दट्ठूण-य रिसिवसहं' पाठ दिया है[4] जिसका अर्थ होता है—ऋषियोंमें श्रेष्ठ ऋषिको देखकर परन्तु 'जदिवसहं' की मौजूदगीमें रिसिवसहं यह कोई विशेषता नहीं रखता मुनि, यति, 'ऋषि शब्द प्रायः समान अर्थके वाचक हैं इसलिए वह व्यर्थ पड़ता है। पिछले पाठको लेकर उसके स्थान पर 'दट्ठूण अरिस वसहं' पाठ भी सुझाया गया है[5] और उसका अर्थ आर्ष ग्रथोंमें श्रेष्ठको देखकर किया है। परंतु अरिसका अर्थ कोशमें आर्ष उपलब्ध नहीं होता; किंतु अर्श [बवासीर] नामका रोग विशेष पाया जाता है, आर्षके लिए आरिस शब्दका प्रयोग होता है[6]। यदि आरिसका अर्थ आर्ष भी मान लिया जाय अथवा 'प' के स्थानपर कल्पना किये गये 'अ' के लोप पूर्वक इस चरणको सर्वत्र अनुपलब्ध 'दट्ठूणारिसवसहं' ऐसा रूप देकर संधिके विश्लेषण द्वारा इसमेंसे आर्षका वाचक आरिस शब्द निकाल लिया जावे तो भी दट्ठूण पद सबसे अधिक खटकता है इस पदकी मौजूदगीमें गाथाके अर्थकी ठीक संगति नहीं बैठती—उसमें प्रयुक्त हुआ 'पणमह' [प्रणाम करो] क्रियापद कुछ वाधा उत्पन्न करता है और अर्थ सुसंगत नहीं हो पाता। ग्रंथकारने यदि दट्ठूय [दृष्ट्वा] पदको अपने विषयमें प्रयुक्त किया है तो दूसरा क्रियापद भी अपने ही विषयका होना चाहिये था अर्थात् आर्षवृषभ या ऋषभ, आदि को देखकर मैंने यह कार्य किया या मैं प्रणामादि अमुक कार्य करता हूं

---

१. श्लेष रूपसे नाम-सूचनकी यह पद्धति अनेक ग्रन्थोंमें पायी जाती हैं; यथा—गोम्मटसार, नीतिवाक्यामृत और प्रभा-चन्द्रादिके ग्रन्थ।

२ जैनहितैषी भाग १३, अंक १२, पृ० ५२८ पर सुहृद्वर पं० नाथूराम प्रेमीका लेख।

३ पाइय-सद्दमहण्णव कोश। ४ जैनसाहित्य और इतिहास पृ० ६।

५ जैनसिद्धांतभास्कर भाग ११ कि० १ पृ० ८०। ६ पाइय-सद्दमहण्णव कोश।

ऐसा कुछ बतलाना चाहिये था, जिसकी गाथा परसे उपलब्धि नहीं होती और यदि यह पद दूसरोंसे सम्बन्ध रखता है—उन्हींकी प्रेरणाके लिए प्रयुक्त हुआ है—तो दट्ठूण और 'पणमह' दोनों क्रियापदोंके लिए गाथामें अलग अलग कर्मपदोंकी संगति बैठानी चाहिये, जो कि नहीं बैठती। गाथाके वसहान्त पदोंमेंसे एकका वाच्य तो द्रष्टव्य और दूसरेका प्रणम्य वस्तु हो यह बात संदर्भसे संगत मालूम नहीं होती। इसलिए 'दट्ठूण' पदका अस्तित्व यहां बहुत ही आपत्तिके योग्य जान पड़ता है। मेरी रायमें यह तीसरा चरण 'दट्ठूण परिसवसहं' के स्थान पर 'दुट्ठुपरीसह-विसहं' होना चाहिये। इससे गाथाके अर्थकी सब संगति ठीक बैठ जाती है। यह गाथा जयधवलाके दशवें अधिकारमें बतौर मंगलाचरणके अपनायी गयी है, वहां इसका तीसरा चरण 'दुसह-परीसह-विसहं' दिया है। परीषहके साथ दुसह (दुःसह) और दुट्ठु (दुष्ठु) दोनों शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं—दोनोंका आशय परीषहको बहुत बुरी तथा असह्य बतलानेका है। लेखकोंकी कृपासे 'दुसह' की अपेक्षा 'दुट्ठु' के 'दट्ठूण' हो जानेकी अधिक सम्भावना है, इसीसे यहां 'दुट्ठु' पाठ सुझाया गया है वैसे 'दुसह' पाठ भी ठीक है। यहां इतना और भी जान लेना चाहिये कि जयधवलामें इस गाथाके दूसरे चरणमें 'गुणवसहं' के स्थानपर 'गुणहरवसहं' पाठ ही दिया है और इस तरह गाथाके दोनों चरणोंमें जो गलती और शुद्धि सुझायी गयी है उसकी पुष्टि भले प्रकार हो जाती है।

दूसरी गाथामें इस तिलोयपण्णत्तीका परिमाण आठ हजार श्लोक-जितना बतलाया है। साथ ही, एक महत्वकी बात और सूचित की है; वह यह कि यह आठ हजारका परिमाण चूर्णिस्वरूप अर्थका और करण-स्वरूपका जितना परिमाण है उसके बराबर है। इससे दो बातें फलित होती हैं—एक तो यह कि गुणधराचार्यके कसायपाहुड ग्रंथपर यतिवृषभने जो चूर्णिसूत्र रचे हैं वे इस ग्रंथसे पहले रचे जा चुके थे, दूसरी यह कि 'करणस्वरूप' नामका भी कोई ग्रंथ यतिवृषभके द्वारा रचा गया था जो अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ, वह भी इस ग्रंथसे पहले बन चुका था। बहुत संभव है कि वह ग्रंथ उन करणसूत्रोंका ही समूह हो जो गणितसूत्र कहलाते हैं और जिनका कितना ही उल्लेख त्रिलोक-प्रज्ञप्ति, गोम्मटसार, त्रिलोकसार और धवला जैसे ग्रंथोंमें पाया जाता है। चूर्णिसूत्रों अथवा वृत्ति-सूत्रोंकी संख्या छह हजार श्लोक परिमाण है, अतः करणस्वरूप ग्रन्थकी संख्या दो हजार श्लोक-परिमाण समझनी चाहिये; तभी दोनोंकी संख्या मिलकर आठ हजारका परिमाण इस ग्रन्थका बैठता है। तीसरी गाथामें 'यह ग्रन्थ प्रवचनभक्तिसे प्रेरित होकर मार्गकी प्रभावनाके लिए रचा गया है, इसमें कहीं कोई भूल हुई हो तो बहुश्रुत आचार्य उसका संशोधन करें' ऐसा निवेदन किया गया है।

ग्रन्थकार यतिवृषभ और उनका समय—

ग्रन्थमें न रचना-काल दिया है और न ग्रन्थकारने अपना कोई परिचय ही दिया है—उक्त दूसरी गाथासे इतना ही ध्वनित होता है कि 'वे धर्मसूत्रके पाठकोंमें श्रेष्ठ थे।' इसलिए ग्रन्थकार,

ग्रन्थके समय, सम्बन्धादिमें निश्चित रूपसे कुछ कहना सहज नहीं है। चूर्णिसूत्रोंसे मालूम होता है कि यतिवृषभ प्रौढ सूत्रकार थे। प्रस्तुत ग्रन्थ भी उनके जैनशास्त्रोंके विस्तृत अध्ययनको व्यक्त करता है। उनके सामने 'लोकविनिश्चय', 'संगाइणी (संग्रहणी)' और 'लोकविभाग [प्राकृत]' जैसे कितने ही ऐसे प्राचीन ग्रन्थ भी मौजूद थे, जो आज उपलब्ध नहीं है और जिनका उन्होंने अपने इस ग्रन्थमें उल्लेख किया है। उनका यह ग्रन्थ प्रायः प्राचीन ग्रन्थोंके आधारपर ही लिखा गया है, इसीसे उन्होंने ग्रन्थकी पीठिकाके अन्तमें, ग्रन्थ रचनेकी प्रतिज्ञा करते हुए, उसके विषयको 'आइरिय अणुक्कमायादं' (गा० ८६) बतलाया है और महाधिकारोंके संधिवाक्योंमें प्रयुक्त हुए 'आइरिय परंपरागए' पदके द्वारा भी इसी बातको पुष्ट किया है, इस तरह यह घोषित किया है कि इस ग्रन्थका मूल विषय उनका स्वरुचि-विरचित नहीं है, किन्तु आचार्यपरम्पराके आधारपर है। रही उपलब्ध करणसूत्रोंकी बात; वे यदि इनके उस करणस्वरूप ग्रंथके ही अंग हैं, जिसकी अधिक संभावना है, तब तो कहना ही क्या है? वे सब इनके उस विषयके पाण्डित्य, तथा बुद्धिकी प्रखरताके प्रबल परिचायक हैं।

जयधवलाके आदिमें मंगलाचरण करते हुए श्रीवीरसेनाचार्यने यतिवृषभका जो स्मरण किया है वह इस प्रकार है—

"जो अज्जमंखुसीसो अंतेवासी वि णागहत्थिस्स।
सो वित्ति-सुत्त-कत्ता जइवसहो मे वरं देऊ ॥ ८॥"

इसमें कसायपाहुडकी जयधवला टीकाके मूलाधार वृत्ति (चूर्णि)—सूत्रोंके कर्ता यतिवृषभको आर्यमंक्षुका शिष्य और नागहस्तिका अन्तेवासी बतलाया है। इससे यतिवृषभके दो गुरुओंके नाम सामने आते हैं, जिनके विषयमें जयधवला परसे इतना और जाना जाता है कि श्री गुणधराचार्यने कसाय-पाहुड अपरनाम पेज्जदोसपाहुडका उपसंहार (संक्षेप) करके जो सूत्रगाथाएं रची थीं वे इन दोनोंको आचार्य-परम्परासे प्राप्त हुई थीं और ये उनके सर्वाङ्ग अर्थके ज्ञाता थे, इनसे समीचीन अर्थको सुनकर ही यतिवृषभने, प्रवचन-वात्सल्यसे प्रेरित होकर उन सूत्र गाथाओं पर चूर्णिसूत्रोंकी रचना की[1]। ये दोनों जैन-परम्पराके प्राचीन आचार्योंमें हैं और इन्हें दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंने माना है—श्वेताम्बर सम्प्रदायमें आर्यमंक्षुका आर्यमंगु नामसे उल्लेख किया है, मंगु और मंक्षु एकार्थक हैं। धवला, जयधवलामें

---

१ "पुणो तेण गुणहरभडारएण णाणपवाद-पंचमपुव्व-दसमवत्थु-तदियकसायपाहुड-महण्णव-पारएण गंथवोच्छेदभएण वच्छलपरवसि-कय-हियएण एवं पेज्जदोसपाहुडं सोलसपदसहस्सपरिमाणं होंतं असीदि सदमेत्तगाहाहिं उवसंहारिदं। पुणो ताओ चेयसुत्तगाथाओ आइरिय परंपराए आगच्छमाणाओ अज्जमंखु-णागहत्थीणं पत्ताओ। पुणो तेसिं दोण्हंपि पादमूले असीदिसदगाहाणं गुणहरमुहकमलविणिग्गयाणमत्थं सम्मं सोऊण जयिवसहभडारएण पवयणवच्छलेण चुण्णिसुत्तं कयं।"—जयधवला

इन दोनों आचार्योंको 'क्षमाश्रमण' और 'महावाचक' भी लिखा है[1] जो उनकी महत्ताके द्योतक हैं। इन दोनों आचार्योंके सिद्धान्त-विषयक उपदेशोंमें कहीं कहीं कुछ सूक्ष्म मतभेद भी रहा है, जो वीरसेनको उनके ग्रन्थों अथवा गुरुपरम्परासे ज्ञात था इसलिए उन्होंने धवला तथा जयधवला टीकाओंमें उसका उल्लेख किया है। ऐसे जिस उपदेशको उन्होंने सर्वाचार्य सम्मत, अव्युच्छिन्न सम्प्रदायक्रमसे चिरकालागत और शिष्य परम्परामें प्रचलित तथा प्रज्ञापित समझा है उसे 'पवाइज्जंत' 'पवाइज्जमाण' उपदेश बतलाया है और जो ऐसा नहीं उसे 'अपवाइज्जंत' अथवा 'अपवाइज्जमाण' नाम दिया है[2]। उल्लिखित मतभेदोंमें आर्यनागहस्तिके अधिकांश उपदेश 'पवाइज्जंत' और आर्यमंक्षुके 'अपवाइयज्जंत' बतलाये गये हैं। इस तरह यतिवृषभ दोनोंका शिष्यत्व प्राप्त करनेके कारण उन सूक्ष्म मतभेदकी बातोंसे भी अवगत थे, यह सहज ही जाना जाता है। वीरसेनने यतिवृषभका महाप्रामाणिक आचार्य रूपसे उल्लेख किया है। एक प्रसंग पर राग-द्वेष-मोहके अभावको उनकी वचनप्रमाणतामें कारण बतलाया है और उनके चूर्णिसूत्रोंको असत्यका विरोधी ठहराया है[3]। इन सब बातोंसे आचार्य यतिवृषभका महत्त्व स्वतः ख्यापित हो जाता है।

अब देखना यह है कि यतिवृषभ कब हुए हैं और कब उनकी यह तिलोयपण्णत्ती बनी है, जिसके वाक्योंको धवलादिकमें उद्धृत करते हुए अनेक स्थानों पर श्रीवीरसेनने उसे 'तिलोयपण्णत्तिसुत्त' कहा है। यतिवृषभके गुरुओंमेंसे यदि किसीका भी समय सुनिश्चित होता तो इस विषयका कितना ही काम निकल जाता, परन्तु उनका भी समय सुनिश्चित नहीं है। श्वेताम्बर पट्टावलियोंमेंसे 'कल्पसूत्र स्थविरावली' और 'पट्टावलीसारोद्धार' जैसी कितनी ही प्राचीन तथा प्रधान पट्टावलियोंमें तो आर्यमंगु और नागहस्तीका नाम ही नहीं है, किसी किसी पट्टावलीमें एकका नाम है तो दूसरेका नहीं और जिनमें दोनोंका नाम है उनमेंसे कोई दोनोंके मध्यमें एक आचार्यका और कोई एकसे अधिक आचार्योंका नामोल्लेख करती हैं। कोई कोई पट्टावली समयका निर्देश ही नहीं करती और जो

---

१ "कम्मट्ठिदि त्ति अणियोगद्दारेहि भण्णमाणे वे उवदेसा होंति। जहण्णमुक्कस्सट्ठिदीणं पमाणपरूवणा कम्मट्ठिदि परूवणंत्ति णागहत्थि-खमासमणा भणंति। अज्जमंखु खमासमणा पुण कम्मट्ठिदि परूवणेत्ति भणंति। एवं दोहि उवदेसेहि कम्मट्ठिदि परूवणा कायव्वा।" "एत्थ दुवे उवएसा.....महावाचयाणमज्जमंखुखवणाणमुवदेसेण लोग पूरिदे आउगसमाणं णामा-गोद-वेदणीयाणं दि संतकम्मं ठवेदि। महावाचयाणं णागहत्थिखवणाण मुवएसेण लोगे पूरिदे णामा-गोद-वेदणीयाण ठिदि संतकम्मं अंतोमुहुत्त पमाणं होदि।"—षट्खं० प्र० १ पृ० ५७।

२ "सव्वाइरियसम्मदो चिरकालमवोच्छिण्णसंपदाय-कमेणागच्छमाणो जो सिस्स-परंपराए पवाइज्जदे सो पवाइज्जंतोव एसोत्ति भण्णदे, अथवा अज्जमंखु-भयवंताणमुवएसो एत्थाऽपव्वाइज्जमाणो णाम। णागहत्थि खमणाणमुवएसो पवाइज्जंतोत्ति घेत्तव्वो।" जयधव पृ० ४३

३ "कुदो णव्वदे? एदम्हादोचेव जइवसहाइरिय-मुहकमल-विणिग्गय-चुण्णिसुत्तादो। चुण्णिसुत्तमण्णहा किं ण होदि? ण, रागदोसमोहाभावेण पमाणत्तमुवगय-जइवसह-वयणस्स असच्चत्तविरोहादो।" जयधवला प्र० १, पृ० ४६।

करती हैं उनमें इन दोनोंके समयोंमें परस्पर अन्तर भी पाया जाता है—जैसे आर्यमंगुका समयारंभ तपागच्छ पट्टावलीमें वीरनिर्वाणसे ४६७ वर्ष पर और 'सिरिदुसमाकाल-समणसंघ-थयं' की अवचूरीमें ४५० पर बतलाया है[1]। दोनोंका एक समय तो किसी भी श्वे० पट्टावलीसे उपलब्ध नहीं होता बल्कि दोनोंमें लगभग १५० या १३० वर्षका अन्तराल पाया जाता है। दिगम्बर परम्पराका उल्लेख दोनोंको स्पष्ट ही यतिवृषभके गुरूरूपमें प्रायः समकालीन बतलाता है। ऐसी स्थितिमें श्वे० पट्टावलियोंको दोनों आचार्योंके समयादिके विषयमें विश्वसनीय नहीं कहा जा सकता। इसलिए इनके समयका तिलोयपण्णत्तीके उल्लेखों परसे ही अथवा उसके अन्तःपरीक्षण द्वारा अनुसन्धान करना उचित है।

(१) तिलोयपण्णत्तीके अनेक पद्योंमें 'संगाइणी' तथा 'लोकविनिश्चय' ग्रन्थके साथ 'लोक-विभाग' नामके ग्रन्थका भी स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। यथा—

जलसिहरे विक्खंभो जलणिहिणो जोयणा दससहस्सा।
एउवं संगाइणिए लोयविभाए विणिद्दिट्ठं॥ (अ० ४)
लोयविणिच्छयगंथे लोयविभागम्मि सव्वसिद्धाणं।
ओगाहणपरिमाणं भणिदं किंचूण चरिमदेहसमो॥ (अ० ९)

यह 'लोकविभाग' ग्रंथ उस प्राकृत लोकविभाग ग्रन्थसे भिन्न मालूम नहीं होता, जिसे 'सर्व-नन्दी आचार्यने कांचीके राजा सिंहवर्माके राज्यके २२ वें वर्षमें उत्तराषाढ नक्षत्रमें शनिश्चर, वृषराशिमें बृहस्पति, उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रमें चन्द्रमा तथा शुक्ल पक्ष रहते हुए—शक संवत् ३८० में लिखकर पाणराष्ट्रके पाटलिक ग्राममें पूरा किया था।" जिसका उल्लेख सिंहसूर[2] के उस संस्कृत 'लोकविभाग' के तीसरे-चौथे पद्योंमें है, जिसे उन्होंने सर्वनन्दीके लोकविभागको सामने रखकर ही भाषाके परिवर्तन द्वारा[3] रचा होगा।

'लोकविभाग' आदि ग्रन्थोंके आधारसे तिलोयपण्णत्ती की उक्त दोनों गाथाओंमें जिन विशेष वर्णनोंका उल्लेख किया गया है वे सब संस्कृत लोकविभागमें भी पाये जाते हैं[4]। और इससे यह बात

१. पट्टावली समुच्चय।

२. "सिंहसूरर्षिणा 'पदसे 'सिंहसूर' नामकी उपलब्धि, होती है—सिंहसूरिकी नहीं जिसके सूरिपदको आचार्य पदका वाचक समझकर जैन साहित्य और इतिहास पृ० ५ पर नामके अधूरेपनकी कल्पना की है और 'पूरा नाम शायद सिंहनन्दि हो' ऐसा सुझाया गया है। छंदकी कठिनाईका हेतु उसमें कुछ भी समीचीन मालूम नहीं होता; क्योंकि सिंहनन्दि और सिंहसेन जैसे नामोंका वहां सहज ही समावेश किया जा सकता था।

३. आचार्यावलिकागतं विरचितं तत्सिंहसूरर्षिणा। भाषायाः परिवर्तनेन निपुणैः सम्मानितं साधुभिः॥

४ "दशैवैष सहस्राणि मूलेऽग्रेऽपि पृथुर्मतः" । प्रकरण २

"अन्त्यकायप्रमाणात्तु किञ्चित्संकुचितात्मकाः॥ प्रक० ११

और भी स्पष्ट हो जाती है कि संस्कृतका उपलब्ध लोकविभाग उक्त प्राकृत लोकविभागको सामने रख कर ही लिखा गया है।

इस सम्बन्धमें एक बात और विचारणीय है कि संस्कृत लोकविभागके अन्तमें उक्त दोनों पद्योंके बाद निम्न पद्य दिया है—

'पंचदशशतान्याहुः षट्त्रिंशदधिकानि वै। शास्त्रस्य संग्रहस्त्वेदं छंदसानुष्टभेन च ॥५॥

इसमें ग्रंथकी संख्या १५३६ श्लोक-परिमाण बतलायी है, जब कि उपलब्ध[1] संस्कृत लोक-विभागमें वह २०३० के करीब जान पड़ती है। मालूम होता है कि यह १५३६ की श्लोक संख्या पुराने प्राकृत लोकविभाग की है और उसके संख्या सूचक पद्यका भी यहां अनुवाद कर दिया है। संस्कृत ग्रन्थमें जो ५०० श्लोक परिमाण अधिक है वह प्रायः 'उक्तं च' पद्योंका परिमाण है जो इस ग्रन्थमें दूसरे ग्रन्थोंसे उद्धृत किये गये हैं—१०० से अधिक गाथाएं तो तिलोयपण्णत्ती की ही हैं, २०० के करीब श्लोक भगवज्जिनसेनके आदिपुराणसे लिये गये हैं और शेष उद्धृत पद्य तिलोयसार (त्रिलोकसार) और जम्बूद्वीप पण्णत्ती (जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति) आदि ग्रन्थोंके हैं। इस तरह इस ग्रन्थके भाषाके परिवर्तन और दूसरे ग्रन्थोंसे कुछ पद्योंके 'उक्तं च' रूपसे उद्धरणके सिवाय सिंहसूरकी प्रायः और कुछ भी कृति मालूम नहीं होती। बहुत संभव है कि 'उक्तं च' रूपसे जो पद्योंका संग्रह पाया जाता है वह स्वयं सिंहसूर मुनिके द्वारा न किया गया हो बल्कि बादके किसी दूसरे ही विद्वानने अपने तथा दूसरोंके विशेष उपयोगके लिए किया हो क्योंकि ऋषि सिंहसूर जब प्राकृत ग्रन्थका केवल संस्कृत अनुवाद करने बैठे—व्याख्यान नहीं तो यह संभावना बहुत ही कम रह जाती है कि वे दूसरे प्राकृतादि ग्रंथोंसे तुलनादिके लिए कुछ वाक्योंको स्वयं उद्धृत करके उन्हें ग्रन्थका अंग बनायें। यदि किसी तरह यह उद्धरण-कार्य उनका ही सिद्ध किया जा सके तो कहना होगा कि वे विक्रमकी ११ वीं शतीके अन्तमें अथवा उसके बाद हुए हैं; क्योंकि इसमें आचार्य नेमिचन्द्रके त्रिलोकसारकी गाथाएं भी 'उक्तं च त्रैलोक्यसारे' सूचक वाक्यके साथ पायी जाती हैं। इसलिए इस सारी परिस्थिति परसे यह कहनेमें कोई संकोच नहीं होता कि तिलोयपण्णत्तीमें जिस लोकविभागका उल्लेख है वह सर्वनन्दीका प्राकृत लोकविभाग है जिसका उल्लेख ही नहीं क्रिन्तु अनुवादित रूप संस्कृत लोकविभागमें पाया जाता है। चूं कि उस लोकविभागका रचनाकाल शक संवत् ३८० (वि० सं० ५१५) है अतः तिलोयपण्णत्तीके रचयिता यतिवृषभ शक सं० ३८० के बाद हुए हैं, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है। अब देखना यह है कि कितने बाद हुए हैं?

तिलोयपण्णत्तीमें अनेक काल गणनाओं के आधारपर 'चतुर्मुख' नामके कल्कि[2] की मृत्यु

---

१ आरा दि० जैन सिद्धान्तभवनकी प्रति और उसकी प्रतिलिपि वीरसेवामन्दिरकी प्रति।

२. कल्कि निःसंदेह एक ऐतिहासिक व्यक्ति हुआ है, इस बातको इतिहासज्ञोंने भी मान्य किया है. डा० के० बी०

वीर-निर्वाणसे एक हजार वर्ष बाद बतलायी है, उसका राज्य काल ४२ वर्ष दिया है, उसके अत्याचारों तथा मारे जानेकी घटनाओंका उल्लेख किया है और मृत्युपर उसके पुत्र अजितंजयका दो वर्ष स्थायी धर्मराज्य लिखा है। साथ ही, बादको धर्मकी क्रमशः हानि बतलाकर और किसी राजाका उल्लेख नहीं किया है। इस प्रकरणकी कुछ गाथांए निम्न प्रकार हैं, जो कि पालकादि राज्यकाल ९५८ का उल्लेख करने के बाद दी गयी हैं—

"तत्तो कक्की जादो इंदसुदो तस्स चउमुहो णामो।
सत्तरिवरिसा आऊ विगुणिय इगवीस रज्जत्तो ॥९९॥
आचारागंधरादो पणहत्तरिजुत्तदुसयवासेसुं।
बोलीणेसुं बद्धो पट्टो कक्की स णरवइणो ॥१००॥
अह कोवि असुर देओ ओहीदो मुणिगणाण उवसग्गं।
णादूणं त कक्की मेरेदि हु धम्मदोहि त्ति ॥१०३॥
कक्किसुदो अजिदंजय णामोरक्खदि णमदि तच्चरणे।
तं रक्खदि असुरदेओ धम्मे रज्जं करेज्जंति ॥१०४॥
तत्तो दोवेवासो सम्मं धम्मो पयट्टिदि जणाणं।
कमसो दिवसे दिवसे कालमहप्पेण हाएदे ॥१०५॥

इस घटनाचक्र से यह साफ मालूम होता है कि तिलोयपण्णत्तीकी रचना कल्किराजाकी मृत्युसे १०–१२ वर्षसे अधिक बादकी नहीं है। यदि अधिक बादकी होती तो ग्रंथ पद्धतिको देखते हुए यह संभव नहीं था कि उसमें किसी दूसरे प्रधान राज्य अथवा राजाका उल्लेख न किया जाता। वीरनिर्वाण शक राजा अथवा शक संवत् से ६०५ वर्ष ५ महीने पहले हुआ है, जिसका उल्लेख तिलोयपण्णत्तीमें भी पाया जाता है[1]। एक हजार वर्षमें से इस संख्याको घटाने पर ३९४ वर्ष ७ महीने अवशिष्ट रहते

पाठक उसे मिहिरकुल नामका राजा बतलाते हैं और जैन कालगणनाके साथ उसकी संगति बैठाते हैं यह बहुत अत्याचारी था। इसका वर्णन चीनीयात्री हुएनसाङ्ग के यात्रा वर्णनमें विस्तारके साथ मिलता है तथा राजतरंगिणीमें भी इसकी दुष्टताका हाल दिया है। परन्तु डा० काशीप्रसाद जायसवाल इसे मिहिरकुल को पराजित करनेवाले मालवाधिपति विष्णु यशोधर्माको ही, 'कल्कि' बतलाते हैं, जिसका विजयस्तम्भ मन्दसौरमें स्थित हैं और वह ई० सन् ५३३–३४ में स्थापित हुआ था। जैनहितैषी भाग १३ अंक १२ में जायसवालजी का 'कल्कि अवतारकी ऐतिहासिकता' और पाठकजी का 'गुप्त राजाओं का काल, मिहिरकुल और कल्कि' नामक लेख पृ० ५१६ – ५२५।

१ णिव्वाणे वीरजिणे छव्वस्ससदेसु पंचवरसेसु। पणमासेसु गदेसु संजादो सग-णिओ अहवा ॥— तिलोयपण्णत्ती
पण छस्सयवस्सं पणमासजुदं गमिय वीरणिव्वुइदो सगराजो तो कक्की चदुणतिय महिय सगमासं ॥

—त्रिलोकसार

हैं। यही (शक संवत ३९५) कल्किकी मृत्युका समय है। और इसलिए तिलोयपण्णत्तीका रचनाकाल शक सं० ४०५ (वि० सं० ५४०) के करीब का जान पड़ता हैं जब कि लोकविभागको बने हुए २५ बर्षके करीब हो चुके थे, और यह अन्तराल लोकविभागकी प्रसिद्धि तथा यतिवृषभतक उसकी पहुंचके लिए पर्याप्त है।

यतिवृषभ और कुन्दकुन्दके समय-सम्बन्धी प्रथम मतकी आलोचना—

यतः यतिवृषभ कुन्दकुन्दाचार्यसे २०० वर्षसे भी अधिक समय बाद हुए हैं, अतः मैंने श्री कुन्दकुन्द और यतिवृषभमें पूर्ववर्ती कौन ?' नामक लेख[1] लिखकर इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारके कुछ गलत तथा भ्रान्त उल्लेखोंसे प्रसूत और विबुध श्रीधर-श्रुतावतारके उससे भी अधिक गलत एवं आपत्तिके योग्य उल्लेखों द्वारा पुष्ट विद्वानोंकी गलत धारणाओंका विचार किया था। तथा उन प्रधान युक्तियोंका विवेचन किया था जिनके आधारपर कुन्दकुन्दको यतिवृषभके बादका विद्वान् बतलाया गया है। उनमेंसे एक युक्तिका तो इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार ही आधार है; दूसरी प्रवचनसारकी 'एस सुरासर' नामकी आद्यमंगल गाथासे सम्बन्धित है, जो तिलोयपण्णत्तीके अन्तिम अधिकारमें भी पायी जाती है और जिसे तिलोयपण्णत्तीसे ही प्रवचनसारमें ली गयी समझ लिया गया था और तीसरी कुन्दकुन्दके नियमासारकी[2] गाथासे सन्बन्ध रखती है, जिसमें प्रयुक्त 'लोयविभागेसु' पदसे सर्वनन्दीके 'लोकविभाग' ग्रन्थको समझा गया है। यतः उसकी रचना शक सं० ३८० में हुई है अतः कुन्दकुन्दाचार्यको शक सं० ३८० (वि० सं० ५१५) के बादका विद्वान ठहराया गया है।

'एस सुरासुर' नामकी गाथाको कुन्दकुन्दकी सिद्ध करनेके लिए मैंने जो युक्तियां दी थी उनसे दूसरी युक्तिके सम्बन्धमें तो धारणा बदल गयी है[3]। फलतः उक्त गाथाकी स्थितिको प्रवचनसारमें सुदृढ़ स्वीकार किया गया है, क्योंकि उसके अभावमें प्रवचनसारकी दूसरी गाथा 'सेसे पुण तित्थयरे' को लटकती हुई माना गया है। और तिलोयपण्णत्तीके अन्तिम अधिकारके अन्तमें पायी जाने वाली कुन्थनाथसे वर्द्धमानतक स्तुति-विषयक आठ गाथाओंके सम्बन्धमें जिनमें उक्त गाथा भी है, लिखा

वीरनिर्वाण और शकसंवत् की विशेष जानकारीके लिए, लेखककी 'भगवान महावीर और उनका समय' नामकी पुस्तक देखनी चाहिये।

१ अनेकान्त वर्ष २ (नवम्बर सन् १९३८) किरण सं० १।

२ ''चउदसभेदा भणिदा तेरिच्छा सुरगणा चउब्भेदा। एदेसिं वित्थारं लोयविभागेसु णादव्वं ॥ १७ ॥

३ गाथा–चूर्ण्युच्चारणसूत्रैरुपसंहृतं कषायाख्य—प्राभृतमेवं गुणधर-यतिवृषभोच्चारणाचार्यैः ॥ १५९ ॥
एवं द्विविधो द्रव्य-भावपुस्तकगतः समागच्छन्। गुरुपारपाट्या ज्ञातः सिद्धान्तः कोण्डकुन्दपुरे ॥ १६० ॥
श्रीपद्मनन्दि-मुनिना, सोऽपि द्वादशसहस्रपरिमाणः। ग्रन्थ-परिकर्म-कर्ता षट्खण्डाऽऽद्यत्रिखण्डस्य ॥ १६१ ॥

गया है कि—"बहुत सम्भव है कि ये सब गाथाएं मूलग्रंथकी न हों, पीछेसे किसीने जोड़ दी हों और उनमें प्रवचनसारकी उक्त गाथा आ गयी हो।"

प्रथम युक्तिके सम्बन्धमें मैंने यह बतलाया था कि इन्द्रनन्दि श्रुतावतारके जिस उल्लेख[१] परसे कुन्दकुन्द (पद्मनन्दी) को यतिवृषभके बादका विद्वान् समझा जाता है उसका अभिप्राय 'द्विविध सिद्धान्त के उल्लेख-द्वारा यदि समस्त टीकाओं सहित कसायपाहुड (कषायप्राभृत) को कुन्दकुन्दतक पहुंचाना है तो वह जरूर गलत है और किसी गलत सूचना अथवा गलतफहमीका परिणाम है। क्यों कि कुन्दकुन्द यतिवृषभसे बहुत पहले हुए हैं जिसके कुछ प्रमाण भी दिये थे। साथ ही, यह भी बतलाया था कि यद्यपि इन्द्रनन्दीने यह लिखा है कि वंशकथन करने वाले शास्त्रों तथा मुनिजनोंका उस समय अभाव होने से गुणधर और धरसेन आचार्योंकी गुरु-परम्पराका पूर्वाऽपर क्रम उन्हें मालूम नहीं है[१]; परन्तु दोनों सिद्धान्तग्रन्थोंके अवतारका जो कथन दिया है वह भी उन ग्रंथों तथा उनकी टीकाओंको स्वयं देखकर लिखा गया मालूम नहीं होता—सुना-सुनाया जान पड़ता है। यही वजह है जो उन्होंने आर्यमंक्षु और नागहस्तिको गुणधराचार्यका साक्षात् शिष्य घोषित कर दिया और लिख दिया है कि 'गुणधराचार्यने कसायपाहुडकी सूत्रगाथाओं को रचकर स्वयं ही उनकी व्याख्या करके आर्यमंक्षु और नागहस्तिको पढ़ाया था[१], जब कि उनकी टीका जयधवलामें स्पष्ट लिखा है कि 'गुणधराचार्यकी उक्त सूत्र गाथाएं आचार्य परम्परासे आर्यमंक्षु और नागहस्तिको प्राप्त हुई थीं—गुणधराचार्य तथा उनमें उक्त गाथाओं का साक्षात् आदान-प्रदान नहीं हुआ था। जैसा कि "पुणो ताओ सुत्तगहाओ आइरियपरंपराए आगच्छमाणाओ अज्जमंखुणागहत्थीणं पत्ताओ।' से स्पष्ट है इसलिए इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारके उक्त कथनकी सत्यता पर कोई विश्वास नहीं किया जा सकता। परंतु मेरी इन सब बातों पर कोई खास ध्यान दिया गया मालूम नहीं होता इसीलिए आर्यमंक्षु और नागहस्तिको गुणधराचार्यका साक्षात् शिष्य मानकर हो विचार किया गया है। जबकि ऐसा मानकर चलनेमें यह ख्याल रखनेकी बात थी कि इन्द्रनन्दि के गुणधराचार्यके पूर्वाऽपर-अन्वय, गुरुओंके विषयमें एक जगह अपनी अनभिज्ञता व्यक्त करने तथा दूसरी जगह उनकी कुछ शिष्य-परम्पराका उल्लेख करके अपर गुरुओंके विषयमें अपनी अभिज्ञता बतानेमें परस्पर विरोध है।" चूंकि यतिवृषभ आर्यमंक्षु और नागहस्तिके शिष्य थे इसलिए उन्हें गुणधराचार्यका समकालीन अथवा २०, २५ वर्ष बादका ही विद्वान सूचित किया है और साथ ही यह प्रतिपादन किया है कि 'कुन्दकुन्द (पद्मनन्दि) को दोनों सिद्धान्तोंका जो ज्ञान प्राप्त हुआ उसमें यतिवृषभकी चूर्णिका अन्तर्भाव भले ही न हो, फिर भी जिस द्वितीय सिद्धान्त कषायप्राभृतको कुन्दकुन्दने प्राप्त किया है उसके कर्ता गुणधर जब यतिवृषभके समकालीन अथवा २०-

---

१. गुणधर-धरसेनान्वय गुर्वोः पूर्वाऽपरक्रमोऽस्माभिर्न ज्ञायते तदन्वय कथकागम मुनि जनाभावात् ॥१५०॥

१. एवं गाथासूत्राणि पंचदशमहाधिकाराणि। प्रविरच्य व्याचख्यौ स नागहस्त्यार्यमंक्षुभ्याम् ॥ १५४ ॥

२५ वर्ष पहले हुए थे तब कुन्दकुन्द भी यतिवृषभके सम-सामयिक बल्कि कुछ पीछे के ही होंगे, क्योंकि उन्हें दोनों सिद्धान्तोंका ज्ञान गुरुपरिपाटीसे प्राप्त हुआ था। अर्थात् एक दो गुरू उनसे पहले और मानने होंगे।' अन्तमें कुछ शिथिल श्रद्धाके साथ इन्द्रनन्दि श्रुतावतारको मूलाधार मानते हुए लिखा गया है—"गरज यह कि इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारके अनुसार पद्मनन्दि (कुन्दकुंद) का समय यतिवृषभसे बहुत पहले नहीं जा सकता। अब यह बात दूसरी है कि इन्द्रनन्दिने जो इतिहास दिया है, वही गलत हो और या ये पद्मनन्दि कुंदकुंदके बादके दूसरे ही आचार्य हों और जिस तरह कुन्दकुन्द कोण्डकुण्ड-पुरके थे उसी तरह पद्मनन्दि भी कोण्डकुण्डपुरके हों।"

बादमें जब जयधवलाका वह कथन पूरा मिल गया जिसका एक अंश 'पुणो ताओ' से आरंभ करके मैंने उक्त लेखमें दिया था और जिसका अधिकांश ऊपर उद्धृत किया गया है तब ग्रन्थ छप चुकनेपर उसके परिशिष्टमें उस कथनको देते हुए यह स्पष्ट सूचित किया गया है कि "नागहस्ति और आर्यमंक्षु गुणधरके साक्षात् शिष्य नहीं थे।" इस सत्यको स्वीकार करनेपर उस दूसरी युक्तिकी क्या स्थिति रहेगी, इस विषयमें कोई सूचना नहीं की गयी है यद्यपि करनी चाहिये थी। स्पष्ट है कि वह सारहीन हो जाती है। और कुन्दकुन्द द्विविधसिद्धान्तमें चूर्णिका अन्तर्भाव न होनेके कारण यतिवृषभसे बहुत पहलेके विद्वान भी हो सकते हैं।

अब रही तीसरी युक्ति उसके विषयमें मैंने अपने उक्त लेखमें यह बतलाया था कि 'नियमसारकी उस गाथामें प्रयुक्त हुए 'लोयविभागेसु' पदका अभिप्राय सर्वनन्दीके उक्त लोकविभाग ग्रन्थसे नहीं है और न हो सकता है; बल्कि बहुवचनान्त पद होनेसे वह 'लोकविभाग' नामके किसी एक ग्रन्थ विशेष का भी वाचक नहीं हैं। वह तो लोकविभाग-विषयक कथन वाले अनेक ग्रन्थों अथवा प्रकरणोंके संकेतको लिये हुए जान पड़ता है और उसमें खुद कुन्दकुन्दके 'लोय पाहुड'—'संठाण पाहुड' जैसे ग्रन्थ तथा दूसरे लोकानुयोग अथवा लोकालोकके विभागको लिये हुए करणानुयोग-सम्बन्धी ग्रन्थ भी शामिल किये जा सकते हैं इसलिए 'लोयविभागेसु' इस पदका जो अर्थ कई शताब्दियों पीछेके टीकाकार पद्मप्रभने 'लोकविभागाभिधान परमागमे' ऐसा एक वचनान्त किया है वह ठीक नहीं है[१]। साथ ही उपलब्ध लोकविभागमें, जो कि (उक्तं च वाक्योंको छोड़कर) सर्वनन्दीके प्राकृत लोकविभागका ही अनुवादित संस्कृत रूप है, तिर्यञ्चोंके उन 'चौदह भेदों' के विस्तार कथनका कोई पता भी नहीं, जिसका उल्लेख नियमसार की उक्त गाथा में किया गया है। इससे मेरा उक्त कथन अथवा स्पष्टीकरण और भी ज्यादा पुष्ट होता है। इसके सिवाय, दो प्रमाण ऐसे हैं जिनकी मौजूदगी में कुन्दकुन्दका समय शक संवत् ३८० (वि० सं० ५१५)

---

१. मेरे इस विवेचनसे, जो 'जैनजगत' वर्ष ८ अङ्क ९ के एक पूर्ववर्ती लेखमें प्रथमतः प्रकट हुआ था, डा० ए० एन० उपाध्ये एम० ए० ने प्रवचनसारकी प्रस्तावना (पृ० २२, २३) में अपनी पूर्ण सहमति व्यक्त की है।

के बादका किसी तरह भी नहीं हो सकता। उनमें एक प्रमाण मर्कराके ताम्रपत्रका था जो शक सं० ३८८ का उत्कीर्ण है और जिसमें देशी गणान्तर्गत कुन्दकुन्दके अन्वय (वंश) में होने वाले गुणचंद्रादि छह आचार्योंका गुरु शिष्य क्रमसे उल्लेख है। दूसरा प्रमाण स्वयं कुन्दकुन्दके बोधपाहुडकी 'सद्दवियारोहूओ' नामकी गाथा है जिसमें कुन्दकुन्द ने अपने को भद्रबाहुका शिष्य सूचित किया है।

प्रथम प्रमाणको उपस्थित करते हुए मैंने बतलाया था कि 'यदि मोटे रूपसे गुणचन्द्रादि छह आचार्योंका समय १५० वर्ष ही कल्पना किया जाय; जो कि उस समयकी आयु-कायादिककी स्थितिको देखते हुए अधिक नहीं कहा जा सकता, तो कुन्दकुन्दके वंशमें होनेवाले गुणचन्द्रका समय शक संवत् २३८ (वि० सं० ३७३) के लगभग ठहरता है। और चूंकि गुणचन्द्राचार्य कुन्दकुन्दके साक्षात् शिष्य या प्रशिष्य नहीं थे बल्कि कुन्दकुन्दके अन्वय (वंश) में हुए हैं और अन्वयके प्रतिष्ठित होने के लिए कम से कम ५० वर्षका समय मान लेना कोई बड़ी बात नहीं है। ऐसी हालत में कुन्दकुन्दका पिछला समय उक्त ताम्रपत्र परसे २०० (१५०+५०) वर्ष पूर्वका तो सहज ही में हो जाता है। इसलिए कहना होगा कि कुन्दकुन्दाचार्य यतिवृषभसे २०० वर्षसे भी अधिक पहले हुए हैं। दूसरे प्रमाणमें गाथाको[1] उपस्थित करते हुए लिखा था कि इस गाथामें बतलाया है कि 'जिनेन्द्रने-भगवान महावीरने—अर्थरूपसे जो कथन किया है वह भाषा सूत्रोंमें शब्द विकारको प्राप्त हुआ है—अनेक प्रकारके शब्दोंमें उसे गूंथा गया है,—भद्रबाहुके कुछ शिष्योंने उन भाषा सूत्रों परसे उसको उसी रूपमें जाना है और (जानकर) कथन किया है।' इससे बोधपाहुडके कर्ता कुन्दकुन्दाचार्य भद्रबाहुके शिष्य मालूम होते हैं। और ये भद्रबाहुश्रुतकेवलीसे भिन्न द्वितीय भद्रबाहु जान पड़ते हैं, जिन्हें प्राचीन ग्रन्थकारोंने 'आचाराङ्ग' नामक प्रथम अंगके धारियोंमें तृतीय विद्वान सूचित किया है और जिनका समय जैनकाल गणनाओंके[2] अनुसार वीर-निर्वाण-संवत् ६१२ अर्थात् वि० सं० १४२ से (भद्रबाहु द्वितीयके समाप्ति कालसे) पहले भले ही हो, परन्तु पीछेका मालूम नहीं होता। क्योंकि श्रुतकेवली भद्रबाहुके समयमें जिनकथित श्रुतमें ऐसा कोई विकार उपस्थित नहीं हुआ था, जिसे गाथामें 'सद्द वियारो हूओ भासासुत्तेसु जंजिणे कहियं' इन शब्दों द्वारा सूचित किया गया है—वह अविच्छिन्न चला आया था। परन्तु दूसरे भद्रबाहुके समयमें वह स्थिति नहीं रही थी—कितना ही श्रुतज्ञान लुप्त हो चुका था और जो अवशिष्ट था वह अनेक भाषासूत्रों में परिवर्तित हो गया था। इसलिए कुन्दकुन्दका समय विक्रमकी दूसरी शती तो हो सकता है परन्तु तीसरी या तीसरी शती के बादका वह किसी तरह भी नहीं बनता।'

---

१ सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जंजिणे कहियं। सो तह कहियंणायं सीसेणय भद्दबाहुस्स ॥ ६१ ॥

२ जैन कालगणनाओंका विस्तार जाननेके लिए देखो लेखक द्वारा लिखित 'स्वामी समन्तभद्र' (इतिहास) का 'समय निर्णय' प्रकरण पृ० १८३ से तथा 'भ० महावीर और उनका समय' नामक पुस्तक।

परन्तु यह विवेचन किसी बद्धमूल धारणके कारण ग्राह्य नहीं हुआ इसीलिए मर्कराके ताम्रपत्रको कुन्दकुन्दके स्व-निर्धारित समय (शक सं० ३८० के बाद) के मानने में "सबसे बड़ी बाधा" स्वीकार करते हुए और यह बतलाते हुए भी कि "तब कुन्दकुन्दका यतिवृषभके बाद मानना असंगत हो जाता है" लिखा गया है "पर इसका समाधान एक तरह हो सकता है और वह यह कि कौण्डकुन्दान्वयका अर्थ हमें कुन्दकुन्दकी वंशपरम्परा न करके कौण्डकुन्दपुर नामक स्थानसे निकली हुई परम्परा करना चाहिये। जैसे श्रीपुर स्थानकी परम्परा श्रीपुरान्वय, अरुङ्गलकी अरुङ्गलान्वय, कित्तूरकी कित्तूरान्वय, मथुराकी माथुरान्वय, आदि।"

परन्तु इस संभावित समाधानकी कल्पनाके समर्थनमें एक भी प्रमाण उपस्थित नहीं किया गया है, जिससे 'कुन्दकुन्दपुरान्वय' का कोई स्वतंत्र अस्तित्व जाना जाता अर्थात् एक भी ऐसा उदाहरण नहीं दिया है जिससे यह मालूम होता कि श्रीपुरान्वयकी तरह कुन्दकुन्दपुरान्वय का भी कहीं उल्लेख आया है अथवा यह मालूम होता कि जहां पद्मनन्दि अपरनाम कुन्दकुन्दका उल्लेख आया है वहां उसके पूर्व कुन्दकुन्दान्वयका भी उल्लेख आया है और उसी कुन्दकुन्दान्वयमें उन पद्मनन्दि कुन्दकुन्दको बतलाया है, जिससे ताम्रपत्रके "कुन्दकुन्दान्वव' का अर्थ 'कुन्दकुन्द पुरान्वय' कर लिया जाता। 'विना समर्थनके केवल कल्पना से काम नहीं चल सकता। वास्तवमें कुन्दकुन्दपुरके नामसे किसी अन्वयके प्रतिष्ठित अथवा प्रचलित होनेका जैन साहित्यमें कहीं कोई उल्लेख नहीं पाया जाता। प्रत्युत इसके कुन्दकुन्दाचार्यके अन्वय के प्रतिष्ठित और प्रचलित होनेके सैकड़ों उदाहरण शिलालेखों तथा ग्रन्थ प्रशस्तियोंमें उपलब्ध होते हैं और वह देशादिके भेदसे 'इङ्गलेश्वर'[1] आदि अनेक शाखाओं (-बलियों) में विभक्त रहा है। और जहां कहीं कुन्दकुन्दके पूर्वकी गुरुपरम्पराका कुछ उल्लेख देखने में आता है वहां उन्हें गौतमगणधरकी सन्तति में अथवा श्रुतकेवली भद्रबाहुके शिष्य चन्द्रगुप्तके अन्वय (वंश) में बतलाया है[2]। जिनका कौण्डकुन्द-पुरके साथ कोई सम्बन्ध भी नहीं हैं। श्रीकुन्दकुन्द मूलसंघके (नन्दिसंघ भी जिसका नामान्तर है) अग्रणी गणी थे और देशीगणका उनके अन्वयसे सम्बन्ध रहा है, ऐसा श्रवणबेलगोलके ५५ (६९) संख्याके शिलालेखके निम्न वाक्योंसे जाना जाता है—

श्रीमतो वर्द्धमानस्य वर्द्धमानस्य शासने। श्री कोण्डकुन्दनामाऽभून्मूलसङ्घाग्रणी गणी ॥३॥
तस्याऽन्वयेऽजनि ख्याते...... देशिके गणे। गुणी देवेन्द्रसैद्धान्तदेवो देवेन्द्रवन्दितः ॥४॥

इसलिए मर्कराके ताम्र पत्रमें देशीगणके साथ जो कुन्दकुन्दान्वयका उल्लेख है वह कुन्दकुन्दाचार्यके अन्वयका ही उल्लेख है कुन्दकुन्दपुरान्वयका नहीं। इससे उक्त कल्पनामें कुछ भी सार मालूम

१. सिरि मूलसंघ देसियगण पुत्थयगच्छ-कोंडकुदाणं। परमण्ण-इगलेसर-बलिम्मि जादस्स मुणियहाणस्स ॥
—भाव त्रिभंगी ११८, परमागमसार २२६।

२. श्रवणबेलगोल शिलालेख नं० ४०, ४२, ४३, ४७, ५०, १०८,

नहीं होता। इसके सिवाय, बोधपाहुड की गाथा-सम्बन्धी दूसरे प्रमाणका कोई विरोध नहीं किया जाना ही सूचित करता है कि उसका विरोध शक्य नहीं है। दोनों ही अवस्थाओंमें कोण्डकुन्दपुरान्वयकी उक्त कल्पनासे कोई परिणाम नहीं निकलतर तथा प्रबलतर बाधाकी उपस्थिति होनेके कारण कुन्दकुन्दके समय सम्बन्धी उक्त धारणा टिकती ही नहीं है।

नियमसारकी उक्त गाथामें प्रयुक्त हुए 'लोयविभागेसु' पदको लेकर जो उपर्युक्त दो आपत्तियां की थीं उनका भी कोई समुचित समाधान अब तक नहीं मिला है। मूल लेखमें तो प्रायः इतना ही कहकर छोड़ दिया है कि "बहुवचनका प्रयोग इसलिए भी इष्ट हो सकता है कि लोक-विभागके अनेक विभागों या अध्यायोंमें उक्तभेद देखने चाहिए।" परन्तु ग्रन्थकार कुन्दकुन्दाचार्यका यदि ऐसा अभिप्राय होता तो वे 'लोयविभाग विभागेसु" ऐसा पद रखते, तभी उक्त आशय घटित हो सकता था, परन्तु ऐसा नहीं है, इसलिए प्रस्तुत पदके 'विभागेसु' पदका आशय यदि ग्रन्थके विभागों या अध्यायोंका लिया जाता है तो ग्रन्थका नाम 'लोक' रह जाता है—'लोकविभाग' नहीं—इससे तो सारी युक्ति ही पलट जाती है, जो 'लोकविभाग' ग्रंथके उल्लेखको मान कर दी गयी है। यद्यपि इसपर उस समय ध्यान नहीं दिया गया तथापि बादमें इसकी निःसारताका भान अवश्य हुआ है जैसा कि परिशिष्टके निम्न भागसे सिद्ध है—

'लोयविभागेसु णादव्वं' पाठ पर जो यह आपत्ति की गयी है कि वह बहुवचनान्त पद है, इसलिए किसी लोकविभाग नामक एक ग्रंथके लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता, सो इसका एक-समाधान यह हो सकता है कि पाठको 'लोयविभागेसु णादव्वं' इस प्रकार पढ़ना चाहिये। 'सु' को 'णादव्वं' के साथ मिला देनेसे एक वचनान्त 'लोयविभागे' ही रह जायगा और अगली क्रिया 'सुणादव्वं' (सुज्ञातव्यं) हो जायगी। पद्मप्रभने भी शायद इसीलिए उसका अर्थ 'लोकविभागाभिधान परमागमे' किया है।

इस पर इतना ही निवेदन है कि प्रथम तो मूलका पाठ जब 'लोयविभागेसु णादव्वं' रूपमें स्पष्ट मिल रहा है, टीकामें संस्कृत छाया 'लोक विभागेसु ज्ञातव्यः'[1] से पुष्ट हो रहा है तथा टीकाकार पद्मप्रभने क्रिया पदके साथ 'सु' का सम्यक् आदि कोई अर्थ व्यक्त भी नहीं किया मात्र विशलेषण रहित 'द्रष्टव्यः' पदके द्वारा उसका अर्थ व्यक्त किया है, तब मूल पाठकी अपने किसी प्रयोजनके लिए अन्यथा कल्पना करना ठीक नहीं है। दूसरे, यह समाधान तभी कुछ कारगर हो सकता है जब पहले मर्कराके ताम्रपत्र और बोधपाहुड-गाथासम्बन्धी उन दोनों प्रमाणोंका निरसन कर दिया जाय जिनका उपर उल्लेख हुआ है;

---

१ मूलमें 'पदेसिं वित्थारं' पदोंके अनन्तर 'लोयविभागेसु णादव्वं' पदोंका प्रयोग है। चूंकि प्राकृतमें 'वित्थार' शब्द नपुंसकलिंगमें भी प्रयुक्त होता है, इसीसे 'विस्तार' पदके साथ 'णादव्व' क्रिया का प्रयोग हुआ है। परन्तु

क्योंकि उनका निरसन अथवा प्रतिवाद न हो सकने की हालतमें जब कुन्दकुन्दका समय उन प्रमाणों द्वारा विक्रमकी दूसरी शती अथवा उससे पहलेका निश्चित होता है तब 'लोयविभागे' पदकी कल्पना करके उसमें शक सं० ३८० अर्थात् विक्रमकी छठी शतीमें बने हुए लोकविभाग ग्रन्थके उल्लेखकी कल्पना करना कुछ भी अर्थ नहीं रखता। इसके सिवाय मैंने जो यह आपत्ति की थी कि नियमसारकी उक्त गाथाके अनुसार प्रस्तुत लोकविभागमें तिर्यंचोंके चौदह भेदोंका विस्तारके साथ कोई वर्णन उपलब्ध नहीं है, उसका भले प्रकार प्रतिवाद होना चाहिये अर्थात् लोकविभागमें उस कथनके अस्तित्वको स्पष्ट करके बतलाना चाहिये, जिससे 'लोयविभागे' पदका वाच्य प्रस्तुत लोकविभाग ग्रन्थ समझा जा सके। परन्तु इस बातका कोई ठीक समाधान न करके उसे टाला गया है। इसीसे परिशिष्टमें यह लिखा है कि "लोकविभागमें चतुर्गत-जीव-भेदोंका या तिर्यंचों और देवोंके चौदह और चार भेदोंका विस्तार नहीं है, यह कहना भी विचारणीय है। उसके छठे अध्यायका नामही 'तिर्यक् लोकविभाग' है और चतुर्विध देवोंका वर्णन भी है।" परन्तु "यह कहना" शब्दोंके द्वारा जिस वाक्यको मेरा वाक्य बतलाया गया उसे मैंने कब और कहां कहा है ? मेरी आपत्ति तो तिर्यञ्चोंके चौदह भेदोंके विस्तार-कथन तक ही सीमित है, और वह ग्रन्थको देखकर ही की गयी है, फिर उतने अंशोंमें ही मेरे कथनको न रखकर अतिरिक्त कथनके साथ उसे 'विचारणीय' प्रकट करना, आदि टालना नहीं तो क्या है ? जान पड़ता है कि लेखकको उक्त समाधानकी गहरायी का ज्ञान था—इसलिए उन्होंने परिशिष्टमें ही, एक कदम आगे, समाधानका एक दूसरा रूप अख्तियार किया है। जैसा कि "ऐसा मालूम होता है कि सर्वनन्दिका प्राकृत लोकविभाग बड़ा होगा। सिंहसूरिने उसका संक्षेप किया है। 'व्याख्यास्यामि समासेन' पदसे वे इस बातको स्पष्ट करते हैं। इसके सिवाय आगे 'शास्त्रस्य संग्रहस्त्विदं' से भी यही ध्वनित होता है—संग्रहका भी एक अर्थ संक्षेप होता है। जैसे 'गोम्मट संगह सुत्त' आदि। इसलिए यदि संस्कृत लोकविभागमें तिर्यंचोंके चौदह भेदोंका विस्तार नहीं, तो इससे यह भी तो कहा जा सकता है कि वह मूल प्राकृत ग्रन्थमें रहा होगा, संस्कृतमें संक्षेप करनेके कारण नहीं लिखा गया।" इस अंशसे स्पष्ट है।

यह समाधान संस्कृत लोकविभागमें तिर्यंचोंके चौदह भेदोंका विस्तार कथन न होनेकी हालतमें, अपने बचाव की और नियमसारकी उक्त गाथामें सर्वनन्दिके लोकविभाग-विषयक उल्लेखकी धारणाको बनाये रखने की युक्ति मात्र है। परन्तु "उपलब्ध लोकविभाग" जो कि संस्कृतमें है बहुत प्राचीन नहीं है। प्राचीनतासे उसका इतना ही सम्बन्ध है कि वह एक बहुत पुराने शक संवत् ३८० के बने हुए ग्रंथसे अनुवाद किया गया है" अंश द्वारा संस्कृत लोकविभागको सर्वनन्दीके प्राकृत लोकविभागका अनुवादित

—संस्कृत में 'विस्तार' शब्द पुलिंग माना गया है अतः टीका में संस्कृतछाया 'एतेषां विस्तारः लोकविभागेषु ज्ञातव्यः' दी गयी है, इसलिए 'ज्ञातव्यः' क्रियापद ठीक है। ऊपर जो 'सुज्ञातव्वं' रूप दिया है उसके कारण उसे गलत न समझ लेना चाहिये।

रूप स्वीकार किया जाता है तब किस आधार पर उक्त प्राकृत लोकविभागको 'बड़ा' सोचा जा सकता है ? किस आधार पर यह कल्पना की जाय कि 'व्याख्यास्यामि समासेन' इस वाक्य द्वारा सिंहसूरि स्वयं अपने ग्रन्थ निर्माण की प्रतिज्ञा करते हैं और वह सर्वनन्दीकी ग्रन्थ निर्माण प्रतिज्ञाका अनुवादित रूप नहीं है ? इसी तरह 'शास्त्रस्य संग्रहस्त्विदं' यह वाक्य भी सर्वनन्दीके वाक्यका अनुवादितरूप नहीं है। जब सिंहसूरि स्वतंत्ररूपसे किसी ग्रंथका निर्माण अथवा संग्रह नहीं कर रहे हैं और न किसी ग्रन्थकी व्याख्या ही कर रहे हैं बल्कि एक प्राचीन ग्रन्थका भाषाके परिवर्तन द्वारा (भाषायाः परिवर्तनेन) अनुवाद मात्र कर रहे हैं तब उनके द्वारा 'व्याख्यास्यामि समासेन' जैसा प्रतिज्ञावाक्य नहीं बन सकता और न श्लोक संख्याको साथ में देता हुआ 'शास्त्रस्य संग्रहस्त्विदं' वाक्य ही बन सकता है। इससे ये दोनों वाक्य मूलकार सर्वनन्दिके ही वाक्योंके अनुवादित रूप जान पड़ते हैं। सिंहसूरिका इस ग्रन्थकी रचनासे केवल इतना ही सम्बन्ध है कि वे भाषाके परिवर्तन द्वारा इसके रचयिता हैं—विषयके संकलनादि द्वारा नहीं—जैसा कि उन्होंने अन्तके चार पद्योंमें से प्रथम पद्यमें सूचित किया है और ऐसा ही उनकी ग्रन्थ-प्रकृति से जाना जाता है। मालूम होता है इन सब बातों पर ध्यान नहीं देकर ही किसी धारणके पीछे युक्तियोंको तोड़-मरोड़ कर समाधान किया गया है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि कुन्दकुन्दको यतिवृषभके बादका अथवा सम-सामयिक माननेमें कोई बल नहीं है। 'आर्यमंक्षु और नागहस्तिका गुणधराचार्यका साक्षात् शिष्य होना' स्वयं स्थिर नहीं है जिसको मूलाधार मानकर और नियमसारकी उक्त गाथामें सर्वनन्दीके लोकविभागकी आशा लगाकर ही दूसरे प्रमाणोंका ताना-बाना किया गया था; जो कि नहीं हो सका। प्रत्युत ऊपर जो प्रमाण दिये गये हैं उनसे यह भले प्रकार फलित होता है कि कुंदकुंद का समय विक्रमकी दूसरी शती तक तो हो सकता है— उसके बादका नहीं, इसलिए छठी शतीमें होनेवाले यतिवृषभ उनसे कई शती बाद हुए हैं।

नयी विचार-धारा—

आ० यतिवृषभके समयके विषयमें 'वर्तमान तिलोयपण्णत्ति और उसके रचनाकाल आदिका विचार'[1] नामक लेख द्वारा नयी मान्यता प्रस्तुत की गयी है, इसके अनुसार वर्तमान तिलोयपण्णत्ती विक्रमकी ९ वीं शती अथवा शक सं० ७३८ (वि० सं० ८७३) से पहलेकी बनी हुई नहीं है और उसके कर्ता भी यतिवृषभ नहीं हैं। इस विचारके समर्थनमें पांच प्रमाण प्रस्तुत किये हैं जो लेखकके ही शब्दोंमें निम्न प्रकार हैं—

(१) वर्तमानमें लोकको उत्तर और दक्षिणमें जो सर्वत्र सात राजु मानते हैं उसकी स्थापना धवलादिके कर्ता वीरसेन स्वामीने की है—वीरसेन स्वामीसे पहले वैसी मान्यता नहीं थी।

१—जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ११, किरण १ में पं० फूलचन्द्र शास्त्रीका लेख।

वीरसेन स्वामीके समय तक जैन आचार्य उपमालोकसे पांच द्रव्योंके आधारभूतलोकको भिन्न मानते थे। जैसा कि राजवार्तिकके दो उल्लेखों[1] से प्रकट है।

इनमेंसे प्रथम उल्लेख परसे लोक आठों दिशाओंमें समान परिमाणको लिये हुए होनेसे गोल हुआ और उसका परिमाण भी उपमालोकके प्रमाणानुसार ३४३ घनराजु नहीं बैठता, जब कि वीरसेनका इष्ट लोक चौकोर है, वह पूर्व पश्चिमदिशामें ही उक्त क्रमसे घटता है, दक्षिण-उत्तरदिशामें नहीं—इन दोनों दिशाओंमें वह सर्वत्र सातराजु बना रहता है। इसलिए उसका परिमाण उपमालोकके अनुसार ही ३४३ घनराजु बैठता है और वह प्रमाणमें पेश की हुई दो गाथाओं[2] पर उसे उक्त आकारके साथ भले प्रकार फलित होता है। राजवार्तिकके दूसरे उल्लेखसे उपमालोकका परिमाण ३४३ घनराजु तो फलित होता है, क्योंकि जगश्रेणीका प्रमाण ७ राजु है और ७ का घन ३४३ होता है। यह उपमालोक है परन्तु इससे पांच द्रव्योंके आधारभूत लोकका आकार आठों दिशाओंमें उक्त उक्त क्रमसे घटता-बढ़ता हुआ 'गोल' फलित नहीं होता।

"वीरसेन स्वामीके सामने राजवार्तिक आदिमें बतलाये गये आकारके विरुद्ध लोकके आकारको सिद्ध करनेके लिए केवल उपर्युक्त दो गथाएं ही थीं। इन्हीके आधारसे वे लोकके आकारको भिन्न प्रकारसे सिद्ध कर सके तथा यह भी कहनेमें समर्थ हो सके कि 'जिन[3] ग्रन्थोंमें लोकका प्रमाण अधोलोकके मूलमें सात राजु, मध्यलोकके पास एक राजु, ब्रह्मस्वर्गके पास पांच राजु और लोकाग्रमें एक राजु बतलाया है वह वहां पूर्व और पश्चिम दिशाकी अपेक्षासे बतलाया है। उत्तर और दक्षिण दिशाकी ओर से नहीं। इन दोनों दिशाओंकी अपेक्षा तो लोकका प्रमाण सर्वत्र सात राजु है। यद्यपि इसका विधान[4] करणानुयोगके ग्रंथोंमें नहीं है तो भी वहां निषेध भी नहीं है अतः लोकको उत्तर और दक्षिणमें सर्वत्र सात राजु मानना चाहिये।'

वर्तमान तिलोयपण्णत्ती की ९१, १३६ तथा १४६ गाथाएं वीरसेन स्वामीके उस मतका अनुसरण करती हैं जिसे उन्होंने 'मुहतल समास' इत्यादि दो गाथाओं और युक्तिसे स्थिर किया है। इन गाथाओंमें पांच द्रव्योंसे व्याप्त लोकाकाशको जगश्रेणीके घन प्रमाण बतलाया है। साथ

---

१ "अधःलोक मूले ...... षट सप्तभागाः।" (अ० १ सू० १० टीका)
"ततोऽसंख्यान् ..... घनलोकः।" (अ० ३, सू० ३८ टीका)

२ "मुहतलसमास ..... खेत्ते।" तथा "मूलं मज्झेण ...... खेत्तम्मि।" (धवला क्षेत्रानुयोगद्वार पृ० २०)

३. 'णच तइयाए गाहाएसह विरोहो, एत्थवि दोसुं दिसासु चउव्विहविक्खंभदंसणादो।'—धवला क्षेत्रानुयोगद्वार पृ. २१।

४. 'णच सत्तरज्जुबाहल्लं करणाणिओगसुत्त-विरुद्धं, तत्थ विधिप्पडिसेधाभावादो।'—धवला क्षेत्रानुयोगद्वार पृ. २२।

ही, लोक-प्रमाण दक्षिण उत्तर दिशामें सर्वत्र जगश्रेणी जितना अर्थात् सात राजु और पूर्व-पश्चिम दिशामें अधोलोकके पास सात राजु, मध्य लोकके पास एक राजु, ब्रह्मलोकके पास पांच राजु और लोकाग्रमें एक राजु है, ऐसा सूचित किया है। इसके सिवाय, तिलोयपण्णत्तीका पहला महाधिकार सामान्य लोक, अधोलोक व ऊर्ध्व लोकके विविध प्रकारसे निकाले गये घनफलों[१]से भरा पड़ा है जिससे वीरसेनस्वामी की मान्यताकी ही पुष्टि होती है।' तिलोयपण्णत्तीका यह अंश यदि वीरसेनस्वामीके सामने मौजूद होता तो "वे इसका प्रमाण रूपसे उल्लेख नहीं करते यह कभी संभव नहीं था।" चूंकि वीरसेनने तिलोयपण्णत्ती की उक्त गाथाएं अथवा दूसरा अंश धवलामें अपने विचारके अवसर पर प्रमाण रूपसे उपस्थित नहीं किया अतः उनके सामने जो तिलोयपण्णत्ती थी और जिसके अनेक प्रमाण उन्होंने धवलामें उद्धृत किये हैं वह वर्तमान तिलोयपण्णत्ती नहीं थी–इससे भिन्न दूसरी ही तिलोयपण्णत्ती होनी चाहिये, यह निश्चित होता है।

(२) "तिलोयपण्णत्तिमें पहले अधिकारकी सातवीं गाथासे लेकर सतासीवीं गाथा तक ८१ गाथाओंमें मंगल आदि छह अधिकारों का वर्णन है यह पूराका पूरा वर्णन संतपरूवणाकी धवलाटीकामें आये हुए वर्णनसे मिलता हुआ है। ये छह अधिकार तिलोयपण्णत्तिमें अन्यत्रसे संग्रह किये गये हैं इस बातका उल्लेख स्वयं तिलोयपण्णत्तिकारने पहले अधिकारकी ८५ वीं गाथामें किया है तथा धवलामें इन छह अधिकारोंका वर्णन करते समय जितनी गाथाएं या श्लोक उद्धृत किये गए हैं वे सब अन्यत्रसे लिये गये हैं तिलोयपण्णत्तीसे नहीं; इससे मालूम होता है कि तिलोयपण्णत्तिकारके सामने धवला अवश्य रही है।" (दोनों ग्रंथोंके कुछ समान उद्धरणोंके अनंतर) 'इसी प्रकारके पचासों उद्धरण दिये जा सकते हैं जिनसे यह जाना जा सकता है कि एक ग्रंथ लिखते समय दूसरा ग्रन्थ अवश्य सामने रहा है। यहां एक विशेषता और है कि धवलामें जो गाथा या श्लोक अन्यत्रसे उद्धृत हैं तिलोयपण्णत्तिमें वे भी मूलमें शामिल कर लिये गये हैं। इससे तो यही ज्ञात होता है कि तिलोयपण्णत्ती लिखते समय लेखकके सामने धवला अवश्य रही है।

(३) 'ज्ञानं प्रमाणमात्मादेः' इत्यादि श्लोक इन (भट्टाकलंकदेव) की मौलिक कृति है जो लघीयस्त्रयके छठे अध्यायमें आया है। तिलोयपण्णत्तिकारने इसे भी नहीं छोड़ा। लघीयस्त्रयमें जहां यह श्लोक आया है वहांसे इसके अलग कर देनेपर प्रकरण ही अधूरा रह जाता है। पर तिलोय-पण्णत्तिमें इसके परिवर्तित रूपकी स्थिति ऐसे स्थल पर है कि यदि वहांसे उसे अलग भी कर दिया जाय तो भी एकरूपता बनी रहती है। वीरसेनस्वामीने धवलामें उक्त श्लोकको उद्धृत किया है। तिलोयप-ण्णत्तिको देखनेसे ऐसा मालूम होता है कि तिलोयपण्णत्तिकारने इसे लघीयस्त्रयसे न लेकर धवलासे ही

१. तिलोयपण्णत्तिके पहले अधिकारकी गाथाएं २१५ से २५१ तक।

१. मंगल पहुदिछक्क वक्खाणिय विविह गन्थजुत्तीहिं।

लिया है क्योंकि धवलामें इसके साथ जो एक दूसरा श्लोक उद्धृत है उसे भी उसी क्रमसे तिलोयपण्णत्तिकारने अपना लिया है। इससे भी यही प्रतीत होता है कि तिलोयपण्णत्तिकी रचना धवलाके बाद हुई है।''

(४) ''धवला द्रव्यप्रमाणानुयोगद्वारके पृष्ठ ३६ में तिलोयपण्णत्तिका 'दुगुण दुगुणो दुवग्गो णिरंतरो तिरियलोगोत्ति'। गाथांश उद्धृत किया है। वर्तमान तिलोयपण्णत्तिमें इसकी पर्याप्त खोज की, किंतु उसमें वह नहीं मिला। हां, ''चंदाइच्च गहेहिं...इत्यादि'' गाथा स्पर्शानुयोगद्वारमें उद्धृत है। किन्तु वहां यह नहीं बतलाया कि यह कहां की है। मालूम पड़ता है कि उक्त गथांश इसीका परिवर्तित रूप है। वर्तमान तिलोयपण्णत्तिमें इसका न पाया जाना यह सिद्ध करता है कि यह तिलोयपण्णत्ति उससे भिन्न है।''

(५) 'तिलोयपण्णत्तिमें यत्र तत्र गद्यभाग भी पाया जाता है। इसका बहुत कुछ अंश धवलामें आये हुए इस विषयके गद्य भागसे मिलता हुआ है। अतः यह शंका होना स्वाभाविक है कि इस गद्यभागका पूर्ववर्ती लेखक कौन रहा होगा। इस शंकाके दूर करनेके लिए 'एसा तप्पाओग्गसंखेज्जरूवाहिय जंबूदीवछेदणयसहिद दीवसायररूवमेत्त रज्जुच्छेदपमाण परिक्खाविही ण अण्णाइरिओवएस परंपराणुसारिणी केवलं तु तिलोयपण्णत्ति सुत्ताणुसारि जोदिसियदेव भागहार पदुप्पाइद-सुत्तावलंबिजुत्तिबलेण पयदगच्छसाहणट्ठमम्हेहि परूविदा।' गद्यांशसे बड़ी सहायता मिलती है। यह गद्यांश धवला स्पर्शानुयोगद्वार पृ० १५७ का है। तिलोयपण्णत्तीमें यह इसी प्रकार पाया जाता है। अन्तर केवल इतना है कि वहां 'अम्हेहि' के स्थानमें 'ऐसापरूवणा' पाठ है। पर विचार करनेसे यह पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है; क्योंकि 'ऐसा' पद गद्यके प्रारम्भमें ही आया है अतः पुनः उसी पदके देनेकी आवश्यकता नहीं रहती। तथा 'परिक्खाविही' यह पद विशेष्य है; अतः 'परूवणा' पद भी निष्फल हो जाता है। (गद्यांशका भाव देनेके अनन्तर) ''इस गद्यभागसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त गद्यभागमें एक राजुके जितने अर्धच्छेद बतलाये हैं वे तिलोयपण्णत्तिमें नहीं बतलाये गये हैं किन्तु तिलोयपण्णत्तिमें जो ज्योतिषीदेवोंके भागहारका कथन करने वाला सूत्र है उसके बलसे सिद्ध किये गये हैं। अब यदि यह गद्यभाग तिलोयपण्णत्तिका होता तो उसीमें 'तिलोयपण्णत्तिसुत्तानुसारि' पद देनेकी और उसीके किसी एक सूत्रके बलपर राजुकी चालू मान्यतासे संख्यात अधिक अर्धच्छेद सिद्ध करनेकी क्या आवश्यकता थी। इससे यह स्पष्ट मालूम होता है कि यह गद्यभाग धवलासे तिलोयपण्णत्तिमें लिया गया है। नहीं तो वीरसेनस्वामी जोर देकर 'हमने यह परीक्षाविधि कही है' यह न कहते। कोई भी मनुष्य अपनी युक्तिको ही अपनी कहता है। उक्त गद्यभागमें आया हुआ 'अम्हेहि' पद साफ बतला रहा है कि यह युक्ति वीरसेनस्वामीकी है। इस प्रकार इस गद्यभागसे भी यही सिद्ध होता है कि वर्तमान तिलोयपण्णत्ति की रचना धवलाके अनन्तर हुई है।

इन पांचों प्रमाणोंको देकर कहा गया है—''धवलाकी समाप्ति चूंकि शक संवत् ७३८ में

हुई थी इसलिए वर्तमान तिलोयपण्णत्ति उससे पहलेकी बनी हुई नहीं है और चूंकि त्रिलोकसार इसी तिलोयपण्णत्तिके आधारपर बना हुआ है और उसके रचयिता सि० चक्रवर्ती नेमिचन्द्र शक-संवत् ९०० के लगभग हुए हैं, इसलिए ग्रन्थ शक सं० ९०० के बादका बना हुआ नहीं है फलतः इस तिलोयपण्णत्तिकी रचना शक सं० ७३८ से लेकर ९०० के मध्यमें हुई है। अतः इसके कर्ता यतिवृषभ किसी भी हालतमें नहीं हो सकते। इसके रचयिता संभवतः वीरसेनके शिष्य जिनसेन हैं—वे ही होने चाहिये, क्योंकि एक तो वीरसेन स्वामीके साहित्यकार्यसे ये अच्छी तरह परिचित थे। तथा उनके शेष कार्यको इन्होंने पूरा भी किया है। संभव है उन शेष कार्योंमें उस समयकी आवश्यकतानुसार तिलोय-पण्णत्तिका संकलन भी एक कार्य हो। दूसरे वीरसेन स्वामीने प्राचीन साहित्य के संकलन, संशोधन और सम्पादनकी जो दिशा निश्चित की थी वर्तमान तिलोयपण्णत्तिका संकलन भी उसीके अनुसार हुआ है। तथा सम्पादनकी इस दिशासे परिचित जिनसेन ही थे। इसके सिवाय, 'जयधवलाके जिस भागके लेखक आचार्य जिनसेन हैं उसकी एक गाथा ('पणमह जिणवरवसहं' नामकी) कुछ परिवर्तनके साथ तिलोयपण्णत्तिके अन्तमें पायी जाती है। इससे तथा उक्त गद्यमें 'अम्हेहि' पदके न होनेके कारण वीरसेनस्वामी वर्तमान तिलोयपण्णत्तिके कर्ता मालूम नहीं होते। उनके सामने जो तिलोयपण्णत्ति थी वह संभवतः यतिवृषभ आचार्यकी रही होगी।' 'वर्त्तमान तिलोयपण्णत्तिके अन्तमें पायी जाने वाली उक्त गाथा ('पणमह जिणवरवसहं') में जो मौलिक परिवर्तन दिखायी देता है वह कुछ अर्थ अवश्य रखता है। और उस परसे, सुझाये हुए 'अरिसवसहं' पाठके अनुसार, यह अनुमानित होता; एवं सूचना मिलती है कि वर्तमान तिलोयपण्णत्तिके पहले एक दूसरी तिलोयपण्णत्ति आर्ष ग्रन्थके रूपमें थी, जिसके कर्ता यतिवृषभ स्थविर थे और उसे देखकर इस तिलोयपण्णत्तिकी रचना की गयी है।'

उक्त प्रमाणोंकी परीक्षा—

(१) प्रथम प्रमाणकी भूमिकासे इतना ही फलित होता है कि 'वर्तमान तिलोयपण्णत्ती वीरसेन स्वामीसे बादकी बनी हुई है और उस तिलोयपण्णत्तीसे भिन्न है जो वीरसेनस्वामी के सामने मौजूद थी; क्योंकि इसमें लोकके उत्तर दक्षिणमें सर्वत्र सातराजुकी उस मान्यताको अपनाया गया है और उसीका अनुसरण करते हुए घनफलोंको निकाला गया है जिसके संस्थापक वीरसेन हैं। वीरसेन इस मान्यताके संस्थापक इसलिए हैं कि उनसे पहले इस मान्यताका कोई अस्तित्व नहीं था, उनके समय तक सभी जैनाचार्य ३४३ घनराजुवाले उपमालोक (प्रमाणलोक) से पांच द्रव्योंके आधारभूत लोकको भिन्न मानते थे। यदि वर्तमान तिलोयपण्णत्ती वीरसेनके सामने मौजूद होती अथवा जो तिलोय-पण्णत्ती वीरसेनके सामने मौजूद थी उसमें उक्त मान्यताका कोई उल्लेख अथवा संसूचन होता तो यह

असम्भव था कि वीरसेनस्वामी उसका प्रमाणरूपमें उल्लेख न करते। उल्लेख न करनेसे ही दोनोंका अभाव जाना जाता है।' अब देखना यह है कि क्या वीरसेन सचमुच ही उक्त मान्यताके संस्थापक हैं और उन्होंने कहीं अपनेको उसका संस्थापक या आविष्कारक कहा है ? धवला टीकाके उल्लिखित स्थलको देख जानेसे वैसा कुछ भी प्रतीत नहीं होता। वहां वीरसेनने क्षेत्रानुगम अनुयोग-द्वारके 'ओघेण मिच्छादिट्ठी केवडिखेत्ते, सव्वलोगे' इस द्वितीय सूत्रमें स्थित 'लोगे' पदकी व्याख्या करते हुए बतलाया है कि यहांके 'लोग' से सात राजुका घनरूप (३४३ घनराजु प्रमाण) लोक ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि यहां क्षेत्र प्रमाणाधिकारमें पल्य, सागर, सूच्यंगुल, प्रतरांगुल, घनांगुल, जगश्रेणी, लोकप्रतर और लोक ऐसे आठ प्रमाण क्रमसे माने गये हैं। इससे यहां प्रमाणलोकका ही ग्रहण है–जो कि सातराजु प्रमाण जगश्रेणीके घनरूप होता है। इसपर किसीने शंका की कि 'यदि ऐसा लोक ग्रहण किया जाता है तो फिर पांच द्रव्योंके आधारभूत आकाशका ग्रहण नहीं बनता; क्योंकि उसमें सातराजुके घनरूप क्षेत्रका अभाव है। यदि उसका क्षेत्र भी सातराजुके घनरूप माना जाता है तो 'हेट्ठा मज्झे उवरिं' 'लोगो अकट्टिमो खलु' और 'लोयस्स विक्खंभो चउप्पयारो' ये तीन सूत्र गाथाएं अप्रमाणताको प्राप्त होती हैं। इस शंकाका परिहार (समाधान) करते हुए वीरसेनस्वामीने पुनः बतलाया है कि यहां 'लोगे' पदमें पंचद्रव्योंके आधाररूप आकाशका ही ग्रहण है, अन्यका नहीं। क्योंकि 'लोगपूरणगदो केवली केवडिखेत्ते, सव्व लोगे' [लोकपूरण समुद्घातको प्राप्त केवली कितने क्षेत्रमें रहता है ? सर्वलोकमें रहता है] ऐसा सूत्रवचन पाया जाता है। यदि लोक सातराजुके घनप्रमाण नहीं है तो यह कहना चाहिये कि लोकपूरण-समुद्घातको प्राप्त हुआ केवली लोकके संख्यातवें भागमें रहता है। और शंकाकार जिनका अनुयायी है उन दूसरे आचार्योंके द्वारा प्ररूपित मृदंगाकार लोकको प्रमाणकी दृष्टिसे लोकपूरण-समुदघात-गत केवलीका लोकके संख्यातवें भागमें रहना असिद्ध भी नहीं है; क्योंकि गणना करने पर मृदंगाकार लोकका प्रमाण घनलोकके संख्यातवें भाग ही उपलब्ध होता है।

इसके अनन्तर गणित द्वारा घनलोकके संख्यातवें भागको सिद्ध घोषित करके, वीरसेन स्वामीने इतना और बतलाया है कि 'इस पंचद्रव्योंके आधाररूप आकाशसे अतिरिक्त दूसरा सात राजु घनप्रमाण लोक-संज्ञक कोई क्षेत्र नहीं है, जिससे प्रमाण लोक [उपमालोक] छह द्रव्योंके समुदय-रूपलोकसे भिन्न होवे। और न लोकाकाश तथा अलोकाकाश दोनोंमें स्थित सातराजु घनमात्र आकाशप्रदेशोंकी प्रमाणरूपसे स्वीकृत घनलोक संज्ञा है। ऐसी संज्ञा स्वीकार करने पर लोक संज्ञाके यादृच्छिकपनेका प्रसंग आता है और तब संपूर्ण आकाश, जगश्रेणी, जगप्रतर और घनलोक जैसी संज्ञाओंके यादृच्छिकपनेका प्रसंग उपस्थित होगा। [इससे सारी व्यवस्था ही बिगड़ जाय गी।] इसके सिवाय, प्रमाणलोक और षट्द्रव्योंके समुदायरूपलोकको भिन्न मानने पर प्रतरगत केवलीके क्षेत्रका

निरूपण करते हुए जो कहा गया है कि 'वह केवली लोकके असंख्यातवें भागसे न्यून सर्वलोकमें रहता है। और लोकके असंख्यातवें भागसे न्यून सर्वलोकका प्रमाण ऊर्ध्वलोकके कुछ कम तीसरे भागसे अधिक दो ऊर्ध्वलोक प्रमाण है[1]। वह नहीं बनता। और इसलिये दोनों लोकोंकी एकता सिद्ध होती है। अतः प्रमाणलोक [उपमालोक] आकाश-प्रदेशोंकी गणनाकी अपेक्षा छहद्रव्योंके समुदायरूप लोकके समान है, ऐसा स्वीकार करना चाहिये।

इसके बाद यह शंका होने पर कि, 'किस प्रकार पिण्ड [घन] रूप किया लोक सातराजुके घन प्रमाण होता है?, वीरसेनस्वामीने उत्तरमें बतलाया है कि 'लोक सम्पूर्ण आकाशके मध्यभागमें स्थित है। चौदह राजु आयाम वाला है, दोनों दिशाओंके अर्थात् पूर्व और पश्चिम दिशाके मूल; अर्धभाग, त्रिचतुर्भाग और चरमभागमें क्रमसे सात, एक, पांच और एक राजु विस्तार वाला है तथा सर्वत्र सातराजु मोटा है, वृद्धि और हानिके द्वारा उसके दोनों प्रान्तभाग स्थित हैं, चौदह राजु लम्बी एक राजुके वर्ग प्रमाण मुखवाली लोकनाली उसके गर्भमें है, ऐसा यह पिण्डरूप किया गया लोक सातराजुके घनप्रमाण अर्थात् ७×७×७=३४३ राजु होता है। यदि लोकको ऐसा नहीं माना जाता है तो प्रतर-समुद्घात गत केवलीके क्षेत्रके साधनार्थ जो 'मुहतल-समास-अद्धं' और 'मूलं मज्झेण गुणं' नामकी दो गाथाएं कही गयी हैं वे निरर्थक हो जायं गी; क्योंकि उनमें कहा गया घनफल लोकको अन्यप्रकारसे मानने पर संभव नहीं है। साथ ही यह, भी बतलाया है कि इस [उपर्युक्त आकारवाले] लोकका शंकाकारके द्वारा प्रस्तुत की गयी प्रथम गाथा ['हेट्ठा मज्झे उवरिं वेत्तासन झल्लरी मुइंग णिभो'] के साथ विरोध नहीं है; क्योंकि एक दिशामें लोक वेत्रासन और मृदंगके आकार दिखायी देता है, और ऐसा नहीं कि उसमें झल्लरीका आकार न हो; क्योंकि मध्यलोकमें स्वयंभूरमण समुद्रसे परिक्षिप्त तथा चारों ओरसे असंख्यात योजन विस्तारवाला और एक लाख योजन मोटाई वाला यह मध्यवर्ती देश चन्द्रमण्डलकी तरह झल्लरीके समान दिखायी देता है। और दृष्टान्त सर्वथा दार्ष्टान्तके समान होता नहीं, अन्यथा दोनोंके ही अभावका प्रसंग आ जायगा। ऐसा भी नहीं कि [द्वितीय सूत्रगाथामें बतलाया हुआ] तालवृक्षके समान आकार इसमें असम्भव है, क्योंकि एक दिशासे देखने पर तालवृक्षके समान आकार दिखायी देता है। और तीसरी गाथा [लोयस्स विक्खंभो चउप्पयारो'] के साथ भी विरोध नहीं है; क्योंकि यहां पर भी पूर्व और पश्चिम इन दोनों दिशाओंमें गाथोक्त चारों ही प्रकारके विष्कम्भ दिखायी देते हैं। सातराजुकी मोटाई 'करणानुयोग सूत्रके विरुद्ध नहीं है; क्योंकि उस सूत्रमें उसकी यदि विधि नहीं है तो प्रतिषेध भी नहीं है—विधि और प्रतिषेध दोनोंका अभाव है। और इसलिए लोकको उपर्युक्त प्रकारका ही ग्रहण करना चाहिये।'

---

१ 'पदरगदा केवली केवडि खेत्ते, लोगे असंखेज्जदि भागूणे उड्ढलोगेन दुवे ।उड्ढलोगा उड्ढलोगस्सतिभागेण देसूणेग सादरेगा।'

यह सब धवलाका वह कथन है जो प्रथम प्रमाणका मूल आधार है और जिसमे राजवार्तिकका कोई उल्लेख भी नहीं है। इसमें कहीं भी न तो यह निर्दिष्ट है और न इससे फलित ही होता है कि वीरसेनस्वामी लोकके उत्तर-दक्षिणमें सर्वत्र सातराजु मोटाई वाली मान्यताके संस्थापक हैं—उनसे पहले दूसरा कोई भी आचार्य इस मान्यताको माननेवाला नहीं था अथवा नहीं हुआ है। प्रत्युत इसके, यह साफ जाना जाता है कि वीरसेनने कुछ लोगोंकी गलतीका समाधान मात्र किया है—स्वयं कोई नयी स्थापना नहीं की। इसी तरह यह भी फलित नहीं होता कि वीरसेनके सामने 'मुहतलसमास-अद्धं' और 'मूलं मज्झेण गुणं' नामकी दो गाथाओंके सिवाय दूसरा कोई भी प्रमाण उक्त मान्यताको स्पष्ट करनेके लिए नहीं था। क्योंकि प्रकरणको देखते हुए 'अण्णाइरियपरूविद मुदिंगायारलोगस्स' पदमें प्रयुक्त हुए 'अण्णाइरिय' [अन्याचार्य] शब्दसे उन दूसरे आचार्योंका ही ग्रहण किया जा सकता है जिनके मतका शंकाकार अनुयायी था अथवा जिनके उपदेशको पाकर शंकाकार उक्त शंका करनेके लिए प्रस्तुत हुआ था, न कि उन आचार्योंका जिनके अनुयायी स्वयं वीरसेन थे और जिनके अनुसार कथन करनेकी अपनी प्रवृत्तिका वीरसेनने जगह जगह उल्लेख किया है। इस क्षेत्रानुगम अनुयोगद्वारके मंगलाचरणमें भी वे 'खेत्तसुत्तं जहोवएसं पयासेमो' इस वाक्यके द्वारा यथोपदेश [पूर्वाचार्योंके उपदेशानुसार] क्षेत्रसूत्रको प्रकाशित करनेकी प्रतिज्ञा कर रहे हैं। दूसरे जिन दो गाथाओंको वीरसेनने उपस्थित किया है उनसे जब उक्त मान्यता फलित एवं स्पष्ट होती है तब वीरसेनको उक्त मान्यताका संस्थापक कैसे कहा जा सकता है?—स्पष्ट ही वह उक्त गाथाओंसे भी पहलेकी लगती है। और इससे तिलोयपण्णत्तीकर्त्ता वीरसेनसे बादकी बनी हुई कहनेमें जो प्रधान कारण था वह स्थिर नहीं रहता। तीसरे, वीरसेनने 'मुहतल समासअद्धं' आदि उक्त दोनों गाथाएं शंकाकार को लक्ष्यकरके ही प्रस्तुत की हैं और वे संभवतः उसी ग्रन्थ अथवा शंकाकारके द्वारा मान्य ग्रन्थकी ही जान पड़ती हैं जिससे तीन सूत्रगाथाएं शंकाकारने उपस्थित की थीं, इसीसे वीरसेनने उन्हे लोकका दूसरा आकार मानने पर निरर्थक बतलाया है। और इस तरह शंकाकारके द्वारा मान्य ग्रन्थके वाक्योंसे ही उसे निरुत्तर कर दिया है। अन्तमें जब उसने करणानुयोगसूत्रके विरोधकी बात उठायी है अर्थात् ऐसा संकेत किया है कि उस ग्रंथमें सातराजु मोटाईकी कोई स्पष्ट विधि नहीं है तो वीरसेनने साफ उत्तर दे दिया है कि वहां उसकी विधि नहीं तो निषेध भी नहीं है—विधि और निषेध दोनोंके अभावसे विरोधके लिए कोई अवकाश नहीं रहता। इस विवक्षित करणानुयोग सूत्रका अर्थ करणानुयोग विषयके समस्त ग्रन्थ तथा प्रकरण समझ लेना युक्तियुक्त नहीं है। वह 'लोकानुयोग' की तरह जिसका उल्लेख सर्वार्थसिद्धि और लोकविभागमें भी पाया जाता है[1] एक जुदाही ग्रंथ होना चाहिये। ऐसी

१ "इतरो विशेषो लोकानुयोगतः वेदितव्यः" (३—२)-सर्वार्थ० "विन्दुमात्रमिदं शेषं ग्राह्यं लोकानुयोगतः" (७--९८) लोकविभाग।

स्थितिमें वीरसेनके सामने लोकके स्वरूपके सम्बन्धमें मान्य ग्रन्थोंके अनेक प्रमाण मौजूद होते हुए भी उन्हें पेश [उपस्थित] करनेकी जरूरत नहीं थी और न किसीके लिए यह लाजिमी है कि जितने प्रमाण उसके पास हों वह उन सबको उपस्थित ही करे—वह जिन्हें प्रसंगानुसार उपयुक्त और जरूरी समझता है उन्हींको उपस्थित करता है और एक ही आशयके यदि अनेक प्रमाण हों तो उनमेंसे चाहे जिसको अथवा अधिक प्राचीनको उपस्थित कर देना काफी होता हैं। उदाहरणके लिए 'मुहतल समास अद्धं' नामकी गाथासे मिलती जुलती और उसी आशयकी एक गाथा तिलोयपण्णत्तीमें **'मुहभूमि समासद्धिय गुणिदं तुंगेन तहयवेधेण। घण गणिदं णादव्वं वेत्तासण-सण्णिए खेत्ते॥ १६५॥'** रूपमें पायी जाती है। इस गाथाको उपस्थित न करके यदि वीरसेनने 'मुहतल समास अद्धं' नामकी उस गाथाको उपस्थित किया जो शंकाकारके मान्य सूत्र ग्रन्थकी थी तो उन्होंने वह प्रसंगानुसार उचित ही किया। उस परसे यह नहीं कहा जा सकता कि वीरसेनके सामने तिलोयपण्णत्तीकी यह गाथा नहीं थी, होती तो वे इसे जरूर पेश करते। क्योंकि शंकाकार मूलसूत्रोंके व्याख्यानादि रूपमें स्वतंत्र रूपसे प्रस्तुत किये गये तिलोयपण्णत्ती जैसे ग्रंथोंको माननेवाला मालूम नहीं होता—माननेवाला होता तो वैसी शंका ही न करता—वह तो कुछ प्राचीन मूलसूत्रोंका ही पक्षपाती जान पड़ता है और उन्हीं परसे सब कुछ फलित करना चाहता है। उसे वीरसेनने मूलसूत्रोंकी कुछ दृष्टि बतलायी है और उसके द्वारा पेश की हुई सूत्र-गाथाओंकी अपने कथनके साथ संगति बैठायी है। इसलिए अपने द्वारा सविशेष रूपसे मान्य ग्रन्थोंके प्रमाणोंको पेश करनेका वहां प्रसंग ही नहीं था। उनके आधार पर तो वे अपना सारा विवेचन अथवा व्याख्यान लिख ही रहे थे।

स्वतंत्र दो प्रमाण—

इनसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि वीरसेनकी धवला कृतिसे पूर्व अथवा शक सं० ७३८से पहले छह द्रव्योंका आधारभूत लोक,जो अधः, ऊर्ध्व तथा मध्यभागमें क्रमशः वेत्राशन,मृदंग तथा झल्लरीके सदृश आकृति को लिये हुए है अथवा डेढ़ मृदंग जैसे आकार वाला है उसे चौकोर (चतुरस्रक) माना है, उसके मूल, मध्य, ब्रह्मान्त और लोकान्तमें जो क्रमशः सात, एक, पांच तथा एक राजुका विस्तार बतलाया गया है वह पूर्व और पश्चिम दिशाकी अपेक्षासे सर्वत्र सात राजुका प्रमाण माना गया है और सात राजुके घन प्रमाण है—

(क) कालः पञ्चास्तिकायाश्च सप्रपञ्चा इहाऽखिलाः।
लोक्यंते येन तेनाऽयं लोक इत्यभिलप्यते॥ ४-५॥
वेत्रासन-मृदंगोरु झल्लरी-सदृशाऽऽकृतिः।
अधश्चोर्ध्वं च तिर्यक्च यथायोगमिति त्रिधा॥ ४-६॥

मुर्जार्धमधोभागे तस्योर्ध्वे मुरजो यथा।
आकारास्तस्य लोकस्य किन्त्वेष चतुरस्रकः ॥—७॥

ये हरिवंश पुराणके वाक्य हैं जो शक सं० ७०५ (वि० सं० ८४०) में बनकर समाप्त हुआ है। इनमें उक्त आकृतिवाले छह द्रव्योंके आधारभूत लोकको चौकोर (चतुरस्रक) बतलाया है—गोल नहीं, जिसे लम्बा चौकोर समझना चाहिये।

(ख) **सत्तेक्कु पंचइक्का मूले मज्झे तहेव बंभंते।**
लोयंते रज्जूओ पुव्वावरदो य वित्थारो ॥ ११८ ॥
दक्खिण-उत्तरदो पुण सत्त विरज्जू हवेदि सव्वत्थ।
उड्ढो चउदसरज्जू सत्तवि रज्जू घणो लोओ ॥ ११६ ॥

ये स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथाएं हैं, जो एक बहुत प्राचीन ग्रन्थ है और वीरसेनसे कई शती पहले बना है। इनमें लोकके पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिणके राजुओंका उक्त प्रमाण बहुत ही स्पष्ट शब्दोंमें दिया हुआ है और लोकको चौदह राजु ऊंचा तथा सात राजूके घनरूप (३४३ राजु) भी बतलाया है। इन प्रमाणोंके सिवाय जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिकी—

पच्छिम-पुव्व दिसाए विक्खभो होय तस्स लोगस्स।
सत्तेग-पंच-एया मूलादो होंति रज्जूणि ॥ ४—१६ ॥
दक्षिण-उत्तरदो पुण विक्खंभो होय सत्तरज्जूणि।
चदुसु विदिसासु भागे चउदस रज्जूणि उत्तुंगो ॥ ४—१७ ॥

इन दो गाथाओंमें लोककी पूर्व-पश्चिम और उत्तर दक्षिण चौड़ाई-मोटाई तथा ऊंचाईका परिमाण स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथाओंके अनुरूप ही दिया है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति एक प्राचीन ग्रन्थ है और उन पद्मनन्दी आचार्यकी कृति है जो बलनन्दीके शिष्य तथा वीरनन्दीके प्रशिष्य थे और आगमोदेशक महासत्व श्रीविजय भी जिनके गुरु थे। श्रीविजय गुरुसे सुपरिशुद्ध आगमको सुन कर तथा जिन वचन विनिर्गत अमृतभूत अर्थ पदको धारण करके उन्हींके माहात्म्य अथवा प्रसादसे उन्होंने यह ग्रन्थ उन श्रीनन्दी मुनिके निमित्त रचा है जो माघनन्दी मुनिके शिष्य अथवा प्रशिष्य (सकलचन्द्र[1] शिष्यके शिष्य) थे, ऐसा ग्रन्थकी प्रशस्तिसे जाना जाता है। बहुत संभव है कि ये श्रीविजय वे ही हों जिनका दूसरा नाम 'अपराजित-सूरि' था जिन्होंने श्रीनन्दीकी प्रेरणाको पाकर भगवती-आराधना पर 'विजयोदया' नामकी टीका लिखी है और जो बलदेव-सूरिके शिष्य तथा चन्द्रनन्दीके प्रशिष्य थे। और यह भी संभव है कि उनके प्रगुरु चन्द्रनन्दी वे ही हों जिनकी एक शिष्य परम्पराका उल्लेख श्रीपुरुषके दानपत्र अथवा

१. सकलचन्द्र शिष्यके नामोल्लेखवाली गाथा आमेरकी वि० सं० १५१८ की प्राचीन प्रतिमें नहीं है बादकी कुछ प्रतियोंमें है, इसीसे श्रीनन्दीके विषयमें माघनन्दीके प्रशिष्य होनेकी भी कल्पनाकी गयी है।

'नागमंगल' ताम्रपत्रमें पाया जाता है, जो श्रीपुरके जिनालयके लिए शक स० ६९८ (वि० सं० ८३३) में लिखा गया है और जिसमें चन्द्रनन्दीके एक शिष्य कुमारनन्दी, कुमारनन्दीके शिष्य कीर्तिनन्दी और कीर्तिनन्दीके शिष्य विमलचन्द्रका उल्लेख है। इससे चन्द्रनन्दीका समय शक संवत् ६३८ से कुछ पहलेका ही जान पड़ता है। यदि यह कल्पना ठीक है तो श्रीविजयका समय शक संवत् ६५८ के लगभग प्रारंभ होता है और तब जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिका समय शक सं० ६७० अर्थात् वि० सं० ८०५ के आस पासका होना चाहिये। ऐसी स्थितिमें जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिकी रचना भी धवलासे पहलेकी—६८ वर्ष पूर्वकी–ठहरती है।

ऐसी हालतमें यह लिखना कि 'वीरसेन स्वामीके सामने राजवार्तिक आदिमें बतलाये गये आकारके विरुद्ध लोकके आकारको सिद्ध करनेके लिए केवल उपर्युक्त दो गाथाएं ही थीं। इन्हींके आधार पर वे लोकके आकारको भिन्न प्रकारसे सिद्ध कर सके तथा यह भी कहनेमें समर्थ हुए... इत्यादि' संगत नहीं मालूम होता। और न इस आधारपर तिलोयपण्णत्तीको वीरसेनसे बादकी बनी हुई अथवा उनके मतका अनुसरण करनेवाली बतलाना ही सिद्ध किया जा सकता है। वीरसेनके सामने तो उस विषयके न मालूम कितने ग्रंथ थे जिनके आधार पर उन्होंने अपने व्याख्यानादिकी उसी तरह सृष्टि की है जिस तरह कि अकलंक और विद्यानन्दादिने अपने राजवार्तिक श्लोकवार्तिकादि ग्रन्थोंमें अनेक विषयोंका वर्णन और विवेचन बहुतसे ग्रंथोंके नामोल्लेखके विना भी किया है।

(२) द्वितीय प्रमाणको उपस्थित करते हुए यह तो बतलाया गया है कि 'तिलोयपण्णत्तीके प्रथम अधिकारकी सातवीं गाथासे लेकर सतासीवीं गाथा तक इक्यासी गाथाओंमें मंगल आदि छह अधिकारोंका जो वर्णन है वह पूरा का पूरा वर्णन संतपरूवणाको धवलाटीकामें आये हुए वर्णनसे मिलता जुलता है।' साथ ही इस सादृश्य परसे यह भी फलित करके बतलाया कि 'एक ग्रन्थ लिखते समय दूसरा ग्रन्थ अवश्य सामने रहा है।' परन्तु 'धवलाकारके सामने तिलोयपण्णत्ती नहीं रही, धवलामें उन छह अधिकारोंका वर्णन करते हुए जो गाथाएं या श्लोक उद्धृत किये गये हैं वे सब अन्यत्रसे लिये गये हैं तिलोयपण्णत्तीसे नहीं, इतना ही नहीं बल्कि धवलामें जो गाथाएं या श्लोक अन्यत्रसे उद्धृत हैं उन्हें भी तिलोयपण्णत्तीके मूलमें शामिल कर लिया गया है' इस दावेको सिद्ध करनेके लिए कोई भी प्रमाण उपस्थित नहीं किया गया। केवल सूचना अभीष्टकी सिद्धिमें सहायक नहीं होती अतः वह निरर्थक ठहरता है। वाक्योंकी शाब्दिक या आर्थिक समानता परसे तो यह भी कहा जा सकता है कि धवलाकारके सामने तिलोयपण्णत्ती रही है; बल्कि ऐसा कहना, तिलोयपण्णत्तीके व्यवस्थित मौलिक कथन और धवलाकारके कथनकी व्याख्यान शैलीको देखते हुए, अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।

रही यह बात कि तिलोयपण्णत्तीकी पचासीवीं गाथामें विविध ग्रंथ-युक्तियोंके द्वारा मंगलादिक

छह अधिकारोंके व्याख्यानका उल्लेख है,[1] तो उससे यह कहां फलित होता है कि उन विविध ग्रन्थोंमें धवला भी शामिल है अथवा धवला परसे ही इन अधिकारोंका संग्रह किया गया है?—खास कर ऐसी हालतमें जब कि धवलाकार स्वयं 'मंगल-णिमित्त-हेऊ' नामकी एक भिन्न गाथाको कहींसे उद्धृत करके यह बतला रहे हैं कि 'इस गाथामें मंगलादिक छह बातोंका व्याख्यान करनेके पश्चात् आचार्यके लिए शास्त्रका (मूलग्रंथका) व्याख्यान करनेकी जो बात कही गयी है वह आचार्य परम्परासे चला आया न्याय है, उसे हृदयमें धारण करके और पूर्वाचार्योंके आचार (व्यवहार) का अनुसरण करना रत्नत्रयका हेतु है ऐसा समझ कर पुष्पदन्ताचार्य मंगलादिक छह अधिकारोंका सकारण प्ररूपण करनेके लिए मंगल सूत्र कहते हैं[2]।' इससे स्पष्ट है कि मंगलादिक छह अधिकारोंके कथनकी परिपाटी बहुत प्राचीन है—उनके विधानादिका श्रेय धवलाको प्राप्त नहीं है। इसलिए तिलोयपण्णत्तीकारने यदि इस विषयमें पुरातन आचार्योंकी कृतियोंका अनुसरण किया है तो वह न्याय्य ही है, परन्तु उतने मात्रसे उसे धवलाका अनुसरण नहीं कहा जा सकता। धवलाका अनुसरण कहनेके लिए पहले यह सिद्ध करना होगा कि धवला तिलोयपण्णत्तीसे पूर्वकी कृति है, जो कि सिद्ध नहीं है। प्रत्युत इसके यह स्वयं धवलाके उल्लेखोंसे ही सिद्ध है कि धवलाकारके सामने तिलोयपण्णत्ती थी, जिसके विषयमें दूसरी तिलोयपण्णत्ती होनेकी कल्पना तो की जाती है परन्तु यह नहीं कहा जाता और कहा जा सकता है कि उसमें मंगलादिक छह अधिकारोंका वह सब वर्णन नहीं था जो वर्तमान तिलोयपण्णत्तीमें पाया जाता है; तब धवलाकारके द्वारा तिलोयपण्णत्तीके अनुसरणकी बात ही अधिक संभव और युक्तियुक्त जान पड़ती है। फलतः दूसरा प्रमाण भी साधक नहीं है।

(३) तीसरा प्रमाण अथवा युक्तिवाद प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि उसे पढ़ते समय ऐसा मालूम होता है कि तिलोयपण्णत्तीमें धवलासे उन दो संस्कृत श्लोकोंको कुछ परिवर्तनके साथ अपना लिया गया है जिन्हें धवलामें कहींसे उद्धृत किया गया था और जिनमेंसे एक श्लोक अकलंकदेवके लघीयस्त्रयका 'ज्ञानं प्रमाणमात्मादेः' नामका है।' परन्तु दोनों ग्रन्थोंको जब खोलकर देखते हैं तो मालूम होता है कि तिलोयपण्णत्तीकारने धवलोद्धृत उन दोनों संस्कृत श्लोकोंको अपने ग्रन्थका अंग नहीं बनाया—वहां प्रकरणके साथ कोई संस्कृत श्लोक हैं ही नहीं, दो गाथाएं हैं, जो मौलिक रूपमें स्थित हैं और प्रकरणके साथ संगत हैं। इसी तरह लघीयस्त्रय वाला पद्य धवलामें उसी रूपमें उद्धृत नहीं जिस रूपमें कि वह लघीयस्त्रयमें पाया जाता है—उसका प्रथम चरण 'ज्ञानं प्रमाणमात्मादेः' के स्थानपर 'ज्ञानं प्रमाणमित्याहुः' के रूपमें उपलब्ध है। और दूसरे चरणमें 'इष्यते' की जगह 'उच्यते' क्रियापद है।

---

१ 'मंगलपहुदि छक्कं वक्खाणिय विविह गन्थ जुत्तीहिं'

२ "इदि णायमाइरिय-परंपरागयं मणेणावहारिय पुव्वाइरियायाराणुसरणं ति-रयण-हेउत्ति पुप्फदंताइरियो मंगलादीणं छण्णं सकारणाणं परूवणट्ठं सुत्तमाह।"

ऐसी हालतमें 'ज्ञानं प्रमाणमात्मादेः' इत्यादि श्लोक भट्टाकलंकदेवकी मौलिक कृति है, तिलोय-पण्णत्तिकारने इसे भी नहीं छोड़ा' कुछ संगत मालूम नहीं होता। अस्तु; दोनों ग्रन्थोंके दोनों प्रकृत पद्योंको उद्धृत करके उनके विषयको हृदयङ्गम कर लेना उचित है।

जो ण पमाण-णयेहिं णिक्खेवेणं णिरक्खदे अत्थं।
तस्साऽजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं च (व) पडिहादि ॥ ८२ ॥
णाणं होदि पमाणं णओ वि णादुस्स हृदयभावत्थो।
णिक्खेवोवि उवाओ जुत्तीए अत्थपडिगहणं ॥ ८३ ॥ —तिलोयपण्णत्ती
प्रमाणनय निक्षेपैर्योऽर्थो नाऽभिसमीक्ष्यते।
युक्तं चाऽयुक्तवद्भाति तस्याऽयुक्तं च युक्तवत् ॥ (१०)
ज्ञानं प्रमाणमित्याहु रुपायो न्यास उच्यते।
नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः ॥ [११]—धवला १,१,पृ० १६,१८।

तिलोयपण्णत्तीकी पहली गाथामें यह बतलाया है कि 'जो प्रमाण, नय और निक्षेपके द्वारा अर्थका निरीक्षण नहीं करता है उसको अयुक्त (पदार्थ)युक्तकी तरह और युक्त (पदार्थ) अयुक्तकी तरह प्रतिभासित होता है।' और दूसरी गाथामें प्रमाण, नय और निक्षेपका उद्देशानुसार क्रमशः लक्षण दिया है और अन्तमें बतलाया है कि यह सब युक्तिसे अर्थका परिग्रहण है। अतः ये दोनों गाथाएं परस्पर संगत हैं। और इन्हें ग्रंथसे अलग कर देने पर अगली 'इय णायं अवहारिय आइरिय परम्परागयं मणसा' (इस प्रकार आचार्य परम्परासे चले आये हुए न्यायको हृदयमें धारण करके) नामकी गाथा[1] असंगत तथा खटकनेवाली हो जाती है। इसलिए ये तीनों ही गाथाएं तिलोयपण्णत्तीकी अंगभूत हैं।

धवला (संतपरूवणा) में उक्त दोनों श्लोकोंको देते हुए उन्हें 'उक्तञ्च' नहीं लिखा और न किसी खास ग्रन्थके वाक्य ही कहा है। वे 'एत्थ किमठ्ठं णयपरूवणमिदि ?'—यहां नयका प्ररूपण किसलिए किया गया है ? प्रश्नके उत्तरमें दिये गये हैं इसलिए वे धवलाकार-द्वारा निर्मित अथवा उद्धृत भी हो सकते हैं। उद्धृत होनेकी हालतमें यह प्रश्न पैदा होता है कि वे एक स्थानसे उद्धृत किये गये हैं या दो से। यदि एकसे उद्धृत किये गये हैं तो वे लघीयस्त्रयसे उद्धृत नहीं किये गये यह सुनिश्चित है; क्योंकि लघीयस्त्रयमें पहला श्लोक नहीं है। और यदि ये दो स्थानोंसे उद्धृत किये गये हैं तो यह बात कुछ बनती हुई मालूम नहीं होती; क्योंकि दूसरा श्लोक अपने पूर्वमें ऐसे श्लोककी अपेक्षा रखता है जिसमें

---

१ इस गाथाका नं० ८४ है, ८८ नहीं।

उद्देशादि किसी भी रूपमें प्रमाण, नय और निक्षेपका उल्लेख हो—लघीयस्त्रयमें भी 'ज्ञानं प्रमाण-मात्मादेः' श्लोकके पूर्वमें एक ऐसा श्लोक पाया जाता है जिसमें प्रमाण, नय और निक्षेपका उल्लेख है और उनके आगमानुसार कथनकी प्रतिज्ञा की गयी है ('प्रमाण-नय-निक्षेपाभिधानस्थे यथागमं')—और उसके लिए पहला श्लोक संगत जान पड़ता है। अन्यथा उसके विषयमें यह बतलाना होगा कि वह दूसरे कौनसे ग्रन्थका स्वतन्त्र वाक्य है। दोनों गाथाओं और श्लोकोंकी तुलना करनेसे तो ऐसा मालूम होता है कि दोनों श्लोक उक्त गाथाओंसे अनुवादरूपमें निर्मित हुए हैं। दूसरी गाथामें प्रमाण, नय और निक्षेपका उसी क्रमसे लक्षण निर्देश किया गया है जिस क्रमसे उनका उल्लेख प्रथम गाथामें हुआ है। परन्तु अनुवादके छन्दमें (श्लोक) शायद वह बात नहीं बन सकी। इसीसे उसमें प्रमाणके बाद निक्षेपका और फिर नयका लक्षण दिया गया है। इससे तिलोयपण्णत्तीकी उक्त गाथाओंकी मौलिकताका पता चलता है और ऐसा जान पड़ता है कि उन्हीं परसे उक्त श्लोक अनुवाद रूपमें निर्मित हुए हैं—भले ही यह अनुवाद स्वयं धवलाकारके द्वारा निर्मित हुआ हो या उनसे पहले किसी दूसरेके द्वारा। यदि धवलाकारको प्रथम श्लोक कहींसे स्वतंत्र रूपमें उपलब्ध होता तो वे प्रश्नके उत्तरमें उसीको उद्धृत कर देना काफी समझते—दूसरे लघीयस्त्रय जैसे ग्रंथसे दूसरे श्लोकको उद्धृत करके साथमें जोड़नेकी जरूरत नहीं थी; क्योंकि प्रश्नका उत्तर उस एक ही श्लोकसे हो जाता है। दूसरे श्लोकका साथमें होना इस बातको सूचित करता है कि एक साथ पायी जानेवाली दोनों गाथाओंके अनुवादरूपमें ये श्लोक प्रस्तुत किये गये हैं—चाहे वे किसीके भी द्वारा प्रस्तुत किये गये हों।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि धवलाकारने तिलोयपण्णत्तीकी उक्त दोनों गाथाओंको ही उद्धृत क्यों न कर दिया, उन्हें श्लोकोंमें अनुवादित करके या उनके अनुवादको रखनेकी क्या जरूरत थी? इसके उत्तरमें मैं सिर्फ इतना ही कह देना चाहता हूं कि यह सब धवलाकार वीरसेनकी रुचिकी बात है, उन्होंने अनेक प्राकृत वाक्योंको संस्कृतमें और संस्कृत वाक्योंको प्राकृतमें अनुवादित करके उद्धृत किया है। इसी तरह अन्य ग्रन्थोंके गद्यको पद्यमें और पद्यको गद्यमें परिवर्तित करके अपनी टीकाका अंग बनाया है। चुनांचे तिलोयपण्णत्तीकी भी अनेक गाथाओंको उन्होंने संस्कृत गद्यमें अनुवादित करके रक्खा है, जैसे कि मंगलकी निरुक्तिपरक गाथाएं, जिन्हें द्वितीय प्रमाणमें समानताकी तुलना करते हुए, उद्धृत किया गया है। इसलिए यदि ये उनके द्वारा ही अनुवादित होकर रक्खे गये हैं तो इसमें आपत्ति की कोई बात नहीं है। इसे उनकी अपनी शैली और रुचि, आदिकी बात समझना चाहिये।

अब देखना यह है कि 'ज्ञानं प्रमाणमात्मादेः' इत्यादि श्लोकको जो अकलंकदेवकी 'मौलिक कृति' बतलाया गया है उसका क्या आधार है? कोई भी आधार व्यक्त नहीं किया गया है; तब क्या अकलंकके ग्रन्थमें पाया जाना ही अकलंककी मौलिक कृति होनेका प्रमाण है? यदि ऐसा है तो राजवार्तिक

में पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिके जिन वाक्योंको वार्तिकादिके रूपमें विना किसी सूचनाके अपनाया गया है अथवा न्याय विनिश्चयमें समन्तभद्रके 'सूक्ष्मान्तरित दूरार्थाः' जैसे वाक्योंको अपनाया गया है उन सब को भी अकलंक-देवकी 'मौलिक कृति' कहना होगा। यदि नहीं, तो फिर उक्त श्लोकको अकलंकदेवकी मौलिक कृति बतलाना निर्हेतुक ठहरे गा। प्रत्युत इसके, अकलंकदेव चूंकि यतिवृषभके बाद हुए हैं अतः यतिवृषभकी तिलोयपण्णत्तीका अनुसरण उनके लिए न्याय प्राप्त है और उसका समावेश उनके द्वारा पूर्व पद्यमें प्रयुक्त 'यथागमं' पदसे हो जाता है; क्योंकि तिलोयपण्णत्ति भी एक आगम ग्रन्थ है, जैसा कि गाथा नं० ८५, ८६, ८७ में प्रयुक्त हुए उसके विशेषणोंसे जाना जाता है। धवलाकारने भी जगह जगह उसे 'सूत्र' लिखा है और प्रमाण रूपमें उपस्थित किया है। एक जगह वे किसी व्याख्यानको व्याखानाभास बतलाते हुए तिलोयपण्णत्ति सूत्रके कथनको भी प्रमाणमें पेश करते हैं और फिर लिखते हैं कि सूत्रके विरुद्ध व्याख्यान नहीं होता है—जो सूत्र विरुद्ध हो उसे व्याख्यानाभास समझना चाहिये—नहीं तो अतिप्रसंग आये गा[1]।

इस तरह यह तीसरा प्रमाण असिद्ध ठहरता है। तिलोयपण्णत्तिकारने चूंकि धवलाके किसी भी पद्यको नहीं अपनाया अतः पद्योंके अपनानेके आधार पर तिलोयपण्णत्ती धवलाके बादकी रचना बतलाना युक्तियुक्त नहीं है।

(४) चौथे प्रमाणरूपसे कहा जाता है कि 'दुगुण दुगुणो दुवग्गो णिरंतरो तिरियलोगो' नामका जो वाक्य धवलाकारने द्रव्यप्रमाणानुयोगद्वार (पृ० ४६) में तिलोयपण्णत्तिके नामसे उद्धृत किया है वह वर्तमान तिलोयपण्णत्तिमें पर्याप्त खोज करनेपर भी नहीं मिला, इसलिए यह तिलोयपण्णत्ति उस तिलोयपण्णत्तिसे भिन्न है जो धवलाकारके सामने थी। परन्तु यह मालूम नहीं हो सका कि पर्याप्त खोजका रूप क्या रहा है। क्या भारतवर्षके विभिन्न स्थानोंमें पायी जाने वाली तिलोयपण्यत्तीकी समस्त प्रतियोंका पूर्णरूपसे देखा जाना है? यदि नहीं, तब इस खोजको 'पर्याप्त खोज' कैसे कहें? वह तो बहुत कुछ अपर्याप्त है। क्या दो एक प्रतियोंमें उक्त वाक्यके न मिलनेसे ही यह नतीजा निकाला जा सकता है कि वह वाक्य किसी भी प्रतिमें नहीं है? नहीं निकाला जा सकता। इसका एक ताजा उदाहरण गोम्मटसार कर्मकाण्ड (प्रथम अधिकार) के वे प्राकृत गद्यसूत्र हैं जो गोम्मटसारकी पचासों प्रतियोंमें नहीं पाये जाते परन्तु मूडविद्रीकी एक प्राचीन ताडपत्रीय कन्नड प्रतिमें उपलब्ध है और जिनका उल्लेख मैंने अपने गोम्मटसार-विषयक निबन्धमें किया है। इसके सिवाय, तिलोयपण्णत्ती जैसे बड़े ग्रन्थमें लेखकोंके प्रमादसे दो चार गाथाओंका छूट जाना कोई बड़ी बात नहीं है। पुरातन जैन वाक्य-सूचीके अवसरपर मेरे सामने तिलोयपण्णत्तीकी चार प्रतियां रही हैं—एक बनारस स्याद्वाद महाविद्यालय

---

१. "तं वक्खाणाभासमादि कुदो णव्वदे ? जोइसियभागहारसुत्तादो चंदाइच्च बिंबपमाण परूवण-तिलोय पण्णत्ति सुत्तादो च। ण च सुत्तविरुद्धं वक्खाणं होइ, अइपसंगादो।" धवला १, २, ४ पृ० ३६।

की, दूसरी देहली नया-मन्दिरकी, तीसरी आगराके मन्दिरकी और चौथी सहारनपुर ला० प्रद्युम्नकुमारजीके मन्दिरकी। इन प्रतियोंमें, जिनमें बनारसकी प्रति बहुत ही अशुद्ध एवं त्रुटिपूर्ण जान पड़ी, कितनी ही गाथाएं ऐसी देखनेको मिलीं जो एक प्रतिमें हैं तो दूसरी में नहीं हैं, इसीसे जो गाथा किसी एक प्रतिमें बढ़ी हुई मिली उसका सूचीमें उस प्रतिके साथ संकेत किया गया है। ऐसी भी गाथाएं देखनेमें आयीं जिनमें किसीका पूर्वार्ध एक प्रतिमें है तो उत्तरार्ध नहीं, और उत्तरार्ध है तो पूर्वार्ध नहीं। और ऐसा तो बहुधा देखनेमें आया कि कितनी ही गाथाओंको विना संख्या डाले धारावाही रूपमें लिख दिया है, जिससे वे सामान्यावलोकनके अवसरपर ग्रन्थका गद्य भाग जान पड़ती हैं। किसी किसी स्थल पर गाथाओंके छूटनेकी साफ सूचना भी की गयी है; जैसे कि चौथे महाधिकारकी 'णव-णउदि सहस्साणि' इस गाथा सं० २२१३ के अनन्तर आगरा और सहारनपुरकी प्रतियोंमें दस गाथाओंके छूटनेकी सूचना की गयी है और वह कथन-क्रमको देखते हुए ठीक जान पड़ती है—दूसरी प्रतियोंसे उनकी पूर्ति नहीं हो सकी। क्या आश्चर्य जो ऐसी छूटी अथवा त्रुटित हुई गाथाओंमेंका ही उक्त वाक्य हो। ग्रन्थ प्रतियोंकी ऐसी स्थितिमें दो चार प्रतियोंको देखकर ही अपनी खोजको पर्याप्त खोज बतलाना और उसके आधार पर उक्त नतीजा निकाल बैठना किसी तरह भी न्याय-संगत नहीं कहा जा सकता। इसलिए चतुर्थ प्रमाण भी इष्टको सिद्ध करनेके लिए समर्थ नहीं है।

(५) अब रहा अन्तिम प्रमाण, जो प्रथम प्रमाणकी तरह गलत धारणाका मुख्य आधार बना हुआ है। इसमें जिस गद्यांशकी ओर संकेत किया गया है और जिसे कुछ अशुद्ध भी बतलाया गया है। वह क्या स्वयं तिलोयपण्णत्तिकारके द्वारा धवला परसे, 'अम्हेहि' पदके स्थान पर 'एसा परूवणा' पाठका परिवर्तन करके उद्धृत किया गया है अथवा किसी तरह पर तिलोयपण्णत्तीसे प्रक्षिप्त हुआ है? शायद इसका गम्भीरताके साथ विचार नहीं किया गया है। फलतः विना विवेचन के दिया गया निर्णय-सा प्रतीत होता है। उस गद्यांशको तिलोयपण्णत्तीका मूल अंग मान बैठना भी वैसा ही है और इसीसे गद्यांशमें उल्लिखित तिलोयपण्णत्तीको वर्तमान तिलोयपण्णत्तीसे भिन्न दूसरी तिलोयपण्णत्ती कहा गया है। इतना ही नहीं, बल्कि तिलोयपण्णत्तीमें जो यत्र तत्र दूसरे गद्यांश पाये जाते हैं उनका अधिकांश भाग भी धवलासे उद्धृत है, ऐसा सुझानेका संकेत भी है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। जान पड़ता है ऐसा कहते और सुझाते हुए यह ध्यान नहीं रक्खा गया कि जो आचार्य जिनसेन वर्तमान तिलोयपण्णत्तीके कर्ता बतलाये गये हैं वे क्या इतने असावधान अथवा अयोग्य थे कि जो 'अम्हेहि' पदके स्थान पर 'एसा परूवणा' पाठका परिवर्तन करके रखते और ऐसा करनेमें उन साधारण मोटी भूलों एवं त्रुटियोंको भी न समझ पाते जिनकी उद्भावना उक्त लेखमें की गयी है? और ऐसा करके जिनसेनको अपने गुरु वीरसेनकी कृतिका लोप करनेकी भी क्या जरूरत थी? वे तो बराबर अपने गुरुका कीर्तन और उनकी कृतिके साथ उनका नामोल्लेख करते हुए देखे जाते हैं; चुनांचे वीरसेन जब जयधवला

को अधूरा छोड़ गये और उसके उत्तरार्धको जिनसेनने पूरा किया तो ये प्रशस्तिमें स्पष्ट शब्दों द्वारा यह सूचित करते हैं कि 'गुरुने आगेके अर्धभागका जो भूरि वक्तव्य उन पर प्रकट किया था (अथवा नोट्स आदिके रूपमें उन्हें दिया था) उसीके अनुसार यह अल्प वक्तव्य रूप उत्तरार्ध पूरा किया गया है[1]।

परन्तु वर्तमान तिलोयपण्णत्तीमें तो वीरसेनका कहीं नामोल्लेख भी नहीं है—ग्रंथके मंगलाचरण तकमें भी उनका स्मरण नहीं किया गया। यदि वीरसेनके संकेत अथवा आदेशादिके अनुसार जिनसेनके द्वारा वर्तमान तिलोयपण्णत्तीका संकलनादि कार्य हुआ होता तो वे ग्रन्थके आदि या अन्तमें किसी न किसी रूपसे उसकी सूचना जरूर करते तथा अपने गुरुका नाम भी उसमें जरूर प्रकट करते। यदि कोई दूसरी तिलोयपण्णत्ती उनकी तिलोयपण्यत्तीका आधार होती तो वे अपनी पद्धति और परिणतिके अनुसार उसका और उसके रचयिताका स्मरण भी ग्रन्थके आदिमें उसी तरह करते जिस तरह कि महापुराणके आदिमें 'कवि परमेश्वर' और उनके 'वागर्थसंग्रह' पुराणका किया है, जो कि उनके महापुराणका मूलाधार रहा है। परन्तु वर्तमान तिलोयपण्णत्तीमें ऐसा कुछ भी नहीं है, इसलिए उसे उक्त जिनसेनकी कृति बतलाना और उन्हींके द्वारा उक्त गद्यांशका उद्धृत किया जाना प्रतिपादित करना किसी तरह भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। वर्तमान तिलोयपण्णत्तीका कर्ता बतलाये जाने वाले दूसरे भी किसी विद्वान आचार्यके साथ उक्त भूल भरे गद्यांशके उद्धरणकी बात संगत नहीं बैठती; क्योंकि तिलोयपण्णत्तीकी मौलिक रचना इतनी प्रौढ़ और सुव्यवस्थित है कि उसमें मूलकार-द्वारा ऐसे सदोष उद्धरणकी कल्पना नहीं की जा सकती। 'इसलिए उक्त गद्यांश बादको किसीके द्वारा धवला आदिसे प्रक्षिप्त किया हुआ जान पड़ता है। और भी कुछ गद्यांश ऐसे हो सकते हैं जो धवलासे प्रक्षिप्त किये गये हों' परन्तु जिन गद्यांशोंकी तरफ फुटनोटमें संकेत किया है वे तिलोयपण्णत्तीमें धवलापरसे उद्धृत किये गये मालूम नहीं होते; बल्कि धवलामें तिलोयपण्णत्तीसे उद्धृत जान पड़ते हैं। क्योंकि तिलोयपण्णत्तीमें गद्यांशोंके पहले जो एक प्रतिज्ञात्मक गाथा पायी जाती है वह इस प्रकार है—

वादवरुद्धक्खेत्ते विंदफलं तह य अट्ठ पुढवीए।
सुद्धायासखिदीणं लवमेत्तं वत्तइस्सामो ॥ २८२ ॥

इसमें वातवलयोंसे अवरुद्ध क्षेत्रों, आठ पृथ्वियों और शुद्ध आकाश भूमियोंका घनफल बतलानेकी प्रतिज्ञा की गयी है और उस घनफलको 'लवमेत्तं' (लवमात्र)[2] विशेषणके द्वारा बहुत

---

१ गुरुणार्धेऽग्रिमे भूरिवक्तव्ये संप्रकाशिते। तान्निरीक्ष्याऽल्पवक्तव्यः पश्चार्धस्तेन पूरितः ॥३६॥

२ तिलोयपण्यत्तिकारको जहां विस्तारसे कथन करनेकी इच्छा अथवा आवश्यकता हुई है वहां उन्होंने वैसी सूचना कर दी है; जैसा कि प्रथम अधिकारमें लोकके आकारादि संक्षेपसे वर्णन करनेके अनन्तर 'वित्थररुइ वोहत्थं वोच्छं णाणावियप्पे वि' (७४) इस वाक्यके द्वारा विस्तार रुचिवाले प्रतिपाद्योंको लक्ष्य करके उन्होंने विस्तारसे कथनकी प्रतिज्ञा की है।

संक्षेपमें ही कहनेकी सूचना की गयी है। तदनुसार तीनों घनफलोंका क्रमशः गद्यमें कथन किया गया है और यह कथन मुद्रित प्रतिमें पृष्ठ ४३ से ५० तक पाया जाता है। धवला (पृ० ५१ से ५५) में इस कथनका पहला भाग 'संपहि' ('संपदि) से लेकर 'जगपदरं होदि' तक प्रायः ज्योंका त्यों उपलब्ध है। परन्तु शेष भाग, जो आठ पृथ्वियों आदिके घनफलसे सम्बन्ध रखता है, उपलब्ध नहीं है, और इससे वह तिलोयपण्णत्तीसे उद्धृत जान पड़ता है—खासकर उस हालतमें जब कि धवलाकारके सामने तिलोयपण्णत्ती मौजूद थी और उन्होंने अनेक विवादग्रस्त स्थलोंपर उसके वाक्योंको बड़े गौरवके साथ प्रमाणमें उपस्थित किया है तथा उसके कितने ही दूसरे वाक्योंको भी विना नामोल्लेखके उद्धृत किया है और अनुवादित करके भी रक्खा है। ऐसी स्थितिमें तिलोयपण्णत्तीमें पाये जाने वाले गद्यांशोंके विषयमें यह कल्पना करना कि वे धवलापरसे उद्धृत किये गये हैं समुचित नहीं है। प्रस्तुत गद्यांशसे इस विषयमें कोई सहायता नहीं मिलती है; क्योंकि उस गद्यांशका तिलोयपण्णत्तीकारके द्वारा उद्धृत किया जाना सिद्ध नहीं है—वह बादको किसीके द्वारा प्रक्षिप्त हुआ जान पड़ता है।

अब यह बतलाना उचित होगा कि यह इतना ही गद्यांश प्रक्षिप्त नहीं है बल्कि इसके पूर्वका "एत्तो चंदाण सपरिवाराणमाणयण विहाणं वत्तइस्सामो" से लेकर "एदम्हादो चेव सुत्तादो" तक का अंश और उत्तरवर्ती "तदो ण एत्थ इदमित्थ मेवेत्ति" से लेकर "तं चेदं १६५५३६१।" तकका अंश जो 'चंदस्स सदसहस्सं' नामकी गाथाका पूर्ववर्ती है, वह सब प्रक्षिप्त हैं। और इसका प्रबल प्रमाण मूल ग्रन्थसे ही उपलब्ध होता है। मूल ग्रन्थमें सातवें महाधिकारका प्रारम्भ करते हुए पहली गाथामें मंगलाचरण और ज्योतिर्लोकप्रज्ञप्तिके कथनकी प्रतिज्ञा करनेके अनन्तर उत्तरवर्ती तीन गाथाओंमें ज्योतिषियोंके निवास क्षेत्र आदि सत्तर अधिकारोंके नाम दिये हैं जो इस ज्योतिर्लोकप्रज्ञप्ति नामक महाधिकारके अंग हैं। वे तीनों गाथाएं इस प्रकार हैं—

जोइसिय-णिवासखिदी भेदो संखा तहेव विण्णासो।
परिमाणं चरचारो अचरसरूवाणि आऊ य॥२॥
आहारो उस्सासो उच्छेहो ओहिणाणसत्तीओ।
जीवाणं उप्पत्ति मरणाइं एक्क समयम्मि॥ ३॥
आउग बंधणभावं दंसणगहणस्स कारणं विवहं।
गुणठाणादिपवण्णणमहियारा सत्तरसिमाए॥ ४॥

इन गाथाओंके बाद निवासक्षेत्र, भेद, संख्या, विन्यास, परिमाण, चराचर, अचरस्वरूप और आयु नामके आठ अधिकारोंका क्रमशः वर्णन दिया है—शेष अधिकारोंके विषयमें लिख दिया है कि उनका वर्णन भवनलोकके वर्णनके समान कहना चाहिये ('भावण लोएव्व वत्तव्वं')—और जिस अधिकारका वर्णन जहां समाप्त हुआ वहां उसकी सूचना कर दी है। सूचना वाक्य इस प्रकार हैं:—

'णिवासखेत्तं सम्मत्तं। भेदो सम्मत्तो। संखा सम्मत्ता। विण्णास सम्मत्तं। परिमाणं सम्मत्तं। एवं चरगिहाणं चारो सम्मत्तो। एवं अचरजोइसगणपरूवणा सम्मत्ता। आऊ सम्मत्ता॥"

अचर ज्योतिषगणकी प्ररूपना विषयक ७ वें अधिकारकी समाप्तिके बाद ही 'एत्तो चंदाण' से लेकर 'तं चेदं १६५५३६१' तकका वह सब गद्यांश है, जिसकी ऊपर सूचनाकी गयी है। 'आयु' अधिकार के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। आयुका अधिकार उक्त गद्यांशके अनन्तर 'चंदस्स सदसहस्सं' गाथासे प्रारंभ होता है और अगली गाथापर समाप्त हो जाता है। ऐसी हालतमें उक्त गद्यांश मूल ग्रंथके साथ सम्बद्ध न होकर साफ तौरसे प्रक्षिप्त जान पड़ता है। उसका आदिका भाग 'एत्तो चंदाण' से लेकर 'तदोण एत्थ संपदाय विरोधो कायव्वो त्ति' तक तो धवला प्रथम खण्डके स्पर्शानुयोगद्वारमें थोड़ेसे शब्द भेदके साथ प्रायः ज्योंका त्यों पाया जाता है इसलिए यह उससे उद्धृत हो सकता है। परन्तु अन्तका भाग—"एदेण विहाणेण परूविद गच्छं विरलिय रूवं पडि चत्तारि रूवाणि दादूण अण्णोण्णभत्थे" के अनन्तरका—धवलाके अगले गद्यांशके साथ कोई मेल नहीं खाता, इसलिए वह वहांसे उद्धृत न होकर अन्यत्रसे लिया गया है। यह भी हो सकता है कि यह सारा ही गद्यांश धवलासे न लिया जाकर किसी दूसरे ही इस समय अप्राप्य ग्रंथसे, जिसमें आदि अन्तके दोनों भागोंका समावेश हो, लिया गया हो और तिलोयपण्णत्तीमें किसीके द्वारा अपने उपयोगादिकके लिए हाशियेपर लिखा गया हो और जो बादको ग्रन्थमें कापीके समय किसी तरह प्रक्षिप्त हो गया हो। इस गद्यांशमें ज्योतिष देवोंके जिस भागहार सूत्रका उल्लेख है वह वर्तमान तिलोयपण्णत्तीके इस महाधिकारमें पाया जाता है। उसपरसे फलितार्थ होनेवाले व्याख्यानादिकी चर्चाको किसीने यहांपर अपनाया है, ऐसा जान पड़ता है।

इसके सिवाय, एक बात और भी है; वह यह कि जिस वर्तमान तिलोयपण्णत्तीका मूलानुसार आठ हजार श्लोक परिमाण बतलाया जाता है वह उपलब्ध प्रतियों परसे उतने ही श्लोक परिमाण नहीं मालूम होती, बल्कि उसका परिमाण लगभग एक हजार श्लोक-परिमाण बढ़ा हुआ है। इससे यह साफ जाना जाता है कि मूलमें उतना अंश बादको प्रक्षिप्त हुआ है। इसलिए उक्त गद्यांशको, जो अपनी स्थिति परसे प्रक्षिप्त होनेका स्पष्ट सन्देह उत्पन्न कर रहा है और जो ऊपरके विवेचनसे मूलकारकी कृति मालूम नहीं होता, प्रक्षिप्त कहना कुछ भी अनुचित नहीं है। ऐसे ही प्रक्षिप्त अंशोंसे, जिनमें कितने ही 'पाठान्तर' वाले अंश भी शामिल जान पड़ते हैं, ग्रंथके परिमाणमें वृद्धि हुई है। यह निर्विवाद है कि कुछ प्रक्षिप्त अंशोंके कारण किसी ग्रन्थको दूसरा ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। अतः उक्त गद्यांशमें तिलोयपण्णत्तीका नामोल्लेख देखकर जो यह कल्पनाकी गयी है कि 'वर्तमान तिलोयपण्णत्ती उस तिलोयपण्णत्तीसे भिन्न है जो धवलाकारके सामने थी' वह ठीक नहीं हैं।

उपसंहार—

इस तरह नूतन धारके पांचों प्रमाणोंमें से कोई भी प्रमाण यह सिद्ध करनेके लिए समर्थ नहीं है कि वर्तमान तिलोयपण्णत्ती आचार्य वीरसेनके बादकी बनी हुई है अथवा उस तिलोयपण्णत्तीसे भिन्न है जिसका वीरसेन अपनी धवला टीकामें उल्लेख कर रहे हैं। तब यह कल्पना करना तो अतिसाहस है कि वीरसेनके शिष्य जिनसेन इसके रचयिता हैं, जिनकी स्वतंत्र ग्रन्थ-रचना-पद्धतिके साथ इसका कोई मेल नहीं खाता। ऊपरके सम्पूर्ण विवेचन एवं ऊहापोहसे स्पष्ट है कि यह तिलोयपण्णत्ती यतिवृषभाचार्यकी कृति है, धवलासे कई शती पूर्वकी रचना है—और वही चीज है जिसका वीरसेन अपनी धवलामें उद्धरण, अनुवाद तथा आशय ग्रहणादिके रूपमें स्वतंत्रता पूर्वक उपयोग करते रहे हैं। ग्रन्थकी अन्तिम मंगल गाथामें 'दट्ठूण' पदको ठीक मानकर उसके आगे जो 'अरिस वसहं' पाठकी कल्पनाकी गयी है और उसके द्वारा यह सुझानेका यत्न किया है कि 'इस तिलोयपण्णत्तीसे पहले यतिवृषभका तिलोयपण्णत्ति नामका कोई आर्ष ग्रन्थ था जिसे देखकर यह तिलोयपण्णत्ती रची गयी है। फलतः उसीकी सूचना इस गाथामें 'दट्ठूण अरिसवसहं' वाक्यके द्वारा की गयी है' वह भी युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि इस पाठ और उसके प्रकृत अर्थकी संगति गाथाके साथ नहीं बैठती, जिसका स्पष्टीकरण प्रारम्भमें किया जा चुका है। इसलिए यह लिखना कि "इस तिलोयपण्णत्तिका संकलन शक संवत् ७३८ (वि० सं० ८७३) से पहले का किसी भी हालतमें नहीं है" तथा "इसके कर्ता यतिवृषभ किसी भी हालतमें नहीं हो सकते" अति-साहसका द्योतक है। क्योंकि किसी तरह भी इसे युक्ति संगत नहीं कहा जा सकता[1]।
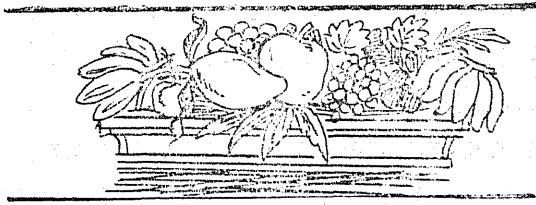
जैन साहित्य और कहानी

श्री प्रा० डा० जगदीशचन्द्र जैन, एम० ए०, पीएच० डी०

प्राचीन कालसे ही कहानी साहित्यका जीवनमें बहुत ऊंचा स्थान रहा है। ऋग्वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, महाभारत, रामायण, आदि वैदिक ग्रंथोंमें अनेक शिक्षाप्रद आख्यान उपलब्ध होते हैं, जिनके द्वारा मनुष्य जीवनको ऊंचा उठानेका प्रयत्न किया गया है। इन कथा-कहानियोंका सबसे समृद्ध कोष है बौद्धोंकी जातक कथाएं। सीलोन, बर्मा आदि प्रदेशोंमें ये कथाएं इतनी लोकप्रिय हैं कि वहांके निवासी आज भी इन कथाओंको रात रातभर बैठकर बड़े चावसे सुनते हैं। इन कथाओंमें बुद्धके पूर्वजन्मकी घटनाओंका वर्णन है, और इनके दृश्य सांची, भरहुत आदि स्तूपोंकी दीवारों पर अंकित हैं, जिनका समय ईसाके पूर्व दूसरी शती माना जाता है।

प्राचीन कालमें जो नाना लोक कथाएं भारतवर्षमें प्रचलित थीं, उन्हें ब्राह्मण, जैनों और बौद्धने अपने अपने धर्मग्रन्थोंमें स्थान देकर अपने सिद्धांतोंका प्रचार किया। बौद्धोंके पालि साहित्यकी तरह जैनोंका प्राकृत साहित्य भी कथा-कहानियोंका विपुल भण्डार है। जैन भिक्षु अपने धर्मका प्रचार करनेके लिए दूर दूर देशोंमें विहार करते थे। बृहत्कल्पभाष्यके अन्तर्गत जनपद-परीक्षा प्रकरणमें बताया है कि जैन भिक्षुको चाहिये कि वह आत्मशुद्धिके लिए तथा दूसरोंको धर्ममें स्थिर रखनेके लिए जनपद विहार करें; तथा जनपद-विहार करनेवाले साधुको मगध, मालवा, महाराष्ट्र, लाट, कर्णाटक, द्रविड़; गौड़, विदर्भ आदि देशोंकी लोकभाषाओंमें कुशल होना चाहिये, जिससे वह भिन्न भिन्न देशके लोगोंको उनकी भाषामें उपदेश दे सके।

जैन साहित्यका प्राचीनतम भाग 'आगम' के नामसे कहा जाता है। दिगम्बर परम्पराके अनुसार आगम ग्रन्थोंका सर्वथा विच्छेद हो गया है, श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार ये आगम विकृत-रूपमें मौजूद हैं, और ११ अंग, १२ उपांग, १० प्रकीर्णक, ६ छेदसूत्र, ४ मूलसूत्र, नन्दि तथा अनुयोग-द्वारके रूपमें आजकल भी उपलब्ध हैं। ११ अंगोंके अन्तर्गत नायाधम्मकहा (ज्ञातृधर्म कथा) नामक पांचवें अंगमें ज्ञातृपुत्र महावीरकी अनेक धर्मकथाएं वर्णित हैं, जो बहुत रोचक और शिक्षाप्रद हैं। उपासक-दशा नामक छठे अंगमें महावीरके उपासकोंकी कथाएं हैं। कथा साहित्यका सर्वोत्तम भाग आगम ग्रन्थोंकी टीका-टिप्पणियोंमें उपलब्ध होता है। ये टीका-टिप्पणियां निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका इन

चार भागोंमें विभक्त हैं। इनमें चूर्णि और टीका साहित्य भारतके प्राचीन कथा-साहित्यकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्वका है, जिसमें आवश्यकचूर्णि और उतराध्ययन टीका तो कथाओंका बृहत्कोष है। आगम साहित्यके अतिरिक्त जैन साहित्यमें पुराण, चरित, चम्पू, प्रबंध आदिके रूपमें प्राकृत, संकृत अपभ्रंशके अनेक ग्रन्थ मौजूद हैं, जिनमें छोटी-बड़ी अनेक कथा-कहानियां हैं।

यहां यह कह देना अनुचित न हो गा कि पालि-प्राकृत साहित्यकी अनेक लौकिक कथाएं कुछ रूपान्तरके साथ देश-विदेशोंमें भी प्रचलित हैं। ये कथाएं भारतवर्षमें पंचतंत्र, हितोपदेश, कथासरित्सागर, शुकसप्तति, सिंहासनद्वात्रिंशिका, बेतालपंचविंशतिका आदि ग्रन्थोंमें पायी जाती हैं, तथा 'ईसपकी कहानियां, 'अरेबियन नाइट्सकी कहानियाँ, 'कलेला दमनाकी कहानी' आदि के रूपमें ग्रीस, रोम, अरब, फारस, अफ्रिका आदि सुदूर देशोंमें भी पहुंची हैं। इन कथाओंका उद्गम स्थान अधिकतर भारतवर्ष माना जाता है, यद्यपि समय समयपर अन्य देशोंसे भी देश-विदेशके यात्री बहुत-सी कहानियां अपने साथ यहां लाये।

यहां लेखककी 'भारतकी प्राचीन कथा-कहानियां' नामक पुस्तकमेंसे दो कहानियां दी जाती हैं। कहानियोंको पढ़कर उनके महत्वका पता लगे गा।

कार्य सच्ची उपासना—

किसी सेठका पुत्र धन कमानेके लिए परदेश गया और अपनी जवान पत्नीको अपने पिताके पास छोड़ गया। सेठकी पतोहू बहुत शौकीन स्वभावकी थी। वह अच्छा भोजन करती, पान खाती, इतर-फुलेल लगाती, सुंदर वस्त्राभूषण पहनती, और दिनभर यों ही विता देती। घरके काममें उसका मन जरा भी न लगता। उसको अपने पतिकी बहुत याद आती, परन्तु वह क्या कर सकती थी! एक दिन सेठकी पतोहूका मन बहुत चंचल हो उठा। उसने दासीको बुलाकर कहा 'दासी! किसी पुरुषको बुलाओ। किसीको जानती हो?' दासीने कहा 'देखूंगी।

दासीने आकर सब हाल सेठजीसे कहा। सेठजी बहुत चिन्तित हुए और सोचने लगे कि बहूकी रक्षाके लिए शीघ्र ही कोई उपाय करना चाहिये, अन्यथा वह हाथसे निकल जाय गी! उन्होंने तुरत सेठानीको बुलाया और कहा "देखो सेठानी! हम तुम दोनों लड़ाई कर लें गे, और मैं तुम्हें मार कर निकाल दूँ गा। तुम थोड़े समयके लिए किसी दूसरेके घरमें जाकर रह जाना। अन्यथा अपनी बहू अपने हाथसे निकल जाय गी। सेठानीने अपने पतिकी बात मान ली। अगले दिन सेठ घर आया और सेठानीसे भोजन मांगा। सेठानीने चिल्लाकर कहा "अभी भोजन तैयार नहीं है। बस दोनोंमें झगड़ा होने लगा। सेठको क्रोध आगया और उसने सेठानीको मार-पीटकर घरसे निकाल दिया। सास और ससुरकी कलह सुनकर उसकी पतोहू घरसे निकल कर आ गयी और पूंछने लगी "पिताजी! क्या बात हुई?" सेठने कहा—"बेटी! आजसे मैंने तुझे अपने घरकी मालकिन बना

दिया है। अब तूं ही घरका सब काम-काज देखना।" बहू अपने ससुरकी बात सुन कर प्रसन्न हुई। अपने घरका सब काम सम्हाल लिया। अब वह घरके काममें इतनी संलग्न रहने लगी कि उसे भोजन करनेका समय भी बड़ी कठिनतासे मिलता। वह साज-शृङ्गार सब भूल गयी। एक दिन दासीने आकर कहा—"बहूजी! आप उस दिन किसी पुरुषकी बात करती थीं। मैंने एक पुरुषकी खोज की है। आपकी आज्ञा हो तो उसे बुलाऊं?" बहूने उतर दिया—"दासी! वह समय दूर गया। इस समय मुझे मरनेका भी अवकाश नहीं, तू पर-पुरुषकी बात करती है।"

असंतोष बुरी चीज है—

कोई बुढ़िया गोबर पाथ पाथ कर अपनी गुजर करती थी। उसने व्यंतरदेवकी आराधना की। व्यंतर बुढ़ियासे बहुत प्रसन्न हुआ और देव-प्रसादसे उसके गोबरके सब उपले रतन बन गये। बुढ़िया खूब धनवान हो गयी। उसने चार कोठोंका एक सुन्दर भवन बनवा लिया और वह सुखसे रहने लगी। एक दिन बुढ़ियाके घर उसकी एक पड़ोसन आयी और उसने बातों बातोंमें सब पता लगा लिया कि बुढ़िया इतनी जल्दी धनी कैसे बन गयी। पड़ोसनको बुढ़ियासे बड़ी ईर्ष्या हुई और उसने भी व्यंतरदेवकी आराधना शुरू कर दी। व्यंतर प्रसन्न होकर उपस्थित हुआ और उसने वर मांगनेको कहा। पड़ोसनने कहा—"मैं चाहती हूं जो कोई वस्तु तुम बुढ़ियाको दो वह मेरे दुगुनी हो जाय।" व्यंतरने कहा "बहुत अच्छा।"

अब जो वस्तु बुढ़िया मांगती वह उसकी पड़ोसनके घर दुगुनी हो जाती। बुढ़ियाके घर चार कोठोंका एक भवन था तो उसकी पड़ोसनके दो भवन थे। इसी प्रकार और भी जो सामान बुढ़ियाके था, उससे दुगुना उसकी पड़ोसनके घर था। बुढ़ियाको जब इस बातका पता लगा तो वह अपने मनमें बहुत कुढ़ी। उसने क्रोधमें आकर व्यंतरसे वरदान मांगा कि उसका चार कोठोंवाला भवन गिर पड़े और उसके स्थानपर एक घासकी कुटिया बन जाय। बस उसकी पड़ोसनके भी दोनों भवन नष्ट हो गये और उसकी जगह दो घासकी कुटियां बन गयीं। बुढ़ियाको इससे भी संतोष न हुआ। उसने दूसरा वर मांगा "मेरी एक आंख फूट जाय।" फलतः उसकी पड़ोसनकी दोनों आखें फूट गयी। तत्पश्चात् बुढ़ियाने कहा "मेरे एक हाथ और एक पैर रह जाय, "बस उसकी पड़ोसनके दोनों हाथ और दोनों पांव नष्ट हो गये। अब बिचारी पड़ोसन पड़ी पड़ी सोचने लगी कि मैं क्या करूं, यह सब मेरे असंतोषका फल है। यदि मैं बुढ़ियाके धनको देख कर ईर्ष्या न करती और संतोषसे जीवन बिताती तो मेरी यह दशा न होती।"

———

जैनसाहित्यमें राजनीति

श्री पं० पन्नालाल जैन 'वसन्त' साहित्याचार्य, आदि ।

विशाल संस्कृत साहित्यमें यद्यपि शतियोंसे मौलिक कृतियोंकी वृद्धि नहीं हुई है तथापि कोई ऐसा विषय नहीं जिसके बीज उसमें न हों । जैन संस्कृत साहित्य उसका इतना विशाल एवं सर्वाङ्गीण-भाग है कि उसके विना संस्कृत साहित्यकी कल्पना नहीं की जा सकती । उदाहरणके लिए राजनीतिको ही लीजिये; इसके वर्णन विविध रूपोंमें संस्कृत साहित्यमें भरे पड़े हैं । विशेषकर 'संसार-शरीर-भोग-निर्विण्णता' के प्रधान प्रतिष्ठापक जैन साहित्यमें;जैसा कि निम्न संक्षिप्त वर्णनसे स्पष्ट हो जायगा ।

राजा —

राजनीतिका उद्गम राजा और राजसे है अतः उसके विचार पूर्वक ही आगे बढ़ा जा सकता है । भोगभूमिमें कोई राजा नहीं होता परन्तु कर्मभूमिके प्रारम्भ होते ही उसकी आवश्यकताका अनुभव होता है; अर्थात् जहां समानता है, लोग अपना अपना कर्त्तव्य स्वयं पालन करते हैं वहां राजाकी आवश्यकता नहीं होती परन्तु जहां जनता में विषमता, निर्धनता-सघनता, ऊंच-नीच आदिकी भावना उत्पन्न होती है वहां पारस्परिक संघर्ष स्वाभाविक हो जाता है । शिष्ट पुरुष कष्ट में पड़ जाते है और दुष्ट मनुष्य अपनी उदण्डतासे आनन्द उड़ाते हैं । कर्मभूमिके इस अनैतिक वातावरणसे जनताकी रक्षा करनेके लिए ही राजाका आविर्भाव कुलकरों के रुपमें होता है । आचार्य जिनसेनके महापुराणमें लिखा है कि कुलकरोंके समय दण्डव्यवस्था केवल 'हा' 'मा' और 'धिक्' के रूप में थी परन्तु जैसे जैसे लोगोंमें अनैतिकता बढ़ती गयी वैसे वैसे दण्डव्यवस्था में परिवर्तन होते गये । प्रारम्भमें एक कुलकर ही अपने बलसे समस्त भारत-खण्डका शासन करनेके लिए पर्याप्त था किन्तु बादमें धीरे-धीरे, अनेक राजाओंकी (शासकों की) आवश्यकता पड़ने लगी । इस प्रकार स्पष्ट हैं कि राजा सृष्टिका सेवक योग्य पुरुष था । उसका जीवन निरन्तर पर-पालनके लिए ही था । जैनाचार्यों ने साम्राज्यपदको सात[१] परम स्थानों में गिनकर राजाके माहत्म्यकी घोषणा की है । जो राजा अपने जीवनको केवल भोग विलास का ही साधन समझते हैं वे आत्म-विस्मृत कर्तव्य ज्ञानसे शून्य हैं । अपने ऊपर पूर्ण राष्ट्रके जीवन

---

१ सज्जातिः सद्गृहस्थत्वं पारिव्रज्यं सुरेन्द्रता । साम्राज्यं परमार्हन्त्यं निर्वाणञ्चेति सप्तकम् ॥ (महापुराण)

निर्वाहका भार लेकर भी यदि भोग-विलासको ही अपना लक्ष्य बना लें तो उनसे अधिक आत्म-वञ्चक तथा प्रमत्त कौन हो गा ? आचार्य सोमदेव ने राजा और राज्य की त्याग मयता के कारण ही उसे पूज्य समझकर अपने नीतिवाक्यामृतके प्रारम्भमें राज्यको ही नमस्कार किया है। उनका पहिला सूत्र है—'अथ धर्मार्थकामफलाय राज्याय नमः।' शुक्राचार्यके नीतिशास्त्रमें[1] भी 'सन्धि, विग्रह आदि शाखा, साम, दान, आदि पुष्प तथा धर्म-अर्थ-काम रूप फल युक्त राज्य वृक्षको नमस्कार किया गया है। राजा कौन हो सकता है ? इसके उत्तरमें आ० सोमदेव कहते हैं धर्मात्मा कुल अभिजन और आचारसे शुद्ध, प्रतापी, नैतिक, न्यायी, निग्रह-अनुग्रहमें तटस्थ, आत्म सम्मान आत्म-गौरवसे व्याप्त, कोश बल सम्पन्न व्यक्ति राजा होता है[2]।'

राजनीति—

राजाकी नीति राजनीति कहलाती है, यह चार पुरुषार्थोंमेंसे अर्थ पुरुषार्थके अन्तर्गत है। इस नीतिका पूर्ण प्रकाश वही राजा कर पाता है जो कि समस्त राजविद्याओंमें निष्णात होता है। राज-विद्याओंकी संख्यामें प्राचीन कालसे विवाद चला आ रहा है जैसा कि "यतः दण्डके भयसे ही सब लोग अपने अपने कार्योंमें अवस्थित रहते हैं अतः दण्डनीति ही एक विद्या है' ऐसा शुक्राचार्यके शिष्योंका मत है। 'चूंकि वृत्ति-वार्ता और विनय ही लोक व्यवहारका कारण हैं, इसलिए वार्ता और दण्डनीति यही दो विद्याएं हैं' ऐसा बृहस्पतिके अनुयायी मानते हैं। 'यतः त्रयी ही वार्ता और दण्डनीतिका उपदेश देती है इस लिए त्रयी, वार्ता और दण्डनीति यही तीन राज-विद्याएं हैं' ऐसा मनुस्मृतिके भक्तोंका अभिप्राय है। 'यतः आन्वीक्षिकीके द्वारा जिसका विवेचन किया गया है ऐसी त्रयी ही वार्ता और दण्डनीतिपर अपना प्रभाव रख सकती है इसलिए आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति, ये चार ही राज-विद्याएं हैं, ऐसा कौटिल्यका मत है।" उद्धरणसे स्पष्ट है।

आचार्य सोमदेव[3]ने भी कौटिल्यके समान आन्वीक्षिकी आदिको ही राजविद्या माना है। जिसमें अध्यात्म विषयका निरूपण हो वह आन्वीक्षिकी, जिसमें पठन-पाठन, पूजन विधान, आदि का वर्णन हो वह त्रयी, जिसमें कृषि, पशु पालन, आदि व्यवसाओंका वर्णन हो वह वार्ता और जिसमें साधु संरक्षण तथा दुष्टोंके निग्रहका वर्णन हो वह दण्डनीति कहलाती है।

---

१ नमोऽस्तु राज्यवृक्षाय षाड्गुण्याय प्रशाखिने। सामादिचारु पुष्पाय त्रिवर्गफल दायिने॥ (शुक्रनीति)

२ 'धार्मिकः कुलाभिजनाचारविशुद्धः प्रतापवान्नयानुगतवृत्तिश्च स्वामी' 'कोपप्रसादयोः स्वतन्त्रः. 'आत्मातिशयं धनं वा यस्यास्ति स स्वामी।' स्वामि समुद्देश सूत्र १-३।

३ 'आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिरिति चतस्रो राजविद्याः ॥५६॥ 'आन्वीक्षिक्यध्यात्मविषये, त्रयी वेदयज्ञादिषु, वार्ता कृषिकर्मादिका, दण्डनीतिः साधुपालन दुष्टनिग्रहः ॥६॥ 'नीतिवाक्यामृत-विद्यावृद्धसमुद्देश।

फलतः राजनीतिके मूल सिद्धान्त अवस्थित हैं उनके प्रयोगकी पद्धतियोंमें ही सदा परिवर्तन होता रहता है। सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव ये राजाओंके छह गुण हैं, उत्साह मन्त्र और प्रभाव यह तीन शक्तियां हैं, साम, दान, भेद और दण्ड यह चार उपाय हैं। सहाय, साधनोपाय, देशविभाग, कालविभाग और विपत्तिप्रतीकार ये पांच अङ्ग हैं। राजनीतिके येही मुख्य सिद्धान्त हैं जो कि कर्मभूमिके प्रारम्भमें सम्राट् भरतके द्वारा निश्चित एवं आचरित किये गये थे और आज भी अनिवार्य हैं। हां, साधन एवं प्रयोग परिस्थितिके अनुसार पृथक् पृथक् हो सकते हैं। संस्कृत जैन साहित्य में राजनीतिका वर्णन, कहीं पिता या गुरुजनों द्वारा पुत्र अथवा शिष्यके लिए दिये गये सदुपदेशके रूपमें मिलता है, अन्यत्र किसी राजाकी राज्य व्यवस्था अथवा चरित्र चित्रणके रूपमें उपलब्ध होता है अथवा स्वतंत्र नीतिशास्त्रके रूपमें प्राप्त होता है।

उदाहरणके लिए आचार्य वीरनन्दीके महाकाव्य 'चन्द्रप्रभचरित' में राज्य सिंहासनपर आरूढ़ युवराजको उसके पिताके उपदेशको ही लीजिये।

'हे पुत्र! यदि तुम प्रभावक विभूतियोंकी इच्छा करते हो तो अपने हितैषियोंसे कभी उद्विग्न मत होना, क्यों कि जनानुराग ही विभूतियोंका प्रमुख कारण है। सम्पदाओंका समागम उसी राजाके होता है जो कि संकटोंसे रहित होता है और संकटोंका अभाव भी तभी संभव है जब कि अपना परिवार अपने आधीन हो। यह निश्चय है कि परिवारके अपने आधीन न रहनेपर भारी संकट आ पड़ते हैं। यदि तुम अपने परिवारको आधीन रखना चाहते हो तो पूर्ण कृतज्ञ बनो, क्योंकि कृतघ्न मनुष्य सब गुणोंसे भूषित होकर भी सब लोगोंको उद्विग्न ही करता है। तुम कलिकालके दोषोंसे मुक्त रह कर अर्थ और काम पुरुषार्थ की ऐसी वृद्धि करना जो धर्म की विरोधी न हो क्योंकि समान रूपसे त्रिवर्ग सेवन करनेवाला राजा ही दोनों लोकों को सिद्ध करता है। जो राज कर्मचारी प्रजाको कष्ट पहुंचाते हैं उनका तुम निग्रह करना, और जो प्रजाकी सेवा करते हैं उनको वृद्धि देना, क्योंकि ऐसा करनेसे बन्दीजन तेरी कीर्ति गावें गे (अर्थात् यशस्वी बनो गे) और क्रमशः वह दिग् दिगन्त तक फैल जायगी।' तुम अपने मन की वृत्तिको सदा गूढ़ रखना, और अपने उद्योगोंको भी इतना छिपाकर रखना कि फल के द्वारा ही उनका अनुमान किया जा सके। जो पुरुष अपनी योजना छिपा कर रखता है और दूसरेके मन्त्रका भेद पा जाता है उसका शत्रु कुछ नहीं कर सकते हैं। तुम तेजस्वी होकर समस्त दिशाओं में व्याप्त हो जाना, समस्त राजाओंमें प्रधानताको प्राप्त करना, तब सूर्यके किरण-कलापके समान तेरा कर-प्रपात भी समस्त भूमण्डल पर निर्बाध रूपसे होगा। अर्थात् समस्त भूमण्डल तेरा करदाता हो जाय गा[1]।

१—चन्द्रप्रभचरित सर्ग ५ श्लो ३६-४३।

राजदरबारमें शत्रुपक्षका दूत रोषपूर्ण बचनोंसे युवराजको उत्तेजित कर देता है। युवराज युद्धके लिए तयार हो जाते हैं। पुरोहित आदि उसे शान्त करनेका प्रयत्न करते हैं। युवराज उन सबको उत्तर देते हैं। इस प्रकार चन्द्रप्रभका बारहवां सर्ग किरात और माघके दूसरे सर्गको भी मात करता है। यथा—'नय और पराक्रममें नय ही बलवान् है, नय शून्य व्यक्तिका पराक्रम व्यर्थ है। बड़े बड़े मदोन्मत्त हाथियोंको विदारण करनेवाला सिंह भी तुच्छ शवरके द्वारा मारा जाता है।' जो नीतिमार्गको नहीं छोड़ता है यदि उसका कार्य सिद्ध नहीं होता है तो यह उसका दोष नहीं है अपितु उसके विपरीत दैवका ही प्रभाव है। आप विवेकियोंमें श्रेष्ठ हैं अतः विना विचारे शत्रुके साथ दण्डनीतिका प्रयोग मत कीजिये। यतः शत्रु अभिमानी है इसलिए साम-उपायसे हो शान्त हो सकता है। अपना प्रयोजन सिद्ध करनेके लिए शत्रुपर सबसे पहले सामका प्रयोग करते हैं उसके बाद भेद, आदि अन्य उपायोंका; दण्ड तो अन्तिम उपाय है। एक प्रिय वचन सैकड़ों दोषोंको दूर करनेमें समर्थ है, मेघ जलबिन्दुके कारण ही लोगोंको प्रिय हैं, वज्र आदिके द्वारा नहीं। दामसे धन हानि, दण्डसे बल हानि और भेदसे 'कपटी' होनेका अपयश होता है किन्तु सामसे बढ़कर सर्वथा कल्याणकारी दूसरा उपाय नहीं है[1]।

सोमदेवसूरि—

यशस्तिलक और नीतिवाक्यामृतके कर्ता बहुश्रुत विद्वान् आचार्य सोमदेवने चालुक्य वंशीय राजा अरिकेसरीके प्रथम पुत्र श्री वद्दिगराजकी गङ्गाधारा नगरीमें चैत्र सुदी १३ शक संवत् ८८१ को यशस्तिलक चम्पूको पूर्ण करके संस्कृत साहित्यका महान उपकार किया था। इन्होंने अपने नीतिवाक्यामृतमें राजनीतिके समस्त अङ्गोंका जो सरस और सरल विशद विवेचन किया है वह तात्कालिक तथा बादके समस्त राजनैतिक विद्वानोंके लिए आदर्श रहा है। काव्यग्रंथोंके कुशल टीकाकार मल्लिनाथसूरिने अपनी टीकाओंमें बड़े गौरवके साथ नीतिवाक्यामृतके सूत्र उद्धृत किये हैं। नीतिवाक्यामृतके अतिरिक्त यशस्तिलक-चम्पूके तृतीय आश्वासमें भी राजाओंके राजनैतिक जीवनको व्यवस्थित और अधिकसे अधिक सफल बनानेके लिए पर्याप्त देशना दी है।

अपने राज्यका समस्त भार मन्त्रियों आदिपर छोड़कर बैठनेसे ही राजा लोग असफल होते हैं। आचार्य कहते हैं कि राजाओंको प्रत्येक राजकीय कार्यका स्वयं अवलोकन करना चाहिये। क्यों कि जो राजा अपना कार्य स्वयं नहीं देखता है उसे निकटवर्ती लोग उल्टा-सीधा सुझा देते हैं। शत्रु भी उसे अच्छी तरह धोखा दे सकते हैं[1]। 'जो राजा मन्त्रियोंको राज्यका भार सौंपकर स्वेच्छा विहार करते हैं वे मूर्ख, बिल्लियोंके ऊपर दूध की रक्षाका भार सौप कर आनन्दसे सोते हैं। कदाचित् जलमें मछलियोंका और आकाशमें

---

१. चन्द्रप्रभचरित सर्ग १२, श्लो० ७२-८१।

१. नीतिवाक्यामृत. स्वामिसमुद्देश. सूत्र ३२-३४।

पक्षियोंका मार्ग जाना जा सकता है किन्तु हाथके आंवलेको लुप्त करनेवाले मन्त्रियोंकी प्रवृत्ति नहीं जानी जा सकती। जिस प्रकार वैद्य लोग धनाढ्य पुरुषोंके रोग बढ़ानेके लिए सदा तत्पर रहते हैं उसी प्रकार मन्त्री भी राजाओंकी आपत्तियां बढ़ानेमें सदा प्रयत्नशील रहते हैं। ग्रन्थकारने जहां मन्त्रियोंके प्रति राजाको जागरूक रहनेका उपदेश दिया है वहां मन्त्रियोंकी उपयोगिताका भी सुन्दर प्रतिपादन किया है। यतः मन्त्रियोंके विना केवल राजाके द्वारा ही राज्यका संचालन नहीं हो सकता अतः राजाको अनेक मन्त्री रखना चाहिये और सावधानीसे उनका भरण पोषण करना चाहिये[1]।" राज्यकी उन्नतिका द्वितीय साधन मन्त्रकी गोपनीयता है, इसके विना योग-क्षेम दोनों ही नहीं रहते। वही राजा नीतिज्ञ है जो अपने मन्त्रका अन्य राजाओंको पता नहीं लगने देता तथा चतुर चरोंके द्वारा उनका मन्त्र जानता रहता है। मन्त्र रक्षाके लिए राजाओंको अयुक्त व्यक्तिको मन्त्रशालामें नहीं आने देना चाहिये महाराज यशोधरको समझाते हुए कहते हैं—

'हे महीपाल! आप मन्त्रशालाका पूर्ण शोधन करें, रतिकालमें अयुक्त पुरुषकके सद्भावके समान मन्त्रशालामें अयोग्य एवं लघु पुरुषका सद्भाव वाञ्छनीय नहीं है। विष और शस्त्रके द्वारा एक ही प्राणी मारा जाता है। परन्तु मन्त्रका एक विस्फोट ही सबन्धु राष्ट्र और राजा सभीको नष्ट कर देता है।' कितने ही राजा दैवको न मानकर केवल पुरुषार्थवादी बन जाते हैं ऐसे लोगोंके लिए आचार्य सचेत करते हैं कि 'राजाको चाहिये कि वह क्रमशः दैव ग्रहोंकी अनुकूलता, धनादि वैभव और धार्मिक मर्यादाका विचार करके ही युद्ध आदिमें प्रवृत्त हो। जो पुरुष धर्मके प्रसादसे लक्ष्मी प्राप्त करके आगे धर्म धारण करनेमें आलस करता है इस संसारमें उससे बढ़कर कृतघ्न कौन हो गा? अथवा आगामी जन्ममें उससे बढ़कर दरिद्र कौन होगा? हाथीका शिकार करके केवल पाप कमानेवाले सिंहके समान धर्मकी उपेक्षा करके धन संचय करनेवाला राजा है, क्योंकि शृगालादिके समान धनादि परिजन खा पी जाते हैं। केवल दैवके भक्त बन कर पुरुषार्थ हीन राजाओंको भी सावधान करते हैं कि 'जो पौरुषको छोड़कर भाग्यके भरोसे बैठे रहते हैं उनके मस्तकपर कौए उसी तरह बैठते हैं जिस प्रकार मकानमें बने मिट्टीके सिंहों पर निस्तेज राजाके विरुद्ध क्या अपने, क्या दूसरे,—सभी जाल रचने लगते हैं। भला, ठण्ढी राख पर कौन पैर नहीं रखता[2]?' मन्त्र और मन्त्रीकी कितनी सुन्दर परिभाषा देते है?' जिसमें देश, काल, व्ययका उपाय, सहायक और फलका निश्चय किया जाता है वही मन्त्र है। शेष सब मुंहकी खाज मिटाना है। जिसका मन्त्र कार्यान्वित हो और फल स्वामीके अनुकूल ही वही मन्त्री है। अन्य सब गाल बजाने वाले हैं।' मंत्री कहां का हो? इसका उत्तर भी बड़ा उदार दिया है 'मन्त्री चाहे स्वदेशका हो, चाहे पर देशका राजाओंको अपने प्रारब्ध कार्योंके सफल निर्वाह पर ही दृष्टि रखनी चाहिये।' क्योंकि शरीरमें

---

१ यशस्तिलक चम्पू आ० ३ श्लो० २३-२६।

२. यशस्तिलक चम्पू आ० ३ श्लो० २७—५६

उत्पन्न व्याधि दुःख देती है और वनमें उगी औषधि सुख पहुंचाती है। पुरुषोंके गुण ही कार्यकारी हैं; निज और पर की चर्चा भोजनमें ही शोभा देती है।' राजाओंको पहिले तो मन्त्र द्वारा ही सफलता प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये 'जो मन्त्रयुद्धसे ही विजय प्राप्त कर सकते हैं उन्हें शस्त्रयुद्धसे क्या प्रयोजन ? जिसे मन्दार वृक्षपर ही मधु प्राप्त हो सकता है वह उत्तुङ्ग शैलपर क्यों चढ़ेगा ?' विजिगीषाकी भावनासे जो राजा स्वदेशरक्षाकी चिन्ता छोड़कर आगे बढ़ जाते हैं उन्हें किस सुन्दरतासे सावधान किया है 'जो राजा निजदेशकी रक्षा न कर परदेशको जीतनेकी इच्छा करता है वह उस पुरुषकी तरह उपहासका पात्र होता है जो धोती खोलकर मस्तकपर साफा बांधता है।' साम, आदिके असफल रहनेपर अन्तमें अगत्या दण्डका प्रयोग करना चाहिये। किन्तु दण्डका प्रयोग प्रत्येक समय सफल नहीं होता। उसका कब और किस प्रकार प्रयोग करना चाहिये आचार्य कहते हैं कि 'उदय, समता और हानि यह राजाओंके तीन काल हैं। इनमें से उदय कालमें ही युद्ध करना चाहिये, अन्य दो कालोंमें शान्त रहना चाहिये। यतः एकका अनेकोंके साथ युद्ध करना पैदल सैनिकका हाथीके साथ युद्ध करनेकी तरह व्यर्थ होता है[१] इसलिए बनके हाथीकी तरह भेद उपायके द्वारा शत्रुको दलसे तोड़कर वशमें करना चाहिये। जिसप्रकार कच्ची मिट्टीके दो बर्तन परस्पर टकरानेसे दोनों ही फूट जाते हैं उसी प्रकार समान शक्तिके धारक राजाके साथ स्वयं युद्ध न करके उसे हाथीकी तरह किसी अन्य राजाके साथ भिड़ा देना चाहिये।' इसी प्रकार हीन शक्तिके धारक राजाके साथ भी स्वयं नहीं लड़ना चाहिये बल्कि उसे अन्य बलवानोंके साथ लड़ाकर क्षीणकर देना चाहिये अथवा किसी नीति द्वारा उसे अपना दास बना लेना चाहिये[२]। कितने ही राजा विना विचारे भरती करके अपनी सैनिक संख्या बढ़ा लेते हैं। परन्तु अवसर पर उनकी वह सेना काम नहीं आती इस लिए आचार्य कहते हैं कि 'पुष्ट, शूरवीर, अस्त्रकलाके जानकार और स्वामि-भक्त श्रेष्ठ क्षत्रियोंकी थोड़ीसी सेना भी कल्याण कारिणी होती है। व्यर्थ ही मुण्ड मण्डली एकत्रित करनेसे क्या लाभ है?' इस प्रकार युद्धकी व्यवस्था करके भी ग्रन्थकारका हृदय युद्धनीतिको पसंद नहीं करता। तथा वे कह ही उठते हैं—'एक शरीर है और हाथ दो ही हैं; शत्रु पद पदपर भरे पड़े हैं। कांटे जैसा क्षुद्र शत्रु भी दुखः पहुंचाता है। फिर तलवार द्वारा कितने शत्रु जीते जा सकते हैं?' जो कार्य साम, दान और भेदके द्वारा सिद्ध न हो सके उसीके लिए दण्डका प्रयोग करना चाहिए।' 'सामके द्वारा सिद्ध्य होने योग्य कार्य में शस्त्रका कौन प्रयोग करे गा? जहां गुड खिलानेसे मृत्यु हो सकती है वहां विष कौन देगा? नय रूपी जाल डालकर शत्रु रूपी मत्स्योंको फंसाना चाहिये जो भुजाओं द्वारा युद्ध रूपी क्षुभित समुद्रको तरना चाहेगा उसके घर कुशलता कैसे हो सकती है? फूलोंके द्वारा भी युद्ध नहीं करना चाहिये फिर तीक्ष्ण वाणों द्वारा युद्ध करनेकी तो बात ही क्या है? हम नहीं जानते युद्ध दशाको प्राप्त हुए पुरुषोंकी क्या दशा होगी[३]?

१. नीतिवा० युद्ध स० ६९।

२. यश. चम्पू आ. ३ श्लो० ६८-८३ तथा नीतिवाक्यामृत, युद्ध समुद्देश. सूत्र. ६८।

३. यश० च० आ० ३, श्लो० ८४-९२।

स्थिर शान्ति रखनेके लिए राजाओंको उदार बनना चाहिये—अपनी संपदाका उचित भाग दूसरोंके लिए भी देना चाहिये। जो राजा संचय शीलताके कारण आश्रितजनोंमें अपनी सम्पदा नहीं बांटते उनका अन्तरंग सेवक वर्ग भी घूसखोर हो जाता है और इस प्रकार प्रजामें धीरे धीरे अनीति पनपने लगती है। अतः जो नरेन्द्र अपनी लक्ष्मीका संविभाग नहीं करता है वह मधुगोलककी तरह सर्वनाशको प्राप्त होता है[1]। यहां दान उपायके समर्थनके आगे, भेदनीतिका भी सुन्दर प्रतिपादन है। 'जो राजा शत्रुओंमें भेद डाले विना ही पराक्रम दिखाता है वह ऊंचे वांसोंके समूहमेंसे किसी एक बांसको खींचने वाले बलीके समान है[2]।'

कितने ही नीतिकार 'राजाओंको अपना शारीरिक बल सुदृढ़ रखना चाहिये के समर्थक हैं और दूसरे राजाओंके बौद्धिक बलको प्रधानता देते हैं। परन्तु आ० सोमदेव दोनोंका समन्वय करते हुए कहते हैं कि 'शक्तिहीन राजाका बौद्धिक बल किस काम का ? और बौद्धिक बलहीन राजाकी शक्ति किस काम की ? क्योंकि दावानलके ज्ञाता पंगु पुरुषके समान ही सबल अन्धा-पुरुष भी दावानलका ज्ञान न होनेसे अपनी रक्षा नहीं कर सकता। यह आवश्यक नहीं है कि शत्रुओंको अपने वशमें करनेके लिए उनके देशपर आक्रमण करे। जिस प्रकार कुम्भकार अपने घर बैठकर चक्र चलाता हुआ अनेक प्रकारके बरतनोंको बना लेता है उसी प्रकार राजा भी अपने घर बैठकर चक्र (नीति एवं सैन्य) चलाये और उसके द्वारा दिग-दिगन्तके राजारूपी भाजनोंको सिद्ध (वशमें) करे। जिस प्रकार किसान अपने खेतके बीच मञ्च पर बैठ कर ही खेतकी रक्षा करता है उसी प्रकार राजाको भी अपने आसन पर आरूढ़ होकर समस्त पृथ्वीका पालन करना चाहिये।

'जिस प्रकार माली कटीले वृक्षोंको उद्यानके बाहर वाड़के रूपमें लगता है, एक जगह उत्पन्न हुए पौधोंको जुदी जुदी जगह लगाता है, एक स्थानसे उखाड़ कर अन्यत्र लगाता है, फूले वृक्षोंके फूल चुनता है, छोटे पौधोंको बढ़ाता है, ऊंचे जानेवालोंको नीचेकी ओर झुकाता है, अधिक जगह रोकनेवाले पौधोंको छांट कर हलका करता है और ज्यादा ऊंचे वृक्षोंको काटकर गिराता है उसी प्रकार राजाको भी तीक्ष्ण प्रकृति वाले राजाओंको राज्यकी सीमा पर रखना चाहिये, मिले हुए राजाओंके गुटको फोड़कर जुदा जुदा कर देना चाहिये, एक स्थानसे च्युत हुए राजाओंको अन्य स्थानका शासक बनाना चाहिये, सम्पन्न राजाओंसे टैक्स वसूल करना चाहिये, छोटोंको बढ़ाना चाहिये, अभिमानियोंको नम्र करना चाहिये बड़ोंको हलका करना चाहिये--उनकी राज्य सीमा बांट देना चाहिये और उद्दण्डोंका

---

१ य० च० आ० ३. श्लो० ९३ तथा नी० वा० धर्मसमुद्देश सूत्र १५।

२ यशस्तिलक चम्पू आ० ३ श्लो० ९४।

दमन करना चाहिये। इस प्रकार राजाको चतुर मालीकी तरह समस्त पृथ्वीका पालन करना चाहिये। जिस प्रकार किसी वृक्ष पर पड़े हुए पीपलके छोटेसे बीजसे बड़ा वृक्ष तैयार हो जाता है उसीप्रकार छोटेसे छोटे शत्रुसे भी बड़ा भय उपस्थित हो सकता है इसलिए कौन बुद्धिमान् छोटेसे भी भयकी उपेक्षा करेगा[1]।'

ये सब वे मार्मिक उपदेश हैं जिनसे राजाओंका जीवन लोक कल्याणकारी बन जाता है। राजाका जीवन केवल भोग विलासके लिए नहीं है, बल्कि दुष्टोंका निग्रह और सज्जनोंका अनुग्रह करके जगतीकी सुन्दर व्यवस्था करनेके लिए है। यद्यपि अन्य पुरुषोंकी तरह राजाके भी दो हाथ, दो पैर और दो आंखें होती हैं, उसे भी अन्य पुरुषोंकी तरह ही खाना, पीना, सोना आदि नित्यकर्म करने पड़ते हैं तथापि वह अपनी सेवावृत्ति, अलौकिक प्रतिभा और योग्य लोगोंके निर्वाचन तथा सहयोगसे समूचे राष्ट्रको शान्त, समृद्ध और शिक्षित करता है। अपनी राजधानीमें बैठा राजा गुप्तचरोंके द्वारा स्व-परराष्ट्रकी समस्त हलचलोंसे परिचित रहता है। गुप्तचर विहीन राजाका न राज्य ही स्थिर रहता है और न प्राण। यही कारण है कि नीतिकारोंने गुचतरोंको राजाओंके लोचन बतलाये हैं और राजाओंको सावधान भी किया है कि वे चरोंकी उपेक्षा न करें अन्यथा चक्षुकी उपेक्षा होनेपर जिस प्रकार पद पदपर पतन होने लगता है उसी प्रकार चरोंकी उपेक्षा होनेपर भी पद पदपर पतन होना संभव हो जाता है। आचार्य सोमदेवने यही भाव नीतिवाक्यामृतमें स्पष्ट किया है[1]।

आ० सोमदेवके मतसे दूत वही हो सकता है 'जो चतुर हो, शूरवीर हो, निर्लोभ हो, प्राज्ञ हो, गम्भीर हो, प्रतिभाशाली हो, विद्वान् हो, प्रशस्त वचन बोलनेवाला हो, सहिष्णु हो, द्विज हो, प्रिय हो और जिसका आचार निर्दोष हो।' यशस्तिलकके इस कथकका नीतवाक्यामृतमें भी समर्थन है।[2]

पूर्ण राजतंत्रका संचालन अर्थ द्वारा होता है इसलिए राजाओंको चाहिये कि वे प्रत्येक वैध उपायके द्वारा अपनी आयकी वृद्धि करें तथा जितनी आय हो उससे कम खर्च करें, आवश्यक आकस्मिक अवसरोंके लिए संचय भी करते रहें, जैसा कि नीतिवाक्यमृतके सूत्रसे स्पष्ट है। राजाओंकी आय और व्यय व्यवस्थाका मुनियोंको कमण्डलुका निदर्शन है[3]।' जिस प्रकार कमण्डलुमें पानी भरनेका द्वार तो बड़ा होता है और निकालनेका छोटा, उसी प्रकार राजाओंकी आयका द्वार बड़ा होना चाहिये और खर्च कम। 'जो राजा अपनी आयका विचार न करके अधिक खर्च करता है वह राज्य स्थिर नहीं रख सकता[4]। इसी प्रकरणमें कहा गया है कि 'आयका विचार न करके खर्च करनेवाला कुवेर भी नंगा हो जाता है।'

---

१ यशस्तिलकचम्पू आ. ३ श्लो० ९५, ९७, १००, १०७-८।

२ यशस्तिलक चम्पू, आ० ३ श्लोक १११। नीति वाक्य. चारसमु.,सू० २।

३ 'आयव्ययमुखयोर्मुनिकमण्डलु दर्शनम्'। नीति. चार० सू० ३।

४ 'आयमनालोक्य व्ययमानो वैश्रवणोऽपि श्रमणायते' नीति. अमात्यसमुद्देश।

आगे चलकर मन्त्री कैसा होना चाहिये ? किस समय कैसा भोजन करना चाहिये ? और कैसे मनुष्योंकी संगति करनी चाहिये? आदि समस्त विषयोंका सुन्दर निरूपण है।

महापुराणके व्यालीसवें पर्वमें भगवज्जिनसेनाचार्यने महराज भरतकी राज्य व्यवस्थाका वर्णन करते हुए राजनीतिका विशद विवेचन किया है। गद्यचिन्तामणि कादम्बरीके जोड़का गद्य काव्य है। आचार्य आर्यनन्दीने विद्याध्ययनके अनन्तर जीवन्धरकुमारके लिए जो दीक्षान्त देशना दी है वह कादम्बरीके शुकनासोपदेशका स्मरण दिलाती है। कोमलकान्त पदावली और भव्य भावभङ्गीके द्वारा काव्य जगत्में युगान्तर करनेवाले महाकवि हरिचन्द्रने भी अपने धर्मशर्माभ्युदयमें यत्र तत्र और खासकर अठाहरवें सर्गमें राजनीतिका सरस और सुन्दर निरूपण किया है। अठारहवें सर्गके पन्द्रहवें श्लोकसे तेतालीसवें श्लोक तकका भाग विशेष रूपसे राजनीतिके विद्यार्थियोंको आकर्षित करता है। इस संक्षिप्त विवेचनसे 'जैन कवियोंने धर्म और मोक्षका ही वर्णन किया है' यह आक्षेप निर्मूल हो जाता है।
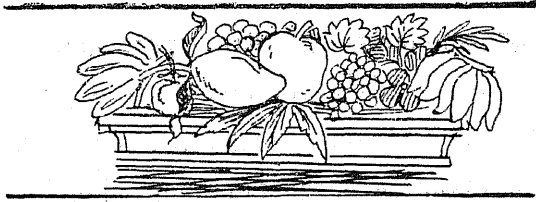
सागारधर्मामृत और योगशास्त्र

श्री पं० हीरालाल शास्त्री, न्यायतीर्थ।

बारहवीं तेरहवीं शतीमें रचे गये जैन वाङ्मयकी ओर विद्वानोंका सबसे अधिक ध्यान जिन आचार्योंने खींचा है, उनमेंसे श्वेताम्बर परम्परामें आचार्य हेमचन्द्र और दिगम्बर परम्परामें पंडित-प्रवर आशाधरका नाम चिरस्मरणीय रहे गा। जिस प्रकार कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्रने जैन वाङ्मयके प्रायः सभी विषयोंपर अपनी कुशल लेखनी चलायी है, उसी प्रकार आचार्यकल्प महापंडित आशाधरने भी धर्म, न्याय, साहित्य, वैद्यक आदि अनेकों विषयोंपर स्वतंत्र रचनाएं की हैं, जो दि० परम्परामें अपना एक विशिष्ट स्थान रखती हैं। आचार्य हेमचन्द्र तथा पं० आशाधरने अपने सामने उपस्थित समस्त जैन आगमका मंथन कर और उसमें अपनी विशिष्ट प्रतिभारूप मिश्री, तर्कणारूप एला और अनुभवरूप केशरका सम्मिश्रण करके जिज्ञासुओंके नेत्र, रसना और हृदयको आल्हादित करने वाला बौद्धिक श्रीखण्ड उपस्थित किया है।

यदि आचार्य हेमचन्द्रने योगशास्त्र ग्रन्थमें ध्यान आदिका वर्णन करते हुए श्रावक और मुनियोंके धर्मोंका भी वर्णन किया है तो पं० आशाधरने भी धर्मामृत नामके ग्रन्थके दो भाग करके पूर्वार्धमें मुनिधर्मका वर्णन किया, जो आज स्वतंत्र 'अनगारधर्मामृत, नामसे प्रकाशित है। और उसी ग्रन्थके उत्तरार्धमें श्रावक धर्मका वर्णन किया है, जिसका नाम सागारधर्मामृत है।

पं० आशाधरजीसे पूर्व दि० आचार्योंने जितने भी श्रावक धर्मके वर्णन करनेवाले ग्रन्थ रचे हैं उन सबका दोहन कर एवं अनेकों नवीन विशेषताओंसे अलंकृत तथा स्वोपज्ञ टीकासे परिष्कृत करके पं० आशाधरजीने ऐसे अनुपम रूपमें सागरधर्मामृतको दि० सम्प्रदायके धर्मानुरागी श्रावकोंके लिए प्रस्तुत किया है कि वह आज तक उनका पथ प्रदर्शन करता है। प्रकृत ग्रन्थका परिशीलन करनेसे जहां एक ओर उनकी अगाध विद्वत्ता और अनुभव मूलक लेखनीपर श्रद्धा होती है, वहीं दूसरी ओर उनकी असाम्प्रदायिकता और सद्गुण-ग्राहकता भी कम आश्चर्य जनक नहीं है, प्रत्युत वर्तमानके कलुषित साम्प्रदायिक वातावरणसे परे महान् एवं अनुकरणीय आदर्श समाजके सामने उपस्थित करती है। जैसा कि पं० आशाधरजीके सागारधर्मामृत तथा आचार्य हेमचन्द्रके योगशास्त्र-वर्णित श्रावकधर्म प्रकरणमें दृष्टिगोचर यथेष्ट आदान प्रदानसे सिद्ध होता है, यह बात निम्न तुलनात्मक उद्धरणोंसे भली भांति स्पष्ट हो जाती है।

पं० आशाधरजीके सागारधर्मामृतकी टीका वि० सं० १२९६ में पूर्ण हुई जब कि आचार्य हेमचन्द्र वि० सं० १२२९ में स्वर्गवासी हो चुके थे। इस प्रकार पं० आशाधरजीका आ० हेमचन्द्रसे पीछे होना निर्विवाद सिद्ध है। अतः उनपर आचार्यका प्रभाव स्पष्ट है जैसा कि आचार्य हेमचन्द्रके समान दुरूह मूल-ग्रन्थोंके स्पष्टीकरणार्थ पं० आशाधरजीके अपने अनगारधर्मामृत और सागारधर्मामृतपर स्वोपज्ञ टीकाएं लिखनेसे सिद्ध है। यहां दोनों ग्रन्थोंके तुलनात्मक अध्ययनके आधारपर सागरधर्मामृतके कुछ ऐसे स्थलोंके उद्‌गमका स्पष्टीकरण किया जाता है जो मूल जैन परम्परासे मेल नहीं खाते।

वनमालाका शपथ दिलाना—सागारधर्मामृतके चौथे अध्याय श्लोक २४ में रात्रिभोजन-त्याग व्रतकी महत्ता बतलाते हुए लिखा है 'रामचन्द्रको कहीं ठहराकर पुनः यदि तुम्हारे पास न आऊं तो मैं हिंसा आदि पापोंका दोषी होऊं' इस प्रकार अन्य शपथोंको करनेपर भी वनमालाने लक्ष्मणसे 'रात्रि भोजनके पापका भागी होऊं' इस एक शपथको ही कराया।' टीकामें लिखा है कि रामायणमें ऐसा सुना जाता है। किन्तु दिगम्बर परम्परामें रामका चरित वर्णन करने वाले दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—एक तो रविषेणाचार्य रचित पद्मचरित और दूसरा गुणभद्राचार्य रचित उत्तरपुराण। उत्तरपुराणका कथानक अति संक्षिप्त है और उसमें वनमालाके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं कहा गया है पद्मचरितमें वनमालाका वर्णन है। वनमालाको छोड़कर जब लक्ष्मण रामके साथ जाने लगे, तब वह बहुत विकल हुई, उसके चित्त-समाधानके लिए लक्ष्मणने कुछ शपथ भी किये—मगर वहां रात्रिभोजनके पापसे लिप्त होनेवाले किसी शपथका वर्णन नहीं है जैसा कि पद्मचरितके पर्व ३८ में आये ३५–४३ वें श्लोकों से स्पष्ट है। प्राकृत 'पउमचरिउ' भी रामके चरित्रको वर्णन करता है और ऐतिहासिक विद्वान् इसे रविषेणाचार्यके 'पद्मचरित' से भी पुराना मानते हैं। यद्यपि अभी तक यह निर्णित नहीं है कि यह ग्रंथ दि० परम्पराका है, अथवा श्वे० परम्पराका। तथापि श्वे० संस्थासे मुद्रित एवं प्रकाशित होनेके कारण सर्वसाधारण इसे श्वेताम्बर ग्रन्थसा ही सोचते हैं। प्रकृतमें हमें उसके दि० या० श्वे० होनेसे कोई प्रयोजन नहीं है। इस ग्रंथमें वनमालाकी चर्चा उसी प्रकार विशद रूपसे की गयी है, जिस प्रकार कि संस्कृत पद्मचरितमें। पर यहां पर भी रात्रिभोजनकी शपथका कोई उल्लेख नहीं हैं जैसा कि पर्व्व ३८ गाथा १६-२० के सिद्ध हैं।

इसके विपरीत आचार्य हेमचन्द्ररचित त्रिषष्ठिशलाका-पुरुष चरितके सातवें पर्वमें वनमालाका वर्णन है और वहां उसके द्वारा लक्ष्मणसे रात्रिभोजनके पापसे लिप्त होनेवाली शपथका भी उल्लेख है। "आंखोंमें आंसू भरकर वनमाला बोली—"प्राणेश, उस समय आपने मेरे प्राणोंकी रक्षा किस लिए की थी ? यदि उस समय मैं मर जाती तो मेरी वह सुखमृत्यु होती; क्योंकि मुझे आपके विरहका यह असह्य दुःख न सहना पड़ता।" लक्ष्मणने उत्तर दिया—'हे वरवर्णिनी, मैं अपने ज्येष्ठ बन्धुको इच्छित स्थान पर पहुंचाकर तत्काल ही तेरे पास आऊंगा।'

क्योंकि तेरा निवास मेरे हृदयमें है। हे मानिनी? पुनः यहां आनेकी प्रतीतिके लिए यदि तुझको मुझसे कोई घोर प्रतिज्ञा कराना हो, तो वह भी मैं करनेको तयार हूं।" फिर वनमालाकी इच्छासे लक्ष्मणने शपथ ली कि "यदि मैं पुनः लौटकार यहां न आऊं, तो मुझको रात्रि-भोजनका पाप लगे[1]।"

इसप्रकार यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि पं० आशाधरजीके सामने हेमचन्द्रका त्रि० श० पु० चरित था और उसीके आधार पर उन्होंने वनमालाकी रात्रि भोजन वाली शपथका उल्लेख किया है। या यह भी संभव हो सकता है कि रामके चरितका प्रतिपादक अन्य कोई संस्कृत या प्राकृत ग्रन्थ उनके सामने रहा हो और उसके आधारपर पंडितजीने उक्त उल्लेख किया हो। फिर भी पंडितजी की रचना शैलीको देखते हुए तो ऐसा लगता है कि दि० परंपराका और कोई उक्त घटनाका पोषक ग्रन्थ उनके सामने नहीं था, जिसकी पुष्टि उक्त श्लोककी टीकाके 'किल रामायणे एवं श्रूयते' इस पदसे भी होती है। अन्यथा वे उस ग्रन्थका नाम अवश्य देते, क्योंकि प्रकृत ग्रन्थमें अन्यत्र दूसरे ग्रन्थों और ग्रन्थकारोंके नामोंका उल्लेख उन्होंने स्वयं किया है—तथा योगशास्त्रके "श्रुयते ह्यन्यशपथान-नादृत्यैव लक्ष्मणः। निशाभोजनशपथं कारितो वनमालया।" श्लोकसे भी इसी बातकी पुष्टि होती है।

भोजनका प्रेतके द्वारा जूठा किया जाना—दोनों ग्रन्थों[1] के श्लोकोंमें रात्रिभोजनको प्रेत-पिशाचादिके द्वारा उच्छिष्ट किये जानेका उल्लेख है, वह भी दि० परंपराके विरुद्ध है। दि० शास्त्रोंमें कहीं भी ऐसी किसी घटनाका उल्लेख नहीं देखनेमें आया जिससे कि उक्त बातकी पुष्टि हो सके। इसके विपरीत श्वे० ग्रन्थोंमें ऐसी कई घटनाओंका उल्लेख है जिनमें प्रेत आदिसे भोजनका उच्छिष्ट किया जाना, देवोंका मानुषीके साथ संभोग करना आदि सिद्ध होता है। यहां यह शंका की जा सकती है कि संभव है प्रेत-पिशाच आदिसे पं० आशाधरजीका अभिप्राय व्यन्तरादि देवोंसे न हो कर किसी मांस भक्षी मनुष्यादिसे हो; सो भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इसी श्लोककी टीकामें पं० जी स्वयं लिखते हैं "तथा प्रेताद्युच्छिष्ट-मपि प्रेता अधम व्यन्तरा आदयो येषां पिशाचराक्षसादीनां तैरुच्छिष्टं स्पर्शादिना अभोज्यतां नीतं" (अ० ४ श्लोक २५ की टीका)। उक्त उद्धरणसे मेरी बातकी और भी पुष्टि होती है साथ ही इस बात पर भी प्रकाश पड़ता है कि श्वे० शास्त्रोंमें वर्णित व्यंतरादि देवोंका मनुष्योंके भोजनको खाना, मानुषी स्त्रीके साथ संभोग करना आदि पं० आशाधरजीको भी इष्ट नहीं था, उन्हें यह बात दि० परम्परासे विरुद्ध प्रतीत हुई, अतएव उन्होंने उच्छिष्ट' का अर्थ 'मुंहसे खाया' न करके 'स्पर्श आदिके द्वारा अभोज्य किया गया' किया है।

---

१. रामायण पृ० २३६,—अनुवादक-कृष्णलाल वर्मा।

१. योग० ३—४८। सागारध० ४-२५।

अतिचारोंका वर्णन—योगशास्त्रके तीसरे अध्यायमें श्लोक नं० ९० से ११९ तक श्रावकके व्रतोंके अतिचारोंका वर्णन है। स्वोपज्ञ टीकामें परंपरासे चले आनेवाले अतिचारोंका खूब स्पष्ट विवेचन किया गया है जो उस समय तकके रचित श्वे० ग्रन्थोंमें देखनेको नहीं मिलता। इस प्रकरणके श्लोकोंकी टीका सागारधर्मामृतमें यथास्थान वर्णित १२ व्रतोंके अतिचारोंके व्याख्यानमें ज्योंकी त्यों उठाकर रख दी गयी प्रतीत होती है, अन्यथा दोनों टीकाओंमें शब्दशः समता न दिखायी देती। दि० परम्पराके श्रावकाचार सम्बन्धी ग्रन्थोंमें पं० आशाधरजीके पूर्व किसी भी आचार्यने अतिचारोंकी व्याख्या उस प्रकारसे नहीं की, जिसप्रकारसे कि पं० जीने सागारधर्मामृतमें की है। यही कारण है कि इस अदृष्ट और अश्रुत-पूर्व अतिचारोंकी व्याख्यासे दि० विद्वान् जहां एक ओर उन्हें आचार्य कल्प कहनेमें गौरवका अनुभव करते आ रहे हैं, वहीं दूसरी ओर शुद्ध आचरण पर दृष्टि रखनेवाले कुछ दि० विद्वान् उनके ब्रह्मचर्याणुव्रत संबंधी अतिचारोंकी व्याख्यासे चौंकते हैं और उनके इस प्रसिद्ध और अनुपम ग्रन्थका वहिष्कार भी करते चले आरहे हैं।

खरकर्मोंका उल्लेख—भोगोपभोगपरिमाण व्रतके व्याख्यानमें आ० हेमचन्द्रने श्वे० आगमोंमें प्रसिद्ध १५ खरकर्मों का योगशास्त्रके तीसरे अध्यायमें श्लोक नं० ९९ से ११४ तक वर्णन किया है। पं० आशाधरजीने सागार० अ० ५ श्लो० २० में भोगोपभोगव्रतके अतिचारोंकी व्याख्या करनेके बाद एक शंका-समाधान लिखकर उसके आगे ही १५ खरकर्मोंका का वर्णन तीन श्लोकोंमें करके तीसरे द्वारा उनकी निरर्थकता भी बतलानेका उपक्रम किया है। शंका-समाधान विषयक अंश इसप्रकार है—"अत्राह सितम्बराचार्यः—भोगोपभोगसाधनं यद्द्रव्यं तदुपार्जनाय यत्कर्म व्यापारस्तदपि भोगोपभोग शब्देनोच्यते कारणे कार्योपचारात् ततः कोट्टपालनादि खरकर्मापि त्याज्यम्। तत्र खरकर्मत्यागलक्षणे भोगोपभोगव्रते अंगारजीविकादीन् पंचदशातिचारांस्त्यजेदिति। तदचारु, लोके सावद्य कर्मणां परिगणनस्य कर्तुमशक्यत्वात्। अथोच्यते अतिमन्दमति प्रतिपत्त्यर्थं तदुच्यते तर्हि तान् प्रतीदमप्यस्तु। मन्दमतीन् प्रति पुनस्त्रसबहुघात विषयार्थत्यागोपदेशेनैव तत्परिहारस्य प्रदर्शितत्वादिति।"

अर्थात्-शंका-यहां कोई श्वेताम्बर आचार्य कहता है कि भोग और उपभोगके साधनभूत द्रव्यके उपार्जनके लिए जो कर्म या व्यापार किया जाता है वह भी कारणमें कार्यके उपचारसे 'भोगोपभोग' इस शब्दसे कहा जाता है। इसलिए कोतवाली करना आदि खरकर्म (क्रूरकार्य) भी छोड़े अतः उन खरकर्मोंका त्याग कराने वाले भोगोपभोग व्रतमें अंगारजीविका आदि १५ अतिचारोंको छोड़ना चाहिए। समाधान—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि लोकमें प्रचलित सावद्य (पाप) कार्योंकी गणना करना अशक्य है। यदि कहो कि अत्यन्त मन्दबुद्धि शिष्योंको समझानेके लिए अंगार-जीविकादि खरकर्मोंको कहते हैं, तो उनके लिए भले ही आप कहिये। किन्तु उनसे जो कुछ अधिक जानकार मन्दमति

हैं, उनके लिए तो त्रसघात, एकेन्द्रिय बहुघात, प्रमाद, अनिष्ट और अनुपसेव्य पदार्थोंके त्यागके उपदेश द्वारा उक्त खरकर्मोंका परिहार बतलाया ही जा चुका है।

'अत्राह सिताम्बराचार्यः' इस वाक्यसे किसी प्रसिद्ध श्वे० आचार्यके किसी महत्त्वपूर्ण या प्रसिद्धि-प्राप्त ग्रन्थका उनके सामने होना निश्चित है। उपर्युक्त प्रमाणों और उद्धरणोंके प्रकाशमें यह बात भी निश्चित सिद्ध होती है कि वह ग्रन्थ आ० हेमचन्द्रका प्रसिद्ध योगशास्त्र ही था। और उसीसे ये स्थल लिये गये हैं। पंडिताचार्यकी उदारता तथा जिनवच प्रीति आजके साहित्यिक सम्प्रदायवादियोंके लिए प्रकाश स्तम्भ है।
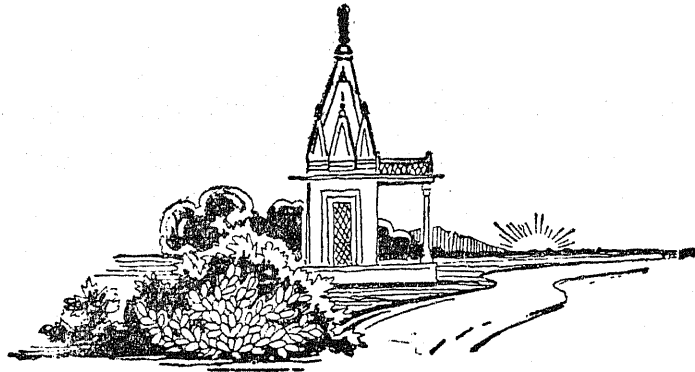
सम्यक्त्वकौमुदीके कर्त्ता

श्री प्रा० राजकुमार जैन, साहित्याचार्य, आदि

'सम्यक्त्वकौमुदी'[1] 'पञ्चतन्त्र' की शैलीमें लिखी गयी बहुत ही महत्त्वपूर्ण, रोचक तथा स्वलपकाय रचना है। कलाकारने अपनी इस लघुकाय रचनामें भी सम्यक्त्वको अङ्कुरित करनेवाली उन आठ प्रधान कथाओंका समावेश किया है, जिन्हें पढ़कर कोई भी सहृदय पाठक प्रभावित हुए विना नहीं रह सकता। इन्हें गढ़नेमें कलाकारने अपनी निसर्ग निपुणता और प्रसन्न प्रतिभाका पूरा उपयोग किया है और यही कारण है जो आज भी ये कथाएं पाठकोंके मनोभावोंको सम्यक्त्वके प्रति उद्दीत करनेमें समर्थ हैं। यहां हम इस रचनाके कुशल कलाकारके सम्बन्धमें ही प्रकाश डालना चाहते हैं, जो इस महत्त्व-पूर्ण कला-कृतिका सृजन करके अपने परिचय-दानमें एकदम मौन रहा है। मानो एक महान् दानीने सर्वस्व लुटाकर भी विज्ञापनसे बचनेके लिए अपनेको सब तरह छिपा लिया है।

मदनपराजय और सम्यक्त्वकौमुदी का तुलनात्मक अध्ययन करने पर मैं इस परिणाम पर पहुंचा कि इन दोनों रचनाओंका लेखक एक ही व्यक्ति नागदेव होना चाहिए। मेरे निष्कर्षके आधार निम्न हैं। (१) दोनों रचनाओंमें पाया जानेवाला शैली-साम्य, (२) भाषा-साम्य, (३) उद्धृत पद्य-साम्य, (४) अन्तर्कथा साम्य और, (५) प्रकरण साम्य।

शैली साम्य—जहां तक मदनपराजय और सम्यक्त्वकौमुदी की शैलीका सम्बन्ध है, दोनों ही रचनाएं पञ्चतन्त्रसे मिलती-जुलती आख्यानात्मक शैलीमें लिखी गयी हैं। यह अवश्य है कि सम्यक्त्व-कौमुदी रूपकात्मक रचना न होनेसे उसमें मदन-पराजय जैसे रूपकोंका आत्यन्तिक अभाव है, परन्तु जिस प्रकार मदन-पराजय में पात्रोंकी उक्तियोंको समर्थ और प्रभावपूर्ण बनानेके लिए ग्रन्थान्तरोंके पद्योंको उद्धृत किया गया है और मूल कथाकी धाराको सशक्त तथा रोचक बनानेके लिए अन्य अन्तर्कथाओंकी संघटना की गयी है। उसी प्रकार सम्यक्त्वकौमुदी में भी उद्धृत पद्यों और अन्तर्कथाओंका यथेष्ट संग्रन्थन दिखलायी देता है।

भाषा-साम्य—सम्यक्त्वकौमुदी और मदनपराजय में न केवल शैलीकी समानता है वरन्

---

१ जैन ग्रन्थ कार्यालय हीराबाग बम्बईका संस्करण।

भाषा भी दोनोंकी करीब करीब एक सी ही है। जिस प्रकारकी सरल तथा सुबोध भाषाका मदनपराजय में प्रयोग हुआ है, सम्यक्त्वकौमुदी में भी भाषाकी सरलता और सुबोधता आपाततः स्पष्ट दिखलायी देती है। प्रायः सर्वत्र छोटे-छोटे वाक्योंका प्रयोग हुआ है। और बन्धकी प्रौढ़ि भी मदनपराजय की कोटिकी है। भाषा और शब्द-साम्यके लिए दोनों रचनाओंके निम्नाङ्कित स्थल विचारणीय हैं—

(क) "सतत (तं) प्रवृत्तोत्सवा (वं) प्रभूतवर जिनालया (यं) जिनधर्माचारोत्सवसहितश्रावका (कं) घनहरिततरुखण्डमण्डिता (तं)।[1]"

(ख) "सर्वैः सभासदैर्वेष्टितो (स च श्रेणिको)ऽमरराजवद्राजते[2]।"

(ग) "अथ तेषामागमनमात्रेण तद्वनं सुशोभितं जातम्। तद्यथा—

"शुष्काशोककदम्बचूतवकुलाः..."आदि १८ तथा १९ श्लोक[3]।"

पद्य-साम्य—मदनपराजयमें जिस प्रकार ग्रन्थान्तरोंके पद्य उद्धृत करके रचनाको पुष्ट, प्रभावपूर्ण और अलङ्कृत किया गया है, सम्यक्त्वकौमुदीमें भी ठीक यही पद्धति अपनायी गयी है इतना ही नहीं कुछ पद्योंको छोड़ कर दोनों ग्रन्थोंके उद्धृत पद्य प्रायः समान ही हैं। उदाहरणके लिए कतिपय पद्य निम्न प्रकार हैं—

(१) "निद्रामुद्रितलोचनो मृगपतिर्यावद्गुहां सेवते
तावत् स्वैरममी चरन्तु हरिणाः स्वच्छन्दसंचारिणः।
उन्निद्रस्यविधूतकेसरसटाभारस्य निर्गच्छतो
नादे श्रोत्रपथं गते हतधियां सन्त्येव दीर्घा दिशः॥१२॥" (म०प०पृ०४-६)

यही पद्य सम्यक्त्वकौमुदी पृष्ठ ८ पर 'शून्यादिशः' पाठान्तरके साथ पाया जाता है।

(२) "दुराग्रहग्रहग्रस्ते विद्वान् पुंसि करोति किम्।
कृष्णपाषाणखण्डेषु मार्दवाय न तोयदः॥" (मदन-पराजय पृष्ठ १६)

सम्यक्त्वकौमुदी पृ० १३ में यही पद्य 'कृष्णपाषाणखण्डस्य' पाठान्तरके साथ पाया जाता है।

(३) "वशीकृतेन्द्रियग्रामः कृतज्ञो विनयान्वितः।
निष्कषाय प्रसन्नात्मा सम्यग्दृष्टिर्महाशुचिः॥(म० प० पृ० १३)

यही पद्य सम्यक्त्वकौमुदी पृ० ६५ में 'निष्कषाय प्रशान्तात्मा' पाठान्तरके साथ मिलता है। इस प्रकार दशकों उदाहरण दिये जा सकते हैं।

---

१ मदनपराजय पृ० ८ पं०, २१-२, सम्यक्त्व कौमुदी पृ० १, पं० ७-९।

२ मदनप० पृ० ३, पं० १-२ सम्यक्त्वकौ० पृ० १, पं० १२।

३ मदनप० पृ० ११-२, प० २५-२८ तथा १-६। सम्यक्त्वकौ० पृ० ५६, पं० ७-८।

अन्तर्कथा-साम्य—मदनपराजय में कतिपय अन्तर्कथाओंका समावेश कर के मूलकथाकी धारा विविध मुख सरस स्रोतोंमें प्रवाहित की गयी है और इस प्रकार एक अपूर्व रसकी सृष्टि हुई है, सम्यक्त्वकौमुदी में भी रस परिपाककी यह पद्धति अपनायी गयी दिखती है। इस प्रसङ्गमें सम्यक्त्व-कौमुदीकारने अपनी रचनामें यमदण्ड कोतवालके द्वारा राजाको सुनायी गयी सात अन्तर्कथाओंका निवेश तो किया ही है, कुछ अन्य अन्तर्कथा सूचक पद्य भी उद्धृत किये हैं जिनकी अन्तर्कथाओंका विस्तृत विवरण मदनपराजय गत अन्तर्कथाओंकी तरह ही छोड़ दिया गया है। इस प्रकारके पद्य निम्न प्रकार हैं—

(१) **'पराभवो न कर्तव्यो यादृशे तादृशे जने। तेन टिट्टिभमात्रेण समुद्रो व्याकुलीकृतः॥**

यह पद्य पञ्चतन्त्र मित्रभेदके[१] "शत्रोर्विक्रममज्ञात्वा...इत्यादि' (३३७ सं०) पद्यका परिवर्तित रूप है, जिसमें टिट्टिभ जैसे क्षुद्र जन्तु द्वारा समुद्र जैसे महामहिम व्यक्तित्वशालीकी पराभव-कथा चित्रित की गयी है[२]। परन्तु सम्यकत्वकौमुदीके कर्त्ता ने अपनी इस रचनामें उल्लिखित पद्यसे सम्बन्धित कथावस्तुका तनिक भी विववरण न देकर उक्त परिवर्तित पद्यको ही उद्धृत कर दिया है। एक दूसरे पद्यमें भी इस प्रकारकी कथा वस्तु प्रतिबिम्बित हो रही है। जिसमें एक राजकुमारीके प्रसाद से भिक्षुकी मन कामनाकी पूर्ति नहीं होती है। प्रत्युत बाघके निमित्तसे वह मौतका शिकार बन जाता है। सम्यक्त्वकौमुदी के कर्त्ताने प्रस्तुत पद्यसे सम्बन्धित कथा-वस्तुका भी कोई विस्तृत विवरण नहीं दिया है। "अव्यापारेषु व्यापारं..इत्यादि (पृष्ट ७०) श्लोक 'पञ्चतन्त्र मित्रभेद' का है, जिसमें निष्प्रयोजन कील उखाड़ने वाले बन्दरकी कथा अन्तर्हित है। पर सम्यक्त्वकौमुदीकारने इस कथाका भी कोई पल्लवित रूप नहीं दिया है। मदनपराजयके कर्त्ताने भी अपनी रचनाओंमें प्रस्तुत पद्यका समावेश किया है, परन्तु उन्होंने भी इस पद्यसे सम्बन्धित कथा रूपका कोई स्पष्ट विवरण नहीं दिया है। इसके साथ ही मदनपराजय (पृ० ७८) में इस पद्यका स्वरूप भी निम्नप्रकार परिवर्तित उपलब्ध होता है।

"अव्यापारेषु व्यापारं यो नरः कर्तुमिच्छति।
स एव निधनं याति यथा राजा ककुद्रुमः॥"

इस प्रकारके अनेक पद्य सुलभ हैं। तथा यह ध्यान देनेकी बात है कि "वरं बुद्धिर्ना सा-विद्या,..." ऐसे पद्य मदनपराजयमें भी पाये जाते हैं और सम्यकक्त्वकौमुदी तथा मदनपराजयके पाठोंमें कोई भेद नहीं है। इस प्रकार इन पद्योंसे सम्बन्धित कथाएं और उन्हें अपनी-अपनी रचनाओंमें निवेश करनेके प्रकार संकेत करते हैं कि मदनपराजय और सम्यक्त्वकौमुदी के कर्त्ता एक ही हैं।

---

१ पञ्चतन्त्र, मित्र भेद, बारहवीं कथा।

२ "अन्यथा चिन्तित..आदि" श्लोक० पृ० ३२।

प्रकरण-साम्य—मदनपराजय और सम्यक्त्वकौमुदी में पायी जानेवाली उल्लिखित समानताओंके बावजूद भी एक ऐसी समानता पायी जाती है, जिसे हम 'प्रकरण-साम्य' कह सकते हैं, अर्थात् जिस प्रकार मदनपराजय में कथा-वस्तुको पल्लवित तथा परिवर्धित करनेके लिए और पात्रोक्तियोंको पुष्ट तथा समर्थ बनानेके लिए हठात् नये-नये प्रकरणों और प्रसङ्गों की योजना की गयी है, ठीक यही पद्धति सम्यक्त्व-कौमुदी में भी प्रायः सर्वत्र बिखरी हुई दिखलायी देती है। ऐसे कतिपय स्थल निम्न प्रकार हैं—

(क) 'मदन-पराजय' (पृ. २१-२२) का अर्थप्रकरण, जिसमें शिल्पकारने नौ पद्यों द्वारा अर्थकी उपयोगिता बतलायी है। उसका वैसा ही चित्रण सम्यक्त्वकौमुदी (पृ. ९०–९१) में भी आठवीं विद्युल्लताकी कथामें समुद्रदत्तकी चिन्ता द्वारा ग्रथित किया गया है।

(ख) मदन-पराजय (पृ. १४–१५) का स्त्री-निन्दा प्रकरण जिसमें दस पद्यों द्वारा जी खोलकर स्त्री-निन्दाका काण्ड उपस्थित किया गया है। सम्यक्त्वकौमुदी कारने भी अपनी रचनामें इस काण्डको दो बार उपस्थित किया है। एक बार पहली कथामें उस समय, जब सुभद्रको अपनी वृद्धा माताकी कुशील प्रवृत्तिका पता चला है (पृ. २३–२४) और दूसरे तब; जब कि कोई धूर्त अशोकके सामने कमलश्री के काण्ड (पृ. ९४-९५) को उपस्थित करता है।

(ग) मदनपराजय (पृ. ११-२) का वह प्रकरण, जिसमें राजगृहमें सुभद्राचार्यके संघ सहित आनेसे नगरका उद्यान एकदम हरा-भरा हो जाता है। एक साथ छहों ऋतुओंके फल-फूलोंसे समृद्ध हो उठता है। उसे भी सम्यक्त्वकौमुदी के कर्त्ताने विष्णुकी कथाके प्रसङ्गसे समाधिगुप्त मुनिराजके आने पर कौशाम्बीके उद्यान वर्णनमें सजीव चित्रित किया है। इतना ही नहीं, इस अवसर पर मदनपराजय-कारने जिन पद्योंको उल्लेख किया है, सम्यक्त्वकौमुदी कारने यत्किञ्चित् परिवर्तनके साथ ही उन्हीं पद्यों को अपनी रचनाका अङ्ग बना लिया है। इस प्रकारके साम्य पग पगपर सुलभ हैं।

भाषा, शैली, भाव और पद्य-साम्यके भी अन्य स्थल दोनों रचनाओंमें पाये जाते हैं। ये समस्त प्रमाण इसी बातको पुष्ट करते हैं कि सम्यक्त्वकौमुदी और मदनपराजय के रचयिता एक ही हैं और वह हैं—नागदेव। क्योंकि मदनपराजय की प्रस्तावनामें इस बातका स्पष्ट उल्लेख है कि इसकी रचना नागदेव ने की है।

नागदेवका परिचय—

नागदेवने 'मदन-पराजय' की प्रस्तावनामें स्वयं ही अपना और अपनी वंश-परंपराका परिचय "पृथ्वी पर पवित्र रघुकुल रूपी कमलको विकसित करनेके लिए सूर्यके समान चङ्गदेव हुए। चङ्गदेव, कल्प वृक्षके समान समस्त याचकोंके मनोरथ पूर्ण करते थे। इनका पुत्र हरिदेव हुआ। हरिदेव दुष्ट कवि रूपी हाथियोंके लिए सिंहके समान भयंकर था। इनका पुत्र नागदेव हुआ, जिसकी भूलोकमें महान् वैद्यराजके

रूपमें प्रसिद्धि रही। नागदेवके हेम और राम नामके दो पुत्र हुए। ये दोनों, भाई भी अच्छे वैद्य थे रामके प्रियङ्कर नामका एक पुत्र हुआ, जो याचकोंके लिए बड़ा ही प्रिय लगता था। प्रियङ्करके भी श्री मल्लुगित् नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। श्रीमल्लुगित् जिनेन्द्र भगवानके चरण कमलोंका उन्मत्त भ्रमरके समान अनुरागी था और चिकित्साशास्त्र-समुद्रमें पारंगत था। श्री मल्लुगित्का पुत्र मैं नागदेव हुआ। मैं (नागदेव) अल्पज्ञ हूं तथा छन्द, अलङ्कार, काव्य और व्याकरण शास्त्रमें से मुझे किसी भी विषयका बोध नहीं है। हरिदेवने जिस कथा (मदन पराजय) को प्राकृत में लिखा था, भव्य जीवोंके धार्मिक विकासकी दृष्टिसे मैं उसे संस्कृत में निबद्ध कर रहा हूं।" लिखकर दिया है। इस प्रस्तावनासे[१] स्पष्ट है कि श्रीमल्लुगित्के पुत्र नागदेवने ही मदनपराजयको संस्कृत भाषामें निबद्ध किया है और यह वही कथा है जिसे नागदेवसे पूर्व छठीं पीढ़ीके हरिदेवने प्राकृतमें ग्रथित किया था।

नागदेवका समय—मदनपराजयकी प्रशस्तिसे नागदेव और उनकी वंश-परंपराका ही उक्त परिचय मात्र मिलता है। मदनपराजयके कर्त्ता ने इस धरा-धामको कब अलंकृत किया, इस बातका कोई उल्लेख न तो मदनपराजयकी प्रस्तावना या अन्तिम प्रशस्तिमें स्वयं नागदवने ही दिया और न किसी अन्य ग्रन्थकारने ही इनके नाम, समय, आदिका कोई स्पष्ट सूचन किया है। ऐसी स्थितिमें नागदेवके यथार्थ समयका पता लगाना कठिन है, फिर भी अन्य स्रोतोंसे नागदेवके समय तक पहुंचना शक्य है। वे स्रोत निम्न प्रकार हैं—

(१) नागदेवने मदनपराजय और सम्यक्त्वकौमुदी में जिन ग्रन्थकारोंकी रचनाओंका उपयोग किया है, उनमें सर्वाधिक परवर्त्ती पंडितप्रवर आशाधर हैं। और पंडित आशाधरने अपनी अन्तिम रचना (अनगारधर्मामृत टीका) वि० सं० १३०० में समाप्त की है। अतः यदि इसी अवधिको उनका अन्तिम काल मान लिया जाय तो नागदेव वि० सं० १३०० के पूर्वके नहीं ठहर सकते।

(२) श्री ए. बेवरको १४३३ ई० की लिखी हुई सम्यक्त्वकौमुदीकी एक पाण्डुलिपि [हस्तलिखित प्रति] प्राप्त हुई[२] थी। यदि इस प्रतिको नागदेवके २७ वें वर्ष में भी लिखित मान लिया जाय तो भी उनका आविर्भाव काल विक्रमकी चौदहवीं शतीके पूर्वार्द्धसे आगेका नहीं बैठता। नागदेवके समयका यह एक संकेतमात्र है। पुष्ट निर्णय भविष्यमें संचित सामग्रीके आधार पर हो सकेगा।

१ – 'मदन-पराजय' की प्रस्तावना श्लोक १-५।

२ – 'ए हिस्ट्री आफ़ इण्डियन कलचर' (द्वितीय भाग), पृ० सं० ५४१की टिप्पणी

स्वामी समन्तभद्रका समय और इतिहास

श्री ज्योतिप्रसाद जैन एम० ए०, एलएल० बी०

स्वामीकी महत्ता—

भगवान महावीरके पश्चाद्वर्ती समस्त जैनाचार्योंमें समन्तभद्रस्वामीका आसन अनेक दृष्टियोंसे सर्वोच्च है। उनके परवर्ती अनेक दिगम्बर-श्वेताम्बर, जैन-अजैन प्रख्यात एवं प्रमाणिक विद्वानोंने उनकी अद्वितीय प्रतिभा, गंभीर-सूक्ष्मप्रज्ञता, प्रभावक कवित्व-शक्ति, अनुपम तार्किकता वाग्मिता उनके द्वारा किये गये अनेकान्तात्मक जिनेन्द्रके शासनके सर्वतोमुखी उत्कर्षकी मुक्तकंठसे प्रशंसा की है। वे साहित्य के मर्मज्ञ तथा उनके कार्य कलापोंसे सुपरिचित एवं प्रभावित दिग्गज, श्रेष्ठ आचार्यों द्वारा 'भद्रमूर्ति, एक मात्र भद्र प्रयोजनके धारक, कवीन्द्र भास्वान, वादियों वाग्मियों कवियों एवं गमकोमें सर्वश्रेष्ठ, महान एवं आद्य स्तुतिकार, स्याद्वाद मार्गाग्रणी, स्याद्वाद विद्याके गुरु तथा अधिपति, साक्षात स्याद्वाद शरीर, वादिमुख्य, कलिकाल गणधर, भगवान महावीरके तीर्थकी सहस्रगुणी वृद्धि करनेवाले, जिन-शासन प्रणेता, एवं साक्षात् भारतभूषण ऐसे विशेषणोंसे सम्बोधित किये गये हैं[1]।

प्रो० रामास्वामी आयंगरके शब्दोंमें, 'यह स्पष्ट है कि वह (स्वामी समन्तभद्र) जैन धर्मके एक महान प्रचारक थे। जिन्होंने जैन सिद्धान्तों और आचार विचारोंके दूर दूर तक प्रसार करनेका सतत प्रयत्न किया, और जहां कहीं भी वह गये अन्य सम्प्रदायवाले उनका तनिक भी विरोध न कर सके।' अपने इस कार्यमें 'वे सदैव महाभाग्यशाली रहे[2]।' श्रवणबेलगोल शिलालेख १०५ के अनुसार 'उनके व्याख्यान सर्वार्थ प्रतिपादक स्याद्वाद विद्याके अनुपम प्रकाशसे त्रिभुवनको प्रकाशित करते हैं। और उनकी आप्तमीमांसा स्याद्वाद सिद्धान्तकी सर्वाधिक प्रमाणिक व्याख्या है। मि० एडवर्ड पी० राइसने लिखा है कि 'वह समस्त भारतवर्षमें जैनधर्मके अत्यन्त प्रतिभाशाली वादी और महान प्रचारक थे—और उन्होंने स्याद्वाद रूप जैन सिद्धान्तको परम प्रभावक दृढ़ताके साथ ऊंचा उठाये रक्खा[3]।" बम्बई गजेटियरके

१. 'स्वामी समन्तभद्र'--गुणादि परिचय प्रकरण।

२ सा. इण्डि. ज. पृ० २९-३१।

३ ई. पी. राइसकृत कनारी साहित्यका इतिहास।

विद्वान सम्पादकके शब्दोंमें—"दक्षिण भारतमें समन्तभद्रका उदय न केवल दिगम्बर परम्पराके इतिहासमें वरन् संस्कृत साहित्यके इतिहासमें भी एक महान युग प्रवर्तनका सूचक है[1]।" प्रसिद्ध विद्वान मुनि जिन-विजयजीके कथनानुसार—"ये जैनधर्मके महान प्रभावक और समर्थ संरक्षक महात्मा हैं, इन्होंने महावीरके सूक्ष्म सिद्धान्तोंका उत्तम स्थितीकरण किया, और भविष्यमें होनेवाले प्रतिपक्षियोंके कर्कश तर्क प्रहारसे जैन दर्शनको अक्षुण्ण रखनेके लिए अमोघ शक्तिशाली प्रमाण शास्त्रका सुदृढ़ संकलन किया[2]।"

वस्तुतः, स्वामी समन्तभद्र जैन वाङ्मय-क्षितिजके पूर्ण भासमान अंशुमाली हैं, किसी भी अन्य विद्वानसे उनकी तुलना करना सूर्यको दीपक सम कहना है। भारतीय संस्कृति, दर्शन और साहित्य को उनकी देन निराली एवं महत्वपूर्ण हैं।

ऐसे महान आचार्य होते हुए भी वे इतने अहंभाव शून्य थे कि उनकी स्वयंकी कृतियोंसे उनके संबंधका प्रायः कुछ भी इतिवृत्त प्राप्त नहीं होता। उनका समय भी अभी तक एक प्रकारसे अनिर्णीत समझा जाता है। पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार भी बहुत ऊहापोह करनेके पश्चात् इसी निष्कर्ष पर पहुंच सके हैं, कि "समन्तभद्रके यथार्थ समय के सम्बन्धमें कोई जंची तुली एक बात नहीं कही जा सकती। फिर भी इतना तो सुनिश्चित है कि समन्तभद्र विक्रम की पांचवीं शतीसे पीछे अथवा ईस्वी सन् ४५० के बाद नहीं हुए, और न वे विक्रमकी पहली शतीके ही विद्वान मालूम होते हैं—वे पहली से पांचवीं शतीके अन्तरालमें किसी समय हुए हैं। स्थूल रूपसे विचार करने पर हमें समन्तभद्र विक्रम की प्रायः दूसरी या तीसरी शतीके विद्वान मालूम होते हैं। परन्तु निश्चय पूर्वक अभी यह नहीं कहा जा सकता[3]।"

प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलाल संघवी ने भी प्रायः इसी मतका समर्थन इन शब्दोंमें किया है—"यदि हमारा अनुमान ठीक है तो ये दोनों ग्रन्थकार (स्वामी समन्तभद्र और सिद्धसेन दिवाकर) विक्रमकी छठी शतीसे पूर्व ही हुए हैं। और आचार्य पूज्यपाद द्वारा किये गये इन दोनों स्तुतिकारोंके उल्लेखों की वास्तविकताको देखते हुए यह नितान्त संभव प्रतीत होता है कि ये दोनों ग्रन्थकार पूज्यपादके पूर्व-वर्ती थे और इन दोनोंकी रचनाओंका पूज्यपादकी कृतियोंपर अत्यधिक प्रभाव पड़ा था[4]। किन्तु, बाद में उन्होंने समन्तभद्र संबंधी अपने इस मतमें यकायक परिवर्तन कर दिया जैसा कि 'अकलङ्कग्रन्थ-त्रय' के प्राक्कथनमें आये—"अनेक विध ऊहापोहके बाद मुझको अब अति स्पष्ट हो गया है कि वे (समन्तभद्र) 'पूज्यपाद देवनन्दी' के पूर्व तो हुए ही नहीं। पूज्यपादके द्वारा स्तुत आप्तके समर्थन

---

१ बो. गजेटियर भा. १, भ. २ पृ० ४०६।

२ 'सिद्धसेन दिवाकर और स्वामी समन्तभद्र' जैन साहित्य संशोधक, भा० १, अंक १, पृ० ६।

३ स्वामी समन्तभद्र पृ० १९६।

४ सन्मतितर्क की अंग्रेजी भूमिका पृ० ६३।

में ही उन्होंने आप्तमीमांसा लिखी है....अधिक संभव तो यह है कि समन्तभद्र और अकलङ्कके बीच साक्षात विद्याका संबंध हो। दिगम्बर परम्परामें स्वामी समन्तभद्रके बाद तुरन्त ही अकलंक आये" से स्पष्ट है। और ये अकलंकको, हरिभद्र याकिनी (७००-७७० ई०) के समकालीन मानते[1] हैं। उपर्युक्त कथनकी पुष्टि करते हुए न्याय कुमुदचन्द्र भाग २ के प्राक्कथनमें लिखा है—"जब यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि समन्तभद्र पूज्यपादके बाद कभी हुए हैं। और यह तो सिद्ध ही है कि समन्तभद्र की कृतिके ऊपर सर्व प्रथम व्याख्या अकलंककी है, तब इतना मानना हो गा कि अगर समन्तभद्र और अकलंकमें साक्षात् गुरु-शिष्य भाव न भी रहा हो तब भी उनके बीचमें समयका कोई विशेष अन्तर नहीं हो सकता। इस दृष्टिसे समन्तभद्रका अस्तित्व विक्रमकी सातवीं शतीका अमुक भाग हो सकता है।" आगे लेखक इस बातपर आश्चर्य प्रकट करते हैं कि यदि पूज्यपाद समन्तभद्रके उत्तरवर्ती होते तो यह कैसे हो सकता था कि वे "समन्तभद्रकी असाधारण कृतियोंका किसी अंशमें स्पर्श भी न करें।" संधवी जी के शब्दोंमें ही लेखक (पं० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य) ने मेरे संक्षिप्त लेखका विशद और सबल भाष्य करके यह अभ्रान्त रूपसे स्थिर किया है कि स्वामी समन्तभद्र पूज्यपादके उत्तरवर्ती हैं[2]।" इस प्रकार मुख्तार साहब द्वारा निर्णीत स्वामी समन्तभद्रके समय सम्बंधी प्रचलित मान्यता (ईसाकी दूसरी शती) के विरुद्ध एक नवीन मत सामने आता है।

इस मान्यताका मूलाधार यह बताया जाता है कि समन्तभद्रने अपने देवागम (आप्तमीमांसा) की रचना पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिके मङ्गल श्लोकपरसे की है, ऐसा विद्यानन्दके अष्टसहस्रीगत एक कथनसे प्रतीत होता है, अतः समन्तभद्र पूज्यपादके उत्तरवर्ती हैं। इस प्रश्नको लेकर 'मोक्षमार्गस्य नेतारं', 'तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण' आदि शीर्षकोंसे विद्वानोंके बीच कई लेखों द्वारा लम्बा शास्त्रार्थ चला था[3]। परिणाम यह हुआ कि नवीन मान्यता स्थिर न हो सकी क्योंकि आचार्य विद्यानन्दकी मान्यताको सन्देहकी दृष्टिसे देखा जाने लगा है और उसका आधार खोजा जाने लगा है। नवीन मान्यताके समर्थकोंको अनुभव हुआ कि विद्यानन्दके सामने उक्त मंगल श्लोकको उमास्वामिकृत माननेके लिए कोई स्पष्ट पूर्व-परम्परा नहीं थी, उन्होंने अकलंककी अष्टशतीके एक वाक्यसे अपनी भ्रान्तधारणा बना ली थी, उसके पूर्वा-पर सम्बन्धपर ठीक विचार नहीं किया था। इसीसे अष्टसहस्रीके उक्त वाक्यका सीधा अर्थ न करके उलटा अर्थ किया गया है। इस प्रकार नवीन मान्यताका मूलाधार ही नष्ट हो जानेसे अर्थात् 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' इत्यादि मङ्गल श्लोकके पूज्यपादकृत न होकर उमास्वामीकृत सिद्ध हो जानेसे स्वामी समन्तभद्रके पूज्यपादके पूर्ववर्ती रहते हुए भी उक्त श्लोकको लेकर अपने देवागमकी रचना करनेमें कोई बाधा नहीं आती।

---

१ अकलङ्क ग्रन्थत्रय प्राक्कथन, पृ० ८-९।

२ न्यायकुमुदचन्द्र, भा० २, प्राक्कथन, पृ० १७।

३ अनेकान्त वर्ष ५, जैन सिद्धान्त भास्कर १९४२।

नवीन मतका बीज बोते समय "समन्तभद्रकी कृतियोंपर सर्वप्रथम व्याख्या अकलंक ने की अतः वे अकलंक के नितान्त निकट पूर्ववर्ती होने ही चाहिये" युक्ति दी गयी थी। किन्तु इसी तर्कका सिद्धसेन दिवाकरपर प्रयोग कीजिये। दिवाकरजीके सर्वप्रथम व्याख्याकार सिद्धर्षि (न्यायावतारके) और अभयदेवसूरि (सन्मतितर्कके) हैं जिनका समय १०-११वीं शती ई० है, अतः दिवाकरजी भी १०-११वीं शतीके आस पासके विद्वान हो सकते हैं ऐसा मानना चाहिये। किन्तु डा० हर्मन जैकोबी तथा श्री वैद्य द्वारा कल्याणमन्दिरकी रचनाके अर्वाचीनत्व तथा सिद्धसेन दिवाकरकृत न होनेमें १४-१५वीं शतीके बादकी टीकाओंकी युक्ति दिये जानेपर उसका सदल-बल प्रतिवाद करते हुए कहा गया कि प्राचीन टीका उपलब्ध न होनेसे यह नहीं कहा जा सकता कि वह स्तोत्र भी प्राचीन नहीं है[1]! सिद्धसेन दिवाकरकी कृति माननेके लिये प्रचलित द्वात्रिंशंकाओंको १०वीं या ११ वीं शतीसे पूर्वका कोई प्रमाण और सन्मतितर्कके लिए सर्वप्रथम प्रमाण भी आठवीं शतीसे पूर्वका उपलब्ध नहीं है[2]। तथापि सिद्धसेन दिवाकरको पांचवीं या छठी शतीके बादका विद्वान् कदापि नहीं मानना चाहते हैं। फलतः स्वामीको पूज्यपादका उत्तरवर्ती बताना स्वयमेव निस्सार हो जाता है।

कुछ समयसे, प्राचीन व्यक्तियोंका समय निर्धारण करनेमें एक विशेष शैलीका प्रयोग बहुलता से होने लगा है, विशेषकर नैयायिकों द्वारा। इस शैलीमें विभिन्न व्यक्तियोंके नामसे प्रसिद्ध उपलब्ध कृतियोंका तुलनात्मक अन्तःपरीक्षण करके शब्द और विचार साम्यके आधारपर ज्ञात समय व्यक्ति के साथ विचारणीय व्यक्तिका यौगपद्य अथवा समकालीनता स्थापित करके उनको पूर्वापर विद्वान घोषित कर दिया जाता है। प्रधान ऐतिहासिक साधनों, पुरातत्त्वादि शिलालेखीय आधार, समकालीन अथवा निकटवर्ती साहित्यगत उल्लेख, तत्कालीन ऐतिहासिक अभिलेख, घटना चक्र, परिस्थितियां तथा उत्तरकालीन लिखित एवं मौखिक अनुश्रुति, आदिके वैज्ञानिक विश्लेषण और समन्वयके पश्चात जो तथ्य उपलब्ध हों उनकी पुष्टिमें इस नैयायिक शैलीका उपयोग भले ही किया जाय, किन्तु मात्र यही साधन उक्त सबका स्थान लेने या खंडन करनेमें सर्वथा अपर्याप्त एवं असमर्थ है। स्वामी समन्तभद्रके तथा उसी प्रकार कुन्दकुन्दादि अन्य आचार्योंके समयके सम्बंधमें बाधाएं उठाकर विवक्षित समयकी खींचातानीके जो प्रयत्न किये जाते हैं उन सबका आधार प्रायः यही नैयायिक शैली है।

स्वामी समन्तभद्रके समयकी पुष्ट सामग्री—

स्वामी समन्तभद्रके समय पर जो प्रमाण महत्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं, वे निम्न प्रकार हैं—

१—ईस्वी सन्के प्रथम सहस्रीमें वैदिक, जैन तथा बौद्ध तार्किक-दार्शनिक विद्वानोंने भारत भूमिका गौरव

---

१ सन्मतितर्क भूमिका पृ० ५२ पर टिप्पण।

२ ,, ,, पृ० ४२।

बढ़ाया है। परस्परके मन्तव्योंका जोर शोरके साथ खंडन मंडन किया है। इनमें सर्व प्रथम तार्किक जैन विद्वान स्वामी समन्तभद्र थे और उनकी प्रसिद्ध 'आप्तमीमांसा' पर अबतक की ज्ञात एवं उपलब्ध सर्व प्रथम व्याख्या अकलंकदेवकी 'अष्टशती' है। उससे पूर्व कोई अन्य टीका या व्याख्या समन्तभद्रके ग्रन्थों पर रची गयी या नहीं यह नहीं कहा जा सकता। अकलंकदेवका समय इसाकी ७ वीं ८वीं शती माना जाता है। ईस्वी सन्के प्रारंभसे अकलंकके समय तक वैदिक बौद्धादि अजैन नैयायिकोंमें सर्व प्रसिद्ध विद्वान, क्रमानुसार नागार्जुन, दिङ्नाग, भर्तृहरि, कुमारिल और धर्मकीर्ति हैं। आचार्य समन्तभद्रके ग्रन्थोंका इन विद्वानोंकी कृतियोंके साथ तुलनात्मक अन्तःपरीक्षण करने पर यह सुस्पष्ट हो जाता है कि किसका किसपर कितना प्रभाव पड़ा। न्यायकुमुदचन्द्र. भाग १ की प्रस्तावना, 'समन्तभद्र और दिङ्नागमें पूर्ववर्त्ती कौन[1] ? तथा 'नागार्जुन और समन्तभद्र' आदिसे यह निर्विवाद फलित हो जाता है कि प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल और बौद्ध तार्किक धर्मकीर्ति (६३५-६५० ई०) अकलंकके ज्येष्ठ समकालीन थे। अकलंकका समय ६२०–६८० ई० निर्णित होता है[2]। डा० ए० एन० उपाध्ये भी प्रायः उसीका समर्थन करते हैं[3]। कुमारिलने अपने ग्रन्थोंमें समन्तभद्रके अनेक मन्तव्योंका खंडन किया है। धर्मकीर्त्तिने भी समन्तभद्रके कितने ही मन्तव्योंको खंडन किया जिनका सबल प्रत्युत्तर अकलंकने अपने 'न्यायविनिश्चय' में दिया। 'शब्दाद्वैत' के प्रतिष्ठाता और 'स्फोटवाद' के पुरस्कर्त्ता भर्तृहरि ई० की छठी शतीके विद्वान हैं। धर्मकीर्ति, अकलंक और कुमारिल आदिने उनका जोरोंके साथ खंडन किया है। यदि समन्तभद्र भर्तृहरिके उत्तरवर्ती होते तो उनके इन क्रान्तिकारी वादोंका खंडन किये विना न रहते, किन्तु उनकी कृतियोंमें इनकी कुछ भी चर्चा नहीं मिलती। प्रसिद्ध बौद्धदर्शन शास्त्री दिङ्नागका समय ३४५–४२५ ई० माना जाता है[4]। ये पूज्यपाद (लगभग ४५०–५२५ ई०) के भी पूर्ववर्ती थे, पूज्यपादने दिङ्नागके कतिपय पद्योंका निर्देश भी किया है। दिङ्नागकी रचनाओंपर समन्तभद्रका गम्भीर एवं स्पष्ट प्रभाव है अतः वे दिग्नागके पूर्ववर्ती अर्थात् सन् ३४५ ई० से पूर्व के विद्वान ही ठहरते हैं। 'शून्यवाद'के पुरस्कर्त्ता बौद्ध विद्वान नागार्जुन (सन् १८१ ई०) दूसरी शती के विद्वान है[5]। इनके 'माध्यमिका' 'विग्रह-व्यावर्तनी' 'युक्तिषष्ठिका' आदि ग्रन्थोंकी समन्तभद्रकी तार्किक रचनाओंके साथ तुलना करनेसे यह स्पष्ट हो

---

१ अनेकान्त, व. ५, किं. १२, पृ०३८३. माणिकचन्द्र दि, जैन ग्रंथमाला बंबई द्वारा प्रकाशित। अनेकान्त व. ७, किं० १-२. पृ० १०.

२ न्याय. कुन्चं.-भा. २, प्रस्तावना पृ० २०५।

३ 'अनंत वीर्य के समय पर डा० पाठक मत' (ए. भ. ओ, रिं. इ. पूना)

४ तत्त्व संग्रहकी भूमिका पृ. ७३ ।

५ तत्त्वसंग्रह भूमिका पृ० ६८।

जाता है कि ये दोनों विद्वान् अवश्य ही समकालीन रहे, समन्तभद्रकी कृतियोंमें उनका साक्षात् प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

२. श्वेताम्बराचार्य मलयगिरिने स्वामी समन्तभद्रका 'आद्य स्तुतिकार' नामसे, हेमचंद्राचार्यने 'महान् स्तुतिकार' के रूपमें और हरिभद्रसूरि (७००–७७० ई०) ने 'वादिमुख्य' के नामसे ससम्मान उल्लेख किया है। श्वेताम्बर परम्परामें सर्वमान्य आद्य एवं महान् स्तुतिकार और वादिमुख्य सिद्धसेन-दिवाकर हैं। उपर्युक्त सभी विद्वान दिवाकर जीकी प्रतिभा और कार्य-कलापोंसे सुपरिचित थे, फिर भी उन्होंने एक दिगम्बराचार्यके लिए जो ये विशिष्ट विशेषण प्रयुक्त किये हैं इनसे ध्वनित होता है कि वे अखंड जैन परम्पराकी दृष्टिसे समन्तभद्रको ही 'आद्यस्तुतिकार' आदि के रूपमें मानते और जानते थे। हां, केवल श्वेताम्बर परम्परामें वह स्थान दिवाकरजी को ही प्राप्त था। इससे प्रतीत होता है कि सिद्धिसेन दिवाकर संबंधी दन्तकथाओं के प्रचलित और १३ वीं १४ वीं शती ई० में लिपि वद्ध होनेके पूर्व[1] प्राचीन श्वेताम्बर विद्वान् समन्तभद्रको सिद्धसेन दिवाकरका पूर्ववर्ती ही मानते थे। 'सन्मतितर्क' की विस्तृत भूमिकामें दोनों तार्किक स्तुतिकारोंकी कृतियों की तुलना की गयी है। उससे ज्ञात होता है कि भाषा, भाव और शैलीकी दृष्टिसे सिद्धसेन दिवाकरपर समन्तभद्राचार्यका भारी प्रभाव पड़ा है, दिवाकर जी की कृतियोंमें समन्तभद्र का यह त्रिविध अनुकरण अनेक स्थलों पर दृष्टिगोचर होता है। इतना ही नहीं समन्तभद्रके उत्तरवर्ती दिङ्नागका भी सिद्धसेनपर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा जिसका समाधान 'संभव है उन दोनों पर किसी तीसरे ही एक पूर्वाचार्य का प्रभाव पड़ा हो' कहकर किया गया है। डा० जैकोबी और श्री पी० एल० वैद्यकी तो यह दृढ़ धारणा है कि सिद्धसेनपर धर्मकीर्तिका भी स्पष्ट प्रभाव पड़ा है अतः वह उनके सर्व प्रथम उल्लेख कर्त्ता जिनदासगणि महत्तर (६७६ ई०) और धर्मकीर्ति (६३५–६५० ई०) के बीच किसी समय हुए हैं। सन्मतितर्ककी उपर्युक्त भूमिकामें उनका निश्चिंत समय; विक्रमकी ५ वीं शतीका आधार; लगभग एक हजार वर्ष पीछे प्रचलित आख्यायिकाओंकी साक्षी द्वारा सूचित उज्जैनीके विक्रमादित्यसे सम्बन्ध रहा है। यतः ये विक्रमादित्य विक्रम संवत्के प्रवर्तक आदि-विक्रम (सन् ५७ ई० पूर्व) तो हो ही नहीं सकते, गुप्तवंशी विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त द्वि० (३७६–४१४ ई०) या उनके पौत्र स्कंदगुप्त विक्रमादित्य (४५५–४६७ ई०), और संभवतया स्कंदगुप्त ही हो सकते हैं। डा० सतीशचन्द्र वि० भू० ने इसी आधार पर उन्हें मालवेके हूणारि विक्रमादित्य यशोधर्मदेव (५३० ई०) का समकालीन माना है[2]। बादमें इस मतका परिवर्तन कर दिया है और अब "सिद्धसेन ईसाकी छठी या सातवीं

---

१. प्रभावकचरित्र, प्रबंधकोश, आदि। वास्तव में सिद्धसेनदिवाकरके नामसे प्रचलित 'द्वात्रिशंकाओं 'सन्मतितर्क' और 'न्यायावतारके तुलनात्मक अन्तःपरीक्षणसे यह सुस्पष्ट हो जाता कि वे सभी कृतियां किसी एक व्यक्ति और काल की नहीं हो सकतीं। कमसे कम विभिन्न कालीन तीन व्यक्तियों की रचनाएं होंनी चाहिये।

२. न्यायावतार भूमिका पृ० ३।

सदीमें हुए हों और उन्होंने सम्भवतः धर्मकीर्त्तिके ग्रन्थोंको देखा हो[1]" माना है। ज्ञान और दर्शनोपयोग विषयक दिगम्बर मान्यता भी इसकी समर्थक है। कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, पूज्यपादादि के मतसे वह 'यौगपद्य वाद' है किन्तु श्वेताम्बर आगमोंमें 'क्रमवाद' की सूचना है, जो देवर्द्धिगणी द्वारा आगमोंके संकलन (४५३ ई०) के पश्चात् ही अस्तित्वमें आयी और भद्रबाहु (५५० ई०) द्वारा निर्युक्तियोंमें स्पष्ट की गयी तथा जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (५८८ ई०) द्वारा युगपत्-वादके खंडन तथा मंडनात्मक युक्तियों से पुष्ट हुई। इसी कारण जिनभद्रगणि ही उत्तरकालीन विद्वानों द्वारा उक्त 'क्रमवाद' के पुरस्कर्त्ता कहे गये हैं। सिद्धसेनदिवाकरने अपने 'सन्मतितर्क' में 'युगपत' तथा 'क्रम' दोनों पक्षोंका सबल खण्डन करके ज्ञान और दर्शन उपयोगोंका 'अभेद' ही स्थापित नहीं किया वरन मतिश्रुति तथा अवधि-मनःपर्यय का भी अभिन्नत्व सिद्ध किया, जिसका समन्तभद्र और पूज्यपादकी कृतियोंमें कोई जिक्र नहीं, किन्तु अकलंक आदि विद्वानोंने इस अभेदवादका जोरोंके साथ खंडन किया। इस सब विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सिद्धसेन समन्तभद्रके ही पर्याप्त उत्तरवर्ती नहीं थे। बल्कि दिङ्नाग और पूज्यपादके बहुत पीछे हुए और धर्मकीर्त्ति, अकलंक आदिके प्रायः समकालीन विद्वान थे। इतना सुनिश्चित है कि समन्तभद्रके समय को आगे खींच लानेका जो प्रयत्न किया जाता है वह निराधार एवं निरर्थक है। समन्तभद्रने युगपत्-वादका परम्परागत प्रतिपादन तो किया किन्तु श्वेताम्बरीय क्रमवादका उल्लेख तक नहीं किया, अतः उनका आगमोंके संकलन (४५० ई०) से पूर्व होना स्वयं सिद्ध है।

३. दिगम्बर विद्वानोंमें अकलंकदेव (६२०–६८० ई०) तो समन्तभद्रके ज्ञात सर्व प्रथम व्याख्याकार हैं ही, उनसे पूर्व देवनन्दि पूज्यपाद (४५०–५२० ई०) ने, जो अविनीत कोंगड़िके पुत्र दुर्विनीत गंग (४८२–५१५ ई०) के गुरु थे, समन्तभद्रका अपने जैनेन्द्र व्याकरणमें स्पष्ट नामोल्लेख किया[2] है। और जैसा कि 'सर्वार्थसिद्धिपर समन्तभद्रका प्रभाव[3]' लेखसे स्पष्ट है, पूज्यपादकी महानतम कृतिपर समन्तभद्रकी आप्तमीमांसा, युक्तत्यानुशासन, स्वयंभूस्तोत्र, तथा रत्नकरंडश्रावकाचार का स्पष्ट गम्भीर प्रभाव है। अतः वे निर्विवाद रूपसे पूज्यपादके पूर्ववर्ती थे।

४. समन्तभद्रकी प्राचीनतामें एक अन्य साधक कारण उनकी कृतियोंमें जैनमुनि संघकी प्राचीन वनवास[4] प्रथाका उल्लेख है जिसका विवेचन 'रत्नकरंडश्रावकाचारकी प्राचीनतापर अभिनव प्रकाश[5]'

---

१ न्याय कु० चं० भा० २, प्रस्तावना पृ० ३७, तथा 'ज्ञानबिन्दु' भूमिका पृ० ६० ।

२ 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य'–जैनेन्द्र सू० ५-४-१४० ।

३ अनेकान्त, व. ५ कि. १०-११, पृ. ३४५ ।

४ रत्नकरंडश्रा० श्लो. १४७ । पं. प्रेमीजीकृत जैनसाहित्य, और इतिहास, पृ. ३४७ ।

५ जैनसिद्धांत भास्कर, भाग १३ कि. २, पृ. ११९, (पं. दरबारीलाल न्यायाचार्यका लेख)

शीर्षक निबन्धमें और विशेषतः उक्त लेखके 'रत्नकरंडमें अपने समयकी एक ऐतिहासिक परम्पराका समुल्लेख' प्रकरणके अन्तर्गत किया गया है। स्वामीने चैत्यवास प्रथाका कहीं संकेत भी नहीं किया है। मर्करा ताम्रपत्र[१] (शक ३८८ = ४६६ई०) आधारपर दिगम्बर आम्नायमें चैत्यावासका प्रारम्भ पांचवी शती वि०से हुआ है। इस कथनकी पुष्टिपहाड़पुर[२] ताम्रपत्र (४७९ ई०) से भी होती है, बल्कि पहाड़पुर ताम्रपत्रसे तो यही सूचित होता है कि उसमें कथित जैन विहार लगभग ४०० ई० से स्थापित था। अतः कमसे कम उसी समयसे चैत्यवासका प्रारंभ समझना चाहिये। इसके अतिरिक्त समन्तभद्रके स्वयंभूस्तोत्र (पद्य १२८—आरिष्टनेमि०) में ऊर्जयन्त अथवा गिरनार पर्वतपर उस समय भी अनेक तपोधन मुनियोंके निवास करनेका आंखों देखा जैसा उल्लेख है, और उनके इस कथनकी पुष्टि अभयरुद्रसिंह प्रथम (१५०–१९७ ई०) के गिरिनगर की चन्द्रगुफावाले प्रसिद्ध लेखसे अच्छी तरह हो जाती है तथा धवलादि ग्रंथों एवं श्रुतावतारोंके प्रथम शती के अन्तमें गिरिनगर गुहा निवासी धरसेनाचार्य संबंधी कथानकसे भी उसका पूरा समर्थन होता है।

५. सन् १०७७ ई०के 'हुमच पंचवसति' शिलालेखमें जैनाचार्योंकी परम्परा देते हुए समन्तभद्राचार्यके सम्बन्धमें कहा है कि 'उनके वंश (परम्परा)में सिंहनन्दि आचार्य हुए जिन्होंने गंगराजका निर्माण किया[३]। इन सिंहनन्दि द्वारा गंगराज्यकी स्थापनाका समर्थन अनेक प्रमाणोंसे होता है, यथा—महाराज अविनीत (४३०–४८२ ई०)का 'कोदनजरुबु' दानपत्र[४], भूविक्रम श्रीवल्लभका 'बेदिरूर' दानपत्र[५] (६३४–३५ ई०), शिवमार प्रथम पृथ्वीकोंगुणी (६७०–७१३ ई०) का खंडित ताम्रपत्र[६], श्री पुरुष मुत्तरस (७२६–७७६ ई०) का अभिलेख[७], राजा हस्तिमल्लका उदयेन्दिरन[८] दानपत्र (९२० ई०), महाराज मारसिंह गुत्तियगंगके कुडलूर ताम्रपत्र (९६३ ई०)[९]। उपर्युक्त प्रमाणोंके अतिरिक्त प्रस्तुत घटनाका सर्वाधिक पूर्ण एवं प्रशंसनीय वृत्तान्त मैसूर प्रान्तस्थ शिमोगा और हुबलीके अन्तर्गत कल्लूरगुड्डाके सिद्धेश्वर मंदिरके निकट प्राप्त ११२२ ई० के शिलालेखसे उपलब्ध होता है। सन् ११२९ ई० तथा सन् ११८९ ई० के दो अन्य शिलालेखोंसे तथा गोमट्टसारकी एक प्राचीन टीकाके उल्लेखसे भी इसकी पुष्टि होती है। इस प्रकार इस घटना और तत्सम्बन्धी कथानककी ऐतिहासिकताको इतिहासज्ञ विद्वानोंने निर्विवाद रूपसे स्वीकार कर लिया है। हां, गंग-राज्य-स्थापना तथा उत्तरवर्ती गंग नरेशोंके समय संबंधमें मतभेद है और उक्त वंशकी कालानुक्रमणिका सुनिश्चित रूपसे अभी तक व्यवस्थित नहीं हो

१ सलेक्ट इन्सक्रुप्शन भा. १ सं. ४२ पृ० ३४६।

२ वही ४. सं० ७० पृ० १७७।

३ एपी ग्राफिका कर्णा० भा. ७, सं० ४६, पृ० १३९ तथा सं० ३५, पृ० १३८।

४ मै. आर्कै. रि. १९२४ पृ० ६८। ५ वही १९२५ पृ० ८५७। ६ वही पृ० ९१।

७ वही १९२१ पृ० २१, सा. इ. इन्स. भा. २, पृ० ३८७। ८ वही पृ० १९।

९ एपी. कर्णा. भा. ७. सै. ४; पृ, १६, इत्यादि।

पायी है। आ० सिंहनन्दिद्वारा गंगराज्य स्थापनाकी तिथि ३४० ई० और माधव प्रथमका समय ३४०-४०० ई०[१], २५० ई०[२] अथवा २५०-२८३ ई० तथा २३० ई०[३] अनुमान किये गये हैं। तामिल इतिहास 'कोंगुदेश राजकल्ल' में यह तिथि सन् १८८ ई० मानी है, और श्री बी० एल० राइसने भी १८८ ई० ही माना है और माधव प्र० का समय १८६-२४० ई० दिया है[४]। बादमें नागमंगल शिलालेखके आधार पर उन्होंने इस तिथिको शक २५ (सन् २६३ ई०) अनुमान किया था। दूसरे विद्वानोंने भी राइस साहबके प्रथम मतको ही स्वीकार किया है[५]।

आचार्य सिंहनन्दि द्वारा दक्षिण कर्णाटकमें गंगबत्तड़ि राज्यकी स्थापना ई० दूसरी शतीके अन्त (१८८-१८९ ई०) में हुई थी इसमें कोई सन्देह नहीं और समन्तभद्र सिंहनन्दिके पूर्ववर्ती थे यह शिला-लेख आदि आधारोंसे सुनिश्चित है। यह भी संभव है कि उन दोनोंके बीच अत्यल्प अन्तर हो और वे प्रायः समकालीन भी हों। वस्तुतः, श्रवणबेलगोल शि० लेख न० ५४ (६७) के आधार पर लुइस राइसके शब्दों में—"उन्हें (समन्तभद्रको) उनके तुरन्त पश्चात् उल्लिखित गुरू सिंहनन्दिसे अत्यल्प समयान्तरको लिये हुए मानकर, जोकि सर्वथा स्वाभाविक निष्कर्ष है, दूसरी शती ई० के उत्तरार्धमें हुआ सुनिश्चित रूपसे माना जा सकता है[६]।"

६. डा० सालतोरके अनुसार तामिल देशमें धर्मप्रसार करनेवाले विशिष्ट जैनगुरुओंमें समन्त-भद्र, जिनका नाम जैनपरम्परामें सुविख्यात है, प्रथम आचार्योंमें से हैं। उनका समय संभवतया दूसरी शती ईस्वी है। यद्यपि श्वेताम्बर 'वीर वंशावली' के आधारपर रा. ब. हीरालालके मतानुसार[७] वे वीर सं. ८८९ (सन् ४१९ ई०) में, और नरसिंहाचार्यके अनुसार[८] लगभग ४०० ई० में होने चाहिये। किन्तु सुपरिचित जैन (दिग.) अनुश्रुति उनका समय शक ६० (१३८ ई०) प्रकट करती है। राइस भी उन्हें दूसरी शती ई० का ही विद्वान मानते हैं। अतः जब हम ११ वीं से १६ वीं शती तकके दक्षिण देशस्थ विभिन्न शिलालेखोंमें दी हुई जैनगुरु परम्पराओंकी जांच करते हैं तो परम्परागत अनुश्रुति विश्वसनीय माननी पड़ती है। सन् ११२९ के शि० लेखके अनुसार भद्रबाहु (द्वि०) कुन्द-कुन्द और समन्तभद्र क्रमबार हुए। ११६३ ई० के शिलालेखमें कथन है कि 'भद्रबाहुके वंशमें कुन्द-कुन्द अपरनाम पद्मनन्दि हुए, तत्पश्चात् उमास्वामि अथवा गृद्धपिच्छाचार्य हुए जिनके शिष्य बलाकपिच्छ

---

१ श्री बी० वी० कृष्णराव कृत 'गगाज ओफ तलकाट पृ० ३२।

२ श्री गोविन्द पै, क. हि. रि. भा. २ सं. १, पृ० २९।

३ 'मैसूर एण्ड' कुर्ग. पृ० ३२। ४ सा. इण्डि. ज. पृ० १०९।

५ प्रा० रामस्वामी आयंगरका लेख मै. आ. रि. १९२१ पृ० २८।

६ केटलाग ओफ मैनु. ११ म् में 'भद्र'को समन्तभद्र माननेकी भूल की गयी है। ७ कवि चरिते. १, पृ० ४।

८ एपी. कर्णा. भा. २--२६ पृ० २५।

थे। 'महान जैनचार्यों की ऐसी परम्परामें समन्तभद्र हुए "जिनके पश्चात् कालान्तरमें पूज्यपाद हुए। इसी कथनकी पुनरावृत्ति १३९८ ई० के शि० लेखमें मिलती है जिसमें समन्तभद्रके शिष्य शिवकोटि द्वारा तत्त्वार्थसूत्रको अलङ्कृत करनेका भी उल्लेख है। १४३२ ई० का शिलालेख भी इसका अक्षरशः समर्थन करता है। और पद्मावती बसतिके सन् १५६० ई० के अभिलेखसे भी इसी बातकी पुष्टि होती है। कर्णाटक साहित्यके इतिहासमें सर्वप्रथम नाम समन्तभद्रका आता है उसके पश्चात् कवि परमेष्ठीका और फिर पूज्यपाद का। इन्द्रनन्दि, ब्रह्महेम, विबुधश्रीधर, आदि रचित विभिन्न श्रुतावतारोंमें समन्तभद्रका कुन्दकुन्दके अल्प समय पश्चात् होना पाया जाता है। धवलाकार स्वामी वीरसेन हरिवंशकार जिनसेन (७८३ ई०) आदिपुराण-कार भगवज्जिनसेनाचार्य (७८०–८४० ई०) तथा अन्य अनेक इतिहासज्ञ विद्वानोंने समन्तभद्रका कुन्द-कुन्दके पश्चात तथा पूज्यपादसे पूर्व होना स्पष्ट सिद्ध किया है। अतः इन एकरस प्रमाणोंके सम्मुख इस विषयमें शंका करनेका कोई कारण ही नहीं रहता। उपलब्ध प्रमाणोंका अत्यन्त सावधानता पूर्वक विशद विवेचन करके सब ही विद्वानोंने ईस्वी सन्का प्रारंभ काल ही कुन्दकुन्दका समय माना है। अतः यह मान लेना निराधार अथवा मनमाना नहीं है कि कुन्दकुन्दके और विशेषतः बलाकपिच्छके तुरन्त पश्चात तथा पूज्यपादके ही नहीं सिंहनन्दिके भी पूर्ववर्ती रूपसे उल्लिखित समन्तभद्र दूसरी शती ईस्वीके प्रथम पादमें हुए हों।

७. स्वामी समन्तभद्रको निश्चित रूपसे दूसरी शती ई० में स्थिर अथवा उसके भीतर ही उनके समयको ठीक ठीक निर्धारित करनेमें सर्वाधिक सबल साधक प्रमाण कतिपय ज्ञात ऐतिहासिक एवं भौगोलिक तथ्योंमें हैं। ये इतने स्पष्ट, विशेषतापूर्ण एवं अप्रतिरूप हैं कि इनका समय दूसरी शतीके कुछ दशकोंसे भी आगे पीछे नहीं किया जा सकता है। वे निम्न प्रकार हैं—

(१) श्रवणबेलगोलस्थ दौर्बलि जिनदास शास्त्रीके भंडारमें संग्रहीत समन्तभद्र कृत 'आप्त-मीमांसा' की एक प्राचीन ताड़पत्रीय प्रतिका अन्तिम वाक्य—"**इति फणिमंडलालंकारस्योरगपुराधिप सूनोः श्रीस्वामी समन्तभद्रमुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम्**[१]।" कर्णाटक देशस्थित 'अष्टसहस्री' की एक प्राचीन प्रतिमें मिलता ऐसा ही वाक्य "**इति फणिमंडलालंकारस्योरगपुराधिपसूनुना (?) शांति वर्मनाम्ना श्रीसमन्तभद्रेण**" है[३]। तथा 'स्तुतिविद्या' नामक अलङ्कार प्रधान ग्रन्थका जिसके अन्य नाम जिनस्तुतिशतं, जिनशतक तथा जिनशतकालंकार भी हैं और जिसके कर्त्ता निर्विवाद रूपसे समन्तभद्र हैं[२] अन्तिम पद्य एक चित्रबद्ध काव्य है और उसकी छह और तथा नव वलयवाली चित्र रचनापरसे 'शांतिवर्मकृतं' तथा 'जिनस्तुतिशतं' ये दो पद उपलब्ध होते हैं जो कवि और काव्यके नामोंके द्योतक हैं।[४] (२.) उत्तरवर्त्ती विद्वानोंने उन्हें "श्रीमूलसंघ व्योम्नेन्दुः" विशेषणके साथ स्मरण किया

१ स्वामी समन्तभद्र पृ०४। २ स्वयंभूस्तोत्र-मराठी संस्करण भूमिकागत प० जिनदास पार्श्वनाथ फडकुलेका कथन।

३ स्वामी समन्तभद्र, पृ० ६। ४ महाकवि नरसिंहकृत जिनशतक टीका।

है।[1] (३) उन्होंने धूर्जटि नामक किसी महान प्रसिद्ध प्रतिवादीको वादमें पराजित किया था[2]। (४) उनका कांची (आधुनिक कांजीवरम्) के साथ अपेक्षाकृत स्थायी एवं निकट संबंध था। ब्रह्मनेमिदत्तके कथाकोषमें तथा उससे भी प्राचीन प्रभाचन्द्रके गद्य कथाकोषमें दो प्राचीनतर वाक्य उद्धृत किये हैं जिनके द्वारा समन्तभद्रने किसी राजाकी सभामें अपना कुछ परिचय दिया था। उनमें वे स्वयं अपने आपको "कांच्यां नग्नाटकोऽहं" कहते हैं, श्रवणबेलगोलके सन् ११२९ ई० के मल्लिषेणप्रशस्ति नामक शिलालेखसे भी उनका कांचीमें जाना प्रकट है, और 'राजाबलिकथे' से उनका उक्तनगरमें अनेक बार जाना सूचित होता है। वहींके भीमलिंग शिवालयमें आचार्यकी प्रसिद्ध भस्मक व्याधिके शान्त होनेकी घटनाका कथन है। ब्रह्मनेमिदत्तके अनुसार उनकी व्याधि जब कांचीमें शान्त न हो सकी तो उसके शमनार्थ वह अन्यत्र चले गये। इस प्रकार तामिल देशस्थ कांची नगरके साथ उनका घनिष्ठ संबंध स्पष्ट है। (५) अपने मुनिजीवन कालके पूर्वार्धमें आचार्यको भयङ्कर भस्मक व्याधि हो गयी थी जिसके कारण उन्हें गुरुकी आज्ञासे मुनिवेषका त्याग कर उसके शमनका उपाय करना पड़ा था। अन्ततः वह व्याधि शिवकोटि राजाके भीमलिंग शिवालयमें शिवार्पित तंदुलान्न (१२ खंडुग प्रमाण प्रतिदिन) का पांच दिनतक भोग लगानेसे शान्त हुई। इसी अन्तरालमें राजाके द्वारा शिवलिंगको नमस्कार करनेके लिए आग्रह करनेपर उन्होंने 'स्वयम्भूस्तोत्र' के रूपमें चतुर्विंशति तीर्थङ्करोंकी स्तुतिकी रचना की थी। जिस समय वे भक्तिके प्रबल प्रवाहमें अष्टम तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभुकी स्तुति कर रहे थे तो शिवलिङ्ग फट गया और उसमेंसे चन्द्रप्रभु भगवानकी मूर्ति प्रकट हुई। इस चमत्कारसे राजा अत्यधिक प्रभावित हुआ और जिनधर्मका परम भक्त हो गया। राजाबलिकथेके अनुसार यह घटना कांचीमें उपर्युक्त दोनों कथाकोषोंके अनुसार बाराणसीमें; सेनगणकी पट्टावलीके अनुसार नवतिलिङ्ग देशके राजा शिवकोटिके शिवालयमें घटी थी। मल्लिषेण प्रशस्ति नामक शिलालेखमें यद्यपि राजाका व नगरका नाम नहीं दिया है तथापि उससे शेष घटनाकी पुष्टि होती है 'विक्रान्तकौरव' नाटकमें भी शिवकोटि और शिवायन (जो राजबलिकथेके अनुसार शिवकोटिका छोटा भाई था) के स्वामी समन्तभद्रके शिष्य होनेका उल्लेख है। नगर ताल्लुकाके शिलालेख न० ३५ तथा श्र० बे० गो० शिलालेख न० १०५ (२५४) भी शिवकोटिको उनका शिष्य सूचित करते हैं। देवागमकी वसुनन्दि वृत्तिके मंगलाचरणके 'भेत्तारं वस्तुपालभावतमसो' पदसे भी स्वामी द्वारा किसी नरेशके भावान्धकारको दूर किया जाना ध्वनित होता है। राजाबलिकथेमें इस प्रसंगमें यह भी उल्लेख है कि भीमलिंग शिवालयकी घटनासे प्रभावित होकर महाराज शिवकोटिने अपने पुत्र श्रीकंठको राज्यका भार सौंपकर भाई शिवायन सहित जिनदीक्षा ले ली थी। इसी पुस्तकमें यह भी कथन है जि आचार्यकी यह व्याधि उस समय उत्पन्न हुई थी जब वे 'मणुवकहल्ली' ग्राममें तपश्चरण कर रहे थे।

१ हस्तिमल्लकृत-'विक्रान्तकौरव' तथा अय्यपार्तकृत जिनेन्द्र कल्याणाभ्युदय।

२ मल्लिषेणप्रशास्ति तथा शि० ले० न० ९०।

(६) उपर्युक्त वृत्तान्तोंसे स्पष्ट है कि प्रचंडवादी समन्तभद्र विभिन्न दूरस्थ प्रदेशों और प्रसिद्ध नगरोंमें धर्म प्रचारार्थ गये और उन्होंने उस समयकी प्रथाके अनुसार निश्शंक भावसे वादभेरियें बजा कर विख्यात वाद-सभाओं और राजसभाओंमें प्रतिवादियोंको परास्त किया। विद्या एवं दार्शनिकतामें अग्रणी वाराणसी नगरी (बनारस) ? के राज्यदरबारमें जाकर उन्होंने ललकारा था [१] "हे राजन् मैं निर्ग्रन्थ जैन वादी हूं। जिस किसीमें शक्ति हो वह मेरे सम्मुख आकर वाद करे।" श्रवणबेलगोलके उपर्युक्त शि. लेखके अनुसार आचार्यने 'असंख्य वीर योद्धाओंसे युक्त' विद्याके उत्कट स्थान तथा बहुजन संकुल करहाटक नगर'की राज्यसभामें पहुंच कर राजाको बताया था कि किस प्रकार वे 'अप्रतिद्वन्दी निर्भय शार्दूलकी भांति वादार्थ विभिन्न दूरस्थ देशोंमें भ्रमण करके सुदूर कांची होते हुए उसके नगरमें पधारे थे।' प्रकृत पद्य ब्रह्मनेमिदत्तके आराधनाकथाकोष तथा राजाबलिकथेमें भी पाया जाता है। किन्तु राजाबलिकथेमें इसका रूपान्तर हुआ है अर्थात् 'प्राप्तोऽहं करहाटकं'के स्थानमें वहां 'कर्णाटे करहाटके' पद है। और भी दो एक शब्द-भेद हैं किन्तु वे महत्वके नहीं हैं। आराधनाकथाकोषमें इस पद्यसे पूर्व 'कांच्यां नग्नाटऽकोहं' वाला एक अन्य पद्य दिया हुआ है जिसमें उनके लाम्बुश, पुण्ड्र, दशपुर, तथा वाराणसीमें भी वादार्थ जानेका उल्लेख है, साथ ही साथ यह भी सूचित होता है कि वे मूलतः कांची प्रदेशके नग्न दिगम्बर साधू थे, लाम्बुशमें 'मलिनतन पांडुवर्ण शरीर'के तपस्वी थे, पुण्ड्रपुरमें शाक्य भिक्षुके रूपमें रहे, दशपुर नगरमें मृष्टभोजी वैष्णव परिव्राजकके रूपमें रहे और वाराणसीमें चन्द्र सम उज्ज्वल कान्तिके धारक योगिराजके रूपमें रहे। इस पद्यमें उल्लिखित विवरणसे कथाकारका अभिप्राय; जो उनके अन्यत्र कथनसे स्पष्ट हो जाता है, यह है कि व्याधिकालमें आचार्य इन विभिन्न देशोंमें उक्त भिन्न भिन्न रूपोंमें रहे थे।

उपर्युक्त उपलब्ध तथ्योंका निष्कर्ष यह है कि 'वे फाणिमंडलके अन्तर्गत उरगपुर नगरके राजाके पुत्र शान्तिवर्मा थे। मुनि अवस्थाका नाम समन्तभद्र था। कांची प्रदेशमें ही उनका प्रारंभिक अध्ययन अध्यापन तथा अधिकांश रहना हुआ। अतः 'कांचीके दिगम्बराचार्य'के नामसे वे सर्वत्र प्रसिद्ध थे। मणुवकहल्ली नामक स्थानमें कुछ दिन रह कर उन्होंने तपश्चरण आदि किया, वहां इस प्रकार रहते हुए अपने मुनि जीवनके पूर्वार्धमें ही किसी समय वे महा भयङ्कर भस्मक रोगके शिकार हुए जिससे उनकी मुनिचर्यामें बड़ी बाधा उत्पन्न हुई। उन्होंने लाचार होकर समाधिमरणका इरादा किया, किन्तु उनके गुरुने उन्हें दीर्घायु, अत्यन्त योग्य, प्रतिभाशाली एवं आगे चलकर जिनशासनकी महती वृद्धि करने वाला जानकर उस इरादेसे विमुख किया और अस्थायी रूपसे रोगकी शान्ति तक उसके शमनका उपाय करनेके लिए मुनिवेष त्यागनेकी आज्ञा दी। अतः मुनिवेष त्याग उन्होंने रोगकी ओर ध्यान दिया और

१ 'राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी' — ब्रह्मनेमिदत्त आराधनाकथाकोष तथा स्वामी समन्तभद्र पृ० ३२।

उसके शमनार्थ शिवभक्त शिवकोटी राजाके भीमलिङ्ग शिवालयमें पहुंचे वहां शिवार्पित नैवेद्य—१२ खंडुक प्रमाण तंदुलान्न–को शिव द्वारा ग्रहण करा देनेका अधिकारियोंको आश्वासन देकर उसे स्वयं उदरार्पण करने लगे। ऐसा करते करते पांच दिनमें रोग शान्त हो गया, किन्तु अब शिवार्पित नैवेद्य बचने लगा और उनका भेद खुल गया। राजाने परीक्षार्थ इन्हें शिवको नमस्कार करनेको वाध्य किया। उस समय इन्होंने भक्तिपूर्ण स्वयम्भूस्तोत्रकी रचना की। इनकी जिनेन्द्रके प्रति दृढ़ एवं विशुद्ध भक्तिके अतिशयसे स्तुतिके बीचमें शिवलिंगके स्थानमें चन्द्रप्रभु जिनेन्द्रकी प्रतिमा प्रकट हुई और इन्होंने उसे नमस्कार किया। राजा आदि समस्त दर्शक अति प्रभावित हुए। तब आचार्यने अपना रहस्य खोला और धर्मका उपदेश दिया। स्वयं फिरसे मुनिदीक्षा धारण कर ली। इनके प्रभावसे राजा भी इनका तथा इनके धर्मका परम भक्त हो गया। इसके पश्चात् आचार्यने उत्तर दक्षिण, पूर्व पश्चिम समस्त भारतमें धर्म प्रचारार्थ भ्रमण करके धूर्जटि जैसे अनेक तत्कालीन शैव, वैष्णव, बौद्ध, आदि महान्वादियों पर विजय प्राप्त की और जैनधर्मका सर्वतोमुख उत्कर्ष किया। वादार्थ जिन विशिष्ट स्थानोंमें वे गये उनमें पाटलिपुत्र (पूर्वस्थ), मालव, ठक्क (पंजाब), सिन्धु, कांचीपुर, संभवतया विदिशा भी थे। इनके अतिरिक्त लाम्बुश, पुण्ड्रवर्धन (बंगदेशस्थ), दशपुर, और वाराणसी (बनारस) में भी उनका जाना और वाद करना पाया जाता है। करहाटकके नरेशकी राज्यसभासे उनका व्यक्तिगतसा संबंध प्रतीत होता है, क्योंकि उक्त राजाको सम्बोधन करके अपनी वादविजय एवं भ्रमण संबंधी वृत्तान्त इस प्रकार सुनाते हैं कि मानों अपनी कार्य सम्पन्नताका वृत्तान्त किसी आत्मीयको सुना रहे हों।

दक्षिण भारतके ऐतिहासिक साक्षी—

इतिहास कालमें नर्मदाके दक्षिणभागमें बसी जातियोंमें नागजाति सर्वोपरि और सुसभ्य थी[1]। लंका तक प्रायः सर्वत्र फैली हुई थी। अत्यन्त विनाशकारी महाभारत युद्धके परिणाम स्वरूप उत्तरापथकी वैदिक-आर्यराज्य शक्तियोंके ह्राससे लाभ उठाकर चिरकालसे दबी हुई नागजातिने समस्त भारतमें अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी जैसा कि काशी, पांचाल, आदिके उरगवंशी राज्योंके इतिहाससे सिद्ध है[2]। चौथी शती ईसा पूर्वमें मौर्य साम्राज्यके प्रकाशमें ये मन्द पड़ गये थे किन्तु मौर्य साम्राज्यके ह्रासके पश्चात फिर इनका उदय हुआ था।

मध्यभारत एवं उत्तरी दक्षिणमें तीसरी शती० ई० पूर्वसे सातवाहन आन्ध्र शक्तिकी स्थापनाने तत्तद् नाग राज्योंको न पनपने दिया, बल्कि अधिकांश नागराजे सातवाहनोंके आधीन प्रान्ताधिकारी हो गये और आन्ध्रभृत्य महारथी कहलाने लगे। किन्तु गौतमीपुत्र शातकर्णी (१०६-१३०) के पश्चात

१ पुराणोंके अनुसार नर्मदा तीरपर माहिष्मतीमें भी नागराज्य था और उसके उपरान्त वहां हैहयोंका राज्य हुआ—(रायचौधरी)।

२ 'भारतीय इतिहासका जैन युग' अनेकान्त व० ७, कि० ७-१० पृ० ७४।

सातवाहन शक्तिके शिथिल हो जानेपर इन आन्ध्रभृत्योंने स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने शुरू कर दिये, और एक बार फिरसे नाग युगकी पुनरावृत्ति हुई। जिसे स्मिथ आदि कुछ इतिहासकारोंने भारतीय इतिहासका 'अन्धकार युग' कहा है किन्तु डा० जायसवाल आदिने उस अन्धकारको भेदकर उसे 'नाग-वाकाटकयुग' कहा है। भारशिव, वाकाटक, चुटुनाग आदि वंश इस युगके अति शक्तिशाली राज्यवंश थे जिनका अस्तित्व गुप्तसम्राट समुद्रगुप्त (३१०-३७६ ई०) के समय तक था[1]। गुप्त साम्राज्य कालमें भारतीय नागसत्ताएं सदैवके लिए अस्त हो गयीं। दक्षिणी फणिमंडलकी सत्ता भी दूसरी शती० ई० के मध्यमें कदंब, पल्लव, गंग, आदि स्थायी एवं महत्वाकांक्षी नवीन राज्यवंशोंकी स्थापना तथा पांड्य, चोल आदि प्राचीन तामिल राज्योंके पुनरुत्थानके कारण अन्तको प्राप्त हुई।

अत्यन्त प्राचीन कालसे ही नाग जाति जैनधर्मकी अनुयायी थी और भ० पार्श्वनाथ (८७७-७७७ ई० पू०) के समयसे तो विशेष रूपसे जैनधर्म की भक्त हो गयी थी[2]। दक्षिण भारतमें जैनधर्मकी प्रवृत्ति कमसे कम भ० अरिष्टनेमिके समयसे चली आती थी, सुराष्ट्र देशस्थ द्वारकाके यादववंशमें उत्पन्न तथा उर्जयन्त (गिरनार पर्वत) से निर्वाण लाभ करनेवाले भगवान नेमिनाथने महाभारत कालमें दक्षिण भारतमें ही जिनधर्मका प्रचार विशेष रूपसे किया था। उनके पश्चात् चौथी शती० ई० पू० में भद्रबाहु श्रुतकेवलिके मुनिसंघ एवं अपने शिष्य सम्राट चन्द्रगुप्तमौर्य सहित दक्षिण देशमें आगमनसे दक्षिणात्य जैनधर्मको अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। तिनेवली आदिके मौर्य कालीन ब्राह्मी शिलालेख जो जैनोंकी कृति हैं और जैन श्रमणोंकी प्राचीन गुफाओंमें पाये जाते हैं, इस बातके साक्षी हैं। दक्षिण भारतके विविध राजवंश तथा उनसे सम्बद्ध उरगपुर तथा नागवंशी राजाओं, सामन्तों आदिके वर्णनसे सुस्पस्ट है कि नागवंश भारतका प्राचीनतम तथा सर्वव्याप्त वंश था। इस सब इतिहासपर दृष्टि डालनेसे ज्ञात होता है कि आचार्य प्रवर दूसरी शती ई० के अतिरिक्त अन्य किसी समयमें नहीं हुए। जैन मुनि-जीवनसे अनभिज्ञ कुछ अजैन विद्वानोंको यह भ्रम भले ही हो सकता है कि वे कन्नडिग थे या तामिल, किन्तु इसमें किसीको कोई सन्देह नहीं है कि वे दूर दक्षिणके ही निवासी थे और समस्त दक्षिणमें इतिहास कालमें केवल एक ही प्रसिद्ध फणिमंडल (नाग राज्य समूह) था जो पूर्वी समुद्रतटपर गोदावरी और कावेरीके बीच स्थित था, जिसका अस्तित्व सामान्यतः तीसरी शती ई० पूर्वसे मिलता है तथा ई० पूर्व १५७ से सन् १४० ई० तक सुनिश्चित रूपसे मिलता है, साथ ही सन् ८० ई० में यह फणिमंडल अखंड था, इसकी राजधानी उरगपुर थी और चोलप्रदेशका नागवंश इसमें सर्वप्रधान था। सन् ८० और १४० ई० के बीच किसी समय यह फणिमंडल दो मुख्य भागों (उत्तरी और दक्षिणी अथवा असवानाडु और चोलमंडल) में विभक्त हो गया। सन् १५० ई० के लगभग इस फणिमंडलका अस्तित्व

१ समुद्रगुप्तका प्रयाग स्तंभवाला शिलालेख।

२ लेखकका लेख—'नाग सभ्यताकी भारतको देन'—अनेकान्त, व० ६, कि ७ पृ० ८४६।

समाप्त हो गया। आचार्य समन्तभद्रकी अनुश्रुति-सम्मत तिथि शक ६० अथवा सन् १३८ ई० है जिसका अर्थ है कि उनका मुनिजीवन सन् १३८ ई० के पश्चात प्रारंभ हुआ, उस समय फणिमंडलके दो भाग हो चुके थे और समस्त फणिमंडलकी राजधानी उरगपुर नहीं रह गयी थी। किन्तु जिस समय उनका जन्म हुआ फणिमंडल अखंड था और राजधानी उरगपुर थी—वे 'फणिमंडलालंकारस्योरगपुराधिपसूनोः' थे अर्थात् फणिमंडलकी राजधानी उरगपुरके अधिपतिके पुत्र थे। फणिमंडलका यह विभाजन १२५ ई०के लगभग हुआ प्रतीत होता है। स्वामी समन्तभद्रके विषयमें जो कुछ ज्ञात है उसपरसे यह निश्शंक कहा जा सकता है कि उन्होंने युवावस्थाके प्रारंभमें ही मुनिदीक्षा ले ली थी; अतः यदि दीक्षाके समय उनकी आयु १८–२० वर्षकी थी तो उनका जन्म १२० ई० के लगभग हुआ था। और संभवतया (१३८ ई० में) मणुवकहल्लीमें जिनदीक्षा ली थी। तथा १५४–१५५ ई०के लगभग उन्हें भस्मक व्याधि हुई थी। बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन १८१ ई० तक जीवित था। उसके प्रसिद्ध ग्रन्थ विग्रहव्यावर्तनी, मुक्तिषष्ठिका, आदि १७० ई०के पूर्व ही बन चुके थे। सम्भवतया उसके मुक्तिषष्ठिकासे ही प्रेरणा पाकर स्वामी समन्तभद्रने १७० ई०के उपरान्त अपने युक्त्यनुशासनकी रचना की थी।

यदि स्वामी समन्तभद्रकी आयु ६५ वर्षकी हुई हो तो कहना होगा कि उनकी मृत्यु १८५ ई०के लगभग हुई। इस तरह उनका समय ई० १२०–१८५ निश्चित होता है, जिसकी वास्तविक कुंजी 'फणिमण्डल' और 'उरगपुर' शब्दोंमें भी निहित है।
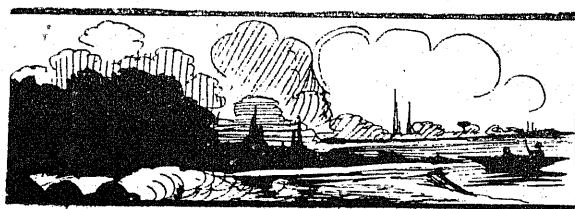
काव्यप्रकाश-संकेतका रचनाकाल

प्रा० भोगीलाल जयन्तभाई सांडेसरा, एम० ए०

आचार्य माणिक्यचन्द्रकृत काव्यप्रकाश-संकेत, मम्मटके काव्यप्रकाशपर लिखित सबसे प्राचीन और प्रमाणभूत टीकाओंमें से है। भारतीय अलंकारशास्त्रके और विशेषकरके काव्यप्रकाशके पाठकोंमें यह टीका अतीव प्रामाणिक मानी जाती है। टीकाकारका विवेचनात्मक वर्णन भी अत्यन्त आदरणीय है। आवश्यक स्थलपर संक्षेप और अनावश्यक स्थलपर व्यर्थ विस्तार, टीकाकारके इन सर्वसाधारण दोषोंसे माणिक्यचन्द्र संपूर्णतया परे हैं। भामह, उद्भट, रुद्रट, दण्डी, वामन, अभिनवगुप्त, भोज, इत्यादि अलंकारशास्त्र प्रणेताओंके मत, स्थान स्थानपर उद्धृत करके उन्होंने अपना मौलिक अभिप्राय व्यक्त किया है। मूल ग्रन्थको विशद बनानेके लिए उन्होंने कितने ही स्थलोंपर स्वरचित काव्योंसे उदाहरण उद्धृत किये हैं। इससे यह भी ज्ञात होता है कि वे एक सहृदय कवि थे। स्वयं जैनमुनि होनेपर भी, उनका ब्राह्मण-साहित्यका गहरा अध्ययन था। यह टीका असाधारण बुद्धि-वैभव, प्रकाण्ड-पाण्डित्य और मार्मिक-रसज्ञतासे ओत प्रोत होनेके कारण उन्होंने इसको नवम् उल्लासके आरम्भमें "लोकोत्तरोऽयं सङ्केतः कोऽपि कोविदसत्तमाः।" कहा है। जो कि वृथा गर्वोक्ति नहीं कही जा सकती।

आचार्य माणिक्यचन्द्र जैनश्वेताम्बर सम्प्रदायके अन्तर्गत राजगच्छके सागरचन्द्रसूरिके शिष्य थे[१]। वे विक्रमकी तेरहवीं शतीमें गुजरातमें हुए हैं। यह वही समय था[२] जब विपुल साहित्यकी रचना गुजरातमें हुई थी, और संस्कृत साहित्यका मध्यान्ह काल था। उस समय मंत्री वस्तुपाल विद्याव्या-संगियोंका अप्रतिम आश्रयदाता था। और उसके आसपास एक विस्तृत विद्वन्मण्डल एकत्रित रहता था।

---

१. 'नलायन' काव्यकार माणिक्यसूरि पटगच्छके होनेसे प्रस्तुत माणिक्यचन्द्रसे अन्य हैं। पी० वी० कानेकृत साहित्यदर्पणकी भूमिका (सी० ६)

२, वस्तुपाल और उसकी विद्वन्मंडलीकी साहित्य प्रवृत्तिके सम्बन्धमें विशेष जाननेके लिए, —गुजरात साहित्य सभा, द्वारा सम्पादित, इतिहास सम्मेलन (अहमदाबाद, दिसम्बर १९४४)में लेखकका निबन्ध "वस्तुपालका विद्यामण्डल"

माणिक्यचन्द्र मन्त्री वस्तुपालके समकालीन थे[1]। उन्होंने संकेतके अतिरिक्त शान्तिनाथ-चरित्र और पार्श्वनाथचरित्र नामके दो महाकाव्य भी रचे हैं[2]।

साधारणतया विद्वान् लोग संकेतको सं० १२१६ की रचना समझते हैं। स्वयं माणिक्यचन्द्रने संकेतकी ग्रन्थ प्रशस्तिमें उसके रचना समयकी सूचना "रस (६) वक्त्र (१) ग्रहाधीश (१२) वत्सरे मासि माधवे। काव्ये काव्यप्रकाशस्य सङ्केतोऽयं समर्पितः॥" द्वारा दी है। साधारणतया वक्त्रका अर्थ एक किया जाता है और तदनुसार 'रसवक्त्रग्रहाधीश' से सं० १२१६ फलित होता है, किन्तु हमारे सामने ऐसे कितने ही ऐतिहासिक प्रमाण विद्यमान हैं जिनके आधारपर 'वक्त्र' शब्दका अर्थ चार (ब्रह्माके मुख) अथवा छह (कार्तिकेयके मुख) मान लेना भी स्वाभाविक सिद्ध है। ऐसे प्रमाण क्रमशः निम्न प्रकार हैं—

१. आचार्य माणिक्यचन्द्रने अपने पार्श्वनाथचरित्र महाकाव्यकी रचना सं० १२७६ में काठियावाड़के अन्तर्गत दीवमें की थी। उन्होंने स्वयं उसकी रचनाकालके सम्बन्धमें "रस(६) र्षि (७) रवि (१२) सङ्ख्यायां[3]" इत्यादि निर्देश किया है। संकेत कर्ताके प्रौढ़ पाण्डित्य और परिपक्व बुद्धिका फल है। यदि वह सं० १२१६ की रचना है, तो वे ६० वर्षके बाद एक महाकाव्यकी रचना करने योग्य रहे हों ऐसा मानना अनुचित ज्ञात होता है यद्यपि कर्त्ताका तब तक विद्यमान रहना स्वीकार किया जा सकता है। अतः पूर्वोक्त 'वक्त्र' का अर्थ एक के स्थान पर चार अथवा छह करके संकेतको सं १२४६ अथवा १२६६ की रचना मानना सविशेष सुसंगत है।

(२) पार्श्वनाथचरित्रकी प्रशस्ति[4]में माणिक्यचन्द्रने बताया है कि उन्होंने यह काव्य अणहिलवाड़ पाटनके राजा कुमारपाल और अजयपालके एक राजपुरुष वर्धमानके पुत्र दहेड़ और पौत्र पाल्हण (जो कवि भी था) की प्रार्थनासे लिखा था। कुमारपालका देहान्त सं० १२२६ में हुआ और उसका भतीजा अजयपाल राज्यारूढ हुआ। सं० १२३२ में अजयपालके एक सेवकने उसको मार डाला। अब यदि माणिक्यचन्द्रने अजयपालके एक राजपुरुषके पुत्र और पौत्रकी प्रार्थनासे (यह पौत्र भी परिपक्व वयका होना चाहिए, क्योंकि स्वयं कर्ताने उसका 'प्रज्ञावता सत्कविपुङ्गवेन' द्वारा उल्लेख किया है) इस काव्यकी रचना की हो तो यह स्पष्ट ही है कि उनकी कृतियोंका रचनाकाल—राजा अजयपालके समयसे कुछ पूर्व ही होना चाहिए—अर्थात् पार्श्वनाथ-चरित्रके रचनाकाल (सं० १२७६) का निकटवर्ती होना चाहिए।

---

१ कृष्णमाचारी कृत संस्कृत साहित्य पृ० १९४।

२ पाटन ग्रन्थसूची भा० १, पृ० १५४।

३ पीटरसनकृत संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों की शोध-सूची विगत (१८८४-५) पृ० १५६।

४ "कुमारपाल क्ष्मापालाजयपाल महीभूजौ। यः सभाभूषणं चित्त जैनं मतमरोचयत्॥", आदि ८ श्लोक।

(३) पूर्वोक्त कथनानुसार माणिक्यचन्द्र, मन्त्री वस्तुपालके समकालीन थे। वस्तुपालके कुल-गुरु विजयसेन सूरिके प्रशिष्य और उदयप्रभसूरिके शिष्य जिनभद्रके द्वारा वस्तुपालके पुत्र जयन्तसिंहके पठनार्थ रचित एक प्रबन्धावलीके अनुसार (यह प्रबन्धावली आचार्य जिनविनयजी द्वारा सम्पादित पुरातन प्रबन्ध संग्रहमें संकलित है) सं० १२९० में वस्तुपालने एक बार माणिक्य-चन्द्रको अपने पास आनेके लिए आमन्त्रण भेजा। किन्तु आचार्य किसी कारणवश मार्गमें ही रुक गये आ नहीं पाये। इससे वस्तुपालने खम्भात आये हुए आचार्यके उपाश्रयसे कुछ चीजें युक्ति पूर्वक चोरीसे मंगवा लीं। इस उपद्रव की शिकायत लेकर आचार्य मन्त्रीके पास आये। उस समय मन्त्रीने उनका पूर्ण आदर–सत्कार किया और सब चीजें उनको वापस कर दी[1]। विक्रमकी पन्द्रहवीं शतीमें रचे हुए जिनहर्षकृत वस्तुपाल चारित्रके अनुसार वस्तुपालने अपने ग्रन्थ भण्डारके प्रत्येक शास्त्रकी एक एक प्रति माणिक्यचन्द्रको भेट की।

यह भी प्रसिद्ध है कि राजपूतानेमें आये हुए झालोरके चौहान राजा उदयसिंहका मन्त्री यशोवीर, वस्तुपालका घनिष्ट मित्र था। उपर्युक्त प्रबन्धावलीमें माणिक्यचन्द्रका, यशोवीरकी प्रशस्तिमें लिखा हुआ, एक श्लोक भी मिलता है[2]। इस प्रकार विशेष विश्वसनीय समकालीन प्रमाणोंके आधारपर, हम यह कह सकते हैं कि, माणिक्यचन्द्र वस्तुपाल और यशोवीरके समकालीन थे, इतना ही नहीं किन्तु उन सबमें परस्पर घनिष्ट सम्पर्क भी था।

अब यदि हम संकेतका रचनाकाल सं० १२१६ मानते हैं तो एक बड़ा भारी कालव्यतिक्रम उपस्थित होता है। वस्तुपालको सं० १२७६में धालकाके वीरधवलके मन्त्री पदपर प्रतिष्ठित हुए थे,यह इतिहास-सिद्ध बात है। सं० १२१६ में तो शायद उसका जन्म भी नहीं हुआ होगा। अतः वस्तुपाल और माणिक्य-चन्द्रके सम्पर्कके सम्बन्धमें तत्कालीन वृत्तान्त संपूर्णतया विश्वसनीय होनेसे 'वक्त्र' शब्दका अर्थ ऐसा करना चाहिए जो उसके साथ सुसंगत हो। इस प्रकार संकेतकी ग्रन्थ प्रशस्तिके 'वक्त्र' का अर्थ चार (ब्रह्माके मुख) अथवा छह (कार्तिकयके मुख) करना चाहिये। क्योंकि साहित्य संसार धार्मिक आस्थाओं से परे रहा है जैसा कि अलंकार नियमानुसारी जैन कवियोंके वर्णनोंसे सिद्ध है। तदनुसार 'रस वक्त्र-ग्रहाधीश' का अर्थ सं० १२६६ करना न्याय्य है। आचार्य माणिक्यचन्द्रके जीवन और कार्यकी ज्ञात बातोंके प्रकाशमें यह विशेष उचित प्रतीत होता है।

---

१ सिरिवत्थुपाल नंदण मंती सर जयन्त सिंहभमणत्थं। नागिंद गच्छ मंडण उदय घहसूरि सीसेणं॥
जिण मट्टेणय विक्कम कालाउ नवइ अहिय बारसार। नाणा कहाण पहाणा एस पबधावकी रईया॥
पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पृ० १३५

२ पु. प्रबन्ध सं. पृ. ७४।

महाकवि रइधू

श्री पं० परमानन्द जैन शास्त्री

महाकवि रइधू विक्रमकी पन्द्रहवीं शतीके उत्तरार्धके विद्वान थे। वह जैनसिद्धान्तके मर्मज्ञ विद्वान होनेके साथ साथ पुराण और साहित्यके भी पंडित थे। प्राकृत-संस्कृत और अपभ्रंश भाषा पर उनका असाधारण अधिकार था, यद्यपि उनके समुपलब्ध ग्रन्थोंमें संस्कृत भाषाकी कोई स्वतंत्र रचना उपलब्ध नहीं हुई, और न उसके रचे जानेका कोई संकेत ही मिलता है; परन्तु फिर भी, उनके ग्रन्थोंकी सन्धियोंमें ग्रन्थ निर्माणमें प्रेरक भव्य श्रावकोंके परिचयात्मक और आशीर्वादात्मक संस्कृत पद्य पाये जाते हैं, जिनमें ग्रन्थ निर्माणमें प्रेरक भव्योंके लिए मंगल कामनाकी गयी है[1]। उन पद्योंपर दृष्टि डालनेसे उनके संस्कृतज्ञ विद्वान होनेका स्पष्ट आभास मिलता है और उनकी चमकती हुई प्रतिभाका सहज ही पता चल जाता है। साथ ही, उनके द्वारा निर्मित ग्रन्थ-राशिको देखने तथा मनन करनेसे कविवरकी विद्वत्ता और उनकी काव्य प्रतिभाका भी यथेष्ट परिचय मिल जाता है। ग्रन्थकारने यद्यपि अपना कोई विशेष परिचय नहीं दिया और न जीवन सम्बन्धीविशेष घटनाओंका समुल्लेख ही किया है, जिससे उनके बाल्य काल, शिक्षा, आदिके सम्बन्धमें विशेष प्रकाश डाला जाता; किन्तु उनके ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंमें जो कुछ भी संक्षिप्त परिचय अंकित मिलता है उस से सार रूपमें कुछ परिचय यहां देनेका उपक्रम किया जाता है—

वंश-परिचय

कविवर रइधू संघाप देवरायके पौत्र थे, और हरिसिंघाके, जो विद्वत्समूहको आनन्द दायक थे, पुत्र थे। कविवरकी माताका नाम 'विजयसिरि'[2] (विजयश्री) था, जो रूप-लावण्यादिसे अलंकृत होते हुए भी शील-संयम आदि सद्गुणोंसे विभूषित थीं। कविवरका वंश 'पद्मावती-पुरवाल' था और वे उक्त वंशरूपी कमलोंको विकसित करनेवाले दिवाकर थे— जैसा कि उनके 'सम्मइजिन चारिउ, ग्रंथकी प्रशस्तिके निम्न वाक्योंसे प्रकट है—

१ "यः सत्य वदति व्रतानि कुरुते शास्त्रं पठत्यादरात..इत्यादि" सिद्ध चक्रविधि संधि १०।
"यः सिद्धान्त रसायनैकरसिको भक्तो मुनीनां सदा ...।" पार्श्वपुराण संधि ७।

२ 'हरिसिंघहु पुत्तें गुणगणजुत्तें हंसिवि विजयसिरि णंदणेण।' सम्मत्त गुण निधान प्रशस्ति।

देवराय संघाहिव णंदणु, हरिसिंघु बुहयण कुल आणंदणु।
पोमवइ-कुल-कमल-दिवायरु- सो वि सुणंदउ एत्थु जसायरु।
जस्स घरिज्ज रइधू बुहजायउ, देव-सत्थ-गुरु-पय-अणुरायउ।

उक्त कवि रइधूने अपने कुलका परिचय 'पोमावइकुल' और 'पोमावइ पुडवारवंस' वाक्यों द्वारा कराया है, जिससे वे पद्मावतीपुरवाल जान पड़ते हैं। जैन इतिहासमें चौरासी प्रकारके वंशों अथवा कुलोंका उल्लेख मिलता है[1]। उनमें कितने ही वंशोंका अस्तित्व आज नहीं मिलता; किन्तु इन चौरासी वंशोंमें कितने ही ऐसे वंश हैं जो पहले बहुत समृद्ध रहे हैं किन्तु आज वे समृद्ध अथवा सम्पन्न नहीं दीखते, और कितनी ही जातियों अथवा वंशोंको इसमें गणना ही नहीं की गयी है जैसे धर्कट, आदि। इन चौरासी वंशोंमें 'पद्मावतीपुरवाल' भी एक वंश है और जो प्रायः आगरा, मैनपुरी, एटा और ग्वालियर, आदि स्थानोंमें आबाद है। इनकी जन संख्या भी कई हजार पायी जाती है। वर्तमानमें यह वंश उन्नत नहीं है तो भी इस वंशके कई विद्वान जैनधर्म और समाजकी सेवा कर रहे हैं। यद्यपि इस वंशके विद्वान अपना उदय ब्राह्मणोंसे बतलाते हैं और अपनेको देवनन्दी (पूज्यपाद) का सन्तानीय भी प्रकट करते हैं; किन्तु इतिहाससे उनकी यह कल्पना सिद्ध नहीं होती क्योंकि प्रथम तो उपवंशों (जातियों)का अधिकांश विकास संभवतः विक्रमकी दसवीं शतीसे पूर्वका प्रतीत नहीं होता, हो सकता है कि वे इससे भी पूर्ववर्ती रहे हों; परन्तु विना किसी प्रामाणिक अनुसंधानके इस सम्बन्धमें कुछ नहीं कहा जा सकता है।

वंशों और गोत्रोंका विकास अथवा निर्माण ग्राम, नगर, और देश आदिके नामोंसे हुआ है। उदाहरणके लिए सांभरके आस-पासके 'बघेस' स्थानसे बघेरवाल, 'पाली' से पल्लीवाल, 'खण्डेला' से खण्डेलवाल, 'अग्रोहा' से अग्रवाल, 'जायस' अथवा 'जैसा' से जैसवाल, और 'ओसा' से ओसवाल जातिका निकास हुआ है। तथा चंदेरीके निवासी होनेसे चंदेरिया, चन्द्रवाडसे चांदुवाड अथवा चांदवाड, और पद्मावती नगरीसे 'पद्मावतिया' आदि गोत्रों एवं मूलोंका उदय हुआ है। इसी तरह अन्य कितनी ही जातियोंके सम्बन्धमें प्राचीन लेखों ताम्रपत्रों, सिक्कों, ग्रन्थप्रशस्तियों और ग्रंथों आदि से इतिवृत्तका पता लगाया जा सकता है।

कविवर रइधूके ग्रन्थोंमें उल्लिखित 'पोमावइ' शब्द स्वयं पद्मावती नामकी नगरीका वाचक है। यह नगरी पूर्व समयमें खूब समृद्ध थी, उसकी समृद्धिका उल्लेख खजुराहोके वि० सं० १०५२ के शिलालेख में पाया जाता है; जिसमें बतलाया गया है कि यह नगरी ऊंचे ऊंचे गगन चुम्बी भवनों एवं मकानोंसे सुशोभित थी, जिसके राजमार्गोंमें बड़े बड़े तेज तुरंग दौड़ते थे और जिसकी चमकती हुई स्वच्छ एवं शुभ्र दीवारें आकाशसे बातें करती थीं। जैसा कि "सौधोत्तुंग पतंग..." आदि दो पद्योंसे प्रकट है।

---

१ पं० विनोदीलालकृत फूलमालपच्चीसी, बृहज्जिनवाणी संग्रह पृ० ४८५।

इससे सहजही पद्मावती नगरीकी विशालता और समृद्धिका अनुमान लग जाता है। इस नगरीको नागराजाओंकी राजधानी बननेका भी सौभाग्य प्राप्त हुआ था। पद्मावती, कांतिपुरी और मथुरामें नौ-नागराजाओंके राज्य करनेका उल्लेख भी मिलता है[1]। पद्मावतीनगरीके नागराजाओंके सिक्के भी मालवेमें कई जगह मिले हैं[2] ग्यारहवीं सदीमें रचित 'सरस्वती कण्ठाभरण' में भी पद्मावतीका वर्णन है और मालतीमाधवमें भी पद्मावतीका नाम पाया जाता है, आज वह नगरी वहां अपने उस रूपमें नहीं हैं, ग्वालियर राज्यमें उसके स्थानपर 'पवाया' नामका छोटासा गांव बसा हुआ है, जो देहलीसे बम्बई जाने वाले जी. आई. पी. रेल्वेकी लाइनपर 'देवरा' नामके स्टेशनसे कुछ ही दूरपर स्थित है। यह पद्मावती नगरी ही 'पद्मावती पुरवाल' जातिके निकासका स्थान है। इस दृष्टिसे वर्तमान 'पवाया' ग्राम पद्मावतीपुरवालोंके लिए विशेष महत्वकी वस्तु है। भले ही वहां पर आज पद्मावती पुरवालोंका निवास न हो; किन्तु उसके आसपास ही आज भी वहां पद्मावती पुरवालोंका निवास पाया जाता है। ऊपरके इन उल्लेखों से ग्राम नगरादिके नामोंपरसे उपजातियोंकी कल्पनाको पुष्टि मिलती है।

श्रद्धेय पं० नाथूरामजी प्रेमीनेअनेकान्त वर्ष ३,कि.७में 'परवार जातिके इतिहासपर प्रकाश' नामके अपने लेखमें परवारोंके साथ पद्मावती पुरवालोंका सम्बन्ध जोड़नेका प्रयत्न किया है। और पंडित बखतरामके 'बुद्धि विलास' के अनुसार उन्हें सातवां भेदभी बतलाया है[3]। हो सकता है कि इस जातिका कोई सम्बन्ध परवारोंके साथ भी रहा हो, किन्तु पद्मावती पुरवालोंका निकास परवारोंके 'सप्तम मूर' पद्मावतिया' से हुआ हो, यह कल्पना ठीक नहीं लगती और न प्राचीन प्रमाणोंसे उसका समर्थन ही होता है, तथा न सभी 'पुरवाड वंश' परवार ही कहे जा सकते हैं। और न इस कल्पनाका साधक कोई प्राचीन प्रमाण भी उपलब्ध है। किसी जातिके गोत्रों अथवा मूरसे अन्य किसी जातिके नामकरण करनेकी कल्पनाका कोई आधार भी नहीं मिलता, अतएव उसे संगत नहीं कहा जा सकता।

कविवर रइधूके स्वयं 'पोमावइ' नगरीके समुल्लेख द्वारा, जो पंडित बखतरामसे कमसे कम दो सौ वर्षसे भी अधिक पुराने विद्वान हैं, अपनेको पद्मावती पुरवाल प्रकट करते हैं जिसका अर्थ पद्मावती नामकी नगरीके निवासी होता है। हां, यह हो सकता है कि पद्मावती नामकी नगरीमें बसने वाले परवारों के उससे बाहर या अन्यत्र बस जानेपर उन्हें 'पद्मावतिया' कहा जाने लगा हो जैसा कि आजकल भी देखा जाता है कि देहली या कलकत्ते वाले किसी सज्जनके किसी अन्य शहरमें बस जानेपर उसे 'देहलिया'

---

१. नवनागाः पद्मावत्यां कांतिपूर्यां मथुरायां, विष्णुपुराण अंश ४ अध्याय २४।

२. स्व० ओझाजी कृत राजपूतानेका इतिहास, प्रथम जिल्द, पृ० २३०।

३ सात खाप परवार कहावें.. पद्मावतिया सप्तम मानो।

या 'कलकतिया' कहा जाता है और बादमें यही नाम गोत्रादिके रूपमें उल्लिखित किया जाने लगता है, इसी तरह 'पद्मावतिया' भी परवारोंका सातवां मूर बन गया हो, कुछ भी हो इस सम्बन्धमें विशेष अनुसन्धानकी जरूरत है।

कविवर रइधू गृहस्थ विद्वान थे, और वे देव-शास्त्र-गुरुके भक्त थे। तथा क्षणभंगुर संसारसे विरक्त थे—उदासीन रहते थे; क्योंकि प्रस्तुत कविने अपनेको 'कविकुलतिलक', 'सुकवि' और 'पंडित' विशेषणोंके अतिरिक्त मुनि या आचार्य जैसा कोई भी विशेषण प्रयुक्त नहीं किया, इससे वे गृहस्थ विद्वान ही जान पड़ते हैं। वे जैनसिद्धान्तके अच्छे विद्वान और गृहस्थोचित देव पूजादि नैमित्तक षट्कर्मोंका पालन करते थे। पुराण तथा साहित्यके विशिष्ट अभ्यासी और रचयिता थे। धार्मिक ग्रन्थोंके अभ्यासके साथ साथ पद्यबद्ध चरितग्रन्थोंके प्रणयनमें अनुरक्त थे। पुराण और चरित ग्रन्थोंके अतिरिक्त कविवरकी दो रचनाएं सैद्धान्तिक भी समुपलब्ध हैं, जिनमें एक पूर्ण और दूसरी अपूर्ण रूपमें उपलब्ध है। और वे दोनों गाथाबद्ध पद्योंमें रची गयी हैं इन सब ग्रन्थोंके समवलोकनसे कविके सैद्धान्तिक ज्ञानका भी परिचय मिल जाता है।

कविवर रइधू प्रतिष्ठाचार्य भी थे, उन्होंने अपने समयमें अनेक जैन मूर्तियोंकी प्रतिष्ठा करायी थी। संवत् १४९७ में इन्होंने भगवान आदिनाथकी एक विशाल मूर्तिकी प्रतिष्ठा ग्वालियरके तत्कालीन तोमरवंशी शासक डूंगरसिंहके राज्य-कालमें करायी थी[1]।

कवि रइधू विवाहित थे या अविवाहित, इसका कोई स्पष्ट उल्लेख मेरे देखनेमें नहीं आया, और न कविने अपनेको कहीं बाल-ब्रह्मचारीके रूपमें ही उल्लेखित किया है ऐसी स्थितिमें उन्हें विवाहित मानना उचित है। कविवरने 'यशोधरचरित' की प्रशस्तिके 'णंदउ रइधू परवारिजुत्त' वाक्य द्वारा अपने कुटुम्बकी मंगल कामना व्यक्त की है और अपनेको परिवार के साथ व्यक्त किया है, किन्तु उन्होंने अपनी सन्तान आदिके सम्बन्धमें कोई उल्लेख नहीं किया। रइधूके दो भाई भी थे जिनका नाम बाहोल और माहणसिंह था, जैसा कि 'बहलद्दचरिउ' (पद्मचरित) के निम्न घत्तेके अंशसे प्रकट है—

"बाहोल माहणसिंह चिरु णंदउ इह रइधू कवितीयउ विधारा।"

इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि हरिसिंहके तीन पुत्र थे बाहोल, माहणसिंह और कवि रइधू। यहां पर मैं इतना और प्रकट कर देना चाहता हूं कि आदिपुराणकी संवत् १८५१ की लिखी हुई एक प्रति नजीबाबाद जिला विजनौर के शास्त्र भंडारमें है जो बहुत ही अशुद्ध रूपमें लिखी गयी है और जिसकी आदि अन्तकी प्रशस्ति त्रुटित एवं स्खलित रूपमें समुपलब्ध है। उसमें आचार्य सिंहसेनको

---

१ 'संवत् १४९७ वर्षे वैशाख......७ शुक्र पुनर्वसु नक्षत्रे श्री गोपाचल दुर्गे महाराजाधिराज राजा श्री डुंग (डूंगरसिंह राज्य) संवर्तमानो (नो) श्री काञ्ची (काष्ठा) संघे माथूरान्वये पुष्करण (णे) भट्टारक श्री ग (गु) णकीर्ति देवस्तत्पट्टे यशःकीर्तिदेव प्रतिष्ठाचार्य श्री पंडित रइधू तेयं (तेषां) आ-माये (म्नाये) अग्रोतवंशे गोइल गोत्रा (त्रे) साधु'
—जैन लेख सं० बा० पूरणचन्द्र नाहर कलकत्ता

ग्रंथकर्ताके रूपमें उल्लिखित किया गया है। और सिंहसेनने अपनेको हरिसिंहका पुत्र प्रकट किया है। इस प्रतिका परिचय कराते हुए मुख्तार श्री जुगलकिशोरजीने रइधूको सिंहसेनका बड़ा भाई बतलाया था[1]। पं० नाथूरामजी प्रेमीने दशलक्षण जयमालाकी प्रस्तावनाके टिप्पणमें रइधूको सिंहसेनका बड़ा भाई माननेकी मुख्तार साहबकी कल्पनाको असंगत ठहराते हुए दोनोंको एक ही व्यक्ति सूचित किया था[2]। परंतु कविवर रइधूकी उपलब्ध रचनाओंके अध्ययन करनेसे दोनों कल्पनाएं संगत प्रतीत नहीं होतीं, क्योंकि रइधूने अपने किसी भी ग्रन्थमें अपना नाम सिंहसेन व्यक्त नहीं किया। और जिस ग्रन्थका ऊपर उल्लेख किया गया है उसका नाम मेघेश्वरचरित है आदिपुराण नहीं, और कर्ताका नाम कवि रइधू है सिंहसेन नहीं। उसकी रचना आदिपुराणके अनुसार की गयी है जैसा कि उस ग्रन्थके निम्न पुष्पिका-वाक्यसे प्रकट है—"इय मेहेसर चरिए आइपुराणस्स सुत्त अनुसरिए सिरि पंडिय रइधू विरइए सिरि महाभव्व खेमसीहसाहु णामंकिए सिरिपाल चक्कवइ हरणणामं एयादसमो संधिपरिछेओ समत्तो ॥ संधि ११ ॥"

कविवर रइधूके 'मेघेश्वर चरित' और नजीबाबादकी उस आदिपुराणकी प्रतिका मिलान करनेसे उस ग्रंथके रचयिता कवि रइधू और ग्रन्थका नाम मेहेसरचरिउ ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं है, उसमें साफ तौरपर उसका कर्ता रइधू सूचित किया है फिर मालूम नहीं नजीबाबाद वाली प्रतिमें रचयिताका नाम सिंहसेन आचार्य कैसे लिखा गया ? उसका अन्य किसी प्रतिसे समर्थन नहीं होता, और न रइधूके मेघेश्वरचरितसे उसकी भिन्नता ही प्रकट होती है ऐसी हालतमें उक्त दोनों कल्पनाएं संगत प्रतीत नहीं होतीं। रइधू कविके उक्त भाइयोंमें भी सिंहसेन नामका कोई भी भाई नहीं है जिससे उक्त कल्पनापर विचार किया जा सके।

गुरु-परम्परा—

कविवर रइधूने मेघेश्वर चरितकी प्रशस्तिमें लिखा है कि भट्टारक यशःकीर्तिने मेरे शिर पर हाथ रखकर मुझे संबोधित करते हुए कहा कि तुम मेरे प्रसादसे विचक्षण हो जाओगे। तदनुसार उन्होंने मुझे मंत्र दिया, और मेरे चिर पुण्योदय तथा सुरगुरुके प्रसादसे मुझे कवित्व गुणकी प्राप्ति हो गयी[3]। इसी

---

१ जैनहितैषी भाग १३ अंक ३।

२ दशलक्षण जयमालाकी 'कविका परिचय' नामकी प्रस्तावना।

३ तहु पय-पंकयाइं पणमंतउ, जा बुह णिवसइ जिण पय भत्तउ।
ता रिसिणा सो भणिउ विणोए, हत्थु णिए वि सुमहुत्ते जोएं।
भों रइधू पंडिय सुणु वयण सुहाए, होसि वियक्खणु मज्झु पसाएं
इय भणेवि मंतक्खरु दिण्णउ, ते णा राहिउ तंजि अछिण्णउ।
चिरपुण्णें कइत्त गुण-सिद्धउ. सुगुरु पसाएं हुवउ पसिद्धउ। —मेघेश्वर चरित्र प्रशस्ति।

कारण कविवरने भट्टारक यशःकीर्तिका निम्न वाक्यों द्वारा परिचय कराते हुए उन्हें भव्यरूपी कमल समूहका उद्‌बोधन करने वाला पतंग (सूर्य) तथा असंग (परिग्रह रहित) बतलाते हुए उनका जयघोष किया है, और उन्हींके प्रसादसे अपनेको काव्यका प्रकट करनेवाला भी सूचित किया है जैसा कि उसके निम्नवाक्योंसे स्पष्ट है—

"भव्व-कमल-सर-बोह-पयंगो, वंदिवि सिरि जसकित्ति असंगो।

तस्स पसाएं कव्व पयासमि, चिरभवि विहिउ असुह णिण्णासमि ।—सम्मइजिन चरिउ ।

इससे प्रकट है कि कविवर रइधू भ० यशःकीर्तिको अपना गुरु मानते थे और उनका यथोचित सम्मान भी करते थे। इसके सिवाय, बलहद्दचरिउ (पद्मचरित)की आद्य प्रशस्तिके चतुर्थ कडवकके निम्न वाक्य द्वारा जो उस ग्रन्थके निर्माणमें प्रेरक साहु हरसी द्वारा ग्रंथकर्ता (कवि रइधू) के प्रति कहे गये हैं और जिनमें ग्रन्थकर्ताको श्रीपालब्रह्म आचार्यके शिष्य रूपसे सम्बोधित किया गया है। साथ ही, साहू सोढलके निमित्ति 'नेमिपुराण' के रचे जाने और अपने लिए रामचरितके कहनेकी प्रेरणा की गयी है जिससे स्पष्ट मालूम होता है कि ब्रह्मश्रीपाल भी रइधूके गुरु थे, जो उस समय ब्रह्मचारी होते हुए भी 'आचार्य' के उपपदसे विभूषित थे। वे वाक्य इस प्रकार हैं—

"भो रइधू पंडिय गुणणिहाणु, पोमावइ वर वंसहं पहाणु ।
सिरिपाल बम्हआयरिय सीस, मह वयणु सुणहि भो बुह गिरीस ॥
सोढल णिमित्त णेमिहु पुराणु, विरयउ जहं कइजइ विहियमाणु ।
तं रामचरित्तु वि महु भणेहिं, लक्खण समेउ इय मणि मुणेहि ॥"

यह ब्रह्म श्रीपाल पं० रइधूके विद्या गुरु जान पडते हैं। यह भट्टारक यशःकीर्तिके शिष्य थे। सम्मइचरिउकी अन्तिम प्रशस्तिमें मुनि यशःकीर्तिके तीन शिष्योंका उल्लेख किया गया है, खेमचन्द, हरिषेण और ब्रह्मपाल्ह। इनमें उल्लिखित मुनि ब्रह्मपाल्ह ही श्रीपालब्रह्म जान पड़ते हैं[1]।

निवास स्थान और उसका ऐतिहासिक परिचय

कविवर रइधू ग्वालियरके निवासी थे। ग्वालियर प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान है। यद्यपि ग्वालियर राज्यके भेलसा (विदिशा) उज्जैन, मंदसौर (दशपुर) पद्मावती[2] आदि ऐतिहासिक स्थानोंमें जैन, बौद्ध

१ मुणि जसकित्तिहु सिस्स गुणायरु, खेमचंद हरिसेणु तवायरु ।
मुणि तहं पाल्हवंभुए णंदहु, तिण्णिवि पावहु भारणिकंदहु ॥

२ तहोरज्जिवणीसरु लद्धमाणु, जिणधम्मरसायण तित्तपाणु ।
सिरि पउमावइ पुरवाड वंसु उद्धरिउ जेण जयलद्धसंसु ।—पुण्याश्रवप्रशस्ति ।
विशेष परिचयके लिए अनेकान्त वर्ष ८ किरण-८-९ में प्रकाशित अतिशयक्षेत्र चन्द्रवाड नामका लेख ।

और वैदिक धर्मके बहुत प्राचीन ऐतिहासिक अवशेष पाये जाते है; किन्तु खास ग्वालियरमें बौद्ध वैदिकों और जैनियोंके पुरातत्त्वकी विपुल सामग्री मिलती है, जिससे स्पष्ट मालूम होता है कि ग्वालियर किसी समय जैनियोंका केन्द्र था। जैन साहित्यमें वर्तमान ग्वालियरको 'गोपाचल', गोपाद्रि, गोवगिरि, गोवागढ़, और ग्वालिय नामसे उल्लेखित किया गया है। ग्वालियरका यह किला बहुत प्राचीन है और उसे सूरजसेन नामके राजाने बनवाया था। कहा जाता है कि वहां ग्वालिय नामका एक साधू रहता था जिसने राजा सूरसेनके कुष्टरोगको दूर किया था। अतः उस समयसे ही इसका नाम ग्वालियर प्रसिद्ध हुआ है।

ग्वालियर इतिहासमें अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यहां का 'दूबकुण्ड' वाला शिलालेख जैनियोंके लिए विशेष महवत्त्की वस्तु है। उसमें संवत् ११४५ से पूर्व कई ऐतिहासिक जैनाचार्योंका उल्लेख पाया जाता है[1]। और सासबहूके मन्दिरमें वि० सं० ११५० का एक शिलालेख भी उत्कीर्ण है, जिसमें कच्छपघट या कछवाहा वंशके लक्ष्मण, वज्रदामन, मंगलराज, कीर्तिराज, मूलदेव, देवपाल, पद्मपाल, और महीपाल नामके दश राजाओंका यथाक्रमसे समुल्लेख किया गया है। तीसरा 'नरवर' का वह ताम्रपत्र है जो वि० सं० ११७७ में वीरसिंहदेवके राज्यमें उत्कीर्ण हुआ है। इसके सिवाय, ग्वालियरमें जैनियोंके भट्टारकोंकी पुरानी गद्दी रही है, खासकर वहांपर देवसेन, विमलसेन, धर्मसेन, भावसेन, सहस्रकीर्ति, गुणकीर्ति, यशःकीर्ति, मलयकीर्ति, और गुणभद्रादि अनेक भट्टारक और मुनि हुए हैं। उनमें भ० यशःकीर्ति और भ० गुणभद्र आदिने चरित, पुराण तथा ग्रन्थोंकी रचना की है।

ग्वालियरका यह किला एक विशाल पहाड़ी चट्टानपर स्थित है और कलाकी दृष्टिसे बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। किलेमें कई जगह जन मूर्तियां खुदी हैं इस किलेसे पहाड़ीमें होकर शहरके लिए एक सड़क जाती है। इस सड़कके दोनों ओर चट्टानों पर उत्कीर्ण हुई कुछ जैन मूर्तियां अंकित है। ये सब मूर्तियां पाषाणकी कर्कश चट्टानोंको खोदकर बनायी गयीं हैं। इन मूर्तियोंमें भगवान आदिनाथकी मूर्ति सबसे विशाल है, इसके पैरोंकी लंबाई नौ फीट है और इस तरह यह मूर्ति पैरोंसे पांच या छह सात गुणी ऊंची है। मूर्तिकी कुल ऊंचाई ५७ फीटसे कम नहीं है। मुनि शीलविजय और सौभाग्यविजयजीने अपनी अपनी तीर्थमालामें इस मूर्तिका प्रमाण बावन गज बतलाया है[2]। और बाबरने अपने आत्मचरितमें इस मूर्तिको करीब ४० फीट ऊंची लिखा है[3] साथ ही उन नग्न मूर्तियोंको खंडित कराने के

---

१ एपी. इण्डि० भा० २ पृ० २३७।

२ "बावन गज प्रतिमा दीपती गढ़ गुवालेरि सदा सोभती ॥ ३३ ॥"—तीर्थमाला पृ० १११।

"गढ ग्वालेर बावनगज प्रतिमा वंदु ऋषभ रंगरोलीजी, १४–२

यह प्रतिमा बावन गजकी नहीं है, यह किसी भूलका परिणाम जान पड़ता है।

(सौभाग्यविजय तीर्थमाला पृ० ९८)

३ बाबरका उस मूर्तिको ४० फीटकी बतलाना भी ठीक नहीं है वह ५७ फीटसे कम नहीं हैं।

घृणित एवं नृशंस कार्यका जिक्र भी किया है। यद्यपि उनमें की अधिकांश मूर्तियां खंडित करा दी गयी हैं; परन्तु फिर भी उनमें की कुछ मूर्तियां आज भी अखंडित मौजूद हैं। किलेसे निकलते ही इस विशाल मूर्तिका दर्शन करके दर्शकका चित्त इतना आकृष्ट हो जाता है कि वह कुछ समयके लिए सब कुछ भूल जाता है और उस मूर्तिकी ओर एकटक देखते हुए भी तबियत नहीं भरती। सचमुच यह मूर्ति कितनी सुन्दर, कलात्मक और शान्तिका पुंज है। इसके दर्शनसे परम शान्तिका स्रोत बहने लगता है। यद्यपि भारतमें जैनियोंकी इस प्रकारकी और भी कई मूर्तियां विद्यमान हैं, उदाहरणके लिए श्रवण-बेलगोलकी बाहुबली स्वामीकी उस विशाल मूर्तिको ही लीजिये, वह कितनी आकर्षक, सुन्दर और मनमोहक है इसे बतलानेकी आवश्यकता नहीं। एकबार प्रसिद्ध व्यापारी टाटा अपने कई अंग्रेज मित्रोंके साथ दक्षिणकी उस मूर्तिको देखनेके लिए गया, ज्योंही वह मूर्तिके समीप पहुंचा और उसे देखने लगा तो मूर्तिको देखते ही समाधिस्थ हो गया, और वह समाधिमें इतना तल्लीन हो गया कि मानो वह पाषणकी मूर्ति है। तब उसके साथी अंग्रेज मित्रोंने उसे निश्चेष्ट खड़ा हुआ देखकर कहा कि टाटा तुम्हें क्या हो गया है जो हम लोगोंसे बात भी नहीं करते, चलो अब वापस चलें; परंतु टाटा व्यापारी उस समय समाधिमें लीन था, मित्रोंकी बातका कौन जवाब देता, जब उसकी समाधि नहीं खुली तब उन्हें चिन्ता होने लगी; किन्तु आध घंटा व्यतीत होते ही उक्त टाटाकी समाधि खुल गयी और समाधि खुलते ही उसने यह भावना व्यक्त की, कि मुझे किसी भी वस्तुकी आवश्यकता नहीं हैं; किन्तु मरते समय मुझे इस मूर्तिका दर्शन हो। इससे मूर्तियोंकी उपयोगिताका अंदाज लग सकता है, ये मूर्तियां वैराग्योत्पादक और शांतिके अग्रदूत हैं, इनकी पूजा, बंदना, उपासना करनेसे जीव परमशान्तिका अनुभव करने लगता है। इस प्रकारकी कलात्मक मूर्तियोंका निर्माण करनेवाले शिल्पियोंकी अटूट साधना, अतुल धैर्य और कलाकी चतुराईकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

कविवर रइधूने पार्श्वपुराण और सम्यक्त्वगुणनिधान नामके ग्रन्थोंमें ग्वालियरका विस्तृत वर्णन दिया है और वहांकी सुवर्णरेखा नामकी नदीका भी उल्लेख किया है और लिखा है कि उस समय गोपाचल (ग्वालियर) समृद्ध था और वहांके निवासियोंमें सुख-शान्ति थी, वे धर्मात्मा, परोपकारी, सज्जन थे। उस समय ग्वालियरका शासक राजा डूंगरसिंह था, जो प्रसिद्ध तोमर क्षत्रिय कुलमें उत्पन्न हुआ था। डूंगरसिंह और उसके पुत्र कीर्तिसिंह या कीर्तिचन्द्रके राज्यमें प्रजामें किसी प्रकारकी अशान्ति न थी। पिता पुत्र दोनों ही राजा जैनधर्मपर पूरी आस्था रखते थे। यही कारण है कि उस समय ग्वालियरमें चोर, डाकू, दुर्जन, खल, पिशुन, तथा नीच मनुष्य नहीं दिखते थे। और न कोई दीन-दुखी ही दृष्टि-गोचर होता था, वहां चौहट्टेपर सुन्दर बाजार बने हुए थे, जिनपर वणिकजन विविध वस्तुओंका क्रय-विक्रय करते थे। वहां व्यसनी तथा हीन चरित्री मानव भी नहीं थे। नगर जिन-मन्दिरोंसे विभूषित था

और श्रावक दान पूजामें निरत रहते थे[1]। देव-गुरु,और शास्त्रके श्रद्धानी, विनयी, विचक्षण, गर्वरहित और धर्मानुरक्त मनुष्य रहते थे। और वहां श्रावक जन सप्त व्यसनोंसे रहित द्वादशव्रतोंका अनुष्ठान करते थे, जो सम्यग्दर्शनरूप मणिसे भूषित थे, जिनप्रवचनके नित्य अभ्यासी थे, और द्वारापेक्षण विधिमें सदाही सावधान रहते थे, जिन महिमा अथवा महोत्सव करनेमें प्रवीण थे और जो जिनसूत्र रूप रसायनके सुननेसे तृप्त तथा चैतन्य गुणस्वरूप पवित्र आत्माका अनुभव करते थे। जहां नारीजन दृढ़शीलसे युक्त थीं और पर पुरुषोंको अपने बांधव समान समझती थीं, कविवर रइधू कहते हैं कि मैं उस नगरकी स्त्रियोंका क्या वर्णन करूं[2]? और जो तीन प्रकारके पात्रोंको दानसे निरन्तर पुष्ट करती थीं। ऊपरके इस संक्षिप्त दिग्दर्शनसे मालूम होता है कि उस समय ग्वालियर जैनपुरी था, जहां अनेक विशाल जिन मूर्तियोंका निर्माण, प्रतिष्ठा, महोत्सव और अनेक ग्रन्थोंका निर्माण किया जाता हो, उसे जैनपुरी बतलाना अनुचित नहीं हैं। कविवर रइधू वहांके नेमिनाथ और वर्द्धमानके जिनमन्दिरोंके पास बने हुए विहारमें रहते थे, जो कवित्त रूप रसायन निधिसे रसाल थे—वैराग्य, शान्त और मधुरादि रससे अलंकृत थे जैसाकि उनके निम्नवाक्योंसे प्रकट है—

परिस सावयहिं विहियमाणु णेमीसर जिणहरि वड्ढमाणु।
णिवसइ जा रइधूकवि गुणालु, सुकवित्त रसायण णिहिं रसालु॥

—सम्मत्त गुण णिहाण—

समकालीन राजा

तैमूरलंगने भारतपर १३९८ ई० में आक्रमण किया था, दिल्लीके शासक महमूदशाहने उसका सामना किया, किन्तु महमूदके परास्त हो जाने पर उस समय दिल्लीमें तीन दिन तक कत्ले आम हुआ और तमाम धन संपत्ति लूटी गयी। तब दिल्लीके तंवर या तोमर वंशी वीरसिंह नामके एक क्षत्रिय सरदारने ग्वालियरपर अधिकार कर लिया, उसके बाद विक्रमकी १६ वीं शतीके अन्ततक ग्वालियर पर इस वंशका शासन रहा है। उनमें से कविवर यशःकीर्तिके समकालीन राजा डूंगरसिंह और कीर्तिसिंहका परिचय नीचे दिया जाता है—

राजा डूंगरसिंह—यह तंवर या तोमरवंशका एक प्रधान वीर शासक था, यह राजनीतिमें दस, शत्रुओंका मानमर्दन करनेमें समर्थ और क्षत्रियोचित क्षात्र तेजसे अलंकृत था। इनके पिताका नाम गणेश या गणपति था जो गुणसमूहसे विभूषित था। अन्यायरूपी नागोंके विनाश करनेमें प्रवीण, पंचांग मंत्रशास्त्रमें कुशल तथा असिरूप अग्निसे मिथ्यात्वरूपी वंशका दाहक था और जिसका यश सब दिशाओंमें

१ पार्श्वपुराण प्रशस्ति। २ सम्यक्त्वगुणनिधान प्रशस्ति।

व्याप्त था। राज्य पट्टसे अलंकृत, विपुल भाल और बलसे सम्पन्न था[1]। डूंगरसिंहकी पट्ट-महिषी (पट्टरानी) का नाम 'चंदादे' था, जो अतिशय रूपवती और पतिव्रता थी। इनके पुत्रका नाम कीर्तिसिंह या 'कित्तिपाल' था जो अपने पिताके समान ही तेजस्वी, गुणज्ञ, बलवान और राजनीतिमें चतुर था जैसा कि 'पउमचरिउ' की "तहिं डूंगरिंदु णामेणराउ....इत्यादि" पंक्तियोंसे प्रकट है।

डूंगरसिंहने नरवरके किलेपर घेरा डालकर अपना अधिकार कर लिया था। शत्रुलोग इसके प्रताप एवं पराक्रमसे सदा भय खाते थे। वह न्यायी और प्रजावत्सल शासक था। राजा डूंगरसिंह जैनधर्म पर केवल अनुराग ही न रखता था; किन्तु उसपर अपनी आस्था भी रखता था जिसके फलस्वरूप ही उसने किलेमें दिगम्बर जैन मूर्तियोंकी खुदाईके कार्यमें सहस्रों रुपया व्यय किये थे। यद्यपि जैन मूर्तियोंकी खुदाईका यह पवित्र कार्य उसके जीवनमें सम्पन्न नहीं हो सका था। विक्रम संवत् १४९७से कीर्तिसिंहके राज्यकाल (वि० सं० १५३६)के कुछ वर्ष पूर्व तक—अर्थात् वि० सं० १४९७से वि० सं० १५२९ तक—३२ वर्ष जैन मूर्तियोंका निर्माण कार्य हुआ। जिसे उसके प्रिय पुत्र कीर्तिसिंहने पूरा कराया था[2]। डूंगरसिंहके समय अनेक जैन मूर्तियोंका निर्माण वहांके निवासी भव्य श्रावकोंने भी कराया था और जिनके प्रतिष्ठा महोत्सव भी उसीके शासनकालमें बड़े भारी वैभवसे सम्पन्न हुए थे। चौरासी मथुराके जम्बूस्वामीके मन्दिरकी मूलनायक प्रतिमा भी उसीके राज्यकालमें ग्वालियरमें प्रतिष्ठित हुई थी[3]। उनमें से कितनी ही मूर्तियोंको मुगल बादशाह बाबरने बादको खडित करानेका नृशंस एवं घृणित कार्य किया था। अवशिष्ट मूर्तियां आज भी अखंडित मौजूद हैं जो जैनधर्मके अतीत गौरवकी चिरस्मृति हृदयपटपर अंकित करती हैं, ये मूर्तियां कलाकी दृष्टिसे अत्यन्त सुन्दर हैं और दर्शकके चित्तको अपनी ओर आकृष्ट करती हुई वीतरागता एवं आत्मिक शान्तिका—जीवनकी विशुद्ध स्वतंत्रतावस्थाका—सच्चा उपदेश देती हैं।

डूंगरसिंह सन् १४५४ (वि० सं० १४८१) में ग्वालियरकी गद्दीपर बैठा था, इसके राज्यसमयके दो मूर्तिलेख संवत् १४९७ और १५११के मिले हैं[4]। और संवत् १४८६ की दो लेखक-प्रशस्तियां, एक

१—"तहिं तोमरकुल सिरि रायहंसु.....इत्यादि' पद्य (पार्श्वपुराण)।

२—ठाकुर सूर्यवर्माकृत ग्वालियरका इतिहास।

३—गोपाचलदुर्गे तोमरवंशे राजा श्री गणपतिदेवस्तत्पुत्रो महाराजाधिराज श्री डूंगरसिंहराज्ये प्रणमति।

—जम्बूस्वामी मंदिर, चौरासी-मथुरा

४—संवत् १४९७ वर्षे वैशाख....७ शुक्ले पुनर्वसुनक्षत्रे श्री गोपाचलदुर्गे महाराजाधिराज राजा श्री डुंग (डुंगरसिंह राज्य) संवर्तमानो (ने) का ष्ठी (ष्ठा) संघे माथुरान्वये.....॥' "सिद्धि सम्वत् १५१० वर्षे। माघसुदि ८ अष्टम्यां श्री गोपगिरौ महाराजाधिराज राजा डुंगरेन्द्रदेवराज्य प्रवर्तमाने काष्ठासंघे माथूरान्वये भट्टारक श्री क्षेमकीर्ति.....॥ जैनशिलालेखसंग्रह भाग २ पृ० ९३ (पूरणचन्द नाहर द्वारा संकलित)

पं० विबुधश्रीधरके संस्कृत भविष्यदत्तचरित्रकी और दूसरी अपभ्रंश भाषाके सुकुमालचरितकी प्राप्त हुई हैं[1]। इनके सिवाय, संवत् १५०६ की एक अपूर्ण लेखक-प्रशस्ति कविवर धनपालकी 'भविसयत्तपंचमीकहा' की प्राप्त हुई है[2]। जो कारंजाके शास्त्रभंडारमें सुरक्षित है। इन सब उल्लेखोंसे राजा डूंगरसिंहका राज्य-कालसंवत् १४८१से वि० सं० १५१०तक ३२ वर्ष तो निश्चित ही है। इसके बाद और कितने वर्ष राज्यका संचालन किया यह प्रायः अभी अनिश्चित है, परन्तु उसकी निश्चित सीमा संवत् १५२१ से पूर्व है।

कीर्तिसिंह[3]—यह वीर और पराक्रमी राजा था, इसका दूसरा नाम कीर्तिपाल भी प्रसिद्ध था[4]। इसने अपने पिताके राज्यको और भी अधिक विस्तृत कर लिया था। यह दयालु, सहृदय और प्रजावत्सल था। यह भी जैनधर्मपर विशेष अनुराग रखता था और उसने पिता द्वारा आरब्ध जैन मूर्तियोंकी अविशिष्ट खुदाईको पूरा किया था। ग्रंथकार कवि रइधूने सम्यक्त्वकौमुदीकी रचना इसके राज्यकालमें की है। उसमें कीर्तिसिंहके यशका वर्णन करते हुए लिखा है कि यह तोमर कुलरूपी कमलोंको विकसित करनेवाला सूर्य था और दुर्वारशत्रुओंके संग्रामसे अतृप्त था, और अपने पिता डूंगरसिंहके समान ही राज्य भारको धारण करनेमें समर्थ था। सामन्तोंने जिसे भारी अर्थ समर्पित किया था तथा जिसकी यशरूपी लता लोकमें व्याप्त हो रही थी और उस समय यह कलिचक्रवर्ती था।" जैसा कि नागौर भंडारकी सम्यक्त्वकौमुदीकी प्रति (पृ० २) से प्रकट है।

राजा कीर्तिसिंहने अपने राज्यको खूब पल्लवित एवं विस्तृत किया था और वह उस समय मालवेके समकक्ष हो गया था। और दिल्लीका बादशाह भी कीर्तिसिंहकी कृपाका अभिलाषी बना रहना चाहता था; परन्तु सन् १४६५ (वि० सं० १५२२) जौनपुरके महमूदशाहके पुत्र हुशैनशाहने ग्वालियरको विजित करनेके लिए बहुत बड़ी सेना भेजी थी, तबसे कीर्तिसिंहने दिल्लीके बादशाह बहलोललोदीका पक्ष छोड़ दिया था और जौनपुरवालोंका सहायक बन गया था। सन् १४७८

---

१ नागपुर विश्वविद्यालयकी पत्रिका १९४२ सं. ८।
तथा जैन सिद्धान्तभास्कर भाग ११ किरण दोमें प्रकाशित 'भ० यशःकीर्ति' नामका मेरा लेख।

२ मध्यप्रांत तथा बरारके संस्कृत प्राकृत ग्रन्थोंकी सूची पृ० ९४।

३ स्व० श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा द्वारा सम्पादित टाडराजस्थानके पृष्ठ २५०की ग्वालियरके तंवरवाली टिप्पणीमें कीर्तिसिंहके दूसरे भाई पृथ्वीराजका उल्लेख किया हुआ है जो सन् १४५२ (वि० सं० १५०९) में जौनपुरके सुल्तान महमूदशाह शर्की और दिल्लीके बादशाह बहलोल लोदीके बीच होनेवाले संग्राममें महमूदशाहके सेनापति फतहखां हावीके हाथसे मारा गया था। परन्तु कविवर रइधूके ग्रंथोंमें डूंगरसिंहके एक मात्र पुत्र कीर्तिसिंहका ही उल्लेख पाया जाता है।

४ "तहु कित्तिपालु, णंदण, गरिट्ठु, णं रूव कामु सव्वह मणट्ठु। —सिद्ध चक्रावधानकी अन्तिम प्रशस्ति।

में हुशैनशाह दिल्लीके बादशाह बहलोल लोदीसे पराजित हो कर अपनी पत्नी और सम्पत्ति वगैरहको छोड़ कर भागा और भाग कर ग्वालियरमें राजा कीर्तिसिंहकी शरणमें गया था। तब कीर्तिसिंहने धनादिसे उसकी सहायता की थी और कालपी तक उसे सकुशल पहुंचाया भी था। कीर्तिसिंहके समयके दो लेख सन् १४६८ (वि० सं० १५२५) और सन् १४७३ (वि० सं० १५३०) के मिले हैं। कीर्तिसिंहकी मृत्यु सन् १४७९ (वि० सं० १५३६) में हुई थी। अतः इसका राज्यकाल संवत् १५१० के बाद १५१६ तक माना जाता है। इन दोनों राजाओंके समयमें ग्वालियरमें प्रजा बहुत सुखी एवं समृद्ध रही, और जैनधर्मका वहां खूब गौरव एवं प्रचार रहा।

समकालीन विद्वान भट्टारक—

कविवर रइधूने ग्वालियरका परिचय कराते हुए वहांके भट्टारकोंका भी संक्षिप्त परिचय 'सम्मइ-जिन चारिउ' की प्रशस्तिमें कराया है, और देवसेन, विमलसेन, धर्मसेन, भावसेन, सहस्रकीर्ति, गुणकीर्ति, मलयकीर्ति, और गुणभद्र आदिका नामोल्लेख पूर्वक परिचय दिया है। उनमेंसे यहां सहस्रकीर्तिसे बादके विद्वान् भट्टारकोंका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है जो कविवरके समकालीन थे।

भट्टारक गुणकीर्ति–यह भट्टारक सहस्रकीर्तिके शिष्य थे और उन्हींके बाद भ० पदपर आरूढ़ हुए थे। यह बड़े तपस्वी और जैन सिद्धान्तके मर्मज्ञ विद्वान् थे। इनका शरीर तपश्चरणसे अत्यंत क्षीण हो गया था, इनके लघुभ्राता और शिष्य भ० यशःकीर्ति थे। भट्टारक गुणकीर्तिने कोई साहित्यक रचना की अथवा नहीं, इसका स्पष्ट उल्लेख देखनेमें नहीं आया। परन्तु इतना जरूर मालूम होता है कि इनकी प्रेरणा एव उपदेशसे और कुशराजके आर्थिक सहयोगसे, जो ग्वालियरके राजा वीरमदेवके विश्व-सनीय मंत्री थे, और जो जिनेन्द्रदेवकी पूजामें रत थे, जिसने एक उन्नत एवं विशाल चन्द्रप्रभु भगवानका चैत्यालय भी बनवाया था, जो स्वर्गलोककी स्पर्धा करता था, इन्ही कुशराजने पं० पद्मनाभ नामके एक कायस्थ विद्वान् द्वारा संस्कृत भाषामें 'यशोधरचरित' अथवा दयासुन्दर नामका एक महाकाव्य भी बनवाया था, जैसा कि इस ग्रन्थकी प्रशस्तिके निम्न पद्योंसे प्रकट है—

ज्ञाता श्री कुशराज एव सकलक्ष्मापालचूड़ामणिः।
श्री मत्तोमरवीरमस्य विदितो विश्वासपात्रं महान्।
मंत्री मंत्रविचक्षणः क्षणमयः क्षीणारिपक्षः क्षणात्।
क्षोण्यामीक्षण रक्षण क्षममतिर्जैनेन्द्रपूजारतः॥
स्वर्गस्पर्द्धिसमृद्धिकोऽतिविमलच्चैत्यालयः कारितो।
लोकानां हृदयङ्गमो बहुधनैश्चन्द्रप्रभस्य प्रभोः।

येनैतत्समकालमेव रुचिरं भव्यं च काव्यं तथा ।
साधु श्रीकुशराजकेन सुधिया कीर्तिश्चिरस्थापकम् ॥

× × ×

उपदेशेन ग्रन्थोऽयं गुणकीर्ति महामुनेः ।
कायस्थ पद्मनाभेन रचितः पूर्वसूत्रतः ॥

यतः वीरमदेवका समय वि० सं० १४६२ (ई० सन् १४०५) है; क्योंकि उस समय मल्लू-इकबालखांने ग्वालियर पर चढ़ाई की थी परन्तु उसे निराश होकर दिल्ली लौटना पड़ा था[१]। अतः यही समय भट्टारक गुणकीर्तिका है, वे विक्रिमकी १५ वीं शतीके अन्तिम चरण तक जीवित रहे हैं।

भ० यशःकीर्ति—यह भट्टारक गुणकीर्तिके शिष्य और लघुभ्राता थे, और उनके बाद पट्टधर हुए थे। यह अपने समयके अच्छे विद्वान् थे। इन्होंने संवत् १४८६ में विबुधश्रीधरका संस्कृत भविष्यदत्त चरित और अपभ्रंश भाषाका सुकमालचरित ये दोनों ग्रन्थ अपने ज्ञाना वरणी कर्मके क्षयार्थ लिखवाये थे[२]। महाकवि रइधूने अपने 'सम्मइजिन चरिउ' की प्रशस्तिमें यशःकीर्तिका निम्न शब्दोंमें उल्लेख किया है—

"तह पुणु सु-तव-ताव-तवि यंगो, भव्व कमल संबोह पयंगो।
णिच्चोब्भासिय पवयण अंगो, वंदिविसिरि जसकित्ति असंगो।
तासु पसाए कव्वु पयासमि, आसि विहिउ कलिमलु णिण्णासमि।"
"भव्व-कमस-सर-बोह-पयंगो, वंदिवि सिरि जसकित्ति असगो।

सम्मतगुणनिधानकी आदि प्रशस्तिमें निम्नरूपसे स्मरण किया है। भ० यशःकीर्तिने स्वयं अपना 'पाण्डव पुराण' वि० सं० १४९७ में अग्रवालवंशी साहू बील्हाके पुत्र हेमराजकी प्रेरणासे बनाया था, यह पहले हिसारके निवासी थे और बादको देहलीमें रहने लगे थे, और देहली के बादशाह मुबारकशाहके मंत्री थे, वहां इन्होंने एक चैत्यालय भी बनवाया था।

---

१. हिन्दी टाड-राजस्थान ओझाजी द्वारा सम्पादित पृ० २५१।

२. "सम्वत् १४८६ वर्षे अश्वणिवदि १३ सोमदिने गोपाचलदुर्गे राजा डूंगरसिंहदेव विजयराज्य प्रवर्तमाने श्री काष्ठासंघे माथूरान्वये पुष्करगणे आचार्य श्री भावसेनदेवास्तत्पट्टे श्री सहस्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे श्रीगुणकीर्ति देवास्तत्शिष्येन श्रीयशःकीर्तिदेवेन निजज्ञानावरणी कर्मक्षयार्थं इदं सुकमालचरितं लिखापित, कायस्थयाजन पुत्र थलूलेखनीयं।"

"सम्वत् १४८६ वर्षे आषाणवदि ९ गुरुदिने गोपाचलदुर्गे राजा डूंगरसी (सिं) ह राज्य प्रवर्तमाने श्री काष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे आचार्य श्री सहस (स्र) कीर्तिदेवास्तत्पट्टे आचार्य गुण कीर्तिदेवा स्तच्छिष्य श्री यशःकीर्तिदेवास्तेन निजज्ञानावरणी कर्मक्षयार्थं इदं भविष्यदत्त पंचमीकथा लिखापितम् ॥

और उसकी प्रतिष्ठा भी करायी थी[1]। इनकी दूसरी कृति 'हरिवंशपुराण' है जिसकी रचना इन्होंने वि० सं० १५०० में हिसारके साहू दिवड्डाकी प्रेरणासे की थी[2]। साहू दिवड्ढा अग्रवाल कुलमें समुत्पन्न हुए थे और उनका गोत्र 'गोयल' था। वे बड़े धर्मात्मा और श्रावकोचित द्वादश व्रतोंका अनुष्ठान करने वाले थे। इनकी तीसरी कृति 'आदित्यवार कथा' है, जिसे रविव्रतकथा भी कहते हैं। और चौथी रचना 'जिनरात्रि-कथा' है जिसमें शिवरात्रि कथाके ढंग पर जिनरात्रिके व्रतका फल बतलाया गया है। इनके सिवाय 'चंदप्पह चरिउ' नामका अपभ्रंश भाषाका एक ग्रन्थ और भी उपलब्ध है जिसके कर्ता कवि यशःकीर्ति हैं। चंद्रप्रभचरितके कर्ता प्रस्तुत यशःकीर्ति हैं इसका ठीक निश्चय नहीं; क्योंकि इस नामके अनेक विद्वान् हो गये हैं।

भ० यशःकीर्तिको महाकवि स्वयंभूदेवका 'हरिवशंपुराण' जीर्ण शीर्ण दशामें प्राप्त हुआ था और जो खंडित भी हो गया था, जिसका उन्होंने ग्वालियरकी कुमर नगरीके जैन मन्दिरमें व्याख्यान करनेके लिए उद्धार किया था[3]। यह कविवर रइधूके गुरु थे, इनकी और इनके शिष्योंकी प्रेरणासे कवि रइधूने अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है। इनका समय विक्रिमकी १५ वीं शतीका अन्तिम चरण है, सं०१४८१से १५०० तक तो इनके अस्तित्वका पता चलता ही है किन्तु उसके बाद और कितने समय तक वे जीवित रहे यह निश्चित बतलाना कठिन है[4]।

भ० मलयकीर्ति—यह भट्टारक यशःकीर्तिके बाद पट्टपर प्रतिष्ठित हुए थे। इनके शिष्य गुणभद्र भट्टारक थे जिन्होंने इनकी कृपासे अनेक कथाग्रंथ रचे हैं। कवि रइधूने 'सम्मइजिनचरिउ' की प्रशस्तिमें भट्टारक मलयकीर्तिका निम्न शब्दोंमें उल्लेख किया है!—'उत्तम-खम-वासेण अमंदउ, मलयकित्ति रिसिवरु चिरु णंदउ।' मलयकीर्तिने किन ग्रंथोंकी रचना की यह ज्ञात नहीं हो सका।

भ० गुणभद्र—यद्यपि गुणभद्रनामके अनेक विद्वान् हुए हैं जिनमें उत्तरपुराणादिकके कर्ता गुणभद्र तो प्रसिद्ध ही हैं। शेष दूसरे गुणभद्र नामके अन्य विद्वानोंका यहां परिचय न देकर मलयकीर्तिके शिष्य गुणभद्रका ही परिचय दे रहा हूं। भ० गुणभद्र माथुरसंघी भ० मलयकीर्तिके शिष्य थे और अपने गुरुके बाद गोपाचलके पट्टपर प्रतिष्ठित हुए थे। इनकी रची हुई निम्न १५ कथाएं है जो देहली पंचायत मन्दिरके गुटका नं० १३-१४ में दी हुई हैं, जो संवत् १६०२ में श्रावणसुदी एकादशी सोमवारके दिन रोहतक नगरमें पातिशाह जलालुद्दीनके राज्यकालमें लिखा गया है[5]। उन कथाओंके नाम इस प्रकार हैं—

१, "तहो णंदणु णंदणु हेमरा...उ इत्यादि" पाण्डव पुराण प्रशस्ति।

२. "विक्कम-रायहो ववगय कालइं........इत्यादि" हरिवंशपुराण प्रशस्ति।

३, तं जसकित्ति मुणिहिं उद्धरियि........इत्यादि" स्वयंभू हरिवंश पुराण प्रशस्ति।

४ जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ११ किरण ० में भ० यशःकीर्ति नामका लेख।

५ अथ संवत्सरेस्मिन् श्री नृप विक्रमादित्यराज्यात् संवत् १६०२ वर्षे श्रावण सुदि ११ सोमवासरे रोहितास-शुभस्थाने पातिसाह जलालदी (जलालुद्दीन) राज्य प्रवर्तमाने ॥ छ ॥

१ अणंतवयकहा २ सवण वारसिविहाणकहा ३ पक्खवइकहा ४ णहपंचमीकहा ५ चंदायणवय कहा ६ चंदण छट्ठी कहा ७ णरयउतारीदुद्धारस कहा ८ णिद्दहसत्तमी कहा ९ मउउसत्तमी कहा १० पुप्फंजलिवय कहा ११ रयणत्तयविहाण कहा १२ दहलक्खणवय-कहा १३ लद्धिवयविहाण कहा १४ सोलहकारणवयविहि १५ सुगंधदशमी कहा। इनमेंसे सं० १, १० और १२ की तीनों कथाएं ग्वालियरके जैसवाल वंशी चौधरी लक्ष्मणसिंहके पुत्र पंडित भीमसेनके अनुरोधसे रची गयी हैं और सं० २ तथा १३ की कथाएं ग्वालियरवासी संघपति साहु उद्धरणके जिनमंदिरमें निवास करते हुए साहु सारंगदेवके पुत्र देवदासकी प्रेरणाको पाकर बनायी गयी हैं। तथा सं० ७ की कथा गोपाचलवासी साहु बीधाके पुत्र सहजपालके अनुरोधसे लिखी गयी है। शेष नौ कथाओंके सम्बन्धमें कथा निर्माणके निमित्त श्रावकोंका कोई परिचय नहीं दिया है।

भट्टारक गुणभद्रका समय भी विक्रमकी १५ वीं शतीका अन्तिम चरण और १६ वीं शतीका प्रारंभिक है; क्योंकि संवत् १५०६ की लिखी हुई धनपाल पंचमी कथाकी लेखक-पुष्पिकासे मालूम होता है कि उस समय ग्वालियरके पट्टपर भ० हेमकीर्ति विराजमान थे[1]। और संवत् १५२१ में राजा कीर्तिसिंहके राज्यमें गुणभद्र मौजूद थे, जब ज्ञानार्णवकी प्रति लिखी गयी थी[2]। इन्होंने अपनी कथाओंमें रचनाकाल नहीं दिया है। इसीसे निश्चित समय मालूम करनेमें बड़ी काठनाई हो जाती है।

इन विद्वान् भट्टारकोंके अतिरिक्त क्षेमकीर्ति, हेमकीर्ति, कुमारसेन, कमलकीर्ति और शुभचन्द्र आदिके नाम भी पाये जाते हैं। इनमेंसे क्षेमकीर्ति, हेमकीर्ति और कुमारसेन ये तीनों हिसारकी गद्दीके भ० जान पड़ते हैं; क्यों कि कवि रइधूके पार्श्वपुराणकी सं० १५४९ की लेखक-पुष्पिकामें जो हिसारके चैत्यालयमें लिखी गयी है उक्त तीनों भट्टारकोंके अतिरिक्त भट्टारक नेमिचन्द्रका नाम भी दिया हुआ है जो कुमारसेनके पट्टपर प्रतिष्ठित हुए थे, उस समय वहां शाह सिकन्दरका राज्य था[3]।

कुछ ग्रन्थ प्रशस्तियोंके ऐतिहासिक उल्लेख—

महाकवि रइधूकी समस्त रचनाओंमें यह विशेषता पायी जाती है कि उनकी आद्यन्त प्रशस्तियोंमें तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओंका समुल्लेख भी अंकित है, जो ऐतिहासिक दृष्टिसे बड़े ही महत्त्वका है और वह अनुसंधान-प्रिय विद्वानोंके लिए बहुत ही उपयोगी है। उन उल्लेखोंपरसे ग्वालियर, जोइणिपुर (दिल्ली) हिसार तथा आसपासके अन्य प्रदेशोंके निवासी जैनियोंकी प्रवृत्ति, आचार-विचार और धार्मिक मर्यादाका अच्छा चित्रण किया जासकता है, खास कर

१ धनपाल पंचमीकथाकी लेखक प्रशस्ति, कारंजा-प्रति।

२ ज्ञानार्णवकी लेखक-पुष्पिका, जैन सिद्धान्त भवन, आराकी प्रति।

३ पार्श्वपुराणकी लेखक-पुष्पिका, जैन सिद्धान्त भवन आराकी प्रति।

विक्रमकी १५ वीं शतीके उत्तरप्रान्त वासी जैनियोंके तात्कालिक जीवन पर अच्छा प्रकाश डाला जा सकता है। उनमेंसे बतौर उदाहरणके यहां कुछ घटनाओंका उल्लेख किया जाता है।

(१) हरिवंशपुराणकी आद्य प्रशस्तिमें उल्लिखित भट्टारक कमलकीर्तिके पट्टका 'कनकाद्रि' 'सुवर्णगिरि' या वर्तमान सोनागिरमें प्रस्थापित होना और उसपर भट्टारक शुभचन्द्रके पदारूढ़ होनेका ऐतिहासिक उल्लेख बड़े महत्त्वका है। उससे यह स्पष्ट मालूम होता है कि ग्वालियर भट्टारकीय गद्दीका एक पट्ट सोनागिर में भी स्थापित हुआ था, जैसा कि हरिवंशपुराणकी प्रशस्तिकी निम्न पंक्तियों से प्रकट है— **"कमलकित्ति उत्तमखम धारउ, भव्वहिं भव-अबोणिहि तारउ।**
तस्स पट्ट कणयद्दि परिट्ठिउ, सिरि सुहचन्द सु-तव उक्कंठिउ।"

(२) कविके 'सम्मइजिनचरिउ' की प्रशस्तिमें जैनियोंके आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ भगवानकी एक विशाल मूर्तिके निर्माण करानेका उल्लेख निम्न प्रकारसे दिया हुआ है और उसमें बतलाया है कि अग्रवाल कुलावतंश संसार-शरीर भोगोंसे उदासीन, धर्मध्यानसे संतृप्त, शास्त्रोंके अर्थ रूपी रत्न समूहसे भूषित, तथा एकादश प्रतिमाओंके संपालक, खेल्हा नामके ब्रह्मचारी उस श्रावकने मुनि यशः-कीर्तिकी वन्दना की, और कहा कि आपके प्रसादसे मैंने संसार दुःखका अन्त करनेवाले चन्द्रप्रभ भगवान की एक विशाल मूर्तिका निर्माण ग्वालियरमें कराया है, इस आशयको व्यक्त करनेवाली मूल पंक्तियां इस प्रकार हैं—

"ता तम्मि खणि बंभवय-भार भारेण सिरि अयरवालंक वंसम्मि सारेण।
संसार-तणु-भोय-णिव्विण्ण चित्तेण वर धम्म झाणामएणेव तित्तेण।
खेल्हाहिहाणेण णमिऊण गुरुतेण जसकित्ति विणयत्तु मंडिय गुणोहेण।
भो भयण दावग्गि उल्हवण णणदाण संसार-जलरासि-उत्तार-वर जाण।
तुम्हहं पसाएण भव-दुह-कयंतस्स, ससिपह जिणेंदस्स पडिमा विसुद्धस्स।
काराविया मइंजि गोवायले तुगं, उडुचावि णामेण तित्थम्मि सुह संग।"

पुण्याश्रवकथाकोशकी अन्तिम प्रशस्तिमें बतलाया है कि जोइणिपुर (योगिनीपुर-दिल्ली) के निवासी साहू तोसउ के प्रथम पुत्र नेमिदासेन, जिसे चन्द्रवाडके प्रतापरुद्र नामके राजाने सन्मानित किया था बहुत प्रकारकी धातु, स्फटिक और विद्रुममयी (मूंगाकी) अगणित प्रतिमाए बनवायी थीं, और उनकी प्रतिष्ठा भी करायी थी, तथा चन्द्रप्रभ भगवानका उत्तुंग शिखरोंवाला एक चैत्यालय भी बनवाया था।

(४) सम्मत्तगुणनिधान नामके ग्रन्थकी प्रथमसंधिके १७ वें कडवकसे स्पष्ट है कि साहू खेमसिंहके पुत्र कमलसिंहने भगवान आदिनाथकी एक विशाल मूर्तिका निर्माण कराया था, जो ग्यारह हाथ ऊंची थी, और दुर्गतिकी विनाशक, और मिथ्यात्व रूपी गिरीन्द्रकेलिए वज्रसमान, भव्यों

के लिए शुभगति प्रदानकरनेवाली और दुख-रोग-शोककी नाशक थी। ऐसी महत्वपूर्ण मूर्तिकी प्रतिष्ठा करके महान् पुण्यका संचय किया था और चतुर्विध संघकी विनय भी की थी।

(५) 'सम्मइजिनचरिउ' में फीरोज शाहके द्वारा हिसार नगरके वसाये जाने और उसका परिचय कराते हुए वहां सिद्धसेन और उनके शिष्य कनककीर्तिका नामोल्लेख किया है। इन सबकी पुष्टि 'पुण्णासव, सम्मतगुणनिधान' तथा जसहरचरिउ की' प्रशशिस्तयोंसे होती है।

(६) हिसारनगरके वासी सहजपालके पुत्र सहदेव द्वारा जिन बिम्बकी प्रतिष्ठा कराने और उस समय अभिलषित बहुत दान देनेका उल्लेख भी 'सम्मइजिनचरिउ' की अन्तिम प्रशस्तिमें दिया हुआ है। साथ ही, सहजपालके द्वितीयादि पुत्रों द्वारा गिरनारकी यात्राके लिए चतुर्विध संघ चलाने तथा उसका कुल आर्थिक भार वहन करनेका भी समुल्लेख पाया जाता है जैसा कि उसके "ताहं पढमु वर कित्ति लयाहरु...इत्यादि" आठ पद्योंसे प्रकट है।

(७) यशोधरचरितकी प्रशस्तिसे भी प्रकट है कि लाहण या लाहडपुरके निवासी साहू कमलसिंहने गिरनारकी यात्रा ससंघ अपने समस्त परिजनोंके साथ की थी और यशोधर चरित नामके ग्रन्थका निर्माण भी कराया था[१]।

उपरोक्त सभी समुल्लेख ऐतिहासिक घटनाओंसे ओत-प्रोत हैं। इनका ध्यानपूर्वक समीक्षण करनेसे इनकी महत्ताका सहज ही बोध हो जाता है। अतः ये अन्वेषक विद्वानोंके लिए भी उपयोगी सिद्ध होंगे।

कविवर रइधूका समय—

कवि रइधू विक्रमकी १५ वीं शतीके विद्वान थे, इनकी 'सम्मत्तगुणनिधान' और 'सुकौशलचरित' नामकी दो कृतियोंको छोड़कर शेष कृतियोंमें रचना काल नहीं दिया है, जिससे निश्चित रूपमें यह बतलाना तो कठिन है कि उन सब कृतियोंका निर्माणकाल कबसे कबतक रहा है; परन्तु कवि ग्वालियरके तोमरवंशी नरेश डूंगरसिंह और उनके पुत्र कीर्तिसिंहके समकालीन हैं और उन्हींके राज्यमें उनका निर्वाण हुआ है, जैसा कि पहले लिखा गया है। क्योंकि इनका राज्य समय वि० सं० १४८१ से १५३६ तक रहा है। अतः इनका मध्यवर्तीकाल ही प्रस्तुत कविकी रचनाओंका समय कहा जा सकता है। इतना ही नहीं किन्तु अधिकांश कृतियां संवत् १५०० से पूर्व ही रची गयी हैं। अतः १५ वीं शतीका उत्तरार्ध और १६ वीं शतीका प्रारम्भिक भाग रइधूका काल जानना चाहिये।

कविवरने 'सम्यक्त्वगुण निधान' नामक ग्रंथकी रचना वि० सं० १४९२के भाद्रपद शुक्ला

१ जे गिरीणयरहु जत्त पवित्तउ, पविहिय णिय परियण संजुत्तउ।—यशोधरचरित प्रशस्ति।

पूर्णिमा मंगलवारके दिन पूर्ण की है। इस ग्रंथको कविने तीन महीनेमें बनाकर समाप्त किया था, जैसाकि उक्त ग्रंथके निम्न प्रशस्ति वाक्यसे प्रकट है—

चउदहसय वाणउ उत्तरालि, वरिसइ गय विक्कमराय कालि।
वक्खेयत्तु जि जण [यण] समक्खि, भद्दवमासम्मि स-सेय पक्खि।
पुण्णमिदिणि कुजवारे समोइं, सुहयारे सुहणामें जणोइं।
तिहुमासयरंति पुण्णहूउ। 'सम्मत्त-गुणाहि-णिहाणु धूउ।

सुकौशलचरितकी रचना वि० सं० १४९६ माघवदी १० वीं के दिन अनुराधा नक्षत्रमें हुई है जैसाकि निम्नवाक्यसे स्पष्ट है—

सिरिविक्कम समयंतरालि, वट्टंतइ इंदु सम विसमकालि।
चौदह सय संवच्छरइ अण्ण, छण्णउवअहि पुणु जाय पुण्ण।
माह दुजि किण्ह दहमीदिणम्मि, अणुराहुरिक्ख पयडिय सकम्मि।

सम्मत्तगुणनिधान ग्रंथकी प्रशस्तिमें अन्य ग्रन्थोंकी रचनाका कोई उल्लेख नहीं है; किन्तु सुकौशलचरितकी प्रशस्तिमें निम्न ग्रंथोंके रचे जानेका स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध होता है। पार्श्वनाथ-चरित, हरिवंशपुराण और बलभद्रचरित (पद्मपुराण) से यह स्पष्ट मालूम होता है कि वि० १४९६ से पूर्व इनकी और इनमें उल्लिखित ग्रन्थोंकी रचना हो चुकी थी। बलहद्दचरिउमें सिर्फ हरिवंशपुराण (नेमिजिनचरित) का समुल्लेख मिलता है। जिससे बलहद्दचरिउसे पूर्व हरिवंशपुराणकी रचना होनेका अनुमान होता है। हरिवंशपुराणमें त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित (महापुराण), मेघेश्वर चरित, यशोधरचरित, वृत्तसार, जीवंधरचरित इन छह ग्रंथोंके रचे जानेका उल्लेख किया है जिससे यह स्पष्ट जाना जाता कि इन छह ग्रंथोंकी रचना भी वि० सं० १४९६ से पूर्व हो चुकी थी।

सम्मइजिनचरिउ प्रशस्तिमें, मेघेश्वरचरित, त्रिषष्ठिमहापुराण, सिद्धचक्रविधि, बलहद्दचरिउ, सुदर्शनशील कथा और धन्यकुमारचरित नामके ग्रंथोंका उल्लेख पाया जाता है। यतः सम्मइ-जिनचरिउका रचनाकाल दिया हुआ नहीं है अतः यह कहना कठिन है कि इनकी रचना कब हुई थी, पर इनता तो निश्चित है कि वे सब ग्रंथ सम्मइजिनचरिउसे पूर्व रचे गये हैं।

इन ग्रंथोंके सिवाय, करकण्डुचरित -सिद्धान्तार्थसार, उपदेशरत्नमाला, आत्मसंबोधकाव्य, पुण्याश्रव कथा, और सम्यक्त्वकौमुदी ये छह ग्रंथ कब रचे गये हैं? करकंडुचरित और त्रिषष्ठि महा-पुराण ये दोनों ग्रंथ अब तक देखनेमें नहीं आये हैं। इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त और भी ग्रंथ उक्त कविवरके रचे हुए होंगे; परन्तु उनका पता अब भी किसी शोधककी प्रतीक्षामें हैं।

---

१ खरतरगच्छके हरिसागरसूरिका शास्त्रभंडार।

पाइय साहित्यका सिंहावलोकन

श्री प्रा० हीरालाल आर० कापडिया, एम० ए०

भारत अनेक भाषाओंकी जन्मभूमि है। सुविधाके लिए उन्हें १ पाइय (प्राकृत) २ संस्कृत तथा ३ द्रविड़ इन तीन वर्गोंमें रख सकते हैं। ऋग्वेदके निर्माणके समय जो भाषा बोली जाती थी वह पाइय (प्राकृत) भाषाका प्राचीनतम रूपमेंथा। इस भाषाकी कोई कृति उपलब्ध नहीं है। जैनोंकी अद्धमागधी (अर्धमागधी) तथा बौद्धोंकी पाली पाइयके द्वितीय युगके रूप हैं। आज भी इन दोनों भाषाओंका पुष्कल साहित्य उपलब्ध है। विषय निरवधि है अतः यहां पाली साहित्यकी चर्चा नहीं करेंगे।

जेन आगम ग्रन्थ अर्द्धमागधी साहित्यके प्राचीनतम ग्रन्थ माने जाते हैं। श्वेताम्बर मान्यतानुसार इनमेंसे कुछकी रचना भगवान् महावीरके समय (५९९–५२७ ई० पू०) में हुई थी[१]। छन्द, नाटय, संगीत शास्त्र तथा दो भाषात्मक नाटकोंमें मरहट्ठी (महाराष्ट्री) सोरसेनी (शौरसेनी) मागती (मागधी) अरहठ (अपभ्रंश अथवा अपभ्रष्ट) पेसाई (पैशाची), आदि अनेक प्राकृत भाषाओं तथा बोलियोंके नाम[२] मिलते हैं।

व्याकरण—पालीका व्याकरणभी पाली भाषामें ही उपलब्धहै इसके अतिरिक्त अन्य प्राकृतोंकी यह स्थिति नहीं है। उनकी कुछ विशेषताओं तथा संस्कृत व्याकरणकी कुछ वातोंका दिग्दर्शन ही इनके व्याकरण हैं। उदाहरणके लिए आयारका (द्वि०, ४, १ रू० ३३५) तीन वचन-लिंग-काल-पुरुष चित्रण, ठाणका (अष्टम) आठ कारक निरूपण आदि। यह ज्योंका त्यों अणुओगद्दार (सू० १२८) में पाया जाता है। इस आगमके पृ० १०५ ब पर (१) एकाक्षर तथा (२) अनेकाक्षर शब्दोंका उल्लेख मिलता है। पृ० १११-२ ब पर लिंग विवेचन है। सूत्र १२४, १२५, १३० में क्रमशः चार, पांच और दश प्रकारकी संज्ञाओंका उल्लेख है। सात समासों (सू० १३०) का भी वर्णन है। "कप्प निजन्थी..." (प० १३०) पांच प्रकारके पदोंका उल्लेख करता है तथा अगले पद्यमें चार प्रदार्थोंका निर्देश है। 'आवस्सय' "की विसेसावास्सय भास्य' मराठी टीकामें पाइय भाषाकी विशेषताओंका वर्णन है[३]।"

---

१ जैन आगमसाहित्यका इतिहास।

२ "भारतीय तथा इरानी अध्ययन' नामक ग्रन्थमें श्री कटारेका 'प्राकृत भाषाओंके नाम' शीर्षक निबन्ध।

३ "पाइय साहित्यके व्याकरण-वैशिष्ट्य" सार्वजनिक सं० ४३ (अक्तूबर१९४१)

कोशकार—शोभन मुनिके भाई,तिलकमञ्जरीके कर्ता धर्मपालने अपनी कनिष्ठा बहिन सुन्दरीके लिए सम्वत् १०२९ में "पाइय-लच्छि-नाममाला' बनायी थी। कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्रसूरि (सं० ११९५ १२६७) दूसरे पाइय कोशकार थे। इनकी रयनावलीमें देसी (देश्य) शब्दोंका प्ररूपण है। इससे ही ज्ञात होता है कि छह विद्वानोंने इस दिशामें कार्य किया था जिनमें अभिमानसिंह भी एक थे इनकी वृत्तिपर उदात्ताचलने टीका लिखी थी, किन्तु वे सब ग्रन्थ अब तक अप्राप्य ही हैं। गोपालने पद्य देसीकोश बनाकर संस्कृतमें शब्दार्थ दिया था। हेमचन्द्रके समान देसी शब्दोंका पाइयमें ही अर्थ देने वाले देवराज और गोपालमें भेद है। 'तरंगावलिके' यशस्वी लेखक पादलिप्तसूरिने भी देशी कोश लिखा था। शिताङ्ग तथा राहुलके विषयमें भी ऐसी ही किम्वदन्ती है।

छन्द शास्त्र—श्री पिङ्गलका 'पाइय-पिंगल' नौदियड्यका गाहालक्खन, अज्ञात नामक लेखक का कविदप्पण, स्वयम्भूचन्द्र विरहांकका काइसट्टह और रत्नशेखरका छन्दोकोस, आदि मुद्रित पाइय-छन्द ग्रन्थ हैं।

अलंकार—अनुओगद्दारमें प्राप्त नवरसोंके वर्णनपर से अनुमान किया जाता है कि पाइय-अलंकार ग्रन्थ अवश्य रचे गये हों गे। यदि अनुमान निराधार सिद्ध हो तो भी सं० ११६१ से पहिले लिखा गया अलंकारदप्पण तो प्राप्य ग्रन्थ है ही।

नाटक—कप्पूरमंजरी समान सट्टकोंके अतिरिक्त भी प्रत्येक संकृत नाटक प्राकृतोंसे परिपूर्ण है। वस्तुतः इन्हें संस्कृत नाटक कहना सत्य नहीं है क्योंकि इन सबमें दो से अधिक भाषाओंका उपयोग हुआ है प्राकृतोंकी विविधताके लिए मृच्छकटिकका स्थान अनुपम है।

कथा—अपनी विविधता तथा विपुलताके कारण भारतीय कथा साहित्य विश्वमें विख्यात है। पाइय लेखकोंकी इस क्षेत्रमें भी भारी देन है। उवासगदसा सुन्दर संक्षिप्त कहानियोंका भण्डार है। हरि-भद्रकी समराइच्चकहा तथा धुत्ताक्खान सर्व विश्रुत हैं। जैन पुराण साहित्य अति विपुल है।

काव्य—प्रवरसेनका सेतुबन्ध तथा वाक्पतिराजका गौडवहो सुप्रसिद्ध पाइय महाकाव्य हैं। वाक्पतिराजका 'महामोहविजय', सर्वसेनका हरिविजय अब तक अप्राप्य हैं। गोविन्दाभिसेयके बारह सर्गों में प्रथम आठके रचयिता बिल्वमंगल हैं और शेष सर्ग उनके शिष्य दुर्गाप्रसाद ने लिखे थे। ये दोनों केरलदेश वासी थे। श्रीकण्ठका यमक-काव्य, रामपाणिवादके 'उसानिरूद्ध तथा कंसवहो' आदि अन्य काव्य ग्रन्थ हैं।

स्तोत्र—मराठी पाइयमें अनेकजैनस्तोत्र हैं; यथा नन्दिषेणका अजियसान्ति काया, जिनप्रभका पासनाह लहुथाया, भद्रबाहुका उवसग्गहरथोत्त तथा तिजयपहुत्तथोत्त, आदि सुप्रसिद्ध हैं।

कवितावलि—प्राचीन युगमें कवितावलियोंका महत्त्वका स्थान रहा है। 'हालकी गाहासतसई'

प्राकृत साहित्य ही नहीं समग्र संस्कृत साहित्यमें प्राचीनतम ग्रन्थ है। जयवल्लभके 'वज्जालग्ग' पर रत्नदेवगणिने १३९३ में टीका लिखी थी। भानुचन्द्रके शिष्य सिद्धिचन्द्रगणि ने 'सुभासियसंदोहकी' रचना की थी। भवभावना आदि पाइय ग्रन्थ सूक्तिओंसे परिपूर्ण हैं। कुमारपालचरिया भी नीति वाक्योंसे परिप्लावित है।

दर्शन—अर्धमागधीमें लिखित 'पवयणसार, पंचसुत्त सम्मइपयरण, धम्मसंगहणी, कर्मग्रन्थ आदि विविध दार्शनिक ग्रन्थ हैं।

गणित शास्त्र—आर्यभट्टके गणित पदकी टीकामें भास्करने पाइय पद्य उद्धृत किये हैं, जिस परसे पाइय गणित ग्रन्थोंका अनुमान किया जा सकता है। सूयगड निज्जुत्तिकी सीलांककृत टीकामें तीन गुरुगाथाएं भी यही अनुमान कराती हैं। इनके अतिरिक्त सूरियपण्णत्ति, इइसियकरण्डग, तिलोयपण्णत्ति, आदि ग्रन्थ गणित शास्त्रके उल्लेखोंसे परिपूर्ण हैं।

विविध ग्रन्थ—जिनप्रभसूरिका णाणातित्थकहा, दुर्गदेवका रिट्ठसमुच्चय, सग्गरसुद्धि, सिद्धपाहुण, मयणमाउड, पिवीतियाणाण, वत्थुसार, आदि विविध ग्रन्थ हैं।

यह अति संक्षिप्त तथा एक सम्प्रदायके साहित्यको ही प्रधानतया दृष्टिमें रखकर लिखा गया निबन्ध यह सिद्ध करनेके लिए पर्याप्त हैं कि संस्कृतकी भांति प्रत्येक विश्वविद्यालयको प्राकृत पाठनकी पूर्ण व्यवस्था करनी चाहिये। इससे हमारी दृष्टि उदार होगी। और भाषाके आधार पर निर्मित दलबन्दी भी स्वतः शिथिल हो जायगी।

प्रश्नोत्तररत्नमालाका कर्ता ?

श्री पं० लालचन्द्र भगवान् गान्धी

प्रश्नोत्तर रत्नमालाके कर्तृत्वके सम्बन्धमें कितने ही समयसे मत-भेद चला आता है। एक २९ आर्याकी लघुकाय कृतिके भिन्न भिन्न दिगम्बर, श्वेताम्बर, जैन, ब्राह्मण, बौद्ध, अनेक कर्ता होना विचित्र है। तथापि भिन्न भिन्न स्थानोंमें प्राप्त विविध नाम-निर्देश सत्य गवेषणा करनेके लिए आह्वान करते हैं।

सितपट-गुरु विमल नामयुक्त मूलकी प्राचीन प्रतियां—

सन् १८९० की आवृत्तिमें और पिछली सन् १९२६ को चौथी आवृत्तियोंमें इस कृतिके ऊपर नीचे प्राचीन प्रति (संवेगि साधु श्रीशान्तिविजयजी की) के आधारसे 'श्रीविमल प्रणीता (विरचिता) प्रश्नोत्तररत्नमाला' छपा हुआ है। और इसकी अन्तिम २९ वीं आर्यामें रचयिताने अपना नाम विमल, और अपने विशेषणमें' सितपटगुरु (श्वेताम्बराचार्य) स्पष्ट सूचित किया है—

> **"रचिता सितपटगुरुणा विमला विमलेन रत्नमालेव।**
> **प्रश्नोत्तरमालेयं कण्ठगता कं न भूषयति ?॥ २९ ॥"**

लेकिन सम्पादकने वहां टिप्पणीमें आर्याके स्थानमें दो पत्रवाली (सूरतके श्रेष्ठि भगवान्दास प्रेषित) पोथीका पाठान्तर अनुष्टुप् श्लोक भी दिया है—

> **"विवेकात् त्यक्तराज्येन राज्ञेयं रत्नमालिका।**
> **रचिताऽमोघवर्षेण सुधियां सदलंकृतिः॥"**

यह पोथी कितनी प्राचीन है?, अथवा यह श्लोक-लेखन कितना प्राचीन है? मालूम नहीं। विवेकसे राज्यका त्याग करनेपर भी नामका मोह त्याग न करनेवाला अपनेको 'राजा' शब्द द्वारा परिचित करे पूर्व नामका त्याग न करे? एक लघुकृतिके कर्तारूपमें अपनेको प्रकट करे; यह विचित्र लगता है। अमोघवर्ष नामक अनेक राजा हो गये हैं तथापि कई दिगंबर विद्वानोंका मत है कि दि० आचार्य जिनसेन

आदिका जो भक्त था, वह इसका कवि होना चाहिए, जो विक्रमकी नवमी शतीके अन्तमें, और दशमी शतीके प्रारम्भमें विद्यमान था।

सुप्रसिद्ध पं० नाथूराम प्रेमीजीने 'जैनसाहित्य और इतिहास (पृ० ५१९) में अमोघवर्षका परिचय कराते हुए उसे इस प्रश्नोत्तर रत्नमालाका कर्ता बतलाया है और सूचित किया है कि "प्रश्नोत्तररत्नमालाका तिब्बतीभाषामें एक अनुवाद हुआ था, जो मिलता है, और उसके अनुसार वह अमोघवर्षको बनायी हुई है। ऐसी दशामें उसे शङ्कराचार्यकी, शुकयतीन्द्रकी या विमलसूरिकी रचना बतलाना जबर्दस्ती है।"

सं० ५ की टिप्पणीमें उन्होंने लिखा है—"श्वेताम्बर साहित्यमें ऐसे किसी विमलसूरिका उल्लेख नहीं मिलता, जिसने प्रश्नोत्तररत्नमाला बनायी हो। विमलसूरिने अपने नामका उल्लेख करने वाला जो अन्तिम पद्य जोड़ा है, वह आर्या छन्दमें है, परन्तु ऐसे लघुप्रकरण ग्रन्थोंमें अन्तिम छन्द आम तौरसे भिन्न होता है, जैसा कि प्रश्नोत्तररत्नमालामें है और वही ठीक मालूम होता है।।"

यह कथन सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करने पर अपुष्टसा मालूम होता है। यह नहीं बताया कि—दिगम्बर साहित्यमें अन्यत्र कहां कहां उल्लेख मिलता है कि—अमोघवर्षने यह प्रश्नोत्तररत्नमाला बनायी थी। तिब्बती भाषाका लेखन अस्पष्ट और सन्दिग्ध है, ऐसे लेखन पर इस कृतिको अमोघवर्षकी बतलाना उचित नहीं है। श्वेताम्बर साहित्यमें विमलसूरिकी रचना सूचित करती हुई इस प्रश्नोत्तर-रत्नमालाकी ही छह सौ वर्ष प्राचीन शताधिक प्रतियां भिन्न-भिन्न स्थानोंमें उपलब्ध हैं। अतः सम्भव तो यह है कि—आर्यामय मूल ग्रन्थसे अलग मालूम पड़ता अमोघवर्ष नामवाला वह अनुष्टुप श्लोक, सित-पटगुरु विमल निर्देशवाली २९ वी आर्याके स्थानमें किसीने जोड़ा होगा।

यह कोई महाकाव्य नहीं है, कि सर्गके अन्तिम पद्योंकी तरह इसके अन्तमें भिन्न छन्दों वाली रचना चाहिये। प्रकरणोंके अन्तिम पद्य भिन्न छन्दमें होनेका कोई नियम नहीं है। अतः ऐसी दलीलोंसे इस कृतिको अमोघवर्षकी बतलाना युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता। तटस्थ दृष्टिसे इस निबन्धका मनन करने पर, इस कृतिका वास्तविक कवि सितपट-गुरु विमल प्रतीत होगा। यद्यपि राज्य त्यागनेवाले राजाका 'राजा' रूपसे परिचय देनेके समान ही 'सितपटगुरुणा' आदि भी सन्देहोत्पादक हैं।

राजा अमोघवर्षके नाम-निर्देशवाली प्रश्नोत्तर-रत्नमालाकी कितनी प्राचीन प्रतियां कहां कहां किस प्रकार उपलब्ध हुई है? किसीने प्रकट नहीं किया, श्वेताम्बर जैन-समाजके चतुर्विध संघमें इसका पठन-पाठन–प्रचार व्याख्यानादि अधिक रूपमें चलता रहा है, ऐसा मालूम होता है। श्वेताम्बर जैन विद्वानों, और आचार्योंने इसके उपर संक्षिप्त, विस्तृत, प्रत्येक प्रश्नोत्तरके साथ कथा-सहित वृत्तियां व्याख्या, अव-चूरि, बालावबोध, भाषार्थ-स्तवक (ठवा), वार्तिक आदि रचे हैं। सैकड़ों वर्षोंसे गुजरातमें इस कृतिने अच्छी

लोक-प्रियता पायी है। पठन-पाठनके लिए उपयुक्त प्रकरणसंग्रह, प्रकीर्णग्रन्थसंग्रह, प्रकरणपुस्तिका आदिमें इसके प्रति समादर दर्शाया है।

गुजरातकी प्राचीन राजधानी पट्टनमें भिन्न-भिन्न प्राचीन जैनग्रंथभंडारोंमें इस प्रश्नोत्तररत्नमालाकी ताड़पत्र पर लिखी हुई १५ प्रतियां विद्यमान हैं। गायकवाड प्राच्य ग्रन्थमालाके सं० ७६ में प्रकाशित 'पत्तनस्थ प्राच्य जैनभाण्डागारीय ग्रन्थसूची [ताडपत्रीय विविधग्रन्थ परिचयात्मक प्रथम भाग]' में पांचसौ वर्षोंसे अधिक प्राचीन अनेक प्रतियोंके उल्लेख हैं। इसके अतिरिक्त संघवी, पट्टन, डभोई (दर्भावती), बड़ौदा, लिंबडी भंडारोंकी प्रतियों, मध्यप्रान्त तथा बरारकी संस्कृत प्राकृत ग्रन्थसूची, बीकानेर, लन्दन, इटलीकी ग्रंथसूची, एशियाटिक सोसाइटी, खंभात, आदिकी सूचियोंमें विमलसूरि ही इसके कर्त्ता रूपसे उद्धृत हैं। जर्मन तथा फ्रैञ्च अनुवादकोंने भी इसे विमलसूरि कृत उल्लेख किया है।

विमलसूरि के उल्लेख—यद्यपि पीटर्सन ने 'पउमचरिउ' के कर्त्ताको बौद्ध लिखा था किन्तु श्री हरिदासशास्त्रीके निबन्धने उसका प्रतिवाद किया था। 'क्रियारत्न समुच्चयमें' गुणरत्नसूरिने, गुर्वावलीमें मुनि सुन्दरसूरिने तथा धर्मसागरजीने तपागच्छ पट्टावलिके अन्तमें विमलसूरिका स्मरण किया है। नवाङ्गी-वृत्तिमें, तथा दर्शनशुद्धिमें विमलगणिका उल्लेख है। एकविमलचन्द्र पाठक देवसूरिके बन्धु रूपमें डा० फ्लीट द्वारा उल्लिखित हैं। प्रा. वेवरकी जर्मन ग्रन्थसूची, अभिधानराजेन्द्र, गच्छमतप्रबन्ध, आदि उक्त आर्या रूपसे विमलसूरिका उल्लेख करते हैं। इस प्रकार अनेक विमल गुरुओंकी स्पष्ट संभावना होते हुए भी वि० सं० १२२३ में विरचित वृत्तिके आधारपर यही मानना उचित होगा कि इसकी रचना इस तिथिसे पहिले हो चुकी थी।

जैन सिद्धान्तभवन आरामें संकलित कन्नड़ लिपिके हस्तलिखित शास्त्रोंकी सूचीमें ५२७ संख्याक ग्रन्थ प्रश्नोत्तररत्नमाला है। इसमें कर्त्ता रूपसे अमोघवर्षको ही लिखा है। ऐतिहासिक लेखकों तथा शोधकोंने भी राष्ट्रकूट अमोघवर्षकी कृतियोंमें इसे गिनाया है। तथापि विशेष विवरण एवं अनेक प्रतियोंके अभावमें उसकी मान्यतापर विश्वास नहीं किया जा सकता है।

प्राकृत रूपान्तर—इसका किसी अज्ञात नाम विद्वानने प्राकृतमें भाषान्तर किया है जिसमें "पण्हुत्तर रयणमालं...इत्यादि" आशिष वचन है। इसपर उत्तमऋषिने गुजराती वार्तिक रचा था, जिसकी प्रति बड़ौदा जै० शा० म० में (सं० १०९२) सुरक्षित है। जैसलमेरके शास्त्र-भण्डारोंकी सूचीके आधार पर वि० सं० १२२३ में हेमप्रभसूरीने इसपर २१३४ श्लोक परिमाण वृत्ति रची थी। विवेचन करनेपर यह सम्वत् शुद्ध ही प्रतीत होता है। सं० १४२९ में देवेन्द्रसूरिने एक वृत्ति लिखी थी, जिसकी सं० १४४१, १४८६, १५३६ में की गयी प्रतिलिपियां पट्टन, पूना तथा बर्लिनमें अब भी सुरक्षित हैं।

इसके बादकी भी इसकी अनेक प्रतिलिपियां भारतभरमें मिलती हैं। यह प्राचीनतम वृत्ति भी लेखक रूपसे श्री विमल गुरुका स्मरण करती है। गुजराती बालबोध टीका विमलसूरिको ही कर्त्ता बताती है। श्रीआनन्द-समुद्रकी संक्षिप्त वृत्ति भी इसीकी पोषक है। इसपर निर्मित अवचूरि तथा कथामय वृत्तियां भी यही सिद्ध करती हैं।

शंकराचार्य सहित प्रतियां—बृहत्स्तोत्ररत्नाकर तथा बृहत्स्तोत्र-रत्नहारमें वेदान्त स्तोत्रोंके साथ मुद्रित प्र० रत्न० माला 'कः खलु नालंक्रियते' आदिसे प्रारम्भ होकर 'श्री मत्परमहंस...विरचिता' आदिमें समाप्त होती है। वर्नेल केटलाग वाले संस्करणसे "रचिता शंकरगुरुणा विमला विमलोत्तर-रत्नमालेयं" आदिके साथ "श्री मत्परमहंस...आदिमें" समाप्त होती है। शंकर सीरीजमें "...विमलाश्च भान्ति सत्समाजेषु (६७)" के उपरान्त 'इति कण्ठगता विमला....'तथा 'श्रीमत्परमसंसादि' के साथ समाप्त होती है। शंकराचार्यके नामके साथ एक अन्य प्रति प्रश्नोत्तर मणिरत्नमाला नामसे मिलती है।

इसका प्रारम्भ—"**अपार-संसार-समुद्रमध्ये सम्मज्जतो मे शरणं किमस्ति?**
गुरो? कृपालो? कृपया वदैतद् विश्वेशपादाम्बुज दीर्घनौका। १।"

तथा अन्त—"**कण्ठं गता श्रवणं गता वा प्रश्नोत्तराख्या मणिरत्नमाला।**
तनोतु मोदं विदुषां सुरम्या (प्रयत्नाद्) रमेश गौरीश कथेव सद्यः।३२।"

'श्रीमच्छाङ्कराचार्य विरचिता प्रश्नोत्तर रत्नमाला समाप्ता।' रूपसे होता है। इन सबका स्थूल परीक्षण ही यह सिद्ध करनेके लिए पर्याप्त है कि मूलकृतिमें ये बलवद् परिवर्तन किये गये हैं। फलतः निराधार एवं व्यर्थ हैं। इस संक्षिप्त सामग्रीके आधारपर विचारक स्वयमेव लेखकका निर्णय कर सकते हैं। जिसमें ग्रन्थका अन्तःपरीक्षण भी बहुत अधिक साधक होगा।
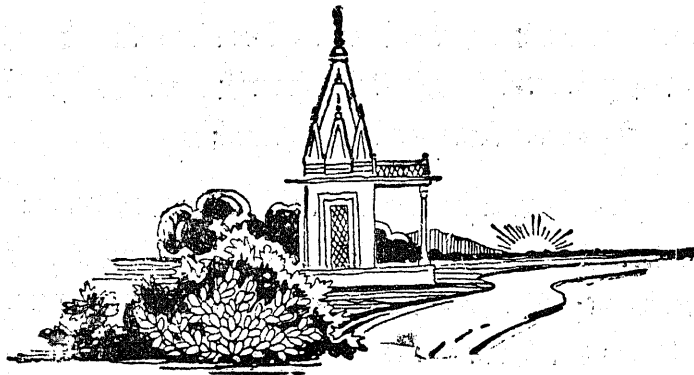
जैन कथाओंकी योरुप यात्रा

प्रा० कालीपद मित्र एम० ए०, बी० एल०, सहित्याचार्य

ट्वानीका अनुवाद—'कथाकोश'का ट्वानीकृत अनुवाद देखनेके पश्चात् 'कुमारपाल-प्रतिबोध' देखने पर यद्यपि ऐसा लगा है कि बहुत कुछ अंशोंका अनुवाद शुद्ध है। तथापि ट्वानीके अनुवादकी आधारभूत प्रति किसी प्राकृत प्रतिका संस्कृत भाषान्तर रही हो गी ऐसी कल्पना भी मनमें आती है। तथा वही मूल प्राकृत ग्रन्थ कुमारपालप्रतिबोधका भी स्रोत होना चाहिये। इतना ही नहीं हेमचन्द्र-कृत परिशिष्टपर्व भी आंशिक रूपसे उसी मूलग्रन्थका भाषान्तर होना चाहिये। डा० उपाध्ये द्वारा सम्पादित हेरिषेणकृत वृहत्कथाकोशके प्रकाशित होनेपर यह अनुमान स्पष्ट हो गया है क्योंकि प्रकृत कथाकोश प्राकृत 'आराधना' का संस्कृत रूप मात्र है।

हरिषेणका आराधना मूलाधार—श्री ट्वानीने अपने अनुवादमें उन भागोंका भाषान्तर नहीं किया है जो उन्हें प्राप्त प्रतिमें प्राकृतमें ही थे। तथा सम्प्रति आराधना कथाकोश और कु० प्र० की सहायतासे पूर्ण किये जा सकते हैं[1]। इस प्रकारके स्थलोंकी संख्या पर्याप्त है। कहीं कहीं मूलकी अस्पष्टताका उल्लेख करके ट्वानीने यथामति अनुवादको पूर्ण करनेका प्रयत्न किया है[2]। अनुवाद तथा कुमा० प्रतिबोधका पारायण करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनोंका मूल स्रोत कोई प्राकृत ग्रन्थ था जो कि हरिषेणका 'आराधना' ही हो सकता है। जैसा कि डा० उपाध्येके उपर्युल्लिखित ग्रन्थसे भी सिद्ध होता है।

विश्व कथाओंका मूलस्रोत अराधना—ट्वानीने अपने अनुवादमें यह भी संकेत किया है कि कथाकोश तथा योरूपकी कथाओंमें पर्याप्त समता है—

(क) एक किसानने अपने भोजनके एक भागको सत्पात्रमें देनेका नियम किया था। तथा यथाशक्ति वह जिनालयको भी दान देता था। एक दिन वह बहुत भूखा था। पत्नीके भोजन लाते ही वह मन्दिर गया और सत्पात्र (मुनि, आदि) की प्रतीक्षा करने लगा। किसी देवको उसकी परीक्षा

---

१ कुरुचन्द्र कथानक पृ० ७९-८, धन्यकथानक, भरत कथानक पृ० १९२-५। (ओरिएण्टल ट्रान्सलेशन फण्ड नवीं माला २, १८९५)

२ वहीं पृष्ठ २०८ की कुमा० प्रति० पृष्ठ ५९ "अकयत्तरस..इत्यादि" से तुलना।

लेनेकी धुन सवार हुई। वह तीन बार मुनियोंके भेष धारण करके आता है और सब भोजन ले जाता है।" यह कथा ग्रिमरोजकी ८१ वीं कथाका स्मरण दिलाती है जिसमें 'ब्राडर लाष्टिङ्ग' अपने भोजनका तीन चौथाई 'सेण्ट पीटर'को देता है जो कि भिक्षुरूपमें तीन बार उसके सामने आये थे।

(ख) **आरामशोभा** तथा सांपकी कथा—संपेरे द्वारा आहत सांपकी विद्युत्प्रभा रक्षा करती है। सांप शरीर छोड़कर देव रूपमें उसके सामने खड़ा हो जाता है तथा वर मांगनेको कहता है।' इसीका रूपान्तर काउनेके 'अण्डर डैस' 'ओलिवे वाडमैन' में मिलता है जहां लिश्टनैस किसी दुष्ट लड़केसे सांपको मुक्ति दिलाता है। सांप मन्त्र-कीलित राजकुमारी निकलता है और वह अपने मुक्ति दातासे विवाह कर लेती है।

(ग) "आरामशोभाका एक राजकुमारसे विवाह होता है। उसकी विमाता उसे मारकर राजपुत्रसे अपनी लड़की विवाहना चाहती है। फलतः वह विषाक्त मिष्टान्न उसे भेजती है।" गोजियन वाचके 'जिसीवियनिशे मांरचेन'में मत्सरी बहिनें 'मारज्जेडाके' पास विषाक्त रोट भेजती हैं।

(घ) "आरामशोभाके पुत्र होता है। विमाता उसे कुएंमें फेंक देती है और उसके स्थानपर अपनी लड़कीको लिटा देती है।" ग्रिमरोजकी ग्यारहवीं कथा "ब्रूडरचन तथा श्वेस्तरचन" की वस्तु भी ऐसी ही है।

(ङ) सोते समय ऋषिदत्ताके मुखको एक राक्षसी रंग देती है और वह राक्षसी समझी जाती हैं, आदि कथा ग्रिमरोजकी तीसरी कथा समान है।

(च) सागरदत्त चाण्डालसे कहता है कि दमनको मार डालो। वह उसकी एक अंगुली काटकर ही सागरदत्तको दिखाता है। इत्यादि कथा भी ग्रिमरोजकी २९ वीं कथाके समान है। इस प्रकार अनेक जैन काथाएं हैं जिन्हें योरूपियन कथाकारोंने अपना लिया था।

कथाएं कैसे योरुप गयीं—

कथाओंकी यह योरूप यात्रा एक नूतन मोहक समस्याको जन्म देती है। ट्वाइनीके मतसे "योरूपकी जिन कथाओंमें उक्त प्रकारकी समता है वे भारतवर्षसे ही योरूप ने (उधार) ली हैं। वास्तवमें ये कथाएं परसिया होकर योरूप पहुंची होंगी। अब लोग इस बातका अपलाप नहीं करते कि विविध कथाएं भारतसे योरूप आयी थीं। यह शंका 'कि क्या ये भारतमें ही सर्व प्रथम गढ़ी गयी थी?' हो सकती है...यदि धर्म प्रचारकों, प्रवासियों, तातार आक्रमणों, धर्म-युद्धों, व्यापारिक, आदि महायात्राओं के समय इन कथाओंके मौखिक आदान प्रदानको दृष्टिमें न रखा जाय। क्योंकि निश्चयसे इन्हीं अवसरों पर भारतीय जैन कथाओंकी धारा योरूपकी ओर बही थी।" भारतीय साहित्यकी सफल निर्माता राज्य-

सभाओं द्वारा ही ये कथाएं भारतसे बाहर गयी होंगी। एक शंका यह भी हो सकती है कि जैनधर्म तो बहुत कुछ भरतखण्डमें ही रहा है, फिर उसकी कथाएं बाहर कैसे गयीं? किन्तु भारतीय संस्कृतिको जैन धर्मकी अनुपम देनका विचार करते ही इसका समाधान स्वयं हो जाता है। यह कहना अति कठिन है कि भारतीय संस्कृतिको जैन, बौद्ध तथा वैदिक धर्मोंमेंसे किसने कितना दान दिया है। यह निश्चित है कि भारतीय धर्मकथाओंमय योरूपीय कथाएं भारतसे ही गयी थीं। पूर्वी भारतके समान उत्तर तथा पश्चिम भारतकी कथाएं भी योरूप पहुंची हैं। १९२२ ई० में 'जोव्वनीस हरतल'ने लिखा था कि गुजरात की श्वेताम्बर जैन कथाएं भी योरूपमें प्रचलित हैं। उदाहरण स्वरूप उन्होंने संस्कृत तथा गुजराती ग्रंथमें प्राप्त 'रत्नचूड़ कथा[१]' का उल्लेख किया था। यहूदियोंकी कितनी ही कथाओंका उद्गमस्थान भारत था[२]। भारतमें कथा साहित्यका भी आदान प्रदान था इसीलिए कितनी ही जैन कथाएं बौद्ध साहित्यमें पायी जाती हैं और बौद्ध धर्मके साथ वे तिब्बत, रूस, ग्रीस सिसली, इटली, आदि देशों तक चली गयी हैं। वास्तवमें भारतीय कथा साहित्यमें धर्म भेद नहीं है तथा समस्त धर्मोंके कथा साहित्यको भारतीय कथा कहना ही उपयुक्त होगा। जैन, बृहत्कथाकोशकी इस साहित्यमें अनुपम स्थिति है। इसकी 'कडारपिंग कथा' वासुदेव हिंडीमें ही नहीं मिलती है, अपितु बढ़ते बढ़ते इटली तक गयी हैं और संभवतः शेकस्पियरके एक नाटककी मूल वस्तु बन गयी है यद्यपि बाजली नाटकमें यह साधारणसी घटना रूपमें उपलब्ध होती है।
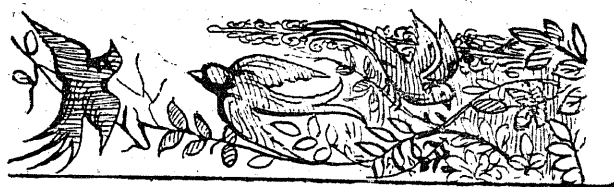
१, टवाइनी कृत कथाकोशके अनुवादकी भूमिका पृ. ९६-७।

२, इण्डियन हिस्टोरीकल क्वारटरली १९५६ सैप्टे०-दिस० में लेखकका लेख।

उत्तराध्ययनसूत्रका विषय

श्री प्रा० बलदेव उपाध्याय साहित्याचार्य, एम० ए०, आदि

जैन सिद्धान्तके अन्तर्गत उत्तराध्ययनसूत्र[1] की पर्याप्त प्रतिष्ठा तथा महत्ता है। यह प्रथम 'मूलसूत्र' माना जाता है। 'मूलसूत्र' का मूलत्व किंमूलक है, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। मूल शब्दका प्रयोग ब्राह्मण तथा बौद्ध ग्रन्थोंमें प्राचीन विशुद्ध ग्रन्थके लिए पाया जाता है। पैशाची बृहत्कथाके अनुवादक सोमदेवने अपने 'कथासरित्सागर' में मूल ग्रन्थके अनुगमन करनेकी प्रतिज्ञा की है (यथामूलं तथैवैतन्न मनागप्यतिक्रमः)। 'महाव्युत्पत्ति' में प्रयुक्त मूलग्रन्थ का प्रयोग भगवान् बुद्धके साक्षात् कहे हुए वचनोंके लिए ही प्रतीत होता है। 'सूत्र' से अभिप्राय दार्शनिक सूत्रोंके समान अल्पाक्षर विशिष्ट वाक्यों या वाक्यांशोंसे नहीं है, प्रत्युत महावीरके उपदेशोंके सार प्रस्तुत करनेके कारण ही ये ग्रन्थ इस शब्दके द्वारा अभिहित किये गये हैं। 'उत्तराध्ययन' के प्रथम पद 'उत्तर'की व्याख्या भी टीकाकारोंके मतमें विभिन्न सी है। एक टीकाकारने 'उत्तर' का अर्थ श्रेष्ठ बतलाकर इन सूत्रोंको सिद्धान्त ग्रन्थोंमें श्रेष्ठ माना है[2]। परन्तु ग्रन्थोंके नाममें उत्तर शब्दका प्रयोग अधिकतर 'अन्तिम' 'पिछला' के ही अर्थमें दीख पड़ता है। उत्तर नाम विशिष्ट ग्रन्थोंकी संख्या कम नहीं है, परन्तु सर्वत्र इसका संकेत 'पूर्व' के विपरीत 'पिछला' या 'अन्तिम' अर्थमें ही उपयुक्त दीखता है। उत्तरकाण्ड, उत्तरखण्ड, उत्तरग्रन्थ, उत्तरतन्त्र, उत्तर तापनीय —आदि ग्रन्थोंके नाम इस कथनके स्पष्ट प्रमाण हैं। भगवान् महावीरके अन्तिम उपदेश होनेके कारण ही इस ग्रन्थका यह नामकरण हैं। जैनियोंका सचेल सम्प्रदाय बतलाता है कि महावीरने अपने अन्तिम पज्जुसनमें बुरे कर्मोंके निर्देशक पचपन अध्यायोंको तथा छत्तीस विना पूछे हुए प्रश्नोंकी व्याख्या करके अपना शरीर छोड़ा (छत्तीस...अपुट्ठ वागरणाइं)। अन्तिम ग्रन्थसे टीकाकार इसी उत्तरा-

---

१ एतान्यध्ययनानि निगमनं सर्वेषामध्ययनानाम्। प्रधानत्वेऽपि रूढ्याऽमून्येव उत्तराध्ययन शब्द वाचकत्वेन प्रसिद्धानि। —नन्दी टीका।

२ वर्तमानमें प्रचलित सूत्रग्रन्थोंको केवल श्वेताम्बर सम्प्रदाय ही सर्वथा सत्य मानता है। मूल सम्प्रदायकी दृष्टिमें मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्तके राज्यकालके अन्तमें हुए द्वादशवर्षीय दुर्भिक्षके कारण तथा श्रुतकेवलियोंके अभावके कारण अंग साहित्य दूषित हो गया था।

ध्ययनको ग्रहण करते हैं। और यह होना स्वाभाविक ही है। इस ग्रंथमें ३६ प्रकरण या अध्ययन हैं। 'अपृष्ट व्याकरण' का लक्ष्य यह ग्रंथ भली भांति हो ही सकता है। साधारणतया प्रश्न पूछने पर ही महावीर ने उनका समुचित उत्तर दिया है, परन्तु इस सूत्रमें प्रश्न नहीं पूछे जाने पर भी सिद्धान्तोंका व्याकरण है अन्तमें यह सूत्र महावीरकी ही साक्षात् देशना बतलाया गया है "इइ पाउकरे बुद्धे नायए परिणिव्वुए। छत्तीस उत्तरज्झाए भवसिद्धीयसम्मए॥ इन प्रमाणोंसे यही सिद्ध होता है कि यह ग्रन्थ भगवान महावीरकी ही देशना है और अन्तिम संकलन है। अर्थात् उत्तराध्ययनके वाक्य महावीरके ही मुखसे निकले हुए अमृतमय उपदेश हैं। इसी मान्यता तथा सिद्धान्तके कारण इस ग्रंथ को इतना गौरव प्राप्त है यहां मैं उन लोगोंकी बात नहीं करता जिनकी इस सिद्धान्तमें आस्था है।

उत्तराध्ययनके अन्तर्गत ३६ प्रकरण या अध्ययन हैं : इनके अनुशीलन करनेसे अनेक महत्व पूर्ण तथ्योंका परिचय हमें प्राप्त होता है। इन प्रकरणोंके विषयों का सामञ्जस्य टीकाकारोंने दिखलाने का श्लाघनीय उद्योग किया है। ग्रंथका उद्देश्य नये यतिको जैन धर्मके माननीय तथा मननीय सिद्धान्तोंका उपदेश देना है। किन्हीं किन्हीं प्रकरणोंमें सिद्धान्तका ही एकमात्र प्रतिपादन है, परन्तु अन्य प्रकरणोंमें प्राचीन आख्यान तथा कथानकोंके द्वारा सिद्धान्तको रोचक तथा हृदयंगम बनाया गया है। रूखे सूखे सिद्धान्तोंको आख्यानोंके द्वारा परिपुष्ट तथा सुन्दर बनाकर जनताको उपदेश देनेकी प्रथा बड़ी प्राचीन है। जैनी लोग इस कार्यमें बड़े ही सिद्धहस्त सिद्ध हुए हैं। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंशमें जैन कथा-साहित्यकी प्रचुरताका यही रहस्य है।

उत्तराध्ययनके अन्तिम आठ दस अध्यायोंमें शुद्ध सिद्धान्तोंका ही प्रतिपादन किया गया है— यथा २४ वें प्रकरणमें 'समिति' का वर्णन है, २६ में समाचारी (सम्यक् आचरण) का; २८ में मोक्षमार्ग गतिका, ३० में तपस्याका, ३३ में कर्मका, ३५ में लेश्याका तथा ३६ में जीव, अजीवके विभागका विशद वर्णन है। एक बात ध्यान देनेकी यह है कि यह ग्रन्थ शास्त्रीय पद्धति पर लिखे गये ग्रन्थों (जैसे उमा-स्वामीका तत्त्वार्थसूत्र आदि) से प्रतिपादन शैलीमें नितान्त पृथक् है। इन पिछले ग्रंथोंकी रचना एक विशिष्ट तर्कका अनुसरण करके की गयी है, परन्तु उस तार्किक व्यवस्थाका यहां अभाव है। यह विशिष्टता इस ग्रंथकी प्राचीनताको सूचित करनेवाली है। ब्राह्मणों तथा बौद्धों द्वारा आक्रमण किये जाने पर तार्किक शैलीका अनुगमन नितान्त आवश्यक था, परन्तु इस प्राचीन ग्रन्थमें अनावश्यक होनेसे इसका अनुधावन नहीं है, प्रत्युत श्रद्धालु जनताके सामने जैनधर्मका उपादेय उपदेश सीधे सादे शब्दोंमें प्रस्तुत किया गया है। डा० कारपेन्टियरने इन अध्यायों को पीछे जोड़ा गया माना है; यह सम्भव हो सकता है, परन्तु जैन अनुयायी सम्प्रदायमें यह ग्रंथ सदासे ही ३६ अध्यायोंसे युक्त माना गया है।

जैन सिद्धान्तोंके निदर्शन रूपसे जो आख्यान यहां दिये गये हैं वे नितान्त प्राचीन हैं, इसमें

सन्देह करनेकी जगह नहीं है। इनमें से कतिपय प्राचीन आख्यानोंकी यहां चर्चा की जा रही है। उपलब्ध आख्यानोंमें निम्न लिखित पांच निःसन्दिग्ध सुदूर प्राचीनकालसे सम्बन्ध रखते हैं—

(१) **राजा निमी**का कथानक नौवें अध्ययनमें आया है। ये मिथिलाके राजा थे और चार समकालीन प्रत्येकबुद्धों या स्वयं सम्बुद्धोंमें अन्यतम थे।'स्वयंसम्बुद्धों' से अभिप्राय उन सिद्ध पुरुषोंसे है जो विना किसी गुरुके ही अपने ही प्रयत्नसे बोधि प्राप्त करनेवाले होते हैं। वे अपना ज्ञान दूसरोंको देकर मुक्त नहीं कर सकते। वे 'तीर्थंकर' से इस बातमें भिन्न होते हैं। राजा निमिकी संबोधि तथा वैराग्यका आख्यान अपनी लोकप्रियताके कारण वैदिक-बौद्ध साहित्यमें भी है। ब्राह्मणके वेषमें इन्द्रके प्रश्न करने पर निमिने अपनी वर्तमान वैराग्यमयी स्थितिका बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। निमिकी यह प्रसिद्ध उक्ति यहां उपलब्ध होती है—हमारे पास कोई भी वस्तु विद्यमान नहीं है। हम अकिञ्चन हैं। हम सुखसे जीवन विताते हैं। मिथिलाके जल जाने पर भी मेरा कुछ भी नहीं जलता[1]।

(२) **हरिकेशकी कथा**—(१२ वें अध्ययनमें)—इस कथाके द्वारा तपस्या करनेवाले धर्मशील चाण्डालकी श्रेष्ठता याज्ञिक ब्राह्मणोंसे बढ़कर सिद्धि की गयी है। टीकाकारोंने कथाका सविस्तर वर्णन टीकामें किया है। बौद्धोंके 'मातङ्ग जातक' (जातक ४।९७) में भी ऐसा ही आख्यान है। 'यज्ञ' की यहां आध्यात्मिक व्याख्याकी गयी है। ब्राह्मणोंके प्रश्नपर हरिकेशने इसकी अच्छी मीमांसा की है तप अग्नि (ज्योति) है; जीव अग्निस्थान (वेदि) है; कार्योंके लिए उत्साह स्रुवा है; शरीर गोमय है, कर्म ही मेरा इन्धन है; संयम, योग तथा शान्ति ऋषियोंके द्वारा प्रशंसित होम है जिसका मैं हवन करता हूं।' धर्म ही मेरा तालाब है, ब्रह्मचर्य निर्मल तथा आत्माके लिए प्रसन्न, शान्त तीर्थ (नहाने का स्थान) है; उसीमें स्नान कर, मैं विमल, विशुद्ध तथा शीतल होकर अपने दोषको छोड़ रहा हूं[2]।'

यज्ञकी यह आध्यात्मिक कल्पना उपनिषदोंमें भी ग्राह्य है। ज्ञानकाण्डकी दृष्टिमें कर्मकाण्डका मूल्य अधिक नहीं है। इसलिए मुण्डक उपनिषद्में यज्ञ अदृढ़ नौका रूप बतलाया गता है (प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः)।

(३) **चित्रसंभूतकी कथा**—(१३ अ०)—इस कथाके अनुरूप ही बौद्ध जातक 'चित्तसंभूत' (जा० ४९८) की कथा है। जातककी गाथाओंके शाब्दिक अनुकरण भी यहां बहुलतासे उपलब्ध होते हैं।

---

१ सुहं वसामो जीवामो येसि नो नत्थि किंचण।
मिहिलाए उज्झमाणीए नमे उज्झइ किंचण॥

२ तवो जोई जोवो जोईथाणं जोगा सुया सरीरं कारिसंगं
कम्मेहा संजय जोग सन्ती होम हुणामि इसिणं पसत्थं ॥४४॥
धम्मे हरए बम्भे सन्तितित्थे अणाविले अत्तपसन्न लेसे।
जहिं सि नाओ विमलो विसुद्धो सुसीइभूओ पजहामि दोसं ॥४६।

चित्र जैन मुनि थे तथा भोग विलासोंसे विरक्त होकर तापस जीवन व्यतीत करते थे। संभूत राजा थे और भोगोंमें आकण्ठ मग्न थे। दोनों प्राचीन जन्ममें सुहृद् थे इसी भावसे प्रेरित होकर चित्रने संभूतको बड़ा सुन्दर उपदेश दिया—समय बीत रहा है। दिन जल्दी बीत रहे हैं। मनुष्योंके भोग कथमपि नित्य नहीं हैं। वे मनुष्यके पास आते हैं और उसे उसी प्रकार छोड़ देते हैं जिस प्रकार पक्षी फलहीन वृक्ष को[1]।'

(४) **इसुकारकी कथा**—(१४ अ०)—इसमें कर्मासक्त पुरोहित तथा उनके ज्ञानी तपस्वी पुत्रोंका अध्यात्म विषयक वार्तालाप है। बौद्धोंके हस्तिपाल जातक (जा० ५०९) में इसकी स्पष्ट सूचना है। भृगु और उनकी पत्नी वासिष्ठिका बड़ा मनोरम तथा शिक्षाप्रद संवाद भी इसी भावनासे ओतप्रोत है। क्योंकि वेदपाठको मुक्तिका साधन न मानकर इसमें तपस्या तथा निष्काम जीवनको मुक्तिका उपाय बतलाया है।

(५) **रथनेमिकी कथा**—(२२ अ०) भगवान कृष्णचन्द्रकी कथासे यह कथा सम्बद्ध है। अरिष्टनेमिने जैनमतानुयायी मुनि बनकर अपनी मनोनीत पत्नीकाभी परित्याग कर दिया। रथनेमि उन्हीं के भाई थे, पर चरित्रमें हीन थे।

२३ वें अध्ययनके अनुशीलनसे उस समय पार्श्वनाथ तथा महावीरके अनुयायियोंके परस्पर मतभेदका पता चलता है। इस परिच्छेदको हम ऐतिहासिक दृष्टिसे बड़े महत्त्वका मानते हैं। महावीरके समान पार्श्वनाथ भी ऐतिहासिक पुरुष हैं, इसमें सन्देह करनेकी जगह नहीं है। जैन सम्प्रदायकी यह मान्यता कि वे महावीरसे ढाई सौ वर्ष पहले उत्पन्न हुए, नितान्त सची है। केशी पार्श्वनाथके मतानुयायी थे तथा गौतम महावीर के। कहा जाता है कि पार्श्वनाथ चार व्रतके उपदेष्टा थे तथा महावीर पांच व्रतों के। ब्रह्मचर्य (पंचम व्रत) का ग्रहण अपरिग्रहके अन्तर्गत पार्श्वनाथको मान्य था, परन्तु कालान्तरमें इस व्रतके ऊपर विशेष जोर देनेकी आवश्यकता होनेसे इसका निर्देश अलग किया गया। वस्त्रके विषयमें दोनोंके विभेदका यहां स्पष्ट उल्लेख है। पार्श्वनाथ यतियोंके लिए वस्त्र-परिधान् के पक्षपाती थे, पर महावीर परिधानके एकान्त विरोधी थे[2]। गौतमकी व्याख्यासे इसका धार्मिक रहस्य स्फुटित होता है कि मोक्षके साधनके लिए ज्ञान, दर्शन तथा चरित्रकी आवश्यकता है, बाह्य आचरणकी नहीं—

अह भवे पइन्ना उ मोक्खसब्भूयसाहणा।
नाणं दंसणं चेव चरित्तं चेव निच्छए॥ (२३। ३३)

१, अच्चेइ कालो तरन्ति राइओ न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा।
उविच्च भोगा पुरिसं चयंति दुमं जहा खीणफलं व पक्खी॥ (१३।३१)

२ अचेलगो य जो धम्मो जो इमो सन्तरुत्तरो। देसिओ वद्धमाणेण पासेण य महाजसा॥ २९।

गौतमके उत्तरोंसे प्रसन्न होकर केशी भी अपने प्राचीन मतका मोह छोड़कर महावीरका पक्का अनुयायी बन जाता है। जैनमतके इस प्राचीन वृत्तकी जानकारीके लिए यह अध्ययन अत्यन्त उपकारक है।

पचीसवें अध्ययनमें ब्राह्मणत्वकी बड़ी ही सुन्दर व्याख्या है। यज्ञ करनेवाले ब्राह्मण विजयघोष तथा जैनमतावलम्बी साधु जयघोषके बीच वेद तथा यज्ञके रहस्यके विषयमें उपादेय प्रश्नोत्तर हैं। साधु जी बाहरी कर्म काण्डको अनादरकी दृष्टिसे देखते थे। इन्होंने अपने मतका प्रतिपादन अनेक गाथाओंके द्वारा किया—

अग्गिहुत्तमुहा वेया जन्नट्ठी वेयसा मुहं।
नक्खत्ताण मुहं चन्दो धम्माण कासवो मुहं॥ १६॥

'वेदका मुख्य विषय अग्निहोत्र है; यज्ञका प्रधान विषय उसका तात्पर्य है, नक्षत्रोंका मुख चन्द्रमा है और धर्मोंमें मुख्य काश्यप (ऋषभ) का धर्म है अर्थात् धम्मोंमें जैनमत ही श्रेष्ठ है।'

ब्राह्मणके सच्चे स्वरूपकी जो व्याख्या यहां की गयी है, वह महाभारत, धम्मपद तथा सुत्त-निपातके साथ मेल खाती है। महाभारतमें अनेक स्थलोंपर ब्राह्मणत्वकी विशद व्याख्या है। वही विषय धम्मपदके 'ब्राह्मण वर्ग' में तथा सुत्तनिपातके 'ब्राह्मणधर्मिक सुत्त' में बड़ी सुन्दरतासे प्रतिपादित है। अर्थ साम्यके साथ ही साथ पद-साम्य भी अनेक स्थानों पर आश्चर्य जनक है। यह अंश अत्यन्त प्राचीनता की तथा साहित्यिक सौन्दर्यकी दृष्टिसे नितान्त गौरवपूर्ण है। ब्राह्मण सत्यका सच्चा उपासक होता है—

न जटाहि न गोत्तेहि न जच्चा होति ब्राह्मणो।
यम्हि सच्चञ्च धम्मो च सो सुची सोच ब्राह्मणो॥२४॥ धम्मपद
कोहा वा जइ वा हासा लोहा वा जइ वा भया।
मुसं न वयई जोउ तं वयं बूम माहणं॥२५॥

जिस प्रकार जलमें उत्पन्न होने पर भी कमल जलसे लिप्त नहीं रहता, उसी प्रकार ब्राह्मण भी काममें अलिप्त रहता है—

जहा पोमं जले जायं नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तं कामेहिं तं वयं बूम माहणं॥२७॥

यह उपमा धम्मपदमें भी प्रयुक्त हुई है (वारि पोक्खर पत्तेव) ब्राह्मण तथा तपस्वीकी पहिचान भीतरी गुणोंसे होती है, बाहरी गुणोंसे नहीं। श्रमणकी पहचान समता है, ब्राह्मणकी ब्रह्मचर्य, मुनिकी ज्ञान और तापसकी तपस्या।

समयाए समणो होइ बम्भचेरेण बम्भणो।
नाणेण च मुणी होइ टवेण होइ तापसो॥३१॥

श्वेताम्बरोंकी मान्यताके अनुसार गौतम गोत्री स्थूलभद्रकी अध्यक्षतामें पाटलीपुत्रमें ३०० ई० पू० के आसपास जैन मुनियोंकी जो समिति हुई उसीमें अंगोंका लिपिबन्धन कार्य सपन्न हुआ। भाषा तथा भाव—उभय दृष्टियोंसे उत्तराध्ययनकी प्राचीनता स्वतः सिद्ध है। अतः यह उस समय भी सिद्धान्त में सम्मिलित था, माननेमें विशेष विप्रतिपत्ति नहीं प्रतीत होती। उपदेशोंकी सुन्दरताके कारण यह ग्रंथ नितान्त लोकप्रिय है।

जैन धर्मके स्वरूपकी समीक्षा करनेसे स्पष्ट ही प्रतीत होता कि भारतीय संस्कृतिको अहिंसामय बनानेका श्रेय उसे ही है। इसकी छाया उपनिषदोंमें निहित सिद्धान्तोंमें विकासित हुई है। यज्ञोंके हिंसात्मक होनेसे जैनधर्म उसका निन्दक है, दार्शनिक जगत्में सांख्योंने भी इस मतकी उद्भावना की। यज्ञोंमें क्षय, अतिशय तथा अविशुद्धि होनेसे सांख्य यज्ञोंको दोषयुक्त ही मानता है। यज्ञोंमें पशुहिंसा होनेके कारण ही समग्र फलमें किञ्चित् न्यूनता आ जाती है। व्यासभाष्यमें इसे 'आवापगमन' कहा है[1]। यज्ञोंको अदृढ़ नौका (प्लवा एते अदृढा यज्ञरूपाः) उपनिषद् भी बतलाते हैं। इसीलिए आरण्यकोंमें ही यज्ञकी भावनाको विस्तृत रूप दिया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता इसी विशाल यज्ञ भावनाकी चतुर्थ अध्यायमें व्याख्या करती है। बाह्य आचार तथाशौचकी अपेक्षा आभ्यन्तर शौच पर आग्रह करना उपनिषदोंका भी पक्ष है और जैनधर्ममें तो इसका समुद्र ही है। उपनिषदोंमें किसी एक ही मतके प्रतिपादन की बात (एकान्त) ऐतिहासिक दृष्टिसे नितान्त हेय है। उनकी समता तो उस ज्ञानके मानसरोवर (अनेकान्त) से है जहांसे भिन्न भिन्न धार्मिक तथा दार्शनिक धाराएं निकलकर इस भारत भूमिको आप्यायित करती आयी हैं। इस धारा (स्याद्वाद) को अग्रसर करनेमें ही जैन जैनधर्मका महत्त्व है। इस धर्मका आचरण सदा प्रत्येक जीवका कर्तव्य है। वर्धमान महावीरने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—

जरा जाव न पीडेइ वाही जाव न वड्ढइ।
जाविंदिया न हायंति ताव धम्मं समायरे॥
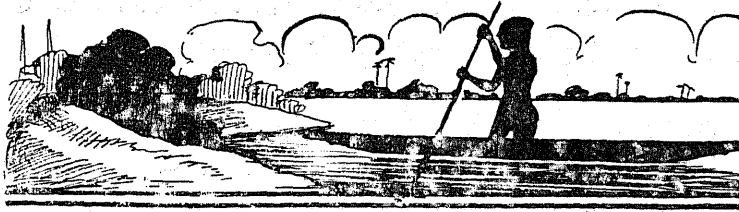
१ लेखकका 'भारतीय दर्शन' (पृष्ठ ३३५)

औपपातिक-सूत्रका विषय

श्री डा० विमलचरण ला, एम० ए०, बी० एल०, पीएच० डी , डी० लिट०

ओवाइय-सूय[1] (औपपातिक सूत्र) अथवा 'उववाइय सूय' श्वे० जैन उपाङ्गोंमें सर्वप्रथम है। उववाइयका अर्थ सत्ता होता है[2]। इसपर अभयदेवसूरिकी प्राचीनतम टीका है। इसमें १८९ सूत्र हैं प्रत्येक सूत्र विषय-विशेषका परिचायक सन्दर्भ है अथवा पद्य सूत्रमें प्रत्येक गाथा या पाद किसी विषयका वर्णन करता है। प्रारम्भिक सूत्र गद्य तथा अन्तिम पद्य रूप हैं। सूत्र १६८-९ सिद्धोंकी स्थिति तथा स्वभावके प्ररूपक होनेके कारण विशेष मोहक हैं। ४९, ५६, ७६ तथा १४४ सूत्रोंमें इसी प्रकारके स्मृति सन्दर्भ हैं। वर्णनकी शैली वैचित्र्य लिये हुए है अर्थात् मूल तथा विवेचन एक ही जगह एकत्रित् हो गये हैं। समस्त वस्तु भगवान महावीर तथा चम्पाके कुणिकके मिलन तथा भ० महावीर और गणधर इन्द्रभूतिके प्रश्नोत्तर के प्रसंगसे उपस्थित की गयी है। समस्त विवेचनका प्रधान उद्देश्य भ० महावीरकी सर्वोपरि महत्ता तथा लोकोत्तर व्यक्तित्वका ज्ञापन उनके उपदेशोंकी कैवल्यसे उत्पत्ति,वीरके 'गृहस्थ साधक नैष्ठिक अनुयायियोंकी उन्नत अवस्था, को समझाना है। तथा सिद्धपद सर्वोपरि है। द्वितीय भाग (सूत्र ६२-१८९) में गुरु परम्पराका वर्णन है। अभिधम्म पिटकका 'पुग्गलपण्णत्ति' भाग प्राणि वर्गका विकास क्रमसे वर्णन करता है, किन्तु वह सब वर्णन मनोवैज्ञानि तथा आचार मूलक है; ऐतिहासिक नहीं। 'नित्था' अथवा लक्ष्योंके प्रतिपादक सूत्र इनकी ठीक विपरीत दिशामें पड़ते हैं।

वस्तुके साक्षात् प्रतिपादनात्मक शैली औपपातिक सूत्रकी अपनी विशेषता है। वर्णनमें स्वाभाविकता तथा सरलता सर्वत्र लक्षित होती हैं। अतः यह सहज कलासा प्रतीत होता है। आत्म-विजय तथा आत्म-सिद्धि रूप जैन सैद्धान्तिक आदर्शोंसे ओतप्रोत होकर भी इसकी रचना स्पष्ट, धारावाही,

---

१ यद्यपि सूत्र ग्रन्थोंके वर्तमान रूपमें दिगम्बर तथा श्वेताम्बरोमें भेद है तथापि उनके नाम और प्रधान वर्ण्य विषयोंको लेकर ऐसी स्थिति नहीं है।'डास० औपपातिक सूत्र' नामसे श्री ई०ल्यूमैनने इस सूत्रको "अभा०क्यूर डाई कु० मो०, हर० वोन डा० डयू० मो० गैस० 'भा० ८,२ लिपजिग १८८३")। संस्कृत टीका सहित दूसरा संस्करण आगमोदय ग्रन्थमालासे निकला है। एन० जी० सूरूका विवेचनात्मक संस्करण विशेष उपयोगी है।

२ एस० लेवी (ज० ए० १९१२ टी० २०)।

गम्भीर तथा सारगर्भित है। चम्पानगरी, पुण्णभद्द उपाश्रय, उसके उद्यानोंके अशोक वृक्ष, बिम्बसारका पुत्र राजा कुणिक, रानी धारिणी तथा भ० महावीरके वर्णन स्पष्ट तथा साङ्गोपाङ्ग हैं। इसके साथ साथ भ० वीरके समवशरण तथा राजा कुणिककी वन्दनायात्राके चित्रण भी चित्ताकर्षक हैं।

औपपातिक सूत्रके अनुसार वैमानिक देव उत्तम देव हैं। इनके बाद ज्योतिषी, व्यन्तर, भवनवासी आते हैं। वैमानिक देव, सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र, सहस्रार आदि स्वर्गोंमें विभक्त हैं। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारकादि ज्योतिषी देव हैं। भूत, पिशाच, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, गन्धर्व, आदि व्यन्तर देव हैं। असुर, नाग, सुपर्ण, विद्युत, अग्नि, दीप, समुद्र, दिक्, पवन, आदि भवनवासी देव हैं। इनसे निम्न श्रेणीके जीवोंमें पृथ्वी-जल-अग्नि वायुकायिक जीव गिनाये हैं।

स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्द्यावर्त, वर्द्धमानक, भद्रासन, कलश, मत्स्य तथा दर्पण ये आठ (अष्ट-) मंगल द्रव्य हैं(सू० ४९)। अगले(५३-५)सूत्रोंमें कुछ और मंगल द्रव्योंकी भी चर्चा है। सामाजिक जीवनसे ब्राह्मणोंकी प्रधानताको समाप्त करनेके उद्देश्यसे कतिपय मंगल द्रव्योंकी कल्पना की गयी है। बौद्धधर्ममें भी इसका अनुसरण है[१]। तीर्थंकरोंके लक्षणोंका वर्णन करते हुए उन सब शंख पद्मादिका वर्णन है जो वैदिक साहित्यमें भी पाये जाते हैं[२]। भगवान महावीरको धर्म चक्रका प्रवर्तक श्रेष्ठ चक्रवर्ती कहा है। बौद्ध साहित्यमें भी इसकी समता समुपलब्ध है।

वानप्रस्थ ग्रहण करके गंगाके किनारे तपस्यामें लीन तापसोंके वर्णनमें अग्नि पूजक सकुटुम्ब साधुओंका वर्णन है जो भूमिपर सोते थे। वे याग-यज्ञादिमें लीन, सपरिग्रह व्यक्ति थे। पानीके कलश तथा रसोईके वर्तन उनका परिग्रह था। वे विभिन्न प्रकारसे तप करते थे—कोई शंख अथवा कुलधमनक बजाते थे, कोई चर्म तथा मांसके लिए हिरण मारते थे तो दूसरे कम हिंसाको करनेके लिए हाथीको मारते थे, कोई सीधा दण्ड लिये अथवा एक दिशामें दृष्टि एकाग्र किये चलते थे। वे नदी अथवा समुद्रतीर पर वृक्षमूलमें रहते थे। पानी, वायु जल, वनस्पति, मूल, कन्द, वल्कल, फूल, बीज आदि उनके भोज्य पदार्थ थे। पंचाग्नि तप करके उन्होंने अपने शरीरको जला दिया था। इसी सूत्रमें पव्वैया समणोंका भी उल्लेख है जो अशिष्ट प्रकारसे इन्द्रिय भोगोंमें लीन थे तथा नृत्यगान ही जिनकी साधना थी।

इसीमें ब्राह्मण तथा क्षत्रिय परिव्राजकोंके भेदका वर्णन है। उन दार्शनिकोंका वर्णन है जो कपिलका सांख्य, भार्गवका योग, आदि मार्गका अनुसरण करते थे तथा भारतीय तपमार्गके बहूदका कुटिव्रता, हंसा तथा परमहंसा श्रेणियोंके द्योतक थे। कोई कोई कृष्ण परिव्राजक थे। आजीविकोंको

१ खुद्दक पाठान्तर्गत मंगल सुत्त पृ० २-३, महामंगल जातक सं० ४५३, सुत्तनिपात पृ० ४६-७।

२ औपपातिक सूत्र भा० १६, दीघनिकाय भा० ३. लक्खण सुत्तन्त।

अलग गिनाया है। इनका वर्णन थेरवाद (वि० १२०) के ही समान है। तपस्वियोंके गम्य (साध्य) का श्रेणि विभाग भी रोचक है। इस वर्णनमें बौद्ध प्रपञ्चसूदनी तथा उपनिषदोंके वर्णनमें समता है। घोषालके षड्-अभिजात सिद्धान्तकी इससे तुलना की जा सकती है।

औपपातिकसूत्रके मतसे गृहस्थ साधु व्यन्तर, वानप्रस्थ ज्योतिषी, परिव्राजकब्रह्मलोक, और आजीविक अच्युत पदको मरणके बाद प्राप्त करते हैं। बौद्ध ब्रह्मघोषके मतसे ब्राह्मण ब्रह्मलोक, तापस आभस्सार लोक, परिव्राजक सुभ-किण्णलोक तथा आजीविक अनन्तमानस लोक जाते हैं[1]। इस सूत्रमें ऐसे विरक्तोंका भी वर्णन है जो अपना सारा संसार त्यागकर गृहस्थोंके भलेके लिए ही प्रयत्न करते हैं, ऐसे लोग ही अनेक जन्म बाद अभियोगिक देव होते हैं। णिण्हग (निह्नक) साधुओंका भी उल्लेख हैं जो आप्त वचनों की उपेक्षा करके विपथगामी हो जाते हैं। वे द्रव्य-साधु मात्र हैं। ऐसे ही लोगोंमें तेरासियों (त्रैराशिक) की गणना है अनेक जन्म धारण करके ये लोग भी उपरि ग्रैवेयकोंमें जन्म लेते हैं।

ऐसे भी धर्मात्मा हैं जिनका आचार शुद्ध है तथा नैतिकतासे अपनी आजीविका करते हैं। अपने ग्रहीत व्रतोंका पालन करते हैं तथा हिंसासे दूर रहते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभसे परे रहते हैं। वे आदर्श गृहस्थ उपासक हैं जो मर कर अच्युत कल्प तक जाते हैं। गृहस्थ सर्वथा राग द्वेष मुक्त नहीं हो सकता है और न पूर्ण रूपसे हिंसाका ही त्याग कर सकता है। यह सब वे ही कर सकते हैं जो वीरप्रभुके मार्गपर चलकर सब कुछ छोड़कर गुप्ति-समिति आदि का पालन करते हैं। दीक्षित साधुओंमें जिनका परम आत्म विकास नहीं होता वे मर कर सर्वार्थसिद्धिमें उत्पन्न होते हैं। तथा जिन्हें पूर्ण तप द्वारा कैवल्य प्राप्ति हो गयी है वें "लोग-अग्ग-पैट्ठाणा हवन्ति।" अन्तमें सिद्धोंका विशद विवेचन है। इसे केवलकथा, ईस-पब्भार, तणु, तणुतणु, सिद्धिलोक, मुक्ति, आदि नामोंसे कहा है। यह अविनाशी, अनन्त और लोकोत्तर है। ईसपब्भार अति प्रचलित नाम है। यह देवलोक तथा ब्रह्मकल्पसे बहुत ऊपर है। यद्यपि इसे 'पृथ्वी' शब्द द्वारा कहा जाता है जहां सिद्ध अनन्त काल पर्यन्त रहेंगे। जन्म, हानि, मरण तथा पुनर्जन्म चक्रसे सिद्ध लोक परे है। संसारमें रहते हुए सिद्ध (भव्य) जीव शारीरिक कष्ट,सीमित आयु, नाम, वंश आदि बन्धनोंसे मुक्ति नहीं पा सकते। फलतः आत्माको बांध रखनेवाली समस्त सांसारिक उपाधियोंको सर्वथा नष्ट करके वे मुक्त होते हैं। संसारी अवस्थामें वे नित्य नैमित्तिक कार्य करते हैं। इस प्रकार जब पूर्ण कैवल्यको प्राप्त कर लेते हैं तो वे पौद्गलिक स्थितिको समाप्त कर देते हैं और समस्त उपाधियोंका आत्यन्तिक क्षय कर देते हैं। जैनधर्म सम्मत जीवका चरम विकास वह चिरस्थायी शाश्वत विश्व है जहां मुक्त जीवोंका निवास है। साधारण जिज्ञासुकी 'वे वहां कैसे समय व्यतीत करते हैं?' इस जिज्ञासाका यह सूत्र उत्तर नहीं देता।

१, प्रपञ्चसूदनी २, पृ. १ टिप्पण।

यह सूत्र रिउ(ऋग्)-वेद, यजुवेद (यजुर्वेद), सामवेद, अहण्ण (अथर्व)-वेद, इतिहास (पञ्चम वेद) निघण्टु, छह वेदाङ्ग, छह उपांग, रहस्स (स्य) ग्रन्थ, षष्ठितंत्र, आदि वैदिक साहित्यकी तालिका देता है। संक्खाण (अंक गणित), सिक्खा (ध्वनि), कप्प, वागरण (व्याकरण) छन्द, निरुत्त (क्त), जोइष (ज्यौतिष[1]), आदि के सहायक ग्रन्थ रूपमें ही वेदाङ्गोंका निरूपण है[2]। इसमें सांख्य तथा योग दर्शनोंका ही उल्लेख है यद्यपि अणुओगद्दार सुत्तमें बौद्ध सासनं, विसेसियं, लोकायतं, पुराण, व्याकरण, नाटक, वैसिकं, कोडिलीयं, कामसूत्र, घोडयमुहं आदिके उल्लेख हैं। वत्थुविज्जा (वास्तुशास्त्र) का निर्देश है। तथा नगर, पुर, ग्राम, विविधभवन, प्रासाद, सभागृह, दुर्ग, गोपुर, साज सज्जा, निर्माण, तथा खाद परीक्षा, भवन निर्माण, सामग्री परीक्षा, उद्यान निर्माण, आदि इसके क्षेत्रमें आते हैं। निर्माता 'थपति' अथवा बडढकि नामसे प्रसिद्ध थे। तक्षण पाषाणोत्कीर्णन आदि इसी विद्याके अंग थे।

जैन साहित्य 'नक्खत्त विज्जा' के विकासका वर्णन करते हैं। सूर्य चन्द्रादिके स्थान, गति, संक्रमण, प्रभाव, आदिका विशद विवेचन मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि सूत्रकी रचनाके समय लोग ग्रहण, नक्षत्र, ग्रह, ऋतुओं, आदिसे ही परिचित नहीं थे अपितु ज्यौतिषी, ऋतु, वृष्टि, आदिके समयमें भविष्यवाणी भी करते थे। बौद्ध साहित्यसे भी इसका समर्थन होता है।

चम्पा नगरमें राजा बिम्बसारके पुत्र कुणिकके अभिषेक महोत्सवका वर्णन है। इस समय प्रभु वीर भी वहां पधारे थे पुण्णभद्द चैत्यमें उत्सव हुआ था। इसके चारों ओर सघन वन थे। विविध स्थानों तथा वर्गोंके लोग प्रभुके दर्शनार्थ आये थे। लिच्छवि, मल्ल, इक्ष्वाकु, ज्ञात्रि, आदि क्षत्रिय वहां आये थे। राजपिता बिम्बसार उत्सवमें नहीं थे। राजाकी पत्नियोंमें धारिणी अथवा सुभद्रा प्रमुख थीं। अजातशत्रुकी पत्नी तथा प्रसेनजितकी पुत्री वजिराकी इस प्रसंगमें अनुपस्थिति रहस्यमय है। अंग तथा मगधके राजनैतिक सम्बन्धोंकी भी चर्चा नहीं है। कुणिकका अभिषेक अंगके कुमारामात्य रूपसे हुआ था अथवा स्वतंत्र शासक रूपसे; इस विषयकी सूचना सूत्रमें नहीं है। शंका होती है कि क्या कुणिक अजातशत्रु ही था। यहां पर सब व्यक्तियोंका आदर्श चित्रण है। राजामें बौद्धिक तथा कायिक सभी शुभ लक्षण थे फलतः वह अभिनन्दनोय, आदरणोय एवं पूजनीय था। रानियां भी शील-सौन्दर्यका भंडार थीं। परिखा, गोपुर, प्रासाद, भवन, उद्यान क्रीडास्थल, सम्पत्ति, समृद्धि, स्थायी आनन्द, आदिके कारण स्वर्ग समान ही थी। इन सब वर्णनोंसे वीरप्रभुकी महत्ता तथा विरक्तिका चित्रण होता है। किन्तु वर्णनों तथा उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि यह सूत्र भगवान वीर तथा उनके उपदेशोंके बहुत समय बाद लिखा गया होगा।

---

१. औ. सू. वि. १६०-७।

२. औ. सू, वि, ७७।

गणनायक, दण्डनायक तथा तलवार आदिके उल्लेख सूचित करते हैं कि सूत्र ई० सन् के बादका है। ऐसा लगता है कि श्वेताम्बर जैन लेखक बौद्ध तथा ब्राह्मण लेखकोंको परास्त करनेके लिए कटिबद्ध थे; भ०महावीरके शरीर-वर्णनके प्रकरणसे ऐसा लक्षित होता है। जहां बौद्ध बुद्धके शारीरिक लक्षणोंकी सख्या २२ बताते हैं वहीं यह सूत्र ८००० कहता है। तथापि कुछ ऐसे प्राचीनतर उल्लेख हैं जो पाली सन्दर्भोंको स्पष्ट कर देते हैं; उदाहरणार्थ बौद्ध निकायोंमें 'इतिहास पञ्चम' के पूर्व आया अथर्ववेदका उल्लेख, यद्यपि दव्व (द्रव्य) खेत (क्षेत्र), काल, लोय (लोक) अलोय (अलोक), जीव, अजीव, बन्ध, मोक्ष, आदिके विवेचन प्रारम्भिक कोटिके ही हैं।
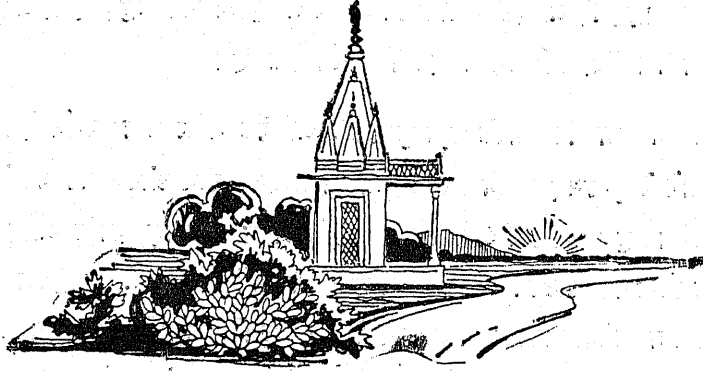
धवलादि सिद्धान्त ग्रंथोंका संक्षिप्त परिचय

श्री पं० लोकनाथ शास्त्री

ग्रंथ परिचय--

अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामीकी दिव्य ध्वनिकी गौतम गणधरने द्वादशांग श्रुतके रूपमें रचना की। जिसका ज्ञान आचार्य परंपरासे क्रमशः कम होते हुए धरसेनाचार्य तक आया। उन्होंने बारहवें अंग दृष्टिवादके अंतर्गत 'पूर्व' एवं पांचवें अंग व्याख्याप्रज्ञप्तिके कुछ अंशोंको पुष्पदंत और भूतबलिको पढ़ाया। उन्होंने 'सत्कर्म पाहुड' की छह हजार सूत्रोंमें रचना की। इसका नाम षट्खंडागम-सिद्धान्त है। जिसमें जीव स्थान, क्षुल्लक बंध, बंधसामित्त-विचय, वेदना, वर्गणा, और महाबंध नामके छह विभाग हैं। उसके पहलेके पांच खंडों पर वीरसेन स्वामीने धवला नामकी टीका या भाष्यकी रचना शक सं० ७३८ में पूरी की। यह ७२ हजार श्लोक परिमाण है।

षड्खंडागमका छठवां खण्ड महाबंध या महाधवल है जिसकी रचना स्वयं भूतबलि आचार्यने बहुत विस्तारसे ४० हजार श्लोक परिमाण गद्य रूपसे ही की है। उस पर विशेष टीकाएं नहीं रची गयीं।

धरसेनाचार्यके समयमें गुणधर नामके एक और आचार्य हुए हैं। उन्हें भी द्वादशांगका कुछ ज्ञान था। उन्होंने कषायप्राभृतकी रचना की। उसे पेज्जदोसपाहुड भी कहते हैं। इसका आर्यमंक्षु और नागहस्तिने व्याख्यान किया और यतिवृषभाचार्यने उस पर चूर्णी-सूत्र रचे। इस पर भी श्री वीरसेन स्वामीने टीका की। परंतु, वे उसके आद्यंशपर २० हजार श्लोक परिमाण टीका लिखकर ही स्वर्गवासी हो गये। तब उनके सुयोग्य शिष्य जिनसेनाचार्यने ४० हजार परिमाण और टीका लिखकर उसे पूरा किया। इस टीका या भाष्यका नाम जयधवला है। इसका परिमाण ६० हजार है।

इन तीनों ग्रंथोंकी ताडपत्रीय प्रतियां मूडबिद्रीके सिद्धान्त मंदिरमें विराजमान हैं। उनमें धवला की तीन प्रतियां हैं। तीनोंके अक्षर समकालीन जान पड़ते हैं। उनमेंसे एक प्रति प्रायः पूर्ण है। दूसरी प्रतिमें बीचके कई पत्र नहीं हैं। और तीसरी प्रतिमें तो सेकड़ों पत्र नहीं हैं। जयधवलाकी एक ही प्रति है। वह संपूर्ण है। महाबंधकी एक ही प्रति ताडपत्रकी है। जिसमें बीच बीचके कई ताडपत्र नहीं हैं।

विषय परिचय--

(१) षड्खंडोंमें प्रथम खंडका नाम जीवस्थान है। उसमें सत्संख्यादि आठ अनुयोगोंसे गुण-स्थान और मार्गणा-स्थानोंका आश्रय लेकर जीवस्वरूपका वर्णन है। (२) दूसरे खंडका नाम क्षुद्रबंध या क्षुल्लक बंध है। इस खंडमें स्वामित्वादि ग्यारह प्ररूपणामें कर्मबंध करनेवाले जीवोंका कर्म बंधके भेदों सहित वर्णन है। (३) तीसरे खंडका नाम बंध-स्वामित्व-विचय है। इसमें कितनी प्रकृतियोंका किस जीवके कहां तक बंध होता है? कितनी प्रकृतियोंकी किस गुणस्थानमें व्युच्छित्ति होती है? इत्यादि कर्मबंध संबंधी विषयोंका जीवकी अपेक्षासे विशद विवेचन है। (४) वेदना खंड चौथा है। इस खंडके अंतर्गत कृति और वेदना अनुयोगके आश्रयसे, कारणकी प्रधानतासे वेदनाका अधिक विस्तारसे वर्णन किया गया है। (५) पांचवें खंडका नाम वर्गणा है। इस खंडका मुख्याधिकार 'बंधनीय' है। जिसमें तेईस प्रकारकी वर्गणाओंका वर्णन और उनमेंसे कर्मबंधके योग्य वर्गणाओंका विस्तारसे विवेचन किया गया है। (६) छठे खंडका नाम महाबंध है। उसमें भूतबलि आचार्यने प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन चारों प्रकारके बंधोंका विधान खूब विस्तारसे किया है।

हम उपर बतला चुके है कि कषायप्राभृतको 'पेज्जदोसपाहुड' भी कहते हैं। इसमें पंद्रह अधिकार हैं। उनमेंसे पेज्जदोस विहत्तिमें केवल उदयकी प्रधानतासे व्याख्यान किया गया है। आगेके चौदह अधिकारोंमें बंध, उदय और सत्त्व आदिके आश्रयसे कषायोंका विस्तृत विवेचन है। दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्म, राग, द्वेष, मोहरूप एवं कषाय और नो-कषायरूप है। षड्खंडागममें अनेक अनुयोगों द्वारा आठों कर्मोंके बंध, बंधक, आदिका विस्तारसे वर्णन हैं। परंतु इस कषायप्राभृतमें केवल मोहनीय कर्मका ही मुख्यतासे वर्णन है। कषायप्राभृतमें तीन ग्रंथ एक साथ चलते हैं। कषायप्राभृत मूल गाथाएं हैं जो कि गुणधराचार्य कृत हैं। और उस पर यतिवृषभाचार्य की चूर्णी-वृत्ति एवं श्री वीरसेनस्वामीकी जय-धवला टीका है।

ताडपत्रीय प्रतियोंका लेखन काल--

धवला सं० १ की अन्तिम प्रशस्तिसे विदित होता कि मंडलिनाडुके भुजबल गंगपेर्मडि देवकी काकी एडवि देमियक्कने यह प्रति श्रुतपंचमी व्रतके उद्यापनके समय. शुभचंद्राचार्यको समर्पित की थी। शुभचंद्राचार्य देशीगणके थे। और बन्निकेरे उत्तुंग-चैत्यालयमें उस समय विराजमान थे।

शुभचंद्रदेवकी गुरुपरंपरा, व उनके स्वर्गवासका समय श्रवणबेलगोला शिलालेख सं० ४३ (११७) में पाये जाते हैं, उनका स्वर्गवास शक सं० १०४५ श्रावण शु० १० शुक्रवारको हुआ था। अर्थात् उनको स्वर्गस्थ हुए करीब ८२२ वर्ष हुए हैं।

शिमोग्गाके एक शिलालेखसे ज्ञात होता है कि उक्त बन्निकेरे चैत्यालयका निर्माण शक सं० १३०५ में हुआ है। ताडपत्र ग्रंथ सं० १ धवलाको देमियक्कने जिन्नपसेठीसे लिखवाकर शास्त्र दान किया था। इसका श्र. बे. शिलालेख सं० ४६ (१२९) में सविस्तर वर्णन है। उसमें उनका नाम देमति, देवमति, देमियक्क इत्यादि दिया है। उन्हें शुभचन्द्रदेवकी शिष्या तथा श्रेष्ठिराज चांमुंडरायकी पत्नी लिखा है। उनकी धर्मानुबुद्धिकी खूब प्रशंसा की है। उक्त देमियक्का का स्वर्गवास शक.सं० १०४२ विकारि संवत्सर फाल्गुन कृष्ण ११ को हुआ था। अतएव पता चलता है कि धवला सं० १ प्रतिको लिखवाकर देमियक्कने अपने स्वर्गवासके पूर्व अर्थात् शक १०३७ और १०४२ के बीचमें शुभचन्द्रदेवको अर्पण किया होगा। अब तक उसे करीब ८२७ वर्ष हुए हैं।

अन्तिम तीन 'कंद' पद्योंमें लिखा है कि कोपल नामके प्रसिद्ध नित्थंवे पुरमें जिन्नपसेठी नामका एक श्रावक रहता था। वह दानशूर एवं समस्त लेखक वर्गमें या विद्वानोंमें अत्यंत चतुर और जिनभक्त था। इत्यादि विशेषणोंसे उसकी प्रशंसा की है। इतना ही नहीं तीसरे पद्यमें उसके सुन्दर अक्षरोंका वर्णन करते हुए लिखा है कि उसकी अक्षर पंक्ति ऐसी प्रतीत होती है मानो समुद्रमें स्थित मोतियोंको निकालकर उन्हें छेद करके सरस्वती देवीके कंठका अलंकार हार ही गूंथा हो। सचमुचमें इस प्रतिके अक्षर मोतीके समान अत्यंत सुंदर हैं। उपरोक्त प्रशंस्ति-पद्योंका संग्रह यहां आवश्यक नहीं है।

धवलाकी दूसरी प्रति—

इसकी अंतिम प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि, इसे राजा गंडरादित्यदेवके पडेवल-अर्थात्-सेनापति मल्लिदेवने लिखवाकर कुलभूषण मुनिको अर्पण किया था। वे कुलभूषणमुनि आचार्य पद्मनंदिके शिष्य थे। मूल संघमें कुंदकुंदाचार्यकी परंपरामें हुए थे। उक्त मल्लिदेवकी प्रशंसामें कई पद्य हैं। 'सुजन चूडामणि' रत्नत्रयभूषण' आदि विशेषणोंसे उनका स्मरण किया है। उक्त पद्योंमेंसे कुछ पद्य निम्न प्रकार हैं—

गुणनिधि-मल्लिनाथ-पडेवल्लनिंदित,कुंदकुंद-भूषण
कुल भूषणोद्‌घ-मुनिपंगे जिनागम तत्व सत्प्ररू-
पणमेनिसिर्दुदं धवलेयं परमागममं, जिनेश्वरप्रणुत
मनोलिपिनिं बरेयिसित्तनिदें कृतकृत्य नादनो॥
सेनानिर्मल्लिनाथाख्यो विश्रुत्या विश्वभूतले।
गंडरादित्यदेवस्य मंत्री मंत्रिगुणान्वितः॥

धवलाकी तीसरी प्रतिमें प्रशस्ति नहीं है, तो भी समकालीन अक्षरोंसे जान पड़ता है कि पूर्वोक्त दोनों प्रतियां लगभग ८०० वर्ष पहलेकी हैं।

जयधवलाकी प्रति—

सिद्धान्त मंदिरमें जयधवलाकी ताडपत्रीय प्रति एक ही है। उसे बल्लिसेट्टिने लिखकर अर्पण किया था। अंतिम प्रशस्तिमें पद्मसेनमुनिकी प्रशंसामें कर्नाटक पद्य हैं। उनमें उनको 'जैन सिद्धान्त-वननिधि-ताराधिप', 'वाणिवारासि-सैद्धान्तिक-चूडारत्न' और 'कुमतकुधर वज्रायुध' इत्यादि उपाधियोंसे स्मरण किया है (यह पद्मसेनाचार्य कुलभूषणके गुरु पद्मनंदी ही होंगे) प्रशस्तिमें पद्मसेनके बाद उनके शिष्य कुलभूषणका स्मरण किया है।

उक्त प्रशस्तिमें लेखक बल्लिसेट्टिको 'वैश्य कुलदीधिति', 'अगण्य पुण्यनिधि' और 'शौचगुणांबुनिधि, आदि उपाधियोंसे विभूषित किया है। वह इतना उदार था कि स्वार्जित द्रव्यको शास्त्रदान आदिमें व्यय करता था। उक्त मुनि पद्मसेन या पद्मनंदि और बल्लिसेट्टीका समय विचारणीय है।

महाबंधकी प्रति—

महाबंधकी ताडपत्रीय प्रतिको राजा शांतिसेनकी पत्नी पल्लिकांबाने उदयादित्यसे लिखवा कर श्री पंचमी व्रतके उद्यापनाके समय आचार्य श्री माघनंदिको समर्पित किया था। उक्त ग्रंथकी अंतिम प्रशस्तिमें लिखा है कि उपरोक्त माघनंद्याचार्य आचार्य श्री मेघचंद्रके शिष्य थे। उक्त माघनंदि आचार्य, राजा शांतिसेन और मल्लिकांबाका समय विचारणीय है।

अज्ञात-नाम कर्तृक-व्याकरण

श्री डा० बनारसीदास जैन एम० ए०, पीएच० डी०

जिस व्याकरणके कुछ सूत्र नीचे उद्धृत किये जाते हैं, उसका न तो नाम मालूम है और न कर्ता। इसके प्रारंभके केवल १०५ सूत्र उपलब्ध हुए हैं जो एक ताड़-पत्रीय प्रतिके पहले और दूसरे पत्र पर नेवारी अक्षरोंमें लिखे मिलते हैं। यह प्रति नेपाल देशके कठमांडू भंडारमें सुरक्षित है। इसके कुल १६ पत्र हैं। पहले दो पत्रों पर प्रस्तुत व्याकरणका अंश और शेष १४ (३–१६) पत्रों पर पुरुषोत्तमकृत प्राकृतानुशासनके अन्तिम १८ (३–२०) अध्याय लिखे हुए हैं। समग्र प्रति एक ही हाथकी लिखी हुई प्रतीत होती है। ऐसा जान पड़ता है कि इस प्रतिमें दो व्याकरणोंके पत्र मिश्रित हो गये हैं—अज्ञात-नाम व्याकरणके प्रथम दो और प्राकृतानुशासनके अंतिम चौदह। एक ही हाथके अक्षर होनेसे यह भूल निवारण नहीं हो सकी। प्रतिके अन्तमें लिपिकाल नेपाली सं० ३८५ (वि० सं० १३२२) दिया है। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि पहले किस व्याकरणकी लिपि हुई।

नेपाल-नरेशकी आज्ञासे इस प्रतिके फोटो बनवाये गये। एक सैट विश्व भारती शान्तिनिकेतन को भेजा गया, दूसरा फ्रांसमें पैरिसकी लायब्रेरी को। वहांसे प्रो० लुइज्या-नित्त-दोलची ने इस प्रतिका संपादन किया जो सन् १९३८ में प्रकाशित हुआ[1]। सन् १९३९ में महायुद्ध छिड़ जानेसे यह पुस्तक भारतमें आनेसे रुकी रही। अभी पिछले वर्ष ही लाहौर आयी है। इससे पूर्व इन व्याकरणोंके अस्तित्वका ज्ञान नहीं था। यदि अज्ञात-नाम व्याकरणका लिपिकाल भी सं० १३२२ हो, तो इससे सिद्ध होता है कि यह व्याकरण सं० १३२२ से पहले की रचना है, तथा नेपालमें किसी समय प्राकृतका अच्छा प्रचार होगा।

इस लेखके द्वारा जैन विद्वानोंका ध्यान अज्ञात-नाम प्राकृत व्याकरणकी ओर आकर्षित किया जाता है ताकि वे इसकी पूर्ण प्रति ढूंढनेका प्रयत्न करें। जैन भंडारोंमें अब भी कई ऐसे ग्रंथ सुरक्षित हैं जिनका संसारमें नाम तक प्रकट नहीं हुआ है।

---

१. "ली प्राकृतानुशासन डी पुरुषोत्तम पर लिंगिअ नित्ती-डोल-पेरिस" १९३७ पृ, १४१ मूल्य १० शिलिंग। इसमें अज्ञात-नाम कर्तृक व्याकरणका उपलब्ध अंश प्रकाशित किया गया है।

नेपाल से प्राप्त अज्ञातनाम—कर्तृक प्राकृत-व्याकरणके सूत्र—

ॐ[1] नमो बुद्धाय ॥

(१) ऋ ॠ ऌ ॡ न सन्त्यत्र नोमो न णञनाः पृथक्।
न शषौ द्विवचनञ्चैव चतुर्थी दृश्यते क्वचित् ॥

(२) ए औ पदादौ ॥

(३) अउदौतो वा ॥

(४) अइदैतः ॥

(५) क्वचिदेदिदीतः ॥

(६) उदोदादौतः ॥

(७) आदिदीतामेत् ॥

(८) एत इत् ॥

(९) अत इदोतौ ॥

(१०) अत उः[2] ॥

(११) इत उः[3] ॥

(१२) ईत उः[4] ॥

(१३) ऊत एः ॥

(१४) आदीदूतामलोपेऽसंयोगे ह्रस्वः ॥

(१५) दाढा ॥

(१६) आदिदुतां क्वचिद्दीर्घः ॥

(१७) व्यञ्जनादुत ओः ॥

(१८) उदोतोरिदुतौ ॥

(१९) ऋतोऽदिदुदातः[5] ॥

(२०) उरूरि सव्यञ्जनस्य च ॥

(२१) इदुतौ वा ॥

(२२) ईदरी ॥

(२३) लृल्योरिलिः ॥

(२४) रः परसवर्णः ॥

(२५) डढणबभमदधनरहितवर्गा वर्णा -अपदादौ नायुक्तात् ॥

(२६) कुदुतुषोकतेषां ॥

(२७) तथकखघधभां हः ॥

(२८) हो बः ॥

(२९) त लोपो णडपडरककाराश्च ॥

(३०) अंकालं ॥

(३१) वेण्टं ॥

(३२) टो डढौ ॥

(३३) फालहं ॥

(३४) दूरुः ॥

(३५) वस्य हुः ॥

(३६) फो भः ॥

(३७) यवरडां लः ॥

१, प्रतिके प्रारम्भमें अंक १ से मिलता हुआ संकेतात्मक ॐ है जिसे नित्ती-दोलचीने छोड़ दिया हैं।

२, प्रतिका पाठ—औतः।

३, प्रतिमें—इत ऊः।

४, प्रतिमें—ईत इः।

५, प्रतिमें दुदेदातः।

(३८) णडालघरवटाम् ॥ (३९ कालोपः पूर्वस्य वाच ॥

(४०) कगचजदपा मपदादाव संयुक्तानां लोपः (४१) वो बहुलम् ॥

(४२) उः ॥ (४३) यः पदादौ[1]जा ॥

(४४) लोपोऽन्यत्र ॥ (४५) चजोर्यः ॥

(४६) पो वः ॥ (४७) फः ॥

(४८) दो डः ॥ (४९) तादी[2] चादयः शयां ॥

(५०) सराण्ठादयः ॥ (५१) शषोश्छ सहाः ॥

(५२)प्रथमतृतीयानांमणरलसंयोगिनां तद्भाव (५३) खेडं ॥

(५४) प्रथमसंयोगे प्रथमद्वितीयौ ॥ (५५) समसंयोगे प्रथमा विसर्ग द्वितीय चतुर्था-त्वरम् ॥

(५६) पदादौ त्वस्य भ्फच्छखाः ॥ (५७) मध्यान्तयो युक्ताः ॥

(५८) दमस्य च्छहो ॥ (५९) च्छमा ॥

(६०) ध्मस्य ढुमः ॥ (६१) द्वश्च ॥

(६२) ष्टस्य ड्रिश्रोठाकाश्च ॥ (६३) स्तस्य पदादौ थठखाः ॥

(६४) ड्डोऽन्यत्र ॥ (६५) र्यस्य ज्जल्ल द्वौ ॥

(६६) सेज्जा ॥ (६७) श्मस्मयो शैः ॥

(६८) ष्मष्ययो हैः ॥ (६९) सुण्हा ॥

(७०) चोणः ॥ (७१) दो रः ॥

(७२) रोरीर वहाः ॥ (७३) दीह दीहरौ दीर्घस्य ॥

(७४) मनलय पूर्वो हः परस्तात्यः[3] ॥ (७५) ह्रो न्दः ।

(७६) ह्नस्य ज्भः । (७७) सोहो वा ।

(७८) प्यस्योमः (७९) ज्ञस्य जणौ पदादौ ।

(८०) संयुक्तावपदादौ । (८१ शषोः संयोगादेर्लोपः ।

(८२) स्कस्त स्पनां[4] खथफाः । (८३) ष्णस्नोः सणः ।

(८४) तृनस्य दणं । (८५) श्राद्धतः सदहिश्रं ।

१, प्रतिमें पदादादौ ।

२, यहां प्रतिमें एक अक्षर पढ़ा नहीं जाता ।

३, यहां प्रतिमें परस्तेत्यः पाठः है

४, प्रतिमें स्कस्तस्यनां पाठ है ।

(८६) शलम्लोः सलमलौ
(८७) प्सश्चो च्छः ।
(८८) नो णः ।
(८९) छे ।
(९०) संयोगे लोपः ।
(९१) मनोः पूर्वसवर्णः ।
(९२) अप्पः ।
(९३) मध्यलोपावादि स्वरो वा ।
(९४) टदो रन्ते सदौ ।
(९५) तयोर्लोपः ।
(९६) अत ओकारे ।
(९७) संयोगात् करणं क्वचिदस्वरस्य ।
(९८) हर्हावेव पदादौ ।
(९९) दध कहार परा गाथा पा मस्मकेषु ।
(१००) भीष्मादयो न महाराष्ट्रेषु ॥
(१०१) हरादयः शब्दः समानाः ।
(१०२) द्विवचनस्य बहुवचनम् ।
(१०३ स ओ पुंसि ।
(१०४) बहुवचनस्य क्वचिल्लोपः ।
(१०५) अनभ..."

कन्नड़ भाषाको जनोंकी देन

श्री प्रा० के० जी० कुन्दनागर, एम० ए०

कन्नड़ भाषाके निर्माताओं तथा कन्नड़ साहित्यके विधाताओंमें जैनियोंका सर्व प्रथम तथा सर्वोत्तम स्थान है। इस दिशामें उन्होंने इतना अधिक कार्य किया है कि, भाषा, व्याकरण, साहित्य, छन्द, दर्शन, गणित, राजनीति, विज्ञान, टीका आदि कोई भी शाखा उनके कर्तृत्वसे अछूती नहीं है। भावी कर्णाटकियोंके लिए उन्होंने ऐसी समृद्धि छोड़ी है जिसके लिए उनकी सन्तान सदैव ऋणी रहेगी। समय अनुकूल था; यदि राजाश्रयमें वे लिखते थे तो विद्वान भी उनकी रचनाओंका समादर करते थे। वे स्वयं भी विविध भाषाओंके पंडित थे तथा जनताका धर्मप्रेम उनकी प्रत्येक रचनाको जनपदके कोने कोने तक ले जाता था। इस प्रकार बढ़ते बढ़ते जैन साहित्य कर्णाटकके विद्वानों और धर्मात्माओंकी आराधनाका विषय बन गया था। ऐसे विशाल साहित्यके दिग्दर्शन मात्रका यहां प्रयत्न किया जा रहा है क्योंकि उसका आंशिक वर्णन भी कठिन है फिर पूर्ण विवेचनकी तो कहना ही क्या है। इस विवेचनमें चौदहवीं शतीके प्रारम्भ तकके साहित्यके संकेत रहेंगे। क्योंकि तबतक इन मनीषियोंका कार्य पूर्ण हो चुका था।

श्रुतकेवली भद्रबाहुके नेतृत्वमें जैन संघकी दक्षिण यात्रा तथा उनका श्रवण बेलगोलमें निवासके समयसे ही दक्षिणमें जैन धर्मका प्रसार प्रारम्भ होता है। अपने धर्मके प्रचारके लिए पूर्ण प्रयत्न करके भी वे चोल राजाओंके दमनके कारण तामिल जनपदमें असफल ही रहे। दूसरी ओर कर्णाटकके गंग, चालुक्य, राष्ट्रकूट, कदम्ब, होयसल शासक सब धर्मोंके प्रति उदार थे फलतः जैनधर्म वहां सरलतासे फूला फला।

आधुनिक धर्म प्रचारकोंके समान जैनाचार्योंने भी अपने सिद्धान्तोंको हृदयंगम करनेके लिए कन्नड़ भाषाको माध्यम बनाया था जैसा बौद्धोंने भी किया था क्यों कि अशोक-लेख तथा बौद्ध विहार कर्णाटकमें मिले हैं। हां कन्नड़में कोई साहित्य अवश्य नहीं मिला है। हालमिडि लेखसे ज्ञात होता है कि चौथी शती पू० से लेकर ई० ४ शती ई० के मध्यतक कन्नड़ लिखने पढ़ने योग्य न हो सकी थी फलतः संस्कृत प्राकृतसे शब्द लेकर जैनोंने इसे समृद्ध किया। तथा कितने ही कन्नड़ शब्दोंको प्राकृतमें भी लिया फलतः कन्नड़ शब्द भी तत्सम, तद्भव और देश्य हो सके। कमल, कुसुम, वीर, बात, संगम, मोक्ष, आदि संस्कृत शब्द तत्सम हैं। इनके अर्थोंके वाचक कन्नड़ शब्द होते हुए भी चम्पू तथा शैलीकी दृष्टिसे तत्सम

शब्द अपनाये गये थे। करगस (क्रकच) अग्ग (अर्घ) वेहार (व्यवहार) सक्कद (संस्कृत) स्सिी (श्री) आदि तद्भव शब्द हैं जो संस्कृत शब्दोंके प्राकृतमय कन्नड़ रूप हैं।

सरसति (सरस्वती), विज्जोदर (विद्याधर), दुज्जोधन (दुर्योधन) आदि तद्‌भव नाम हैं। (वग्ग=व्याघ्र), तिगलपेरे (ससि=शशी) बर्दु (मिलतु=मृत्यु), यदु (ओसद=औषधि), बान् (आगस=आकाश), आदि देश्य शब्द हैं। इनके अतिरिक्त अगल (रकेवी), भावरि (मुनि भिक्षा), अरियेरुकार (चर), रंदवणिग (पाचक), मादेल (पूंजी), आदि शब्द भी बनाये गये थे एसे कितने ही शब्दोंका अब भी चलन है। तथा वक्तव्यके समझानेके लिए संस्कृत शब्दोंका यथेच्छ प्रयोग हुआ है।

शब्दोंके निर्माणके साथ साथ कन्नड़पर संस्कृत व्याकरणकी भी छाया पड़ी है। संस्कृत वर्णमाला संज्ञाएं, सातकारक, सम्बन्धवाची सर्वनाम, समास, सति-सप्तमी, कर्मवाच्य, आदि इसके ही सुफल हैं। जैनोंके इस परिवर्द्धनके कारण कितने ही विद्वान कन्नड़को संस्कृतकी पुत्री कल्पना करते हैं। संस्कृत छन्दोंका उपयोग द्राविड़ षट्पादि, त्रिपादि, रगले, अक्कर, आदि छन्दोंके साथ किया है।

साहित्य निर्माण—कन्नड़ जैन कवि तथा लेखकोंने सर्वत्र समन्तभद्र, कविपरमेश्वर तथा पूज्यपादका स्मरण किया है इन आचार्योंकी लेखनीसे भी कन्नड़में कुछ लिखा गया था यह नहीं कहा जा सकता, हां इनके संस्कृत प्राकृत ग्रन्थोंपर कन्नड़में टीकाएं अवश्य उपलब्ध हैं। श्री वर्धदेव; अपरनाम तुंबलराचार्यने (६५० ई०) तत्त्वार्थ महाशास्त्रपर चूड़ामणि टीका लिखी थी। इनके समकालीन शामकुंदाचार्यने कन्नड़ प्राभृतोंकी रचना की थी। अर्थात् इस समय तक कन्नड़ भाषा दार्शनिक ग्रन्थ तथा कविता लिखने योग्य हो गयी थी[1]। इस समयसे लेकर राष्ट्रकूट राजा, नृपतुंग देव (८१४-७८ ई०) तकके अन्तरालमें निर्मित कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। नृपतुंगदेव अपने 'कवि राजमार्ग' में कितने कन्नड़ गद्य पद्य निर्माताओंका ससम्मान उल्लेख करते है। भामहके काव्यालंकार, दंडीके काव्यादर्शसे लिये जानेपर भी इस ग्रन्थके विषयमें भाषा और पद्योंकी अनुकूलताकी दृष्टिसे परिवर्तन किया गया है। इनका उत्तर-दक्षिण मार्ग भेद कन्नड़ भाषा विज्ञानके प्रारम्भकाद्योतक है। ८७७ से ९४० ई० तकका समय पुनः सुषुप्तिका समय था। अद्यतन शोधोंने हरिवंशपुराण तथा शूद्रक पद्योंके यशस्वी रचयिता गुणवर्म तथा नीति-वाक्यामृतके कन्नड़ टीकाकार आचार्य नेमिचन्द्रको कन्नड़ साहित्यके इस युगके निर्माता सिद्ध किया है।

इसके बाद हम कन्नड़ साहित्यके स्वर्ण युगमें आते हैं। क्यों कि आदिपुराण तथा भारतके रचयिता श्री पंप (ल० ९४० ई०), शान्तिपुराण जिनाक्षरमालेके निर्माता पन्न (ल० ९५०), त्रिषष्ठि

---

१ श्रवणबेलगोल शिलालेख सं० ३७, ७६, ८८ बादामिका एक शिलालेख सन् ७०० ई० का (इण्डियन एण्टेक्वा० भा० १०, पृ० ६१) सिद्ध करते हैं कि कन्नड़ उस समय तक कविताके योग्य हो गयी थी। इनमेंसे एक शार्दूल विक्रीडित, दो मत्तेभविक्रिडित तथा एक त्रिपदि छन्दमें है।

लक्षण महापुराणके लेखक चावुण्डराय (९६८ ई०) तथा अजितपुराण एवं गदायुद्धके निर्माता रन्न (९९३ ई०) इसी समयमें हुए हैं। अपनी काव्य कला, कोमल कल्पना, चारू चिन्ता, प्रस्फुटित प्रतिभा तथा प्रसाद गुणयुक्त शैलीके कारण तत्कालीन कन्नड़ चिन्तकोंपर इनकी प्रभुता छा गयी थी तथा पंप, पोन्न और रन्नने असाधारण ख्याति पायी थी। यही कारण है कि बारहवीं शतीके प्रारम्भमें हुए नागचन्द्र कविने 'अभिनवपंप' उपाधि धारण की थी। इनकी शैली उत्तम चम्पू है। पोन्न तो बाणकी बराबरी करते हैं। चरित्र चित्रण तथा भाव व्यञ्जनामें रन्न अति अर्वाचीन हैं। तीर्थंकर पुराण शृंगार-शान्त रसका अलौकिक सम्मिश्रण हैं। यही अवस्था भावावलिकी है जिसके आधेसे अधिक भागमें शृंगार और शेषमें शान्त रस है। शेष रस कथा वस्तुका अनुगमन करते हुए इन्हीं प्रधान रसोंका समर्थन करते हैं। दर्शन तो इसमें ओतप्रोत है। यही जैन पुराणोंकी विशेषता है। इसी कारण इनको संक्षिप्त करना संभव नहीं है।

अद्यतनीय दृष्टियोंसे इन ग्रन्थोंकी समालोचना करना उचित नहीं होगा क्योंकि उस समयकी दृष्टि भोग, आन्तरिक शान्ति तथा आत्यन्तिक सिद्धि थी। जिनका इन ग्रन्थोंने सर्वथा सुन्दर निर्वाह किया है। पम्पका कर्ण, पोन्नका दमितारि तथा रन्नका दुर्योधन सिद्ध करते हैं कि ये दुखान्त पात्र चित्रणमें पारंगत थे। महाकवि थे इसीलिए सहस्र वर्ष बीत जानेपर भी उनके ग्रन्थ आज नये ही हैं। इसी कारण चालुक्य तथा राष्ट्रकूट राजाओंने उन्हें 'कवि चक्रवर्ती' आदि उपाधियां भी देकर सम्मानित किया था। जिनसेनाचार्य तथा गुणभद्राचार्यके पूर्वोत्तर-पुराणोंसे कथा वस्तु लेकर चांवुडरायने त्रिषष्ठि-लक्षण महापुराणकी रचना की है। कहीं कहीं तो कविपरमेश्वरके पद्य भी इन्होंने उद्धृत किये हैं। ये कवि होनेके साथ साथ युद्ध तथा धर्मवीर भी थे। श्रवण-बेलगोलस्थ श्री १००८ बाहुबलि-मूर्ति इनकी अमर कीर्ति है। बड्डाराधने नामक गद्य ग्रन्थ इस युगकी सर्वोत्तम कलामय रचना है। कुछ लोग श्वो- अथवा शिव-कोट्याचार्यको इसका लेखक कहते हैं तो दूसरे अज्ञातकर्तृक बताते हैं। जो भी हो जैनधर्मके माहात्म्य द्योतक कथाओंका यह संग्रह अनुपम है। तथा अरने युगके कथा ग्रन्थ 'देवी-अराधना' धूर्त्ताख्यान, जातक कथा, आदिकी कोटिका ग्रन्थ है। फलतः इसके यशस्वी लेखकको भूल जाना कन्नडिगोंका दुर्भाग्य होगा।

अब ग्यारहवीं शतीमें आते हैं तो हमें अभिनव पंप नागचन्द्र तथा श्रीमतीकान्तिके दर्शन होते हैं। 'भारती कर्णपूर, साहित्य-विद्याधर, साहित्य सर्वज्ञ आदि उपाधियां ही पंपकी महत्ताको प्रकट करती हैं। इन्होंने अपनी रामायणमें विमलसूरिके पउमचरिऊका अनुसरण किया है। रावणके दुखान्त चरित्र चित्रणमें अद्भुत कुशलताका परिचय दिया है। इन्होंने विजयपुरमें मल्लिनाथ मन्दिर बनवा कर वहीं मल्लिनाथ पुराणकी रचना की थी। नागचन्द्रने स्वयमेव कान्तिदेवीकी कवित्व विषयक उत्कृष्टताका उल्लेख किया है। 'कान्तिहंपर समस्ये' ग्रन्थ उपलब्ध है अन्य कृति कोई अबतक प्राप्त नहीं हुई है। अन्य कवियोंकी तालिका

निम्न प्रकारसे हो सकती है। कर्णपार्य (११४०) नेमिनाथ पुराण। नेमिचन्द्र (११७०) लीलावती, अर्धनेमिपुराण। अग्गल (११८९) चन्द्रप्रभ पु०। बंधवर्म (१२००) हरिवंशाभ्युदय, जीवसंबोधने। आचण्ण (११९५) वर्धमान पु०। पार्श्वपंडित (१२०५) पार्श्वनाथ पुराण। जन्न (१२०९) अनन्तपु० यशोधरचरित। शिशुमायण (१२३३) त्रिपुरदहन, अंजनाचरित्रे। गुणवर्म्म (१२३५) पुष्पदंतपु० चन्द्राष्टक। कमलभव (१२३५) शान्तीश्वर पुराण। अंडय्य। (१२३५) कब्बिगर काव। कुमुदेन्दु (१२७५) रामायण। हस्तिमल्ल (१२९०) आदिपुराण (गद्य)।

शिलाहार गंगरादित्यके कालमें उत्पन्न कर्णपार्यका नेमिनाथ पुराण अद्भुत चम्पूकाव्य है। लीलावति शृंगारिक उपन्यास है जिसकी वस्तु संक्षिप्त होनेपर भी दृश्यादिके सुन्दर वर्णनोंसे ग्रन्थ दीर्घकाय हो गया है। इनकी कल्पनाने 'सूर्यको अदृष्ट तथा विधातासे अनिर्मित वस्तु भी कविसे परे नहीं' किम्बदन्तीको सत्य कर दिया है। कलाकान्त, भारती-चित्त-चोर आदि विशेषण इनकी योग्यताके परिचायक हैं। बन्धुवर्मसे पार्श्वपंडित तकके लेखक एक ही श्रेणीके हैं। जन्न कल्पनाशील न होकर भी प्रसाद पूर्ण है। यशोधरचरितमें चित्रित अहिंसा धार्मिकता तथा सांसारिकताका सुन्दर समन्वय है। दोनों ग्रन्थ महत्त्वके काव्य हैं अतएव होयसल-यादव नृपति द्वारा दत्त 'चक्रवर्ती, राजविद्वत्सभा—कलहंस, आदि उपाधियां आश्चर्य चकित नहीं करतीं। कामदहन खाण्ड-काव्य ही अंडय्यकी ख्यातिका कारण हुआ है। कवित्वके अतिरिक्त इस उपान्याससे उनका मातृभाषा प्रेम तथा उत्साह भी फूट पड़ता है। शिशुमायण तथा कुमुदेन्दुने चम्पू शैलीको त्यागकर 'सांगत्य' 'षट्पदि' छन्दोंको लेकर जनपदके जनका विशेष अनुरञ्जन किया है। ये सभी कवि अनेक भाषाओंके पंडित थे तथा संस्कृत बहुल भाषा लिखते थे। फलतः 'कन्नड संस्कृतके आश्रित है' आरोपके साथ जन-मन तृप्त नहीं हुआ। इसी अतृप्तिने बारहवीं शतीमें साहित्यिक-दार्शनिक क्रान्ति की सृष्टि की। बसवके वीरशिव मतकी स्थापना तथा 'वचनों' की रचनाने नूतन युगको जन्म दिया। जिससे प्रभावित हो नयसेनने धर्मामृत लिखकर संस्कृत शैलीके विरूद्ध क्रान्ति की थी। यह स्थिति देखकर भी उन्होंने भावी विपत्तिके प्रतिरोध तथा जन मन अनुरंजनका सुविचारित प्रयत्न नहीं किया था। जिसका परिणाम जैनधर्मके लिए घातक हुआ। तथापि कतिपय व्यक्तियोंने इस स्थितिका सामना प्रचारात्मक ग्रन्थ लिखकर किया था। ऐसे लेखकोंमें निम्न कवि प्रधान थे। ब्रह्मशिव (११२५) समयपरीक्षे, त्रैलोक्य चूड़ामणिस्तोत्र। वीरणंदि (११५३) आचारसार तथा टीका। वृत्तविलास (११७०) प्राभृतत्रय, तत्त्वार्थ परमात्मप्रकाशिके। माघणंदि (१२६०) शास्त्रसार समुच्चय। नागराज (१३००) पुण्यास्रव। कनकचन्द्र (१३००) मोक्षप्राभृत टीका।

ब्रह्मशिवके समयपरीक्षेमें आप्तागम तथा अनाप्तागम विवेचन करते हुए वैदिक शास्त्रोंकी न्यूनताओंका संकेत किया है। किन्तु चम्पू तथा गम्भीर विषय होनेके कारण यह जन-प्रिय न हो सका

वृत्तविलासकी धर्मपरीक्षाकी भी यही स्थिति है। यह अमितगतिकी धर्मपरीक्षाका कन्नड चम्पू रूप है। माघनन्दि कृत शास्त्रसारसमुच्चय जैन दर्शनका विस्तृत वर्णन करता है यह कन्नड़ भाष्य युक्त सूत्रग्रन्थ है जिसके व्याख्यान पंपके आदिपुराण आदि ग्रन्थोंके उलेल्खोंसे परिपूर्ण हैं।

किन्तु ये आकस्मिक प्रयत्न न तो जनताको तुष्ट कर सके और न उनकी ज्ञान पिपासा ही बुझा सके। मल्लिकार्जुन, (१२४५) नागवर्म (११४५) केशिराज (१२६०) आदि भी समयकी पुकारको न समझ सके। इसीलिए आलंकारिक साहित्यके महत्त्वकी सिद्ध करनेके लिए उन्होंने क्रमशः 'सुक्ति सुधार्णव' काव्यावलोकन, शब्दमणिदर्पण, आदि ग्रन्थ लिखे जो कि सूक्ति, लक्षण तथा व्याकरणके अत्युत्तम ग्रन्थ होकर भी अपने सौ वर्ष बाद ही 'षट्पदि-युग' के प्रारम्भको न रोक सके।

वैज्ञानिक विषयोंपर लिखनेवाले कतिपय विद्वानोंकी तालिका निम्न प्रकार है— श्रीधराचार्य (१०४९) जातकतिलक। राजादित्य (११२०) व्यवहार-क्षेत्र-गणित् लीलावती चित्रहसुगे। कीर्तिवर्म (११२५) गोवैद्य। जगद्दलसोमनाथ (११५०) कल्याणकारक (कर्णाटक)। रट्टकवि (१३००) रट्टमत (फ० ज्यो०)।

ईनमें से भी कितने ही ग्रन्थ चम्पू शैलीमें हैं। विविध विशाल कन्नड़ साहित्यमेंसे ग्रन्थों तथा लेखकोंका यह अति संक्षिप्त संकलन है। तथापि इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनाचार्योंने किस प्रकार कन्नड़ भाषा तथा साहित्यका निर्माण किया है। तथा कन्नडिगोंके लिए प्राचीन आलंकारिक संस्कृतसे सम्बद्ध करके कितनी अनुपम सम्पत्ति छोड़ी है। साहित्यके सब अंगोंमें नाटक एकमात्र अंग है जिसका अनुपातिक पोषण नहीं किया गया है। तथापि 'गुदायुद्ध' आदि ग्रन्थोंमें नाटकके समस्त गुणोंके दर्शन होते हैं।
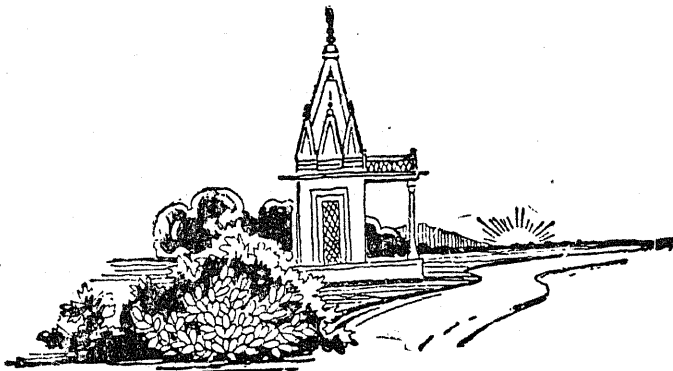
एक अज्ञात कन्नड़ नाटककार

श्री एम० गोविन्द पाई

श्रृंगारार्य कृत 'मित्रविन्द-गोविन्दा' १८०० ई० तकके कन्नड साहित्यमें एकमात्र नाटक है। मैसूरके राजा चिक्कदेवराय (१६७२-१९०४) की राजसभाके 'शेरी वैष्णव' कवि थे। यह नाटक भी श्री हर्षके रत्नावलि नाटकका भाषान्तर मात्र है जिसमें केवल पात्रोंकी संज्ञाएं परिवर्तित कर दी गयीं हैं। आपाततः जिज्ञासा होती है कि कालिदासके मालविकाग्निमित्रमें उल्लिखित सौमिल्ल कविपुत्रादि[1] के नाटकोंके समान किसी प्राचीनतर कन्नडिग कविके नाटक भी तो कहीं लुप्त अथवा गुप्त नहीं हो गये हैं। महाकवि रन्नके गदायुद्ध (१००७ ई०) में चित्रित कञ्चुकी एवं विदूषकादि पात्रोंकी उपस्थिति विशेष कर इस ओर आकृष्ट करती है क्योंकि संस्कृत साहित्यके महाकाव्योंमें इनका चित्रण नहीं पाया जाता है। अतः अनुमान किया जा सकता है कि प्रारम्भमें रन्न अपनी कृतिको नाटक रूप देना चाहते थे और बादमें महाकाव्य रूप दे गये। फलतः इतना कहा ही जा सकता है कि उनके सामने संभवतः कोई नाटक अवश्य थे।

गद्य-पद्यमय पञ्चतन्त्र[2] नामका एक कन्नड ग्रन्थ है इसके रचयिता ब्राह्मण विद्वान् दुर्गसिंह हैं। इसकी लगभग पचास प्रतियोंमें "अति संपन्नतेवेत्त....प्रमदलीला पुष्पिताम्रद्रुमम्।" श्लोक पाया जाता है। तथा जो कि मुद्रित प्रतिमें नहीं है[3]। यह ग्रन्थ प्रजापति संवत्सरकी चैत्रशुक्ला द्वादशी सोमवारको समाप्त हुआ था। ग्रन्थके प्रारम्भ (पृ० ३१-३८) में लिखा है कि कवि चालुक्य वंशी जगदेकमल्ल कीर्तिविद्याधरकी राजसभामें रहते थे। सर्गोंकी सन्धिमें कवि अपना उक्त राजाओंके समयमें "महासन्धिविग्रहि" रूपसे भी उल्लेख करता है? यह राजा पश्चिम चालुक्य वंशी जयसिंह—जगदेकमल्ल—कीर्त्तिविद्याधर (१०१८-१०४२) के सिवा दूसरा हो ही नहीं सकता। फलतः गुणाढ्यकी पैशाची बृहत्कथासे 'वृसुभागभट्ट'

---

१ "सौमिल्ल कविपुत्रादीनां प्रबन्धात्"

२ मैसूर राजकीय सरस्वती सदन तथा दि० जैन सिद्धान्त भवन आरामें संचित प्रतियां।

३ कर्णाटक काव्यमञ्जरी मालामें प्रकाशित २३ वां पुष्प (१८९८)

द्वारा संस्कृत रूपान्तर किये गये पंचतन्त्रके कन्नड भाषान्तरका काल ६५३ शालिवाहन सं० (सोमवार ८ मार्च १०३१ई०) होगा।

वाल्मीकि, व्यास, विष्णुगुप्त, गुणाढ्य, वररुचि, कालिदास, भवभूति आदिका स्मरण करते हुए कवि दुर्गासिंह इनके बाद ही कन्नड़ कवियोंका भी स्मरण करते हैं। जिसके पुष्ट आधारपर हम श्री विजय, कन्नमय्य, असग, मानसिज, चन्द्रभट्ट, पोन्न, पम्प, गगनांकुश तथा कविताविलासको उनका पूर्ववर्ती मान ही सकते हैं। इनमें श्री असग संस्कृत कवि भी थे जैसा कि उनके प्रकाशित वर्द्धमानचरित्र[1] तथा शान्तिपुराणसे स्पष्ट है। "संवत्सरे दशनवोत्तरवर्षयुक्ते।१०४।...ग्रन्थाष्टकं च समकारि जिनोपदिष्टम् ।१०५।" पद्यों द्वारा कविने "वद्‌र्धमानचरित" के रचना समयकी सूचना दी है। अर्थात् 'चोल राजा श्रीनाथके राज्य कालमें विमलानगरीमें विद्या पढ़कर मैंने ९१० संवतमें यह ग्रन्थ लिखा था। पोन्न (९५० ई०) अपने शान्तिनाथ पुराणमें कन्नड़ कवितामें अपनेको असगके समान[2] लिखते हैं। फलतः वद्‌र्धमानचरितका समाप्ति काल सं० ९१० 'शालिवाहन' न होकर 'विक्रम' ही हो सकता है। फलतः ८४६ ई०[3] तक राज्य करनेवाले राजा श्रीनाथ चोल कोकिल्लि अपरनाम श्रीपति होंगे तथा रचनाकाल ८५३–४ ई० होगा। छन्दकी सुविधाके कारण श्रीपतिका श्रीनाथ हो जाना तो सुकर है ही।

असगकी स्तुति करनेके ठीक पहले दुर्गसिंह "अब तक कोई ऐसा सुकवि न हुआ है और न होगा जिसकी तुलना कन्नमय्यसे की जा सके। जिनका मालवी [ती]-माधव विद्वानोंके हृदयको मन्त्रमुग्ध करता है[4]।" अर्थमय पद्य द्वारा कन्नमय्यका स्मरण करते हैं। राष्ट्रकूट नृपति नृपतुंग(८१४–७७ ई) द्वारा रचित कहे जानेवाले लक्षणग्रन्थ कविराजमार्गमें कन्नड़ कवि श्रीविजयका उल्लेख है। श्रीविजयको पञ्चतन्त्रकार दुर्गसिंहने भी स्मरण किया है। यद्यपि असग तथा कन्नमय्यका कविराजमार्गमें उल्लेख नहीं है तथापि कन्नमय्य न्यूयाधिक रूपमें नृपतुंगके समकालीन रहे होंगे क्योंकि उनके कुछ ही पहले असगकी मृत्यु हुई थी फलतः कन्नमय्य द्वारा 'मालवि-माधव' का रचनाकाल ८०० ई० कहा जा सकता है' दुर्भाग्यवश यह नाटक अनुपलब्ध है फलतः विपुल कन्नड़ साहित्यमें प्रकृत श्लोकके सिवा कन्नमय्य का उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता है।

मालवि-माधव नाम ही संस्कृत नाटक मालती-माधवका स्मरण दिला देता है। और उसके साथ, साथ करुण रसावतार महाकवि भवभूतिकी अमर कीर्ति भी मूर्तिमान हो उठती है। ऐसाभी स्पष्ट

१. श्री रावजी सखारम दोषी शोलापुर द्वारा प्रकाशित।

२, "कन्नड़ कवितेयोल असगम्।"

३, दक्षिण भारतमें ऐतिहासिक लेख पृ० ३४०।

४, "परम कवीश्वर चेती हर मैबिनमेसेव मालवी माधवं।
विरचिसिद कन्नमय्यं वरमागं सुकवि बगेबोडिन्नु मुन्नं॥"

प्रतीत होता है कि मालवि-माधव कन्नड़ नाटक था। प्रधान नायिकाके नामका भेद सूचित करता है कि यह नाटक संस्कृत नाटकका केवल भाषान्तर नहीं था अपितु स्वतंत्र कन्नड़ नाटक था। जिसमें कविने भवभूतिका प्रसिद्ध नाटक सामने रहनेके कारण संभवतः नायिकादिके आंशिक समान नाम रखे थे। दुर्गसिंह द्वारा की गयी लेखक तथा नाटककी प्रशंसा सिद्ध करती है कि ८०० ई० लगभग एक महान् कन्नड़ कविने महान् कन्नड़ नाटककी सृष्टि की थी जो कि अब लुप्त है। नाम तथा कन्नड़ साहित्यके निर्माण आदि समस्त परिस्थितियोंसे यह भी पुष्ट होता है कि कन्नमय्य जैन विद्वान थे।

भारतीय अश्वागम

श्री पी० के० गोडे, एम० ए०

आचार्य हेमचन्द्रकी (१०८८–११७२ ई०) अभिधान-चिन्तामणिके भूमि खण्डमें निम्नपद्य हैं—

"सिते तु कर्क **कोकाहो खोङ्गाहः** श्वेतपिङ्गले ॥३०३॥
पीयूषवर्णे **सेराहः** पीते तु **हरियो** हये । कृष्णवर्णे तु **खुङ्गाह क्रियाहो** लोहितो हयः ॥३०४॥
आनीलस्तु नीलकोऽथ **त्रियूहः** कपिलो हयः । **वोल्लाह**स्त्वयमेव स्यात् पाण्डुकशेर बालधिः ॥३०५॥
उराहस्तु मनाक्पाण्डुः कृष्णजङ्घोभवेद्यदि । **सुसाहको** गर्दभाभः **वोरखान**स्तु पाटलः ॥३०६॥
कुलाहस्तु मनाक्पीतः कृष्णः स्याद्यदि जनुनि । **उकनाहः** पीतरक्तच्छायः स एव तु क्वचित् ॥३०७॥
कृष्णरक्तच्छविः प्रोक्तः **शोणः**कोकनदच्छविः । **हरिकः** पतिहरितच्छायः एव **हालकः** ॥३०८॥
पङ्गुलः सितकाचाभः **हलाह**श्चित्रितो हयः ।"

इनमें वर्णके अनुसार कोकाह, खोङ्गाह; सेराह, खुङ्गाह क्रियाह, त्रियूह, बोल्लाह, उराह, सुसाहक, वोरुखान, कुलाह, उकनाह, हलाह, आदि नाम आये हैं जिन्हें आचार्यने 'देशी[1]' शब्द कहा है। उनका इन शब्दोंका विग्रह कहीं कहीं सर्वथा काल्पनिक प्रतीत होता है यथा—'वैरिणः खनति वोरुखानः' । अपने एक पूर्व लेख[2] में मैं सिद्ध कर चुका हूं कि आ० हेमचन्द्र द्वारा दत्त अश्वनामों में से कितने ही नाम जयदत्तके अश्वायुर्वेद[3], अध्याय तृतीय (सर्वलक्षणाध्याय) तथा चालुक्य-नृपति सोमेश्वर कृत (ल० ११३० ई०) मनसोल्लासके 'वाजि-वाह्यालि-विनोद' (पोलो)में भी उपलब्ध हैं । यद्यपि आचार्य इन शब्दोंको देशी कहते हैं तथापि मुझे ये विदेशोंसे आये प्रतीत होते हैं। ई० की ८ वीं तथा १३ वीं शतीके मध्य भारतमें बहुलतासे लाये गये घोड़ोंके साथ ही ये नाम आये होंगे। ये कब किसके द्वारा आये, आदि पर फारसी और अरबीके विद्वान प्रकाश डाल सकते हैं। इतना निश्चित है कि आचार्यने सावधान कोशकारके समान उस समय प्रचलित इन शब्दोंको लेकर अपने कोश तथा भारतीय भाषाको कालकी दृष्टिसे सर्वाङ्ग सम्पन्न किया था।

१, "खोङ्गहादयः शब्दाः देशीप्रायाः ।" २, प्रेमी अभिनन्दनग्रन्थ पृ० ८१ ।

३, बिवलोथिका इण्डिका, कलकत्ता ८८६ ।

उक्त निष्कर्षों तक पहुंचनेके समय तक मुझे यादवप्रकाश कृत 'वैजयन्ती' कोशका पता नहीं था जो आचार्यसे थोड़े समय पूर्व ल० १०५० ई० में बना था। आचार्यकी जीवनीमें[1] श्री व्यूलरने 'शेषाख्य नाममाला; अभिधानचिन्तामणिकी पूरक है। जिसमें जयन्तप्रकाशकी वैजयन्तीके उद्धरणोंकी भरमार है (पृ०९१ टि० ७३)"। "अभिधान चिन्तामणिके साथ पुनः प्रकाशित नाममाला भी यादवप्रकाशके प्राचीनतर ग्रन्थ वैजयन्तीसे अत्यधिक मिलती जुलती है। तथा इससे बहुसंख्याक दुर्लभ शब्द आचार्यने लिये हैं।" आदि लिखकर सिद्ध किया है कि आचार्य यादवप्रकाशके ऋणी हैं। यदि श्री व्यूलरका यह कथन सत्य है तो हमारे अनुमानसे उपर्युल्लिखित अश्वनाम भी आचार्यने वैजयन्तीके[2] भूमिकाण्ड क्षत्रियाध्यायके ९९-१०६ श्लोकोंसे लिये हैं। यादवप्रकाश 'अश्वानामागमे' पद द्वारा किसी अश्व-शास्त्रका संकेत करते हैं जो कि जयदत्तका अश्वायुर्वेद ही हो सकता है जिसमें वर्णानुसारी अश्वनाम तृतीय अध्यायके १०० से ११० श्लोकोंमें दिये हैं। क्योंकि नकुलकृत अश्वचिकित्सित, वाग्भटकृत अश्वायुर्वेद, कल्हणकृत सारसमुच्चय तथा भोजकृत युक्तिकल्पतरू ग्रन्थोंमें कोकाह, खुङ्गाह, आदि नाम नहीं मिलते हैं। अतः सम्प्रति यही अनुमान होता है कि यादवप्रकाशने वर्णानुसारी अश्वनामोंको संभवतः जयदत्तके 'अश्ववैद्यक'से ही लिया है। फलतः अश्वशास्त्रके विकासमें कालक्रमसे सर्वप्रथम अश्ववैद्यक-कार श्री जयदत्त (१००० ई०) से पहले होंगे तथा उनके बाद यादव-प्रकाश (१०४० ई०), आ० हेमचन्द्र (१०८८–११७२ ई०) तथा सोमेश्वर (११३० ई०) आवेंगे।

संभवतः आचार्यने अपने कोशको किसी विशेष अश्वागम अथवा अश्वागमोंके आधारसे नहीं बनाया था, अपितु उनका आधार प्राचीनतर कोश ही थे जैसा कि उनके द्वारा किसी अश्वशास्त्रका उल्लेख नहीं किये जानेसे स्पष्ट है। फारसी तथा अरबी घोड़ोंका भारत व्यापी व्यवसाय, देशके समस्त राजाओंकी सेनामें उनका प्राधान्य तथा चार संस्कृत कोशकारों द्वारा उनके नामोंका अपने ग्रन्थोंमें दिया जाना एक ही समयकी घटना है। इन चार कोशकारोंमेंसे भी जयदत्त तथा सोमेश्वर स्वयमेव शासक थे। अपने ग्रन्थकी प्रशस्तिमें जयदत्त अपने आपको 'महा सामन्त' कहते हैं यद्यपि इनका पूर्ण परिचय अब तक स्थिर नहीं हुआ है। और सोमेश्वर अत्यन्त संस्कृत चालुक्य शासक थे जैसाकि उनके विशाल एवं बहुमुख सांस्कृतिक ग्रन्थ 'मानसोल्लास'से स्पष्ट है।

भारतीय कोश-साहित्यको समय समयपर हुए निष्णात कोशकार विद्वानोंने अपने समयमें प्रचलित विदेशोद्भूत शब्दोंको भी तत्तद कोशोंमें लेकर हमारे शब्दभण्डारकी श्रीवृद्धि की है। जैसा कि

---

१. श्रीमणिलाल पटेलकृत अंग्रेजी अनुवाद पृ०३६।

२. गुष्टाव ओपर्टका संस्करण (मद्रास १८९३) पृ० ११२।

अश्वनामोंके पूर्व विवेचनसे ही नहीं अपितु संस्कृत टीकाकारोंके सावधान विवेचनसे भी स्पष्ट है। यथा—'अश्वबला' शब्दका अर्थ करते हुए डल्लण (ल० ११०० ई०) का उसे शाक कहना, अथवा इसीकी व्याख्यामें सुश्रुतका 'अश्वबला तथा गोथिका समानार्थक हैं जिसके लम्बे पत्ते होते हैं तथा जिसे तुरुष्क देशमें 'हिस्फित्थ' कहते हैं, आदि । अन्यत्र[1] मैं लिख चुका हूं तुर्की, फारस, अरबमें हिस्फित्थ अथवा इस्पित्त अथवा अस्पित्त एक घास है जिसे खिलाकर घोड़े मोटे किये जाते हैं[2] ।

अपने कोशमें आगत शब्दोंका विग्रह आचार्यने वैयाकरणकी दृष्टिसे किया है,फलतः उसको ऐतिहासिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता । फलतः ''कोक वदाहन्ति भुवं **कोकाहः**, खमुद्गाहन्ते **खोङ्गाहः**; पृषोदरादित्वात्, सीरवदाहन्ति भुवं **सेराहः**, हरिं वर्णं यान्ति **हरियः**, खुरैर्गाहते **खुङ्गाहः**, क्रियां न जहाति क्रियाहः, त्रीन यूथति **त्रियूहः**, व्योम्नि उल्लङ्घते **वोल्लाहः**, उरसा आहन्ति **उराहः**, सुखेन राहेति **सुरूहकः**, वैरिणः खनति **वोरुखानः**, कुलमाजिहीते **कुलाहः**, उच्चैर्नह्यते **उकनाहः**, हलवदाहन्ति **हलाहः**, हलति क्ष्मां **हालकः** ।, आदि विग्रह मौलिक एवं पांडित्यपूर्ण हो कर भी ऐतिहासिक नहीं कहे जा सकते। क्योंकि असंस्कृत शब्दोंका विग्रह संस्कृत व्याकरण अथवा कोशके आधारपर करना उचित नहीं है। इतिहास एवं भाषाके शास्त्री ही इन शब्दोंकी प्रामाणिक व्याख्या कर सकते हैं। फलतः उक्त ग्रन्थोंके सिवाय अन्य संस्कृत ग्रन्थोंमें इन नामोंकी शोध संस्कृतज्ञोंको करना चाहिये तथा फारसी और अरबीके विद्वानोंको भी इनके मौलिक उद्गमादिपर प्रकाश डालना चाहिये। तभी इनके वास्तविक विग्रह किये जा सकें गे ।

---

१ भारतीयविद्या (बम्बई) में प्रकाशित 'अश्वबला' लेख।

२ बैक्ट्रिया (प्राचीन ईरान धन हिन्दूकुश और औक्सस नदीके मध्यका लम्बा प्रदेश) अथवा बाल्हीक, मीडोंका साम्राज्य, मैडिकजड़ी, अर्थशास्त्र तथा हर्षचरितमें वर्णित बाल्हीक अश्व, आदिका विचार अश्वबला तथा बाल्हीक अथवा बैक्ट्रियासे सम्बन्धका संकेत करता है।

जैन पुराणोंके स्त्रीपात्र

श्रीमती ब्र० पं० चन्दाबाई जैन, विदुषीरत्न

साहित्य मानवताको सजीव करता है। सविशेष पुराण; ये साहित्य कलाके ऐसे अवयव हैं जिनसे मानव अपनी विचार धाराको परिष्कृत कर सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, और आर्थिक सदाचारका निर्माण करता है। वह पौराणिक पात्रोंके जीवनके साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित कर उनके समान बननेका प्रयत्न करता है। प्रत्येक नर-नारीके जीवन तत्त्वोंकी अभिव्यक्ति नैतिकता या सदाचारके आधार पर ही हो सकती है। सत्य, त्याग, परदुःख-कारता, दृढ़ता, सहिष्णुता, स्वार्थ-हीनता, संयम, इन्द्रियजय आदि ऐसे गुण हैं जिनके सद्भावसे ही मानव जीवनकी नीव दृढ़ होती है। इन गुणोंके अभावमें मानव मानव न रहकर दानव कोटिमें चला जाता है। आत्मनिरीक्षण एक ऐसी प्रवृत्ति है जिससे व्यक्ति अपनी आन्तरिक दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त कर क्षमा, मार्दव, सत्य, प्रभृति भावोंको उद्बुद्ध कर सकता है। यह आत्मनिरीक्षण प्रवृत्ति कुछ लोगोंमें सहज जाग्रत हो जाती है और कुछमें आगम ज्ञान द्वारा। पौराणिक पात्रोंके आदर्श चरित्र व्यक्तिकी इस आत्म निरीक्षण प्रवृत्तिको बुद्ध-शुद्ध कर देते हैं, और वाचकके जीवन में सत्य और अहिंसाका भलो-भांति संचार होने लगता है।

विश्वमें सदासे नर और नारी समान रूपसे अपने कार्य कलापोंके दायित्वको निभाते चले आ रहे हैं। इसी कारण हमारे पुरुष; पुराण-निर्माताओंको भी पुरुषपात्रोंके समान नारीपात्रोंका चरित्र-गत उत्कर्ष दिखलाना ही पड़ा था। जहां नारीको 'नरक नसैनी' बतलाया है, वहीं लौकिक दृष्टिसे मातृत्वमें उसके समस्त गुणोंका विकास दिखाकर उसे जननीत्वके उच्च शिखरपर आरूढ़ कर जगत्पूज्य बनाया है। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र, प्रभृति महापुरुषोंको जन्म देनेवाली और लालन करने वाली नारी कदापि हीन नहीं कहीं जा सकती है। हां केवल वासना और विलासिताकी प्रतिमूर्ति नारी अवश्य उपेक्षणीय, निन्दनीय तथा घृणाकी वस्तु बतलायी गयी है। यह केवल नारीके लिए ही चरितार्थ नहीं है किन्तु नरके लिए भी हैं! जिस पुरुषने विलास और वासनाके आवेशमें होश-हवासको भुलाकर अपना पतन किया है, पुराणोंमें उसके जीवनकी समालोचना स्पष्ट रूपमें की गयी है।

पुराणकारोंने नारीके लौकिक शिव और सत्य रूपकी अभिव्यञ्जना बड़े सुन्दर ढंगसे की है।

साहित्यिक दृष्टिसे कई स्थलोंपर पुरुषपात्रोंकी अपेक्षा नारी पात्रोंके चरित्रमें अधिक आन्तरिक सौंदर्यकी अभिव्यक्ति हुई है। नारी पात्रोंमें कुछके चरित्रोंपर परिस्थितियोंके घात-प्रतिघात इस प्रकार पड़े हैं कि उनसे उनका चरित्र अत्यधिक प्रभावोत्पादक हो गया है। सीता, अंजना, राजुल, आदि कतिपय ऐसी पौराणिक नारियां हैं जिनके चरित्रका उत्कर्ष विविध परिस्थितिमोंसे हो कर त्यागवृत्तिमें परिवर्तित होता हुआ आदर्श स्वरूपमें प्रकट हुआ है। पुराणकारोंकी यह विशेषता है कि उनने पहले नारियोंका त्याग विवशावस्थामें दिखलाया है किन्तु आगे उस त्यागको स्वेच्छा और आत्महितकी कामनासे कृत सिद्ध किया है।

जैन पुराणोंके चरित चित्रणकी एक विशेषता यह है कि उनके नारी पात्रोंका अपना व्यक्तित्व है। राधाके समान उनके नारीपात्र पुरुषके व्यक्तित्वसे सम्बद्ध नहीं हैं किन्तु नारीकी पृथक् सत्ता स्वीकार कर पुरुषपात्रोंके समान उसके जीवनकी गतिशीलता, त्याग, साहस, शील, इन्द्रिय विजय प्रभृति अनुकरणीय गुणोंका सुन्दर अंकन किया है। लौकिक दृष्टिसे भी जैन पुराणोंके नारी पात्र सजीव रूपमें सामने उपस्थित हो कर जीवनके उत्थानकी शिक्षा देते हैं। आदिपुराण और पद्मपुराणके कुछ स्थल तो इतने सुंदर हैं कि धार्मिक दृष्टिसे उनका जितना महत्त्व है, साहित्यिक दृष्टिसे कहीं उससे अधिक है। अंजना और राजुलके विरहकी मूक वेदना इतनी मर्मस्पर्शी है कि इन दोनोंके चरित्रोंको पढ़कर ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो सहानुभूतिके दो आंसू न गिरा सके। करुणासे हृदय आर्द्र हुए विना नहीं रह सकता है। वैदिक पुराणनिर्माताओंने भी श्रीकृष्णके विरहमें गोपिकाओंके विरही हृदयकी सुन्दर व्यंजना की है। किन्तु जहां गोपिकाओंका जीवन अपने आराध्य प्रियके जीवनके साथ सम्बद्ध है, वहां जैनपुराणोंकी नारीका जीवन स्वतन्त्र रूपमें है। पुरुषके समान आत्म विकासमें नारी भी स्वतन्त्र रूपसे अग्रसर हुई है। चहार दिवारीके भीतर रख कर जैन पुराणकारोंने उसे केवल विरहमें ही नहीं तपाया है किन्तु आत्म-साधनाकी आंचमें गलाकर उसे पुरुषके समान शुद्ध किया है। नारीके मातृत्वके साथ उसके त्यागी जीवन का यह समन्वय जैन पुराणोंकी भारतीय साहित्यको एक अमूल्य देन है। जहां इतर भारतीय पुराणोंमें नारीका केवल एक ही जीवन दिखलायी पड़ता है वहीं जैन पुराणोंमें उसके दोनों पक्षोंका स्पष्ट प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है।

भारतीय साहित्यकी दृष्टिसे चरित्र चित्रणकी सफलताका एक प्रधान मापदण्ड यह है कि जो चरित्र जीवनको जितना अधिक ऊंचा उठा सके वह उतना ही सफल माना जाय गा। एका-एक किसीके त्याग या तपस्याकी बात मानव हृदयको प्रभावित नहीं कर सकती है, किन्तु जब यही बात संघर्षकी आगमें तपकर द्वन्द्वात्मक तराजूके पलड़ोंपर झूलती हुई—कभी इधर और कभी उधर झुकती हुई मानव हृदयको प्रभावित करके एक ओर बोझल हो लुढ़क जाती है तो प्रत्येक व्यक्ति उसके प्रभावमें आ जाता है

और तदनुकूल अपने जीवनको बनानेका प्रयत्न करता है। जैन पुराणोंमें अंकित नारी पात्रोंका चरित्र भी मानव मात्रको आलोक प्रदान करने वाला है। जैसा कि कतिपय उद्धरणों द्वारा सिद्ध हो गा।

जम्बूस्वामी चरित्रमें भवदेव अपने ज्येष्ठ भ्राताकी प्रेरणासे अनिच्छा पूर्वक मुनि हो गया था, किन्तु उसकी आंतरिक इच्छा भोगोंसे निवृत्त नहीं हुई थी। वह सर्वदा अपनी रूपवती, गुणवती, सुशीला भार्याका स्मरण कर आनन्दानुभव किया करता था। एक दिन उसके गुरु अपने अनेक शिष्योंके साथ, जिनमें भवदेव भी था उसके नगरमें आये। विषय वासनाओंसे परास्त भवदेव एक मन्दिरमें जाकर ठहर गया और वहां पर रहनेवाली आर्यिकासे अपनी स्त्रीकी कुशल क्षेम पूंछने लगा। आर्यिकाने—भवदेवकी स्त्रीने, जो कि भवदेवके सन्यासी हो जानेपर संसारसे उदासीन होकर आर्यिकाका व्रत पाल रही थी—मुनिको विचलित देखकर उपदेश[1] दिया। आर्यिका नागवसू–भवदेवकी स्त्रीने वासनामें आसक्त हुए अपने पतिको इस प्रकार पतनके गड्ढेमें गिरनेसे बचाया। उसने केवल एक ही व्यक्तिकी रक्षा नहीं की किन्तु साधु जैसे उच्चादर्शको दोषसे बचानेके कारण भारतीय उत्तम साधु परम्पराकी महत्ताका मुख भी उज्ज्वल रखा। क्या अब भी नारीको केवल वासनाकी मूर्ति कहा जा सकता है ?

हरिवंशपुराणमें अरिंजय राजाकी पुत्री प्रीतिमतीका चरित्र लौकिक और पारमार्थिक दोनों ही दृष्टियोंसे उत्तम है। प्रीतिमती नाना विद्याओंमें प्रवीण, साहसी, और रूपवती थी। जब वह वयस्क हुई तो पिताने स्वयम्वरमें आये हुए राजकुमारोंसे कहा कि जो इस कन्याको तेज चलनेमें परास्त कर दे गा और मेरूकी प्रदक्षिणा जिनेन्द्र भगवानकी पूजन करके पहले आ जायगा उसीके साथ इसका विवाह किया जायगा। उपस्थित सभी विद्याधर कुमार और भूमिगोचरी राजपुत्रोंने प्रयत्न किया, किन्तु वे सभी कन्यासे पराजित हुए, जिससे विरक्त होकर प्रीतिमतीने सांसारिक वासनाओंको जलाञ्जलि देकर आर्यिकाके व्रत ग्रहण कर लिये तथा तपश्चरण द्वारा अपने आर्जित कर्मोंको नाश किया[2]।

हरिवंशपुराणमें अनेकों नारियोंके चरित्र बहुत ही सुन्दर रूपमें अंकित किये गये हैं। जिन चरित्रोंसे नारियोंकी विद्वत्ता, तपश्चर्या, कार्यनिपुणताकी छाप हृदयपर सहज ही पड़ जाती है। बनारस निवासी सोमशर्माकी पुत्री सुलसा और भद्राकी विद्वत्ताका सुन्दर और हृदयग्राहक वर्णन किया है[3]।

पद्मपुराणमें विशल्याका चरित्र चित्रण बहुत ही सुन्दर किया गया है। पुराणकारने बताया है कि उस नारी शिरोमणिमें इतना तेज था कि उसके जन्म ग्रहण करते ही सर्वत्र शान्ति छा गयी

---

१ जम्बूस्वामी चरित्र पृ० ७१-७२

२ हरिवंशपुराण पृ० ४३२

३ हरिवंशपुराण पृ० ३२६।

थी तथा उसके भव भवान्तरोंके दिव्य चरित्रका निरूपण कर नारी चरित्रको बहुत ऊंचा उठा दिया है। आचार्यने विशल्याके चरित्रको अत्यन्त उज्ज्वल बनाया है। वस्तुतः उस नारीके चरित्रको मानवके चरित्रसे बहुत ऊपर उठा दिया है। क्या कोई भी निष्पक्ष विद्वान् उस वर्णनको देखकर नारी की महत्तासे इंकार कर सकता है? विशल्याकी पूर्व भवावलीके वर्णनमें अनंगसराकी दीक्षाका चित्र भी कम सुन्दर नहीं है। इस चित्रने भारतीय रमणीको बहुत ऊंचा उठा दिया है। वह केवल वासना या गृहस्थीके जंजालकी कठपुतली ही नहीं रह गयी है प्रत्युत त्याग और तपस्याकी प्रतिमूर्ति बन गयी है। जैनाचार्योंकी यही सबसे बड़ी विशेषता है[1]।

इस प्रकरणके दो श्लोकोंमें नारीकी सहानुभूति और दयाका अंकन आचार्य प्रवर रविषेणने कितना सुंदर किया है। सतीको भूखा अजगर निगल रहा है, रक्षक उसकी रक्षा करना चाहते हैं। किन्तु अनंगसरा रक्षकोंको इशारेसे मना कर देती है और बतलाती है कि इस बेचारे भूखे जन्तुकी हिंसा न कीजिये। यह आत्मा अमर है विनाशशील शरीर अनादि कालसे ही उत्पन्न और नष्ट होता चला आ रहा है फिर इसमें मोह क्यों? यह अब बच नहीं सकता। पद्मपुराणमें आचार्य रविषेणने मन्दोदरीके राग विरागात्मक गंगा जमुनी चरित्रका निर्माण कर पौराणिक नारी चरित्र चित्रणको आजके मनोवैज्ञानिक स्तरपर पहुंचा दिया है। मन्दोदरीकी दयाका चित्र देखिये—

"पतिपुत्र वियोग दुःखज्वलनेन विदियिता सती जाता।"

× × ×

"हा पुत्रेन्द्रजितेदं व्यवसितमीदृक्कथं त्वया कृत्यम्।
हा मेघवाहन कथं जननी नापेक्षिता दीना॥"

"त्यक्ताशेषग्रहस्थवेषरचना मन्दोदरी संयता।
जाताऽत्यन्त विशुद्धधर्मनिरता शुक्लैकवस्त्राऽऽवृता।"

× × ×

"संशुद्धश्रमणा व्रतोरुविभवा जाता नितान्तोत्कटा।"

(प० पु० भा० ३ पृ० ९१-९२)

जो मन्दोदरी एक क्षण पहले पति, पुत्र, पौत्र, आदिके शोकसे विह्वल दृष्टिगोचर होती है वही दूसरे क्षण बदली हुई परम धार्मिक, संसार-विरक्त, मोह मायासे हीन और आत्माकी साधिका नजर आती है। पुराण निर्माताओंका नारी चरित्रका यह विकास क्रम क्या आजके अंतर्द्वन्द्वको प्रकट करनेवाला नहीं है? मन्दोदरीकी दोलायमान मानसिक स्थितिका शब्द-चित्र क्या इससे सुंदर बन सकता है?

---

१ प० पु० पृ० ४२५-२६

संतोंका मत

श्री आचार्य क्षितिमोहन सेन

मध्य युगके साधकोंकी कुछ बातें कही जा रही हैं। जातिभेद तो समाजतत्वके साथ युक्त है। उन साधकोंके लिए धर्म ही सार था। मध्ययुगके ये साधु-संत भगवानके साथ प्रेमद्वारा युक्त किये हुए वैयक्तिक योगकी खोजमें थे। इस सम्बंध प्रतिष्ठाके रास्ते, बाह्य आचार, शास्त्र, भेष प्रभृतिका प्रयोजन उन्होंने स्वीकार नहीं किया। भगवतप्रेमकी तुलनामें वे सभी उनके लिए तुच्छ थे। उन्होंने यह नहीं स्वीकार किया कि स्वर्गमें पहुंचनेके लोभसे एवं नरकवासके डरसे धर्मका प्रवर्तन हुआ है। इस प्रेम-धर्ममें उन्होंने ऐसा एक अभेद और साम्य पाया जो वेदान्तमें वर्णित अभेदसे कहीं ज्यादे सरस है।

प्रेम पथके पथिक होनेकी वजहसे उन्होंने कायाको वृथा क्लिष्ट करना न चाहा। फिर भी प्रेम ही के लिए उनको देह-मनका सर्वविध कलुष, सयत्नसे परिहार करना पड़ा है। उन्होंने देहको देवालय माना है। एवं इसी देवालयमें देहातीत चिन्मय ब्रह्मकी प्रतिष्ठा की है। उनके लिए मिट्टी-पत्थरके देवालयोंमें प्रतिष्ठित मूर्तिका कोई मूल्य नहीं। बाह्य उपचारों द्वारा की गयी पूजा वे अर्थहीन समझते थे। दया, अहिंसा, मैत्री यही उनकी साधनाएं थीं। शास्त्रोंमें इन साधनाओंका तत्त्व नहीं मिलता। देहके अंदर ही विश्व ब्रह्माण्डकी स्थापना है। एवं इस परम तत्त्वको गुरु ही दर्शा सकते हैं यह बात वे मानते थे। फल स्वरूप गुरूके लिए उनकी अचल भक्ति थी। साधुओंके सत्संगसे प्रेमभाव उपजता है इसलिए साधुसेवा एवं साधुसंग भी महाधर्म है। जहां भक्ति होती है वहीं भगवान विराजते हैं। बाह्य आचारोंसे क्या होगा, प्रेम ही से प्रेम उपजता है।

"प्रेम प्रेम सौं होय," (रविदास)। भगवानका स्वरूप ही प्रेम है। श्रद्धा एवं निष्ठाद्वारा क्रमसे रूचि, आग्रह एवं अनुरागकी उत्पत्ति होती है। फिर अनुरागसे प्रेम उपजता है। प्रेम उपजने पर प्रेम-स्वरूपके साथ सम्बंध कर लेना सहज हो जाता है। और जब यह सहज सम्बंध प्रतिष्ठित होता है तभी जीवनकी चरम सार्थकता मिलती है।

वे गुरूसे इन सब तत्त्वोंको सुना करते। इसलिए गुरूके प्रति उनकी श्रद्धा-भक्तिका कोई अंत न था। गुरूके प्रति इस प्रकारकी भक्तिका उल्लेख बौद्ध महायान धर्ममें, तन्त्रोंमें, पुराणोंमें, मध्य-

युगमें सर्वत्र पाया जाता है। जैन पाहुड़ दोहोंके द्वारा भी गुरूकी महिमा सर्वत्र विघोषित हुई है। सम्भवतः यह गुरूभक्ति भी आर्यौंको आर्येतर स्थानोंसे ही मिली है। कारण वेदके आदि युगमें गुरूभक्तिका इतना प्रादुर्भाव देखनेको नहीं मिलता। धीरे धीरे इसका प्रभाव बढ़ने लगा। ब्रह्मचारियोंके लिए आचार्य वन्दनीय एवं अनुसरणीय गिने जाते थे—वन्दन एवं अनुसरण करनेकी भावनाके पीछे भी गुरूभक्तिका थोड़ा बहुत संधान मिलता है। लेकिन बादके गुरूवादमें गुरूका स्थान और भी बड़ा है।

पाश्चात्य शिक्षा एवं भारतीय शिक्षा-संस्कृतिमें एक विशेष प्रभेद यह है कि ग्रीस प्रभृति देशोंके अधिवासियोंके गुरू विद्या बेचा करते थे। विद्या उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति थी। पैसे देकर उनको विद्या खरीदनी पड़ती थी। बोल कर गुरू इच्छानुकूल इसे बेच भी सकते थे। भारतके ब्रह्मचारी एवं गुरू सम्पूर्ण मानव समाजके पालक थे। एवं चूंकि गुरुओंकी साधना विश्व सत्यपर केन्द्रित होती थी इसलिए उनसे अर्जित ज्ञान भी विश्वके समस्त अधिवासियोंके लिए था। इसलिए गुरूओंको ज्ञान बेचनेका कोई अधिकार न था। तक्षशिला, पुरुषपुर प्रभृति स्थानोंमें ग्रीक प्रभावसे प्रभान्वित गुरू कहीं कहीं विद्या बेचा करते थे। लेकिन ऐसा करनेके कारण उनकी यथेष्ट निन्दा होती थी। भारतकी साधनामें विद्या किसी भी स्थान पर व्यक्तिगत कोई वस्तु न गिनी गयी, वह सब मानवकी थी। बृहत्-संहिता की भूमिकामें डा० एच कर्ण० भू० पृ० ५२) साहबने बड़े आश्चर्यके साथ इसका उल्लेख किया है। उपनिषदके युगसे लेकर आज तककी भारतकी साधनामें गुरुओंके लिए एक बड़ा स्थान है। वहां गुरू विद्या नहीं बेचते बल्कि वे शिष्योंका पालन करते हैं एवं साधनाके बलसे शिष्योंको धन्य कर विश्वसाधनाको आगे बढ़ाते चलते हैं।

कबीर प्रभृति साधक निरक्षर हो सकते हैं, लेकिन गुरूकी कृपासे वे तत्त्वज्ञानी थे। उनकी अपनी प्रतिभा भी अतुलनीय थी इसलिए पण्डित न होने पर भी उनका किसी तरहका नुकसान नहीं हुआ। बल्कि कबीर प्रभृति साधक यदि पण्डित होते तो शायद ऐसी अपूर्व तत्त्वपूर्ण बातें उनके मुंहसे न निकलती। कबीर जातिके जुलाहा थे जिनपर हिन्दू-मुसलमान किसी संस्कारका बोझ न लदा था। सब प्राचीन संस्कारोंसे वे मुक्त थे। सब तरहके भारोंसे मुक्त होनेके कारण ही इतनी सहजमें उनके कानों तक भगवानकी वाणी पहुंच पायी है। बंगालके बाउल भी इसीलिए इतने मुक्त हैं। उनके गीतोंमें है—

तोमार पथ ढेके छे मन्दिरे मसजेदे।
तोमार डाक सुनि साँद चलते ना पाद रुखे दांड़ाय गुरूते मरशेदे।।

मन्दिर और मसजिदने तुम्हारे पास पहुंचनेके रास्तेको ढक रखा है। तुम्हारी बुलाहट सुनायी दे रही है लेकिन आगे बढ़ा न जाता है। गुरु एवं मरशेद रास्तेमें डपटकर खड़े हो जाते हैं।

गुरू एवं मरशेदके पक्षवालोंका स्वार्थ भेद-बुद्धिको बनाये रखनेमें है। ये सब बातें उनकी जबानपर नहीं आतीं। इसलिए वे बात बातमें भेद-विभेदकी दुहाई देते हैं।

कबीरको जब सब कहने लगे—"तू नीच कुलका होकर भी इन सब सत्योंका संधान कैसे पा गया?" तो कबीरने जवाब दिया—"बरसात होनेपर पानी तो ऊंचे स्थानपर नहीं ठहरता, सब पानी बह कर नीचेकी ओर इकट्ठा होता है, सबके चरणोंके नीचे।

"उंचै पानी ना टिकै नीचे ही ठहराय[1] ॥"

कबीरने फिर एक जगह कहा—"पण्डित लोग पढ़ पढ़कर पत्थर, और लिख लिखकर ईंट हो गये, उनके मनमें प्रेमकी एक छींट भी प्रवेश न कर पाती है।

"पढ़ि पढ़िके पत्थर भये लिखि लिखि भये जू इंट।
कबीर अन्तर प्रेमकी लागि नेक न छींट[2] ॥"

संस्कृत न जाननेवाले कबीर काशीमें बैठे बैठे चारों ओर पंडितोंमें बेधड़के मनकी बात चलती भाषामें जोरसे प्रचार करने लगे—सब कहने लगे—"कबीर, यह क्या कह रहे हो?" कबीर बोले—"संस्कृत कुएके पानी जैसा है और भाषा है बहती जलधारा[3]।"

"संस्कृत है कूपजल भाषा बहता नीर ॥" (वही, पृ० ३७९)

नाना संस्कृतिके मिलनसे हिन्दू (भारती) संस्कृतिकी गठन होनेकी वजहसे इसमें गतिशीलताके लिए एक प्रकारकी श्रद्धा फूट पड़ती थी। ऐतरेय ब्राह्मणमें इन्द्रकी सार बात 'अग्रसर हो चलो' यही देखनेको मिलती है। मध्ययुगकी सार बात—"अग्रसर हो चलो" ही है। अग्रसर न होनेकी शिक्षा हम लोगोंको आजकल अंग्रेजीके शिक्षितोंमें अधिक देखनेको मिलती है-अंग्रेजी सभ्यता असलमें स्थितिशील या कन्जर्वेटिव सभ्यता है। कबीर सर्वदा सचल एवं सजीव भावोंके उपासक थे। अचलताके अंधकारकी उनने किसी दिन पूजा नहीं की। वे कहते—बहता पानी निर्मल रहता है, बंधा पानी ही गंदा हो उठता है। साधक गण भी यदि सचल हों तो अच्छा है। ऐसा होनेपर किसी तरहका दोष उनको स्पर्श-नहीं कर पाता है?

"बहता पानी निरमला बंदा गंदा होय।
साध तो चालता भला दाग न लागै कोय ॥" (वही पृ० ६७)

---

१ बालकदासजी द्वारा प्रकाशित कबीर साहेबका साखी ग्रन्थ, पृ० ३९८

२ वही पृ० १९९।

पथ चलते यदि कोई गिर भी पड़े तो कोई हरजा नहीं।

"मारग चलते जो गिरै ताको नाहीं दोस ॥" (वही पृ० ३६४)

अचलताके प्रति कबीरकी भक्ति न थी। उनका प्रेम बलिष्ठ प्रेम था, इसी लिए प्रेमकी साधना द्वारा उनने वीरत्वकी साधना करनी चाही थी। इस संसारमें प्रवेश करते ही उन्होंने सुना कि आकाशमें रण दमामा बज रहा है, युद्धका नगाड़ा चोट खा रहा है और उस चोटकी तालसे ताल मिलाकर जीवन की बाजी लगाते हुए उनको अग्रसर हो चलना पड़ेगा।

"गगन दमामा बाजिया पड़या निसान घाव[1] ॥"

कबीर कहते हैं—जिस मृत्युसे सब डरते हैं मुझे उसीसे आनन्द प्राप्त होता है। मौतकी परवाह न कर निडर होकर आगे बढ़ना होगा।

"जिस मरणैं थैं जग डरै सो मेरे आनन्द ॥" (वही पृ० ६९)

कबीर कहते हैं कि प्रेमकी कुटियापर पहुंचनेके लिए अगम्य अगाध रास्ता चलना पड़ता है। जो अपना शीश उनके चरणोंमें उपहार दे सकता है उसे ही प्रेमका स्वाद मिलता है।

"कबीर निज घर प्रेमका मारग अगम अगाध।
सीस उतारि पग तलि धरै तब निकटि प्रेमका स्वाद ॥ (वही पृ० ६९)

साधनाका पथ दुर्गम व अगाध होने पर भी साधकोंके दल इस पथ पर चलनेमें कभी नहीं डरे। भारतके आकाशसे विधाताकी जो आदेशवाणी उनके दमामेंमें नित्य ध्वनित होती है, वही सब साधनाकी समन्वयवाणी है। इस पथपर जो साधक आते हैं उनके दुःख-दुर्गति-लांछनका कोई अंत नहीं रह जाता है। उनके लिए घर और बाहर सर्वत्र दिन रात उत्पीड़न व अत्याचार प्रतीक्षा किया करता है। इतना होने पर भी भारतके यथार्थ तपस्वियोंका दल इन सब विपदोंसे भीत होकर पीछे न हटा। युग-युगमें उनका आविर्भाव होता ही रहा। वीर लड़ाईके मैदानमें चला,वह भला क्यों पश्चाद पद होने लगा?

"सूरा चढ़ि संग्राम कौं पाछा पग क्यों देइ ॥" (दादू, सुरातन अङ्ग, १३)

यही है वीरोंकी साधना-पथ, यहां कापुरुषोंका स्थान नहीं।

"कायर काम न आवइ बहुसूरेका खेत ॥" (वही, १५)

अष्ट प्रहर साधनाका यह युद्ध बिना खड़गके चल रहा है;

"आठ पहरका जूझना विना खाँडै संग्राम।" (साखी ग्रन्थ सुरमा अङ्ग, ५९)

---

१ नागरी प्रचारिणी सभाकी कबीर ग्रंथावली पृ० ६८।

धरणी एवं आकाशमें कम्पन जारी है, समस्त शून्यताको भरदेने वाला गर्जन सुनायी पड़ रहा है;

धरणी आकाश थर हरै गरजै सुंन के बीच ॥ (साखी ग्रन्थ, सुरमा अङ्ग, १२३)

इतनी अड़चनोंके होते हुए भी युग-युगमें भारतीय साधकोंके दल अपनी मैत्री एवं समन्वयकी विराट साधनाको लेकर निर्भयताके साथ वीरोंकी तरह अग्रसर हुए हैं। बाहरकी बाधाएं एवं घरका विरोध बीच बीचमें उनके पथमें बाधा स्वरूप होकर अवश्य खड़े हुए हैं लेकिन उनकी साधनाकी अग्रगतिको सर्वदाके लिए रोक न सके। विधाताकी वह महान् आदेश वाणी अभी भी जिनके कानोंमें पहुंचेगी उनकी प्रतिहत गतिमें किसी तरहकी विधि निषेध, कोई दुःख विपद बाधा, जरासा भी उनके अग्रगमनमें रुकाव न डाल सकेगा।
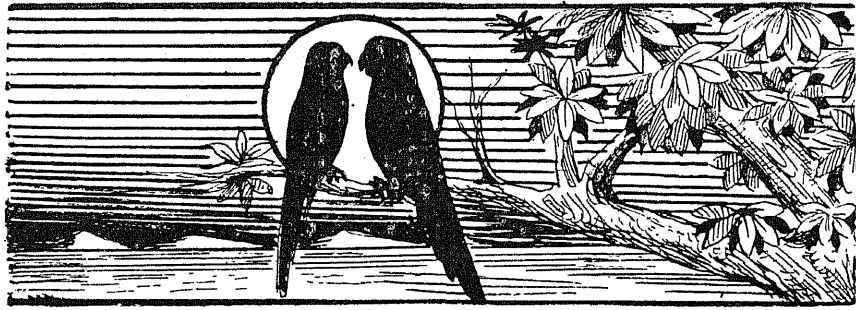
मध्ययुगीन सन्त-साधनाके जैन मार्गदर्शक—

श्री आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

हिंदी साहित्यके जिस अंगका नाम 'सन्त-साहित्य' है वह विक्रमकी चौदहवीं शतीके बाद प्रकट हुआ है। इसका प्रधान स्वर भक्ति और प्रेम है। दक्षिणके रामानुज, रामानंद आदि आचार्योंकी प्रेरणासे यह भक्ति-साहित्य प्राणवान् हुआ था। लेकिन यह साहित्य केवल दक्षिणके वैष्णव आचार्यों का अनुकरण या अनुवाद नहीं है। उत्तरके शैव, शाक्त, बौद्ध और जैन साधकोंने इसके लिए भूमि तयार कर रखी थी। इस सन्त-साहित्यकी पृष्ठभूमिके अध्ययनके लिए जिस प्रकार पुराण, आगम, तंत्र, और वैष्णव संहिताएं आवश्यक हैं उसी प्रकार सहज-यानियों, नाथ-पंथियों, निरंजनियों और जैन साधकों के लोक भाषामें लिखे ग्रन्थ भी आवश्यक हैं, बल्कि सच पूछा जाय तो यह दूसरे प्रकारके साहित्य ही अधिक आवश्यक हैं।

अठवीं-नवीं शतीमें वह विशाल नाथ-संप्रदाय आविर्भूत हुआ था जिसने लगभग समूचे उत्तर भारतको प्रभावित किया था। आज भी इस संप्रदायके स्थान कामरूपसे काबुल तक फैले हुए हैं। नाथ-पंथी सिद्धोंमें से अनेक ऐसे हैं जो वज्रयानके आचार्य भी माने जाते हैं। इन दिनों नाथपंथी योगियोंमें अनेक पुराने संप्रदायोंके योगी रह गये हैं। इन में लकुलीश, बौद्ध, वाममार्गी योगी तो हैं ही; वैष्णव और जैन योगी भी हैं। वस्तुतः आठवीं-नवीं शतीमें एक ऐसे शक्तिशाली लोकधर्मका आविर्भाव हुआ था जो किसी संप्रदाय विशेषमें बद्ध नहीं था। इस शक्तिशाली लोकधर्मका केंद्रविंदु 'योग' था। 'योग' में भी काया-योग या हठयोग ही उसका प्रधान साधन मार्ग था। बाह्याचारका विरोध, चित्तशुद्धिपर जोर देना, पिंडको ही ब्रह्माण्डका संक्षिप्त रूप मानना, और समरसी भावसे स्वसंवेदन आनन्दके उपभोगको ही परम आनन्द मानना इस योगकी कुछ खास विशेषताएं थीं। सन् ईसवीकी आठवीं-नवीं शतीमें 'जोइन्दु' या योगेन्द्र नामके जैन साधक हो गये हैं। उनकी अपभ्रंश रचनाओंमें वे सभी विशेषताएं पायी जाती हैं जो उस युगकी साधनामें मुख्य रूपसे, घूम फिरकर बार बार आ जाया करती है। इसी प्रकार जोइन्दुके प्रायः एक शती बाद उत्पन्न हुए मुनि रायसिंहजी के पाहुड़ दोहे पाये गये हैं जिनमें बाह्याचारका खण्डन और देहमें परमशिवके मिलनका बड़ा भावपूर्ण और सुन्दर वर्णन पाया जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जैन साधकोंके ग्रंथोंमें 'परमात्मा' या 'निरंजन' का ठीक वही अर्थ नहीं है जो

शैव या शाक्त लोगोंके ग्रन्थोंमें गृहीत हैं। जैन सन्त अगणित आत्माओंमें विश्वास करते हैं। ये आत्मा मुक्त होकर अलग वर्तमान रहते हैं परन्तु उनका गुण एक होनेसे वे 'एक' कहे जा सकते हैं। यह पद ज्ञानसे प्राप्त हो सकता है और ज्ञानका सबसे बड़ा साधन चित्तशुद्धि है। जोइन्दुने परमात्मप्रकाशमें (२७०) कहा है कि हे जीव! जहां खुशी हो जाओ और जो मर्जी हो करो किन्तु जब तक चित्त शुद्ध नहीं होता तब तक मोक्ष नहीं मिलनेका—

जहिं भावइ तहिं जाइ जिय, जं भावइ करि तं जि।
केम्वइ मोक्ख ण अत्थि पर, चित्तह शुद्धि ण जंजि।

और दान करनेसे भोग मिल सकता है, तप करनेसे इन्द्रासन भी मिल सकता है परन्तु जन्म और मरणसे विवर्जित शाश्वत पद पाना चाहते हो तो वह तो ज्ञानसे ही मिल सकता है—

दाणिं लब्भइ भोउ पर, इंदत्तणु वि तवेण।
जम्मण मरण विवज्जियउ, पउ लब्भइ णाणेण॥

(प० प्र० २-७२)

जब यह मोक्ष प्राप्त हो जाय गा तब आत्मा ही अन्य आत्माओंके समान 'परम'-आत्माका पद प्राप्त कर लेगा। कहना नहीं होगा यह मत शैव, शाक्त साधकोंके मतसे भिन्न है, परन्तु भिन्नता पंडितोंके शास्त्रार्थका विषय है। साधारण जनताके लिए यह बात विशेष चिन्तित नहीं करती कि मरनेके बाद वह चिन्मय सत्तामें विलीन हो जायगा या अलग बना रहेगा, या एकदम लुप्त हो जायगा। मरण और जन्मके चक्करमें फिर नहीं पड़ना पड़ेगा, इस विषयमें दो मत नहीं है। इसीलिए साधारण जनताके लिए यह उपदेश ही काफी है कि दान और तपकी अपेक्षा ज्ञान और चित्तशुद्धि श्रेष्ठ हैं।

वस्तुतः इन रचनाओंमें अधिकांश पद ऐसे हैं जिनपरसे 'जैन' विशेषण हटा दिया जाय तो वे योगियों और तांत्रिकोंकी रचनाओं जैसी ही लगें गी। परवर्ती सन्तोंकी रचनाओंसे तो इनमें अद्भुत साम्य है। जब जैन साधक जोइंदु कहते हैं कि देवता न तो देवालयमें है, न शिलामें, न चंदन प्रभृति लेपन पदार्थोंमें, और न चित्रमें, बल्कि वह अक्षय निरंजन ज्ञानमय शिव तो समचित्तमें निवास करता है—

देउ ण देवल णवि सिलए, ण वि लिप्पइ णवि चित्ति।
अखउ णिरञ्जणु णाणमउ, सिउ संठिउ समचित्ति॥

(परमात्मप्रकाश १-१२३)

तो यह भाषा कबीर और दादू जैसे सन्तोंकी लगती है। निस्सन्देह ये जैन साधक परवर्ती भक्ति-साहित्यके पुरस्कर्ताओंमें गिने जांयगे।

बाहरी वेश-भूषा, नहाना-धोना या ऊपरी मनसे जपतप वस्तुतः कोई विशेष सिद्धि नहीं देते, इस बातका प्रचार इन जैन साधकोंने बड़ी शक्तिशाली भाषामें किया है। मुनि रामसिंहने भेषकी व्यर्थता दिखानेके लिए सांपकी केंचुलीसे उपमा दी है। ऊपरी आवरणको सांप छोड़ देता है और नवीन आवरण धारण करता है। इससे उसका विष थोड़े ही नष्ट होता है। इसी प्रकार भेष बदल कर साधु बन जानेसे आदमी शुद्ध नहीं होता। इसके लिए आवश्यक है भोग-भावका परित्याग। जब तक यह नहीं होता तब तक नाना वेषोंके धारणसे क्या लाभ है ?

सप्पिं मुक्की कंचुलिय जं विसु तंण मरेइ।
भोयहं भाव ण परिहरइ लिंगग्गहणु करेइ।

मुनि रामसिंहने लिखा है कि हे योगी, जिसे देखनेके लिए तू तीर्थोंमें घूमता फिरता है वह शिव भी तो तेरे साथ साथ घूम रहा है, फिर भी तू उसे नहीं पा सका--

जो पइं जोइउं जोइया तित्थइं तित्थ भमेइ।
सिउ पइसिहुं हिंडियउ, लहिवि ण सकिउ तोइ॥

इसे पढ़ते ही कबीरदासका वह प्रसिद्ध भजन याद आ जाता है जिसमें कहा गया है—'मोको कहां ढूंढ़े बंदे, मैं तो तेरे पासमें।' परम प्राप्तव्य इस शरीरके बाहर नहीं हैं, जो कुछ ब्रह्मांडमें प्राप्त है वह सभी पिंडमें पाया जा सकता है। यह उस युगकी प्रधान विशेषता है। इन जैन साधकोंने भी अपने ढंगसे इस सत्यका प्रचार किया है। मुनि रामसिंहने कहा है कि ए मूर्ख ! तुम देवालयोंको क्या देखते फिरते हो। इन देवालयोंको तो साधारण लोगोंने बना दिया है। तुम अपना शरीर क्यों नहीं देखते जहां शिवका नित्य वास है ?—

मूढ़ा जोवइ देवलइं, लोयहिं जाइं कियाइं।
देह ण पिच्छइ अप्पणिय, जहिं सिउ संतु ठियाइं॥

पुस्तकी विद्यासे वह परम प्राप्तव्य नहीं पाया जाता। कथन मात्रसे उसे नहीं उपलब्ध किया जा सकता। गोरखनाथने रटंत विद्याका परिहास करते हुए कहा था—

"पढ़ा-लिखा सुआ विलाई साया, पंडितके हाथां रह गई पोथी"

तोता सब शास्त्र पढ़ जाय तो भी विलाईके हाथसे नहीं बच पाता और हाथमें पोथी लिये लिये पंडित मायाका शिकार हो जाता है। जोइन्दुने भी पुस्तकी विद्याकी व्यर्थता बतायी है। यह जो चेला-चेलियोंका ठाट बाट है, पोथियोंका अम्बार है, इनके चक्करमें पड़ा हुआ जीव भले ही प्रसन्न हो ले परन्तु है यह अनुभवगम्य सत्यके लिए अन्तराय ही है (परमात्मप्रकाश २,८८) जब तक चित्त

विषय विकारसे दूषित है तब तक उसमें शिवका साक्षात्कार असंभव है। 'ए योगी, निर्मल मनमें ही परमशिवका साक्षात्कार होता है, घन रहित निर्मल नभोमण्डलमें ही सूर्य स्फुरित होता है—

जोइय णिअ मणि णिम्मलए पर दीसइ सिव सन्तु।
अम्बर णिम्मल घण रहिए भाणु जि जेम फुड़न्तु॥

(प० प्र० १०११९)

यह खेदकी बात है कि निरंजन और निर्गुण मतके अनुयायी साधकोंके साहित्यके अध्ययनके प्रसंगमें अभीतक इन जैन साधकोंके साहित्यका उपयोग नहीं किया गया है। रामसिंह जोइन्दुके अतिरिक्त और कोई भी साधक इस श्रेणीके कवि हुए हैं या नहीं यह हमें मालूम नहीं है। मेरा विश्वास है कि जैन भाण्डारोंमें अभी इस प्रकारके अनेक ग्रंथ पड़े हुए हैं। उनके सुसंपादित संस्करणकी बड़ी आवश्यकता है और साथ ही सन्त साहित्यके शोधकोंका भी यह कर्तव्य है कि वे पोथियोंसे ही सन्तुष्ट न रहकर इन अज्ञात उत्सोंकी खोज खबर लें।
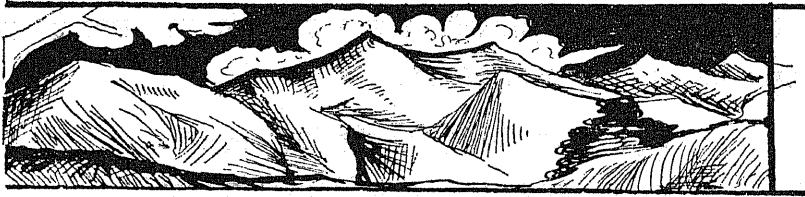
भारतीय-ज्योतिषका पोषक जैन-ज्योतिष

श्री पं० नेमिचन्द्र जैन, शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, ज्यौतिषाचार्य

भारतीय आचार्योंने "ज्योतिषां सूर्यादिग्रहाणां बोधकं शास्त्रम्" ज्योतिष शास्त्रकी व्युत्पत्ति की है अर्थात् सूर्यादि ग्रह और कालका बोध करानेवाले शास्त्रको ज्योतिष शास्त्र कहा है। इसमें प्रधानतया ग्रह, नक्षत्र, धूमकेतु, आदि ज्योतिःपुञ्जोंका स्वरूप, संचार, परिभ्रमण काल, ग्रहण और स्थिति प्रभृति समस्त घटनाओंका निरूपण तथा ग्रह, नक्षत्रोंकी गति, स्थिति और संचारानुसार शुभाशुभ फलोंका कथन किया जाता है। ज्योतिषशास्त्र भी मानवकी आदिम अवस्थामें अंकुरित होकर ज्ञानोन्नतिके साथ-साथ क्रमशः संशोधित और परिवर्धित होता हुआ वर्त्तमान अवस्थाको प्राप्त हुआ है। भारतीय ऋषियोंने अपने दिव्यज्ञान और सक्रिय साधना द्वारा आधुनिक यन्त्रोंके अभाव मय प्रागितिहासकालमें भी इस शास्त्रकी अनेक गुत्थियोंको सुलझाया था। प्राचीन वेधशालाओंको देखकर इसीलिए आधुनिक वैज्ञानिक आश्चर्यचकित हो जाते हैं। ज्योतिष और आयुर्वेद जैसे लोकोपयोगी विषयोंके निर्माण और अनुसन्धान द्वारा भारतीय विज्ञानके विकासमें जैनाचार्योंने अपूर्व योग दान दिया है। ज्योतिषके इतिहासका आलोडन करने पर ज्ञात होता है कि जैनाचार्यों द्वारा निर्मित ज्योतिष ग्रन्थोंसे जहां मौलिक सिद्धान्त साकार हुए वहीं भारतीय ज्योतिषमें अनेक नवीन बातोंका समावेश तथा प्राचीन सिद्धान्तोंमें परिमार्जन भी हुए हैं। भारतका इतिहास ही बतलाता है कि ईस्वी सन्‌के सैकड़ों वर्ष पूर्व भी इस शास्त्रको विज्ञानका स्थान प्राप्त हो गया था। इसीलिए भारतीय आचार्योंने इस शास्त्रको समय-समय पर अपने नवीन अनुसन्धानों द्वारा परिष्कृत किया है। जैन विद्वानों द्वारा रचे गये ग्रन्थोंकी सहायताके विना इस विज्ञानके विकास-क्रमको समझना कठिन ही नहीं, असंभव है। ग्रह, राशि और लग्न विचारको लेकर जैनाचार्योंने दशकों ग्रन्थ लिखे हैं। आज भी भारतीय ज्योतिषकी विवादास्पद अनेक समस्याएं जैन ज्योतिषके सहयोगसे सुलझायी जा सकती हैं।

यों तो भारतीय ज्योतिष का शृङ्खलाबद्ध इतिहास हमें आर्यभट्टके समयसे मिलता है, पर इनके पहलेके ग्रन्थ वेद, अंग साहित्य, ब्राह्मण ग्रन्थ, सूर्यप्रज्ञप्ति, गर्गसंहिता, ज्योतिषकरण्डक एवं वेदाङ्गज्योतिष प्रभृति ग्रन्थोंमें ज्योतिष शास्त्रकी अनेक महत्त्वपूर्ण बातोंका वर्णन है। वेदाङ्गज्योतिषमें पञ्चवर्षीय युगपर से

उत्तरायण और दक्षिणायनके तिथि, नक्षत्र एवं दिनमान आदिका साधन किया गया है। इसके अनुसार युगका आरम्भ माघ शुक्ल[1] प्रतिपदाके दिन सूर्य और चन्द्रमाके धनिष्ठा नक्षत्र सहित क्रान्तिवृत्तमें पहुंचने पर माना गया है। वेदाङ्ग ज्योतिषका रचनाकाल कई शती ई० पू० माना जाता है। इसके रचनाकालका पता लगानेके लिए विद्वानोंने जैन ज्योतिषको ही पृष्ठभूमि स्वीकार किया है। वेदाङ्ग ज्योतिषपर उसके समकालीन षट्खण्डागममें उपलब्ध स्फुट ज्योतिष चर्चा, सूर्यप्रज्ञप्ति एवं ज्योतिषकरण्डक आदि जैन ज्योतिष ग्रन्थोंका प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। जैसा कि 'हिन्दुत्व' के लेखकके "भारतीय ज्योतिषमें यूनानियोंकी शैलीका प्रचार विक्रमीय सम्वत्से तीन सौ वर्ष पीछे हुआ। पर जैनोंके मूल-ग्रन्थ अङ्गोंमें यवन ज्योतिषका कुछ भी आभास नहीं है। जिस प्रकार सनातनियोंकी वेदसंहितामें पञ्चवर्षात्मक युग है और कृत्तिकासे नक्षत्र गणना है उसी प्रकार जैनोंके अङ्ग ग्रन्थोंमें भी है; इससे उनकी प्राचीनता सिद्ध होती है[2]।" कथनसे सिद्ध है। सूर्यप्रज्ञप्तिमें पञ्चवर्षात्मक युगका उल्लेख करते हुए लिखा है "श्रावण कृष्ण प्रतिपदाके दिन सूर्य जिस समय अभिजित् नक्षत्र पर पहुंचता है उसी समय पञ्चवर्षीय युग प्रारंभ होता है[3]।" अति प्राचीन फुटकर उपलब्ध षट्खण्डागमकी ज्योतिष चर्चासे भी इसकी पुष्टि होती है। वेदाङ्गज्योतिषसे पूर्व वैदिक ग्रन्थोंमें भी यही बात है। पञ्चवर्षात्मक युगका सर्व प्रथमोल्लेख जैन ज्योतिषमें ही मिलता है। डा० श्यामशास्त्रीने वेदाङ्गज्योतिषकी भूमिका[4]में स्वीकार किया है कि वेदाङ्गज्योतिषके विकासमें जैन ज्योतिषका बड़ा भारी सहयोग है विना जैनज्योतिषके अध्ययनके वेदाङ्ग ज्योतिषका अध्ययन अधूरा ही कहा जायगा। प्राचीन भारतीय ज्योतिषमें जैनाचार्योंके सिद्धान्त अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण हैं।

जैन ज्योतिषमें पौर्णमास्यान्त मास गणना ली गयी है, किन्तु याजुष-ज्योतिषमें दर्शान्त मास गणना स्वीकार की गयी है। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन कालमें पौर्णमास्यान्त मास गणना ली जाती थी, किन्तु यवनोंके प्रभावसे दर्शान्त मास गणना ली जाने लगी। बादमें चान्द्रमासके प्रभावसे पुनः भारतीय ज्योतिर्विदोंने पौर्णमास्यान्त मास गणनाका प्रचार किया लेकिन यह पौर्णमास्यान्त मास गणना सर्वत्र प्रचलित न हो सकी। प्राचीन जैन ज्योतिषमें हेय पर्व तिथिका विवेचन करते हुए अवमके सम्बन्धमें बताया गया है[5] कि एक सावन मासकी दिन संख्या ३० और चान्द्रमासकी दिन संख्या

---

१ स्वराक्रमेते सोमार्कौ यदा साकं सवासवौ। स्यात्तदादि युगं माघस्तपश्शुक्लोऽयनं ह्युदक्॥
प्रपद्येते श्रविष्ठादौ सूर्याचन्द्रमसावुदक्। सर्पार्धे दक्षिणार्कस्तु माघश्रावणयोस्सदा॥ (वेदाङ्ग ज्योतिष पृ० ४–५)

२ हिन्दुत्व पृ० ५८१।

३ "सावण बहुल पडिवए वालवकरणे अभीइ नक्खत्ते। सव्वत्थ पढम समये जुअस्स आइं वियाणाहि॥"

४ वेदाङ्गज्योतिषकी भूमिका, पृ० ३।

५—सूर्यप्रज्ञप्ति, पृ० २१६-१७ (मलयगिर टीका)।

२६+३२।६२ है। सावन मास और चान्द्रमासका अन्तर अवम होता है अतः ३०−२९+३२/६२=३०/६२ अवम भाग हुआ, इस अवमकी पूर्ति दो मासमें होती है।" अनुपातसे एक दिनका अवमांश १/६२ आता है। यह सूर्यप्रज्ञप्ति सम्मत अवमांश वेदाङ्गज्योतिषमें भी है। वेदाङ्गज्योतिषकी रचनाके अनन्तर कई शती तक इस मान्यतामें भारतीय ज्योतिषने कोई परिवर्तन नहीं किया लेकिन जैन ज्योतिषके उत्तरवर्ती ज्योतिषकरण्डक आदि ग्रन्थोंमें सूर्यप्रज्ञप्ति कालीन स्थूल अवमांशमें संशोधन एवं परिवर्तन मिलता है, प्रक्रिया निम्न प्रकार है इस कालमें ३०/६२ की अपेक्षा ३१/६२ अवमांश माना गया है। इसी अवमांश परसे त्याज्य तिथिकी व्यवस्था की गयी है[1]। इससे वराहमिहिर भी प्रभावित हुए हैं उन्होंने पितामहके सिद्धांतका उल्लेख करते हुए लिखा है कि **'रवि शशिनोः पञ्चयुगवर्षाणि पितामहोपदिष्टानि। अधिमासस्त्रिंशद्भिर्मासैरवमो द्विषष्ट्या तु ॥'** अतः स्पष्ट है कि अवम-तिथि क्षय सम्बन्धी प्रक्रियाका विकास जैनाचार्योंने स्वतन्त्र रूपसे किया। समय-समयपर इस प्रक्रियामें संशोधन एवं परिवर्तन होते गये।

वेदाङ्गज्योतिष[2] में पर्वोंका ज्ञान करानेके लिए दिवसात्मक ध्रुवराशिका कथन किया गया है। यह प्रक्रिया गणित दृष्टिसे अत्यन्त स्थूल है। जैनाचार्योंने इसी प्रक्रियाको नक्षत्ररूपमें स्वीकार किया है। इनके मतसे चन्द्र नक्षत्र योगका ज्ञान करनेके लिए ध्रुवराशिका प्रतिपादन निम्न प्रकार हुआ है **"चउबीससमं काऊण पमाणं सत्तसट्ठिमेव फलम्। इच्छापव्वेहिं गुणं काऊणं पज्जया लद्दा॥"** अर्थात् ६७/१२४×१८३०/६७=९१५/६२=१४+४७/६२=१४+९४/१२४की पर्व ध्रुवराशि बतायी गयी है। तुलनात्मक दृष्टिसे वेदाङ्गज्योतिष सम्मत और जैनमान्यताकी ध्रुवराशिपर विचार करनेसे स्पष्ट है कि नक्षत्रात्मक ध्रुवराशिका उत्तरकालीन राशिके विकासमें महत्त्वपूर्ण योग है। आगे इसी प्रक्रियाका विकसित रूप क्रान्तिवृत्तके द्वादशभागात्मक राशि है।

पञ्चवर्षात्मक युगमें जैनाचार्योंकी व्यतीपात-आनयनसम्बन्धी प्रक्रियाका उत्तरकालीन भारतीय ज्योतिषमें महत्त्वपूर्ण स्थान है। ज्योतिष करण्डककी निम्न गाथाओंमें इस प्रक्रियाका विवेचन मिलता है[3]

अयणाणं सम्बन्धे रविसोमाणं तु वे हि य जुगम्मि।
जं हवइ भागलद्धं वइहया तत्तिया होन्ति ॥
बावत्तरीपमाणे फलरासी इच्छिते उ जुगभेए।
इच्छिय वइवायंपि य इच्छं काऊण आणे हि ॥

१—'द्वाषष्टितमघस्रस्य ततस्सूर्योदयक्षणे। उपस्थिता पूर्वरीत्या द्राक त्रिषष्टितमी तिथिः ।।'

२—'निरेकं द्वादशाभ्यस्तं द्विगुणं रूपसंयुतम्। षष्ट्या षष्ट्या युतं द्वाभ्यां पर्वणां राशिरुच्यते ।।'

—वेदांगज्योतिष [याजुष ज्योतिषं सोमाकर सुधाकर भाष्याभ्यां सहितम्], पृ० २० ।

इन गाथाओंकी व्याख्या करते हुए टीकाकार मलयगिरने "**इह सूर्याचन्द्रमसौ स्वकीयेऽयने वर्तमानौ यत्र परस्परं व्यतिपततः स कालो व्यतिपातः तत्र रविसोमयोः युगे युगमध्ये यानि अयनानि तेषां परस्पर सम्बन्धे एकत्रमेलने कृते द्वाभ्यां भागो ह्रियते। हृते च भागे यद्भवति भागलब्धं तावन्तः तावत्प्रमाणाः युगे व्यतिपाता भवन्ति ॥**" गणितक्रिया —७२ व्यतिपातमें १२४ पर्व होते हैं तो एक व्यतिपातमें क्या ? ऐसा अनुपात करनेपर—१२४×१/७२ = १+५२/७२×१५ = १०+६०/७२ तिथि ६०/७२×३० = २५ मुहूर्त्त। व्यतिपात ध्रुवराशिकी पट्टिका एक युगमें निम्न प्रकार सिद्ध होगी—

	पर्व	तिथि	मुहूर्त्त
(१) १२४/७२×१ =	१	१०	२५
(२) १२४/७२×२ =	३	६	२०
(३) १२४/७२×३ =	५	२	१५
(४) १२४/७२×४ =	६	१३	१०
(५) १२४/७२×५ =	८	६	५
(६) १२४/७२×६ =	१०	५	०
(७) १२४/७२×७ =	१२	०	२५
(८) १२४/७२×८ =	१३	११	२०
(९) १२४/७२×९ =	१५	७	१५
(१०) १२४/७२×१० =	१७	३	१०

जहां वेदाङ्गज्योतिषमें व्यतिपातका केवल नाममात्र उल्लेख मिलता है, वहां जैन ज्योतिषमें गणित-सम्बन्धी विकसित प्रक्रिया भी मिलती है। इस प्रकियाका चन्द्रनक्षत्र एवं सूर्यनक्षत्र सम्बन्धी व्यतिपातके आनयनमें महत्त्वपूर्ण उपयोग है। वराहमिहिर जैसे गणकोंने इस विकसित ध्रुवराशि पट्टिकाके अनुकरण पर ही व्यतिपात सम्बंधी सिद्धान्त स्थिर किये हैं। जिस कालमें जैन-पञ्चाङ्गकी प्रणालीका विकास पर्याप्त रूपमें हो चुका था उस कालमें अन्य ज्योतिषमें केवल पर्व, तिथि, पर्वके नक्षत्र एवं योग आदिकके आनयनका विधान ही मिलता है। पर्व और तिथियोंमें नक्षत्र लानेकी जैसी सुन्दर एवं विकसित जैन प्रक्रिया है, वैसी अन्य ज्योतिषमें छठी शतीके बादके ग्रन्थोंमें उपलब्ध होती है। काललोकप्रकाशमें लिखा है कि युगादिमें अभिजित् नक्षत्र होता है। चन्द्रमा अभिजित्को भोगकर श्रवणसे शुरू होता है और अग्रिम

३. ज्योतिष करण्डक पृ० २००—२०५। (पूर्व पृष्ठात्)

प्रतिपदाको मघा नक्षत्र पर आता है[1]। नक्षत्र लानेकी गणित प्रक्रिया इस प्रकार है—पर्वकी संख्याको १५ से गुणा कर गत तिथि संख्याको जोड़ कर जो हो उसमें दो घटा कर शेषमें ८२ का भाग देनेसे जो शेष रहे उसमें २७ का भाग देनेपर जो शेष आवे उतनी ही संख्या वाला नक्षत्र होता है, परन्तु यह नक्षत्र-गणना कृत्तिकासे लेनी चाहिये।

प्राचीन जैन ज्योतिषमें सूर्य संक्रान्तिके अनुसार द्वादश महीनोंकी नामावली भी निम्न प्रकार मिलती है—

प्रचलित नाम	सूर्य संक्रान्तिके अनुसार जैन महिनोंके नाम
श्रावण	अभिनन्दु
भाद्रपद	सुप्रतिष्ठ
आश्विन	विजया
कार्तिक	प्रीतिवर्द्धन
मार्गशीर्ष	श्रेयान्
पौष	शिव
माघ	शिशिर
फाल्गुन	हैमवान्
चैत्र	वसन्त
वैशाख	कुसुमसंभव
ज्येष्ठ	निदाघ
आषाढ़	वनविरोधी

इस मास प्रक्रियाके मूलमें संक्रान्ति सम्बन्धी नक्षत्र रहता है। इस नक्षत्रके प्रभावसे ही अभिनन्दु आदि द्वादश महीनोंके नाम बताये गये हैं। जैनेतर भारतीय ज्योतिषमें भी एकाध जगह दो-चार महीनोंके नाम आये हैं। वराहमिहिरने सत्याचार्य और यवनाचार्यका उल्लेख करते हुए संक्रान्ति संबंधी नक्षत्रके हिसाबसे मास गणनाका खण्डन किया है। लेकिन प्रारंभिक ज्योतिष सिद्धान्तोंके ऊपर विचार करनेसे यह स्पष्ट है कि यह मास प्रक्रिया बहुत प्राचीन है ऋक् ज्योतिषमें एक स्थानपर कार्तिकके लिए प्रीतिवर्द्धन और आश्विनके लिए विजया प्रयुक्त हुए हैं।

इसी प्रकार जैन ज्योतिषमें सम्वत्सरकी प्रक्रिया भी और मौलिक व महत्त्वपूर्ण है। जैनाचार्योंने जितने विस्तारके साथ इस सिद्धान्तके ऊपर लिखा है उतना अन्य सिद्धान्तोंके सम्बन्धमें नहीं। प्राचीन

१ "नक्षत्राणां परावर्तं....."इत्यादि। काललोकप्रकाश, पृ० ११४।

कालमें भी जैनाचार्योंने सम्वत्सर-सम्बन्धी जो गणित और फलितके नियम निर्धारित किए हैं वे जैनेतर भारतीय ज्योतिषमें आठवीं शतीके बाद व्यवहृत हुए हैं। नाक्षत्र सम्वत्सर, ३२७ + $\frac{५२}{६७}$; युग सम्वत्सर पांच वर्ष प्रमाण, प्रमाण सम्वत्सर, शनि सम्वत्सर। जब बृहस्पति सभी नक्षत्रसमूहको भोग कर पुनः अभिजित् नक्षत्र पर आता है तब महानाक्षत्र सम्वत्सर होता है। फलित जैन ज्योतिषमें इन सम्वत्सरोंके प्रवेश एवं निर्गम आदिके द्वारा विस्तारसे फल बताया है, अतः निष्पक्ष दृष्टिसे यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि भारतीय ज्योतिषके विकासमें जैन सम्वत्सर प्रक्रिया का बड़ा भारी योग दान है।

षट्खण्डागम धवला टीकाके प्रथम खण्ड गत चतुर्थांशमें प्राचीन जैन ज्योतिषकी कई महत्त्वपूर्ण बातें सूत्ररूपमें विद्यमान हैं उसमें समयके शुभाशुभका ज्ञान करानेके लिए दिनरात्रि के (१) रौद्र (२) श्वेत (३) मैत्र (४) सारभट (५) दैत्य (६) वैरोचन (७) वैश्वदेव (८) अभिजित् (९) रोहण (१०) बल (११) विजय (१२) नैऋत्य (१३) वरुण (१४) अर्यमन् और (१५) भाग्य मुहूर्त बताये हैं।[१] इन दिनमुहूर्त्तोंमें फलित जैन ग्रन्थोंके अनुसार रौद्र, सारभट, वैश्वदेव; दैत्य और भाग्य यात्रादि शुभ कार्योंमें त्याज्य हैं। अभिजित् और विजय ये दो मुहूर्त सभी कार्योंमें सिद्धि-दायक बताये गये हैं। आठवीं शतीके जैन ज्योतिष सम्बन्धी मुहूर्त्तग्रन्थोंमें इन्हीं मुहूर्त्तोंको अधिक पल्लवित करके प्रत्येक दिनके शुभाशुभ कृत्योंका प्रहरोंमें निरूपण किया है। इसी प्रकार रात्रिके भी (१) सावित्र (२) धुर्य (३) दात्रक (४) यम (५) वायु (६) हुताशन (७) भानु (८) वैजयन्त (९) सिद्धार्थ (१०) सिद्धसेन (११) विक्षोभ (१२) योग्य (१३) पुष्पदन्त, (१४) सुगंधर्व और (१५) अरुण ये पन्द्रह मुहूर्त हैं[२]। इनमें सिद्धार्थ, सिद्धसेन, दात्रक और पुष्पदन्त शुभ होते हैं शेष अशुभ हैं। सिद्धार्थको सर्वकार्योंका सिद्ध करनेवाला कहा है। ज्योतिष शास्त्रमें इस प्रक्रियाका विकास आर्यभट्टके बाद निर्मित फलित ग्रन्थोंमें ही मिलता है।

तिथियोंकी संज्ञा भी सूत्ररूपसे धवलामें इस प्रकार आयी है—नन्दा, भद्रा, जया, रिक्ता (तुका), और पूर्णा ये पांच संज्ञाएं पन्द्रह तिथियोंकी निश्चित की गयी हैं, इनके स्वामी क्रमसे चन्द्र, सूर्य, इन्द्र, आकाश और धर्म बताये गये हैं। पितामह-सिद्धान्त, पौलस्त्य-सिद्धान्त और नारदीय सिद्धान्तमें इन्हीं तिथियोंका उल्लेख स्वामियों सहित मिलता है, पर स्वामियोंकी नामावली जैन नामावलीसे सर्वथा भिन्न है। इसी प्रकार सूर्यनक्षत्र, चान्द्रनक्षत्र, बार्हस्पत्यनक्षत्र एवं शुक्रनक्षत्रका उल्लेख भी जैनाचार्योंने विलक्षण सूक्ष्मदृष्टि और गणित प्रक्रियासे किया है। भिन्न-भिन्न ग्रहोंके नक्षत्रोंकी प्रक्रिया पितामह सिद्धान्तमें भी सामान्यरूपसे बतायी गयी है।

---

१ "रौद्रः श्वेतश्च....इत्यादि" धवला टीका, चतुर्थ भाग पृ० ३१८।

२ "सवित्रो धुर्यसंज्ञश्च...." इत्यादि। धवला टीका, चतुर्थ भाग, पृ० ३१९।

अयन-सम्बन्धी जैन ज्योतिषकी प्रक्रिया तत्कालीन ज्योतिष ग्रन्थोंकी अपेक्षा अधिक विकसित एवं मौलिक है। इसके अनुसार सूर्यका चारक्षेत्र सूर्यके भ्रमण मार्गकी चौड़ाई–पांच सौ दश योजनसे कुछ अधिक बताया गया है, इसमें से एक सौ अस्सी योजन चारक्षेत्र तो जम्बूद्वीपमें है और अवशेष तीन सौ तीस योजन प्रमाण लवणसमुद्रमें है, जो कि जम्बूद्वीपको चारों ओरसे घेरे हुए है। सूर्यके भ्रमण करनेके मार्ग एक सौ चौरासी हैं इन्हें शास्त्रीय भाषामें वीथियां कहा जाता है। एक सौ चौरासी भ्रमण मार्गोंमें एक सूर्यका उदय एक सौ तेरासी बार होता है। जम्बूद्वीपमें दो सूर्य और दो चन्द्रमा माने गये हैं, एक भ्रमण मार्गको तय करनेमें दोनों सूर्योंको एक दिन और एक सूर्यको दो दिन अर्थात् साठ मुहूर्त्त लगते हैं। इस प्रकार एक वर्षमें तीन सौ छयासठ और एक अयनमें एक सौ तेरासी दिन होते हैं।

सूर्य जब जम्बूद्वीपके अन्तिम आभ्यन्तर मार्गसे बाहरकी ओर निकलता हुआ लवणसमुद्रकी तरफ जाता है तब बाहरी लवणसमुद्रस्थ अन्तिम मार्गपर चलनेके समयको दक्षिणायन कहते हैं और वहां तक पहुंचनेमें सूर्यको एक सौ तेरासी दिन लगते हैं। इसी प्रकार जब सूर्य लवणसमुद्रके बाह्य अन्तिम मार्गसे घूमता हुआ भीतर जम्बूद्वीपकी ओर आता है तब उसे उत्तरायण कहते हैं और जम्बूद्वीपस्थ अन्तिम मार्ग तक पहुंचनेमें उसे एक सौ तेरासी दिन लग जाते हैं। पञ्चवर्षात्मक युगमें उत्तरायण और दक्षिणायन सम्बन्धी तिथि-नक्षत्रका विधान[1] : सर्वप्रथम युगके आरंभमें दक्षिणायन बताया गया है यह श्रावण कृष्णा प्रतिपदाको अभिजित् नक्षत्रमें होता है। दूसरा उत्तरायण माघ कृष्णा सप्तमी हस्त नक्षत्रमें; तीसरा दक्षिणायन श्रावण कृष्णा त्रयोदशी मृगशिर नक्षत्रमें; चौथा उत्तरायण माघशुक्ला चतुर्थी शतभिषा नक्षत्रमें; पांचवा दक्षिणायन श्रावण शुक्ला दशमी विशाखा नक्षत्रमें; छठवां उत्तरायण माघ कृष्णा प्रतिपदा पुष्य नक्षत्रमें; सातवां दक्षिणायन श्रावण कृष्णा सप्तमी रेवती नक्षत्रमें; आठवां उत्तरायण माघ कृष्ण त्रयोदशी मूल नक्षत्रमें; नवमां दक्षिणायन श्रावण शुक्ल नवमी पूर्वाफाल्गुणी नक्षत्र में और दशवां उत्तरायण माघ कृष्णा त्रयोदशी कृत्तिका नक्षत्रमें माना गया है किन्तु तत्कालीन ऋक्, याजुष् और अथर्व ज्योतिषमें युगके आदिमें प्रथम उत्तरायण बताया है। यह प्रक्रिया अब तक चली आ रही है। कहा नहीं जा सकता कि युगादिमें दक्षिणायन और उत्तरायणका इतना वैषम्य कैसे हो गया?

जैन मान्यताके अनुसार जब सूर्य उत्तरायण होता है—लवण समुद्रके बाहरी मार्गसे भीतर जम्बूद्वीपकी ओर जाता है–उस समय क्रमशः शीत घटने लगता है और गरमी बढ़ना शुरु हो जाती है। इस सर्दी और गर्मीके वृद्धि-ह्रासके दो कारण हैं, पहला यह है कि सूर्यके जम्बूद्वीपके समीप आनेसे उसकी किरणोंका प्रभाव यहां अधिक पड़ने लगता है, दूसरा कारण यह कहा जा सकता है कि उसकी किरणें समुद्र

---

१ "प्रथम बहुल पडिवए'' ···इत्यादि, सूर्यप्रज्ञप्ति (मलयगिर टीका सहित), पृ० २२२।

के अगाध जलपरसे आनेसे ठंडी पड़ जाती थीं। उनमें क्रमशः जम्बूद्वीपकी ओर गहराई कम होने एवं स्थल-भाग पास होनेसे सन्ताप अधिक बढ़ता जाता है, इसी कारण यहां गर्मी अधिक पड़ने लगती है। यहां तक कि सूर्य जब जम्बूद्वीपके भीतरी अन्तिम मार्गपर पहुंचता है तब यहां पर सबसे अधिक गर्मी पड़ती है। उत्तरायणका प्रारंभ मकर संक्रान्तिको और दक्षिणायनका प्रारंभ कर्क संक्रांतिको होता है। उत्तरायणके प्रारंभमें १२ मुहुर्त्तका दिन और १८ मुहुर्त्तकी रात्रि होती है। दिन-मानका प्रमाण निम्नप्रकार बताया है[१]। पर्व संख्याको १५ से गुणाकर तिथि संख्या जोड़ देना चाहिए, इस तिथि संख्यामें से एक सौ बीस तिथिपर आने वाले अवमको घटाना चाहिए। इस शेषमें १८३ का भाग देकर जो शेष रहे उसे दूना कर ६१ का भाग देना चाहिये जो लब्ध आवे उसे दक्षिणायन हो तो १८ मुहूर्त्तमें से घटाने पर दिनमान और उत्तरायण हो तो १२ मुहूर्त्तमें जोड़ने पर दिनमान आता है। उदाहरणार्थ युगके आठ पर्व बीत जानेपर तृतीयाके दिन दिनमान निकालना है अतः १५×८=१२०+३=१२३—१=१२२÷१८३=०+$\frac{१२२}{१८३}$=१२२×२=२४४÷६१=४, दक्षिणायन होने से १८—४=१४ मुहूर्त्त दिनमानका प्रमाण हुआ।

वेदाङ्गज्योतिषमें दिनमान सम्बंधी यह प्रक्रिया नहीं मिलती है, उस कालमें केवल १८—१२ =६÷१८३=$\frac{१}{६१}$ वृद्धि-ह्रास रुप दिनमानका प्रमाण साधारणानुपात द्वारा निकाला गया है। फलतः उपर्युक्त प्रक्रिया विकसित और परिष्कृत है इसका उत्तरकालीन पितामहके सिद्धान्तपर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा है। पितामहने जैन प्रक्रियामें थोड़ासा संशोधन एवं परिवर्द्धन करके उत्तरायण या दक्षिणा-यनके दिनादिमें जितने दिन व्यतीत हुए हों उनमें ७३२ जोड़ देना चाहिये फिर दूना करके ६१ का भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसमेंसे १२ घटा देने पर दिनमान निकालना बताया है[२]। पितामहका सिद्धान्त सूक्ष्म होकर भी जैन प्रक्रियासे स्पष्ट प्रभावित मालूम होता है।

नक्षत्रोंके आकार सम्बन्धी उल्लेख जैन ज्योतिषकी अपनी विशेषता हैं। चन्द्रप्रज्ञप्तिमें नक्षत्रोंके आकार-प्रकार, भोजन-वसन आदिका प्रतिपादन करते हुए बताया गया है कि अभिजित् नक्षत्र गोशृङ्ग, श्रवण नक्षत्र कपाट, धनिष्ठा नक्षत्र पक्षीके पिंजरा, शतभिषा नक्षत्र पुष्पकी राशि, पूर्वाभाद्रपद एवं उत्तराभाद्रपद अर्ध-बावड़ी, रेवती नक्षत्र कटे हुए अर्ध फल, अश्विनी नक्षत्र अश्वस्कन्ध, भरिणी नक्षत्र स्त्री की योनि, कृत्तिका नक्षत्र ग्राह, रोहणी नक्षत्र शकट, मृगशिरा नक्षत्र मृगमस्तक, आर्द्रा नक्षत्र रुधिर बिन्दु, पुनर्वसु नक्षत्र चूलिका, पुष्य नक्षत्र बढ़ते हुए चन्द्र, आश्लेषा नक्षत्र ध्वजा, मघा नक्षत्र प्राकार, पूर्वाफल्गुनी एवं उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र अर्ध-पल्यङ्क, हस्त नक्षत्र हथेली, चित्रा नक्षत्र मउआके पुष्प, स्वाति नक्षत्र खीले, विशाखा नक्षत्र दामिनी, अनुराध नक्षत्र एकावली, ज्येष्ठा नक्षत्र गजदन्त, मूल नक्षत्र बिच्छू, पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र .

---

१ ज्योतिषकरण्डक, गाथा ३११-२०।

२ "द्वयग्नि नमेषूत्तरतः····" पद्य, पञ्चसिद्धान्तिका।

हस्तीकी चाल और उत्तराषाढ़ा नक्षत्र सिंहके आकार होता है[1]। यह नक्षत्रोंकी संस्थान सम्बन्धी प्रक्रिया वराहमिहिरके कालसे पूर्वकी है। इनके पूर्व कहीं भी नक्षत्रोंके आकारकी प्रक्रियाका उल्लेख नहीं है। इस प्रकारसे नक्षत्रोंके संस्थान, आसन, शयन आदिके सिद्धान्त जैनाचार्योंके द्वारा निर्मित होकर उत्तरोत्तर पल्लवित और पुष्पित हुए हैं।

प्राचीन भारतीय ज्योतिषके निम्न सिद्धान्त जैन-अजैनोंके परस्पर सहयोगसे विकसित हुए प्रतीत होते हैं। इन सिद्धान्तोंमें पांचवां, सातवां, आठवां, नवम्, दसवां, ग्यारहवां और बारहवें सिद्धान्तोंका मूलतः जैनाचार्योंने निरूपण किया है।

प्राचीन जैन ज्योतिष ग्रन्थोंमें षट्खण्डागमसूत्र एवं टीकामें उपलब्ध फुटकर ज्योतिष चर्चा, सूर्यप्रज्ञप्ति, ज्योतिषकरण्डक, चन्द्रप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति, अङ्गविज्जा, गणविज्जा, आदि ग्रन्थ प्रधान हैं। इनके तुलनात्मक विश्लेषणसे ये सिद्धान्त निकलते हैं—

(१) प्रतिदिन सूर्यके भ्रमण मार्ग निरूपण-सम्बन्धी सिद्धान्त—इसीका विकसित रूप दैनिक अहोरात्रवृत्तकी कल्पना है। (२) दिनमानके विकासकी प्रणाली। (३) अयन-सम्बन्धी प्रक्रियाका विकास—इसीका विकसित रूप देशान्तर, कालान्तर, भुजान्तर, चरान्तर एवं उदयान्तर-सम्बन्धी सिद्धान्त हैं। (४) पर्वोंमें विषुवानयन इसका विकसित रूप संक्रान्ति और क्रान्ति हैं। (५) संवत्सर-सम्बन्धी प्रक्रिया—इसका विकसित रूप सौरमास, चान्द्रमास, सावनमास एवं नाक्षत्रमास आदि हैं। (६) गणित प्रक्रिया द्वारा नक्षत्र लग्नानयनकी रीति—इसका विकसित रूप त्रिंशांश, नवमांश, द्वादशांश एवं होरादि हैं। (७) कालगणना प्रक्रिया—इसका विकसित रूप अंश, कला, विकला आदि क्षेत्रांश सम्बन्धी गणना एवं घटी पलादि सम्बन्धी कालगणना है। (८) ऋतुशेष प्रक्रिया—इसका विकसित रूप क्षयशेष, अधिमास, अधिशेष आदि हैं। (९) सूर्य और चन्द्रमण्डलके व्यास, परिधि और घनफल प्रक्रिया—इसका विकसित रूप समस्त ग्रह गणित है। (१०) छाया द्वारा समय-निरूपण—इसका विकसित रूप इष्टकाल, भयात, भभोग एवं सर्वभोग आदि हैं। (११) नक्षत्राकार एवं तारिकाओंके पुञ्जादिकी व्याख्या इसका विकसित रूप फलित ज्योतिषका वह अंग है जिसमें जातककी उत्पत्तिके नक्षत्र, चरण आदिके द्वारा फल बताया गया हो। (१२) राहु और केतुकी व्यवस्था—इसका विकसित रूप सूर्य एवं चन्द्रग्रहण-सम्बन्धी सिद्धान्त हैं।

जैन ज्योतिष ग्रन्थोंमें उल्लिखित ज्योतिष-मण्डल, गणित-फलित, आदि भेदोपभेद विषयक वैशिष्ट्योंका दिग्दर्शन मात्र करानेसे यह लेख पुस्तकका रूप धारण कर लेगा, जैसा कि जैन शास्त्र-भण्डारोंमें उपलब्ध

---

१ चन्द्रप्रज्ञप्ति, पृ० २०४-२१०।

गणित, फलित, आदि ज्योतिषके ग्रन्थोंकी निम्न संक्षिप्त तालिकासे स्पष्ट है। तथा जिसके आधारपर शोध करके जिज्ञासु स्वयं निर्णय कर सकेंगे कि जैन विद्वानोंने किस प्रकार भारतीय ज्योतिष शास्त्रका सर्वाङ्ग सुन्दर निर्माण, पोषण एवं परिष्कार किया है।

गणित ज्योतिषके ग्रन्थ

१ सूर्यप्रज्ञप्ति मूल प्राकृत, मलयगिरि वृत्ति (संस्कृत टीका)
२ चन्द्रप्रज्ञप्ति ,, ,,
३ ज्योतिषकरण्डक मूल प्राकृत, संस्कृत टीका
४ अंगविज्जा और गणिविज्जा (प्राकृत)
५ मण्डल प्रवेश
६ गणितसार संग्रह (संस्कृत)—महावीराचार्य (सन् ८५०)
७ गणितसूत्र (संस्कृत)
८ व्यवहार गणित (कन्नड़)—राजादित्य (११ वीं सदी)
९ जैन गणित सूत्र (,,)— राजादित्य, यह विष्णुवर्द्धनके आश्रित थे। समय ११ वीं सदी है।
१० जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—अमितगति, रचनाकाल सं० १०५०
११ सिद्धान्त शिरोमणि ?—त्रैवेद्य मुनि
१२ गणित शास्त्र (संस्कृत) श्रीधराचार्य।
१३ सार्धद्वीपद्वय प्रज्ञप्ति (संस्कृत)
१४ लीलावती (कन्नड़)—कविराजकुञ्जर
१५ क्षेत्र गणित (कन्नड़) राजादित्य (११ वीं सदी)
१६ व्यवहाररत्न (कन्नड़)
१७ लीलावती (अपभ्रंश) लालचन्द्र सं० १७३६
१८ लीलावती (संस्कृत) लाभवर्द्धन
१९ गणित शास्त्र (संस्कृत) श्रेष्ठिचन्द्र
२० यन्त्रराज (संस्कृत) महेन्द्रसूरि सं० १४३७
२१ गणितसार (प्राकृत) ठक्कुरफेरू, रचनाकाल—सं० १३७५ के आसपास
२२ जोइससार (ठक्कुरफेरु) सं० १३७२
२३ ज्योतिष मण्डल विचार—तपोविजय कुशलसूरि सं० १६५२
२४ ज्योतिष सारोद्धार—आनन्दमुनि सं० १७३१
२५ गणित साठसौ—महिमोदय
२६ पंचाङ्गानयनविधि—महि० रचनाकाल सं० १७२३
२७ नवग्रह गणित—पञ्चाङ्ग,गणित सहित (तेलगू)
२८ गणित संग्रह—एलाचार्य
२९ छत्तीसुपूर्वप्रति उत्तर-प्रतिसह—महावीराचार्य
३० अष्टकवर्ग—सिद्धसेन
३१ अलौकिक गणित—देहली के पंचायती मन्दिरके भण्डारमें है
३२ भ्रमण सारिणी दे० पं० मं०
३३ अणुजातक ,,
३४ पञ्चाङ्ग विचार ,,
३५ चन्द्रार्को पद्धत्ति ,,
३६ ज्योतिप्रकाश दिल्ली के धर्मपुरा मन्दिर भण्डार है।
३७ तिथि सारणी—पार्श्वचन्द्रगच्छी बाघजी—मुनि सं० १७८३
३८ ज्योतिषसार संग्रह—कवि रत्नभानु—अमर ग्रन्थालय तुकोगंज इन्दौर।

३९ जन्म पत्र पद्धति—हर्षकीर्ति (१७ वीं शती)
४० जन्मपत्र पद्धति—लब्धिचन्द्र (सं० १७५१)
४१ जन्म पत्र पद्धति—महिमोदय
४२ इष्टतिथि सारणी—लक्ष्मीचन्द्र (सं० १७६०)
४३ ग्रहायु साधन—पुण्यतिलक
४४ जगचन्द्रिका सारणी—हीरचन्द्र
४५ चन्द्रवेध्य प्रकीर्णक (प्राकृत पत्र संख्या ६, श्लो० १२५)
४६ चन्द्ररज्जु चक्रविवरण (पत्र४, श्लो० २६०)
४७ तिथ्यादि सारिणी (पत्र ३)
४८ यन्त्ररत्नावली—पद्मनाग
४९ पञ्चाङ्ग तिथि विवरण (श्लोक संख्या १९०)
५० अत्रप्रभा—(पत्र संख्या ७ जेसलमेर भण्डार
५१ ग्रह दीपिका—(पत्र संख्या ८) जैस० भ०
५२ ग्रहरत्नाकर कोष्ठक—(पत्रसंख्या १६) ,,
५३ पंचांग दीपिका ,, ६ ,,
५४ करण शार्दूल ,,
५५ पञ्चांग तत्त्व
५६ वक्रमार्गी—(पत्र संख्या १) ,,

फलित ज्योतिषके जैनग्रन्थ

५७ केवलज्ञान होरा (संस्कृत) चन्द्रसेनमुनि ग्रन्थप्रमाण, ५ हजार श्लोक।

५८ आयज्ञान तिलक (प्राकृत) दामनन्दिके शिष्य भट्टवोसरि, ग्रन्थ प्रमाण ५० पत्र।

५९ चन्द्रोन्मीलन प्रश्न (संस्कृत)—श्लो ४ हजार

६० भद्रबाहु निमित्तशास्त्र ,, —भद्रबाहु, श्लोक ४ हजार

६१ रिट्ठसमुच्चय (प्राकृत)—दुर्गदेव सं० १०८९ गाथा २६१

६२ अर्धकाण्ड ,, ,, ,,

६३ ज्योतिर्ज्ञानविधि (संस्कृत) श्रीधराचार्य, (अधूरा)

६४ उत्तमसद्भाव प्रकरण ,, मल्लिषेणाचार्य, सन् १०५०, श्लोक १९६।

६५ केवलज्ञानप्रश्न चूड़ामणि (संस्कृत), समन्तभद्र, पत्र संख्या १८।

६६ ज्ञानप्रदीपिका (संस्कृत)—प्रकाशित

६७ सामुद्रिक शास्त्र—(सं० प्रका०)

६८ ज्योतिषसार (प्राकृत) (अनु० पं० भगवानदास)

६९ अर्हत्पासा केवली (संस्कृत) भट्टारक सकलकीर्ती (पत्र संख्या ६)

७० अक्षर प्रश्न केवली ,, पत्रसंख्या ६, श्लो० संख्या २८०।

७१ हस्त संजीवन—(संस्कृत)

७२ निमित्तशास्त्र—(प्राकृत) ऋषिपुत्र, (प्रकाशित)

७३ ज्योतिषप्रकाश (संस्कृत)—हीरविजय

७४ स्वप्नविचार (प्राकृत)—जिनपालगणि प्र

७५ स्वप्नमहोत्सव (संस्कृत)

७६ स्वप्नचिन्तामणि ,, —दुर्लभराज

७७ पासाकेवली—(संस्कृत)—गर्गमुनि

७८ सामुद्रिक शास्त्र (संस्कृत)—समुद्रकवि (लिपिकाल सं० १८४४, पंचायती मंदिर देहली)

७९ द्वादशग्रह प्रश्नावली (संस्कृत)
८० सामुद्रिक सटीक (देहलीके पंचायती मन्दिरके भण्डारमें)
८१ सामुद्रिक भाषा—(दे. पं. मं.)
८२ शकुन विचार (भाषा गोवर्द्धनदास—सं० १७६२)
८३ प्रतिष्ठा मुहूर्त्त—(दिल्ली-पंचायती मन्दिर)
८४ स्त्रीभाग्य पंचाशिका (संस्कृत,लिपिकाल १७७४)
८५ कूपचक्र ,,
८६ प्रश्नज्ञानप्रदीप (दि. पं. मं.)
८७ नष्टजन्मविचार ,,
८८ चन्द्रमाविचार ,,
७९ शनिविचार ,,
९० सउन (शकुन चौपाई)—देवविजय
९१ स्वप्न सहातिका–जिनवल्लभ मुनि (१३ वीं सदी)
६२ स्वप्नप्रदीप—वर्द्धमान सूरि
९३ जातक तिलक (कन्नड़) श्रीधराचार्य
९४ गर्गसंहिता—(संस्कृत-प्राकृत मिश्रित) गर्गमुनि
९५ लोकविजय यंत्र (प्राकृत २८ गाथा)
९६ शकुनदीपिका चौपई (जयविजय सं० १६६०)
९७ शकुनशास्त्र—जिनदत्तसूरि (१३ वीं सदी)
९८ नक्षत्रचूड़ामणि (संस्कृत)
९९ गैलिशकुन (कन्नड़, मल्लिसेन, ३५ पत्र)
१०० सामुद्रिकशास्त्र सटीक (संस्कृत २२ पत्र)
१०१ ज्योतिषसंग्रह (संस्कृत २० पत्र)
१०२ सुग्रीवमतशकुन (कन्नड़ ३० पत्र)
१०३ सामुद्रिक लक्षण—(संस्कृत २० पत्र)
१०४ शकुन दीपक (सं०)
१०५ स्वप्नदीपक ,,
१०६ कुमारसंहिता ,, कुमारनन्दि मुनि
१०७ निमित्तदीपक ,,
१०८ ज्योतिषपाल ,,
१०९ ज्योतिश्चक्र विचार (प्राकृत)
११० हस्तकाण्ड पार्श्वचन्द्र
१११ शकुनावली (संस्कृत) सिद्धसेन
११२ शकुन रत्नावली ,, (वर्द्धमान)
११३ शकुनावली रामचन्द्र (सं० १८१७)
११४ शकुनप्रदीप (हिन्दी) लक्ष्मीचन्द्र यति(सं० १७६०)
११५ सामुद्रिक लक्षण (संस्कृत) लक्ष्मीविजय
११६ सामुद्रिक (संस्कृत) अजयराज
११७ सामुद्रिक ,, रामविजय
११८ रमलशास्त्र ,, भोजसागर
११९ रमलसार ,, विजयदान सूरि
१२० सामुद्रिक हिन्दी रामचन्द्र
१२१ जिनसंहिता (संस्कृत) एकसन्धि भट्टारक
१२२ कालकसंहिता ,, कालकाचार्य
१२३ अर्हच्चूड़ामणिसार (प्राकृत) भद्रबाहु
१२४ चातुर्मासिक कलंक
१२५ तिथि कुलक
१२६ मेघमाला पत्र १८
१२७ लग्नशुद्धि (संस्कृत) हरिभद्रसूरि (८ वीं शती)
१२८ नारचन्द्र ज्योतिष-नारचन्द्र (श्लो० २०० दिगम्बर)
१२९ आयप्रश्न (संस्कृत श्लो० ६०)
१३० द्वादशभाव जन्मप्रदीप—भद्रबाहु (पत्र संख्या ८)
१३१ नवग्रह-राशि विचार (संस्कृत श्लो० १९६)
१३२ निधनादिपरीक्षा शास्त्र (संस्कृत) पत्र ३
१३३ भवसागर संस्कृत (श्लोक० ३३००)
१३४ योगायोगप्रकरण (संस्कृत) ७ पत्र
१३५ ध्वजधूम (संस्कृत) २ पत्र
१३६ तौयोगादि ३ पत्र

१३७ ज्ञानमंजरी ,, २ पत्र
१३८ ग्रहदीपिका ,, ८ पत्र
१३९ शतांकी ,, ७ पत्र
१४० षट् भूषण ,, १६ पत्र
१४१ मूल विधान ,, १३ पत्र
१४२ योग मुहूर्त्त , ५ पत्र
१४३ ज्योतिष फल दर्पण ,,
१४४ खरस्वर विचार—खण्डित प्रति
१४५ छींक विचार—खडिण्त प्रति
१४६ शकुनावली—वसन्तराम १३० ताड़पत्र
१४७ सामुद्रिक तिलक—जगदेव, ८०० आर्या प्रमाण
१४८ स्वप्नसप्ततिका वृत्ति—सर्वदेवसूरि सं० १२८७श्लो०८००
१४९ स्वप्नाष्टक विचार—संस्कृत, १ पत्र
१५० श्वान शकुन विचार—खण्डित प्रति
१५१ श्वानसप्तती—श्लो० २००
१५२ मानसागरी पद्धति, संस्कृत—मानसागर, श्लो० १०००
१५३ जोइसदार—प्राकृत, हरिकलश
१५४ लग्न विचार
१५५ मेघमाला—मेघराज
१५६ जन्म समुद्र सटीक—नरचण्डोपाध्याय
१५७ मंगल स्फुरण चौपई—हिन्दी, हेमानन्द
१५८ वर्ष फलाफल ज्योतिष—संस्कृत, सूरचन्द्र
१५९ सामुद्रिक तिलक—संस्कृत, दुर्लभराज
१६० शकुनदीपिका— संस्कृत अज्ञात
१६१ दिपकावली — ,, जयरत्न सं० १६६२
१६२ स्वप्नसप्ततिकावृत्ति ,, जिनवल्लभ, टी० जिनपाल
१६३ शकुनशास्त्रोद्धार ,, माणिक्यसूरि
१६४ अष्टाङ्ग निमित्त—ऊने दिकशान
१६५ लग्नघटिका—सोमविमल
१६६ मास-वृद्धि हानि विचार—नेमकुशल
१६७ ज्योतिष लग्नसार—संस्कृत, विद्याहेम
१६८ षट्ऋतु संक्रान्ति विचार—संस्कृत कवि खुटयाल
१६९ हायन सुन्दर (संस्कृत) पद्मसुन्दर—१७ वीं सदी।
१७० दिनशुद्धि दीपिका (प्राकृत) रत्नशेखरसूरि, टी० विश्वप्रभा, १५ वीं सदी।
१७१ प्रश्नशतक स्वोपज्ञ वेतालवृत्ति (संस्कृत) नरय ऊपाध्याय
१७२ प्रश्नचतुर्विंशतिका (संस्कृत) नरचन्द्रोपाध्याय, १३ वीं सदी
१७३ उदय दीपिका ,, मेघविजय
१७४ रमलशास्त्र —संस्कृत
१७५ यशोराज राजी—पद्धत्ति (संस्कृत) यशश्रुतसागर, सं० १७६२
१७६ ज्योतिषरत्नाकर—(संस्कृत), महिमोदय
१७७ विवाहपटल (संस्कृत) अभयकुशल
१७८ विवाहपटल (संस्कृत) रूपचन्द्र
१७९ विवाह पटल (संस्कृत) हरि
१८० मुहूर्त्त चिन्तामणि ठवा (संस्कृत) चतुर्विजय
१८१ चमत्कार चिन्तामणि ठवा (संस्कृत) जैनमतिसार
१८२ चमत्कार चिन्तामणि वृत्ति (संस्कृत) अभयकुशल

१८३ जिनेन्द्रमाला (संस्कृत) टीका, कन्नड़ ,,
१८४ शकुनदीपक (संस्कृत) वीरपंडित
१८५ होराज्ञान (संस्कृत) गौतमस्वामी
१८६ अर्हन्तपासाकेवली—हिन्दी, विनोदीलाल
१८७ अर्हन्तपासाकेवली—हिन्दी, वृन्दावन
१८८ अक्षरकेवली शकुन (संस्कृत) अज्ञात (पत्र१०)
१८९ नरपिङ्गल (कन्नड़) शुभचन्द्र
१९० श्रीजातकवृत्ति (संस्कृत) नारचन्द्र (४००श्लो०)
१९१ ज्योतिश्शास्त्र—संस्कृत
१९२ जोइससार—प्राकृत (पत्र सख्या४ खण्डित)
१९३ ज्योतिसार—संस्कृत
१९४ ग्रहगोचर—,, (पत्र संख्या ३५१)
१९५ ग्रहदृष्टिफल ,,
१९६ ग्रहप्रमाणमंजरी—संस्कृत
१९७ ग्रहफल ,,
१९८ ग्रहबलविचार ,,
१९९ भुवन दीपक—संस्कृत, पद्मप्रभ १४ वीं सदी
२०० भुवनदीपक सिंहतिलकवृत्ति सहित सं० १३२६
२०१ ,, खरतरगच्छीय रत्नधीर वृत्ति सं० १८०६
२०२ ग्रहवाटिका—संस्कृत
२०३ प्रश्नव्याकरण ज्योतिकोंनी
२०४ स्वप्नसुभाषित—प्राकृत
२०५ स्वप्नविचार यशःकीर्ति
२०६ स्वरोदय
२०७ सामुद्रिक फलाफल—संस्कृत (४ पत्र)
२०८ सामुद्रिक सार (संस्कृत) ८ पत्र
२०९ सार संग्रह ,, हर्षकीर्ति
२१० ज्योतिषविषय (कन्नड़) ६ ताड़पत्रश्लो० १२
२११ ज्योतिषसंग्रह—संस्कृत, टीका (कन्नड़) ताड़पत्र११९
२१२ जोतिष संग्रहात्मक (कन्नड़) ६० पत्र
२१३ ज्योतिषसंग्रह (संस्कृत-कन्नड़) ९६६ पत्र
२१४ आरम्भसिद्धि (संस्कृत) उदय प्रकरणी १३ वीं सदी
२१५ आरम्भसिद्धि टीका हेमहंस गणि सं० १५०४
२१६ त्रैलोक्य प्रकाश—संस्कृत, हेमप्रभसूरी सं० १३०५, श्लो० १९६०
२१७ निमित्तदीपक—संस्कृत, जिनसेन
२१८ ज्योतिषपटल—महावीर
२१९ जिनेन्द्रमाला—संस्कृत
२२० जिनेन्द्रमाला वृत्ति
२२१ अट्ठमत—कन्नड़ ऊट्ठजीव, सन् १३००
२२२ मेघमाला—हेमप्रभ सूरि
२२३ ज्योतिष सारोद्धार, हर्षकीर्त्ति १७ वीं सदी
२२४ वर्षप्रबोध—संस्कृत, मेघविजय
२२५ उदयविलास—श्री सूरि जिनोदय
२२६ मेघमाला मेघराज सं० १८८१
२२७ वर्ष फलाफल—पत्रसंख्या १२
२२८ अंगविद्या—प्राकृत
२२९ कररेहा लक्खण—प्राकृत
२३० हस्तकाण्ड—पार्श्वचन्द्र
२३१ रमलशास्त्र—मेघ विजय
२३२ स्वरोदया—भाषा, चिदान्द सं० १८०७

२३३ दृष्टि विचार—प्राकृत, पत्र संख्या २२
२३४ अंगलक्षण
२३५ तिथिकुलक
२३६ चातुर्थशिव कुलक
२३७ जन्मकुण्डली विचार १ पत्र
२३८ जातकविधान (संस्कृत) सिंहमल, श्लो० १३८०
२३९ जातक दीपिका (संस्कृत) हर्षविजय, खण्डित
२४० जातक पद्धति ,, पत्र ८ अध्याय १
२४१ द्वादशभाव फल ,,
२४२ लग्नशुद्धिविचार ,,
२४३ षष्ठि सम्वत्सरी—संस्कृत, क्षेमकीर्त्ति, श्लो० ३००
२४४ जन्मपत्रिकागत कालादि—विचार
२४५ जन्म कुण्डलिका
२४६ कुण्डकेशर— १० पत्र
२४७ कालज्ञान—संस्कृत
२४८ कालशतक—मुनिचन्द्रसूरि
२४९ ज्यौतिष सारिणी—संस्कृत, शुभचन्द्र
२५० लग्न शास्त्र—हेमप्रभ सूरि
२५१ लग्न परीक्षा—उदयप्रभदेव सूरि
२५२ लग्न कुण्डली विचार
२५३ कामधेनु—१६ पत्र
२५४ धीष्णोपचारसार, पत्र संख्या २
२५५ खेलवाड़ी—प्राकृत, माहूया गाथा १३६७
२५६ पल्लीविचार, पत्र संख्या ४
२५७ पल्ली शरद शान्ति—वृद्धगर्गमुनि (श्लो० २०)
२५८ लघुशकुनावली
२५९ शकुनरत्नावली—नगीनदास (श्लो० ११००)
२६० शत सम्वत्सरिका—पत्र ३५
२६१ सिद्धाज्ञा—पद्धत्ति
२६२ अक्षरचूड़ामणि—(संस्कृत) पत्र ३१
२६३ सूर्य-चन्द्र ग्रहण विचार—लिंबी भंडार लिंबी (अहमदाबाद)
२६४ सूर्य-चन्द्र मण्डल विचार—ज्ञानानन्द भण्डार गोपीपुरा में
२६५ प्रश्नशतक—जिनवल्लभसूरी
२६६ अक्षर प्रश्नोत्तर (संस्कृत) पत्र ५
२६७ अक्षरमाला प्रश्न—(संस्कृत) पत्र ८ श्लोक १२०
२६८ अक्षर कण्डिला प्रश्न—अप्र० ग्रंथ, पत्र ४
२६९ अक्षरवर्ग
२७० वर्गाष्टक प्रश्नावली
२७१ ऋषिपुत्र संहिता (संस्कृत-प्राकृत लिखित) ऋषिपुत्र
२७२ गुह्यफलाफल —कन्नड़, ५ ताड़पत्र, श्लो० १२४
२७३ ताजिक प्रबोध—तेलगू
२७४ ग्रहफलादेश—संस्कृत
२७५ चन्द्रार्की—प्राकृत, ११पत्र, गाथा १६२
२७६ जन्मप्रदीप—देवसूरि
२७७ ज्ञान दीपिका—संस्कृत, श्लो ३२०
२७८ गणितसार—संस्कृत, श्रीधराचार्य
२७९ सिद्धान्त शिरोमणि—अजितसागर
२८० षट्खण्ड भूपद्धति—संस्कृत, अजितसागर स्वामी
२८१ कालज्ञान—धर्मसागर
२८२ ज्योतिर्दीपक—संस्कृत, भद्रबाहु
२८३ व्रततिथि निर्णय—संस्कृत, सिंहनन्दि
२८४ ज्योतिर्बोध—तेलगू, कवि भास्कर
२८५ चित्रहसुगे—कन्नड़, राजादित्य सन् ११२०

२८६ लीलावती, राजादित्य
२८७ गुह्यसूत्र ,,
२८८ ग्रहदीपिका—संस्कृत
२८९ जातक फलप्रदीप
२९० नूतनफल
२९१ ऊर्ध्वकाण्ड या ऊर्वकाण्ड (बीजुं)—देवेन्द्रसूरि शिष्य हेमप्रभसूरि
२९२ जम्बूद्वीपजीवा-गणिपाद ८ पत्र
२९३ द्वादशजन्मभावफल—भद्रबाहु
२९४ प्रश्नरत्न सागर—विजयसूरि
२९५ मञ्जरीमकरन्द—भट्टकल्याणक
२९६ समयविचार—अमरकीर्त्ति
२९७ दैवज्ञविलास—लक्ष्मणसूरि
२९८ जातक निर्णय
२९९ जातक योगार्णव
३०० संवेगरंग शास्त्र—प्राकृत, जिनचक्र
३०१ चरणकाण्डक—दुर्गदेव सं० १०८९

इनके अतिरिक्त लगभग १००–१५० ग्रन्थ ऐसे भी तालिकाओंमें मिलते हैं जो समान नाम वाले हैं तथा कर्त्ताओंके नामोंका उल्लेख नहीं है। ज्योतिषसार, ज्योतिषसंग्रह, ग्रहदीपिका, जन्मपत्री-पद्धति ग्रहफल-प्रश्नशतक, आदि नामोंके सैकड़ों ग्रन्थ हैं अतः विना ग्रन्थोंको देखे उनके पृथक्त्वका निर्णय शंकास्पद ही रहे गा।

जैनेतर ज्योतिष ग्रन्थोंपर जैनाचार्योंकी टीकाएं

१ गणित तिलक वृत्ति—सिंहतिलकसूरि, सं० १२२
२ ग्रहलाघव वार्तिक–यशस्वतसागर सं० १६७८
३ कर्णकुतूहल—सुमतिहर्ष, सं० १६७८
४ होरामकरन्द वृत्ति—सुमतिहर्ष
५ ताजिकसार टीका— ,, सम्वत् १६७७
६ लघुजातक टीका–भक्तिलाभ, सम्वत् १५७१
७ लघुजातक वार्त्तिक—मतिसागर, सम्वत् १६०५
८ लघुजातक ठवा—लघुश्यामसुन्दर
९ जातक पद्धत्ति वृत्ति—जिनेश्वरसूरि
१० जातक पद्धत्तिदीपिका—सुमतिहर्ष, सम्वत् १६७३
११ महादेवी सारणी वृत्ति—धनराज, सम्वत् १६९२
१२ ग्रहलाघव टिपण्ण—राजसोम
१३ ज्योतिर्विदाभरण—भावप्रभसूरि, सम्वत् १७६८
१४ षट्पंचाशिका बालावबोध महिमोदय
१५ चन्द्रार्को वृत्ति—कृपाविजय
१६ भुवन दीपकावलि–लक्ष्मीदिव्य, सम्वत् १७६७
१७ मुहूर्त्त चिन्तामणि ठवा—चतुरविजय
१८ चमत्कार चिन्तामणि ठवा—मतिसागर, सम्वत् १८२७
१९ चमत्कार चिन्तामणि वृत्ति—अभयकुशलसूरि
२० वसन्तराज शकुन टीका—भानुचन्द्र गणि
२१ स्त्रीजातक वृत्ति—नारचन्द्र
२२ विवाह पटलबोध—अमरवाणी
२३ विवाह पटल टीका—हर्षकीर्त्तिसूरि
२४ विवाह पटल अर्थ–विद्याहेम, सम्वत् १८३७
२५ जातक दीपिका—हर्षरत्न, सम्वत् १७६५

भारतीय गणितके इतिहासके जैन-स्रोत

श्री डा० अवधेशनारायण सिंह, एम० एस्सी०, डी० एस्सी०, आदि

वर्तमानमें उपलब्ध संस्कृत ग्रन्थ भारतीय ज्यौतिष तथा गणित शास्त्रकी सफलताओंका स्पष्ट संकेत करते हैं अतएव ईसाकी पांचवी शतीसे लेकर आज तकके विकासका इतिहास भी इन परसे लिखा जा सकता है। किन्तु ईसाकी ५ वीं शतीसे पहिले लिखा गया कोई भी संस्कृत ग्रन्थ अब तक देखनेमें नहीं आया है। ५ वीं शतीके पहिले जो गणित अथवा ज्यौतिष ग्रन्थ थे वे छठी शती तथा बादकी शतियोंमें नवीकृत होकर पुनः लिखे गये थे। ६२६ ई०में लिखे गये ब्रह्मस्फुट सिद्धान्तमें ऐसे अनेक ज्योतिष ग्रन्थोंका उल्लेख है जो परिष्कृत हो कर पुनः लिखे गये थे। अतः ५ वीं शतीके पहिले ज्योतिष तथा गणित शास्त्रोंकी अवस्था बतानेवाले कोई भी प्रमाण संस्कृत ग्रन्थोंमें नहीं हैं। यह वह समय था जब संभवतः आर्यभट और उनके पूर्ववर्ती पाटलिपुत्रीय विद्वानोंके प्रभावसे भारतमें अंकोंके 'स्थान मूल्य' का सिद्धान्त प्रचलित हुआ होगा।

अभी कुछ समय पहिले मैं जैन साहित्यमें ऐसी सामग्रीको पा सका हूं जो 'स्थानमूल्य' के सिद्धान्तके पहिलेके अर्थात् ईसाकी ५ वीं शतीसे पूर्वके भारतीय गणित और ज्यौतिषके इतिहासके सम्बन्धमें महत्त्वपूर्ण सूचनाएं देती है। जिन उल्लेखोंका मैं यहां विवेचन करूंगा वे आचार्य श्री भूतबलि—पुष्पदन्त द्वारा विरचित षट्खण्डागम सूत्रोंकी "धवला" टीकामें पाये जाते हैं। जिसका कुछ वर्ष पहिले सुप्रसिद्ध जैन पंडित हीरालालजीने सम्पादन किया है। धवलाटीकामें साधारणतया विविध प्राकृत ग्रन्थोंके उद्धरण हैं। ये उद्धरण ऐसे ग्रन्थोंसे हैं जिनका पठन पाठन वैदिक विद्वानोंने छोड़ दिया था किन्तु जैन विद्वान १० वीं शती तक इनका उपयोग करते रहे थे। ५ वीं शतीमें प्राकृत साहित्यिक भाषा न रही थी और न इसमें उसके बाद कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ही लिखा गया है। अतः मुझे पूर्ण विश्वास है कि जैन ग्रन्थोंमें प्राप्त उद्धरण उन ग्रन्थोंके हैं जो ईसाकी ५ वीं शतीके पूर्व ही लिखे गये थे।

सन् १९१२ में श्री रंगाचार्य द्वारा 'गणितसार संग्रह' के प्रकाशनके बादसे गणितज्ञोंको सन्देह होने लगा है कि प्राचीन भारतमें एक ऐसा भी गणितज्ञोंका वर्ग था जिसमें पूर्ण रूपसे जैन विद्वानोंका ही प्राधान्य था। कलकत्ता गणित-परिषद्—(कलकत्ता मैथमैटिकल सोसाइटी) के विवरणके २१ वें भागमें

श्री बी० दत्तका "जैन गणितज्ञ वर्ग" शीर्षक निबन्ध प्रकाशित हुआ है जिसमें विद्वान लेखकने गणित तथा गणित ग्रन्थोंके विषयकी तालिकाएं दी हैं। फलतः जिज्ञासुओंके लिए यह निबन्ध पठनीय है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि हम उपरि-उल्लिखित 'गणितसार संग्रह' के अतिरिक्त अन्य जैन ज्यौतिष अथवा गणित ग्रन्थोंका अब तक पता नहीं लगा सके हैं। ऐसे ग्रन्थ हैं या नहीं यह भी आज नहीं कहा जा सकता, फलतः जैन गणित विषयक समस्त उल्लेखोंको हम उनके सिद्धान्त ग्रन्थोंसे ही संकलित करते हैं। इस प्रकार प्राप्त उद्धरण भी बहुत कम हैं। इनका भी अपेक्षाकृत विस्तृत वर्णन मुझे सबसे पहिले धवला-टीकामें ही देखनेको मिला है।

धवला टीका हमें निम्न सूचनाएं देती है—१—'स्थान मूल्य' का उपयोग, २—घातांकों (Indices) के नियम, ३—लघु गणकों (Logarithms) के सिद्धान्त, ४—भिन्नोंके विशेष उपयोगके नियम तथा ५—ज्यामिति और क्षेत्रमितिमें उपयुक्त प्रकार।

क्षेत्रफल और आयतनको सुरक्षित रखने वाले 'रूपान्तर' सिद्धान्तका भी जैनाचार्योंने उपयोग किया है। क्षेत्रमितिमें इसका उन्होंने पर्याप्त प्रयोग किया है। धवलामें पाई (π)का ३५५/११३ मूल्य मिलता है। इसको पाईका 'चीनीमान' कहा जाता है किन्तु मेरा विश्वास है कि कतिपय लोगोंने इस मानक इनका चीनमें प्रचलन होनेसे पहिले भी जाना था तथा प्रयोग किया था।

अंकगणित—

'स्थानमान' सिद्धान्त—जैन सिद्धान्त तथा साहित्यमें हम बड़ी संख्याओंका प्रयोग पाते हैं। इन संख्याओंको शब्दोंमें व्यक्त किया गया है। धवला टीकामें आगत उद्धरण ऐसी संख्याओंको अंकों द्वारा व्यक्त करनेकी कठिनाईका उल्लेख करते हैं फलतः उन्हें व्यक्त करनेके कतिपय उपाय निम्नप्रकार हैं—

(क) ७९९९९९९८ को 'वह संख्या जिसके प्रारम्भमें ७, मध्यमें छह बार ९ तथा अन्तमें ८' कह कर व्यक्त किया है।[1]

(ख) ४६६६६६६४ को 'चौंसठ, छहसौ, छयासठ हजार, छयासठ लाख तथा चार करोड़' लिखा है।[2]

(ग) २२७९९४९८ को 'दो करोड़,सत्ताइस, निन्यानवे हजार चार तथा अंठानवे कहा है'।[3]

श्रीधवलाके तृतीय भाग पृ० ९८ पर—

सत्तादी अट्ठंता छण्णव मज्झा य संजदा सव्वे।
तिग भजिदा विगुणिदा पमत्त रासी पमत्ता दु॥

१, धवला, भा० ३, पृ०९८ पर जीवकाण्ड (गोम्मटसार)कीं ५१ वीं गाथा (पृ० ६३३) उद्धृत है।

२, वही, पृ० ९९,गा० ५२।

३, ,, ,, १००, ,, ५३।

यह मूल गाथा मिलती है जो कि प्रथम प्रकारका उदाहरण है तथा पाठकोंके विचार करनेमें विशेष साधक होगी। यह गाथा बतलाती है कि लेखक विद्वान ही अंकोंके 'स्थानमान'को भली भाँति नहीं जानते थे अपितु इस समयके पाठकोंने भी इसे समझ लिया था। यद्यपि इस गाथाके मूल लेखकका अब तक पता नहीं लग सका है तथापि मेरा विश्वास है कि यह ईसाकी प्रारम्भिक शतीमें किसी जैनाचार्य ने ही लिखी होगी। ये आचार्य निश्चयसे ईसाकी ५ वीं शतीसे पहिले हुए होंगे। जैन ग्रन्थोंमें सुलभ उक्त प्रकारके उद्धरण प्राचीन भारतमें प्रचलित 'स्थानमान' सिद्धान्तके महत्त्वपूर्ण ऐसे प्रमाण हैं जो अन्य वैदिक, आदि ग्रन्थोंमें नहीं पाये जाते हैं।

घातांक—अंकोंके 'स्थानमान' के प्रयोगमें आनेसे पहिले बड़ी संख्याओंको व्यक्त करनेके लिए विविध प्रकारोंका अविष्कार किया गया था। यतः जैन वाङ्मयमें बहुत लम्बी लम्बी संख्याओंका प्रयोग किया गया है अतः इन्हें व्यक्त करनेके लिए घातांक नियमानुसारी प्रकार अपनाये गये थे। (१) वर्ग, (२) घन, (३) उत्तरोत्तर वर्ग, (४) उत्तरोत्तर घन, (५) संख्याको स्वयं-घात (Power) बनाना इस प्रक्रियामें प्रधान दृष्टियां थीं। वे 'मूलों'का भी प्रयोग करते थे; विशेषकर (१) वर्गमूल, (२) घनमूल, (३) उत्तरोत्तर वर्गमूल, (४) उत्तरोत्तर घनमूल, आदिका। इनके अतिरिक्त घातोंको वे उपरि लिखित प्रकारों द्वारा ही व्यक्त करते थे। उदाहरणार्थ उत्तरोत्तर वर्ग तथा वर्गमूलको लिखनेका प्रकार निम्न था—

अ का प्रथम वर्ग = $(\text{अ})^{२} = \text{अ}^{२}$

अ का द्वितीय वर्ग = $(\text{अ}^{२})^{२} = \text{अ}^{४} = \text{अ}^{२^{२}}$

अ का तृतीय वर्ग = $\text{अ}^{२^{३}}$

... ...

अ का न स्थानीय वर्ग = $\text{अ}^{२^{न}}$

इस प्रकार—

अ का प्रथम वर्गमूल = $\text{अ}^{१/२}$

,, द्वितीय ,, = $\text{अ}^{(१/२)^{२}}$

,, तृतीय ,, = $\text{अ}^{(१/२)^{३}}$

... ...

न स्थानीय ,, = $\text{अ}^{(१/२)^{न}}$

संख्याको स्वयं अपना ही घात बनानेकी प्रक्रियाकी "वर्गितसंवर्गित" संज्ञा थी तथा किसी संख्याका उत्तरोत्तर वर्गित-संवर्गित निम्न प्रकारसे लिखा जाता था—

अ का प्रथम वर्गित-संवर्गित $= अ^{अ}$

" द्वितीय $= (अ^{अ})^{अ^{अ}}$

" तृतीय " $= \left\{(अ^{अ})^{अ^{अ}}\right\}^{\left\{(अ^{अ})^{अ^{अ}}\right\}}$

इसी प्रकार किसी भी घात तक ले जाया जाता था। वर्गित-संवर्गितकी प्रकियासे बहुत बड़ी संख्याएं बनती हैं। यथा २ का वर्गित संवर्गित$(२५६)^{२५६}$ है। यह संख्या विश्वमें उपलब्ध विद्युत्कणोंकी संख्यासे भी बड़ी है। जैनोंको निम्न लिखित घातांक-नियम ज्ञात थे तथा वे इनका उपयोग भी करते थे।—

(क) $अ^{म} \times अ^{न} = अ^{म+न}$

(ख) $अ^{म} \div अ^{न} = अ^{म-न}$

(ग) $(अ^{म})^{न} = अ^{मन}$

इन नियमोंके प्रयोगोंके उदाहरणोंकी भरमार है। एक रोचक उदाहरण निम्न प्रकार हैं। २ के सातवें वर्गमें २ के छठे वर्गका भाग देने पर २ का छठा वर्ग शेष रहता है। अर्थात्—

$२^{२^{७}} \div २^{२^{६}} = २^{२^{६}}$

लघुगणन—श्री धवलामें निम्न पदोंकी परिभाषाएं दी हैं—

(क) किसी भी संख्याके 'अर्द्धच्छेद' उतने होते हैं जितनी बार वह आधी की जा सके। इस प्रकार $२^{म}$ के अर्धच्छेद = म होगा। अर्द्धच्छेदका संकेत रूप 'अछ' मान कर हम वर्तमान गणन प्रथानुसार कह सकते हैं—

त्व के अच अथवा अछ (त्व) = लग० त्व, जिसमें लघुगणक २ के आधारसे है।

(ख) संख्या विशेषके अर्धच्छेदके अर्धच्छेद बराबर उसकी 'वर्गशलाका' होती है। अर्थात्—

त्व की वर्गशलाका = वश (त्व) = अच $\left\{ अच (त्व) \right\}$ = लग लग त्व, जिसमें लघुगणक २ है के आधार से।

(ग) कोई संख्या जितनी बार ३ से विभक्त की जा सके उसके उतने ही तृकच्छेद होते हैं। फलतः—

त्त के तृकच्छेद = तृच (क्ष) = लग $३^{त्त,}$ यहां लघुगणक ३ के आधारसे है।

(घ) किसी संख्याके चतुर्थच्छेद उतने होते हैं जितनी बार उसमें ४ से भाग दिया जा सके।

त्त के चतुर्थच्छेद = लग $_४$(त्त) जिसमें लघुगणकका आधार ४ होगा।

आजकल गणितज्ञ ए अथवा १०के आधारसे भी लघुगणकका प्रयोग करते हैं। ऊपरके दृष्टान्तोंसे स्पष्ट है कि जैनी २,३ तथा ४ के आधार तक संभवतः लघुगणकका प्रयोग करते थे किन्तु इसका व्यापक प्रयोग उन्होंने नहीं किया है। धवलामें इस बातके निश्चित प्रमाण हैं कि जैनोंको अग्रो लिखित लघुगणक नियम भलीभांति ज्ञात थे—

(१) लग (म/न) = लग म—लग न।

(२) लग (म न) = लग म + लग न।

(३) लग ($_२$म) = म, यहां लघुगणकका अधार २ है।

(४) लग ($त्त^{त्त^२}$) = २ त्त लग त्त।

(५) लग लग ($त्त^{त्त^२}$) = लग त्त + १ + लग लग क्ष।

क्यों कि वामांक = लग (२ त्त लग त्त)

= लग त्त + लग २ + लग लग क्ष

= लग त्त + १ + लग लग त्त।

(२ के आधारसे हुए लग २ के समान यहां १ है।)

(६) लग ($त्त^{त्त}$) $त्त^{त्त}$ = $त्त^{त्त}$ लग $त्त^{त्त}$

(७) माना 'अ' एक संख्या है। तब

अका प्रथम वर्गितसं = $अ^{अ}$ = ब (मान लीजिये)

,, द्वितीय ,, = $ब^{ब}$ = म (,,)

,, तृतीय ,, = $य^{य}$ = द (,,) धवला में निम्न निष्कर्ष मिलते है—

(क) लग ब = अ लग अ

(ख) लग लग ब = लग अ + लग लग अ

(ग) लग य = ब लग ब

(घ) लग लग य = लग ब + लग लग ब

= लग अ + लग लग अ + अ लग अ ।

(च) लग द = य लग य

(छ) लग लग द = लग य + लग लग य, तथा आगे ।

(८)[८] लग लग द ∠ ब[२] । इसकी विषमता आगे भी विषमताको उत्पन्न करती है—

ब लग ब + लग ब + लग लग ब ∠ ब[२] ।

संस्कृत गणित ग्रन्थोंमें इस प्रकारके लघुगणक नियम नहीं मिलते हैं। मेरी दृष्टिसे यह सर्वथा जैनियोंका अविष्कार था और उन्हींने इसका प्रयोग भी किया था। इसकी सारिणी बनानेका कोई प्रयत्न नहीं किया गया था। इसीलिए यह परिष्कृत विचार भी न सिद्धान्त रूपसे विकसित हुआ और न अंकोंके गणनमें सहायक हो सका। सच तो यह है कि उतने प्राचीन युगमें गणित लघुगणकके प्रयोग योग्य विकसित नहीं था। अतः उस युगमें भी इन नियमोंका प्रयोग ही अधिक आश्चर्यकारी है।

भिन्न—जब 'स्थानमान' का प्रयोग नहीं होता था तब भजन या भाग कठिन था। यद्यपि भिन्न सम्बन्धी अंकगणितीय मूल क्रियाएं ज्ञात थीं तथापि गणनामें उनका प्रयोग करना सरल न था। उस समयके अंकगणितज्ञ इसके लिए विविध प्रकारोंकी शरण लेते थे, तथा इनसे बहुत समय बाद मुक्ति मिली थी। स्थानमानके प्रयोगके पहिले प्रयोगमें आये कतिपय प्रकारोंको नीचे दिया जाता है। ये सब भी धवला टीकासे हैं—

(१) $$\frac{न^2}{न \pm (न/प)} = न \mp \frac{न}{प \pm १}$$

(२) म संख्यामें द तथा दा भाजकोंसे भाग दीजिये तथा ख और खा को भजनफल (या भिन्न) आने दीजिये; जैसा कि आगेके गुरूसे म को द ± दा के द्वारा भाग देनेपर आये फलसे स्पष्ट है—

$$\frac{म}{द \pm दा} = \frac{ख}{(खा/ख) \pm १} \text{ अथवा } \frac{ख}{१ \pm (ख - खा)}$$

(३) यदि $\frac{म}{द} = ख$ और $\frac{मा}{द} = खा$, तब द (ख − खा) + मा = म

(४) यदि $\frac{अ}{ब} = ख$, तब $\frac{अ}{ब + \frac{ब}{इ}} = ख - \frac{ख}{न+१}$;

तथा $\frac{\text{अ}}{\text{ब}-\frac{\text{ब}}{\text{न}}} = \text{ख} + \frac{\text{ख}}{\text{न}-१}$

(५) यदि $\frac{\text{अ}}{\text{ब}} = \text{ख}$ तब $\frac{\text{अ}}{\text{ब}+\text{स}} = \text{ख} - \frac{\text{ख}}{\frac{\text{ब}}{\text{स}}+१}$;

तथा $\frac{\text{अ}}{\text{ब}-\text{स}} = \text{ख} + \frac{\text{ख}}{\frac{\text{ब}}{\text{स}}-१}$ । तथा $\frac{\text{अ}}{\text{ब}\cdot\text{स}} = \text{ख} + \frac{\text{ख}}{\frac{\text{ब}}{\text{स}-१}}$

(६) यदि $\frac{\text{अ}}{\text{ब}} = \text{ख}$, और $\frac{\text{अ}}{\text{बा}} = \text{ख}+\text{स}$, तब

$\text{बा} = \text{ब} - \frac{\text{ब}}{\frac{\text{ख}}{\text{स}}+१}$,

और यदि $\frac{\text{अ}}{\text{बा}} = \text{ख}-\text{स}$, तब $\text{बा} = \text{ब} + \frac{\text{ब}}{\frac{\text{ख}}{\text{स}}-१}$

(७) यदि $\frac{\text{अ}}{\text{ब}} = \text{ख}$, तथा $\frac{\text{अ}}{\text{बा}}$ दूसरी भिन्न हो तो

$\frac{\text{अ}}{\text{ब}} - \frac{\text{अ}}{\text{बा}} = \text{ख}\,\frac{(\text{बा}-\text{ब})}{\text{बा}}$

(८) यदि $\frac{\text{अ}}{\text{ब}} = \text{ख}$, और $\frac{\text{अ}}{\text{ब}+\text{क्ष}} = \text{ख}-\text{ख}$ तो

$\text{क्ष} = \frac{\text{ब स}}{\text{ख}-\text{स}}$

(९) यदि $\frac{\text{अ}}{\text{ब}} = \text{ख}$, तथा $\frac{\text{अ}}{\text{ब}-\text{क्ष}} = \text{ख}+\text{स}$, तो

$\text{क्ष} = \frac{\text{ब स}}{\text{ख}+\text{स}}$

(१०) यदि $\frac{\text{अ}}{\text{ब}} = \text{ख}$, तथा $\frac{\text{अ}}{\text{ब}+\text{स}} = \text{खा}$, तो

$\text{खा} = \text{ख} - \frac{\text{ख स}}{\text{ब}+\text{स}}$

(११) यदि $\frac{\text{अ}}{\text{ब}} = \text{ख}$ तथा $\frac{\text{अ}}{\text{ब}-\text{स}} = \text{खा}$, तो

$\text{खा} = \text{ख} + \frac{\text{ख स}}{\text{ब}-\text{स}}$

ज्यामिति एवं क्षेत्रमिति—

भारतीयोंको समानान्तर चतुर्भुज, समलम्ब, चक्रीय, चतुर्भुज, त्रिभुज, वृत्त तथा त्रिज्यखण्डके क्षेत्रफल निकालनेके गुरु ज्ञात थे। इसके अतिरिक्त समानान्तर षड्फलक समतल, आधारयुक्त शूची-स्तम्भ, वेलन, तथा शंकुके आयतन निकालनेके गुरू भी उनसे छिपे न थे। किन्तु वैदिक ग्रन्थोंमें इस बातका कोई अभास भी नहीं मिलता कि ये गुरु किस प्रकार फलित हुए थे। किन्तु धवलामें छिन्न-शंकुका आयतन निकालनेकी सर्वाङ्ग प्रक्रिया तक मिलती है। यह वर्णन स्पष्ट बताता है कि ज्यामितिके अध्ययनकी भारतीय प्रथा ग्रीक प्रथासे सर्वथा भिन्न थी। उक्त दृष्टान्तमें किसी क्षेत्रफल या आयतनको सरलतर क्षेत्रफल अथवा आयतनमें, क्षेत्रफल या आयतनको विना बदले ही विकृत करनेका सिद्धान्त निहित है।
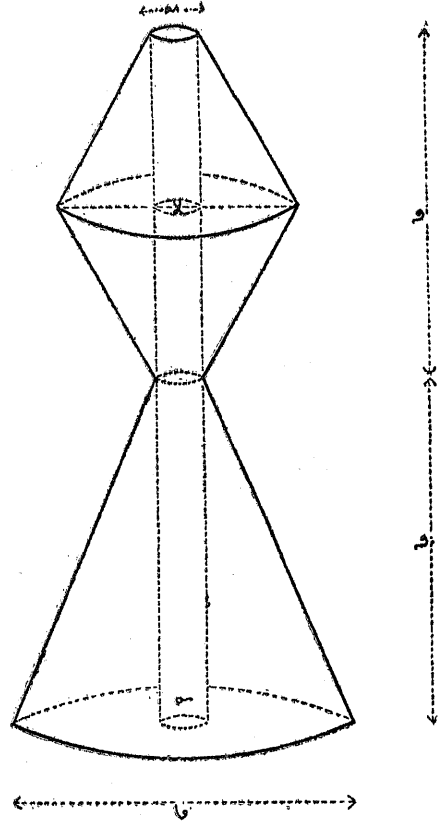
यतः वर्तमानमें वैदिक तथा जैन ग्रन्थोंमें उपलब्ध क्षेत्रमितिके गुरुओंकी उपपत्तिका पुनर्निर्माण शक्य है। अतः यहां पर हम कतिपय उपपत्तियोंका पुनर्निर्माण करेंगे भी, किन्तु ऐसा करनेके पहिले धवला के मूल उद्धरण तथा उसके अनुवादको देख लेना अनिवार्य है—

लोकका आयतन निकालनेका प्रश्न है। जैन मान्यातानुसार लोक नीचे ऊपर रखे गये तीन छिन्न-शंकुओंके आकारका है (देखें आकृति १)। विविध परिमाण आकृतिमें दिखाये गये हैं। धवलामें लोक के आयतनकी गणना की गयी है। नीचे लिखे निष्कर्ष अधोलोक (आकृति २) के छिन्न-शंकु (Frustum) का आयतन निकालनेमें सहायक हैं।

आधारका व्यास = ७ (राजु)

मुख (शिखर) का व्यास = १ ,,

उत्सेध = ७ ,,। धवला टीका निम्न प्रकार है—

'मुखमें (ऊपर) तिर्यक रूपसे गोल तथा आकाशके एक प्रदेश बाहुल्ययुक्त इस सूचीकी परिधि $\frac{३५५}{११३}$ होती है। इस (परिधि) के आधेको विष्कम्भ (एक राजु) के आधेसे गुणा करनेपर

३५५|४५२ आता है। अब हमें लोकके अधोभागका आयतन निकालना है अतः क्षेत्रफल (३५५/४५२) में सात राजुका गुणा करनेपर वह ५$\frac{२२५}{४५२}$ होगा (आकृति २)।'[१]

पुनः चौदह राजु लम्बे लोकक्षेत्रमें से सूचीको निकालकर मध्य लोकके पास उसके दो भाग कर दें। उनमेंसे नीचेके भागको लेकर ऊपरसे (चित्त) पसारने पर वह क्षेत्र सूपाके आकारका होता है। इस सूर्पाकार क्षेत्रका ऊपरका विस्तार (लम्बाई) $\frac{३५५}{११३}$ प्रमाण है। तथा तलकी लम्बाई २१$\frac{११२}{११३}$ है। इसे सात राजु लम्बे मुख-विस्तार द्वारा नीचेकी ओर काटनेपर दो त्रिभुज तथा एक आयत चतुरस्राकार क्षेत्र बन जाते हैं[२]।
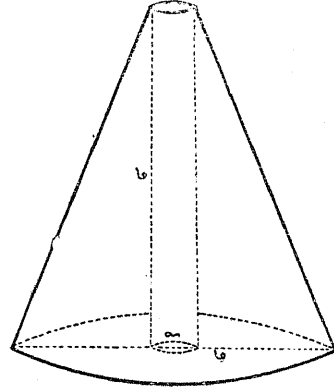
इन तीन क्षेत्रोंमें से बीचके आयत चतुरस्र क्षेत्रका आयतन निकालते हैं। इसकी ऊंचाई सात राजु है। लम्बाई $\frac{३५५}{११३}$ है। मुखमें बाहुल्य आकाशके एक प्रदेश प्रमाण तथा तले (नीचे) तीन राजु प्रमाण है, फलतः मुख विस्तारको सात राजु तथा तल विस्तारके आधे (डेढ़ राजु) से गुणा करनेपर मध्यम भागका आयनत ३२$\frac{२२३}{२२६}$ होगा।[३]

"अब शेष दो त्रिकोण क्षेत्र सात राजु ऊंचे, एक राजुके एकसौ तेरह भागोंमें अड़तालीस युक्त नौ राजु (९$\frac{४८}{११३}$) भुजा (आधार) युक्त हैं। भुजा और कोटिका परिमाण कर्णके अनुपातसे है।

---

१ "एदस्स मुहतिरिय वट्टस्स एगागास पदेस बाहलस्स परिठओ एत्तिओ होदि $\frac{३५५}{११३}$($\frac{३७१}{११३}$) इममद्धेणविक्खं—भद्धे ण गुणिदे एत्तियं होदि $\frac{३७१}{४५२}$ ($\frac{३५५}{४५२}$)। अधोलोग भाग मिच्छामो त्ति सत्तहि रज्जूहिं गुणिदे खायफलमेत्तियं होदि ५$\frac{३३७}{४५२}$(५$\frac{२२५}{४५२}$)। (पृ० १२)

२ 'पुणो णिस्सई खेत्तं चोद्दस रज्जु आयद दो खंडाणि करिय तत्थ हेट्ठिम खंडं घेत्तूण उड्ढं पाटिय पसारिदे सुप्पखेत्तं होऊग चेट्ठदि। तस्स मुहवित्थारो एत्तिओ होदि $\frac{३७१}{११३}$ ($\frac{३५५}{११३}$)। तलवित्थारो ऐतिओ होदि २२$\frac{१७}{११३}$ (२१$\frac{११२}{११३}$)। एत्थ मुहवित्थारेग सत्तरज्जु अपामणे छिंदिदे दो त्रिकोण खेत्तानि एयमायद चतुरस्स खेत्तं च होइ।"
(पृ० १२—१३)

३ 'तत्थ ताव मज्झिमखेत्तफल माणिज्जदे। एदस्स उस्सेहो सत्त रज्जूओ। विक्खभो पुण एत्तिओ होदि $\frac{३७१}{११३}$ ($\frac{३५५}{११३}$)। मुहम्मि एगागासपदेस बाहल्लं तलम्मि तिण्णि रज्जु बाहल्लो त्ति सत्तहि रज्जूहि मुहवित्थारं गुणिय तल बाहल्लद्धेण गुणिदे मज्झिम खेत्तफलमेत्तियं होदि ३४$\frac{१०७}{२२६}$ (३२$\frac{२२३}{२२६}$)।" (पृ० १३)

दोनोंके कर्णोंको बीचमें काटकर दोनों दिशाओंमें सीधी ऊर्ध्वाकार रेखाएं खींचने पर तीन, तीन क्षेत्र बन जाते हैं। (आकृति ३)[1]।"
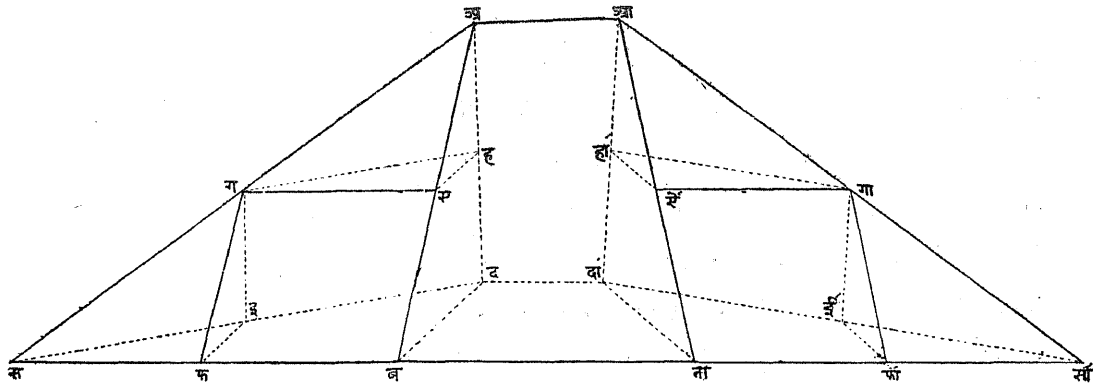
"इनमेंसे दो चतुष्फलकोंमें प्रत्येककी ऊंचाई (ह द तथा हा दा) साढ़े तीन राजु है, लम्बाई (फ ब तथा फा बा) एक राजुके दो सौ छब्बीस भागोंमें से एक सौ इकसठ युक्त चार राजु ($४\frac{१६१}{२२६}$) है, दक्षिण (बा दा) तथा वाम (ब द) दिशामें मोटाई तीन राजु है, दक्षिण तथा वाम ओर ही ऊपर तथा नीचे क्रमशः डेढ़ राजु है और शेष दो कोनोंमें आकाशके एक प्रदेश भर (शून्यवत्) है तथा अन्यत्र क्रमसे घटती बढ़ती है। (अतएव यह सब) निकल आने पर जब एक चतुष्फलक क्षेत्रको दूसरे पर पलट कर रख देते हैं तो सर्वत्र तीन राजु मोटाईयुक्त क्षेत्र हो जाता है। (आकृति ४) इसकी लम्बाईमें ऊंचाई तथा मोटाईका गुणा करने पर $४९\frac{२१७}{४५२}$ क्षेत्रफल आता है।[2]"

अवशेष चार चतुरस्र क्षेत्रोंकी ऊंचाई साढ़े तीन राजु है, उनकी भुजाओंकी लम्बाई योजनके दो सौ छब्बीस भागोंमें से एक सौ इकसठ अधिक चार राजु ($४\frac{१६१}{२२६}$) प्रमाण है। इनके कर्णोंको

---

१ 'संपहि सेस दो खेत्ताणि सत्तरज्जु अवलंबयाणि तेरसुत्तरसदेण एक रज्जुं खंडिय तत्थ अट्ठेतालीस खंड ब्भाहिय णवरज्जु भुजाणि भुजकोडि पाओग्ग कण्णाणि कण्णभूमीए आलिहिय दोसु वि दिसासु मज्झम्मि फालिदे तिण्णि तिण्णि खेत्ताणि होंति।' (पृ० १३-१४)

२ 'तत्थ दो खेत्ताणि अद्धट्ठरज्जुस्सेहाणि छब्बीसुत्तर-वेसदेहि एगरज्जुं खंडिय तत्थ एगट्ठिखंड ब्भाहिय खंड सदें० सादिरेय चत्तारि रज्जु विक्खंभाणि दक्खिण-वामहेट्ठिमकोणे तिण्णि रज्जु बाहल्लाणि, दक्खिण-वाम कोणेसु जहाकमे उमरिम हेट्ठिमेसु दिवड्ढरज्जु बाहल्लाणि, अवसेसदोकोणेसु एगागासबाहल्लाणि, अण्णत्थ कम-वड्ढिगद बाहल्लाणि घेत्तू० तत्थ एगखेत्तुस्सुवरि विदियखेत्ते विवज्जासं काऊण ट्ठविदे सव्वत्थ तिण्णि रज्जु बाहल्लखेत्तं होइ। एदस्स वित्थार मुस्सेहे गुणिय वेहेण गुणिदे खायफल मेत्तियं होई $४९\frac{२१७}{४५२}$।' (पृ० १४)

लेकर दोनों (तल पर तथा ऊपरकी ओर) दिशाओंमें ठीक बीचसे काटने पर चार आयतचतुरस्र तथा आठ त्रिभुज क्षेत्र होते हैं।[1]

इनमेंसे चारों आयत चतुरस्र क्षेत्रोंका घनफल पूर्वोक्त (ऐसे ही) दो आयत चतुरस्रोंके घनफलका एक चौथाई होता है। चारों क्षेत्रोंमें (दो दो को पलट कर मोटाईके अविरोधसे एक साथ रखने पर (सबकी) मोटाई तीन राजु होती है (तथा) पूर्वोक्त क्षेत्रोंकी लम्बाई तथा ऊंचाईकी अपेक्षा इनकी लम्बाई ऊंचाई आधी ही पायी जाती है। चारों क्षेत्रोंकी मिलाकर भी मोटाई किस कारणसे तीन राजु मात्र होती है? प्रकृत क्षेत्रोंकी मोटाई पूर्वोक्त क्षेत्रोंकी अपेक्षा आधी मात्र होनेसे तथा इनकी ऊंचाई भी पूर्वोक्त क्षेत्रोंसे आधी मात्र दिखनेसे।[2]
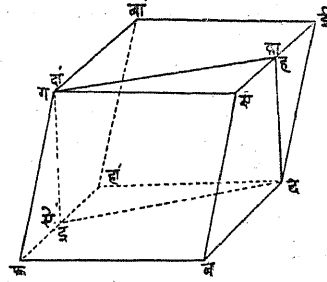
अब शेष आठ त्रिकोण क्षेत्रोंको पूर्ववत् खंडित करने पर पूर्वोक्त त्रिकोणोंसे आधी मोटाई, ऊंचाई तथा लम्बाईके सोलह त्रिकोण क्षेत्र होते हैं। इनको निकाल कर (शेष) आठ आयत चतुरस्रोंका क्षेत्रफल अभी कहे गये (आयतोंके) फलसे एक चौथाई मात्र आता है।[3]

इस प्रकार सोलह, बत्तीस, चौंसठ, आदि क्रमसे तब तक आयत चतुरस्र क्षेत्र बनते जांयगे जब तक कि अविभाग प्रतिच्छेद (प्रदेश) अवस्था नहीं आय गी। तथा इसमें पूर्ववर्ती आयत चतुरस्रोंके क्षेत्रफलसे उत्तरवर्ती (द्विगुणित) आयत चतुरस्रोंका फल एक चौथाई ही हो गा[4]।

इस प्रकारसे उत्पन्न निःशेष क्षेत्रोंके फलोंको जोड़नेकी प्रक्रिया कहते हैं। वह इस प्रकार है—

---

१ 'अवसेस चत्तारि खेत्ताणि अद्धुट्ठरज्जुस्सेहाणि छब्बीस्सुत्तर वेसदेहि एगरज्जु खंडिय तत्थ एगट्ठिसद खंडेहि सादिरेय चत्तारिरज्जु $(४\frac{१}{२}\frac{६}{२}\frac{१}{६})$ भुजाणिकण्णखेत्ते आलिहिय दोसु वि पासेसु मज्झम्मि छिण्णेसु चत्तारि आयद चउरंस खेत्ताणि अट्ठ त्रिकोण खेत्ताणि च होंति।' (पृ० १४-१५)

२ 'एत्थ चदुण्ह मायद चउरंस खेत्ताणं फलं पुव्विल दो खेत्त फलस्स चउब्भागमेत्तं होदि। चदुसु वि खेत्तेसु वाहल्लाविरोहेण एगट्ठं कदेसु तिण्णि रज्जु वाहल्लं पुव्विल्ल खेत्त विक्संभायामेहिं तो अद्धमेत्त विक्खंभायामपमाण खेतु-वलंभादो। किमट्ठं चदुण्हं पि मिलिदाणं तिण्णि रज्जु वाहल्लत्तं? पुव्विल खेत्त वाहल्लादो संपहिय खेत्ताण मद्धमेत्त वाहल्लं होदूण तदुस्सेहं पेक्खिदूण अद्धमेत्तुस्सेह देसंणादो।" (पृ० १५)

३ 'संपहि सेस अट्ठ खेताणि पुव्वं व खंडिय तत्थ सोलस तिकोण खेत्ताणि अणंतरापीदखेत्ताण मुस्सेहादो विक्खभादो वाहल्लादो च अद्धमेत्ताणि अवणिय अट्ठण्हमायद चउरंस खेत्ताणं फल मणंतराइक्कंत चदुखेत्त फलस्स चउभाग मेत्तं होदि।" (पृ० १५)

४ 'एवं सोलस-वत्तीस-चउसट्ठि आदि कमेण आयद चउरंस खेत्ताणि पुव्विल्ल खेत्तफलादो चउभागमेत्त फलाणि होदूण गच्छंति जाव अविभागपलिच्छेदं पत्तं ति।" (पृ० १५-१६)

सभी क्षेत्रोंका घनफल चतुर्गुणित क्रमसे निश्चित आता है (ऐसा मानकर) सबसे अंतिम घनफल को चारसे गुणा करने तथा एक कम उतने (तीन) से ही भाग देने पर ६५ $\frac{१३२०}{१३५६}$ (६५ $\frac{११०}{११३}$) आता है। (अतः) अधोलोकके समस्त क्षेत्रोंका घनफल १०६ $\frac{२६१}{१३५६}$ (१०४ $\frac{२०७}{४५२}$) होता है।[२]

गणितशास्त्रके इतिहासकी दृष्टिसे अधोलोकके इस विवरणमें निम्न तथ्य बड़े महत्वके हैं—

(१) कोई भी वक्र सीमाओं से युक्त क्षेत्र सीधी सीमायुक्त क्षेत्रोंमें ऐसे ढंगसे विभाजित किया जा सकता है कि क्षेत्रफल पर कोई भी प्रभाव न पड़े। विशेषकर यदि अन्तःशून्य (पोला) शंख्वाकार (आकृति २) को सीधी सीमा युक्त (आकृति ३) में परिवर्तित किया जाय तो फलमें कोई परिवर्तन नहीं होता है।

(२) स्पष्ट प्रदर्शन अथवा सिद्धिके लिए आकृति निर्माणका सिद्धान्त सत्य माना गया था। अ ब स द तथा आ बा सा दा (आकृति ३) चतुष्फलकोंके घनफल निकालनेमें इस सिद्धान्तका विशेष रूपसे प्रयोग हुआ है।

(३) ज्यामितिकी श्रेणियोंमें $स = \frac{अ}{१-र}$, र<१।

स = अ+अर+अर^{२}+...अर न +....का गुरू स्वयंसिद्ध मान लिया गया था।

(४) π का मूल्य $\pi = \frac{३५५}{११३}$ स्वीकार कर लिया गया था।

क्षेत्रमितिके गुरुओंकी साधक रचना—

ऊपरके निदर्शनोंमें उपयुक्त आकृति परिवर्तन तथा रचनाके सिद्धान्तोंका भारतीय क्षेत्रमितिमें प्रचलित तथा उपयुक्त निम्न गुरुओंके निकालनेमें उपयोग किया जा सकता है।

क्षेत्रफल—१–परिभाषा–लम्बाईमें चौड़ाईका गुणा करनेपर आयतका क्षेत्रफल आता है।

२–आधारकी लम्बाईमें ऊंचाईका गुणा करनेपर समानान्तर चतुर्भुजका क्षेत्रफल आता है। (आकृति सं. ५)
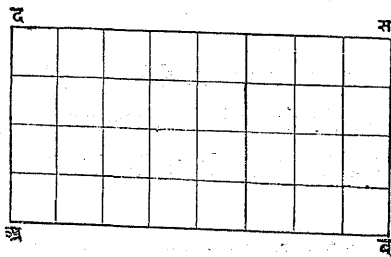
आकृति ५ आकृति ६
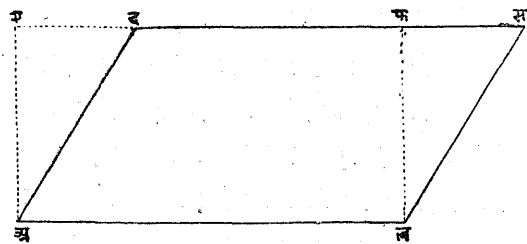
१ 'एव मुप्पण्णासेस खेत्तफल मेलावण विहाणं वुच्चदे। तं जहा सव्व खेत्तफलाणि चउगुण कमेण अवठ्ठिदाणि त्ति काढूण तत्थ अंतिम खेत्तफलं चउहिं गुणिय रूवूणं काऊण तिगुणिद छेदेण ओवट्टिदे एत्तियं होई ६५ $\frac{१३२०}{१३५६}$ (६५ $\frac{११०}{११३}$)। अधो लोगस्य सव्वखेत्त फल समासो १०६ $\frac{२६१}{१३५६}$ (१०४ $\frac{२०७}{४५२}$)।" (पृ० १६)

रचना—(आकृति ६ में) सद पर बफ लम्ब डालनेसे बने ब स फ भागको काटकर दूसरी तरफ अ ए द रूप से जोड़ दीजिये इस प्रकार बनी आकृति आयत होगी और प्रमेय निकल आयगा।

आकृति परिवर्तनका प्रथम नियम—समानान्तर चतुर्भुजकी एक भुजाको अपनी ही सीधमें चलानेसे उसका क्षेत्रफल तदवस्थ रहता है। यथा अ ब स दमें स द भुजाको अपनी ही सीधमें बढ़ाते हुए ए फ रूपमें ले आये हैं और इस प्रकार बना आयत (ए अ ब फ) क्षेत्रफलमें अ ब स द के समान है।

३—आधारकी आधी लम्बाईमें ऊंचाईका गुणा करनेसे त्रिभुजका क्षेत्रफल आता है। यह निष्कर्ष सत्य है क्यों कि उसी आधार पर बने उतनी ही ऊंचाईके समानान्तर चतुर्भुजसे त्रिभुज आधा होता है।

आकृति परिवर्तनका द्वितीय नियम—यदि त्रिभुजका शीर्ष आधारके समानान्तर हटाया जाय तो त्रिभुजका क्षेत्रफल तदवस्थ ही रहता यथा; आकृति ७ है।
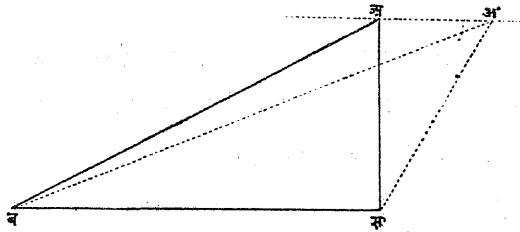
(आकृति ७)

४—आधारकी आधी लम्बाईमें पक्ष (फलक Face) को जोड़कर ऊंचाईसे गुणा करने पर समलम्बका क्षेत्रफल आता; यथा आकृति ८ है।
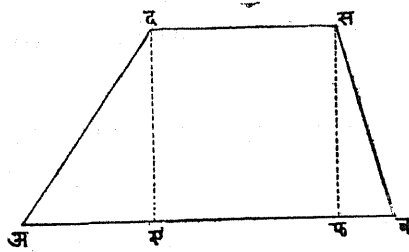
(आकृति ८)

इस आकृतिकी रचनासे परिणाम निकलता है कि आकृति परिवर्तनका सिद्धान्त समलम्बके लिए भी काममें आ सकता है। अर्थात् समलम्बकी एक समानान्तर भुजाको अपनी सीधमें बढ़ानेसे समलम्बके क्षेत्रफल पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

५—वृत्तके त्रिज्य-खण्डका क्षेत्रफल आधे चाप तथा त्रिज्यके गुणनफलके बराबर होता है।

(आकृति ९)
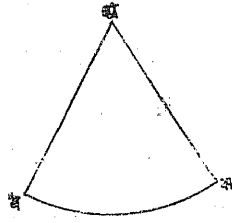
(आकृति १०)
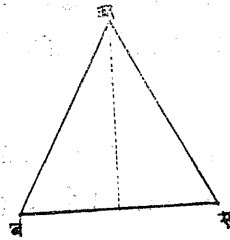
रचना—अ ब स त्रिज्यखंडको (आ० ९) अनेक (संभवतः समान) छोटे त्रिज्य खंडोंमें बांटो और इनके चाप इतने छोटे हों कि उन्हें सीधी रेखासे भिन्न समझना भी कठिन हो। इस प्रकार त्रिज्यखंड अनेक त्रिभुजोंमें विभक्त हो जाता है।

अब इन त्रिभुजोंको बस आधार पर इस तरह रखो कि उनके आधार एक दूसरेसे सटे रहें (आ० १०) और उनके शीर्षों को इस प्रकार चलाओ कि वे अ बिन्दुपर आ मिलें। इस प्रकार त्रिज्यखण्डका क्षेत्रफल अ ब स त्रिभुजके बराबर ही आता है। और बस आधारकी लम्बाई चाप तथा ऊंचाई त्रिज्यखण्डके त्रिज्यके समान होती है।

विकृतिका तृतीय नियम—यदि वृत्तके तृज्यखण्डको ऐसे त्रिभुजमें परिवर्तित किया जाय जिसके आधार और ऊंचाई त्रिज्यखण्डके चाप तथा त्रिज्यके बराबर हों तो क्षेत्रफल तदवस्थ ही रहता है।

कोणके द्विभाजकको केन्द्रपर स्थित रखके तथा वृत्ताकार चापको सीधा करके यह आकृति परिवर्तन किया जाता है।

६—परिधिकी आधी लम्बाईको त्रिज्यसे गुणा करनेपर वृत्तका क्षेत्रफल आता है।

रचना—त्रिज्यके सहारे (त्रिज्य परसे) वृत्तको काटकर इसे त्रिकोण रूपसे फैला दीजिये तो वृत्तका क्षेत्रफल इस त्रिकोणके समान हो गा। क्योंकि आधार परिधिके और ऊंचाई त्रिज्यके बराबर होनेसे उक्त फल स्वयंसिद्ध है।

(ब्लोम) उपसिद्धान्त—अ तथा ब त्रिज्यायुक्त दो समकेन्द्रक वृत्तों तथा दोनों त्रिज्योंसे

सीमित क्षेत्रका क्षेत्रफल उस समवलम्बके बराबर होता है जिसकी समानान्तरभुजाएं दोनों वृत्तोंके चापके बराबर होती हैं तथा ऊंचाई दोनों वृत्तोंके त्रिज्योंके अन्तरालके बराबर होती है।

(आकृति ११)
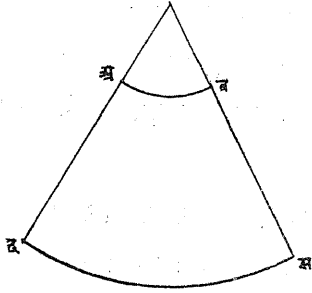
(आकृति १२)
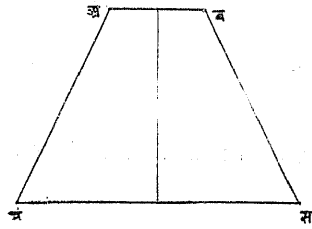
आयतन—

७ परिभाषा—समकोण षड्फलकका आयतन उसकी लम्बाई चौड़ाई तथा मोटाईका उत्तरोत्तर गुणा करनेसे आता है।
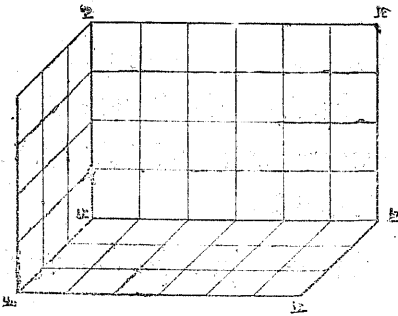
(आकृति १३)
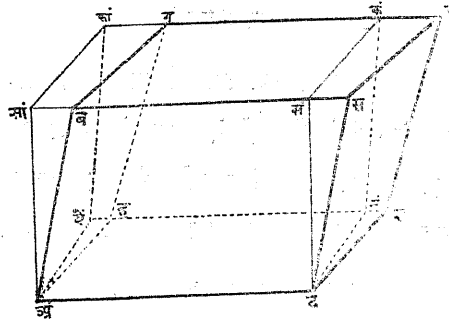
(आकृति १४)

८—षड्फलकका आयतन इसके आधारके वर्गमें ऊंचाईका गुणा करनेपर आता है।

रचना—आकृतिके संकेतानुसार द म सं फं फ ए एं भागको काटकर दूसरी ओर ले जानेपर समानातन्र षड्फलक समकोण—समानान्तर षड्फलक हो जाता है। आकृतिमें दो फलक समकोणीय और और दो धरातलीय हैं। अगर ये समकोणीय न होते तो ऊपरकी एक पुनरावृत्ति करनेसे समानान्तर षड्-फलक; समकोण समानान्तर षड्फलक हो जायगा।

विकृतिका चतुर्थ सिद्धान्त---यदि समानान्तर षड्फलकके एक फलकको उसके धरातलपर हटाया जाय तथा सामनेके फलकको तदवस्थ रखा जाय तो स० षड्फलकके आयतनमें कोई अन्तर नहीं पड़ता है। इसके अनुसिद्धान्त रूपसे हम कह सकते हैं---

९---आधारके क्षेत्रफलमें ऊंचाईका गुणा करनेसे समपार्श्व (Prism) का आयतन आता है।

१०---आधारके क्षेत्रफलमें ऊंचाईका गुणा करनेसे सम-अनुप्रस्थ परिच्छेदयुक्त वेलनका आयतन निकलता है।

११---आधारके तृतीयांशके क्षेत्रफलमें ऊंचाईका गुणा करने पर चतुष्फलकका आयतन निकलता है। कारण त्रिकोणात्मक आधार पर बनाया गया समपार्श्व तीन समान चतुष्फलकोंमें विभक्त किया जा सकता है।

उपरि अंकित आकृतिमें चतुष्फलकका आयतन निकालनेके प्रकारका दूसरा विकल्प भी बताया है।

(आकृत १५)

१२---आधारके तृतीयांशके वर्गमें ऊंचाईका गुणा करने पर शूचीस्तम्भका आयतन आता है।

रचना---शूचीस्तम्भको अनेक चतुष्फलकोंमें विभक्त किये जा सकनेके कारण उक्त निष्कर्ष आता है।

१३---सम-शंकुके आधारके क्षेत्रफलमें ऊंचाईका गुणा करनेपर उसका आयतन आता है।
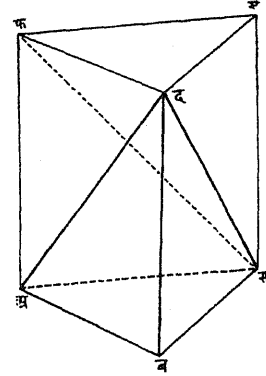
रचना---आधारकी त्रिज्याके सहारे ऊर्ध्वाकार रूपसे शीर्षतक शंकुको काटिये, फिर इसे ऐसा बढ़ाइये कि आधार आकृति ६ के त्रिभुजमें परिवर्तित हो जाय। इस प्रकार शूचीस्तम्भ चतुष्फलकमें परिवर्तित होता है। इस चतुष्फलकका आयतन आधारके तृतीयांशके क्षेत्रफलमें ऊंचाईका गुणा करने पर आता है। और उक्त निष्कर्षकी पुष्टि करता है।

यह परिणाम विकृति-नियम चारके अनुसार सम-विषम, वर्तुल-अवर्तुल सभी शंकुओंके लिए उपयुक्त है।

१४---यतः आधारकी समतल समानान्तर रेखासे शंकुको (बाकी) काटनेसे छिन्न-शंकु बनता है अतः उसका आयतन व्यवकलन पद्धतिसे निकाला जा सकता है। छिन्न-शंकु ज्ञात होनेसे उस मूल शंकुका पता अवश्य लग जाना चाहिये जिसे काटकर छिन्न-शंकु बना है। किन्तु धवलाकार ऐसा न करके उस रचना तथा विकृतिके सिद्धान्तोंके सहारे छिन्न-शंकुका सीधा आयतन निकालते हैं जिसके पुनर्निर्माण का मैंने यहां प्रयत्न किया है।

कल्पना कीजिए कि अ तथा ब छिन्न-शंकुके आधार तथा ह ऊंचाई है। इसमें से ब त्रिज्या तथा ह ऊंचाईका वेलन अलग करके रचना तथा विकृति करते हुए 'आकृति तीन'में दत्त पिण्ड प्राप्त होता है। इस आकृतिमें--

$$\text{अ आ} = \text{ब बा} = \text{२}\pi\text{बं}$$

$$\text{ब द} = \text{बा दा} = \text{अं} - \text{बं}$$

$$\text{ब स} = \text{बा सा} = \pi(\text{अं} - \text{बं})$$

$$\text{अ द} = \text{आ दा} = \text{ह}$$

इस पिंडको अ तथा आ के बीचसे जाने वाली समतत ऊर्ध्वाकार रेखाओं द्वारा तीन भागोंमें बांट देते हैं। तब अ ब द दा बा आ समपार्श्व और अ ब स द तथा आ बा सा दा ये दो समान चतुष्फलक बन जाते हैं। त्रिकोणात्मक आधार अ ब द पर स्थित २ π बं ऊंचाई युक्त अ ब द दा बा आ समपार्श्वका आयतन--

$$\frac{\text{१}}{\text{२}}\,\text{ब द} \times \text{अ द} \times \text{२}\pi\text{बं}$$

$$= \frac{\text{१}}{\text{२}}(\text{अं} - \text{बं}) \times \text{ह} \times \text{२}\pi\,\text{बं}$$

$$= \pi\text{बं हं}(\text{अं} - \text{बं}) \ldots\ldots\ldots (\text{प्र}) \text{ है।}$$

दोनों चतुष्फलकोंके आयतनका योग होता है--

$$\text{२} \times \frac{\text{१}}{\text{३}} \times \frac{\text{१}}{\text{२}}\,\text{ब द} \times \text{ब स} \times \text{अ द}$$

$$= \frac{\text{१}}{\text{३}} \times (\text{अं} - \text{बं}) \times (\text{अं} - \text{बं})\pi \times \text{हं}$$

$$= \frac{\text{१}}{\text{३}}\pi(\text{अं} - \text{बं})^{\text{२}} \times \text{हं} \ldots\ldots (\text{द्वि})$$

अतएव छिन्न-शंकुका आयतन होता है--

$$\pi\,\text{बं}^{\text{२}}\,\text{हं} + \pi\text{बं हं}(\text{अं} - \text{बं}) + \frac{\text{१}}{\text{३}}\pi(\text{अं बं})^{\text{२}} \times \text{हं}$$

$$= \frac{\text{१}}{\text{३}}\pi\text{हं}\left\{\text{३ बं}^{\text{२}} + \text{३ अं बं} - \text{३ बं}^{\text{२}} + \text{अं}^{\text{२}} + \text{बं}^{\text{२}} - \text{२ अं बं}\right\}$$

$$= \frac{\text{१}}{\text{३}}\pi\text{हं}\left\{\text{अं}^{\text{२}} + \text{बं}^{\text{२}} + \text{२अं बं}\right\} \text{ यह प्रसिद्ध गुरु है।}$$

अनन्त प्रक्रिया—

दोनों चतुष्फलकोंका आयतन तो सीधे ही निकल आया है। प्रत्येक चतुष्फलकको अ ब (आ बा) के मध्यबिन्दु ग (गा) में से ऊर्ध्वाकार समतल रेखाएं खींचकर तीन भागोंमें विभक्त कर दिया है। ब द ह ए ग इ फ तथा बा दा हा ऐ गा ई फा पिण्डोंको एक दूसरे पर रखनेसे त्रिकोणात्मक आधार पर हं ऊंचाईका समानान्तर चतुर्भुज बन जाता है।

ब द = (अं = बं)

तथा वफ = $\frac{}{२}\pi$ (अं — बं)

कल्पना कीजिये कि इस समानान्तर चतुर्भुजका आयतन क है। अर्थात्—

क = $\frac{१}{२}\pi$ (अं — बं)^{२} × $\frac{१}{२}$हं

= $\frac{}{४}\pi$ (अं — बं)^{२} × हं

उक्त रचनामें प्रदर्शित चारों चतुष्फलकोंमेंसे प्रत्येकके भुजाके मध्यबिन्दुमें से समतल ऊर्ध्वाकार तल खींचकर तीन भाग करिये। इस प्रक्रिया द्वारा ब द ह ए ग इ फ समान चार पिंड तथा आठ चतुष्फलक और उत्पन्न होते हैं। इन चारों पिण्डोंको एक साथ रखनेसे एक समानान्तर चतुर्भुज बनता है जिसका आयतन पूर्वोक्त (स० च०) के आयतनका चतुर्थ भाग होता है अर्थात् इसका आयतन $\frac{१}{४}$ क है। इस क्रमसे उत्तरोत्तर निम्नांकित आयतन आते हैं—

क, $\frac{१}{४}$ क, $\frac{१}{४^{२}}$ क, $\frac{१}{४^{३}}$ क, ...

इनका योग होगा—

क $\left(१ + \frac{१}{४} + \frac{१}{४^{२}} + \frac{१}{४^{३}} + \ldots\ldots \right)$

$= \frac{४ क}{३}$

यतः क $\frac{१}{४}\pi$ (अं - बं)^{२} के समान मान लिया गया है अतः—

$\frac{४क}{३} = \frac{१}{३}\pi$ (अं - ब)^{२} हं = दोनों चतुष्फलोंका आयतन।

पूर्वोक्त विधिसे उत्तरोत्तर रचना क्रम चालू रखनेसे चतुष्फलकोंका आयतन घटता ही जाता है। और अनन्त रचना करनेसे बिन्दु मात्र रह जाता है। अतएव धवलाकारने ठीक ही कहा है कि चतुष्फलक बिन्दु मात्र रह जानेके कारण उनका आयतन शून्य हो जाता है। अतएव अ ब स द तथा आ बा सा दा दोनों चतुष्फलकोंमें प्रत्येकका आयतन होता है—

$\frac{१}{६}\pi$(अं - बं)^{२} × हं

= $\frac{१}{३}$ × $\frac{१}{२}\pi$(अं - बं) × (अं - बं) × हं

= $\frac{१}{३}$ × आधारका वर्ग × उत्सेध

इस विवेचनमें उल्लेखनीय तथ्य ये हैं—

(१) रचनाके अनन्त अनुक्रमका निश्चित प्रयोग तथा (२) अनन्त श्रेणीके योगके गुरुका निश्चित प्रयोग।

प्राचीन भारतीय गणितज्ञोंने अनन्तक्रमके उपयोगको कैसे सिद्ध किया था यह हम संभवतः कभी न जान सकेंगे। फलतः भारतीय गणितज्ञ ८ वीं ९ वीं शती ई० सदृश प्राचीन समयमें भी अनन्त क्रमका उपयोग करते थे कह कर ही हमें संतुष्ट होना पड़ता है।

$$\text{अब}\ \frac{६२८३२}{२००००} = ३ + \frac{१}{७ + \frac{१}{१६} + \frac{१}{११}}$$

इसके उत्तरोत्तर संसृत ३, $\frac{२२}{७}$ तथा $\frac{३५५}{११३}$ हैं।

$\frac{२२}{७}$ के मूल्यांकनका ग्रीक विद्वानोंने प्रयोग किया था अतएव इसे π का ग्रीक मूल्य कहते हैं। आर्यभट्टके अंकनमें यह दूसरा संसृत है तथा भारतमें ही आर्यभट्ट द्वि० तथा भास्कर द्वि० ने इसका π का स्थूल मूल्य कह कर प्रयोग किया है।

तृतीय संसृत $\frac{३५५}{११३}$ का वैदिक गणितज्ञों तथा ज्योतिषियोंने बहुत कम उपयोग किया है। सत्रहवीं शती ई० के चीनी विद्वानोंके ग्रन्थोंमें पाये जानेके कारण पाश्चात्य विद्वान इसे π का 'चीनी मूल्य' कहते हैं। किन्तु धवलाकार श्री वीरसेनने अपनी रचना ८ अक्टूबर ८१६ ई० को समाप्त की थी। किन्तु उन्होंने इस $\pi = \frac{३५५}{११३}$ मूल्यांकनका प्रयोग करते हुए इसके समर्थनमें प्राचीनतर गाथा[1] का प्रयोग किया है जिसकी संस्कृत छायाके अनुसार विशुद्ध अनुवाद होगा—

"व्यासमें १६ से गुणा करके १६ जोड़कर तीन—एक-एक[2] (११३) से भाग देकर व्याससे तिगुनेको जोड़नेसे 'सूक्ष्मसे सूक्ष्म' (परिधि) निकल आता है।"

$$\text{प} = ३\text{व्या} + \frac{१६\ \text{व्या} + १६}{११३}$$ (इसमें प तथा व्या क्रमसे परिधि तथा व्यासके लिए प्रयुक्त हैं।)

उक्त गाथार्थकी वीरसेन निम्न व्याख्या करते हैं—

$$\text{प} = ३\ \text{व्या} + \frac{१६\text{व्या}}{११३} = \frac{३५५\ \text{व्या}}{११३}$$

अर्थात् $\pi = ३\frac{१६}{११३} = \frac{३५५}{११३}$। यह व्याख्या तब तक ठीक न होगी जब तक 'षोडश सहितम्' का अर्थ "१६ बार जोड़ा गया" न किया जाय। इस प्रकार गाथाका अर्थ होगा—

"१६ से गुणित व्यास,—अर्थात् सोलह बार जोड़ा गया—में तीन-एक-एकका भाग देकर व्यासका तिगुना जोड़ देनेसे सूक्ष्मसे सूक्ष्म (परिधि) निकल आती है।"

पाई (π) का मूल्य—

'वृत्तको वर्गाकार' बनानेका प्रश्न; अथवा भारतीय धार्मिक दृष्टिसे अधिक मौलिक एवं महत्वपूर्ण 'वर्गको वृत्ताकार' बनानेका प्रश्न वैदिक यज्ञ यागादिके साथ ही उत्पन्न हुआ था तथा अत्यन्त

---

१ —"व्यासम् षोडश गुणितं षोडशसहितं त्रि-रूप-रूपैरविभक्तम्। व्यासं त्रिगुणित सहितं सूक्ष्मादपि तद् भवेत् सूक्ष्मम्॥"

२—'अंकानां वामतो गतिः' अतः। एक-एक-तीन (११३) संख्या होगी।

महत्त्वपूर्ण बन गया था। संभवतः यह प्रश्न ऋक्वेदके सर्व प्रथम मन्त्रके साथ ही (ईसासे ३००० वर्ष पूर्व) उठा होगा। गार्हपत्य, आहवनीय, तथा दक्षिणा नामकी प्रारम्भिक तीनों वेदियोंका क्षेत्रफल समान होने पर भी उनके आकार विभिन्न—वर्ग, वृत्त तथा अर्धवृत्त—होना आवश्यक था। तैत्तिरीय संहितामें रथचक्र चिति, समुह्य चिति, परिचय्य चिति नामोंसे उल्लिखित पांच वेदिकाओंको एक ऐसा वृत्त बनाना चाहिये जिसका क्षेत्रफल ऐसे वर्गके समान हो जिसका क्षेत्रफल $7\frac{1}{2}$ होता है। उन दिनों का मूल्य ३ तथा ३·१ के बीचमें घटता बढ़ता रहता था[१]।

'π का मूल्य$=\sqrt{१०}$' का सबसे पहिले जैनाचार्योंने ही प्रयोग किया था ऐसा प्रतीत होता है। इसका उमास्वामिने प्रयोग किया था जो कि प्रथम शती ई० पू० में हुए हैं। वे कहते हैं—

"व्यासके वर्गको दशसे गुणा करके वर्गमूल निकालने पर परिधि आती है। तथा उसमें व्यासके वर्गका गुणा करने पर क्षेत्रफल निकलता है[२]।"

यह अंकन ($\pi=\sqrt{१०}$) इतना लोकप्रिय हुआ कि उत्तरकालीन ब्रह्मगुप्त (६२८), श्रीधर (ल० ७५०), महावीर (ल० ८५०), आर्यभट्ट द्वि० (ल० ९५०), आदि वैदिक गणितज्ञों एवं ज्योतिषियोंने भी इसका खूब प्रयोग किया है।

$\pi=\frac{६२८३२}{२००००}$ का आर्यभट्ट प्र० ने प्रयोग किया है। वे कहते हैं कि २०००० व्यासयुक्त वृत्तकी परिधिका स्थूल प्रमाण १०० धन ४ में ८ का गुणा करके ६२००० जोड़नेसे आता है[३]।

हम देखते हैं कि 'सहितम्' का प्रयोग जोड़ तथा गुणा—अर्थात् संख्याका बारम्बार योग—दोनों अर्थोंमें वेदांग ज्योतिषमें किया गया है किन्तु आर्यभट्ट (४९९) तथा दूसरे गणितज्ञोंने इन दोनों अर्थोंमें इसका प्रयोग नहीं किया है। इसके आधारपर यही अनुमान किया जा सकता है कि उक्त उद्धरण ई० की पांचवीं शतीसे पहिले ही लिखा गया होगा जब कि 'सहितम्' का प्रयोग-योग तथा गुणा-दोनों अर्थोंमें प्रचलित था। अतः स्पष्ट प्रतीत होता है कि $\pi=\frac{३५५}{११३}$ तथोक्त चीनी मूल्यांकन भारतमें प्रचलित था; और संभवतः चीनसे बहुत पहिले। यह भी संभव है कि बौद्ध धर्मप्रचारकों द्वारा यह चीनको प्राप्त हुआ हो अथवा यह भी सर्वथा असंभव नहीं है कि उन्होने स्वतंत्र आविष्कार किया हो।

उक्त उद्धरणमें दूसरी महत्त्वपूर्ण बात 'सूक्ष्मादपि सूक्ष्मं' है। इसका यही भावार्थ होता है कि π का सूक्ष्म मूल्य ज्ञात था जो कि $\pi=\sqrt{१०}$ अथवा $\pi=\frac{३२}{९}$ थे। यदि तृतीय संसृत दूसरेका समीपतर संन्निकटीकरण है तो आर्यभट्के मूल्यसे इसका सम्बन्ध भी स्पष्ट है।

१—विशेष परिचय के लिए कलकत्ता विश्व विद्यालयके श्री बी० बी० दत्तका 'दी साइन्स ओफ सुल्वा (The Science of Sulba.) १३२. द्रष्टव्य हैं।

२—उमास्वामिकृत तत्त्वार्थसूत्र का सन् १९०३ में श्री के० पी० मोदी द्वारा प्रकाशित कलकत्ता संस्करण ३, २ भाष्य। अभी पता लगा है कि भाष्यसे प्राचीनतर प्राकृत ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख है।

३—आर्यभट्ट, द्वि०, १०।

आयुर्वेदका मूल प्राणवाद--पूर्व

श्री पं० कुन्दनलाल न्यायतीर्थ, आदि

प्रारम्भ—

जैन काल-गणनानुसार अवसर्पिणी युगचक्रके पहिले तीन कालोंमें भोगभूमि रहती है। चौथे कालके साथ कर्मभूमि प्रारम्भ होती है और संभवतः उसीके साथ अन्नाहार तथा साबाध जीवन भी। फलतः त्रिदोषका कोप हुआ और जनता बहुत भीत[1] हो गयी। वे इस युगके आदिपुरुष भगवान ऋषभदेवके पास गये और उनसे समझ सके कि किसी देवी देवताके प्रकोपके कारण नहीं, अपितु जीवनमें व्यतिक्रमके कारण ही वे रोगी हुए हैं। अदिपुरुषने बताया कि आयुके लिए क्या हित कारक है और क्या अहितकारक है। इन दोनों से किस प्रकार क्रमशः रोग शान्त तथा उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार आत्मा तथा शरीरका सम्बन्ध जीवन (आयु), उसमें होने वाले उपद्रवोंका निदान तथा उनकी शान्ति रूप चिकित्सा मय शास्त्र आयुर्वेद[2]का प्रारम्भ हुआ।

संसारके समान अयुर्वेद भी अनादि अनन्त है। तथापि आधुनिक ऐतिहासिक परम्पराके अनुसार उपलब्ध पुरातत्त्व सामग्री के आधारसे भी आयुर्वेदका विचार किया जाय तो हम देखते हैं कि ऋग्वेदमें भी अनेक शस्त्र क्रियाओं तथा मणि-मंत्र औषधियोंके उल्लेख है। चन्द्रमाके क्षय तथा श्वित्रकी चिकित्सा, च्यवन ऋषिकी पुनर्यौवन प्राप्ति ही कथाओंने अश्विनीकुमारोंको वैद्योंका ब्रह्मा बना दिया है। अथर्ववेदमें मणिमंत्र औषधितंत्रकी भरमार सी है। और अग्निवेश-संहित आदिकी तो कहना ही क्या है। वेद भी आगे जाकर यदि देखा जाय और अद्यावधि प्रचलित मान्यताको ही 'बाबावाक्यं' न माना जाय तो जैन वाङ्मय के बारहवें अंग दृष्टिवादके भेद पूर्वगतमें १२ वां भेद 'प्राणवाद' है। इस प्राणवादमें अष्टांग शरीरविज्ञानका जो वर्णन है वह ऐतिहासिक दृष्टिसे भी आयुर्वेद को सुदूर भूतकाल तक ले जाता है। यह प्राणवाद ही आयुर्वेदका मूल स्रोत है। वेदादि ग्रन्थोंमें उपलब्ध आयुर्वेदका स्पष्ट उल्लेख संकेत करता है कि इनके पूर्व आयुर्वेदका सांगोपांग विवेचन हो चुका था।

---

१ "..अनवत्यं परमायुष एव लोके तेषां महद्भयमभूदिह दोषकोपात्।"

२ "आयुर्हिताहितं व्याधेर्निदानं शमनं तथा..रेष आयुर्वेद इति स्मृतः।"

चिकित्सा प्रकार—

आयुर्वेदिक चिकित्सा (१) काय तथा (२) शल्य चिकित्साके भेदसे दो प्रकारकी है। इन दोनों को ही १–काय, २– बाल, ३–ग्रह ४–ऊर्ध्वांग या शालाक्य, ५–शल्य, ६–दंष्ट्रा, ७–जरा तथा ८–वृष के भेदसे ग्रहण करने पर इनकी संज्ञा अष्टांग आयुर्वेद हो जाती है। अष्टांगका विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि सप्तधातु, त्रिदोष और रक्तसे होने वाले दोषोंके प्रतिकार से लेकर भूत, ग्रह, आदि तक की चिकित्सा पद्धति प्राचीन भारतमें सुविकसित हो चुकी थी।

शल्य चिकित्सा भी कोरी कल्पना न थी अपितु इसकी वास्तविकता तथा सर्वाङ्गीण विकास सुश्रुत, आदि ग्रन्थों से हाथका 'कंगन' हो जाती है। जिस समय 'सरजरी' के सर्जकों को मछली भूनकर खाना नहीं आता था उस सुदूर भूतमें भारतके चिकित्सक बद्धगुदोदर, अश्मरी, आवृद्धि, भगंदर, मूढ़गर्भ, आदिका पाटन (ओपरेशन) करते थे।

वात, पित्त तथा कफ इन तीनों दोषों, रस रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र इन सात धातुओं, दूष्यके ही अन्तर्गत मलमूत्रादि, वातादिके स्थान लक्षण, आदिके विवेचन लघुकाय लेखमें स्पष्ट संभव नहीं हैं। तथा अभिनन्दन ग्रन्थ ऐसे बौद्धिक आयोजनों को प्रत्येक विषयकी ज्ञान धारामें वृद्धि करना चाहिये। फलतः आयुर्वेद के प्रेमियों तथा विचारकों के लिए 'जैन वाङ्मयमें आयुर्वेदके स्थान' का संकेत ही पर्याप्त है।
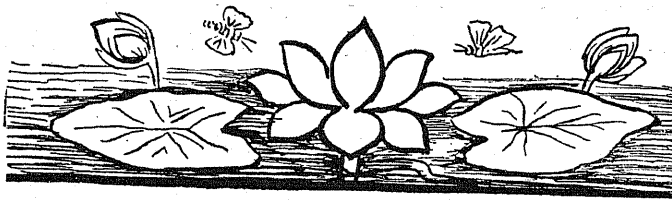
स्वास्थ्यके मूल आधार

श्री विट्ठलदास मोदी

एक भ्रान्ति–

प्रायः लोगों का ख्याल है कि स्वास्थ्य सौभाग्यसे प्राप्त होता है और रोग दुर्भाग्य की निशानी है; जब कि बात ऐसी कतई नहीं है। न स्वास्थ्य आसमानसे टपक पड़ने वाली चीज है न रोग ही। हम एक साइकिल या मोटरकार खरीदते हैं उसे ठीक दशामें रखने के लिए, उससे ठीक काम लेने के लिए हमें उसके अंग प्रत्यंगसे परिचित होना पड़ता है। हमें जानना पड़ता है कि हमें कब कहां और कितना तेल देना चाहिए और उनका इस्तेमाल कैसे करना चाहिए ताकि अपनी पूरी अवधि तक हमें अच्छी तरह काम दे सकें। शोक है कि शरीर रूपी अमूल्य मशीनके बारेमें हम कभी कुछ जानने की कोशिश नहीं करते उसे न अच्छी तरह चलानेकी ही विधि सीखते हैं। फलतः रोग आते हैं और इसके चलते रहने पर ही साधारणतः लोग इसे स्वास्थ कहते हैं। इससे बढ़िया और पूरा काम नहीं लिया जा सकता।

दुःख तो इस बात का है कि कुछ लोग स्वास्थ्य के ठेकेदार बन गये हैं, उन्होंने डाक्टर, वैद्य और हकीम की संज्ञा ले ली है। वे कहते हैं बीमार पड़ने पर हमारे पास आओ, हम तुम्हें रोगसे मुक्त कर देंगे। यद्यपि खुल्लमखुल्ला वे यह घोषित नहीं करते कि 'जैसे चाहो रहो,जो चाहो करो। आहार-विहार के कुछ नियम जाने-सुने हों तो उन्हें तोड़ो। इससे होने वाले नुकसान को दूर करने का हम जिम्मा लेते हैं।' अन्य व्यापारियों की तरह ये व्यापारी हैं और आज के व्यापारी से दया, धर्म और ईमानदारी कितनी दूर चली गयी है यह बतानेकी जरूरत नहीं है। फिर भी व्यापार करने वाले स्वास्थ्यके ठेकेदार धनके लोभमें ऐसा न कहें, ऐसा न करें; तो क्या करें ?

प्रकृतिकी गोदमें–

ऐसी दशामें हमें प्रकृति से पथ-प्रदर्शन प्राप्त करना होगा। जिस प्रकृति-पुरुष का प्रकृतिके साथ सामंजस्य था उसके जीवन का अध्ययन करना होगा। हम उसकी संतान हैं, उसकी आदतोंके अनुसार चलकर ही हम स्वस्थ रह सकते हैं और खोया स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। पाश्चात्य विद्वानोंके मतसे मनुष्य अपने आदि कालमें शिकारपर जीवन बसर करता था। शिकार किया, माँस खाया।

न उसे उसके साथ किसी अन्य चीज की जरूरत थी न शिकार ही नियमित था। ऐसी दशामें उसे कई दिन तक भूखों रहना पड़ता था। कंदमूल,फल ग्रहण करते समय भी वह कोई बहुत तरहके फल या कंद इकट्ठे नहीं करता था, जो जिस जगह मिला, खाया। जब वह पशुपालक हुआ तब उसे दूध भी मिलने लगा, और खेती करना सीखने पर भोजन पानेके लिए उसे अपने एंड़ी-चोटी का पसीना एक करना होता था। उसके इस स्वाभाविक जीवनमें हम यह देख सकते हैं कि उसे अपना भोजन प्राप्त करनेके लिए घोर परिश्रम करना पड़ता था और वह एक बारमें एक ही चीज खाता था। अतः यदि हम आज स्वस्थ रहना चाहते हैं तो हमें श्रम-शील होना चाहिए और अपना भोजन सादा रखना चाहिए। सादेसे मतलब यह है कि कुदरत जो चीज जैसी पैदा करती है उसी दशामें उसे ग्रहण करें। अन्न ऐसा खाद्य जिसे पचाने की ताकत आज हममें नहीं रह गयी है उन्हें हम पकाकर खांय पर इसका यह मतलब नहीं है कि घी, तेल, चीनी सी दस चीजें इकठ्ठी करके उनसे एक चीज बना कर उसे ग्रहण करें। दूध को दूधकी तरह लें, मलाई, घी, रबड़ी बनाकर नहीं। गन्ना जब मिले उसे लें पर उसे चीनीके रूपमें परिवर्तित कर साल भरके लिए जमा न करें। हर ऋतुमें नये खाद्य आते हैं, ऋतुसे उनका और हमारा संबंध होता है। जो चीज जब पैदा हो तब उसे हम ग्रहण करें।

बुद्धिजीवीके लिए आज श्रमजीवीका जीवन ग्रहण कर सकना कठिन होगा। पर श्रम तो उसे करना पड़ेगा ही चाहे वह किसी रुपमें करे। वह श्रम उपजाऊ श्रमके रुपमें करे या आसन,व्यायाम, टहलना, दौड़ना, आदि के रुपमें करे; पर करे जरूर। न श्रमसे किनाराकशी करके वह कभी स्वस्थ रह सकता है और न आज का बिगड़ा हुआ भोजन कर के।

रोगका मूल कृत्रिम जीवन—

सहज-पुरुष प्रकृतिके प्रांगणमें रहता था। न उसने गर्द, गंदगी, धूएँ बदबूसे भरे गाँव और शहर बसाये थे, न धूप और हवासे उसे छिपाने और दूर रखनेवाली अट्टालिकाएं ही बनायी थीं। आज शहरके निवासीके लिए नंगे या दिन भर धूपमें रह सकना और दिन भर शुद्ध वायु प्राप्त करना कठिन है। फिर भी स्वस्थ रहनेके लिए उसे इनका उपयोग करना आवश्यक है। अतः सबेरे कुछ समय के लिए अपने बदनपर धूप लेकर और शुद्धवायुसे भरे स्थानमें टहलने जाकर इनका आंशिक उपभोग कर सकता है और उसके अनुपातमें अंशतः स्वास्थ्य प्राप्त कर सकता है। और जो खास बात हम पुरुषमें देखते हैं वह थी उसकी निश्चिन्तता और शुद्ध जलका प्रयोग। शुद्ध जलके नामपर आज शहर वालोंको इकठ्ठा किया हुआ और साफ किया हुआ नलका पानी मिलता है और बहुतसे लोग तो पेयके नामपर चाय,काफी,लेमन,शर्बत और मदिरा भी पीते हैं,जबकि पेय जल ही है अन्य सब विषमय है। हमें जहाँ तक बन सके शुद्ध जलका उपयोग करना चाहिए।

आजकी सभ्यता और आजके अर्थशास्त्रने निश्चिन्तता हर ली है। मनुष्य कटे पतंगकी तरह हो गया है और उसका दिमाग इधर उधर उड़ता रहता है। उसे पता नहीं रहता वह कहां जाकर पड़ेगा। ईश्वर (कर्म) के विश्वास की खूंटी जिसमें उसका मन अटका रहता था आज उखड़ गयी है। अथवा बुरी तरह हिल रही है। ऐसी स्थितिमें चिन्ता, घबराहट, जड़ता,मूर्खता, दुर्व्यसन, व्यभिचार उसके साथी हो गये हैं। मनुष्य सोचे वह क्यों यह सब कर रहा है, कहां जा रहा है; समय निकाले इनपर विचार करनेको और वे उसे उनसे छूटनेका जो पथ बतलायें उस पर चले।

ये छह सिद्धांत हैं स्वस्थ रहनेके लिए। सातवां सिद्धांत जो पहलेमें ही आगया है कि हम कभी कभी उपवास करें। उपवास मन और तन द्वारा की गयी गलतियोंका शोधन करता है और उनमें रोग उत्पन्न होनेपर उनका नाश भी।
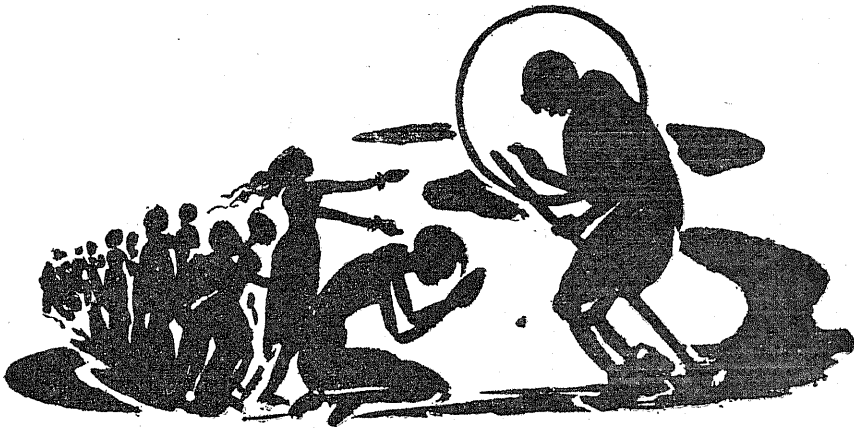
धर्मप्रचार और समाजसेवा-विज्ञान

श्री अजितप्रसाद, एम० ए०, एल०एल० बी०

श्री स्वामी समन्तभद्राचार्यने रत्नकरण्डश्रावकाचारमें धर्म की व्याख्या करते हुए कहा है कि "संसार दुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे", संसारके दुःखोंसे बचाकर प्राणीमात्र को उत्तम सुखमें जो पहुंचा दे सो धर्म है। सुख का लक्षण दुःख का अभाव है, और दुःख उत्पन्न होता है चाह से, इच्छित वस्तुके न होने से। जहां चाह है, वहां दुःख है। चाह का मिटजाना ही सुख है। 'सरापा आरजूने होने वंदा कर दिया हमको। वगर न हम खुदा थे गर दिल-ए-वेमुद्दआ होता।' इस सुखका रूपरेखा भोगभूमि के वर्णनसे कुछ समझमें आ सकती है, जहां मनुष्य अपनी इच्छा पूर्तिके लिए किसी दूसरेके आधीन नहीं था, उसकी सब जरूरतें कल्पवृक्षोंसे पूरी हो जाती थीं। पति-पत्नी एक साथ ही उत्पन्न होते; शीघ्र ही पूर्ण यौवनको पा लेते। लम्बी मुद्दत तक जीते रहते थे। एक साथ ही छींक या जंभाई लेकर मर जाते थे। न बीमारी का कष्ट न बुढ़ापे का दुःख, न रिश्तेदारोंसे जुदाई का गम, न मरने का भय, न रोटी कपड़े का फिकर, न धन दौलत जमा करने का बखेड़ा। आराम ही आराम, सुख ही सुख था। किन्तु वह सुख चन्द रोजा ही था और सर्वथा निराबाध भी न था।

श्री पं० जुगलकिशोरने सिद्धिसोपान काव्यमें दर्शाया है कि उत्तम सुख बाधा रहित, विशाल, उत्कृष्ट, अंतिम, शाश्वत, सहजानन्द अवस्था है; वहां दुःख का लेश भी नहीं है, वह कृत-कृत्य पद प्राप्ति है। वहां किसी प्रकार की चाह या वांछा नहीं रह गयी है। सिद्ध परमात्मा न भक्तों की सहाय करने आते हैं न दुष्टों का संहार। वह अतीन्द्रिय, शाश्वत, निजानन्द रसास्वादनमें लीन है। उस अक्षय सुख-अनन्त सुख का अनुमान या परिमाण कोई कर ही नहीं सकता। ऐसा उत्तम सुख शुद्ध आत्मा का निज स्वभाव है। परन्तु देहधारी संसारी आत्मा अनादिकालसे अशुद्ध अवस्थामें है।

स्वभावसे वंचित, विभावमें रत, सतत रागद्वेष, काम क्रोधादि कषाय विषय वासनाके कारण अशुद्ध दशामें रहता है; यद्यपि उस अशुद्धता की मात्रा घटती बढ़ती रहती है, परन्तु वह बिल्कुल मिट नहीं जाती। अशुद्धता का नाम जैन सिद्धान्तमें कर्म है।

लोकमें मुख्यतया दो द्रव्य हैं; एक जीव, दूसरा अजीव। इन दोनों का मेल ही संसार का खेल

है, दुनिया रंगारंगी, उसकी विचित्रता है। शुद्ध जीव अमूर्तिक है; अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तवीर्यके अक्षय भण्डार स्वरूप है। शुद्ध अवस्थामें वह दिखायी नहीं पड़ता, किन्तु अपने पुरुषार्थसे, अपने प्रयत्नसे, अपनी अनादि अशुद्ध अवस्थाका अन्त करके शुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मा बन सकता है। स्वर्ण पृथ्वीके गर्भमें अशुद्ध अवस्थामें रहता है। भूगर्भसे निकाल कर विविध प्रयोगों द्वरा उसको शुद्ध किया जाता है। और शुद्धता प्राप्त कर लेने पर वह शुद्ध ही बना रहता है। इस शुद्धि क्रियामें बार बार अग्निमें तपाया जाना ही विशेषता है।

इसी प्रकार अशुद्ध आत्माको, संसारी जीवको, कर्ममलसे आच्छादित देहधारी प्राणीको, इच्छा निरोध करके, विषय वासनासे हटा कर, व्रत, संयम, ध्यान रूप, विविध प्रकारके तपश्चरणसे शुद्ध किया जाता है। शुद्ध हो जाने पर इस संसारी जीवका ही नाम परमात्मा, शुद्धात्मा, सिद्ध, आत्मस्वरूपस्थित, वीतराग, परमेष्ठी, आप्त, सार्व, जिन, सर्वज्ञ, कृती, प्रभु, निर्विकार, निरंजन, परमेश्वर अजर, अमर, सच्चिदानन्द, आदि अनेक हो जाते हैं।

इस परमपदकी प्राप्तिका मार्ग श्री आचार्य उमास्वामिने तत्त्वार्थसूत्रमें "सम्यग्दर्शनज्ञान—चारित्राणि मोक्षमार्गः" बतलाया है। सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तीनोंका सम्मिलित होना मुक्तिका साधन है। ज्ञान कितना ही गहरा, कितना ही विस्तीर्ण क्यों न हो और चारित्र कितना ही कठोर और कितना ही दुस्सह क्यों न हो, वह सम्यक्दर्शनके अभावमें सम्यक् उपाधिको नहीं पा सकता। सम्यक्-दर्शन क्या है? "तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं" तत्त्वोंमें यथार्थ, दृढ़, अचल, अटल श्रद्धानको सम्यक्-दर्शन कहते हैं।

तत्त्व मूलतः दो हैं और विशेषतः सात। मूल तत्त्व जीव और अजीव हैं। ज्ञाता, दृष्टा, कर्ता, भोक्ता, जो तत्व है, उसे जीव कहते हैं। उस ही तत्त्वके निमित्तसे अजीव शरीर, जीवितात्मा कहा जाता है; और उस ही तत्वके इस अजीव शरीरसे पृथक हो जाने पर, शरीर शव होता है। संसारमें शुद्ध जीव देखनेमें नहीं आ सकता, वह तो अमूर्तिक वस्तु है, इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है। वह केवल अनुभव गम्य है। वह अनुभव सतत अभ्याससे प्राप्त होता है।

"इश्क क्या है, यह बस आशिक ही जाने है" इस अनुभव प्राप्तिके बाद ज्ञानका अद्भुत विकास होता है; सम्यक आचरणमें व्रत, समिति, गुप्ति, परिग्रहजय, ध्यान, तपश्चरणमें आनन्द आने लगता है, ऋद्धियां स्वयं सिद्ध हो जाती हैं। हजारों मीलकी बात मनुष्य इस प्रकार जान लेता है, जैसे उसके निकट समक्षमें सब कुछ हो रहा है। उसका शरीर इतना हल्का हो सकता है कि धुनकी हुई रुईके गालेके मानिन्द हवा में उड़ता फिरे, और ऐसा भारी हो सकता है कि किसी प्रकार हिलाये न हिले; इतना सूक्ष्म हो सकता है कि पर्वतोंके बीचमें होकर निकल

जावे, और इतना विशाल हो सकता है कि पैर फैलाये तो समस्त लोक उसके बीचमें आ जाय। फिर दुर्द्धर तपश्चरण द्वारा कर्मका समूल नाश कर स्वाभाविक अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य की शाश्वत प्राप्तिका प्रयत्न ही मनुष्यका धर्म है, उसको चाहे जिस नामसे पुकारो, वह आत्मधर्म है, निज धर्म है, जिनधर्म है।

सप्ततत्त्वोंका जो स्वरूप श्री वीरभगवानकी दिव्यध्वनिमें विपुलाचलपर श्रावणकी प्रतिपदाके दिन सर्व संसारके हितार्थ प्रतिपादित किया गया था, उस धर्म का आंशिकरूप तत्त्वार्थसूत्रमें संक्षेपतः बतलाया गया है।

कर्मरूप परिवर्तित होने योग्य अजीव तत्त्व पुद्गल बेजान द्रव्यके परमाणु तथा वर्गणा लोकके प्रत्येक प्रदेशमें, देहके अन्दर आकाशमें भी ठसाठस भरे हुए हैं। संसारी जीवके मन, वचन, कायके हलन चलनके निमित्तसे ऐसे वर्गणा कर्मरूप धारण करके उस प्राणीके अत्यन्त निकट सम्पर्कमें आजाते हैं, इस पास आजाने को आश्रव तत्त्व कहा गया है। सर्वतः सट जानेके पीछे प्राणी अपने कषाय सहित भावोंके निमित्तसे अपनेआप में मिला लेता है। उस एकमेक रूप को बन्ध तत्त्व कहते हैं। कर्म वर्गणाके आश्रव को रोकना संवरतत्त्व है। आत्मा प्रदेशोंमें एकमेक होकर बंधे हुए कर्मवर्गणाओं को हटा देना निर्जरा तत्त्व है। कर्ममलसे सर्वथा विमुक्त होकर आत्मा का निरावरण होजाना अथवा आत्म स्वरूप की प्राप्ति मोक्ष तत्त्व है।

इस प्रकार सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की परिपाटी चतुर्विध संघ द्वारा महावीर स्वामीके निर्वाणके बाद कई सौ बरस तक चली। फिर काल दोषसे जिनवर प्रतिपादित धर्ममें शाखा प्रशाखाएँ बढ़ती चली गयीं, और बढ़ते-बढ़ते इतनी बढ़ीं कि प्रत्येक शाखा प्रशाखाने अपने को मूल धर्म का रूप दे दिया। मूल धर्म रूपी तनाको इन शाखाप्रशाखाओंके जालने आच्छादित कर लिया। और पृथक-पृथक मठ स्थापित कर शाखानुयायियोंने अपनी अपनी गद्दियां जमा लीं। धर्म का स्थान इन मठोंने ले लिया।

ऐसी खेदजनक परिस्थिति को देखकर १८९९ में कुछ युवकोंने एक सभा स्थापित की ताकि भिन्न भिन्न सम्प्रदाय मिलकर मूल अहिंसाधर्म की छत्र छायामें आत्मोन्नति, धर्मोन्नति तथा समाजोन्नति करें। इसी का नाम १९०७में भारत जैन-महामंडल हो गया। इस मंडलके संचालक जैनधर्मकी दिगम्बर श्वेताम्बर, स्थानकवासी तीनों समाजोंके मुखिया पुरुष थे। ये आपसमें मिल जुलकर काम करते थे। इस मण्डल का एक अधिवेशन १९०१ में जयपुर निवासी श्री गुलाबचन्द ढड्ढाके सभापतित्वमें सूरत नगरमें, १९१५ में प्रा० खुशालभाई टी० शाह की अध्यक्षतामें बम्बईमें हुआ था।

तत्पश्चात् श्वेताम्बर दिगम्बर सम्प्रदायमें तीर्थक्षेत्र सम्बन्धी मुकदमें कचहरीयोंमें चलने लगे। और मण्डलके उदीयमान व्यापक सर्वोपयोगी काममें भारी क्षति हुई। अब भी मंडलका कार्यालय वर्धा-

गंजमें श्री सेठ चिरंजीलाल बड़जात्या की निगरानीमें जारी है और उसका मुखपत्र अंग्रेजी जैनगजट अपने ४१ वें वर्षमें चल रहा है। तथापि जिनधर्म का उद्योत इस पैवन्द लगानेसे नहीं होगा। वह चाहता है भीषण त्याग और तपस्या मय आचरण। जैनधर्म की सची जय उस समय हो गी जिस समय हम दुनियाके सामने ऐसे आदर्श जैनधर्मावलम्बी पेशकर सकें गे जो नागरिक होते हुए सत्यके उपासक होंगे। स्वप्नमें भी झूट वचन उनके मुँहसे नहीं निकलेगा, उनका आचार-विचार-व्यवहार अहिंसामय होगा, वह पराई वस्तु ग्रहण नहीं करेंगे, धोकेबाजी की परछाई भी उनके व्यवहारमें न पड़ने पायगी, उनकी तारीफमें यह कहना अनुचित या अतिशयोक्ति न हो गा कि 'मनमें होय सो वचन उचरिये, वचन होय सो तन से करिये' जैनी स्याद्वाद सिद्धान्त अपने व्यवहारसे प्रतिपादन करके दिखा देंगे। अनेकान्त तत्र केवल पुस्तकों का विषय न रह जावे गा, शब्द तथा वाक्य योजना तक ही सीमित न रहेगा, अपितु उसका सजीव उदाहरण लोकके सम्मुख उपस्थित हो जाय गा। स्याद्वाद मनुष्य-जीवन की दृष्टि होगा।

कर्म-सिद्धान्त और अहिंसाधर्मकी भी यही हालत होगी। 'सत्वेषु मैत्री', गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वं, माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ" के जीते जागते उदाहरण संसारमें दिखायी देंगे। हमारी भारतीय दुनियासे दुःख दर्द, ईर्षा, छीना झपटी, लड़ाई, दंगा, पारस्परिक संहार, पीड़न आदि नरकके दृश्य अदृश्य हो जावेंगे। लोकमें सुख और शान्ति का प्रसार होगा, नया संसार बस जायगा।
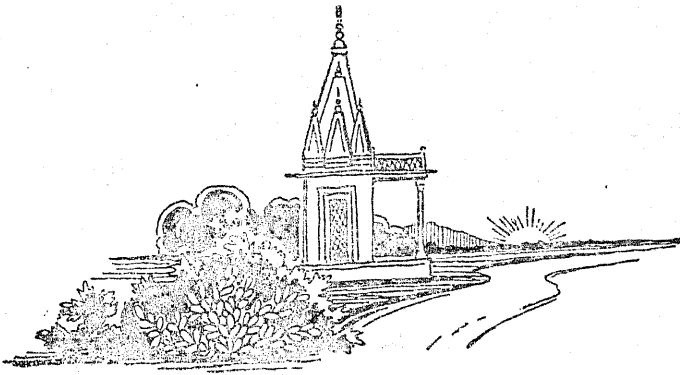
जैनसमाजका रूप-विज्ञान

श्री बा० रतनलाल जैन बी० ए०, एल-एल० बी०

जैनसमाज प्राचीन कालमें वैभव पूर्ण था, यह बात प्राचीन ग्रन्थोंसे भलीभांति सिद्ध है। ऐतिहासिक युगके प्रारंभमें भी जैन समाज उन्नत अवस्थामें था। भगवान महावीरके समयमें अनेक राजा जैन धर्मावलम्बी थे। महावीर भगवानके पश्चात भी मगधाधिपति सम्राट् चन्द्रगुप्त व कलिंग देशके अधिपति सम्राट खारवेल जैन धर्मावलम्बी थे। उत्तरी भारतमें तीसरी चौथी शतीसे जैन धर्मका ह्रास प्रारंभ हुआ तथापि बारहवीं शती तक इसे राज्यधर्म होनेका सौभाग्य प्राप्त रहा जैसा कि दक्षिण एवं गुजरात के इतिहाससे सिद्ध है।

बारहवीं शतीके अन्तसे लेकर उन्नीसवीं शतीके अन्ततक का सात सौ वर्षका दीर्घकाल भारतवर्षके लिए महान विप्लव,दमन तथा ह्रासमय रहा है। जैन, बौद्ध,वैदिक,आदि प्रचलित धर्मोंको बड़ा धक्का लगा। आक्रमण, दमन, और अनाचारमय वातावरणमें अहिंसामय जैनधर्मका ह्रास अधिक वेगके साथ हुआ। देश भरमें हिंसा प्रति-हिंसाकी अग्नि प्रज्वलित हो उठी। जिसकी चरम सीमा औरंगजेबकी कट्टरता, अन्ध-विश्वास एवं भारत-वर्षके प्रचलित धर्मोंके प्रति शत्रुता तथा उसकी प्रतिक्रियामें उत्पन्न मरहठे व सिक्ख वर्गोंके निर्माणमें हुई।

मरहठे व सिक्ख पूर्ण संगठित भी नहीं होने पाये थे कि अंगरेजी राज्यने अपने देशप्रेम, संगठन, आदि कुछ सद्गुणोंके कारण समस्त भारत पर अपनी सत्ता. अठारहवीं शतीके प्रारंभमें ही स्थापित कर ली; किन्तु इनकी राजनैतिक निष्ठुर लूट तथा दमन नीतिको भी देशने पहिचाना तथा १८८५ में भारतीय कांग्रेसको जन्म दिया। कांग्रेसके जन्मके कुछ काल बाद ही जैन-समाजके नेताओंने संगठनकी आवश्यकता अनुभव करके 'भारतवर्षीय जैन महासभा'की नींव डाली। कितने ही काल तक महासभाने जैन समाजमें जाग्रति उत्पन्न की। कुछ समय पश्चात प्रगतिशील व स्थितिपालक दो दल स्पष्ट प्रतीत होने लगे। सन् १९११ में इन दोनों दलोंमें विरोध इतना बढ़ गया कि प्रगतिशील सुधारकोंको जैन महासभासे अलग होना पड़ा। महासभा स्थितिपालकोंके हाथमें पहुंच गयी। तथापि बैरिस्टर. चम्पतरायजी ने जैन महासभामें सम्मिलित होकर नवजीवन उत्पन्न करनेका प्रयत्न किया किन्तु स्थिति-पालकोंके सामने उनकी नीति असफल है, यह फरवरी १९२३के देहली जैन महोत्सवमें स्पष्ट हो गया।

अतः देहली जैन महोत्सवके अवसरपर 'भा० दि० जैन परिषद' की स्थापना हुई। नवयुवकोंके उत्साहसे परिषदका कार्य दिन प्रति दिन बढ़ने लगा जिसका श्रेय स्व० ब्र० शीतलप्रसादको सबसे अधिक है।

परिषदने अपने प्रारंभिक कालमें ही स्थितिपालकोंके घोर विरोधकी नीति अपनायी। परिषदके पत्र वीरने इसकी प्रगतिमें साधक मरणभोज, दस्सापूजा, आदि निषेध कार्योंका यथाशक्ति प्रचार किया है।

महासभा तथा परिषदकी दलगत नीतिसे कितने ही विद्वान असन्तुष्ट थे। क्योंकि वैदिक समाज के कट्टर संप्रदाय द्वारा किये जाने वाले आक्रमणोंका स्व० गुरुजीके समान ये दोनों संस्थाएं सामना करनेमें असमर्थ थीं। इस लिए जैन आम्नाय पर आये घातक संकटको टालनेके लिए तटस्थ नीतिकी श्रेष्ठतामें विश्वास करने वालों द्वारा शास्त्रार्थोंके बीच स्वयमेव "भा० दि० जैनसंघ" की स्थापना सन १९३३ के लगभग की गयी।

किन्तु भगवान् वीतरागके उपासक जैन समाजमें आज तक इतनी राग हीनता न आयी कि वे सामाजिक क्षेत्रमें स्याद्वादमय व्यवहार करते या जैन समाज एवं धर्म का विकास प्रकाश होने देते।
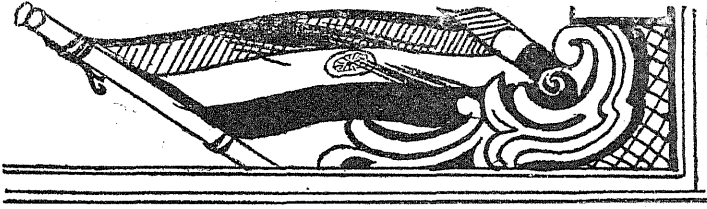
बुन्देल खण्ड

मातृभूमिके चरणोंमें विन्ध्यप्रदेशका दान

श्री पं० बनारसीदास चतुर्वेदी

'स्वाधीन मातृभूमि के चरणों में विन्ध्यप्रदेश क्या भेंट अर्पितकर सकता है? यह प्रश्न आज हम पाठकों के सामने उपस्थित करते हैं। यह बात तो निश्चित ही है कि भारत के भिन्न-भिन्न भागों की भेंट उन जनपदों की योग्यता, शक्ति, परिस्थिति और साधनों के अनुसार होगी। वैचित्र्य में ही सुन्दरता निवास करती है। प्राकृतिक सौन्दर्य से परिपूर्ण हिमालय प्रदेश की सेवाओं का मरुभूमि राजस्थान की सेवाओं से भिन्न होना सर्वथा स्वाभाविक है; पर कौन सेवा छोटी है कौन बड़ी—भेंटों में इस प्रकार का भेद करना सर्वथा अनुचित होगा। मुख्य भेंट किसी मनुष्य का जीवनदान है, और मनुष्य तो प्रत्येक भूमि-खण्ड में उत्पन्न होते हैं। यदि बंगाल राजा राममोहनराय तथा कवीन्द्र श्री रवीन्द्र को जन्म दे सकता है तो काठियावाड़ महर्षि दयानन्द और महात्मा गान्धी को। इसलिए हममें से किसी को भी यह अधिकार नहीं कि वह व्यर्थाभिमान द्वारा दूसरे की भेंट की उपेक्षा करे। मां के लिए सभी बच्चों की भेंट का मूल्य समान है, चाहे वह करोड़पति की हो या मजदूर की, राजा की हो या रङ्क की। मातृभूमि संवलिया (सांवरे कृष्ण भगवान्) की तरह भाव की भूखी है।

हां, तो प्रश्न यह है कि जननी जन्मभूमि को विन्ध्यप्रदेश क्या भेंट अर्पित करेगा? इस प्रश्न का यथोचित उत्तर तो इस जनपद के सुयोग्य निवासी ही दे सकते हैं, फिर भी परामर्श के तौर पर दो-चार बातें हम भी निवेदन कर देना चाहते हैं।

स्वास्थ्य-सदन—

इस रमणीक भूमिखण्ड में पचासों ऐसे मनोहर स्थल विद्यमान हैं, जहां सैनिटोरियम बनाये जा सकते हैं, जिनमें कुछ तो गर्मियों के लिए अधिक उपयुक्त होंगे, कुछ का सौन्दर्य शीतकाल में प्रस्फुटित होता है, और कहीं-कहीं वर्षा ऋतु की अनोखी छटा दर्शनीय है। यदि रेगिस्तान के रहने वालों को जतारा अथवा बरुआसागर, कुण्डेश्वर या सनकुआके निकट रहनेका सौभाग्य प्राप्त हो, तो उनके स्वास्थ्य को आशातीत लाभ होगा और वे अपने जीवन के पुनर्निमाण में अनेक अंशों तक सफल होंगे। यहां वाले इन स्थलोंका महत्त्व पूर्णतया नहीं समझते। कहा भी है 'अति परिचयादवज्ञा' (अति परिचय

अवज्ञा या उपेक्षा का कारण होता है) । जिस चीज को हम बार-बार देखते हैं, उसका सौन्दर्य हमारी आंखों से उतर जाता है । यदि विन्ध्यप्रदेश निवासी यहां के प्रकृतिदत्त सौन्दर्यको नष्ट न कर दें—यही नहीं यदि वे उसकी रक्षा तथा वृद्धिके लिए तत्पर हो जावें तो स्वार्थकी दृष्टिसे भी उनका यह कार्य दूरदर्शितापूर्ण होगा । सहस्रों यात्रियोंका आगमन उन स्थलोंकी समृद्धिमें सहायक होगा ।

आस-पास के जनपदोंके व्यक्ति यहां आकर वन-भ्रमण द्वारा अपने शरीरको स्वस्थ कर सकते हैं, और यहां की नदियों तथा सरोवरोंमें स्नान करके अपने चित्तको प्रसन्न । तैरना सीखनेके लिये जैसी सुविधाएं इस प्रदेशमें विद्यमान हैं, वैसी अन्यत्र शायद ही मिलें ।

आश्रम और तपोवन—

भारतीय संस्कृति तथा सभ्यताका स्रोत तपोवन ही थे । यह मानी हुई बात है कि हम तपोवनों को प्राचीन परम्परा तथा पूर्व रूपमें ज्यों का त्यों स्थापित नहीं कर सकते । जमाना बदल चुका है और समय का तकाजा है कि हम अपने तपोवनोंको आधुनिक सभ्यताके सात्विक लाभोंसे वंचित न रक्खें । उदाहरणार्थ हम आधुनिक आश्रमोंमें रेडियो सेट रखने के पक्षपाती हैं । संसारकी प्रगतिशील धारासे अलग रहने का प्रयत्न करना अव्वल दर्जेकी मूर्खता होगी । साथ ही हमें यह बात न भूलनी चाहिये कि गत युद्धके बाद समस्त संसारमें आधुनिक सभ्यताके प्रति भयंकर प्रतिक्रिया हो रही है और जीवनकी गतिको तीव्रतम तेजीके साथ चलाने वाले तमाम यंत्र तथा साधन आज नहीं तो कल अपनी लोक-प्रियता खो बैठेंगे । खूबी इसी में है कि हम लोग अभी से ऐसी संस्थाओं और ऐसे आश्रमोंकी नींव डाल लें, जहां हमारे विद्वान और ज्ञानके पिपासु एकत्रित होकर शान्त वायुमण्डलमें अपना कार्य कर सकें । आज बेतवा और केनके सुरम्य तट तथा धसान और जामनेरके जंगल हमें निमंत्रण दे रहे हैं कि हम अपने आश्रमोंकी वहां स्थापना करें । उनके निकट बनी हुई झोंपड़ियां कलकत्तेकी चौरंगी स्ट्रीट अथवा बम्बईके मलाबार हिलके महलोंसे अधिक सजी होंगी । इस गरीब मुल्क में ईंट तथा चूने और पत्थरका मोह करना हिमाकत है । खुली हवाके स्कूल (Open air school) खोलनेके लिए इतने मनोरम स्थल और कहां मिलेंगे ? लोग कहते हैं कि विन्ध्यप्रदेश भारतका स्काटलैण्ड है । पर कहना यों चाहिए कि स्काट-लैण्ड ब्रिटेनका विन्ध्यप्रदेश है ।

शान्तिनिकेतनमें हम महिनों तक रहे हैं, पर वहांका प्राकृतिक सौन्दर्य बुन्देलखण्ड अथवा मध्यप्रदेशके सैकड़ों स्थलोंके सामने नगण्य-सा है । यहां कमी है तो बस कल्पनाशील मनुष्योंकी—प्रकृतिके साथ पुरुषका संयोग कराने वाले मनीषियोंकी । यहां खीरा दस गुना बड़ा होता है, बेर छोटे सेव जैसे और लौकी तिगुनी लम्बीं होती है, बस छोटा होता है तो आदमी ! सदियों तक छोटी-छोटी जागीरों

और राज्योंमें विभक्त रहने के कारण यहांके जनसाधारणके व्यक्तित्व क्षुद्रसे क्षुद्रतर बनते गये हैं। यदि विन्ध्य-प्रदेश इससे पूर्व अलग प्रान्त बन गया होता तो यहांकी जनतामें क्षुद्रत्वकी वह भावना (Inferiority complex) न पाई जाती, जो आज यत्र-तत्र दीख पड़ती हैं। यदि आज भी यहांके निवासियोंको पता लग जाय कि प्रकृति माताके वे कितने कृपापात्र हैं तो कल ही यहां बेतवा तथा केन के तट सांस्कृतिक तीर्थ बन सकते हैं। संस्थाएं तो पहले सजीव व्यक्तियोंकी कल्पनामें स्थापित होती हैं, उनका मूर्त्त रूप तो पीछे दीख पड़ता है।

फलों के बाग—

यहां विन्ध्यप्रदेशमें आकर शरीफा (सीताफल) के सैकड़ों पेड़ जंगलोंमें उगे देखकर हमारे आश्चर्यका ठिकाना न रहा। जो फल आगरेमें तीन पैसेमें एक-एकके हिसाबसे मिलता हैं, उसे यहां पैसे में तीन-तीन को कोई नहीं पूछता! नीबुओंसे इस प्रकार लदे हुए वृक्ष हमने अन्यत्र नहीं देखे, और जहां तक बेर, जामुन, इमली, झरबेरी तथा कैथका सवाल है, इस प्रान्तके कुछ भागोंमें मानो व्यावहारिक साम्यवाद ही आगया है! हमारी ओर बेरियोंकी रखवाली होती है—क्या मजाल कि कोई पांच-सात बेर भी तोड़ ले—और यहां कोई उनकी कुछ भी कद्र नहीं करता! सुना है कि ओरछा राज्यके नदनवाड़े नामक तालाबके नीचेकी भूमि इतनी जरखेज है कि वहां फलोंके बीसियों बगीचे बन सकते हैं! १०-१२ वर्गमीलका वह तालाब दर्शनीय कहा जाता है और हम इस बातके लिए लज्जित हैं कि उसकी यात्रा अभी तक नहीं कर सके। पर इससे क्या, कल्पनामें हम वहांके भावी उपवनोंके फलोंका स्वाद चख चुके हैं और उनकी हजारों टोकरियां संयुक्तप्रान्तके निष्फल जिलोंको भेजकर मुनाफ़ा भी उठा चुके हैं! जताराके केले कलकत्तेके चीनिया क़ेलोंका करीब करीब मुकाबला करते हैं, और कुण्डेश्वरके अमरूद खानेके बाद इलाहाबादसे अमरूद मंगानेका विचार ही हकने छोड़ दिया है। जब लंगड़े आम हमारे ही उपवनमें विद्यमान हैं तो श्री सम्पूर्णानन्दजी की काशीसे उन्हें मंगानेकी क्या आवश्यकता है? जब स्थानीय नारंगियोंमें नागपुरका स्वाद आ विराजे तो रेलका महसूल क्यों दिया जाय? इस भूमिमें सब कुछ विद्यमान है—हां बस कसर है तो इतनी कि "करम हीन नर पावत नाहीं"।

प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री----

क्या प्राचीन साहित्यकी दृष्टिसे और क्या पुरातत्त्व अथवा मूर्तिकलाकी दृष्टिसे विन्ध्यप्रदेशका दान इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसका मुकाबला भारतके बहुत ही कम प्रान्त कर सकेंगे। मढ़खेरा और सांची चंदेरी और देवगढ़, ओरछा और दतिया, अहार और सोनागिर जैसे सांस्कृतिक तीर्थ आपको अन्यत्र कहां मिलेंगे? आज भी सैकड़ों-हजारों प्राचीन हस्तलिखित पोथियां यहां मिल सकती हैं और उनके अन्वेषण

से हमारे साहित्यके एक महत्वपूर्ण अंगकी पूर्ति हो सकती है। इसके सिवा विन्ध्यप्रदेशमें कितने ही प्राचीन स्थल ऐसे विद्यमान हैं, जहां खुदाई होने पर बहुत सी ऐतिहासिक सामग्रीका पता लगेगा।

ग्राम-साहित्य—

विन्ध्यप्रदेशके अनेक ग्राम रेलकी लाइन तथा आधुनिक सभ्यतासे बहुत दूर पड़ गये हैं। जहां इससे हानि हुई है वहां कुछ लाभ भी हुआ है। इस जनपदके ग्राम-साहित्यका जायका ज्यों का त्यों सुरक्षित है। इधर इस प्रांतके ग्राम-साहित्यका जो संग्रह हमने देखा है, उससे हमें आश्चर्यके साथ हर्ष भी हुआ है और कुछ ईर्ष्या भी। ईर्ष्या इसलिए कि ब्रजके ग्राम-साहित्यको हम इस प्रांतके ग्राम-साहित्यसे बहुत पिछड़ा हुआ पाते हैं। अन्तिम निर्णय तो तब होगा जब ब्रजके ग्राम-साहित्यका पूर्ण संग्रह हो जाय, पर अभी तो हमें ईमानदारीके साथ यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि विन्ध्यप्रदेश ब्रजको बहुत पीछे छोड़ गया है। कहीं-कहीं तो ब्रजके ग्रामगीत और रसियोंका रंग इतना गहरा हो गया है कि वह घासलेटकी सीमा तक पहुंच गया है।

मुहाविरोंमें तो बाजी बुन्देलीके हाथ रहती दिखती है। "अपने काजैं सौतके घर जानें परत" में जो माधुर्य है वह "अपने मतलबके लिये गधेको बाप बनाने" के असांस्कृतिक मुहाविरेमें कहां रखा है।

इस प्रदेशकी कहानियां भी अपना एक अलग स्वाद रखती हैं। श्री शिवसहायजी चतुर्वेदी द्वारा संग्रहीत कहानियोंको पाठक 'मधुकर'में पढ़ ही चुके हैं। अपने ब्रजवासी भाइयोंसे हमारा आग्रह है कि वे शीघ्रातिशीघ्र उक्त जनपदके ग्राम-साहित्यका संग्रह प्रकाशित करदें।

आधुनिक सभ्यताके उपकरणोंके आक्रमणसे ग्रामीण साहित्यकी कितनी हानि हो रही है, इसका अनुमान अब हम करते हैं। अभी उस दिन प्रातःकालमें एक ग्राममें चक्की पीसती हुई बुढ़ियाके मुंहसे सुना था "सुनौरी परोसिन गुइयां, जे बारे लाला मानत नइयां" उस समय हम सोचने लगे कि मिलकी चक्कियां खुल गयी हैं और नगरके निकट बसे हुए ग्रामोंकी औरतें भी अब मिलों पर ही आटा पिसवाती हैं, इसलिए अब चक्की के गीत भी थोड़े दिनके मेहमान हैं! मिलकी चक्की-पूतना बालगोपालोंके मधुर उराहनोंको भला कब छोड़ने वाली है!

कृषि विषयक अनुसन्धान—

शिक्षा सम्बन्धी अथवा राजनैतिक क्षेत्रमें विन्ध्यप्रदेश निकट भविष्यमें कोई महान कार्य कर सकेगा इसकी सम्भावना कम ही है। वैसे इस वसुन्धराके लिए कुछ भी असम्भव नहीं है। बहुत सम्भव है कि इस समय किसी ग्रामीण मिडिल स्कूल अथवा किसी हाई स्कूलमें पढ़ने वाला छात्र आगे चलकर ऐसा निकले जो महान शिक्षा विशेषज्ञ अथवा देशनेता कहलावे और जिसे भारतव्यापी कीर्ति प्राप्त हो, पर हम यहां सम्भव असम्भवका तर्क पेश नहीं कर रहे हैं। वास्तविक स्थिति यह है कि विन्ध्यप्रदेश शिक्षा

की प्रगतिशील धारासे बिल्कुल अलग-थलग पड़ा हुआ है। जहां संयुक्तप्रांतमें पांच-पांच विश्वविद्यालय हैं वहां इस प्रांतमें केवल एक ही यानी सागरका। यदि कभी कोई दूसरा विश्वविद्यालय यहां कायम किया जाय तो वह कृषि विषयक होना चाहिये। पुराने विश्वविद्यालयों की नकल करने से कोई फायदा नहीं। कुछ वर्ष पहले स्वर्गीय प्रोफेसर गीडीजने मध्यभारत के लिए एक विश्वविद्यालय की योजना बनायी थी, जिसमें कृषिको विशेष स्थान दिया गया था। यदि कोई इस प्रकार का विश्वविद्यालय यहां स्थापित हो जाय तो उसके द्वारा इस प्रान्त का ही नहीं मातृभूमि का भी विशेष हित हो सकता है।

वर्त्तमान दान—

आज भी अनेक क्षेत्रों में विन्ध्यप्रदेश मातृभूमि का मुख उज्ज्वल कर रहा है। गुप्तबन्धु (कविवर मैथिलीशरणजी गुप्त और श्री सियारामशरणजी) अपनी साहित्यसेवा के लिए भारतव्यापी कीर्ति के योग्य अधिकारी सिद्ध हो चुके हैं, और बन्धुवर वृन्दावनलालजी वर्मा ने जो कुछ लिखा है उसके पीछे एक दृढ़ व्यक्तित्व, सुलझे हुए दिमाग तथा सुसंस्कृत स्वभाव की मनोहर झलक विद्यमान है। स्वर्गीय मुंशी अजमेरी जी का नाम इन सब से पहले आना चाहिए था। बड़े दुर्भाग्य की बात है कि उनकी साहित्यिक रचनाओं का और उनसे भी बढ़कर उनके मधुर व्यक्तित्व का मूल्य अभी तक आंका नहीं गया। यदि उनकी समस्त रचनाएं एक साथ संग्रहमें प्रकाशित कर दी जातीं और उनके संस्मरणों की एक पुस्तक छप जाती तो यह कार्य हमारे लिए सम्भव हो जाता। बन्धुवर गौरीशङ्करजी द्विवेदी, श्री कृष्णानन्दजी गुप्त, श्री नाथूरामजी माहौर, श्री घासीरामजी व्यास, सेवकेन्द्रजी, रामचरणजी हयारण, श्री प्रियदर्शीजी, हरिमोहनलाल वर्मा, श्री चंद्रभानु जी तथा अन्य बीसियों कार्यकर्ताओं की साहित्यिक सेवाएँ उल्लेख योग्य हैं। श्री व्यौहार राजेन्द्र-सिंहजी एम० एल० ए० इसी प्रान्त के हैं और हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ प्रकाशक श्री नाथूरामजी प्रेमी भी। कितने ही व्यक्तियों के नाम यहां छूटे जा रहे हैं, पर इसका अभिप्राय यह नहीं है कि उनकी रचनाएँ या सेवाएं नगण्य हैं।

श्रीमान् ओरछेश के देवपुरस्कार, उनकी वीरेन्द्र केशव-साहित्य परिषद, समय-समय पर दिये हुए उनके सहृदयतापूर्ण दान तथा उनके उत्कट हिन्दी प्रेमके विषयपर लिखने की आवश्यकता नहीं। उसे सब जानते ही हैं। क्षमाप्रार्थी हैं हम उन कार्यकर्ताओं से जिनके नाम छूट गये हैं। हां, अपने निकटस्थ साहित्यिकों के नाम हमने जानबूझ कर छोड़ दिये हैं।

हौकी—

हौकी के खेल में तो यह प्रान्त भारत में ही नहीं समस्त संसार में अपना सानी नहीं रखता। सुप्रसिद्ध खिलाड़ी ध्यानचन्द और रूपसिंह इसी प्रान्त के हैं और भारत की सर्वश्रेष्ठ हौकी टीम श्री भगवन्त क्लब तो टीकमगढ़ की है।

भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में विन्ध्यप्रदेश क्या भेंट मातृभूमिके चरणों में अर्पित कर सकता है उसका संक्षिप्त ब्यौरा हमने दे दिया है।

हमारा कर्त्तव्य—

हम लोगों का—जो इस प्रान्तके अन्न जलसे पल रहे हैं—कर्त्तव्य है कि हम इस जनपदके नमक को अदा करें। यदि कहीं भी इस प्रान्तका कोई नवयुवक शिक्षा, साहित्य, विज्ञान, व्यायाम (खेलकूद), उद्योग-धंधे, राजनीति अथवा समाजसुधार, इत्यादिके क्षेत्रोंमें हमारी सहायता या प्रोत्साहन की आशा कर रहा है तो अपनी सेवाऐं नम्रतापूर्वक अर्पित करना हमारा कर्तव्य है।

यह भूमिखण्ड प्रतीक्षा कर रहा है सरस्वतीके उन उदार उपासकों की जो मिल बांट कर अपनी सुविधाओंको भोगने के सिद्धान्तमें विश्वास रखते हों, वह इन्तजार कर रहा है उन साधन-सम्पन्न व्यक्तियोंकी जो उद्योग-धंधे खोलकर चार दाने यहां को गरीब जनताके पेटमें भी डालें, वह बाट जोह रहा है उन बड़े भाइयोंकी, जो छुटभाइयों को प्रोत्साहन तथा प्रेरणा देनेमें अपना गौरव समझें। हां, इस जनपदकी इस उपेक्षित भूमिको जरूरत है ऐसे आदर्शवादी नेताओंकी, जो अपना तन मन धन इस प्रांतकी सेवामें अर्पित करनेके लिए सर्वदा उद्यत हों।

लोगों का यह आक्षेप है कि हमारे कार्यकर्ताओंका बहुधन्धीपन अथवा उनकी संकीर्ण मनोवृत्ति इस प्रान्तकी उन्नतिमें सबसे बड़ी बाधा रही है, पर हमारी समझमें सर्वोत्तम तरीका यही है कि हम किसी पर आक्षेप न करें जिससे हमें जो भी सहायता मिल सके लें और आगे बढ़ें। जो साधन-सम्पन्न होते हुए भी इस प्रान्तकी सेवा करनेके लिए कुछ भी नहीं करते उनसे अधिक करुणाका पात्र और कौन होगा? और दयनीय स्थिति उनकी भी है जो लक्ष्मी और सरस्वती दोनोंको एक साथ खुश रखनेके असंभव प्रयत्नमें लगे हुए हैं।

जिस प्रान्तके अधिकांश निवासी शिक्षाविहीन, साधनहीन और जीवनकी साधारण आवश्यकताओंके लिए पराधीन हों, उसकी सेवा करना एक महान यज्ञ है। सौभाग्यशाली हैं वे जो यथाशक्ति इस यज्ञमें सहायक हैं।

भगवान्‌ने गीतामें कहा है :—

"यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्"

अर्थात् यज्ञसे बचे अन्नको खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे छूटते हैं और जो केवल अपने शरीरके पोषणके लिए ही भोजन बनाते हैं वे पापको ही खाते हैं।

इसका व्यापक अर्थ यह है कि शिक्षा, ज्ञान, विज्ञान, सुख, सुविधा, साधन, इत्यादिका जो सर्व-साधारणके साथ मिल बांट कर उपयोग अथवा उपभोग करते हैं वे ही श्रेष्ठ पुरुष हैं।

भगवानके इन शब्दोंमें व्यक्तियों तथा जनपदों और देशोंके लिए भी सन्देश छिपा हुआ है। यदि विन्ध्यप्रदेश गौरवपूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहता है तो उसे अपनी सर्वोत्तम भेंट मातृभूमिके चरणोंमें अर्पित करनी होगी, और अखिल विश्वके हितमें ही हमारी मातृभूमिके महान ध्येयको निरन्तर अपने सामने रखकर जो भी व्यक्ति अपने कुटुम्ब, नगर, जनपद अथवा देशकी सेवा करता है वही वस्तुतः जीवित है— बाकी सब तो घासफूसकी तरह उग रहे हैं।
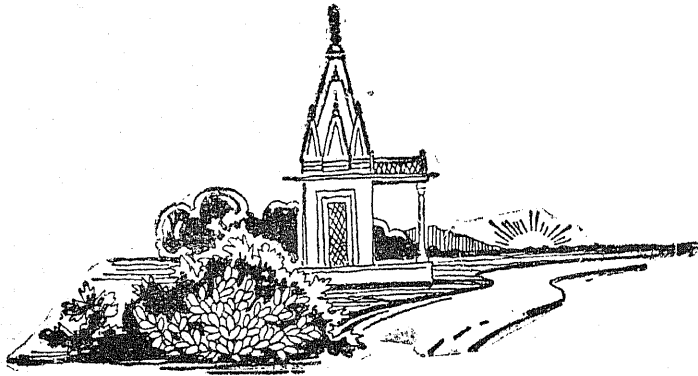
गिरिराज विन्ध्याचल

श्री कृष्णकिशोर द्विवेदी ।

गिरिराज विन्ध्याचलको पुराणकारोंने समस्त पर्वतोंका मान्य कहा है तथा उसकी गणना सात कुल पर्वतोंमें की गई हैं—

महेन्द्रो मलयः सह्यः सक्तिमान् ऋक्षवानपि ।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तेते कुल पर्वताः ।

(महाभारत भी० प० अ० ९ श्लो० ११,)

इसमें ऋक्ष, विन्ध्य और पारियात्रको साथ रखनेका विशेष कारण है । अपने दोनों सहयोगियोंके साहचर्यमें विन्ध्यकी स्थिति इतनी सौन्दर्यमयी बनगयी है कि बाणके शब्दोंमें उसे "मेखलेव भुवः" कहा जाय तो लेशमात्र भी अतिशयोक्ति नहीं होगी । हिमालयकी गगनचुम्बी उंचाई, शुभ्रहिमानी रहस्यमय वातावरण और विराट् नग्नता, आश्चर्य और आकर्षण उत्पन्न अवश्य करते हैं । पर विन्ध्याचलकी विषमता, कामरुपता, सघन द्रुमलतावेष्टित कंटकाकीर्ण मार्ग, वन्य पशुओंके निनादसे मुखरित गुहाएँ, कलकल निनाद करते स्वच्छ झरने, पर्यटकके मनको एक प्रकारके भय मिश्रित आनंदसे अभिभूत कर देते हैं । विन्ध्यके बनोंका सौन्दर्य बड़ा ही अद्भुत है । बाणने कादम्बरीमें उसका कितना सजीव वर्णन किया है......

"विन्ध्याचलकी अटवी पूर्व एवं पश्चिम समुद्रके तटको छूती है, यह मध्यदेशका आभूषण है और पृथ्वीकी मानो मेखला है । उसमें जंगली हाथियोंके मद जलके सिंचनसे वृक्षोंका संवर्धन हुआ है । उसकी चोटियों पर अत्यन्त प्रफुल्लित सफेद फूलोंके गुच्छे लग रहे हैं । वे ऊंचाई अधिक होनेके कारण तारागणके समान दीख पड़ते हैं । वहां मदमत्त कुरर पक्षी मिर्चके पत्तोंको कुतरते हैं, हाथी के बच्चोंकी सूड़ोंसे मसले गये तमालके पत्तोंकी सुगंध फैल रही है और मदिराके मदसे लाल हुए केरल (मलाबार) की स्त्रियोंके कपोलोंके समान कोमल कांतिवाले पत्तोंसे वहांकी भूमि अच्छादित है, वे पत्ते भ्रमण करती हुई वन देवियोंके पैरोंके महावरसे रंगे हुए से मालूम होते हैं । वह भूमि तोतोंसे काटे गये अनारोंके रससे गीली रहती है तथा कूदते फांदते बंदरोंसे हिलाये गये कोशफल वृक्षोंमें से गिरे हुए पत्तों और फूलोंके कारण रंग विरंगी दिखायी देती है। दिन रात उड़ती हुई फूलोंकी रजसे वहांके लता मंडप मलिन हो गये हैं । वे वन लक्ष्मीके रहनेके महलोंके समान मालूम होते हैं ।"

कहनेका तात्पर्य यह है कि विन्ध्याचल बड़े बड़े जंगलोंसे युक्त है। विशालवृक्षों एवं कुसुमित लता गुल्मोंसे आच्छादित है। उस पर चारों ओर सदैव हृष्ट पुष्ट स्वर्णमृग, वाराह, भैंसे, बाघ, सिंह, बन्दर, खरहे, भालू और सियार विचरण करते रहते हैं।

और विन्ध्यके चरणोंमें लहराती हुई नर्मदा! "वह तो ऐसी प्रतीत होती है मानो हाथीके शरीर पर श्वेत मिट्टीसे रेखाएं सजाकर श्रृंगार किया गया हो। रेवा(नर्मदा) का जल वन्य गजोंके निरंतर स्नानके कारण मदगंधसे सुरभित रहता है और उसकी धारा जम्बू कुंजोंमें विरमती हुई धीरे धीरे बहा करती है। उसके कछारोंमें वर्षाके प्रारम्भमें पीत हरित केशरोंवाले कदम्ब कुसुमोंपर मधुकर गूंजते रहते हैं। मृग प्रथम बार मुकुलित कंदलीको कुतरा करते हैं और भूमिकी सोंधी गंधको सूंघकर हाथी मस्त हो जाते हैं।

"यहां का प्रत्येक पर्वत श्रृंग अर्जुन (कवा) की गन्धसे सुरभित रहता है। श्वेत अपांगों और सजल नयनोंसे मयूर यहां नवीन मेघका स्वागत करते हैं।"

अमरुक की एक नायिका चैतकी उजली रातमें मालती गंधसे आकुल समीरणमें प्रियतमकी निकटवर्तिनी होकर भी अपने पुराने प्रच्छन्न संकेत स्थल रेवाकी कछारमें स्थित वेतसी तरुके नीचे जानेको बार बार उत्कंठित हो उठती है।

विन्ध्याचल सब भारतीय पर्वतोंका गुरु (ज्येष्ठ) है। भूतत्त्ववेत्ताओं का मत है कि भारतवर्षमें विन्ध्य अरावली और दक्षिणका पठार ही सबसे पुरानी रचना है। इनका विकास अजीव कल्प (Azoic Age) में पूरा हो चुका था। उत्तर भारत, अफगानिस्तान, पामीर, हिमालय और तिब्बत उस समय समुद्रके अन्दर थे। खटिका युग (......) के भूकम्पोंसे हिमालय आदि तथा उत्तर भारतीय मैदान के कुछ अंश ऊपर उठ आये। हिमालयकी सबसे ऊँची चोटियोंपर भी खटिका युगके जीवों और वनस्पतियोंके अवशेष पाये जाते हैं जब कि विन्ध्याचल और आडावला (अरावली) की भीतरी चट्टानोंमें जीवोंकी सत्ताका कोई चिन्ह नहीं मिलता।

प्राकृतिक सौन्दर्यके अतिरिक्त विन्ध्याचलका धार्मिक महत्त्व भी कम नहीं है। विन्ध्यवर्ती तीर्थों की महिमा पुराणकारोंने मुक्तकंठसे गायी है। पार्श्वनाथगिरि, विन्ध्यवासिनी,नर्मदा, अमरकंटक, ताम्रकेश्वर आदि अगणित तीर्थोंको विन्ध्य अपनी विशाल गोदमें आश्रय दे रहा है। मत्स्य पुराणमें गंगा, यमुना और सरस्वतीसे भी अधिक नर्मदाकी महिमाका गुणगान किया है। "कनखल क्षेत्रमें गंगा पवित्र है और सरस्वती कुरुक्षेत्रमें पवित्र है, परन्तु गांव हो चाहे वन, नर्मदा सर्वत्र पवित्र है।"

"यमुनाका जल एक सप्ताहमें, सरस्वतीका जल तीन दिनमें, गंगाजल उसी क्षण और नर्मदा जल दर्शन मात्रसे ही पवित्र कर देता है।"

आगे चलकर अमरकंटककी महिमामें कहा गया है—"अमरकंटक तीनों लोकोंमें विख्यात है।

यह पवित्र पर्वत सिद्धों और गंधर्वों द्वारा सेवित है। जहां भगवान् शंकर देवी उमाके सहित सर्वदा निवास करते हैं।'

जो महानुभाव अमरकंटककी प्रदक्षिणासे हजार यज्ञोंका फल पानेमें विश्वास नहीं रखते, न जिन्हें सौन्दर्य तृष्णा ही सताती है, उनके लिए भी विन्ध्यकी नाना विध वन्य तथा खनिज संपत्ति कम आकर्षणकी वस्तु नहीं है।

यहां पाठकोंके मनोरंजनार्थ महाभारतसे एक विन्ध्याचल संबंधी अनुश्रुति उद्धृत करनेका लोभ संवरण नहीं कर सकता। यह कथा अगस्त्य ऋषिके महात्म्यके प्रसङ्गमें लोमश ऋषिने युधिष्ठिरको सुनायी थी।.....

"जब विन्ध्य पर्वतने देखा कि सूर्य उदय और अस्तके समय स्वर्णमय पर्वतराज मेरुकी प्रदक्षिणा करते हैं तब उसने सूर्यसे कहा—'हे सूर्य! जैसे तुम प्रतिदिन मेरुकी प्रदक्षिणा करते हो, वैसे ही हमारी भी प्रदक्षिणा करो।'

पर्वतराजके ऐसे वचन सुनकर सूर्य बोले–'मैं अपनी इच्छासे थोड़े ही मेरुकी प्रदक्षिणा करता हूं, जिन्होंने यह जगत् बनाया है, उन्हींने मेरा यह मार्ग निश्चित कर दिया है।'

सूर्यके ऐसे वचन सुनकर विन्ध्यको अत्यन्त क्रोध हुआ और सूर्य तथा चन्द्रमाके मार्गको रोकने की इच्छासे वह अपने को ऊंचा उठाने लगा, यह देख देवगण तब एक साथ उसके पास आये और उसे इस कार्यसे रोकने लगे, परन्तु उसने एक न सुनी, तब सब देवगण, तपस्वी और धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ अगस्त्य ऋषिके आश्रममें पहुंचे और उन्हें अपना अभिप्राय कह सुनाया—'हे द्विजोत्तम! पर्वतराज विन्ध्य क्रोधके वशवर्ती होकर सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रोंके मार्गको रोकना चाहते हैं। हे महाभाग, आपके सिवा उन्हें और कोई नहीं रोक सकता, इसलिए कृपाकर उन्हें रोकिये।'

देवताओंके वचन सुनकर अगस्त्यने अपनी पत्नी लोपामुद्राको साथ लिया और विन्ध्यके निकट पहुंचे। उनके स्वागतके लिए विन्ध्य उनके निकट उपस्थित हुआ तब ऋषिने विन्ध्यसे कहा—'हे गिरिश्रेष्ठ, हम विशेष कार्यसे दक्षिण जाना चाहते हैं, इसलिए मुझे जानेके लिए मार्ग दो और जब तक हम लौट न आयें तब तक ऐसे ही प्रतीक्षा करते रहो, जब मैं आजाऊं, तब तुम इच्छानुसार अपनेको बढ़ाना।'

इस प्रकार बचन देकर अगस्त्य दक्षिणको चले गये फिर वहांसे लौटे नहीं और बेचारा विन्ध्य अब तक शिर झुकाये उनकी बाट जोह रहा है।"

यह कथा प्राचीन कालसे ही काफी प्रसिद्ध रही है, कालिदासने भी रघुवंशमें "विन्ध्यस्य संस्तं-भयिता महाद्रेः" कह कर इसी कथाकी ओर संकेत किया है, देवी भागवतकारने भी उसे उद्धृत किया है यद्यपि श्रोताओंका खयाल करके नमक मिर्चका पुट भी उसमें दे दिया है। इस कथाका अभिप्राय क्या

है यह तो ठीक नहीं कहा जा सकता, पर संभव है "कृणुध्वं विश्वमार्यम्" अथवा सच कहें तो 'आर्यमयम्' के उद्देश्यको पूरा करनेके लिए उत्सुक आर्यजनोंने दक्षिण देशकी दुर्गमताकी थाह लेनेके विचार से जो प्रयत्न किये थे, उन्हींका चित्रण इस कथामें किया गया हो।

जो हो, विन्ध्याचल सचमुच भारतका पितामह है। इस पृथ्वीके लाखों करोड़ों वर्षके आलोडन विलोडन और इस जगत्के जाने कितने संघर्षण-परिवर्तन उसने अपनी आंखोंसे देखे हैं, अजीव कल्प की लाखों वर्षोंकी विराट शून्यताका वह मौनद्रष्टा रहा है और सजीव कल्पके गगन चुम्बी वृक्षों, वनस्पतियों तथा दानवाकार वन्य जन्तुओंको न केवल उसने अपने नेत्रोंसे देखा ही है, उन्हें गोदमें भी खिलाया है।

खटिका युगके कितने भीम भयंकर भूकंप उठा। धरणीके कितने रूप परिवर्तन, कितने महासागरोंका अन्त और कितनी स्थलियोंके उद्भवको उसने कौतुकके साथ देखा है। आजके शैलराट हिमालय को अभी उस दिन सौरीगृहमें देख वह मुस्कराया था और अब उस कलके शिशु हिमालयको आसमानसे बातें करते देख वह अगस्त्यके लौटनेकी प्रतीक्षामें दक्षिणकी ओर बार बार देखने लगता है, पर हाय ! "अद्यापि दक्षिणोद्देशात् वारुणिन निवर्तते" (आज भी अगस्त्य दक्षिणसे लौटते दिखायी नहीं देते)।

मानवके नामके इस विचित्र प्राणीको अस्तित्वमें आते और चारों ओर फैलते उसने देखा है, कितने गर्वोद्धत विजेताओंकी अदम्य लिप्साएं उसकी छातीको रौंदती हुई चली गयी हैं, और कितने हतदर्प परन्तु स्वाभिमानी पराजितोंने प्राणोंकी बाजी लगा कर उस लिप्साके दांत तोड़नेका महोद्यम किया है, इसका सारा लेखा जोखा उसके पास है

हमारा बुन्देलखंड इस वृद्ध पितामहकी जगहमें बैठ कर शत शत स्नेह निर्झरियोंसे अभिषिक्त होकर गर्वित है, और उसकी चट्टानोंको तोड़फोड़ कर उछलती कूदती नर्मदा तो मानो युग युगकी अनुभूतिकी वाणी सी अपनी वन्यासे चुप्पीके कगारोंको तोड़ती हुई हृदयके अतल गंभीर देशसे बहती चली आती है !

हे पुरातन गिरिश्रेष्ठ !
शैलराज हिमालयके हे ज्येष्ठ बन्धु !!
तुम्हें कोटि कोटि प्रणाम।

खजुराहाके खंडहर

श्री अम्बिका प्रसाद दिव्य, एम० ए०

खजुराहा बुन्देलखण्डके अंतर्गत छतरपुर राज्यमें, एकान्त जंगलमें बसा हुआ एक छोटा सा ग्राम है, जिसमें अधिकसे अधिक दो तीन सौ घर होंगे। परन्तु यह छोटा सा ग्राम किसी समय चन्देल राजाओं की राजधानी था। इसमें उनके समयके कुछ खंडहर आज भी खड़े हैं। इन खंडहरोंको देखकर चन्देलोंकी समृद्धि तथा वैभवके जैसे विशाल चित्र हमारी कल्पनामें आते हैं वैसे आज बुन्देलखण्डमें कहीं भी देखनेको नहीं मिलते। अतः चन्देलोंके विषयमें कुछ जाननेकी एक सहज जिज्ञासा हमारे हृदयमें जाग उठती है।

चन्देलोंका राज्य जैसा कि प्राचीन शिलालेखोंसे पता चलता है, नवीं शताब्दी से १३ वीं शताब्दी तक रहा। इन्होंने अपनेको चन्देल्ल या चन्द्रेल कहा है और चन्द्रात्रेय मुनिका वंशज बतलाया है। चन्द्रात्रेय मुनिका जन्म ब्रह्मान्द्र मुनि अथवा ब्रह्मासे हुआ कहा जाता है। चन्द्रात्रेयके वंशमें अनेक राजाओंको परम्परामें एक नन्नुकका जन्म हुआ। नन्नुकने ८३१ ई० के लगभग चन्देल वंशकी नींव डाली। आगे चलकर इस वंशमें एकसे एक प्रतापी तथा शक्तिशाली राजा हुए। उनकी सूची इस प्रकार है—**नन्नुक, वाक्यपति, जयशक्ति, रोहित, हर्ष, यशोवर्मन, धंग, गंड, विद्याधर, विजयपाल, कीर्तिवर्मन, देववर्मन, सल्लक्षणवर्मन, जयवर्मन, पृथ्वीवर्मदेव, परमादिदेव तथा त्रैलोक्य वर्मदेव।** इनमेंसे जयशक्ति, हर्ष, यशोवर्मन, धंग, गंड तथा विद्याधरके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं, क्योंकि इनके समयमें खजुराहाकी विशेष उन्नति हुई।

जयशक्ति और विजयशक्ति दो भाई थे। महोवामें जो एक शिला लेख मिला है, उसमें इन्हें जेजा और बेजा करके लिखा है। जयशक्तिको जेजक और विजय शक्तिको विज्जक भी कहा गया है। उपरोक्त शिला लेखसे ज्ञात होता है कि जेजकके कारण ही इस प्रान्तका जिसे आज बुन्देलखण्ड कहते हैं, 'जेजाक भुक्ति' नाम पड़ा। यही नाम आगे चलकर जुझौति मात्र रह गया।

हर्ष—यह इस वंश का छठा शासक था। इसने अपने राज्यको कन्नौजके प्रतिहारोंकी पराधीनतासे छुड़ाकर स्वतंत्र घोषित किया, कन्नौजके राजा क्षितिपाल देवको भी राष्ट्रकूट वंशके राजा इन्द्र तृतीयके चुंगुलसे छुड़ाया।

यशोवर्मन—यह हर्षका ही पुत्र था, कहीं कहीं इसे लक्षणवर्मन भी कहा है, यह अपने पिताके समान ही शक्तिशाली तथा प्रतापी हुआ। यह अपने वंशका सातवां राजा था और ९३० ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ। यह बड़ा ही महत्त्वाकांक्षी तथा युद्ध प्रिय था। उसने चेदिके कलचुरियोंको हराकर कालिंजर जीत लिया और अपने राज्यमें मिला लिया। कन्नौजके शासकका भी मानमर्दन किया तथा नर्मदासे लेकर हिमालय तक अपना आतंक जमाया।

धंग—यह इस वंशका सबसे विख्यात राजा हुआ। यह यशोवर्मनका पुत्र था। धंग शब्दका अर्थ है बड़ा काला भौंरा, संभव है, यह नाम इसे किसी गुण विशेषके कारण ही दिया गया हो। इसने अपने राज्य को पूर्वमें कालिंजरसे लेकर पश्चिममें ग्वालियर तक और दक्षिणमें वेतवासे लेकर उत्तरमें यमुना तक फैलाया। यह वही सुप्रख्यात धंग था जिसने गजनीके सुलतान सुबुक्तगीनका मुकाबला करनेको पंजाबके राजा जयपालको सहायता दी थी। इसने गुर्जर प्रतिहारोंसे अपने राज्यको पूर्णरूपसे स्वतंत्र कर लिया। यह सौ वर्षसे भी अधिक जीवित रहा, और गङ्गा यमुनाके किनारे जाकर अपना शरीर त्याग किया।

गंड—यह धंगका पुत्र था और अपने पिताके समान ही प्रतापी हुआ। गंड शब्दका अर्थ है वीर! इसके वीर होनेमें कोई सन्देह नहीं था। इसने लाहौरके राजा जयपालके पुत्र अनन्दपालकी महमूद गजनवी के विरुद्ध सहायता की परन्तु भाग्यने साथ न दिया।

विद्याधर—इसे वीदा भी कहा गया है। यह गंडका पुत्र था। यह भी अपने पूर्वजोंके समानही प्रतापी तथा शक्तिशाली हुआ। कन्नौजके राजा राज्यपालने महमूद गजनवीकी पराधीनता मानकर जो आत्मग्लानि उठायी थी वह इससे न देखी गयी। उसने राज्यपालको प्राणदंड दे महमूदको चुनौती दी और उसे दो बार हराया। अन्तमें कालिंजरके स्थान पर दोनोंमें सुलह हो गयी। वीदाने कहा जाता है, भाषामें एक कविता लिखकर महमूदके पास भिजवायी थी। उसे महमूदने बहुत पसन्द किया तथा फारसके विद्वानों को दिखाया। वीदाको बधाई भेजी तथा १५ दुर्गोंका शासन भी उसे सौंप दिया। भाषा (हिंदी) की कविताके विषयमें मुसलमानी पुस्तकोंमें यह सबसे पुराना उल्लेख है।

इन शासकोंकी देख-रेखमें खजुराहाने जो गौरव तथा वैभव प्राप्त किया वह बुन्देलखंडकी किसी भी रियासतकी राजधानीको प्राप्त नहीं। प्राचीन शिलालेखोंमें इसका नाम खर्जूरपूर या खर्जूर वाहक मिलता है। कहा जाता है कि इसके सिंहद्वार पर खजूरके दो स्वर्ण वृक्ष बनाये गये थे और इसी कारण इसका नाम खर्जूरपुर या खर्जूर वाहक पड़ा था। यह भी अनुमान किया जाता है कि यहां खजूर वृक्षकी पैदावार अधिक रही होगी।

इसका प्राचीनतम उल्लेख ग्रीक विद्वान टालमीके भारतके भूगोलवर्णनमें मिलता है। उसने बुन्देल खंडकावर्णन सुन्दरावतीके नामसे किया है और टेमसिस, कुर्षीनिया, यमण्लेटरा तथा नबुनन्द नगर, इत्यादि

नगरोंका उल्लेख किया है। टेमसिससे कालिंजरका बोधहोता है जो कि बुन्देलखंडके अन्तर्गत ही है। वैदिक साहित्यमें कालिंजरको तापस स्थान कहा है और इस तापस शब्दसे ही टेमसिस बना हुआ प्रतीत होता है। इसी तरह कुर्रोनिधि भी खजुराहाका रूपान्तर प्रतीत होता है जिसके प्रमाण भी मिलते हैं।

टालमीके पश्चात् चीनी यात्री हुएनशांगने भी अपने भारत-यात्रा वर्णनमें इसका उल्लेख किया है। हुएनशांगने ६३०'-४३ई० के बीच भारतका भ्रमण किया था। उसने बुन्देलखंडका जिसे उस समय जेजाकभुक्ति कहते थे चीचेट् करके वर्णन किया है और उसकी राजधानी खजुराहा बतलायी है। खजुराहा नगरका घेरा उसने १६ क्ली अर्थात् अढ़ाई मीलसे कुछ अधिक बतलाया है। उसने यहांकी पैदावारका भी जिक्र किया है। यह भी लिखा है कि यहांके निवासी अधिकतर अबौद्ध हैं। यद्यपि यहां दर्जनों बौद्ध विहार हैं तब भी बौद्ध लोग बहुत कम संख्यामें हैं। मन्दिर जब कि केवल यहां १२ ही हैं तब भी उनसे हजारों ब्राह्मण पलते हैं। यहांका राजा भी ब्राह्मण है परन्तु वह बौद्ध-धर्ममें बहुत श्रद्धा रखता है।

हुएनशांगके पश्चात् खजुराहाका उल्लेख महमूद गजनवीके साथी आबूरिहाके यात्रा वर्णनमें मिलता है। आबूरिहा यहां सन् १०२२ में आया था। उसने खजुराहाका नाम कजुराहा करके लिखा है और उसे जुझोतकी राजधानी लिखा है।

आबूरिहाके पश्चात् सन् १३१५ के लगभग इब्नबतूता यहां आया। उसने खजुराहाका नाम खजुरा लिखा है। यहांके एक तालाबका भी उल्लेख किया है जिसको उसने एक मील लम्बा बतलाया है। वह लिखता है कि इस तालाबके किनारे कितने ही मन्दिर बने हुए हैं जिनमें जटाधारी योगी रहते हैं। उपवासोंके कारण उनका रंग पीला पड़ रहा है। बहुतसे मुसलमान भी उनकी सेवा करते हैं और उनसे योगविद्या सीखते हैं।

इन विदेशी यात्रियोंके उल्लेखोंके अतिरिक्त चन्देल वंशके राजकवि **चन्द**के महोबाखंड नामक काव्य ग्रन्थमें भी खजुराहाका अच्छा वर्णन मिलता है। स्मरण रहे कि यह चन्द पृथ्वीराज-रासोके लेखक चन्दबरदाईसे पृथक थे।

चन्देल कट्टर वैदिक थे और शैवमतके अनुनायी थे। शिवकी भार्या मनियादेवी इनकी कुलदेवी थी। चन्देलोंके सम्पूर्ण राज्यमें मनियादेवी की बड़ी आवभगतसे पूजा होती थी। तब भी चन्देल दूसरे मतोंके विरोधी न थे। वे जैन तथा बौद्धमतमें भी श्रद्धा रखते थे। इनका आदि स्थान मनियागढ़ था जो आज भी केन नदीके किनारे पर राजगढ़के समीप एक पहाड़ीपर खड़ा हुआ है। कहा जाता है, इन्होंने परहार या प्रतिहारोंसे राज्य छीना था जिनकी राजधानी मऊसहनियां थी। मऊसहनियां भी नयागांव और छतरके बीचमें आज भी खड़ी है। उत्तरीभारतके सम्राट हर्षवर्धनकी मृत्युके पश्चात् इन्होंने अपना राज्य इस सारे भूखंडमें, जिसे आज बुन्देलखंड कहते हैं, फैला लिया।

कहा जाता है कि इनके पूर्वपुरुष चन्द्रब्रह्मका जन्म खजुराहा ही में हुआ था। चन्द्रब्रह्मकी मां काशीसे आयी थी और उन्होंने कर्णवतो अर्थात् केन नदीके किनारे जो कि खजुराहासे कुछ ही दूरसे निकली है, तप किया था। तपके फलस्वरूप इनके चन्द्रब्रह्मका जन्म हुआ। जब चन्द्रब्रह्म सोलह वर्षके हुए तो इनकी मां ने भांडवयज्ञ करवाया। इस यज्ञके लिये ८४ वेदियां बनायी गयी थीं और कुएंमें भरकर रंहटके द्वारा वेदियों तक निरंतर घी पहुंचाया गया। घी पहुंचानेके लिए पत्थरकी जो परनालियां बनायी गयी थीं, वे अब भी खजुराहामें पड़ी हैं।

इन वेदियों पर बादमें ८४ विशालकाय मन्दिर बनवाये गये। इन मन्दिरोंमेंसे कुछ अब भी खड़े हैं। खजुराहाके खंडहरोंमें यही विशेष हैं और इनके कारण ही खजुराहा आज भी सुप्रख्यात है और हमारे लिए दर्शन तथा अध्ययनकी चीज बना हुआ है।

इन मन्दिरोंको खजुराहाका बोलता हुआ इतिहास कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी। पत्थरसे इनके समयके रहन-सहन, आचार-विचार, रीति-रिवाज नैतिक तथा धार्मिक जीवन, सभीके उभरे हुए चित्र दूर ही से बोलते हुए से दिखाई पड़ते थे। ये मन्दिर कितने विशाल कितने भव्य तथा कलापूर्ण है कहते नहीं बनता। इनके विषयमें स्वयं पुरातत्त्व विभागकी रिपोर्टमें लिखा है। In beauty of out-line and richness of carving the temples of Khajuraha are unsurpassed by any kindred group of monument in India.

खेद है कि चौरासी मन्दिरोंमेंसे केवल तीस पैंतीस मन्दिर ही शेष रह गये हैं। अन्य या तो कालकी गतिसे स्वयं ही या मुसलमान शासकोंके प्रहारोंसे धराशायी हो गये। जब खजुराहाके ये खंडहर हमको आश्चर्यमें डालते हैं, तब खजुराहा जब अपनी पूर्ण यौवनावस्थामें रहा होगा, उस समय उसे देखकर हमारे क्या विचार होते, इसको हम कल्पना भी नहीं कर सकते। ये मन्दिर भुवनेश्वरके सुप्रसिद्ध मन्दिरों की इण्डोआर्यन पद्धति पर बने हैं और एक एक मन्दिरमें छोटी बड़ी इतनी अधिक मूर्तियां हैं कि उनका गिनना भी कठिन है। ये सभी मन्दिर आकृति और बनावटमें प्रायः एक से ही हैं और एक ही मतके प्रतीकसे ज्ञात होते हैं। कई मन्दिर इनमेंसे पंचायतन शैलीके हैं और पूर्णतया वैदिक शिल्प शास्त्रके अनुकूल हैं।

समस्त मन्दिर तीन समूहोंमें विभक्त किये जा सकते हैं—पश्चिमी समूह, पूर्वी समूह तथा दक्षिणी समूह। पश्चिमी समूह विशेष दर्शनीय है। इनमें नीचे लिखे मन्दिर विशेष उल्लेखनीय हैं।

पश्चिमके मन्दिर—

चौसठ योगनियोंका मन्दिर—यह मन्दिर शिवसागर नामकी झीलके उत्तर पूर्व एक ऊंचे टीले पर स्थित है। मन्दिर तो धराशायी हो चुका है, अब उसका भग्नावशेष मात्र है। इसमें कहा जाता है, भगवति चण्डिका देवीकी तथा उनकी दासी ६४ योगनियोंकी विशाल मूर्तियां पृथक-पृथक खानोंमें स्थापित थीं।

परन्तु अब वे सबकी सब लापता हैं। केवल खाने खाली पड़े हुए दिखलायी देते हैं। हां एक बड़े खानेमें तीन मूर्तियां पड़ी हैं, उनसे यह बात सिद्ध होती है कि यह मन्दिर ६४ योगनियोंका ही था। इन मूर्तियोंमेंसे एक महिषा-मर्दिनीकी है, दूसरी महेश्वरी तथा तीसरी ब्रह्माणीकी। कहा जाता है खजुराहाके मन्दिरोमें यह मन्दिर सबसे अधिक प्राचीन है।

कन्दरिया मन्दिर—यह मन्दिर चौसठ योगनियोंके मन्दिरसे कुछ ही दूरी पर उत्तरकी ओर स्थित है। यह खजुराहाके सभी मन्दिरोंसे विशाल और भव्य है। यह ईसाकी १० वीं शताब्दीका बना हुआ है। पहले पंचायतन शैलीका था, परन्तु चारों कोनेके सहायक मन्दिरोंका अब नाम निशान भी नहीं। यह बाहर भीतर, देवी देवताओं तथा अप्सराओंकी विभिन्न मूर्तियोंसे आच्छादित है।

देवी जगदम्बाका मन्दिर—यह भी उपरोक्त मन्दिरके समीप ही है और उसी शैलीका बना हुआ था; परन्तु इसके भी सहायक मन्दिरोंका अब पता नहीं। इसकी सजावट भी कन्दरिया मन्दिरके समान ही कलापूर्ण तथा दर्शनीय है। यह मन्दिर पहले विष्णु भगवान्‌की स्थापनाके लिए बनवाया गया था। परन्तु आज विष्णुके स्थान पर उनकी अर्धांगिनी श्री लक्ष्मीजी की मूर्ति स्थापित है जिसे लोग अज्ञान वश काली अथवा देवी जगदम्बाके नामसे पूजते हैं।

चित्रगुप्तका मन्दिर—यह जगदम्बाके मन्दिरसे कुछ ही दूरीपर उत्तरकी ओर स्थित है। आकार प्रकारमें भी उपरोक्त मन्दिरके समान ही है। इसके गर्भमन्दिरमें सूर्यकी एक पांच फीट ऊंची मूर्ति स्थापित है।

विश्वनाथ मन्दिर—यह मन्दिर भी चित्रगुप्तके मन्दिरके समीप ही है। यद्यपि यह कन्दरिया मन्दिरसे कुछ छोटा है परन्तु रूप रेखामें उसीके समान हैं। यह भी पंचायतन शैलीका बना हुआ था; परन्तु सहायक मन्दिरोंमें से दो लापता है। इसकी सजावट भी अन्य मन्दिरोंके समान ही कलापूर्ण है। इसके मंडपके अन्दर दो शिलालेख खुदे हुए हैं। एक विक्रम सम्वत १०५६ का है दूसरा १०५८ का। १०५६ के शिलालेखमें नन्नुकसे लेकर धंग तक चन्देल राजाओंकी नामावली दी गयी है। इसी लेखसे पता चलता है कि यह मन्दिर धंगका बनवाया हुआ था, और इसमें, हरे मणिका शिवलिंग स्थापित किया गया था, परन्तु अब उस शिवलिंगका पता नहीं। दूसरा शिलालेख किसी अन्य मन्दिरके ढीहे से लाकर रख दिया गया है, जिसे वैद्यनाथका मन्दिर कहते हैं।

लक्ष्मणजीका मन्दिर—यह भी समीप ही है और आकार प्रकारमें विश्वनाथके मन्दिरके समान ही है। यह भी पंचायतन शैलीका बना हुआ है। सौभाग्यसे इसके चारों सहायक मन्दिर अब भी खड़े हैं। इसकी मूर्तियां विशेष सुन्दर और कलापूर्ण हैं। इसके मंडपके अन्दर भी एक शिलालेख पड़ा है जिससे पता चलता है कि यह धंगके पिता यशोवर्मनका बनवाया हुआ था। इसके अन्दर विष्णुकी जो मूर्ति

स्थापित है वह कन्नौजके राजा देवपालसे प्राप्त की गयी थी, जिसे यशोवर्मनके पिता हर्षदेवने हराया था।

मंगलेश्वरका मन्दिर—यह लक्ष्मणजीके मन्दिरके बगलमें दक्षिणकी ओर स्थित है। इसमें एक विशाल शिवलिंग स्थापित है, जिसकी आज भी बड़ी श्रद्धा और भक्तिसे पूजा होती है। इस मन्दिरमें कलाकी कोई विशेष चीज दर्शनीय नहीं। इस समूहमें और भी कई छोटे-छोटे मन्दिर हैं परन्तु विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं।

पूर्वी समूह—

यह समूह खजुराहा ग्रामके अति सन्निकट है। इसमें तीन वैदिक मन्दिर हैं तथा तीन जैन मन्दिर। वैदिक मन्दिरोंमें ब्रह्मा, वामन, तथा जावारीके मन्दिर हैं। इसके अतिरिक्त हनुमानजी की एक बहुत विशाल मूर्ति है। इस मूर्तिकी पीढ़ीके नीचे एक छोटा सा लेख है जिसमें हर्ष सम्वत् ३१६ पड़ा है जो ९२२ ई० के बराबर होता है। खजुराहाके अबतक मिले हुए शिलालेखों में यह सबसे प्राचीन शिलालेख हैं। सल्लक्षणवर्मनने जिसका कि नाम चन्देल वंशावलीमें दिया जा चुका है, पहली ही बार अपने तांबेके द्रव्योंमें हनुमानजी की मूर्ति अंकित करायी थी। इससे पहले हनुमान्जी की कोई स्वतंत्र मूर्ति भारतीय कलामें नहीं मिलती। अतः हनुमानजी की मूर्तिके प्रचारका श्रेय चन्देलोंको ही है।

ब्रह्माका मन्दिर—यह मन्दिर खजुराहा सागरके तीरपर स्थित है तथा नवीं और दसवीं शताब्दीके बीचका बना हुआ है। इसमें जो मूर्ति स्थापित है वह शिवकी है, परन्तु लोगोंने उसे ब्रह्माकी मूर्ति समझ रक्खा है। इसकी भी कला उच्चकोटि की है।

वामन मन्दिर—यह ब्रह्माके मन्दिरसे एक फर्लांग उत्तर पूर्वकी ओर बना हुआ है। यह रूप रेखामें जगदम्बा तथा चित्रगुप्तके मन्दिरके समान है, परन्तु उन दोनोंसे कहीं अधिक विशाल है। इसके अन्दर वामन भगवान्की चार फीट आठ इंच ऊंची एक सुन्दर मूर्ति स्थापित है।

जावारी मन्दिर—यह खजुराहा ग्रामके समीप खेतोंके बीचमें स्थित है। अन्य मन्दिरोंकी अपेक्षा यद्यपि कुछ छोटा है परन्तु कलाकौशलमें कम नहीं। इसके अन्दर विष्णु भगवान्की चतुर्भुजी मूर्ति स्थापित है। यह दसवीं शताब्दीका बना हुआ है।

जैन मन्दिरोंमें घंटाई, आदिनाथ, तथा पारसनाथके मन्दिर हैं।

घंटाई मदिन्र—यह खजुराहा ग्रामके दक्षिण पूर्वकी ओर है। इसके स्तम्भोंमें घंटियोंकी वेल बनी हुई है। अतः इसे घंटाई मन्दिर कहते हैं। इसका भी कला कौशल देखने योग्य है।

आदिनाथ मन्दिर—यह घंटाई मन्दिरके हातेके अन्दर ही दक्षिण उत्तरकी ओर स्थित् है। यह भी देखने योग्य है। इसमें जो मूर्ति स्थापित थी वह लापता है।

पारसनाथ मन्दिर—जैन मन्दिरों में यह सबसे विशाल है। इसमें पहले वृषभनाथकी मूर्ति स्थापित थी परन्तु अब उस मूर्तिका पता नहीं है। उसके स्थान पर पारसनाथकी मूर्ति स्थापित कर दी गयी

है। इस मन्दिरकी सजावटमें वैदिक मूर्तियां भी बनायी गयी हैं। और यह चीज देखने योग्य हैं। यह मन्दिर ९४५ ई० के लगभगका बना हुआ है। इसके पास ही एक शान्तिनाथका मन्दिर है।

दक्षिण समूहमें दो ही मन्दिर हैं—एक दूल्हादेवका तथा दूसरा जतकारी का

दूल्हादेवका मन्दिर—खजुराहाके मन्दिरोंमें यह मन्दिर सबसे सुन्दर माना जाता है। इसे नीलकंठका मन्दिर भी कहते हैं। यह दूल्हादेवका मन्दिर क्यों कहलाया? कहा जाता है कि एक बारात इसके समीपसे गुजर रही थी। अचानक ही दूल्हा पालकी परसे गिर पड़ा और मर गया। वह भूत हुआ और उसी समय से यह मन्दिर दूल्हादेवका मन्दिर कहा जाने लगा।

जतकारी मन्दिर—यह मन्दिर जतकारी ग्रामसे करीब तीन फर्लांगकी दूरीपर दक्षिणकी ओर है। इसमें विष्णुकी एक विशाल मूर्ति जो नौ फीट ऊंची है, स्थापित है।

इन मन्दिरोंके अतिरिक्त और भी कई छोटे छोटे मन्दिर तथा अन्य इमारतोंके खंडहर पड़े हैं, जिनमें प्रत्येकके पीछे उस भव्य अतीत युगका महत्त्वपूर्ण इतिहास छिपा हुआ है।

इन मन्दिरोंके शिल्प और स्थापत्य कलाके अतिरिक्त मूर्तियोंके विषय भी विशेष अध्ययनके योग्य है। यहां जीवनकी अनेक झांकियोंके साथ शृंगारको ही विशेष स्थान दिया गया है और शृंगार की मूर्तियां ही हमारी आंखको सबसे पहले आकृष्ट करती हैं। देवी देवताओंकी सौम्य मूर्तियां तो इनके सामने दब ही जाती हैं। इनमें कोककी अनेक कलाओंका खुलकर प्रदर्शन किया गया है। श्लील और अश्लीलकी उस समय क्या परिभाषा रही होगी कुछ कहा नहीं जा सकता। कुछ मुखसे यह भी बात सुननेको मिलती हैं कि इस प्रकारकी नग्न और अश्लील मूर्तियोंके स्थापनसे इमारतों पर बिजली नहीं गिरती। कुछ इसे वाम मार्गियोंका खेल बताते हैं।

जो हो, यह कारीगरी आज हमारे कौतूहल तथा अध्ययनकी चीज बनी हुई है। उस समय पुरुषके हृदयमें स्त्रीका कैसा रूप समाया हुआ था, स्त्रीका समाजमें अपना क्या स्थान था, उनके नैतिक जीवनकी क्या परिभाषा थी, तथा उसके नारीत्वके मानरक्षाकी क्या आयोजना थी, ये सब बातें हमारे सामने प्रकट हो जाती हैं।

खजुराहाकी स्त्रियां अपार सुंदरी, अचल यौवन शृंगार प्रिया तथा अनंगोपासिका हैं। वे न क्षीण काय हैं न स्थूल। उनकी शरीर रचना स्वस्थ और सुडौल है। उनके अंग प्रत्यंग एक विशेष सांचेमें ढले हुएसे प्रतीत होते हैं। वे एक निश्चित शास्त्रके अनुकूल बनाये गये हैं, प्रकृति जैसी अनियमितता उनमें नहीं। उनकी भ्रुकुटियां धनुषाकार कानों तक खिंची हुई रेखाएं मात्र हैं। उनकी आंखोंमें यौवन, अनंग और कटाक्ष हैं। वे रूप गर्विताके समान सदा अपने ही रूपको देखती और सम्हालती हुई सी प्रतीत होती हैं। उनकी अन्तरतरंगे

शृंगार के द्वारा प्राप्त किसी नैसर्गिक आनन्दकी ओर उन्मुख हैं। उनकी मुद्राओं तथा भावभंगियोंमें कर्क-
षता, कठोरता तथा क्रोधको कहीं भी स्थान नहीं है। स्त्रियोचित कोमल लज्जा अवश्य उनके मुखों पर
दिखती है। और यही खजुराहाके कारीगरके हृदयमें स्त्रीत्वका सम्मान है। उनकी नासिका, ठुड्डी तथा
कपाल इत्यादि भी किसी विशेष आदर्शके अनुकूल बनाये गये हैं। उरोज शरीरमें इतने प्रमुख और उन्नत
तथा गुरुतर हैं कि उनका भार सम्हालना भी स्त्रियोंको कठिन सा प्रतीत होता ज्ञात हो रहा है।
इस भावके अभिव्यंजनमें कारीगरने जो कौशल दिखलाया है, वह देखते ही बनता है। उसके सौन्दर्यकी
कल्पना प्राचीन होने पर भी आज अर्वाचीन सी ज्ञात होती है।

खजुराहाकी रमणियोंका शृंगार भी उनके सौन्दर्यके अनुरूप है, कल्पित नहीं। उसके कुछ परि-
वर्तित रूप आज भी बुन्देलखंडमें प्रचलित हैं, परन्तु उस समयकी सी शृंगारप्रियता स्त्री समाजमें अब
देखनेको नहीं मिलती। उस समय एक एक अंगके अनेक अनेक अलंकार मूर्तियोंके अंगोंपर दिखलायी पड़ते
हैं। वेणी बांधनेके ही कितने ढंग उस समय प्रचलित थे, देखने योग्य हैं। मालूम नहीं, आज वे ढंग क्यों लुप्त
हो गये और स्त्रियां अपनी वेष भूषाकी ओरसे क्यों इतनी उदासीन हो गयीं! वेणी बन्धनमें भी कितनी कला
हो सकती है, यह खजुराहासे सीखना चाहिए। सिरके प्रत्येक अलंकारका तो आज नाम भी ढूंढ़ निकालना
कठिन है। तब भी झूला, शीशफूल, बीज, दावनी, इत्यादि जो आज भी बुंदेलखंडमें प्रचलित हैं, पहचाने
जा सकते हैं। मस्तकपर बिंदी देनेकी सम्भवतः उस समय प्रथा ही नहीं थी। बिन्दीका चिह्न किसी भी मूर्ति
पर अंकित नहीं मिलता। नाकका भी कोई भूषण दिखलाई नहीं पड़ता। कानोंमें प्रायः एक ही प्रकारका
भूषण जिसे ढाल कहते हैं, मिलता है। गलेमें लल्लरी, मोतियोंकी माला, खंगोरिया, हार, हमेल, तथा और
भी कुछ ऐसे गहने देखनेको मिलते हैं जिन्हें पहचान सकना कठिन है। बाजुओंमें बजुल्ले, बट्टुवा, जोसन,
टांडे तथा और भी कई गहने दीखपड़ते हैं। कलाइयोंमें वगमुहे, चूड़े कंकड़ तथा दूहरी ही प्रायः मिलती हैं।
कटिमें सांकर पहननेकी कुछ विशेष प्रथा रही है। इसका बनाव आज कलके बनावसे कुछ विशेष अच्छा
दिखायी पड़ता है। उसकी झालरें प्रायः घुटनों तक झूलती नजर आती हैं।

पैरोंके प्रति खजुराहाका कारीगर कुछ उदासीन सा प्रतीत होता है। पैरोंमें केवल पैजेने या कड़े
सा कोई गहना दिखायी देता है।

खजुराहाकी स्त्रियोंमें वस्त्रोंका व्यवहार बहुत ही परिमित है। कटिके नीचे ही धोती पहननेकी
प्रथा थी। सिर पर उसे नहीं ओढ़ा जाता था। उत्तरीयका भी पता नहीं चलता। वक्ष पर कंचुकी
अवश्य दृष्टिगोचर होती है। सीना खुला रखनेमें खजुराहाकी स्त्रियां लज्जाका अनुभव नहीं करती दीखतीं।
सिरको ढांकना तो वे जानती ही नहीं थीं।

रूप और शृंगारके साथ खजुराहाकी स्त्रियोंकी भावभंगी तथा अंगप्रत्यंगकी विचित्र मुद्राएं

देखते ही बनती है। अंग प्रत्यंगमें कलाकारने कैसी कैसी कल्पना की है यह अध्ययनकी चीज है। स्त्रीके खड़े होनेमें, बैठनेमें ,चलने फिरनेमें, सभीमें एक विशेष सौन्दर्यकी योजना है। उसके प्रत्येक हावभावमें कोमलता, क्रिया विदग्धता और कटाक्ष वर्तमान् है। प्रत्येक हावभावमें उंगलियां और आंखें विशेष क्रियाशील हैं। प्रत्येक उङ्गलीका कुछ नियत काम सा प्रतीत होता है, जैसे चन्दन लगानेमें पंतीका ही प्रयोग किया जाता है।

सीने और नितम्बमें खजुराहाका कलाकार सौन्दर्यका विशेष अनुभव करता है। प्रत्येक मुद्रामें सीने और नितम्बों की उसने प्रधानता दी है। नितम्ब भागको सामने लानेके लिए उसने शरीरको इतना मरोड़ दिया है कि कहीं कहीं पर वह प्रकृतिके भी विपरीत हो गया है। कटि इतनी कोमल और लचोली है कि वह यौवनके भारको सम्हाल ही नहीं सकती। ऐसा मालूम होता है कि खजुराहाका कलाकार भद्दे-पन या गंवारुपनको जानता ही नहीं था।

पुरुषके लिए खजुराहाकी स्त्रियां उसकी विषय पिपासाकी साधिका मात्र हैं। कलाकारने अपनी वासना मय भावनाओंको इतना खुलकर अभिव्यक्त किया है कि स्त्रीकी सहज लज्जाका भी उसे ध्यान नहीं रहा। उसने स्त्रीको पुरुषोंसे भी अधिक कामुक और विषयतृषित दर्शाया है। वही प्रेम और प्रसंगके व्यापारमें अग्रसर और पुरुषसे भी अधिक आनन्द लेती हुई प्रतीत होती हैं। आनन्दोद्रेकमें वह पुरुषमें समा जाना चाहती है। पुरुषकी मरजीपर वह इतनी झुक गयी है कि उसके अन्दर हड्डियों का भी अस्तित्व ज्ञात नहीं होता। वह अपनी प्रत्येक अवस्थामें पुरुषको रिझानेका षड्यन्त्र सा ही करती नजर आती है। कहीं वह वेणी सम्हाल रही है, कहीं आंखमें अंजन दे रही है, कहीं अंगड़ाई ले रही है, कहीं आभूषणों को पहन रही है, कहीं पैरसे कांटा निकाल रही है। वह अपने अन्तःपुरमें है और यौवनकी उत्ताल तरंगोंसे खुलकर खेल रही है, पर उसकी सब तैयारी नेपथ्यमें सजते हुए पात्रके समान किसी विशेष अभिनयके लिए ही है। हां, उसकी प्रत्येक मुद्रामें अनन्त यौवन, विषय पिपासा और स्वास्थ्य की छाप है।

खजुराहा का पुरुष लम्पट और व्यभिचारी नहीं। वह प्रेम और स्त्रीप्रसंग को एक पवित्र यज्ञ सा समझता हुआ प्रतीत होता है। उसके पीछे भी एक धार्मिक भावना अन्तर्निहित सी ज्ञात होती है। उसका हृदय शुद्ध है तथा लक्ष्य भी। वह विषय का रोगी नहीं। यद्यपि खुजराहा के पत्थर पत्थर में काम की दशा का अविर्भाव होता है तो भी उस वायुमंडल में आधुनिक अस्वस्थता, ह्रास और पतन के चिन्ह नहीं। उस युग के पुरुषों में यज्ञ की भावना थी और यही उनके प्रत्येक कार्य के पीछे शक्ति थीं। उनमें आत्मबल तथा चरित्रबल था। आजकल हमारे हृदयों में कुरुचि समा गयी है और हम वस्तु का ठीक ठीक मूल्यांकन नहीं कर पाते। यही रोग हमें जीवन का सदुपयोग नहीं करने देता।

शृंगार-मूर्तियोंके अतिरिक्त पूजा, शिकार, मल्लयुद्ध, हाथियोंके युद्ध, फौजकी यात्रा, इत्यादि अनेक

प्रकार की जीवन की घटनाओं को व्यक्त करनेवाली मूर्तियां भी खुजराहा में दृष्टिगोचर होती हैं। इससे ज्ञात होता है कि खजुराहाके कलाकारका उद्देश जीवनके सभी अंगोंपर प्रकाश डालने का था। उसीकी दृष्टि जीवन की सम्पूर्णता की ओर थी। एक जगह तो पत्थर ढोते हुए मजदूरों तक का चित्रांकन किया गया है। इस प्रकार खजुराहा के मन्दिर अपने समय की एक इनसाइकिलोपीडिया के स्वरूप हैं। शिल्पकारों ने जो कौशल दिखलाया है उसका अनुकरण आज असम्भव सा प्रतीत होता है। पत्थर को तो उन्होंने मोम ही बना डाला था। उसे अपने मनोनुकूल ऐसा ढाला है जैसा की हम धातुओं को नहीं ढाल सकते। न जाने उनके पास कौन से औजार थे और कौन सी लगन।

एक साथ जब हजारों शिल्पकार छेनी और टाकियोंसे पत्थर पर काम करते होंगे तब कैसे संगीत का प्रादुर्भाव होता होगा, हम कल्पना नहीं कर सकते। आज खजुराहा खडहर के रुप में पड़ा हुआ है तब भी वहां के भूखंडमें उसी युग की मधुर स्मृति लिये शीतल वायु चलती है। उन खंडहरों में घूमने में, मन्दिरों के झरोखों में बैठकर उस युग की कल्पना करने में, ऐसा आनन्द आता है जैसे हम उसी युगमें पहुंच गये हों। वर्तमान् जीवन की सुध बुध ही सी भूल जाती है। वास्तव में खजुराहा देखने योग्य है।

खजुराहा जानेके लिए निकटतम रेलवे स्टेशन हरपालपुर तथा महोबा हैं। इन दोनों से छतरपुर से होते हुए ठीक खजुराहा तक मोटर लारियां जाती हैं।
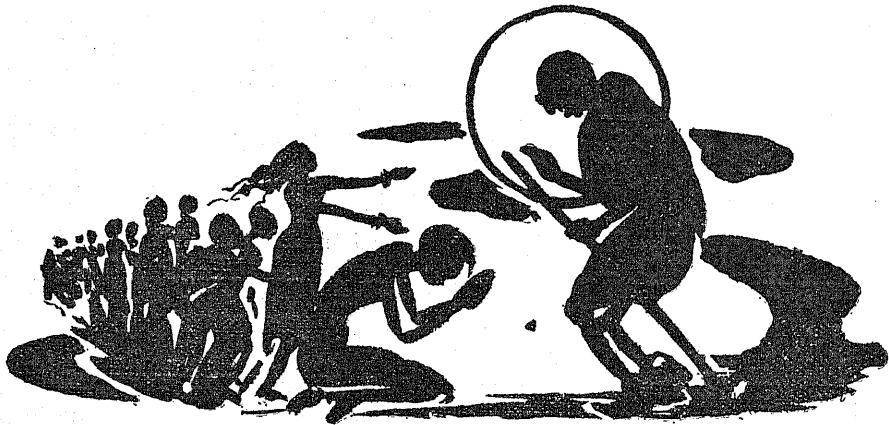
बुंदेलखंड में नौ वर्ष

श्री शोभाचन्द्र जोशी

सन् १६३८ के अक्टूबर महीने में मैं टीकमगढ़ आया था। वे दिन बेकारी के थे। पूरे पांच वर्ष संयुक्त प्रान्त की धूल फांकने पर भी मुझे नौकरी नहीं मिली। न जाने कितनी निराशा, अपमान, लांछना और फाकेकशी का मुझे शिकार बनना पड़ा। जीवन एक दुःसह भार बन गया था। अलिफलैला के अस्तिशेष बुड्ढे की भांति उसे कंधों से उतार कर फेंक देने की शक्ति भी मुझमें नही थी और उसे लिये-लिये घसीटने की भी अब अधिक आकांक्षा नहीं रह गयी थी, विस्मृति की नकाब पहने हुए बेकारी के वे पांच वर्ष, प्रेतच्छायाओं की भांति, मेरी नींद में मुझे आज भी चौंका देते हैं। कभी कभी लगता है कि सुख और सन्तोष की जिस इमारत को मैं अपने चारों ओर खड़ा करना चाहता हूं, वह अर्ध-निर्मित हो मुझे लेकर भूमिसात् न हो जाय।

टीकमगढ़में मुझे नौकरी मिल गयी। कुछ दिनोंके लिए रहने को राज्यका अतिथिगृह मिला। अच्छा अन्न, अच्छे वस्त्र, अच्छा घर,—बिजली, मोटरें, संगीत, नृत्य। उन दिनों दुर्गापूजाका उत्सव चल रहा था। अतिथिगृहमें राज कवियों और कोकिलकंठी वारागंनाओंका जमघट लगा हुआ था। कविता और सुर, रस और ध्वनि, वाणी और सौन्दर्य का मनोहर सम्मेलन था। मुझे लगा कि मेरे पापोंकी अवधि बीत गयी। पुण्यों का भोग प्रारम्भ हो गया। यह स्वर्ग था। वह नरक था, जिसे मैं पीछे छोड़ आया।

कई मित्र भी बन गये थे। आज जो लोग मेरे मित्र हैं, वे नहीं। वे तो स्वप्नोंके साथी थे। जब तक स्वप्न चले, वे भी रहे। स्वप्न टूटे तो उनकी मैत्री भी टूट गयी। सांयकाल को अतिथि निवासमें चले आया करते थे। रसज्ञ जन थे। कविता और सौन्दर्य परखना जानते थे। 'व्हाइट हार्स व्हिस्की', और देशी ठर्रेके गुण दोषों का विवेचन कर सकते थे 'क्रेवन ए' सिगरेट पीनेसे किस प्रकार मनुष्य दीर्घायु हो जाता है और तेंदूके पत्तोंकी बनी बीड़ी पीकर क्यों अकालमृत्यु प्राप्त होती है—इस तथ्यका उन्हें आश्चर्य-जनक ज्ञान था।

उन दिनों टीकमगढ़में पानी मंहगा था। शराब और पेट्रोल सस्ते थे। मोटरें बैलगाड़ियों से

भी अधिक अनायास प्राप्य थीं। मैं मित्रोंके साथ दूर दूर घूमने चला जाया करता। सरकारी मोटर पर सैर करनेके लिए शॉफरको दो चार 'क्रेवन ए' पिला देना पर्याप्त होता। नगरके बाहर दूर जंगलों में हम लोग घूमा करते। यहांकी धरतीपर प्रकृति माताकी ऐसी ममता देखकर इस जनपदको स्वर्ग समझ लेनेकी मेरी धारणा और भी दृढ़ हो गयी।

मैं जिस प्रदेशका निवासी हूं, उसे कालिदासने देवभूमि कहा है। हिन्दुस्तानके जिन मनुष्यों के पुण्यभोग अभी तक अखंड है, वे प्रति वर्ष ग्रीष्म में मेरे उस देशका उपभोग करने चले जाया करते हैं। हिमालय की मुक्त वायु, चीड़के वृक्षोंसे ढकी उपत्यकाएं, पिण्डारी ग्लेशियरकी शीतल छाया—देवताओंकी उस धरती पर आज-कल सभी कुछ पैसे से खरीदा जा सकता है। किन्तु मुझ जैसे पृथ्वी-पुत्रोंको, जिन्हें भैरव देवताकी लात लगी हैं, ये सारी वस्तुएं स्वत्व होने पर भी दुष्प्राप्य हैं। सो—बुन्देलखंडकी भूमिमें लगा कि हिमाचल तो गया, किन्तु मैं घाटे में नहीं रहा। कालिदासका यक्ष निर्वासित होने पर स्विट्जरलैंड नहीं गया था। इसी जनक-तनया-स्नान-पुण्योदक भूमिने उसे भी कहीं शरण दी थी। यहांके हरे-भरे आम और जामुन के जंगल, प्रसन्न-जला नदियां, वेतवा, धसान, केन, जामनेर—सैकड़ों तालाब, तालाबोंके बांध पर बने पुराने राजाओंके प्रासाद, किले, स्मृति-स्तूप। चप्पे चप्पे पर इतिहास और प्रकृति को गाढ़ालिंगन किये देखा। पुराणोंमें हिमालय और विन्ध्याचलकी प्रतिस्पर्धा वाली कहानी पढ़ी-सुनी थी। विन्ध्याचल का उद्दण्ड प्रताप और विनम्र भाव, मुझे दोनों मानो इस जनपदके स्वभावमें भींगे हुए लगे। यहां की मीठी बोली, लोगोंका बिनीत स्वाभिमानी आचरण। पांच बर्षकी धूलभरी खानाबदोश कहानीका यह नया अध्याय था। सोचता था, अब सुखसे जी सकूंगा।

दो महिनेके बाद समयने करवट बदली तो स्वप्नोंकी यह अजीमुश्शान इमारत 'धड़ाम-धम' गिर पड़ी। ईंटें, पत्थर, चूना-सब कुछ खाकमें मिल गये। अतिथिनिवास का चपरासी आया, बोला—' हुजूर, साहब की मर्जी हुई है कि आप कोई मकान ढूंढ लो। गेस्टहाउसमें ज्यादा दिन रहना कायदेके खिलाफ है। अब आप मेहमान तो रहे नहीं; रियासतके नौकर हैं।"

उस दिन पहिले पहल लगा कि मैं नौकर हूं, शाहजादा नहीं। नौकरोंके लिए स्वर्गका निर्माण नहीं हुआ है। शाहजादोंके जिस स्वर्गको देख देख कर मैं स्वप्नोंका निर्माण किया करता था, वह सत्य नहीं था।

बुन्देलखंडके जिस रूप पर मैं रीझ गया था, वह शाश्वत नहीं था। वह छल था—प्रवंचना थी। वह आवरण था, कि जिसे भेदकर आत्माका दर्शन होना मुझे बाकी था। जो सत्य है, चिरन्तन है, सुन्दर है-किन्तु जो कुरूप है, भयावह है, बुन्देलखंडकी उस मानवताका भी अब दर्शन मैंने किया। यहांके वन, यहांकी नदियां, तालाब, गगनस्पर्शी राज प्रासाद, मोटरें, शराबकी बोतलें, वारांगनाएँ, मृत-संस्कृतिके गायक राजकवि—ये

सबके सब मिथ्या थे। सत्य है वह लोक, जिसके बीच, उस दिनसे आज तक, पूरे नौ वर्ष और कुछ महीने में रहता आया हूं। जिनके शरीरमें मेरा शरीर जिसकी आत्मामें मेरी आत्मा, सांसमें सांस, घुल मिल गयी है। जिसकी कुरूपतामें मेरे जीवनका चिद्रूप समा गया है। एक रंग, एक रस हो गया है। मैं उसी बुन्देलखंडका स्वरुप खीचूंगा। भौगोलिक मानचित्र पर छपे हुए एक भूमिखण्ड और स्वप्न निर्माताओंके भावी बुन्देलखंडका नहीं।

'जीवनकी छोटी सी लौ'—

अभी, जब कि मैं यह लिख रहा हूं, दिनके दो बजे हैं। कोई बीस फीट लंबा दस फीट चौड़ा कमरा है। आठ फीट ऊंची दीवारों पर पांच फीट तक सील चढ़ी हुई है। भिन्न-भिन्न प्रकारकी दुर्गन्धसे कमरा महक रहा है। ऊपर छत पर असंख्य मकड़ियोंके जाले लगे हुए हैं। हर तीसरे दिन मैं उन्हें मिटाकर साफ करता हूं। किन्तु रातभर में वे ज्योंके त्यों तन जाते हैं। फर्शकी एक ओर दरी बिछा कर मैं यह लिख रहा हूं। दूसरे कोनेमें मेरे दो बच्चे और उनकी जननी एक दरी पर सोये हुए हैं। कमरा प्रातःकाल बुहारा गया था। किन्तु अभी तक उसमें कूड़ेका ढेर बिखर गया है। बच्चोंके मुंह पर मक्खियां मंडरा रही हैं। पत्नीके शरीर पर जो धोती है वह मैली हो गयी है—धोबियोंने दो-आना-कपड़ा धुलाई करदी है, और सनलाइट साबुन साढ़े सात आनेमें आने लगा है। मुझे पचास रुपये तनखा मिलती है। मैं एक भारतीय विश्वविद्यालयका स्नातक हूं; अध्यापक हूं। बुन्देलखंडके सैकड़ों—हजारों बालकों को नागरिक बनानेका ठेकेदार हूं। मुझे लोग राष्ट्र निर्माता (नेशन-बिल्डर) कहा करते हैं।

मैं यह इस लिए लिख रहा हूं कि मैं अपने आप को बुन्देलखण्डी समझने लगा हूं। यहां का जल, यहां की वायु, मेरी रग रगमें समा चुकी है। मेरे दोनों बच्चे यहां की धूलमें लिपट-लिपट कर पनप रहे हैं। मैं अपने आप को एक इकाई मानता हूं इस जनपद की। मेरा जीवन यहां के जीवन का प्रतीक है। मेरा घर यहां के घरों की भांति, और मेरा परिवार यहां के समाज का प्रतिबिम्ब है। इसीलिए मैंने उसका वर्णन किया है।

मेरे मकानके बाहर जो गली है, उसमें दानों और गन्दे पानीके लिए नालियां नहीं हैं, लोगों के शरीरों की नहावन, गन्दे कपड़ों की धोवन, पेशाब और पाखाना इस गली की जमीनमें पिछली डेढ़ शताब्दी से रसता चला जा रहा है। सील के रूपमें वही मकानों की निचली मञ्जिलों पर चढ़ आया है। पिछले नौ वर्षोंमें मैंने इसी एक छोटेसे मुहल्लेमें चौदह बच्चों को टाइफाइड और चेचकसे मरते देखा है। मलेरियासे लोग मरते कम हैं। नहीं तो इस मुहल्लेमें अंगुलियों पर गिनाने को बच्चे नहीं मिलते। इन चौदह अकालमृत्यु प्राप्त मानव-शिशुओंमें मेरी एक बहिन और भाई भी शामिल हैं। बहिन पांच वर्ष की

थी और भाई ढाई वर्ष का। दोनों भले-चंगे थे। टाइफाईड हुआ और मर गये। इसलिए तो मैं कहता हूं कि मैं बुन्देलखण्डी हूं। गुलाबके फूलों की भांति खिले हुए अपने दो निरपराध भाई-बहिनों का मैंने बुन्देलखण्ड की सन्तप्त आत्मा को बलि चढ़ा दिया। मेरे आंसू बाकी बारह बच्चोंके माता-पिताके आंसुओं के साथ मिलकर बहे थे। फिर कौन कह सकता है कि मैं बुन्देलखण्डी नहीं हूं?

एक मेरे मुहल्लेमें पिछले नौ वर्षोंमें चौदह बच्चे मरे। मेरी गली बहुत छोटी है! टीकमगढ़में ऐसी कमसे कम दो सौ गलियां होंगी। चौदह को दो सौ से गुणा करने पर दो हजार-आठ सौ होते हैं। नौ वर्ष में अट्ठाईस सौ बच्चे। एक वर्षमें करीब तीन सौ?

मा नः स्तोके तनये, मा न आयुषि, मा नो गोषु, मा नो अश्वेषु रीरिषः,
मा नो वीरान् रुद्रभामिनी वधीः हविष्मन्तः सदमित्वा हवामहे।

आदिम पुरुषने भगवान् रुद्रसे यह प्रार्थना की थी—'हे रुद्र! मेरे नन्हे-नन्हे बच्चों पर रोष न करें। मेरे गाय, बैल, मेरे घोड़ा पर क्रुद्ध न हों। मेरे भाई बहिनों पर कृपा दृष्टि रखें। वास्तविक मनुष्य की इससे अधिक अभिलाषा नहीं होती। उसके बाल बच्चे सुखी रहें, स्वस्थ फूलोंसे खिले रहें। बस, इससे अधिक जो चाहता है, वह चोर है। वह दूसरे की अभिलाषित आवश्यकताओं की चोरी करता है। वह दूसरेके बच्चों को भूखों मारता है। वह हजारों लाखों माताओं की गोद असमयमें ही रिक्त कर देता है। वह प्रकृति की इस सुन्दर सृष्टी पर टाइफाइड, चेचक, प्लेग, हैजेके कीटाणुओं को बरसाता है।

टीकमगढ़के बच्चों पर रुद्रके इस कोप को किसने बुलाया? किसने उनके जीवित रहने के एक मात्र अधिकार को भी छीन लिया? बच्चे समाज का सौन्दर्य हैं, उसकी कोमलता हैं। जिस समाजमें बच्चे मरते हैं, वह ठूंठ है, जो स्वयं जलता है और दूसरों को जलाता है। उसे उखाड़ फेंकना चाहिए, नष्टकर देना चाहिए।

जीवन लौ की दूसरी झमक—

मेरे पड़ोसमें एक परिवार रहता है। उसे परिवार कैसे कहूं। स्त्री पुरुष का एक जोड़ा। पुरुष सुनारी करता है या बढ़ईगिरी, मैंने यह जानने का प्रयत्न कभी नहीं किया। पिछले नौ बरसोंसे मैं उन्हें देखता आ रहा हूं। पुरुष डेढ पसली का है, और स्त्री वायुसे फूलकर रक्तहीन मांसकी एक गुब्बारा-नुमा पुतला बन गयी है। दोनों सदा अस्वस्थ रहा करते हैं। बरसोंसे ज्वार खाते आ रहे हैं। तीज-त्योहारके दिन मीठे तेलमें उनके घर गेहूं की पूड़ियां अवश्य बन जाती हैं। स्त्रीकी कोई सन्तान नहीं है। किन्तु वह बांझ भी नहीं है। सालमें कमसे कम एक बार उसे स्राव हो जाता है। तीन-तीन चार-चार महिने तक पेटमें परिवर्धित कर अन्तमें आकृतिहीन एक मांसपिंड को वह नारी जन्म देती है। और वर्षके

बाकी दिन प्राणहीन सी चारपायी पर पड़ी रहती है, मैं पिछले नौ वर्षोंसे यही क्रम देखता आ रहा हूं, दुनियां समूची मैंने नहीं देखी, किन्तु एक मात्र इसी स्त्री में मैंने तड़पते हुए नारीत्व को बार-बार मरते जीते, फूलते मुरझाते देखा है, मेरे सामने बारम्बार एक विराट आश्चर्य मूर्तिमान् बन कर खड़ा हो जाता है कि दुनियां वालों की आंखें क्यों अब तक अपने इस वीभत्स रुप को नहीं देख सकीं।

इन चित्रोंके द्वारा मैं यह चाहता हूं कि मेरे हृदय पटल पर अंकित बुन्देलखण्ड की रुपरेखाएं उभर उठें, मैं अपने मुहल्ले को टीकमगढ़ का, टीकमगढ़ को बुन्देलखंडका, और बुन्देलखंड को भारतके इस महादेश का सूक्ष्मचित्र मानता हूं। मैं व्यक्ति को समूची मनुष्यता और पेड़ की छोटी सी टहनी को संसार भरके वृक्षों का चित्र मानता हूं। यह केवल मेरे ही मानने की बात है। दूसरेसे मनवाने की महत्वाकांक्षा मुझ में नहीं।

बुन्देल जनकी तीसरी झांकी--

अपनी तीसरी अनुभूतिके चित्रसे मैं समझता हूं कि अब तक जो रेखाएं मैंने खींची है, उनमें छाया और प्रकाश का समावेश हो जायगा, इसे लिखनेके तीन चार महिने पहिले की बात है, बुन्देल-खंड की जनता का एक नेता मार डाला गया, नेताओं पर अपनी श्रद्धा या प्रेमके वशीभूत होकर यह लिख रहा होऊं सो बात नहीं है, **नारायणदास खरे** मेरा मित्र भी था; इसी नाते कई बार मैं उसके इतने निकट भी पहुंच सका था कि उसके हृदय की पहिचान कर सकूं। पिछले नौ वर्षोंमें एक मात्र यही एक व्यक्ति मुझे मिला, जो जान गया था कि उसके जनपद की पीड़ा कहां पर है, संसारके दूसरे देशों की भांति नेता कहानेवाले व्यक्तियों की कमी यहाँ भी नहीं है। बरसाती शिलीन्ध्रों की भांति ये लोग अनायास उत्पन्न हो जाते हैं और अपने चारों ओर की पृथ्वी को एक कुरुप दर्शन प्रदान करते हैं। नारायणदास जीता रहता और अपने जनपद की पीड़ा का इलाज कर सकता या नहीं, यह दूसरी बात है, मैं तो प्रकृत नेता को कुशल वैद्य मानता हूं। यदि डाक्टर जानते कि रोगी का निदान क्या है, तो चिकित्सामें कठिनता नहीं होती।

अब अभागे प्रयत्न कर रहे हैं कि उसके बलिदानके महत्व की उपेक्षा की जाय, जो उनका मसीहा बन कर आया था, सम्भव है कि समय का सर्वग्रासी चक्र उनके प्रयत्न को सार्थक कर दे, आकाशके एक कोनेमें भभक कर टूट जाने वाला नक्षत्र था नारायणदास। अनन्त नीलिमामें वह डूब गया है। मैं व्यक्ति-वादी हूं इसलिए, मैंने अपने बुन्देलखंडके नववर्षीय जीवनमें जो कुछ निधियां प्राप्त की हैं, उनमें एक नारायणदास का मृत्यु सन्देश है। वह वस्तु मेरी है क्योंकि जैसा मैंने चाहा उसे समझा, उससे मैंने सीखा कि संसारमें दुःख है किन्तु सर्वशक्तिमान भी है, दुःख ही परमात्मा की अनुभूति है; सुख त्याज्य है किन्तु ग्राह्य नहीं। दुःख हमारा है और सुख पराया। यहांपर उसके संस्मरणके द्वारा मैं अपने इस विश्वासको और भी दृढ़ कर देना चाहता हूं कि मनुष्य का समाज आज भले ही, रुग्ण हो, भले ही उसका अंगप्रत्यंग विषमताके कोढ़से गल-गल कर कट रहा हो; किन्तु मनुष्यता अविनाशी है, सत्य है, सुन्दर है। प्रकृति कुरूपता को

सहन नहीं कर सकती। पतझड़ का मौसम केवल दो महिने रहता है, बाकी दस महिने संसारमें हरियाली छायी रहती है, फूल खिलते रहते हैं, फल लगते रहते हैं।

टीकमगढ़से लगा हुआ एक वन है, उसे खैरई कहते हैं। आजसे पांच साल पहिले उसमें आग लग गयी थी, सारा जंगल जले अधजले ठूंठोंसे भर गया था। आज कोई व्यक्ति उस वन को देखे तो मेरी बात पर विश्वास नहीं करेगा। आज वहां असंख्य नये-नये तरुण वृक्ष उठ आये हैं, खूब घने घने, सुन्दर। अग्निके उस महाविनाशके चिन्ह तक नहीं रह गये, घाव ऐसा भर गया है कि खरोंच तक नहीं बची।

बुन्देलखंड का घाव आज अत्यन्त विकृत रुपमें है, सड़ रहा है, गल रहा है; किन्तु प्रकृति का नियम अटल है। विनाश शाश्वत नहीं है, निर्माण शाश्वत है; मृत्यु जीवन पर विजय नहीं पा सकती, जीवन मृत्यु पर विजयी होता है।

बुन्देलखंडके सनातन जीवन का एक स्पन्दन नारायणदास था। जब तक उस जैसे व्यक्ति यहां आते रहेंगे तब तक बुन्देलखंड का आत्मा नष्ट न होगा, वह एक चिन्ह था कि मानवता अपने दर्द को दूर करना चाहती है, खैरईके जंगलमें जिन्होंने आग लगायी थी, उन्हें राज्यसे क्या दण्ड मिला, यह मैं नहीं जानता पर शापके भागी अवश्य हुए। मनुष्यता अपने सुखचैनमें आग लगाने वालों को पहिचान गयी है। मेरे एक छोटेसे मुहल्लेमें चौदह बच्चा की मृत्यु और उपयुक्त तथा पौष्टिक भोजनके अभावमें मां न बन सकने वाली नारी का शाप व्यर्थ नहीं जायगा।

स्वर्ग की सीमाएं मनुष्य को दृष्टिगोचर होने लगी हैं, वे स्वयं बढ़ी आ रही हैं इस ओर जिस दिन बुन्देलखंड स्वर्ग बन जायगा, जब यहां उत्पन्न होने वाला प्रत्येक बालक बूढ़ा होकर ही अपनी जीवन यात्रा समाप्त करेगा, जिस दिन प्रत्येक नारी का गोद भरी पूरी रहेगी, उस दिन मनुष्य देवता बन जायगा, और, तब तक यदि मैं जीता रहा तो सबसे पहिले मेरी कलम बुन्देलखंडके विजयगीत बोल उठेगी, किन्तु मैं न रहा तो मेरा वर्ग रहेगा, कलमवालों की परम्परा सदासे अटूट चली आ रही है, बुन्देलखंडके कीर्तिगानके लिए चारणों की कमी नहीं होगी।

बुन्देलखण्डका स्त्री-समाज

श्री राधाचरण गोस्वामी एम. ए., एल एल. बी.

पुरातन सभ्यता की प्रतीक धर्म और आचार की मंजुल मूर्त्ति, सरलता और सहनशीलता की साकार प्रतिमा, उत्सवरता, प्रकृति–प्रिया, विनोदनी, रूढ़िवादिनी, विश्वासिनी, कर्मरता—यह है बुन्देल खण्ड की नारी।

वेशभूषा—दतिया, झांसी और समथर व आस-पास की स्त्रियां लंहगा पहनती हैं और ओढ़नी ओढ़ती हैं, उच्च वर्णों में इसपर भी चद्दर लपेटती हैं। उसका एक छोर चलने में पंखा सा कलात्मक रुप से हिलता है और अवगुंठन के सम्हालने में संलग्न उंगलियां पद-क्रमण और शरीर-रेखा (contours) ही वर्ण और वयस का परिचय देती हैं। बिजावर, पन्ना, चरखारी, छतरपुर और इसके आसपास केवल धोती पहनने की प्रथा है। इसमें दोनों लांघ बांधी जाती हैं।

उत्सव में जब बुन्देलखंड की वधू सुसज्जित होती है तो उसकी वस्त्राभूषण-कला निखर जाती है। पैरों में महावर लगा, पैरों की उगलियों में चुटकी और अगुंष्ठ में छल्ला पहने, लहरों वाले घांघरा पर बुंदकियों वाली चुनरी ओढ़े, कंचुकी से वक्ष कसे, उसपर लहराती हुई सतलरी लल्लरी गोरे गले में काले पोत की छटा को बढ़ाता है। सरपर सीसफूल, वंदिनी पहने वह आज भी जायसी की "पद्मिनी" की होड़ करती है। आखों में यहां की बाला इतना बारीक काजल लगाती हैं कि वह कजरारी आखें कुछ काल में चुन सा लेती हैं। उच्चवर्ण के कुलों में कहीं कहीं अनुपम सौन्दर्य देखने को मिलता है। यहां के एक प्रसिद्ध राजघराने की राजकुमारी ने जो आसाम में ब्याही गयी थी कुछ साल हुए विश्वरूप प्रतियोगिता में द्वितीय पुरस्कार पाया था।

धर्म और उत्सव—बुन्देलखंडकी नारी-पर आर्य और अनार्य धर्म, प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय सभ्यताकी अमिट छाप है। उसके उदार वक्षस्थल में वैष्णव, शैव, शाक्त और जैन मत मतान्तरों का द्रोह नहीं और न है मन्दिर दरगाह का भेद। आदिम जाति के पूज्य चबूतरे और पाषाणखण्ड भी उसके कोमल हृदयको उसी तरह द्रवित करते हैं जैसे आर्यों के देवता और पीर का मकबरा। प्राचीन अर्वाचीन दर्शन शास्त्रों की वह पंडित नहीं, पर उसके हृदय में है वह अगाध विश्वास जो सभी धर्मों

की भित्ति है, उसी पर वह अपनी जीवन की इच्छाओं की प्रतिमा बनाकर अर्पित करती हैं। और सफलता पर इष्ट की पूजा करती है और असफलता पर भी अपने देवताको गाली नहीं देती; न विश्वासमें कमी करती है। यह है बुन्देलखंडकी नारीकी धर्म जिज्ञासा। बुन्देलखंड वैष्णव, शाक्त शिव और जैन मन्दिरों का केन्द्र है। ओरछाके नृपति मधुकरशाहकी पत्नी पुष्य नक्षत्रमें चलकर अपने रामको अयोध्यासे लायी थी और महारानीके वृद्ध हो जानेसे भगवान् कृपा कर बैठ गये थे जिससे उन्हें सेवामें कष्ट न हो। उनकी गाथा प्रसिद्ध नाभाजो कृत भक्त-मालमें है। दतियामें गोविन्दजी और विहारीजी, पन्नामें जुगल किशोरजी, मैहरमें शारदा देवी, उन्नावमें बालाजी, छतरपुरमें जटा शंकर, प्राचीन मंदिर है। हर राज्यमें, हर गांवमें मंदिर हैं जहाँ पर नारियां प्रतिदिन विशेष कर उत्सवों पर दर्शनार्थ जाती हैं। कार्तिकके मासमें बुन्देलखंड की नारी वृजके कृष्ण-कन्हैयाकी गोपिका बनकर उसकी पूजा करती हैं फिर महारासमें वह खो जाते हैं तो वह ढूंढ़ती हैं और पुनर्मिलन पर आनन्द मनाती हैं। उन दिनों उषा कालसे स्त्रियोंका समूह मधुर गीतोंके रवसे गली गलीको मुखरित कर देता है।

होली व्रजके बाद बुन्देलखंडमें विशेष उत्सव है। इन दिनों जो गीत गाये जाते हैं उन्हें फागैं कहते हैं। छतरपुर राज्यके अमर कलाकार "ईसुरी" ने फागैं बनानेमें कमाल किया है और दतियामें फागोंके साथ 'भेद' गायी जाती है यह मिश्रित रागिणी दतियाकी भारतीय संगीतको देन है। उस समय राजाके महलसे लेकर गरीबकी कुटिया तक मार्गमें, खेतपर, चौपालमें, हाटमें, नदी-नालेके तीरों पर, सभी जगह वही प्रकृति-प्रिया उत्सवरता बुन्देलखण्डकी नारीकी मधुर ध्वनि सुनायी देती है। कहीं पर नरनारी साथ साथ गाते बजाते हैं पर बुन्देलखण्डमें पर्दा प्रथा अधिक होनेसे यह दलित जातियों तक ही सीमित है। घरोंमें देवर भाभीसे फाग खेलते हैं और बहनोई सालियोंसे। पतिपत्नी मिलकर मधुर प्रेम रागका आस्वादन करते हैं।

कुमारिकाएं नवरात्रिमें नौरताका खेल खेलती हैं—उस समय प्रभातमें किशोरियोंके "हिमांचल की कुअर लड़ायती नारे सुअटा" से प्रांगण गूंज उठते हैं और वह शिवको प्राप्त करनेकी गौरीके तपका अनुसरण करती है। अन्तिम दिन गौरीकी मृत्तिका मूर्तिका शृंगार युक्त पूजन कर उसे चबैना खिलाती हैं। शरद कालमें ही बेरी की कांटोंदार डालीमें हर कांटे पर फूल लगाकर जब कुमारिकाएं 'मामुलियईके आगये लिवौआ झुमक चली मामुलिया' गाती हुई कन्धोंसे कन्धा मिलाये झूमती गाती हुई जाकर सरोवरोंमें उसे सिरानें (अर्पित करने) जाती हैं तो मालूम होता है इन्होंने अपने जीवनकी साथही कंटकोंको पुष्पित बनाना निश्चित किया है। अक्षय तृतीयाको एक दूसरेसे स्त्रियां उनके पतियोंका नाम पूछती हैं। और बतलानेमें झिझक करने पर चमेलीके वोदर (टहनी) से प्रतारण करती हैं। श्रावण मासमें हर वधू अपने भाईके बुलानेको आनेकी प्रतीक्षा करती हैं। और मांयके (पीहर) जाकर झूले झूलती हैं और गीत गाती हैं।

इस प्रकार हर मासमें हर सप्ताहमें कभी न कभी वह अपनी यातनाओंको एक ओर रखकर अपनी सखी-सहेलियोंके साथ मिलकर उत्सवके आनन्द मनाती हैं। कभी तुलसीका पूजन तो कभी वटका, कभी रात भर जागरण तो कभी दिन भर उपवास, कभी देवीपूजन तो कभी विष्णुपूजन, बस यों ही उसकी जीवनकी घड़ियोंमें मुस्कराहट बिखरती रहती हैं।

आचार व्यवहार

धर्मके स्थानपर अन्धविश्वास, रूढ़िवाद, बाह्य आचार और व्यवहारने बुन्देलखंड की नारीसमाज के हृदयमें आसन जमा लिया है। शिक्षाका अभाव, अज्ञान और अपर्यटनने नारीके मस्तिष्कको संकुचित कर दिया है। यहां वहां पर सुन्दर संस्कृतिकी झलक उसके आचार व्यवहारमें दृष्टिगोचर होती है, पर गतिहीनता उसका सबसे बड़ा दोष है। राजपरिवारोंकी देखा देखी पर्दाने उच्च वर्णोंमें, घर बना लिया है जिन्होंने स्वयं मुगल बादशाह, नवाबोंकी नकल कर मध्ययुगमें इसे अपनाया था। इसका प्रभाव नारियोंके स्वास्थ्य पर बुरा अवश्य पड़ रहा है पर अधिकतर श्रमशील होनेके कारण उसका अधिक प्रभाव नहीं हो पाता। पर्दा वैसे भी उतना कठिन नहीं—जैसा संयुक्तप्रान्तके कतिपय हिस्सोंमें है। श्वसुर, जेठसे विशेष पर्दा होती है और उनसे भी; जो श्वसुर या जेठके बराबर वाले हों। हाट बाजारमें स्त्रियां आनन्दसे जाती हैं और वस्तु क्रय करती हैं। कम उम्रकी स्त्रियां नाम मात्रकी पर्दा करती हैं। उनका घूँघट तो बड़ा होता है पर वह आने जाने, काम करनेमें और बोलने चालनेमें बाधक नहीं होता। मालिनें हाट-वाटमें गजरा बेचती हैं। काछिनें साग भाजीकी गली गली आवाज लगाती हैं। चमारोंकी स्त्रियां अपने परिवारके जनोंके साथ मजदूरी करती हैं।

बुन्देलखंडकी नारीकी दिनचर्या

बुन्देलखंडकी प्रायः सभी स्त्रियां सूर्योदयके पूर्व ही उठकर चक्की पर आटा पीसती हैं। उस समयके गीत बड़े मनोहर होते हैं और उनके श्रमको कम करते हैं। प्रभात की सुन्दर, सुखद समीरके साथ सन-सनकर वह आल्हादमय हो जाते हैं। प्रभात होते होते मक्खियोंके जागनेके पूर्व गायों का दूध दोहन करती हैं। गौशाला को परिमार्जित कर गायों को द्वारके बाहर करती हैं जहांसे घर का बालक उन्हें राउन (गायोंके एकत्र होनेके स्थान) तक ले जाता है। और फिर बरेदी ले जाता है गोचारन को। इसके उपरांत घरमें बारा (बुहारू) देकर चौका बर्तन करके वह स्नान करती हैं, कूपसे जल लाती हैं और भोजन बनाती हैं। दफ्तरको, स्कूलको या दूकानको जाने वाले परिवारके लोग दश बजे से बारह बजे तक भोजन करके निवृत्त हो जाते हैं। इसके उपरांत वह नारी स्वयं बची हुई भाजी या मट्ठा, दाल और रोटी का भोजन करती है। परिश्रम उसे इन्ही सीधी सादी वस्तुओंमें सारे विटामिन (पोषक तत्त्व) दे देता है। दोपहर को वह कुछ अनाज को बीनबान कर साफ करती है, फटकती है या फिर सीकोंके

पंखे या बर्तन बनाती हैं। फटे टूटे कपड़े या कागज की लुगदीके (Pulp) के बड़े छोटे बर्तन बनाती है जिन्हें सिकौली कहते हैं। तब वे कुछ विश्राम करती हैं। प्रायः संन्ध्या को बुन्देलखंडमें रोटी नहीं बनती। यह बड़ा बुरा रिवाज है। इसका कारण यह हो सकता है कि पुनः रोटी बनानेमें दुबारा मसाला लकड़ी व्यय हो, पर जो भी हो, सबेरेको ही रक्खी रोटी, दाल, साग, प्रायः लोग खाते हैं। इसी कारण ब्यालू जल्दी ही कर लेते हैं और गो-धूलि-वेलाके उपरान्त खा पीकर फिर निवृत्त हो जाते हैं। मजदूरों की स्त्रियां प्रातः उठते ही रोटी बनातो हैं और संध्याको आकर फिर बनाती हैं। वह कोदों की रोटी और भाजी खाती खिलातीं हैं। बुन्देलखंडमें जुवार उरद की दालके साथ रुचिकर मानी जाती जाती है। गेहूं की दतिया, चरखारी, समथर और ओरछा छोड़कर और स्थानोंमें बड़ी कमी है। ओरछा और विजावर राज्योंमें चावल भी बहुत होते हैं। पर वहां की स्त्रियां चावलों का भिन्न भिन्न प्रयोग नहीं जानतीं। चिवड़ा या चूरा जो म० प्रा० में खूब बनता है यहां कोई नहीं जानता। स्त्रियां रातमें गपशप करती, गीत गाती और कथा कहानी सुनती सुनाती हैं। दतिया एवं पन्नामें देवालयोंमें भी काफी संख्यामें जाती हैं।

वीर बालाएं

यह वही भूमि है जहां पर राज परिवारकी तो क्या वारविलासिनी भी मुगल दरबारमें भेंट नहीं हुईं। एक बार कहा जाता है कि मुगल दरबारमें ओरछा नरेश के दरबार की नर्तकी रायप्रवीणके रूप और गुण की प्रशंसा इतनी बढी कि उसकी मांग आयी। राजा सावन्त थे। राज्यकार्य प्रसिद्ध विद्वान केशवदास उसे लेकर गये। उस प्रवीण वारविलासिनीने चुनोती दे दी—'विनती रायप्रवीण की सुनियो शाह सुजान, झूठी पातर भखत है वारी[1] वायस स्वान, इसपर चतुर कलाप्रेमी मुगल सम्राटने उसे वापस कर दिया। वीरता तो बुन्देलखंड की स्त्रियों का विशेष गुण है। महारानी लक्ष्मी बाई जिनका नाम भारतके कोने कोने में अब सभी जानते हैं, महाराष्ट्रके रक्त और बुन्देलखंडके पानीसे परिपालित थीं। उनकी जीवनी को देखनेसे पता चलता है कि उनकी परिचारिकाओं में से सुन्दरी स्त्रियां जो बुन्देलखंड की ही वीर बालाएं थीं, उन्होंने ऐसे काम सिखाये कि जिनके सामने कोई भी वीरपुरुष गर्व कर सकते हैं। महारानी झांसीके पूर्व भी राज्योंके विग्रह और युद्धोंमें, शान्तिकालमें, लुटेरों और बटमारोंके उपद्रवोंमें अथवा अपने सतीत्व रक्षाके निमित्त बुन्देलखंडकी स्त्रियोंने अपूर्व वीरता का परिचय दिया है। यदि पर्दाप्रथा और रुढ़ियां बाधक न हों तो वे अब भी उचित स्थान पाकर अपनी वीरता दिखा सकती हैं। लेखकके एक और लेख में (जो 'मधुरकर' टीकमगढ़में छपा था) बुन्देलखण्ड की एक वीरबाला ऐसी हो रानी का चरित्र है जिसने मध्यकाल में अपने पतिके दिल्लीमें रहने पर प्रसिद्ध गढ़ सेउढ़ा को अपने देवरसे बचाया और उसके धोखेसे ले लेने पर पुनः एक छोटी सी फौज द्वारा उसे जीता और अपने पति की अमानत उन्हें वापस दी। इससे भी वीरतापूर्ण उदाहरण उस लोधिनकी लड़कीका है, जिसकी

१ नाई की एक जाति जो राज दरबारमें जूठन उठाते खाते हैं।

कथा मैंने कई साल हुए विजावरमें ही सुनी थी। कहा जाता है कि जंगलमें एक डाकूने उसे घेर लिया और बलात्कार करना चाहा। उसने कहा कि कपड़े उतार लो मैं भोगको तैयार हूं। जब डाकू कपड़े उतारने लगा उस समय उसकी तलवार जमीन पर थी और दोनों हाथ व्यस्त थे तथा क्षण भरको आंखें बन्द थीं। साहसी लड़कीने झपटकर तलवार उठायी, खोलकर वार किया और डाकूको खत्म कर दिया। कौन इस वीरताकी प्रशंसा न करेगा। ये हैं बुन्देलखंडकी वीरबालाएं।

विवाह एवं सामाजिक स्थिति

बुन्देलखण्डकी नारीको समाजने बुरी तरह दलित कर रखा है। सदियोंके अत्याचार और प्रपीड़नने उसकी वृत्तियोंको विकृत, इच्छाओंको सीमित और विकासको कुंठित बना रखा है। बालिकाओं को बहुत ही जल्दी ब्याह दिया जाता है। प्रायः गावोंमें अच्छे घरोंमें दश वर्ष की भी लड़की व्याह दी जाती है। और फिर कथित उच्च वर्णोंमें विधवा विवाह भी नहीं होता। इन सबसे होने वाली जीवनकी हाहाकारका वह कब तक सामना करे? पतन भी होता है और समाजकी सुकुमार वेलि स्नेहके जलके विना असमय ही मुरझा जाती है। उसकी आह समाजके हृदयका घुन बन बैठी है। श्वसुरके रहते वधू अपने पतिसे जी भर हंस खेल भी नहीं सकती और सास बनने तक उसके अरमान मर जाते हैं फिर वह पुत्रवधू पर यन्त्रणाएं करके अपने यौवनकी आहत कामनाओंका प्रतिशोध लेतीं हैं। ननद भाभीको सदाचारका पाठ पढ़ाती है, जेठकी स्त्री नीति और घरकी बड़ी बूढ़ी धर्मकी शिक्षा देती हैं। फिर भी स्वभावसे बुन्देलखंडकी बाला विनोदिनी है। वह इन सबकी अभ्यस्त सी है और उसकी स्वाभाविक हंसी पर यह सब यातनाएं कम प्रभाव डालती हैं। प्रकृतिका उसे यह वरदान है कि रूखा सूखा खाकर वह स्वस्थ रहती है। कठोर परिश्रम कर थोड़ा विश्राम पाकर प्रसन्न होती है और साधारण शृंगारके उपचारोंसे ही सौन्दर्यको विभूषित करती है। समाजमें कुमारी रहने पर माता पिताके यहां लड़की लाड़-चावसे रक्खी जाती है और वैवाहिक जीवनकी अपेक्षा स्वतन्त्र भी रहती है। घरकी वधुओंसे वह काम काज सीखती हैं और नन्हीं सी उम्रमें ही विवाह होने पर प्रायः वे समयसे पूर्व ही वधू बन जाती हैं। पर विवाहके उपरान्त तीन या पांच सालमें प्रायः द्विरागमन होता है। इस कारण वह किशोर होते होते ही वास्तवमें प्रणयी जीवन बितानेको अपने पतिके घर जाती है। अन्ताराष्ट्रीय समितिने जिसका पहले प्रधान कार्यालय जिनेवामें था, नारी विषयक खोजकी एक उपसमिति बनायी थी। उसने अपना निर्णय बड़े अनुसन्धानके उपरान्त दिया था कि प्रौढ़ विवाह की अपेक्षा बालविवाह जीवनको अधिक सुखी बनाता है। पर अति हर एक वस्तुकी बुरी होती है। बुन्देलखंडमें बालविवाह भी उसी अति पर पहुंच चुका है।

उच्चवर्णकी स्त्रियोंमें सामाजिक अधिकार निम्नवर्णकी स्त्रियोंकी अपेक्षा कम है। उच्चवर्णकी स्त्री अब भी मनु महाराजकी आज्ञाके अनुसार कुमारी अवस्थामें पिताके शासनमें, विवाहित होने पर पतिके और

दलितों और अशक्तों में आसक्ति एवं समाज सेवामें अनुरक्ति, आदि भव्य-भाव बाल्यकालसे ही परिलक्षित होते थे। आप अपने सद्गुणोंको छिपानेका प्रयत्न निरन्तर करते रहते थे। मित शब्द मानों आपके भाषण, भोजन और व्ययका विशेषण बननेके लिए ही निर्मित हुआ था। संयम तो आजन्म अभ्यस्त था। कार्यकारिणी क्षमता अपूर्व थी। छरहरी गौरी गात्रयष्टि, अलिकाल कुन्तल, विशाल-भाल-भूषित त्रिपुण्ड्र, लम्बे श्रवणयुग्म, उन्नत नासिका, तनु और अरुण ओष्ठों पर चटक काली मूंछ, कलित कल्हार सा वदन, मनोहर ग्रीवा, प्रलम्ब बाहु, प्रशस्त वक्षःस्थल, निराडम्बर वेश, हृदय निरावेश, दृष्टि प्रायः सनिमेष, शुद्ध श्वेत खद्दरकी धोती और साफा, यहां तक कि चरणत्राण तक श्वेत, यही उनकी वेष भूषा थी, यही थे औरैया गुरुकुलके कुलपति पं० शिवदर्शनलाल बाजपेयी। कान्यकुब्ज ब्राह्मण कुल में जन्म लिया था। जन्मभूमि कानपुरके समीप थी परन्तु युवावस्था में आपने औरैया में पदार्पण किया जहां कि आपका विवाह हुआ था। श्वसुरालय में एक मात्र दुहिताके साथ साथ सम्पत्तिके भी पति बने और वहां रहने लगे, अब आपकी वय चौबीसके निकट थी, उन्हीं दिनों पं० छोटेलाल दद्दू और पं० केशवप्रसाद जी शुक्लने अपने प्रान्त में देववाणी संस्कृतका उत्तरोत्तर ह्रास होते देखा, विचारने लगे क्या किया जाय?

संस्कृत प्रचारका शुभ विचार उनके परिष्कृत मस्तिष्क में उत्पन्न हुआ। उद्घाटन भी हो गया बड़े उत्साह और उत्सवके साथ विद्यालयका; पर 'यथारम्भस्तथासमाप्तिः'के अनुसार जितने शीघ्र उत्साह जाग्रत हुआ पर्याप्त सहयोगके अभाव में उतने ही शीघ्र वह सुप्त होने लगा। उस समय उनकी सहयोग-सतृष्ण दृष्टि जैसे ही बाजपेयी जी पर पड़ी कि 'मानहु सूखत शालि खेत पर घन घहराने' फिर क्या था! बाजपेयीजी जुट पड़े जी जानसे। उनका तो जन्म ही जनता जनार्दनकी सेवाके लिए हुआ था। उनकी निष्ठा और निश्छल सेवाप्रवृत्ति आदिको देखकर सभाने संस्थाका सूत्र उन्हीके सबल करोंमें समर्पित कर दिया। बाजपेयीजी ने देखा संस्कृत विद्यालयके लिए कोई भवन नहीं है, आपने शीघ्र ही अपना बाग जिसमें एक शिव मठ और वृक्ष थे विद्यालयको दान कर दिया। भूमितो हो गयी पर भवनका प्रश्न जटिल था। वर्तमान की आवश्यवकता कोई ऐसी न थी जिसके लिए उन्हें विशेष चिन्तित होना पड़ता। एक कक्षमें काम चल सकता जो पांचसौ रुपये में बन जाता क्योंकि उस समय छात्रोंकी संख्या पन्द्रह या बीस थी परन्तु वे दूरदर्शी थे। अपनी संस्थाको महाविद्यालयका रुप देनेकी उनकी अभिलाषा थी। इस उग्र आकांक्षाने उस तरुण तपस्वीको पलभर भी बैठने नहीं दिया। उनके व्यक्तित्वका प्रभाव ही ऐसा था कि जिसके समक्ष कृपण भी उदार बन जाते थे। परिणामतः बागके प्रांगणको छात्रावाससे घेर दिया और मध्यमें अनेकों विशाल कक्ष बनवाये। उनका हृदय सब कुछ सह सकता था पर आर्तनाद नहीं सुन सकता था। रोगियोंकी दरिद्रता और डाक्टरोंकी हृदयहीनतासे क्षुब्ध होकर उन्होंने स्वास्थ्य प्रचार करनेका संकल्प कर लिया। अतः एक विशाल रसायनशालाका निर्माण कराया। एक पीयूषपाणि चिकित्सक चूड़ामणिको अध्यापक नियुक्त किया

जिन्होंने जयपुर सम्मेलन, और तिब्बी कालेज दिल्लीकी परीक्षाओंके लिए बीसियों छात्रोंको योग्य बनाया। प्रत्यक्ष ज्ञानके लिए एक रसायन शास्त्रीजी नियुक्त किये गये जो आयुर्वेदिक छात्रोंको औषधि निर्माण में कुशल बनाते हैं, यहां सब प्रकारके रस, स्वर्ण भस्म, वंग भस्म और सभी आसव, अरिष्ट, वटी, घृत, तैल, आदि सिद्ध किये जाते हैं और यह रसायनशाला औषधि निर्माण में प्रमाण मानी जाती है। समीपके प्रान्तीय डिस्ट्रिक्ट बोर्डके औषधालयों में यहीं से सभी औषधियां जाती हैं, यही नहीं कि केवल आयुर्वेद में ही इतनी उन्नति हुई हो अपितु व्याकरण, ज्योतिष, न्याय, वेदान्त, पुराण, इतिहास, दर्शन और वेदका भी पूर्ण और विधिवत् शिक्षण होने लगा।

विद्यालयका विकास-क्रम

पहिले तो कार्य यथा तथा ही चलता रहा पर श्री वाजपेयीजी के प्रवेश करते ही संस्था की रुपरेखा ही कुछ और होने लगी। कार्यक्रम सुचारु रूप से चलाने के लिए पं० वैद्यनाथ शास्त्री की नियुक्ति की गयी। उन्होंने योग्यतापूर्वक कार्य किया। कुछ काल पश्चात् वह फरु खाबाद चले गये। इसके बाद पं० त्रिभुवननाथजी आये। ये बड़े ही विद्वान और बुद्धिमान् थे। इनके आचार विचारसे तत्कालीन वातावरणको पहिले से अधिक लाभ हुआ। यह व्याकरणाचार्य, साहित्याचार्य तथा वेदान्त शास्त्री थे। अनेक वर्षों तक सन्तोषजनक कार्य करके यह गोयनका विद्यालय काशी चले गये और इनके स्थान पर पण्डित प्रवर रमाशंकर जी प्रतिष्ठित हुए। यह व्याकरण और साहित्य दोनों के ही आचार्य थे। पर यह ज्ञात न हो सका कि दोनों विषयों में से उनकी किसमें अधिक गति है। वस्तुतः दोनों ही विषयों में अप्रतिहत गति थी। अध्यापन की यह विशेषता थी कि खिलाड़ी से खिलाड़ी विद्यार्थी जटिलतम विषय को आसानी से हृदयंगम कर लेता। और स्वभाव सरल, परिश्रमी। इनके समयसे वास्तविक विकास का प्रारम्भ हुआ। इन्होंने तो अध्ययन और अध्यापन की दिशा ही बदल दी परन्तु कुछ वर्ष बाद ये प्रधानाध्यापक होकर प्रयाग चले गये।

पं० ललिताप्रसाद जी डबराल

इसके बाद आचार्य डबराल जी पधारे। आप व्याकरणाचार्य, काव्यतीर्थ, वेदान्त-वाचस्पति हैं। यह उन व्यक्तियों में से हैं जिनसे स्वयं उपाधियां गौरवान्वित होती हैं। आप उन दो चार निरीह निर-हंकार मनुष्यों में से हैं जो अपने ग्रन्थों में अपना नाम नहीं देते, अपने नाम के साथ उपाधि नहीं जोड़ते और अपने चरण छुआने में संकोच करते हैं। इन्हींके दर्शन करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। 'नैषधीय' पढ़ाते पढाते आप नाचने लगते और खण्डन खण्डकाव्य का भाष्य करते समय अद्भुत वक्तृत्वशक्ति का परिचय देते। इनका नाम सुनकर खुर्जा, बुलन्दशहर, छपरा, गढ़वाल बांदा, आदि दूर दूर स्थानों के

विनय के साथ सुधार-भावना

एक बार जाड़ेके दिन थे। माहाउट पड़ रही थी। विद्यार्थी कुछ पढ रहे थे, कुछ खेल रहे थे, एक कक्षमें कुछ विद्यार्थी अनेक प्रकारकी किशोर-सुलभ बातें कर रहे थे, एक विद्यार्थी खड़ा होकर कुछ भाषण देने लगा, भाषण क्या था अनर्गल-प्रलाप, क्रम-हीन वाक्य रचना। कक्षमें सभी विद्यार्थी उस राग रंगमें इतने मग्न थे कि बाह्य वातावरण का किसी को भान ही नहीं रहा कि अकस्मात् एक प्रतिमाने प्रवेश किया। जब वह हाथ जोड़ कर कुछ कहने को हुए तो सभीके पैरके नीचे की जमीन खिसक गयी, वे बोले गोवर्धन जी! यह पाजामा आप हमें देने की कृपा करें तो अच्छा हो इसमें दो गरीबोंके शरीर ढकेंगे, इसके बाद थोड़ा बहुत समझा कर चले गये। बात यह थी कि गोवर्धनने ढीली मुहरी का लंक्लाट का पाजामा पहन रक्खा था। संस्कृत विद्यालयोंमें वेष भूषा आदि का अधिक आदर नहीं होता और फिर वाजपेयी जी जैसे निसर्ग सरल, उसपर भी कांग्रेसभक्त, शुद्ध सरल खद्दरके अनन्य उपासक देख रहे थे; संस्कृत का विद्यार्थी, धोती नहीं पाजामा, वह भी चूड़ीदार नहीं ढीला, और वज्रपात तो यह हो गया कि वह खद्दर का न होकर लंक्लाट का था। अस्तु हम लोगोंने छानवीन की कि यह कब और किधरसे आ गये। दूसरे दिन निम्न कक्षाके विद्यार्थीने बताया कि रात को जब पानी बरस रहा था सड़क पर लघुशंका करने गया तो सड़क पर कुछ दूर बत्ती चमकी फिर अचानक गुम हो गयी। बस फिर क्या था सब कुछ ज्ञात हो गया।

कर्तव्य प्रियता

जब वाजपेयीजी टाउन एरिया कमेटीके सदस्य थे तो कभी कभी पानी बरसनेके समय घूम घूम कर लालटेनोंको खोलकर देखते थे कि कहीं नौकर तेल तो कम नहीं डाल गया। एक बार सत्याग्रहमें भाग लेनेके कारण आपको छै महीनेके लिए जेल भी जाना पड़ा था पर इतने दिनों वहां आपने भुंजे चने तथा दूधको छोड़कर और कुछ ग्रहण न किया। सार्वजनिक संस्थाओंके लिए चन्दा करना विषपानकी भांति कठिन कार्य है फिर भी वाजपेयी जी बड़े धैर्यके साथ उसे किया करते थे। पर साथ ही साथ अपने अन्तः करणकी ध्वनिको वे मन्द नहीं होने देते थे।

इटावा जिलेके एक ग्राममें एक रईसके यहां उपनयन संस्कार था। आयोजन भी वैभवके अनुसार ही हुआ। विद्यालयके लिए चन्दाका सुयोग देख कर वाजपेयी जी भी पहुंचे। प्रान्तके अनेक रईस उपस्थित थे। आतिथेय महोदयने वाजपेयीजीसे भोजनका आग्रह किया पर यह तो निकट सम्बन्धीको छोड़कर और कहीं अन्न ग्रहण करते ही न थे तो यह कहा गया कि कमसे कम खोयेकी मिठाई तो खा ही लीजिये। इन्होंने सोचा कि कहीं ऐसा न हो कि यह अप्रसन्न हो जांय तो विद्यालयकी हानि हो। अतः इन्होंने कुछ पेड़े लेकर इच्छा न होनेपर भी पानीके साथ निगल लिये। चलते समय चन्देकी प्रार्थना की। उन महानुभावने पांच रुपये दे दिये, इन्होंने बहुत कुछ कहा पर वह तो इससे आगे 'सूच्यंग्रे न केशव' पर अड़ गये। रईस

महोदयका कोई दोष नहीं था । संकल्पित द्रव्यमें से इन्हें कुछ और दे देते तो नर्तकियोंके हिसाबमें कमी पड़ जाती। तपस्वी ब्राह्मण चल दिया। अश्रद्धासे दिये गये उन पांच रुपयेसे उनके मनमें आत्मग्लानि उत्पन्न हो गयी। बाहर एक निर्मल जल कूप दीख पड़ा तो किनारे पर बैठ गये। कण्ठ तक मध्यमा और तर्जनीके द्वारा वमन करना प्रारम्भ किया। तब तक समाप्त न किया जब तक विश्वास न हो गया कि अब उस ग्रामका जल कण भी उदरमें नहीं रहा। कुल्ला किया, कुछ गायत्री मंत्र भी जप किया और तब चले।

विद्वद्भक्ति

एक बार प्रधान आचार्यके यहांसे धीमर चला गया जो चौकाबर्तन आदि किया करता था। उन्होंने मंत्रीजी यानी पाजपेयीजी से कहा कि धीमरका प्रबन्ध कर दीजिये। धीमर मिल न सका पर चौका बर्तन उसी क्रमसे ठीक मिलता रहा अतः प्रधानाध्यापकने भी फिर इधर ध्यान ही नहीं दिया। इस प्रकार एक महिना बीत गया। एक दिन एक शास्त्रीका विद्यार्थी प्रातः पढ़नेको उठा। उसने किसीको अंधेरेमें चौका करके बर्तन मलते देखा। वह आया तो दृश्य देखकर सन्न रह गया। स्वयं वाजपेयीजी बर्तन मल रहे थे। वह विद्यार्थी जब तक प्रधानाध्यापकको बताने गया, तब तक आप बर्तन ढंगसे रखकर चले जा चुके थे।

एक बार बस्तीमें महामारीका प्रकोप हुआ। आप सेवा समितिके भी सदस्य थे। पक्के सनातनी होने पर भी मृत अछूतोंके शव यमुना घाट भेजने और अनाथ रुग्णोंकी चिकित्साका प्रबन्ध करनेमें संलग्न रहे जब कि घर पर एक मात्र पुत्र शिवाधर रोग शैयाका सेवन कर रहा था। पड़ोसियोंने कहा— पहिले घर फिर बाहर। आप पुत्रकी देख रेख नहीं करते। आपने उत्तर दिया—जो सबकी देख रेख करता है वह उसकी भी करेगा। अनेकके समक्ष एकका उतना महत्त्व नहीं। पड़ोसियोंने कुछ न कहा। मन ही मन प्रणाम किया और वही लोग शिवाधरजी की सुश्रूषा करने लगे।

औचित्य पालन

मैं पहिले ही कह चुका हूं कि विद्यालय प्राचीन तपोवनोंका प्रतीक है। अतः वहां द्रुम, ललित लताएं, गुरुतम गुल्म एवं वनस्पतियोंका होना स्वाभाविक ही है और काशीफल कूष्माण्ड तो सर्वत्र ही सुलभ है। एक दिन शिवाधरजी एक लौकी लेकर घर आये। पिताजीने पूछा—बेटा यह कहां से लाये। उन्होंने उत्तर दिया—मैं विद्यालय गया था तो गुरुजीने दी है।

वाजपेयीजीने कहा—बेटा विद्यालयको तो देना ही चाहिये उससे लेना ठीक नहीं, जाओ अभी दे आओ और गुरुजीके चरण छूकर क्षमा मांगो और साथ ही प्रतिज्ञा करो कि अब ऐसा न करुंगा। बेचारे बालकको ऐसा ही करने पर छुटकारा मिला।

अपरिग्रह

वाजपेयीजी ने अपनी भूमि विद्यालयको दान कर दी। अपनी दुकानको चौपट कर दिया और

अकाल में ही काल कवलित हो जाने तथा अर्थाभावके कारण एकमात्र एवं प्राणप्रिय पुत्रको उच्च शिक्षासे वंचित रखा। अतः तन-मन-धन और धर्म लगाकर भी जिस व्यक्तिने विद्यालय बनाया, बढ़ाया और पर्याप्त कोष छोड़कर निकट भविष्य में गत्यवरोधसे भी बचाया, उसका तैलचित्र भी विद्यालय स्वीकार न कर सके यह कितनी कृतघ्नताकी बात है!

जैसाकि पहिले लिखा जा चुका है, वाजपेयीजी ने विद्यालयके अन्तर्गत आयुर्वेदीय-रसायन शाला की स्थापना भी करवायी थी, जहां पर सभी प्रकारके रस, भस्म, आसव, अरिष्ट, आदि शास्त्रीय विधिसे बनाये जाते हैं। आयुर्वेदाचार्य पं० जगन्नाथजी पाण्डेय इस विभागके प्रमुख हैं। वाजपेयीजीको जब सन्निपातने ग्रस लिया तो बस्तीके प्रायः सभी वैद्योंकी सम्मति हुई कि अमुक रस दिया जाय और वह रसायन शालासे ही मंगाया जाय क्योंकि वह शुद्ध शास्त्रीय विधिसे सिद्ध है। मैं उस समय वहीं बैठा था। मैंने सुना, शिवाधरजी बोले, और जहांसे बताइये मैं मगानेको तैयार हूं चाहे जितना मूल्य लगे, परन्तु अपनी रसायन शालाकी कोई भी औषधि न दीजिये, पिताजीकी यह आज्ञा है। इस पर भी जब एक वैद्यने कहा कि वह रस क्या है रामबाण ही समझिये और फिर पैसातो दे रहे हैं। शिवाधरजी रोकर कहने लगे अंतिम समय में उनका नियम न तोड़िये। जीवन भर उन्होंने विद्यालयकी कोई वस्तु ग्रहण नहीं की, और बीमार होनेके पूर्व ही उन्होंने मुझसे कहा था कि अपनी रसायनशालाकी औषधि मेरे लिए न मंगाना। आखिर ऐहिक लीला समाप्त कर दी पर अपनी प्रतीज्ञासे न टले। अपने 'यशःशरीरेण' वे आज भी विद्यमान हैं पर विद्यालयके भग्नावशेषोंके आंसू पोछने वाला आज कोई नहीं। यदि यही क्रम रहा तो वह दिन दूर नहीं जब विद्यालय में फिर यथापूर्व १५ विद्यार्थी ही रह जांयगे और धीरे धीरे वे भी खिसक जावेंगे।

हमारे देशमें संस्कृत प्रेमियोंकी कमी नहीं। पू० महात्मा गांधीजी तो प्रत्येक भारतीयके लिए संस्कृत अध्ययन आवश्यक मानते थे और देशरत्न राजेन्द्रबाबूने अपने अत्यन्त व्यस्त जीवनमें भी संस्कृत साहित्य पर एक अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण पुस्तक लिखी है। साधन सम्पन्न वैश्यसमाज में भी संस्कृतके प्रति श्रद्धा-भक्ति विद्यमान है और सुना है कि संयुक्त प्रांतके शिक्षामंत्री संस्कृतप्रेमी ही नहीं स्वयं अच्छे संस्कृतज्ञ भी हैं। और सर्वोपरि बात यह है कि स्वर्गीय वाजपेयीजी की तपस्यासे जिन्होंने लाभ उठाया था ऐसे पचासों विद्यार्थी यत्र तत्र विद्यमान हैं, इन सबके होते हुए भी यह संस्कृत विद्यालय, देववाणीका यह अद्भुत उपवन उजड़ जाय, इससे अधिक दुर्भाग्यकी बात और क्या हो सकती है।

पर हम निराशावादी नहीं। अपने प्रान्तमें संस्कृत विश्वविद्यालयकी स्थापनाकी चर्चा चल रही है और बंगालके गवर्नर माननीय कैलाशनाथजी काटजू तो संस्कृतको राष्ट्रभाषाके रुपमें देखना चाहते हैं। हमें आशा है कि हामरे विद्यालयकी ओर भी इन महानुभावोंका ध्यान जायगा और वाजपेयी जी के उस उपवनमें "अइहै बहुरि बसन्त ऋतु, इन डारन वे फूल।"

स्व० बा० कृष्णबलदेवजी वर्मा

श्री गौरीशङ्कर द्विवेदी 'शङ्कर'

सन् १९२४ की दीपावली थी। स्व० रायसाहब पं० गोपालदास जी उरई लौटने के लिए मोटर की प्रतीक्षा कर रहे थे, कालपी डाकघरके चबूतरेपर हम लोग बैठे हुए थे; बाजारसे आता हुआ इक्का रुका और उस पर से एक नाटे कद के भद्र पुरुषने हंसते हुए आकर हाथ जोड़ कर रायसाहब से प्रणाम और मुझसे भी रामराम की। कुरसी पर जब वह बैठ गये तब रायसाहबने मेरी ओर संकेत करके उन सज्जन से कहा कि आप जानते हैं न, ये भी साहित्यिक और कवि हैं और कवीन्द्र केशव के वंशधरों के जामाता हैं। अन्तिम वाक्यने उन सज्जनपर जादू जैसा असर किया। वे बड़ी शीघ्रता से उठकर मुझ से गले मिले और रोकने पर भी पैर छू ही लिए। पहले इसके कि मैं कुछ कह सकूं उन्होंने कहना प्रारम्भ कर दिया कि केवल कवीन्द्र केशव ही को मैं अपना कविता-गुरू और हिन्दी भाषाका का प्रथम आचार्य मानता हूं। यह बड़े ही सौभाग्यका दिन है जो आप से अनायास ही भेंट हो गयी, क्या कवीन्द्र केशवके वंशधर इसी बुन्देलखंड में अब भी हैं! इत्यादि बड़ी देर तक बातें होती रहीं। रायसाहब उरई चले भी गये किन्तु उनकी बातों का तांता समाप्त नहीं हो रहा था। यह उनकी हमेशा की प्रकृति थी—कितने ही आवश्यक कार्य से कहीं जा रहे हों किसी विषय विशेषपर चर्चा उठ खड़ी हो तो उस आवश्यक कार्यको भूल जायंगे और अपने विषयका तब तक निरन्तर प्रतिपादन करेंगे जब तक आप भली प्रकार सन्तुष्ट न हो जांय। स्व० बा० कृष्णबलदेव जी वर्मासे यह मेरी प्रथम भेंट थी, फिर तो मैं उनका अधिक कृपापात्र, उनके परिवार का एक सदस्य सा और कालपीवालों के लिए उन जैसा ही एक नागरिक बन गया था। वहां के कितने ही संस्मरण हैं किन्तु उनकी चर्चा यहां न करूंगा। स्व० वर्मा जी के सम्बन्ध में ही संक्षेपमें लिखता हूं।

स्व० बा० कृष्णबलदेव जी वर्माका जन्म सं० १९२७ वि० में वेदव्यास जी की जन्मभूमि कालपी में हुआ था। आपके पूज्य पिताजी का शुभनाम लाला कन्हयीप्रसाद जी खत्री था, वर्मा जी के पूर्वज प्रायः दो सौ वर्ष पूर्व पंजाबसे आकर कालपीमें बसे थे, कालपी में उन्होंने सराफी, हुण्डी, आदि के व्यापार में अच्छी सम्पत्ति एकत्रित कर ली थी। उन्हीं दिनों वे ब्रिटिश सरकार तथा मध्यभारत की कितनी ही रियासतोंके बैंकर भी हो गये थे।

सन् १८५७ ई० के विप्लवमें कालपी गदरका केन्द्र सा बन गया था। अनेक लड़ाइयां भी वहां हुईं। फलस्वरूप कालपीमें उन दिनों लूटमारका बाजार गर्म रहता था। वर्माजी के पूर्वज भी लूटमारके शिकार हुए किन्तु ब्रिटिश सरकारके खैरख्वाह होने के कारण किसी के प्राणों की क्षति नहीं हुई। आप के पूर्वजों का बनाया हुआ मंदिर अब भी कालपी में है जो पाहूलाल खत्रीके मंदिरके नाम से प्रसिद्ध है और इस मंदिरमें उन विप्लवकारी दिनोंकी स्मृतियां अब भी विद्यमान हैं।

वर्माजी के पूर्वज धार्मिकनिष्ठाके लिए प्रसिद्ध थे। उसका अंश अब भी आप के वंशजों में वर्तमान है। पवित्रताका आपके यहां विशेष ध्यान रखा जाता है। ब्राह्मण समुदायके प्रति आप के वंशजों की बड़ी ही ऊंची धारणा है। उसे वे अब भी बड़ी ही श्रद्धासे देखते हैं और वर्मा जी के पिता तो इन सद्गुणों में बहुत ही बढ़े-चढ़े थे। रामचरितमानस और रामचन्द्रिकाके वे बड़े ही प्रेमी थे। वर्माजीने अपने पिताजीका अनुकरण कर रामचन्द्रिकाके प्रति बचपन ही में बड़ा अनुराग उत्पन्न कर लिया था।

प्रारम्भिक शिक्षा कालपी ही में समाप्त कर वर्मा जी लखनऊके केनिङ्गकालिजमें प्रविष्ट हुए और इण्ट्रेंस तथा इण्टर की परीक्षाएं भी आपने दो बार दीं, किन्तु सार्वजनिक कार्योंमें फंसे रहने के कारण तथा और अनेक कारणों से उसमें आप अनुत्तीर्ण हो गये। यद्यपि आप उसे पास न कर सके किन्तु आपकी योग्यता अंग्रेजी, संस्कृत, प्राकृत, फारसी, उर्दू, हिन्दी और बंगला में बहुत ही ऊंची थी। आप मराठी तथा और भी कितनी ही भाषाओंके जानकार थे। शिलालेख आदि की लिपियां आप बड़ी ही सरलता से पढ़ लेते और उसका अर्थ बतला देते थे इन पंक्तियों के लेखकको भी अनेक बार आपकी असाधारण विद्वत्ताका परिचय मिला है।

वर्मा जी में बचपन ही से नेतृत्व शक्ति आ गयी थी। उनके विद्यार्थी जीवनकी कितनी ही मनोरंजक घटनाएं हैं। हास्यके भावसे प्रेरित होकर स्वामी रामतीर्थ जी ने तो उन दिनों ही 'खुदाई फौजदार' की उपाधि आपको दे डाली थी।

सन् १८९९ की लखनऊ वाली कांग्रेसमें स्वयंसेवकों के कप्तान के रूप में बड़ी ही सफलता पूर्वक आपने सेवा की। ऐंटी-कांग्रेस नामकी संस्थाका जो कि उसी वर्ष विरोध करनेके लिए बनी थी, आपने स्वयं तथा अपने अन्य सहयोगियों द्वारा उसी वर्ष में ही खातमा कर दिया।

कलकत्तेका एकादश हिन्दी-साहित्य सम्मेलन आपके ही प्रधान मंत्रित्वमें हुआ था और यह आपका ही प्रयत्न था कि इस सम्मेलनमें चालीस हजारका दान सम्मेलनको मिल सका और जिससे 'मंगलाप्रसाद पारितोषक' तबसे प्रतिवर्ष दिया जा रहा है और जब तक दिया जाता रहेगा तब तक स्वर्गीय वर्माजी की याद उसी प्रकार अमर बनी रहे गी।

वर्माजीने लखनऊ से 'विद्या-विनोद समाचार' साप्ताहिक पत्र तथा काशीसे भी एक पत्र निकाला था जो कि कई वर्ष तक बड़ी ही सफलता पूर्वक चलते रहे।

वर्माजी प्रायः २५ वर्ष तक लगातार जालौन जिलेके डिस्ट्रिक्ट बोर्डके सदस्य तथा कालपी म्यूनिसिपेल्टीके सदस्य रहे। पश्चात सर्वप्रथम गैरसरकारी म्यूनिसिपल-चैयरमैन भी आप ही हुए और बहुत वर्षों तक बड़ी ही योग्यतापूर्वक उस कार्यको आपने निबाहा। आप आनरेरी मजिस्ट्रेट भी रहे हैं।

सार्वजनिक कार्योंमें इतने व्यस्त रहने पर भी आपने साहित्य-सेवाके व्रतको बड़ी ही तत्परतासे जीवन भर रक्खा। सरस्वती आदि पत्रिकाओंमें आपके उच्चकोटिके लेख निकलते रहते थे।

आपके सन् १९०१ ई० की सरस्वती (भाग दूसरा, संख्या ८ तथा ९, पृष्ठ २६२-२७१ तथा ३०१-३०६) में 'बुन्देलखण्ड पर्य्यटन' शीर्षक लेखसे प्रभावित होकर स्व० ओरछानरेश महाराजा श्री प्रतापसिंहजू देवने आदर पूर्वक आपके परामर्श ही के अनुसार ओरछेकी प्राचीन इमारतोंकी रक्षाका प्रबन्ध कर दिया था।

'काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा' के जन्मदाताओंमें से वर्माजो एक प्रधान व्यक्ति थे और समय समय पर आप अपना भरपूर सहयोग उसे जीवन भर देते ही रहे।

आप प्रयागकी हिन्दुस्तानी एकाडेमीके सभासद तथा एकाडेमीकी त्रैमासिक मुखपत्रिका 'हिन्दुस्तानी' के सम्पादक मण्डलमें थे।

वर्माजीका अध्ययन बहुत ही अधिक था और स्मरणशक्ति भी आपकी गजबकी थी। संस्कृत और हिन्दी की अगणित कविताएं आपको कण्ठाग्र थीं। वार्तालापमें जिस कविकी चर्चा आ जाती थी उसके कितने ही छन्द आप तुरन्त सुना दिया करते थे, बुन्देलखण्डके इतिहासका आपने बड़ी ही खोजसे संकलन किया था। बुन्देलखण्डके लिए आपकी बड़ी ऊंची धारणा थी आपके एक पत्रमें जो कि उन्होंने काशीसे २३-१२-३० को मुझे लिखा था कुछ विवरण देखिए—

काशी

२३-१२-३०

"पूज्यवर प्रणाम

आपको यह जानकर दुःख होगा कि मैं तां० २३ को इलाहाबाद गया, वहां से ओरियण्टल कान्फ्रेंस् एटैन्ड करने पाटलिपुत्र गया, वहांसे बौद्धकालीन यूनीवर्सिटी नालंदा, राजगिरि, वैशाली, सहसाराम, आदि देखनेको था कि पाटलिपुत्रमें सख्त बीमार पड़ गया और यहां काशी अपने भानजे डाक्टर अटलविहारी सेठ M.B.B.S. मेडीकल आफीसर Central Hindu School Banaras के यहां लौट आया।

परसों सबेरे मेरे रोग ने भयानक रूप धारण किया—Heart sink होने लगा, नाडिका बैठ चली, विश्वनाथ जी से आप सब मित्रों की मङ्गल कामना करते हुए अटल निद्रा लेने ही को था कि डा० के injections व मकरध्वजके डोजोंने Heart और नाडिका को सम्हाल लिया। अब मैं improve कर रहा हूं और अभी जब तक बिल्कुल ठीक न हो जाऊंगा तब तक आठ दस दिन यहां रहूंगा, यदि कैलाशवास भी कर लूं तो भी मेरी शुभ कामनाओंको सदैव अपने साथ समझिए गा और सदैव मातृभाषाकी सेवामें रत रहिए गा।

बुन्देलखण्डके गौरव का ध्यान रहे, सोते जागते जो कुछ लिखिये पढ़िये वह मातृभूमिके गौरवके सम्बन्धमें ही हो। शोक ! मैं इस बीमारीके कारण शय्यासीन होने से 'सुधा' के ओरछाङ्क को अभी कुछ नहीं लिख सका हूं। एक पुराना लेख 'बुन्देलखण्ड का चित्तौर ओरछा दुर्ग' था, वह सरस्वती को दे दिया था। १ तारीख तक आपके पास उसकी प्रति (सरस्वती की) पहुंचेगी तथा एक प्रति महाराज की सेवामें व एक दीवान साहब की सेवामें पहुंचे गी, उसे आप अवश्य देखिये गा। लेख सचित्र है, उसमें ओरछाका गौरव है, चित्तौराधिपति प्रतापपर वीरशिरोमणि वीरसिंहदेवका ऐतिहासिक प्रमाणोंके साथ प्राधान्य है। चित्तौरसे ओरछा गौरवशाली है यह भाव हैं। यदि आठ दस दिन और जीवित रहा तो सुधाके अङ्कके लिए लेख पहुंचे गा।

वर्मा जी के मित्रों की संख्या इतनी अधिक थी कि किसी भी बड़े आदमी, साहित्यिक या नेता की चर्चा कीजिये आपको तुरन्त वर्मा जी से यह मालूम हो जायगा कि उनसे उनका कब और कैसे साक्षात्कार हुआ, कितने दिन और कैसे उनके साथ उन्होंने कार्य किया, किसकी उनके लिए कैसी धारणा थी, इत्यादि बातोंसे आपके अगणित मित्रोंके सम्बन्धमें अनेक-अनेक मनोरंजक बातें मुझे आपसे समय-समय पर सुनने को मिली है। महात्मा गांधीसे लेकर छोटे से छोटे कांग्रेसके नेतासे आपका परिचय था, महामना पूज्य पं० मदनमोहनजी मालवीय और पं० मोतीलालजी नेहरूसे तो बड़ी ही घनिष्ठता थी, श्री सी० वाई० चिन्तामणि सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता राखालदास बनर्जी आपके बड़े ही घनिष्ट मित्र थे।

बर्लिनके प्राच्यविद्या-विशारद डाक्टर वान लूडर्ससे भी आपका गहरा परिचय था, श्री रामानन्द जी चटर्जी, श्री पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी और आधुनिक प्रमुख साहित्यिकोंसे आपकी जान पहिचान थी।

वैसे तो प्रायः सभी कवियों की कविताओं का आपने अध्ययन किया था किन्तु कवीन्द्र केशवके आप अनन्य भक्त और उपासक थे। आप बहुधा कहा करते थे कि कवि तो सचमुच अकेले 'केशव' ही हुए हैं। जब वर्माजी कवीन्द्र केशव और बुन्देलखण्ड की प्रशंसा करने लगते थे तो उनकी जबान थकती नहीं थी और छेड़ देने पर तो और भी अधिक ओज आ जाता था, हिंदी संसारमें वर्माजीके उक्त विषयोंके

प्रमाण माने जाते थे। उनमें क्षुद्र प्रान्तीयता न थी। उनका हृदय बड़ा ही ऊंचा और विशाल था। अपने एक दूसरे पत्रमें आपने लिखा था कि—

"यह जानकर मुझे और भी आनन्द हुआ है कि 'सुधा' ओरछा-अङ्क प्रकाशित करेगी। मैं उसमें सहयोग देनेके लिए पूर्णतया प्रस्तुत हूं। साहित्यके देवस्वरूप श्री केशवदास जी मेरे हृदयाराध्य उपास्य-देव हैं। फिर यह कहां सम्भव है कि जहां उनका अथवा ओरछा राज्यका गुणगान होने को हो वहां मैं कुछ भी त्रुटि करूं? पर कहना इतना ही है कि एक सप्ताह का समय जो लेखके लिए आप मुझे देते हैं, वह बहुत ही अपर्याप्त है, कारण यह है, इस समय मैं बहुत व्यग्र हूं, यह सप्ताह क्या दो सप्ताह तक मैं ऐसा फंसा हूं कि दम मारने का अवकाश नहीं, क्योंकि ता० २१ नवम्बर को मैं प्रयाग आ रहा हूं। ऐकेडेमी की ओरसे पत्रिका पहली जनवरी को प्रकाशित होने वाली है। उसके एडिटोरियल बोर्ड की मीटिंग २३ नवम्बर को है। पत्रिकाके एडिटोरियल बोर्ड का मैं आनरेरी मेम्बर हूं। पत्रिकाके लिए एक बहुत विस्तृत लेख भारतवर्षके अन्तिम सम्राट महाराज समुद्रगुप्तके सम्बन्धमें खोज करने और स्टडी करनेमें मुझे दो साल लग गये। प्रयाग, कौशाम्बी, दिल्ली, एरण, गया, आदिके स्तम्भों परके लेखों को पढ़ना पड़ा, कनिंघम की आर्केलोजिकल सर्वे रिपोर्ट की स्टडीज करनी पड़ी। गुप्तकालीन मुद्राओं व मूर्तियों को खोज कर उनसे ऐतिहासिक रहस्य उद्घाटन करने पड़े। अब वह लेख पूर्ण करके भेजा है। वीर-विलास की भूमिका तब तक लिखकर तैयार हो जावेगी। उसे भी प्रकाशनार्थ भेज रहा हूं। दूसरे २५ दिसम्बर को काशीमें ऑल एशियाटिक एज्यूकेशन कान्फ्रेन्स होने वाली है, उसका भी मैं मेम्बर हूं, उसके लिए भी लेख प्रस्तुत करना है, जो भारतवर्ष की प्राचीन युनिवर्सिटियों और शिक्षा-पद्धति पर होगा, साथ ही २६ ता० को काशी नागरी प्रचारिणी सभाके साहित्य-परिषदका अधिवेशन है, जिसके लिये सभापति श्रीयुत राव-बहादुर माधवराव किबे हैं। उस परिषद्के लिए बन्धुवर बाबू श्यामसुन्दरदास जी रायसाहबने बुन्देलखण्डके साहित्यपर एक लेख पढ़नेकी आज्ञा की है जिसकी मैं स्वीकृति दे चुका हूं, और जिसे तयार करने का आज लग्गा लगाऊंगा। साथ ही पटनेमें ओरिएण्टिल कानफ्रेंस है उसमें भी जाना पड़ेगा और उसके लिए भी कुछ मसाला इकट्ठा करना होगा। अतः आप बाबू दुलारेलाल जी से यह कहिये कि वे कृपा करके ओरछांकके पन्द्रह-बीस पृष्ठ की जगह मेरे लेखके लिए रिजर्व रक्खें।"

वर्मा जी बड़े ही चरित्रवान थे। आपकी गृहणीका स्वर्गवास आपकी तीस वर्ष ही की अवस्था में हो गया था किन्तु आपने दूसरा विवाह नहीं किया। अपने बृहद् परिवारकी सुव्यवस्था आप जिस योग्यता से करते थे वह देखते ही बनता था। मित्रों के आदर सत्कार करने में भी आप बड़े ही विनम्र और कुशल थे। मित्रोंका तांता आपके यहां लगा ही रहता था वर्मा जी में यह खूबी थी कि प्रत्येक समुदायमें घुल-मिलकर बातें करके मनोरंजन कर लेते थे। बच्चोंमें बच्चे और बड़े बूढ़ोंमें बुड्ढे।

हंसोड़ भी अव्वल नम्बरके थे। कुछ स्थलोंका हास्य उनका ऐसा मुंहतोड़ हुआ करता था कि बीरबलकी याद आ जाया करती थी।

वर्मा जी अच्छे कवि भी थे। उन्होंने कितनी ही कविताएं समय-समय पर लिखीं। भर्तृहरि नाटक और प्रेत-यज्ञ नाटक तो प्रकाशित भी हो चुके थे। एक ग्रन्थ क्षत्र-प्रकाश भी प्रकाशित हुआ था किन्तु अधिकांश साहित्य, जो कि उन्होंने कठिन परिश्रम करके तैयार किया था, अब भी अप्रकाशित है। उसमें बुन्देलखण्ड का इतिहास और कवीन्द्र-केशवके ग्रन्थों की सम्पादित सामग्री है। अपने कितने ही पत्रोंमें उसकी उन्होंने चर्चा की है किन्तु लेखके बढ़ जानेके भयसे उसे यहां देना अनुपयुक्त ही सा है।

वर्मा जी ने आजीवन साहित्य सेवा की है और साहित्य सेवा करते ही करत २८ मार्च को केशव-जयन्ती ही के दिन रामनवकी सं० १९८८ वि० को काशीमें पुण्य सलिला भागीरथीके तटपर आपने गो लोकवास किया।

भारतवर्ष की प्रमुख साहित्यक संस्थाओंसे उनका निकटतम सम्पर्क रहा और उनके द्वारा उन्होंने साहित्य की बड़ी भारी सेवा की। कालपी का 'हिन्दी विद्यार्थी सम्प्रदाय' उन्हींके प्रोत्साहनसे पनपा है।

यों तो उनके विशाल परिवारमें कितने ही योग्य व्यक्ति हुए और है किन्तु स्व० व्रजमोहन जी वर्मा तथा चि० मोतीचन्द्र जी की वे अधिक प्रशंसा किया करते थे और अपना वास्तविक उत्तराधिकारी बतलाया करते थे।

स्व० व्रजमोहन जी वर्मा की सेवाओंसे जो कि 'विशाल भारत' द्वारा उन्होंने की थी हिन्दी संसार अपरिचित नहीं है। चिं० मोतीचन्द्रजी भी अपने पितामहके पदचिन्हों पर सफलता पूर्वक उत्तरोत्तर आगे बढ़ रहे हैं यह संतोषका विषय है। सम्प्रदाय को प्रगतिशील बनानेमें उनकी लगन, कार्यतत्परता और सहनशीलता सदैव ही प्रशंसनीय रही है।

मुझे उस दिन और भी अधिक प्रसन्नता होगी जिस दिन स्वर्गीय वर्मा जी के साहित्यको प्रकाशमें लानेकी ओर वर्माजीके वंशधरोंका तथा सम्प्रदायका कदम आगे बढ़ेगा। जीवन भर परिश्रम पूर्वक उन्होंने जो मैटर तैयार किया था उसका सदुपयोग होना नितान्त और शीघ्र ही आवश्यक है। इससे उनकी आत्माको तो शांति मिलेगी ही किन्तु हिंदी संसारका भी उससे बड़ा ही हित हो सकेगा ऐसी पूर्ण आशा है।

बुन्देली लोक-कवि ईसुरी

श्री गौरीशङ्कर द्विवेदी 'शङ्कर'

कवि प्रसविनी बुन्देलखण्डकी भूमिका अतीत बड़ा ही गौरवमय रहा है, प्रकृतिने बुन्देलखण्ड की भूमिको अनोखी छटा प्रदान की है, ऊंची नीची विन्ध्याचल की शृंखलाबद्ध पर्वत मालाएं, सघन-बन-कुंज, सर-सरिताएं आदि ऐसे उपक्रम हैं जिनकी रमणीयताको देखकर मानव-हृदय अपने आप आनन्द विभोर हो जाता है। यहांकी भूमि ही प्राकृतिक कवित्व-गुण प्रदान करनेकी शक्ति रखती है।

आदिकवि वाल्मीकीजी, कृष्णद्वैपायन वेदव्यासजी, मित्रमिश्र, काशीनाथ मिश्र, तुलसी, केशव, बिहारीलाल और पद्माकर जैसे संस्कृत और हिन्दी साहित्य-संसारके श्रेष्ठतम कवियोंकी प्रतिभा को प्रसूत करनेका सौभाग्य बुन्देलखण्ड ही की भूमिको प्राप्त है।

इनके अतिरिक्त और भी कितने ही सुकवियोंके महाकाव्य अभी प्रकाश ही में नहीं आये हैं यह तो हुई शिक्षित समुदायके कवियोंके सम्बन्धकी बात, किन्तु जन साधारणमें भी ऐसे ऐसे गीतोंका प्रचार है जिनको सुनकर तबियत फड़क उठती है। वे गीत हमारी निधि हैं और युग युगसे हमारे ग्रामवासियों द्वारा अब तक सुरक्षित रुपमें वंशपरम्परासे चले आ रहे हैं। उन गीतोंको हम 'ग्राम-गीत' या 'लोक-गीत' कहते हैं।

ग्राम-गीत या लोक-गीत

भारतवर्ष ग्रामोंका देश है और ग्राम भाषाएं ही हमारे साहित्यकी जननी हैं। साहित्यके क्रमिक विकासके विवरणका अध्ययन करनेसे यह और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है।

ग्राम-गीतोंके जन्मदाता

ग्राम-गीतोंके जन्मदाता या जन्मदात्री वे ही भोले भाले ग्रामीण या भोली भाली विदुषियां हैं जिनके विशाल हृदय गांवोंमें रहते हुए भी विश्व-प्रेम और विश्व-हितके अभिलाषी हुआ करते हैं, जो नित्य प्रति कहा करते हैं कि 'भगवान सबका भला करे' तब हमारा भी भला होगा।

बनावटसे कोसों दूर रहकर जिनमें त्याग, संतोष, क्षमा, करुणा और शांति का निवास रहता

है, जो दीनहीन होते हुए भी ऊंचे दिलवाले, निरभिमानी होते हुए स्वाभिमानी, और कानूनी दुनियाके बढ़ते हुए फरेबसे दूर रहते हुए भी अपनी बातके धनी होते हैं, हमारे ग्राम-गीत उनहीके हृदयोद्गारों को प्रकट करते हुए प्रकाशमें आते हैं।

इधर हमारी साहित्य की बढ़ती हुई प्रगतिमें ग्रामभाषाकी उपेक्षा ही सी रही, उसको अपनानेके लिए कोई सम्मिलित उद्योग नहीं किया गया। यही कारण है कि हमारा शब्द-भण्डार प्रायः संकीर्ण ही सा प्रतीत होता है।

यह संतोष का विषय है कि शिक्षित समुदाय का ध्यान ग्राम-गीतों की ओर आकर्षित हुआ है और यह भी उनकी विजयका स्पष्ट उदाहरण है। ग्राम-साहित्यके प्रचार और प्रसारसे जहां जन साधारणमें पढ़ने लिखने की रुचि उत्पन्न हो सकेगी वहां हिन्दीभाषा-भाषियों को भी कितने ही नवीन शब्द, जिनको अब तक हम व्यवहारमें नहीं लाते थे, प्राप्त हो जावेंगे, और इस प्रकार शब्द भण्डार बढ़नेसे हमारी भाषा जो कि राष्ट्र-भाषा हो चुकी है, सब प्रकार पूर्ण हो सकेगी।

पिङ्गलशास्त्रके विद्वानोंने 'वाक्यम रसात्मकम् काव्यम्,' रससे पूर्ण वाक्यको काव्य माना है। कविता का सम्बन्ध हृदय और मस्तिष्क दोनों ही से हुआ करता है। ग्राम-गीत यद्यपि पिङ्गलशास्त्रके कड़े बन्धनोंसे जकड़ा हुआ नहीं होता है किन्तु यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि उनमें कवित्व नहीं।

ग्राम-गीतोंकी उपयोगिता

ग्राम-गीतोंकी रचना जिनके द्वारा हुआ करती है, जिनके लिए वे रचे जाते हैं, उनको वे यथेष्ट आनन्द और सच्ची तन्मयता देनेमें अवश्य ही फलीभूत होते हैं।

'भाव अनूठो चाहिए भाषा कोई होय' के अनुसार भी यदि वे रसादिकसे परिपूर्ण न भी हों तो भी भाव-प्रधान तो होते ही हैं, कविता की क्लिष्ट-भाषा हृदय को आनन्द-विभोर नहीं कर सकती, जब उसका अर्थ समझाया जावे तब ही उसका रसास्वादन चित्तको प्रसन्न करता है और वह भी बहुत ही थोड़े समुदाय का। किन्तु सरल भाषामें गाये गये गीत असंख्य जन-समुदायके हृदयोंमें विना किसी टीका टिप्पणी, अर्थ या व्याख्या किये ही प्रवेश पा जाते हैं। उनमें विना वायुयानके 'आसमान पर चढ़ाने वाली' और 'लूली लोमड़ी को नाहर बनाने वाली' थोथी कवि-कल्पनाएं भले ही न हों किन्तु उनमें होता है ग्राम-जीवनके प्रत्येक पहलू का सरल भाषामें मार्मिक और सच्चा वर्णन, वंशपरम्पराकी रूढ़ियों, ऐतिहासिक सामग्रियों और कितने ही अन्य विषयों का ऐसा समावेश जिसे सुनकर हृदय फड़क उठता है।

स्वाभाविकता तो इन गीतोंमें ऐसी समायी हुई रहती है जैसे तिलमें तैल यही कारण है कि

कितने ही अधिक व्यक्तियोंके लिए कितने ही अंशोंमें कृत्रिम कविताओंकी बनिस्वत ग्राम-गीत ही अधिक प्रभावोत्पादक और उपयोगी सिद्ध होते हैं।

ग्राम-गीतोंकी व्यापकता

भारतवासियोंका सामाजिक जीवन सर्वथा गीतमय ही है। जन्म होते ही स्त्रियां हिलमिल कर सोहरके गीत गाती हैं, मुण्डनके अवसर पर मुण्डनके गीत। इसी प्रकार जनेऊ के गीत, विवाहगीत, संस्कारों के गीत, बारहमासे, सैर, कजलियोंके देवियों के गीत, खेतों के और चक्की पीसने के गीत, गङ्गा यमुना स्नान, तीर्थयात्रा और मेलेके गीत, इत्यादि इत्यादि प्रत्येक अवसरके गीतों द्वारा ग्रामीण जनता अपना मनोरंजन किया करती है। भारतवर्षके प्रत्येक भागमें भिन्न-भिन्न रूपसे इन गीतोंका साम्राज्य है।

लोक-कवि ईसुरीका वंश-परिचय

बुन्देलखण्डके ग्राम-गीतों का विस्तृत विवरण बुन्देल-वैभवके एक भागविशेष में अलगसे संग्रहीत किया जा रहा है। प्रस्तुत लेखमें जिन गीतों की चर्चा की जा रही है वे एक ही लोक-कविके बनाये हुए हैं—उनका शुभ नाम है। ईसुरी आपका जन्म सं० १९८१ वि० में मेड़की नामक ग्राम में, जो कि झांसी प्रान्तांतर्गत मऊरानीपुर से छै मील है, हुआ था। आपके पूर्वज ओरछा निवासी थे किन्तु अठारहवीं शताब्दीमें जिन दिनों ओरछे का व्यवसाय आदि गिरगया और राजधानी भी अन्यत्र चली गयी तब वे ओरछा छोड़कर मेड़की चले गये थे, तबसे उनके वंशज वहीं मेड़की में खेती बारी, साहूकारी और पण्डिताई करते हैं।

ईसुरीके पूर्वज अरजरिया तिवारी जुझौतिया ब्राह्मण थे। मेड़कीमें पं० भोले अरजरियाके सदानन्द उर्फ अधार, रामदीन और ईसुरी ये तीन पुत्र हुए। ईसुरी का पूरा नाम ईसुरीप्रसाद या ईश्वरीप्रसाद था किन्तु उनकी ख्याति उनके उपनाम ही से अधिक है।

ईसुरी अधिक पढ़ेलिखे न थे। उनका बचपन लाड़ प्यार ही में व्यतीत हुआ इसके दो कारण थे, एक तो अपने ही घरमें सबसे छोटे थे, दूसरे इनके मामाके कोई संतान न थी। अतः अधिकतर इनको अपने मामाके यहां ही रहना पड़ता था। बड़े होने पर जमींदारोंके वे आजीवन कारिन्दा होकर रहे और बड़े ही सम्मान पूर्वक। उनके सम्बन्धका विस्तृत विवरण 'ईसुरी-प्रकाश' में दिया जा रहा है।

ईसुरीके गीतोंकी भाषा

ईसुरीके जितने गीत अब तक प्राप्त हुए हैं, वे सब एक ही प्रकारके छंदमें हैं, कहीं कहीं छंदके साथ दोहा भी जोड़ दिया है। जन साधारण उन गीतों को फाग कहते हैं। १६ और १२ मात्राओंके

विश्रामसे उसमें २८ मात्राएं होती हैं और अंतमें दो गुरू। छंदशास्त्रके अंतर्गत यह छंद सार, नरेन्द्र और ललितपद की श्रेणीमें आता है।

ईसुरीके गीतोंकी विशेषता यह है कि सीधी सरल भाषामें गीतको मनोहर बना देते थे और प्रथम पंक्ति को द्वितीय पंक्ति का जोरदार समर्थन प्राप्त रहता है जिससे गीत सुनते ही सुनने वालों का ध्यान बरबस उसकी ओर आकर्षित हो जाता है, यथा—

गोरी कठिन होत हैं कारे, जितने ई रंग वारे।

ईसुरीके गीतोंकी आलोचना

ईसुरीके गीतोंकी आलोचना करते समय यह आवश्यक है कि प्रत्येक वातारण की ओर हमारा ध्यान रहे। राम और कृष्ण सम्बन्धी गीत उन्होंने जितनी तन्मयतासे कहे हैं उससे कहीं अधिक तन्मयतासे श्री राधारानीके श्री चरणोंमें उन्होंने श्रद्धाञ्जलियां अर्पित की हैं। अपनी उपास्यदेवी ब्रजरानी श्री राधिका जी ही को वे मानते थे। यों तो अकाल वर्णन, ऋतु वर्णन, आदि और भी कितने ही विषयोंके उनके गीत हैं किन्तु सर्वोत्तम विषय उनका है 'प्रेम'का। प्रेम कलाका प्रतिरूप है इसलिए प्रेमको अध्ययनका एक अच्छा विषय कह सकते हैं।

विद्यापति, सूर तथा अन्य भक्त-कवियोंके गीतोंका भी सूत्रपात प्रेम ही से हुआ यद्यपि उन्होंने प्रेमको ईश्वरत्वके विशाल पथमें परिणत कर अपने अमर-गीतोंमें गाया, तब भी वे प्रेम पर विना खेले न रहे। गोस्वामी तुलसीदासजी भी जो अधिक संयत और गंभीर थे अपनी कवितामें प्रेमका रेखाङ्कन किये विना न रह सके।

वास्तवमें प्रेम ही सबसे प्रबल मनोविकार है और मानव-जीवनकी अनेक उलझनोंका स्रोत भी। इसी कारण संसारके साहित्यमें यह अपना विशेष स्थान रखता है। यह प्रेमही है जो अपढ़ और अज्ञान जनताके मुंहसे गीतोंके रूपमें निकल पड़ता है।

ईसुरी तो प्रेमके अप्रतिम कलाकार ही थे, उनके गीत प्रेम और जीवनसे ओत प्रोत हैं। छाया-वाद की सजनीके बहुत पूर्व उन्होंने रजउ, जैसे मधुर शब्द की कल्पनाकी, उसका व्यवहार किया और रजउ को सम्बोधित करके इतने गीत निर्माण कर डाले कि आज भ्रम सा हो रहा है कि आखिर ये रजउ ईसुरी की कौन थी? वास्तवमें प्रेमिकाके जो चित्र उन्होंने प्रदर्शित किये हैं वे इतने आकर्षक और स्वाभाविक बन पड़े हैं कि उनकी सूक्ष्मदृष्टि और चतुरताकी प्रशंशा किये विना नहीं रहा जाता।

आपके गीतों के कुछ उदाहरण देखिए। उनको पढ़ते और सुनते ही चित्रपटकी भांति दृश्य समाने आ जाता है।

सौंदर्यसे प्रभावित हो ईसुरी कहते हैं कि इस सुन्दर मुंहको देखकर कोई टोटका टौना न कर दे, कहीं किसीकी कुदृष्टि न पड़ जाय, घर और मुहल्ले में तुम ही तो एक खिलौना हो, तुम ही

से तो सब मन बहलाते हैं, कम से कम कुदृष्टिसे बचे रहनेके लिए ढिटौना (माथेपर काजलका चिन्ह) लगा लिया करो, हम सबकी यही आकांक्षा है कि तुम दीर्घजीवन प्राप्त करो—

कोउ करत टोटका टौना, ई लडुआ से मौना।
घर और बार पुरा पालेमें, तुम हौ लाल खिलौना।
कड़वौ करे नजर बरका कें, देवौ करे ढिटौना।
'ईसुर' इने खुसी बिघ राखै, जुग जुग जियै निरौना।

जिस प्रकार उंगलीके थोड़े ही संकेत से डोर में बंधी हुई चकरी जाती और तुरंत लौट आती है, वही दशा प्रेमी की है। वह प्रेमिकाके दर्शनों के लिए जाता है और निराश लौट आता है, दिन भर यही क्रम रहने पर भी तृप्ति नहीं होती। इसीलिए वह कहता है कि घरोंकी दूरी बहुत ही खटकने वाली बात है—'तकछक' शब्दने तो कमाल कर दिया है, 'अवसर' तकछकके काइंयापन और उतावली को नहीं पा सकता। यथा—

हमसें दूर तुमायी बखरी, रजउ हमें जा अखरी।
बसौ चाइयत दोर सामने, खोर सोड़ हो सकरी।
तक-छक नईं मिलत कउवे कौं, घरी भरे कौं छकरी।
हमरी तुमरी दोउ जननकी, होवे कौं हां तकरी।
फिर आवैं फिर जावैं 'ईसुर' भये फिरत हैं चकरी।

प्रेमी कितनी ठोकरें खाता है, क्या से क्या हो जाता है, इसको कितने ही गीतोंमें कितने ही प्रकार से कहा है। निम्नलिखित गीतमें तो पराकाष्ठा ही कर दी है। वे कहते हैं, बड़े-बड़े, मोटे-ताजे भी सूखकर छुहारे की भांति रह जाते हैं और जो इकहरे बदनके हैं उनका तो कहना ही क्या, हाड़ों के पिंजड़े पर खाल इस तरह रह जाती है जैसे मकड़ी का जाला और इस सबका कारण है प्रेमका खटका, व्यौरेवार वर्णन गीत में देखिए—

जौ तन हो गओ सूक छुआरौ, बैसइं हतौ इकारौ।
रै गई खाल हाड़ के ऊपर, मकरी कैसो जारो।
तन भओ बांस, बांस भओ पिंजरा, रकत रओ ना सारौ
कहत 'ईसुरी' सुन लो प्यारो, खटका लगौ तुमारौ।

प्रेम-पंथका खटका ऐसा ही हुआ करता है, भुक्त भोगी जानते ही होंगे, छुहारेसे भी अधिक और क्या कोई दुबला पतला होगा। हड्डीके ढांचेपर चमड़ा ही चमड़ा रह गया है और वह भी इतना

पतला, रक्त और मांस विहीन, कि आप उसके भीतर की हड्डियां उसी प्रकार गिन लें जिस प्रकार मकड़ीके जालेको गिन लेते हैं। एक निगाह ही में देखकर अनुभव कर लें कि विरही इसे कहते हैं। मकड़ीके जाले और पिंजड़ेकी, वह भी बांसके पिंजड़ेकी जो उपमा दी है वह कितनी ठीक बैठती है इसे पाठक ही विचार करें।

प्रेमीको आशा और निराशाके झूलेमें प्रायः झूलना पड़ता है। कंचन-काया और मन-हीरा की दशा होती है, इसे इस पंथके पथिक ही भली प्रकार अनुभव करते हैं—

जब से भई प्रीति की पीरा, खुसी नई जौ जीरा।
कूरा माटी भओ फिरत है, इतै उतै मन-हीरा।
कमती आ गई रकत मांस की, बहौ दगन से नीरा।
फूंकत जात विरह की आगी, सूकत जात सरीरा।
ओई नीम में मानत 'ईसुरी, ओई नीम कौ कीरा।

प्रेम-पंथके थपेड़े ईसुरी जी ने भी उठाये थे या नहीं इससे हमें सरोकार नहीं, किन्तु उन्होंने जैसे सजीव वर्णन इस विषयके किये हैं उनको सुनकर तबियत फड़क उठती है। नसीहत भी मिलती है कि अगर कंचन-काया को कूरा-माटी (कूड़ा और मिट्टी) और मन-हीरा को दुखी करना है तो इस कूचेमें कदम बढ़ाना। फिर तो एक बार कदम उठ चुकने पर वही कहावत हो जायगी, कि नीम का कीड़ा नीम ही में सुख मानता है।

प्रेमिकाके लिए प्रेमी पक्षियोंसे भी नीचे काठ पत्थर तक होने को धन्य मानता है यदि उनको प्रेमी और प्रेमिकाके मिलनका सुअवसर प्राप्त है तो। वेकल प्रेमी प्रतीक्षा करते करते जब थक जाता है और सफल नहीं होता तब यही भावनाएं उसे शांत किया करती हैं। जवानीमें भी वह सोचने लगता है कि अब कितने दिन की जिंदगी है, अब भी प्रेमिका मिल जाय अन्यथा इसी प्रकार तरसते हुए संसारके बाजार से हाट उठते ही मनीराम उड़ न जांय, शरीर छूट न जाय।

बिधना करी देह ना मेरी, रजउ के घर की देरी।
आउत जात चरन की धूरा, लगत जात हर बेरी।
लागौ आन कान के येंगर, बजन लगी बजनेरी।
उठन चात अब हाट 'ईसुरी', बाट बहुत दिन हेरी।

प्रेमिकाके घर की देहरी बनने की अभिलाषा प्रेमीको प्रेरित करती है और उसकी अपने शरीर से कहीं अधिक विशेषताएं बतलाता हुआ कहता है कि विधाताने ऐसा स्वर्ण-संयोग क्यों न उपस्थित किया जिससे आते और जातेहुए मुझे चरण-रज प्राप्त कर सकनेका तो सौभाग्य और सुअवसर तो मिलता ही रहता।

प्रेमीके दर्शनों की प्यासी प्रेमिका कहती है कि यदि मेरा प्रेमी छल्ला बनकर मेरी उंगुलियोंमें रहता होता तो कितना सुविधाप्रद होता। जब मैं मुंह पोंछती तो वे गालोंसे सहज ही में लग जाते, जब मैं आंखोंमें काजल देती तो उनके अपने आप दर्शन हो जाते, मैं जब जब घूंघट संभालती तब तब वे सन्मुख उपस्थित होते और इस प्रकार उनके लिए तरसना न पड़ता—

जो कउं छैल छला हो जाते, परे उंगरियन राते।
मौं पोंछत गालन कौं लगते, कजरा देत दिखाते।
घरी घरी घूंघट खोलत में, नजर सामने राते।
मैं चाहत ती लख में बिदते, हात जाइं कौं जाते।
'ईसुर' दूर दरस के लानें, ऐसे काये ललाते।

इधर प्रेमी भी कह रहा है कि फिरते फिरते मेरे पैरोंमें छाले पड़ गये हैं फिर भी मैं सङ्ग छोड़ने वाला नहीं। कंधेपर झोला डालकर घर घर अलख जगाता हूं, गलियों की खाक छान रहा हूं, रोड़ा बनकर इधर उधर भटक रहा हूं, सूखकर डोरी की तरह हो गया हूं, हाड़ घुन हो चुके हैं फिर भी तुम्हारे कृपा पात्र न बन सका। दो गीत देखिए—

हड़रा घुन हो गये हमारे, सोसन रजउ तुमारे।
दौरी देह दूबरी हो गई, कर कें देख उगारे।
गोरे आंग हते सब जानत, लगन लगे अब कारे।
ना रये मांस रकत के बूंदा, निकरत नईं निकारे।
इतनउ पै हम रजउ कौं 'ईसुर', बनें रात कुपियारे।

× × ×

फिरतन परे पगन में फौरा, संग न छांड़ों तोरा।
घर घर अलख जगाउत जाकें, टंगौ कंदा पै झोरा।
मारौ मारौ इत उत जावै, गलियन कैसो रोरा।
नइं रऔ मास रकत देही में, भये सूक कें डोरा।
कसकत नईं 'ईसुरी' तनकउ, निठुर यार है मोरा।

प्रेमिका की तलाशमें दर्शनोंकी दक्षिणा मांगनेवालेके उद्गार देखिए—

जो कोउ फिरत प्रीतिके मारे, संसारी सों न्यारे।
खात पियत ना कैसउं, रहते, वेस-विलास बिसारे।

ढूंड़त फिरत बिछुर गए नेही, जांचत हैं हर द्वारे।
'ईसुर' नईं कोउ बेदरदी, दरस दच्छना डारे।

प्रेम-पंथमें आसक्तिमें आकुलता और विरक्तिमें सान्त्वना मिल जाया करती है—

अब ना होबी यार किसीके, जनम जनम कौं सीके।
समझे रइयौ नेकी करतन, जे फल पाये बदीके।
यार करे सें बड़ौ बखेड़ा, विना यारके नीके।
अब मानुस सें करियो 'ईसुर', पथरा रामनदीके।

इत्यादि कितने ही गीत इस विषयके सुने गये हैं। रामावतार और कृष्णावतार विषयक गीतोंके भी कुछ उदाहरण देखिए—

रामावतार

कोपभवनमें रानी केकई राजा दशरथसे कह रही हैं कि हे राजाजी! भरतजी राज पावें और श्रीरामजी वन जावें, यह बरदान मैं मांगती हूं। प्रतिज्ञा कर दीजिए कि चौदह वर्ष पश्चात् ही रामचन्द्रजी अयोध्यामें आवें। राजा दशरथकी क्या दशा हो गयी है वह अनुभव ही करते बनती है। उन्हें आगे कुआं और पीछे खाई दिखलायी देती है—

राजा राज भरत जू पावें, रामचन्द्र बन जावें।
केकई बैठी कोप भवन में, जौ बरदान मंगावें।
कर दो अवध अवधके भीतर, चौदइं बरसैं आवें।
आगे कुआं दिखात 'ईसरी', पाछें बेर दिखावें।

भरत अयोध्यामें आ गये, रानी केकईसे वे कह रहे हैं कि मैया दोनों भाइयोंको वनमें भेज दिया है, पिताजीको स्वर्गमें भेजकर रघुवंशियोंकी नाव डुबा दी है। अरे माता कौशिल्या और सुमित्राके एक एक ही पुत्र तो था! हे देव! कैसे इस अवधकी लाज रहती है जब उसपर कालीकी छाया पड़ गयी है—

बन कौं पठै दये दोइ भैया, काये केकई मैया।
पिता पठै सुरधाम, बोर दई, रघुबंसन की नैया।
हतीं सुमित्रा कौशिल्या कें, एकई एक उरैया।
'ईसुर' परी अवधमें कारी, को पत भांत रखैया।

रावणको मन्दोदरी समझा रही है कि आपने मेरा कहना न माना। श्री सीताजी उनकी रानी हैं जो अंतर्यामी हैं, यह सोनेकी लङ्का धूलमें मिल जावेगी अन्यथा सीताजी सहित श्रीरामचन्द्रजीसे मिल लो—

तुमने मोरी कई न मानी, सीता ल्याये बिरानी।
जिनकी जनक सुता रानी हैं, वे हर अंतरध्यानी।
हेम कंगूर धूरमें मिलजें, लङ्काकी राजधानी।
लै कैं 'मिलौ सिकाउत जेऊ, मंदोदरी सयानी।
'ईसुर' आप हात हरयानी, आनी मौत निसानी।

पाप करनेसे क्या कभी किसीने मेवा पाया है ? उससे तो नाश ही हो जाया करता है। देखिये उस रावणके यहां जिसको अभिमान था कि उसके एक लाख पूत और सवा लाख नाती हैं, यथा —

इक लख पूत सवा लख नाती, ता रावन घर दिया न बाती।

उस रावणके घरमें कबूतर रहने लगे और महलों पर कौए उड़ने लगे। कोई पानी देने वाला न रहा, 'लुप्त पिण्डोदक क्रिया' वाली बात हो गयी—

को रओ रावन कें पनदेवा, बिना किये हर सेवा।
करना सिंध करौ कुल भर कौ, एक नाङ कौ खेवा।
कालफंद अवधेस काट दये, जै बोलत सब देवा।
बांकन लगे काग महलन पै, भीतर बसत परेवा।
'ईसुर' नास मिटाउत पाउत, पाप करें को मेवा।

कृष्णावतार

अपनों तुमें जान गिरधारी, हमने कीनी यारी।
काउ औरसें करने होती, बहुत हती संसारी।
हर हर तरां तुमारे ऊपर तबियत भरी हमारी।
तुलसी गङ्गा जामिन जाकी, जनम जिंदगी हारी।
'ईसुर' तकी स्याम की मूरत, गोरी नईं निहारी।

काले रंग पर सखियोंका व्यंग है, संसारमें कालेकी बनस्बित गोरेको अधिक पसंद किया जाता है किन्तु सखियोंने गोरेकी तलाश नहीं की, सांवलिया ही पर हर प्रकार संतोष किया और उन ही पर अपना जन्म और जीवन हार बैठी हैं। तुलसी और गङ्गा इसकी साक्षी हैं इससे बड़ी जमानत और किसकी किसे सम्भव है ? इसीलिए आपको अपना ही समझकर हम सबने आपसे मित्रता की।

श्री राधिकाजीको ये अपनी उपास्यदेवी मानते थे, एकबार जब इनके सिरपर गाज (बिजली) गिरते गिरते बच गयी तब आपने कहा था कि —

हम पै राधा की सिवकाई, ऐसी कां बन आई।
उन कौं धुन से ध्यान लगा के, एकउ दिना न ध्याई।
ना कभऊं हम करी खुसामद, चरन कमल चित लाई।
प्रन कर पाप करत रये हो गओ, कां कौ पुन्न सहाई।
परत लाड़ली ईसुर जा सें, सिर सें गाज बचाई।

इत्यादि कितने ही भावपूर्ण गीत आपके विविध विषयों पर उपलब्ध हैं; किन्तु यहां उन सबकी चर्चा करना सम्भव नहीं। 'ईसुरी-प्रकाश' में वे संग्रहीत हैं। आशा है हमारे इस सफल लोक-कविका उचित सम्मान करनेके लिए हिन्दीभाषा-भाषी सम्मिलित रूपमें उद्योग करेंगे और ईसुरीके यश-शरीरको, जो कि कविताओं और गीतोंके रूपमें यत्र तत्र सर्वत्र प्रचलित हैं, यथासाध्य एकत्रित कर सुन्दर-तम रूप देनेका प्रयत्न करेंगे।
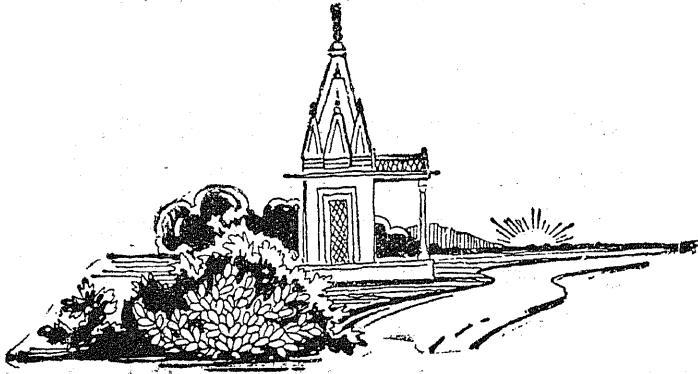
गुरुवर श्री गणपति प्रसादजी चतुर्वेदी

श्री श्याम सुन्दर बादल

प्राचीन भारतके पुराने तपोवनों एवं गुरुकुलोंकी शिक्षाका आदर्श निःस्वार्थ भावसे अपने चारों ओर ज्ञानका वितरण करना है। गुरुकुलके उपाध्यायके समक्ष शिक्षण एक पवित्र कर्तव्य था जिसमें धनका कोई खास महत्त्व नहीं था। आजकी अत्यन्त व्यय-साध्य और व्यापारिकता भरी शिक्षा-प्रणालीके युगमें रहनेवाले लोग तो उस समयके कुलपतिकी परिभाषा जानकर आश्चर्य करेंगे कि दस हजार विद्यार्थियोंके सम्यक् भरण, पोषण और शिक्षणका भार उसपर रहता था। परन्तु ऐसे लोगोंकी अभी भी कमी नहीं है जो इस परम्पराको आज भी जीवित रक्खे हुए हैं। अपने पूर्व-पुण्योंके फल-स्वरूप मुझे ऐसे ही एक महापुरुषके चरणोंमें बैठकर अध्ययन करनेका सुयोग मिला है। नीचेकी पंक्तियोंमें उनका पुण्य चरित्र चित्रित है।

बुन्देलखंडके मऊ नगरके जुझौतिया ब्राह्मण-वंशमें श्री नन्हैलाल चौबेके द्वितीय पुत्रके रूपमें मेरे गुरुवर वि० संवत् १६२७ की ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमीको अवतीर्ण हुए थे। बचपनमें ही जननी और जनकके दिवगंत हो जानेके कारण चिरकाल तक आपपर बड़े भाईका कठोर संरक्षण रहा। "क्योंरे गनपति पुरखोंकी किसानी मिटा दै है रे। जौ गजाधर न हो तो दाने-दाने को तरसतो" इत्यादि वाग्बाणों की वर्षा होती रहती थी।

चौबे जी अपने अग्रजके किसानी परिश्रमको जानते थे, उन्हें पिताका स्थानीय मानते थे, अतएव कभी उनकी बातोंका बुरा नहीं मानते थे। इन्होंने सब कुछ सहते हुए अध्ययन जारी रक्खा। चौथी कक्षा तक हिन्दी और उर्दू का ज्ञान प्राप्तकर आपने पन्द्रह वर्षके वयमें संस्कृतके अध्ययनका आरंभ किया था। श्री स्वामीप्रसाद सीरौठीयासे सारस्वत और सिद्धांतचन्द्रिका आपने दो[illegible] वर्षमें समाप्त कर दी। सत्रह वर्षकी आयुमें आपने अपने घर पर एक निःशुल्क संस्कृत पाठ[illegible] स्थापित कर दी थी। अब अध्ययन और अध्यापन दोनों साथ साथ चलने लगे।

इन दिनों छतरपुर और मऊरानीपुर शेरबाजीके प्रसिद्ध अखाड़े[illegible] छतरपुरमें इस साहित्यके आचार्य स्व० श्री गंगाधरजी व्यास थे और मऊरानीपुरमें पुरोहितज[illegible] पर इन दोनों

की दलोंमें भिड़न्त भी हो जाया करता था। यह द्वन्द्व कभी कभी तीन तीन रात चलता था, जिसमें जनता बड़ी दिलचस्पी लेती थी। एक बार जब उक्त दोनों गोलोंमें द्वन्द्व चल रहा था, तभी श्री चौबेजीने पुरोहित-गोलकी ओरसे संस्कृतका एक स्व-रचित पद्य गाकर सुनाया। श्री व्यास-गोलमें इसकी जोड़का कोई छन्द कहनेवाला नहीं था। फलतः उसे हार मान लेनी पड़ी। पुरोहितजीने चौबेजीकी पीठ ठोंकी और उन्हें अपनी गोलका नेता बनाया। इतना ही नहीं इनकी ख्याति बढ़ानेके उद्देश्यसे श्री पुरोहितजीने अपने ही व्ययसे श्रीमद्भागवतकी प्रति मंगाकर और स्वयं ही यजमान बनकर इनसे विधिपूर्वक उसका श्रवण किया। इससे इनकी इतनी ख्याति फैली कि अब पुराणोंके द्वारा उनकी स्वतंत्र आजीविका भी चलने लगी। अब अग्रजकी कठोरता प्रेम और श्रद्धामें शनैः शनैः परिवर्तित होने लगी।

उपर्युक्त घटनाके पश्चात् शैर-साहित्यके भंडारको भरनेमें चौबेजीने बड़ा योग दिया। उनके सम्बन्धकी ऐसी ही एक दूसरी घटना है। उक्त दोनों गोलोंमें प्रतिद्वन्दिता चल रही थी। दो दिवस हो गये थे। तीसरी रात भी जब आधी बीत चुकी थी तो व्यास-गोलकी ओरसे एक अमोघ अस्त्र छोड़ा गया जो संभवतः इस प्रकार था—

अम्बा को मिला चूड़ामणि किससे बताना।
इस पे ही आज हार जीत मीत मनाना।

कुछ क्षण पुरोहितजीकी गोलमें सन्नाटा रहा। श्रोता समझते थे अब पुरोहितजीकी गोल हारी। अकस्मात् चौबेजीको सप्त-शतीके द्वितीय अध्यायके "क्षीरोदश्चामलं हारमजरेच तथाम्बरं चूड़ामणिं, तथा दिव्यं कुण्डले कटकानिच' की याद आ गयी, तत्काल ही उन्होंने गोलके एक आशुकवि स्व० श्री बोदन स्वर्णकारकी सहायतासे, लेखकको जैसा याद है, निम्न पद्य गाकर सुना दिया—

उपहार क्षीर सागर ने हार को दियो।
ताही सौ दिव्य अम्बर चूड़ामणी लियो।
देवन के अस्त्र शस्त्र दिव्य भूषण धारे।
मैया ने असुर मारे भूभार उतारे।

अपार भीड़में से सहसा तालियों की तड़ातड़ ध्वनि उठ पड़ी और जय पराजयका निर्णय हो गया।

इन्होंने दो ही वर्षमें नगरके तत्कालीन प्रसिद्ध ज्योतिषी श्री मथुराप्रसादजी तिवारीसे मुहूर्त-चिन्तामणि, नीलकण्ठी, बृहज्जातक और ग्रहलाघव पंचतारा तक पढ़ लिया था। तिवारीजी ग्रहलाघव पंचतारा तक ही पढ़े थे, परन्तु चौबेजीने अपनी प्रखर प्रतिभा द्वारा सम्पूर्ण ग्रहलाघव और लीलावतीका गणित सिद्ध कर लिया था। एक वर्ष आपका बनाया हुआ पंचांग भी प्रकाशित हुआ था।

दतिया निवासी स्व० श्री राधेलालजी गोस्वामीसे आपने यद्यपि षड्लिंग तक ही सिद्धान्त-कौमुदी पढ़ी थी, परन्तु आपने अपने छात्रोंको पूर्ण सिद्धान्त-कौमुदी पढ़ायी है। टीकमगढ़के तत्कालीन विद्वान् श्री राजारामजी शास्त्री (रज्जू महाराज) से आपने न्यायशास्त्र पढ़ा था, एवं आगन्तुक विद्वानोंसे स-स्वर वेद पाठका भी अभ्यास कर लिया था। अब किसी विषयका छात्र आपकी पाठशालासे निराश होकर नहीं जाता था। आयुर्वेदके कितने ही छात्रोंने आपकी पाठशालामें अध्ययन कर उच्च परीक्षाएं दी हैं। यद्यपि आपने कोई परीक्षा नहीं दी पर आपके कई छात्रोंने शास्त्री परीक्षा तक उत्तीर्ण की है। कर्म-काण्ड, वैदिक यज्ञादिमें आप इतने ख्यात हो गये हैं कि अब तक दूर दूर तक आप प्रधान याज्ञिकके रूपमें ले जाये जाते हैं। चौबेजी पुराणादिपर इतना सुन्दर प्रवचन करते हैं कि एक बार आपके पाणिनि व्याकरणके गुरु श्री गोस्वामीजी इतने मुग्ध हो गये कि जैसे ही श्री चौबेजी व्यासगद्दीसे उतरकर नीचे आये कि उन्होंने इनके पैर पकड़ लिये। चौबेजीको इससे अत्यन्त दुःख हुआ और गोस्वामीजीके चरणोंमें प्रणामकर पश्चत्ताप करने लगे। गोस्वामीजी बड़े भावुक थे, वे कहने लगे मैंने गणपति प्रसाद चौबेके नहीं पुराण प्रवक्ता भगवान् वेदव्यासके चरण छुए हुए हैं।

आप दूर दूर पुराण प्रवचनके लिए जाने लगे। इन पंक्तियोंके लेखकको अन्ते-वासी होनेके नाते कई बार ऐसे अवसरों पर आपके साथ जानेका सौभाग्य मिलता रहा है। माघमासकी विरल-तारिका, प्रभात कल्पा, रात्रि है, गुरुजीके स्नान हो रहे हैं। अपना नित्यका कर्म और नियमित सप्त-शतीका पाठ करके सूर्योदय होते न होते व्यासगद्दी पर बैठ जाते हैं, फिर सायंकाल चार बजे उठते हैं। कैसा उग्र तप है? मैं तो अपनी किशोरावस्थामें भी उसे देखकर चकित हो जाता था।

हेमन्तकी रात्रियां हैं, परीक्षार्थियोंको पढ़ाते पढ़ाते बारह बजा देते हैं, और फिर उषःकाल में उठकर छात्रोंको जगाकर फिर पढ़ाने लगते हैं। चालीस पैंतालीस वर्ष तक ऐसा निरन्तर एवं निःस्वार्थ अध्ययन कौन करा सकता है।

छोटी सी लंगोटी लगाये, ग्वालोंको गाएं सौंप कर लौटते हैं, सहसा दीवान साहबकी सवारी आ जाती है, और इन्हींसे प्रश्न होता है चौबेजी कहां हैं? आप उसी स्थितिमें अपना परिचय देते हुए उनका कार्य करने लगते हैं, कैसी सरलता है?

आपका प्रभाव न केवल विद्यार्थी समाज तक ही सीमित था परन्तु, साधारण जनता भी आपके तप, त्याग एवं सरलता आदि गुणोंसे प्रभावित थी और आपका सम्मान करती थी। जब सन् १९३० ई०में नगरमें साम्प्रदायिक अशान्ति हो गयी थी, श्री घासीराम जी व्यास उन दिनों जेल भेज दिये गये थे, तब तत्कालीन जिलाधीश डार्लिंग साहबने श्री चौबेजीको आग्रह पूर्वक शान्ति-स्थापना समितिका प्रमुख सदस्य चुना और अशान्ति पीड़ित दीन जनतामें चौबेजी द्वारा ही आर्थिक सहायता वितरित करायी।

आपकी भाषण-शक्ति अपूर्व थी। सनातन धर्मके महोपदेशक स्व० श्री कालूरामजी शास्त्रीने

नगरके कुछ ईर्ष्यालु पंडितोंकी प्रेरणासे एकबार शास्त्रार्थके लिए इन्हें आहूत किया। आह्वान-पत्रमें शास्त्री जीने समय 'स्याम' के चार बजे लिखा था। श्री चौबेजीने 'स्याम' शब्दसे ही इस शास्त्रार्थका पूर्वपक्ष उठाया और अपना वक्तव्य समाप्त कर शास्त्रीजीके वक्तव्यकी प्रतीक्षा करने लगे। श्री शास्त्रीजी चौबेजीकी सर्वतोमुखी प्रतिभा पर मुग्ध हो गये और अपने वक्तव्यमें इनकी प्रशंसा कर आपके घनिष्ठ मित्र बन गये।

वि० १९८४ के लगभग नगरके समस्त कहारोंने वैश्यसमाजके किसी व्यवहारसे असन्तुष्ट हो उनके यहां पानी भरना छोड़ दिया। सारे नगरमें खलबली मच गयी परन्तु किसीको कोई उपाय नहीं सूझता था। अन्तमें श्रीचौबेजीकी शरण ली गयी। नुनाई बाजारमें एक विशाल सभाकी आयोजना की गयी जिसमें वर्ण धर्मों पर लगातार चार घंटे तक चौबेजीने वक्तृता दी। इस वक्तृताका कहारों पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उन्होंने वहीं अपनी उक्त हड़तालकी समाप्ति घोषित कर दी। ऐसी कितनी ही इन्होंने समाजकी मौन किन्तु महत्त्वपूर्ण सेवाएं की हैं।

सरलता और स्वाभिमान उनके जीवनके मुख्य गुण रहे हैं। घमंड तो आपको छू भी नहीं गया, दम्भ तो आपसे कोसों दूर रहता रहा। निस्वार्थ भावसे विद्यादानकी इस साधनामें बड़े बड़े प्रलोभनों और विघ्नोंने बाधक बनना चाहा परन्तु दृढ़व्रती श्री चौबेजी पर उनका कोई असर न हुआ। टी. एन. बी कालेज राठ, (हमीरपुर) के संस्थापक श्री ब्रह्मानन्दजीने जब सर्व प्रथम अपना विद्यालय खोहीमें स्थापित किया था तब संस्कृताध्यापनके लिए श्री चौबेजीसे उन्होंने बड़ा आग्रह किया था परन्तु चौबेजीने वेतन लेकर अध्यापन करना पसन्द न किया। चौबेजीके श्रद्धालु भक्त तत्कालीन मेडिकल आफिसर डा० प्रतापचन्द्र राय आपकी पाठशालाको सरकारी आर्थिक सहायता दिलानेके लिए जब जब आग्रह करते थे तभी चौबेजी अपने दृढ़-व्रतका निश्चय आप पर प्रकट कर देते थे!

वि० संवत् १९७४ की महामारीमें इन पर एक महान् संकट आ पड़ा था। आपके एकाकी विद्वान् युवा-पुत्र श्री रामप्रसादजी चतुर्वेदी, पुत्रवधू और अग्रज सब एक साथ चल बसे थे। केवल आप दम्पति ही अवशिष्ट रहे थे। इस घटनाने चौबेजीको पागल बना दिया। माताजी उक्त संकट और आपकी इस शोचनीय अवस्थाके कारण चिन्तासे सूखकर कांटा हो गयीं। इस दुखी दम्पतिको शोक-सिन्धुसे उबारने वाले थे स्व० श्रीब्रह्मचारी महाराज जिनके नामसे सुखनईके उत्तरी तटपर आज भी एक सुन्दर आश्रम बना है।

जब ब्रह्मचारीजीने चौबेजीकी विक्षिप्त दशाका समाचार सुना तो स्वयं इनके घर दौड़े आये। वयोवृद्ध, प्रतिष्ठित एवं सुप्रसिद्ध होनेके कारण आपके सान्त्वना-पूर्ण वचनोंका श्री चौबेजी पर बड़ा असर पड़ा। इतना ही नहीं, चौबेजीका ध्यान अतीत चिन्तनसे हटानेके लिए उन्होंने अपने ही आश्रममें बड़े धूम धामसे जुलूस निकालकर इनका श्रीमद्भागवत पुराण बैठा दिया। नगरसे दूर होने पर भी इस कथामें सैकड़ों नर नारी जमा होने लगे। एक मासके इस महान् अनुष्ठानमें संलग्न होनेसे श्री चौबेजीको पर्याप्त

आर्थिक लाभ तो हुआ ही सबसे बड़ा लाभ तो यह हुआ कि वे शोकके महान् भारको वहन करने योग्य हो सके। पाठशाला पूर्ववत् मुखरित हो उठी।

गुरुजीकी इस पाठशालासे सैकड़ों छात्र विद्वान बन कर निकल चुके हैं स्व० श्री कृष्णनारायण जी भार्गव, सेक्रेटरी म्यू० बोर्ड झांसी और श्री गंगानारायणजी भार्गव, भूतपूर्व एम० एल० ए०, चेयरमैन डिस्ट्रिक्ट बोर्ड झांसी, और श्री गंगानारायण जी भार्गव, डिपुटी कलक्टर तथा श्रीयुत व्यासजी, आदि कितने ही महानुभावोंने इस पाठशालाकी खुली भूमिपर बैठकर संस्कृत साहित्यका अध्ययन किया है। मऊ नगर और तहसील में कदाचित् ही कोई ऐसा संस्कृतका पंडित होगा, जिसने चौबेजीकी पाठशालामें अध्ययन न किया हो। नगरके जिन विद्वानोंसे इन्होंने अध्ययन किया था उनके पुत्र और पौत्र तक आपकी पाठशालामें पढ़कर पंडित बने हैं। इन पंक्तियोंके लेखकने तो गुरुदेवके श्रीचरणोंमें रह कर अनेक वर्ष व्यतीत किये हैं। खेतीकी देख-रेखके सिलसिलेमें उन्हींके साथ उनके 'हार'में, जो नगरसे छः मीलकी दूरी पर कैमाई ग्राममें है, जाकर कितनी ही हेमन्तकी निशाएं मचानके नीचे पयालमें लेटकर बितायी हैं। गुरुजी मचानके ऊपर पड़े पड़े रघुवंशके श्लोक उठा रहे हैं और मुझसे व्याख्या करायी जा रही है। कभी-कभी तो इसी हार पर पूरी पाठशाला जम जाती थी। दोनों फसलोंमें प्रायः पन्द्रह पन्द्रह दिन यहां गुरुजीको निवास करना पड़ता था। इससे साझेदार अधिक बेईमानी नहीं कर पाते थे और इन्हें खाने भरके लिए अन्न मिल जाता था। इस अवसर पर जितने छात्र वहां जाते थे सभीकी भोजन व्यवस्था गुरु-माता स्वयं करती थीं। जिन्हें इस महाप्रसाद पानेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है, उनका जीवन धन्य है।

श्री चौबेजीके तीन पुत्र और दो कन्याएं हैं, सभी विवाहित हैं। दो वर्ष हुए श्रद्धेया माताजी इहलीला समाप्त कर चुकी हैं। माताजीकी देख रेखमें एक बार आपकी आंखोंका आपरेशन हो चुका था, अतएव शरीर यात्राके निर्वाह योग्य दृष्टि आपको प्राप्त है, इसके पूर्व एक वर्ष अन्वेषनका भी अनुभव करना पड़ा था। कनिष्ठ पुत्रीके विवाहकी उलझनोंमें आपको बार बार बाजार जाना पड़ता था। दैवात् एक दिन सायंकालको बाजारमें ही दो गायोंके बीचमें पड़ जानेसे आपके पैरमें गहरी चोट आ गयी। फलतः तभीसे बड़ी कठिनाईसे चल पाते हैं। अब श्रवणशक्ति भी क्षीण हो चली है। फिर भी दो चार छात्र द्वार सेवन करते ही रहते हैं। और आपके ज्येष्ठ पुत्र श्री शिवनारायणजी चतुर्वेदीके कारण उन्हें निराश नहीं होना पड़ता। गुरुदेवने अपने शिष्योंपर अनन्य स्नेह रक्खा। उन्हें रहनेके लिए अपना एक पूरा मकान दे रक्खा था, छात्र उनका ईंधन भी जला लेते थे, कितने ही निमंत्रणोंमें आपका प्रतिनिधित्व आपके छात्र ही करते थे। उनका भजन पूजन भी लगवा देते थे, एवं कितनी ही प्रकारसे आपने अपने छात्रोंको सहायता प्रदान की है। प्रायः आपके सभी छात्रोंकी भावनाएं लेखककी इन भावनाओंसे भिन्न न होंगी और सभी उन्हें अपना सर्वस्व दाता मानते हैं।

जीवनके खण्डहर

श्री अम्बिकाप्रसाद वर्मा "दिव्य," एम. ए.

जाड़ेकी ऋतु थी, संध्याका समय। मैं अपने आंगन में बैठा धूप ले रहा था। इसी समय एक लड़की सिरपर टोकरी रक्खे आयी और बोली—'बेर ले लो।' लड़की शायद पन्द्रह सोलह वर्षकी होगी, परन्तु यौवनके उसमें कोई चिन्ह नहीं दीख पड़ते थे। चिपटी नाक, अन्दरको घुसी हुई छोटी छोटी आंखें, मोटे मोटे ओंठ, सांवला रंग, ठिनगा कद, देखते ही ज्ञात होता था कि वह भाग्यकी ठुकरायी हुई है।

जब कुछ काम नहीं होता तो कुछ खाना ही अच्छा मालूम होता है, यह भी एक मन बहलाव है। बोला—"देखूं"।

लड़की झिझकती तथा डरती हुई सी बेरोंकी खुली हुई टोकरी सामने रख आंगन में एक तरफ स्वाभाविक सुशीलतासे बैठ गयी, बैर बड़े बड़े और गदराए हुए थे। मेरी भूखी आंखोंने उनका स्वागत किया, परन्तु मेरी विना आज्ञाके ही मेरी लड़की उन्हें खरीदनेको दौड़ी, आज्ञाकी क्या जरूरत थी, यह उसका रोजका काम था। मैंने उसके खरीदे हुए बैरों में से एक बैर उठाया और चक्खा, बैर मीठा था, अतः मुझे लड़कीके विषय में कुछ जिज्ञासा हुई।

तू कहां की है?

"महराजपुराकी" लड़कीने दयनीय सी शक्ल बनाकर कहा।

"तेरे और कौन है?" मैं फिर योंही बेमतलब पूछा बैठा।

"बूढ़ा बाप और एक छोटा भाई"।

"क्यों, मां नहीं है?

"नहीं, वह तो मर गयी," ऐसा कहते लड़की की आंखों में आंसू आ गये।

"कोन, ठाकुर है?"

"अहीर।"

"तो कुछ दूध मठ्ठा घरे नहीं होता?"

"कुछ नहीं, मांके मरजाने से सब घर बार बिगड़ गया। बाप बुड्ढा है, आंखोंसे भी कम दिखता है,

उसका किया कुछ होता नहीं, भाई बिलकुल छोटा है वह क्या करने लायक है, देख रेख न होनेसे सब ढोर मर गये। कई नग गायें थीं कई नग भैंसें, अब कुल दो बैल बच रहे हैं, घी दूध कैसे हो।"

"कुछ खेती पाती भी नहीं?" मैंने पूछा।

"दो खेत पड़े हैं, पर उनको जोतने वाला कौन है? पड़े रहते हैं मुफ्तमें लगान भरना पड़ता है।"

"तब गुजर कैसे होती है?"

"यही कवार करके, बैर बेच लिये या महुए बीन लिये।"

"तेरी शादी होगयी।"

लड़की चुप थी, मैं समझ गया शादी होगयी है। मनमें एक प्रश्न और उठा जब यह लड़की अपनी ससुराल चली जावेगी तब उस बुड्ढे बापका क्या होगा? पर ऐसे बहुत से प्रश्न हैं जिनका उत्तर नियति ही दे सकती है, मनुष्य नहीं। वह प्रश्न मनका मन ही में दब गया, मैं कुछ देर चुप रहा।

जब लड़की जानेको हुई मुझे एक बात फिर सूझी, मेरे हृदय में बहुत दिनोंसे नौकरीके अतिरिक्त कुछ दूसरा धंधा करनेकी इच्छा छिपी थी क्योंकि नौकरी में तो 'नौ खाये तेरहकी भूख' रहती है, विशेषकर रियासतों में। लड़कीसे उसके खेतोंकी बात सुनकर मेरी वह इच्छा जाग उठी, बोला—'खेत मुझे नहीं दे सकती?'

'मालिक ले लो, मैं तो ऐसा ही कोई आदमी चाहती हूं जो उन्हें जोतने लगे। मैं बापको भेजूंगी, आप बात कर लेना"

दूसरे दिन सबेरे मैं अपने कमरेमें बैठा अपनी एक पुस्तक लिख रहा था। मेरे कमरेके सामने एक सेठजीका मकान है, सेठजी अपने दरवाजे पर खड़े थे। इतनेमें एक बुड्ढा उनके सामने आकर खड़ा हो गया। कमरमें उसके चिथड़ोंकी एक लंगोटी थी, शरीर पर एक मैली लाल धोतीका जीर्ण शीर्ण टुकड़ा। कमर उसकी झुक रही थी शरीर भरमें झुर्रियां थीं, आंखोंमें धुंधलापन। उसे देखते ही सेठजी समझे कोई भिखमंगा है। आवाज बुलन्द करके बोले—'उन पाठकजीके दरवाजे जा, वे मिनिस्टर हुए हैं, सबको सदावर्त बांटते हैं।

"मैं सदावर्त लेने नहीं आया, मास्टर भैयाका मकान कहां है?"

"सामने जा" सेठजीने उसी बुलन्द आवाजमें कहते हुए उससे अपना पिण्ड छुड़ाया।

मैं समझ गया वही बुड्ढा है, उसे बुलाया और बात शुरु की। वह बात बातमें कहता—'कहो हां', मुझे जबरन कहना पड़ता—'हां,' मुझे मालूम हुआ कि बुड्ढा बात करनेमें बहुत ही चतुर है। जात का अहीर है, जिन्दगी भर दूधमें पानी मिलाकर बेचता रहा होगा, एकके दो करता रहा होगा इत्यादि,

इत्यादि। आखिर उसके खेत देखनेके बाद कुछ तै करनेका निश्चय किया, उसे किसी दिन संध्या समय आनेको कहा।

एक दिन मैं स्कूलसे आया नहीं कि उसे दरवाजे पर डटा हुआ पाया। नागवार तो गुजरा परन्तु उसे वचन दे चुका था, उसके साथ जाना ही पड़ा। कई खेतोंको पार करके उसके खेतोंपर पहुंचा। खेती पातीका कुछ अनुभव तो है नहीं, सौदा भी इतना बड़ा नहीं था कि उसमें जादा चख चख की जाती। चालीस पचास रुपयेकी कुल बात थी क्योंकि बुड्डा खेत बेचनेको नहीं सांझे पर उन्हें जोतनेको तैयार था। समझ लिया पचास रुपये न सही मनमें ऐसा हिसाब लगाकर बात तै कर दी। लिखा पढ़ी कर देने पर बात आयी, मैंने उसे फिर समय दिया, वह फिर आया कई बार आया पर लिखा पढ़ीका कुछ साधन न मिल सका। आखिर एक दिन मैंने बला सी टालनेकी गरजसे दो रुपये दिये और कहा जाओ खेतोंमें काम शुरु कराओ। लिखा पढ़ी फिर देखी जायगी। बुड्ढा रुपया लेकर चला गया। आठ दस दिन तक फिर नहीं आया। मैं समझ गया रुपया गये। आखिर एक दिन वह बाजारमें मिला। मैंने पूछा —'क्यों रे फिर नहीं आया तू। कुछ काम शुरु कराया?'

'नहीं मालिक, मजदूर नहीं मिलते। आपके रुपया रक्खे हैं। मजदूर न मिले तो वापस कर जाऊंगा। सारे गांवसे कह कर हार गया। कोई नजदीक खड़ा नहीं होता। उसकी शक्ल देखकर मुझे उसके कहनेमें सचाई दीख पड़ी। ख्याल हुआ मजदूरोंको मजदूर कहां रक्खे हैं और फिर आजकल। मैंने उसके ईमानकी परीक्षा लेनेकी गरजसे उसे कुछ दिनका और अवकाश देना उचित समझा। इसके बाद गर्मीकी छुट्टियां आ गयीं, हमारा स्कूल बन्द हो गया और मैं दो महीनेके लिए घर चला गया। जब लौटा वर्षा शुरु हो गयी थी। एक दिन सहसा उस बुड्ढेकी याद आयी प्रश्न दो ही रुपयेका था, परन्तु वह भी क्यों मुफ्त जावे। एक ग्रामीण उल्लू बनाकर ले जावे! यह बात मुझे गवारा न थी। बुड्ढे पर क्रोध था रुपया उसके पुरखोंसे ले लेनेका संकल्प दुनियांकी धूर्तता कर, बेईमानी, दगाबाजी, बदमाशी, इत्यादि पर सोचता हुआ एक दिन उस बुड्ढेके घर जा ही पहुंचा।

पर उसका घर देखते ही मेरे सारे विचार सहसा बदल गये। एक घर था, सामने छपरी जिसकी दो दो हाथ ऊंची मिट्टीकी दीवालें छप्परके बोझसे झुक सी रही थीं। छप्पर दीवालोंको दबाकर जमीनको छूनेकी कोशिश सी कर रहा था। दीवालें तब भी उस बुड्ढेके समान जीवन संग्राममें डटी हुई थीं, यद्यपि उनमें यत्र तत्र कूबड़ निकल रहे थे, मिट्टी खिसक रही थी, कहीं कहीं बड़े धुंधुआ हो रहे थे, सामनेका घर आगेसे देखनेसे तो कुछ अच्छा मालूम होता था। दरवाजेमें किवाड़ लगे थे मगर पीछेसे वह भी भस-भसा गया था। आगेकी छपरी ही कुल रहनेकी जगह थी। पर उसकी छवाई नहीं हुई थी। उसमें इतना पानी टपक रहा था कि छपरीका सारा फर्श दल दल बन गया था। पैर रखनेको भी कहीं

जगह नहीं थी। इसी कीचड़में वह बुड्ढा इक टूटी चारपायी पर जिसका विनाव झूलकर जमीनमें लग रहा था, लेटा था। मच्छर उसकी सेवा कर रहे थे, उसे अपना मधुर संगीत सुना रहे थे। वह उन्हें कभी इस तरफ हाथ पटक कर खदेड़ता था कभी उस तरफ। मेरे मनमें आया कि यदि दो रुपया और पासमें होते तो उसकी नजर करता। तब भी उसका मन लेनेकी गरजसे मैंने उसे आवाज लगायी वह मेरी आवाज सुनते ही बड़ा लज्जित सा विवश और लाचार सा कराहता हुआ चारपायीसे उठनेकी कोशिश करता हुआ बोला—'मालिक बीमार हूं।'

सोचा—'तू बीमार न हो तो कौन हो? खैरियत यही है कि तू अभी तक जीवित है। ऐसी जगहमें ढोर भी यदि बन्द कर दिया जावे तो शायद रात भरमें खतम हो जावें।'

"पड़े रहो बब्बा" मैंने कहा।

"कैसे पड़ा रहूं। आप मेरे घर आये हैं।"

मैंने बहुत कहा पर बुड्ढा न माना। आखिर अपने बुढ़ापेसे लड़ता हुआ लकड़ीके सहारे उस टूटी चारपायीसे उठकर लड़खड़ाता हुआ मेरे सामने आ खड़ा हुआ। कमरमें वही चिथड़ोंकी लंगोटी थी। शरीर पर वही लाल जीर्ण शीर्ण धोतीका टुकड़ा, वही चिथड़ोंकी लंगोटी थी। शरीरपर यत्रतत्र मच्छड़के काटनेसे पड़े हुए बड़े बड़े दाग। मैंने कृत्रिम कठोरतापूर्वक पूछा—'क्या बाबा 'मेरे रुपया नहीं देना।' यद्यपि उन्हें लेनेकी मेरी कोई इच्छा नहीं थी।

"कल हाजिर हो जांय गे। दूसरेका माल कौन हजम होता है।" बुड्ढेने कराहते हुए कहा।

मैंने दूसरी तरफ नजर फेंकी, बगलमें एक और कोठा था किवाड़ नदारद थे। उसमें बैल बंधते थे। उसे देखकर और मेरे होश हवास उड़ गये। कीचड़, मूत्र, गोबर आदि उसमें इस तरह सन रहे थे जैसे किसीने दीवाल उठानेके लिए मिट्टीका गारा तैयार किया हो। जब बुड्ढेका यह हाल था तब उसके मवेशियोंका यह होना स्वाभाविक ही था। मेरे न जाने कहां विचार गये?

मैंने उसके घरसे निकल कर एक आदमीसे जो समीप ही बैठा मुह धो रहा था, पूछा—'क्यों भाई इस बुड्ढेकी कुछ सहायता नहीं कर सकते? देखो कैसी बुरी हालतमें रह रहा है। सब लोग मिलकर हाथ लगवा दो तो बेचारेका घर ठीक हो जावे। ऐसेमें तो मवेशी ही नहीं रह सकते।

एक औरत दूर ही से कुछ नाराज सी होकर बोली—'उसकी लड़की है, दामाद है. जब वे नहीं करते तो दूसरे किसकी गरज है, करै न अपना!

मैंने कहा—'भाई आदमी ही आदमीके काम आता है, हो सके तो कुछ सहायता कर देना, ऐसा कहकर चला आया।

एक दिन जब संध्या समय स्कूलसे लौटा तो उसकी लड़की घर पर खड़ी हुई मिली। बोली—'मालिक ये आपके रुपये हैं।'

मैंने रुपये वापिस कर दिये।

मैं सोचता हूं, हम बुद्धिजीवी लोग अपने और ग्रामीण जनताकी बीचकी बढ़ती हुई खाईंको पाटनेका प्रयत्न कब करेंगे? इन गरीब किसान मजदूरोंकी ओर हमारे नेताओं और शासकोंका ध्यान कब जाय गा? खुद ग्राम निवासीयों एक दूसरेकी मदद करना कब सीखें गे? और जिस ग्राम संगठनकी बात हम बहुत दिनोंसे सुनते आ रहे हैं वह कब शुरू होगा?

अभागा

श्री यशपाल, बी० ए०, एल-एल० बी०

वह अभागा अब इस संसारमें नहीं है। कुछ दिन हुए, अपने संघर्षमय जीवनसे उसने मुक्ति पा ली। अब वह चैनकी नींद सोता है। संसारने जिसका तिरस्कार किया, समाजने जिसे ठुकराया, उसीको मृत्युने अपनी शीतल गोदमें प्रेमपूर्वक आश्रय दे दिया।

उस नरकंकालका चित्र बार-बार मेरे नेत्रोंके समक्ष आ जाता है। मैं उसे नहीं देखना चाहता। उस ओरसे आंखें मूंद लेना चाहता हूं। बुद्धिजीवियोंको ऐसे दृश्य हाड़-मांसकी आंखोंसे देखनेका अवकाश ही कहां? बुद्धिकी पकड़में जो चीज आ जाती है, वही उनके कामकी है। शेष सब निरर्थक हैं। पर मेरे शरीरमें हृदय अब भी स्पन्दन करता है और बुद्धि पूर्णतया उसे नष्ट कर देनेके प्रयत्नमें अभी तक सफल नहीं हो पायी। इसीसे उस अभागेका चित्र प्रायः मेरे मस्तिष्कमें सजीव रूपसे चक्कर लगाता रहता है।

हम लोगोंने अपनेको चारों ओरसे पक्की परिधिसे घेर रखा है। परिधि अभेद्य है और जहां-जहां द्वार हैं वहां लोहेके ऊंचे-ऊंचे फाटक चढ़े हैं। बाहरका दुख-सुख हम कुछ भी अपने तक नहीं आने देना चाहते। फिर भी वायु तो उन्मुक्त है, वह कोई बन्धन नहीं मानती। इसीसे चार कदम पर बसे जमड़ार, मिनौरा, नयागांव, आदिकी ओरसे उड़कर हवा आती है, और वहां निवास करने वाले मानव नामधारी प्राणियोंके दुख-दारिद्र्यकी कथाएं हम तक पहुंचा जाती है।

× × ×

सौ-सवासौ घरोंके इस जमड़ार गांवके उस नुक्कड़ पर जो टूटी-फूटी झोंपड़ी दीखती है, उसीमें वह अभागा वर्षोंसे अपने जीवनके दिन गिन रहा था। श्वास-रोगने उसका सारा दम खींच लिया था। तिल्लीने बढ़कर उसके पेटमें बाल-भर भी स्थान न छोड़ा था तथा उसके हाथ-पैर सूख कर सींक-जैसे हो गये थे। चिथड़ोंमें अपनी लाजको ढके अहर्निश वह परमपितासे विनती किया करता था, "हे नाथ, तुममें दया है तो मुझे उठालो। मैं अब जीना नहीं चाहता।"

जिनकी उपयोगिता नहीं, उनका जीना क्या। उसकी झोंपड़ी, उसके दो बच्चे, उसकी स्त्री दरिद्रताकी मानों साकार मूर्ति थे। बाप तो रोगी था। मां खेतोंमें मजूरी कर कुछ कमा लाती थी, जिससे उन चारों प्राणियोंका जैसे-तैसे काम चल जाता था। स्त्रीके पास तन ढकनेके लिए एक धोती थी; लेकिन बच्चोंको एक धज्जी भी नसीब न थी और उनकी कायासे पता चलता था कि आयेदिन उन्हें उपवास करना पड़ता है और अधभूखे तो वे हमेशा ही रहते हैं। वे तीन भाई-बहन थे, लेकिन एकको भगवानने छीन लिया। मां को यों दुःख तो हुआ; लेकिन बादमें उसने संतोषकी सांस ली कि चलो, दुखसे एकको छुटकारा मिला!

उसे सब 'पंखुआ' कह कर पुकारते थे। जब उसकी बीमारीका समाचार मुझे मिला तो एक संध्याको डाक्टरको लेकर मैं वहां पहुंचा। दोनों बच्चे हमें घेरकर आ खड़े हुए। बेचारी मां ने बहुतेरा चाहा कि गरीबीका, अपनी बेबसीका, यों प्रदर्शन न होने दे, और बच्चोंके तन पर कुछ तो डाल दे; लेकिन हाय, वह तो असहाय थी। भीतर-ही-भीतर दो घूंट आंसुओंके पीकर रह गयी।

मैंने कहा, "तुम्हारे आदमीको देखने डाक्टर आये हैं।"

आशाकी एक लहर उसके चेहरे पर दौड़ गयी। उसके भीतर छिपे दुखको मानों किसीने छू दिया। कातर वाणीमें उसने कहा, "डाक्टर साहब, जैसे बने, इनको आराम कर दीजिये। ये उठ गये तो फिर मैं कहींकी न रहूं गी।"

दोनों अबोध बालक मांकी ओर एकटक देखते रहे और मांके वे शब्द झोंपड़ीके न जाने किस कोनेमें विलीन हो गये।

डाक्टरने जेबसे नली (स्टेथसकोप) निकाल कर रोगीके हृदयकी परीक्षा की, लिटा कर पेट देखा, आंखोंके पलक नीचे-ऊपर कर जांच की और फिर कुछ देर गंभीर हो सोचनेके उपरांत बोले, 'This case is hopeless' (इस रोगीके बचनेकी कोई आशा नहीं।)

मैं कुछ बोल न सका और मां-बच्चे आशाभरी निगाहसे डाक्टरकी ओर देख रहे थे सो देखते ही रहे।

डाक्टरने कहा, "देखो न, इसकी तिल्ली इतनी बढ़ गयी है कि यह ठीक तौरपर सांस भी नहीं ले पाता।"

स्त्रीने गिड़गिड़ाते हुए कहा, "डाक्टर साहब; सच कहिए: क्या इन्हें आराम हो जायगा। आप ही हमारे·······।" कहते-कहते स्त्रीका गला भर आया।

डाक्टरके मुंहसे अनायास ही सांत्वनाके दो शब्द निकल पड़े "घबराओ नहीं, हम इसकी दवा करेंगे। शायद आराम हो जाय।"

स्त्रीके जीमें आया कि डाक्टरके चरणोंमें अपना सिर डालकर कहे कि—ओ डाक्टर, तुम हमारे परमेश्वर हो। इनका इलाज तो तुम्हें करना ही होगा। और कुछ नहीं तो मेरी खातिर, इन नन्हें बच्चोंकी खातिर, हमारी गरीबीकी खातिर! लेकिन बाहरके दो-चार लोग खड़े थे, इसलिए लाजके मारे मनकी बात मनमें ही मार कर रह गयी।

चलते-चलते डाक्टरने कहा, "दवाके लिए किसी आदमीको तुम्हें रोज अस्पताल भेजना होगा।"

स्त्रीकी बेबसी फिर उमड़ आयी। विनीत भावसे बोली, "मेरे घरमें कौन बैठा है जिसे चार मील भेजूं? मैं हूं, सो पेटके लिए मजूरी पर जाऊं कि दवा लेने?"

मैंने कहा, "डाक्टर, क्या संभव नहीं कि आप इसे अस्पतालमें भरती कर लें? वहां आप इसकी अच्छी तरह देखभाल भी कर सकेंगे और रोज-रोज दवा लानेका झंझट भी न रहेगा।"

डाक्टर बोले, "हां, भरती किया जा सकता है।"

मैंने उस स्त्रीसे कहा, "देखो, कल इन्हें गाड़ीमें लिटाकर अस्पताल पहुंचा आना। वहीं पर ये रहेंगे और इलाज होगा। कपड़ा, खाना सब अस्पतालसे मिलेगा।"

अतिशय कृतज्ञतासे भर कर उसने कहा, "अच्छा।"

और हम लोग चले आये।

× × ×

चौथे दिन डाक्टर आये, बैठते ही मैंने कहा, "कहो भाई, उस रोगीका क्या हाल है? कुछ फ़ायदा दिखा?"

वे बोले, "फायदा? अरे, वह तो पहुंचा ही नहीं।"

बड़ी झुंझलाहट हुई। मुझे तो पक्का भरोसा था कि अगले दिन सुबह ही उस स्त्रीने रोगीको अस्पताल पहुंचा दिया होगा।

डाक्टरने कहा, "तुम जानते नहीं, ये लोग बड़े आलसी हैं अव्वल दर्जेके लापरवाह। आदमी मर जाता है, तभी इनकी आंखें खुलती हैं।"

थोड़ी देर बाद जब डाक्टर चले गये तो गुस्सेमें भरा सीधा जमड़ार पहुंचा और उसकी झोंपड़ी पर जाकर आवाज लगायी। कोई जवाब नहीं आया। मैं भीतर घुसा चला गया। चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। दो-चार मिट्टी-लकड़ीके बर्तन इधर-उधर पड़े थे। कोठेके दरवाजेके पास जाकर मैंने कहा, "कोई है?"

उत्तरमें पांच-छह बरसकी नंग-धड़ंग लड़की आ खड़ी हुई। मैंने कहा, "तुम्हारी मां कहां है?"

इतनेमें उसकी मां भीतर निकल कर आयी। उसका चेहरा उतरा हुआ था।

झुंझलाहटके साथ मैंने कहा, "तुमने उसे भेजा नहीं?"

मेरे इस प्रश्नका क्षण भर वह कोई उत्तर न दे सकी।

मैंने फिर कहा, "डाक्टर तुम्हारे सामने ही तो कह गये थे कि अस्पतालमें भरती कर लेंगे, फिर भेजनेमें तुम पर क्या बोझ पड़ा।"

स्त्रीने अब होठ खोले। बोली, "भेजती किसे? वे तो उसी रातको उठ गये।"

उसका प्रत्येक शब्द मेरे हृदयको बेधता हुआ पार निकल गया। गर्दन झुकाये मैं चुपचाप वहांसे चला आया।

मनसुखा और कल्ला

श्री पं० बनारसीदास चतुर्वेदी

१० जुलाई सन् १९४२—

दिन भर पानी बरसता रहा था। शामको फुहार पड़ रही थी। टहलनेके लिए हम सड़ककी ओर निकल गये थे और लौट ही रहे थे कि इतनेमें मनसुखा बेलदार (कुम्हार) उधरसे आता हुआ दीख पड़ा। हाथमें एक कपड़ा था, जिसमें बहुतसे जामन बंधे हुए लटक रहे थे। मैंने मजाकमें कहा—"ठहरो! यहां डाकू हैं! लाओ सब माल असबाब धर दो!"

मनसुखा मुसकराने लगा और अपनी पोटरी हमारी ओर बढ़ा दी। हमने आठ-दस जामन ले लिये। जामन पासके पेड़ोंके ही थे और उन दिनों जम्बू वृक्षोंका अखण्ड दान चल रहा था और प्रत्येक पथिक मनमाने जामन खाता चला जाता था।

११ जुलाई—

सड़कपर पत्थरके टुकड़े डालनेकी मजदूरी मनसुखाने कर ली थी। नदी-तलमें वह पत्थर तोड़ रहा था। गधे पास ही खड़े हुए थे। बच्चे पत्थर बीन रहे थे। मैंने पुल परसे आवाज दी "मनसुखा तुम्हारी तस्वीर बहुत अच्छी आई है। बच्चोंके फोटो भी ठीक उतरे हैं।"

मनसुखाने कहा—"सो तो ठीक, पर तस्वीरें हमें दिखाओ तो सही।"

मैंने कहा—"अच्छा कल आना, सब फोटो दिखला दूंगा, पर दूंगा नहीं! एक तस्वीर पांच आनेमें पड़ती है।"

मनसुखाने कहा—"अच्छा पंडितजी, पांच आने पक्के रहे।"

१२ जुलाई—

मनसुखा हमारे बगीचे पर आया और बोला—"पंडितजी कहां मुरम (पथरीली मिट्टी) गिराना चाहते हैं?"

मैंने कहा—"यहीं आमके पेड़ोंके नीचे, जहां कीचड़ बहुत हो जाती है।"

१३ जुलाई—

सुना कि पासके गांवके किसी कुम्हार और उसके बच्चेको सांपने काट खाया है। उस वक्त हमें मनसुखाका खयाल भी नहीं आया। शामको खबर मिली कि मनसुखा और कल्लाको ही सर्पने काटा था और दोनों ही मर गये!

हृदयको बड़ा धक्का लगा। मनसुखा और उसके कुटुम्बके सभी प्राणियोंने हमारे बगीचेमें बहुत दिनों तक मजदूरी की थी। सब घरवाले बाल बच्चे लगे रहते थे। ६ गधे भी साथ थे और तब एक रुपया रोज उन्हें मिलता था।

उस समय मैंने आठ-दस चित्र लिये थे। "मजदूरके जीवनमें एक दिन" शीर्षक लेख लिखनेका विचार था। चित्र बनकर बहुत दिन पहले ही आ गये थे, पर मैं अपने प्रमादवश उन्हें मनसुखा तथा उसके बच्चोंको अभी तक दिखला नहीं पाया था। जब कभी जिक्र आता तो कह देता, "अच्छा भाई, कल आना।"

वह 'कल' नहीं आया, काल आ गया! और मनसुखा और कल्ला उस धामको चले गये, जहांसे कोई वापस नहीं लौटता। चार दिन बाद मनसुखाकी स्त्री उजियारी अपनी दुःख गाथा सुना रही थी—

"इतवारकी रातको वे फारमकी ओर धरमदास बाबाकी पूजा करने गये थे नौ बजे लौट आये रातको तीन बजे होंगे। उन्होंने कहा, "जगत है का? मोय काऊने काट खाओ।" भीतर मेरा लड़का कल्ला पड़ा हुआ था। पासमें तीन बहनें और एक बुआकी लड़की लेटी हुई थी। कल्ला बोला "हमें सोऊ काट खाओ। मोय गुलगुलो लगो तो" लड़कियोंको सांपने छुआ भी नहीं बाप बेटे दोनोंको गाड़ीपर सवार कर टीकमगढ़ ले गये। बहुत इलाज किया पर कोई बस नहीं चला। अगर कल्ला (लड़का) भी बच रहता तो मैं किसी तरह सन्तोष कर लेती। दोनों चले गये।" इसके बाद कुम्हारिन आंखोंसे आंसू टपकाती हुई बोली "जैसी विपता मोरे ऊपर परि गई उसी काऊ पै न परी होइगी।"

कल्पना तो कीजिये उस मजदूर औरतके दुर्भाग्यकी जिसका पति और ग्यारह वर्षका लड़का दोनों एक साथ मृत्युके मुखमें चले गये हों! अब वह कुम्हारिन है और उसके चार बच्चे हैं, तीन लड़कियां और लड़का, जो डेढ़ महीनेका है। यद्यपि उनके पिताको मरे अभी चार दिन भी नहीं हुए थे, वह दस बरसकी भगवन्ती मजदूरी पर गयी हुई थी और सात सालकी मुनिया, छह सालकी चिनिया आश्चर्यचकित नेत्रोंसे अपने पिता तथा भाईकी तस्वीरें देख रहीं थी। डेढ़ महीनेका मन्नू भी इस दृश्यको देख रहा था।

जब मैंने वह चित्र दिखलाया, जिसमें कल्ला घोड़ीपर चढ़ा हुआ था और बगलमें बाप खड़ा हुआ था तो कुम्हारिन विह्वल हो उठी। रो-रो कर कहने लगी—

"हां टीकाको आयो तो बेटा, तुम्हारे ढिंगा" कल्लाका विवाह हो चुका था।

कुम्हारिनके चहरेसे अनन्तवेदना टपक रही थी। मैं सोच रहा था "क्या बनावटी कहानियां इस सच्ची घटनासे अधिक करुणोत्पादक हो सकती हैं ?"

इसके बाद मैंने कई महानुभावोंसे मनमुखा और कल्लाकी दुर्घटनाका जिक्र किया है।

श्रीयुत 'क' महाशय, जो लखपती आदमी हैं, बोले, 'हां ऐसी घटनाएं अक्सर घटा करती हैं। क्या किया जाय ?"

'ख' महोदयने कहा, "हां सुना तो हमने भी था। सांप छप्पर पर से गिरा था। खैर।"

'ग' ने साफ ही कह दिया, "आप भी कहां का रोना ले बैठे !

हम किसीको दोष नहीं देते। स्वयं हम भी कम अपराधी नहीं हैं। हमारे पास सांप काटेकी दवाई (लैक्सिन) रक्खी हुई थी पर अपने आलस्य या लापर्वाहीके कारण उसकी सूचना हम आसपासके ग्रामों तक नहीं भेज पाये थे।

जब निकटकी एक बुढ़ियाने कहा, "कुम्हारिन भूखों मरती है, उस दिन शामको मैं रोटी दे आयी थी", तब हमें उस भारतीय प्राचीन प्रथाका स्मरण आया जिसके अनुसार मातमवाले घरपर पास-पड़ौसियों द्वारा भोजन भेजा जाता है।

मैं दुबख्ता चाय पी रहा था और नियमानुसार सुस्वादु भोजन कर रहा था और पड़ोसके ग्राम में पांच प्राणियों पर यह वज्रपात हुआ था, मैं उस प्राचीन प्रथाको भी भूल गया !

यह था जनताकी सेवा करनेका दम्भ रखनेवाले एक लेखककी संस्कृतिका हृदय-हीन प्रदर्शन !

अपने पति और पुत्रको एक साथ ही खोकर वह कुम्हारिन न जाने किस तरह अपने चार बच्चोंका पालन कर रही है।

पुस्तकों अथवा लेखों द्वारा नकली ज्ञानका सम्पादन करने वाले लेखक उसकी असीम वेदनाकी क्या कल्पना भी कर सकते हैं ?

"दुखके एक कण में जितना ज्ञान भरा हुआ है उतना साधु महात्माओंके सहस्त्रों उपदेशों में नहीं" सुप्रसिद्ध आस्ट्रियन लेखक स्टीफन ज्विगका यह कथन सर्वथा सत्य है।

कुण्डेश्वर (टीकमगढ़) के निकट नयेगांव में करुणाकी उस साक्षात् मूर्तिको आप मजदूरी करते हुए पावेंगे।

उसके ये वाक्य अब भी मेरे कानों में गूंज रहे हैं—

"मदद दैवे कों को धरो है ? बिपता में को की को होय !"

सच है—"दीनबन्धु बिन दीनकी को रहीम सुधि लेइ"

Who never ate his bread in sorrow, Who never kept the midnight hours.
Weeping and waiting for the morrow, They know you not, Ye heavenly powers.

[ए दैवी शक्तियो! वे मनुष्य तुम्हें जान ही नहीं सकते, जिन्हें दुःखपूर्ण समय में भोजन करने का दुर्भाग्य प्राप्त नहीं हुआ तथा जिन्होंने रोते हुए और प्रातःकालकी प्रतीक्षा करते हुए रातें नहीं काटीं।]

—महाकवि गेटे

मैं मंदाकिनिकी धवल धार

श्री चन्द्रभानु कौमित्क्षत्रिय 'विशारद'

(१)

है विन्ध्याचलकी पुण्य गोदमें मेरा जन्मस्थल समोद।
गिरिके उपलों में कर कलकल, मैं करती बाल विनोद सरल॥
गिर-गिर कर उठती बार-बार, मैं मंदाकिनि की धवल धार।

(२)

मैं बन जाती निर्मल निर्झर, करती हर-हर के सुन्दर स्वर।
होकर आकर्षित दर्शकगण, देखें मेरा अद्भुत जीवन॥
देती कविको अनुपम विचार, मैं मंदाकिनि की धवल धार॥

(३)

मैं चट्टानों में गिर-गिर कर, बिखराती हूं मुक्ता सुन्दर।
फिर उन्हें मिटाकर अति सत्वर, बतलाती हूं—यह जग नश्वर॥
यों पहनाती उपदेश-हार, मैं मंदाकिनि की धवल धार।

सुजान अहीर

श्री पं० बनारसीदास चतुर्वेदी

"पंडित जी, गाड़ी ले लूं ? सुजान को वाय आय गई है," सुजान अहीर के बूढ़े बाप ने कहा।

"जरूर ले लो, सबसे पहले तुम्हारा काम होना चाहिए, पर किस को बुला रहे हो ?" मैंने पूछा

वह बोला, "हवलदार को"

हवलदार नाम का भी कोई वैद्य या डाक्टर है यह मैं नहीं जानता था, मैंने झुंझला कर उस बूढ़े से कहा—'तुम भी अजीब आदमी हो, इतनी देर से खबर क्यों दी ? डाक्टर साहब को क्यों नहीं बुलाया ?'

सुजानके बूढ़े बाप का चेहरा उतरा हुआ था, उसकी हक्की बक्की भूल गयी थी, वह कोई उत्तर नहीं दे सका, तब मेरी समझमें यह बात आयी कि उस बूढ़े से, जिसका जवान लड़का कई दिन से सन्निपात में मृत्यु शय्या पर रक्खा हो, समझदारीकी उम्मीद करना ही महज हिमाकत है, मैंने फिर भी डाक्टर साहब को पत्र लिख दिया, पर हम लोग नगरसे चार मील दूर रहते हैं, सवारी का कोई प्रबन्ध नहीं; और डाक्टर साहब दूसरे दिन शाम को आ सके—सुजान की मृत्यु के पांच घंटे बाद ? इस में उनका कोई अपराध नहीं था, उन जैसे सहृदय, कर्तव्यपरायण और सुयोग्य डाक्टर बिरले ही होंगे, पर अकेले वे क्या कर सकते हैं ? ओरछा राज्यमें शिक्षा चार फीसदी है और इक्कीस सौ वर्गमीलके नौ सौ ग्रामोंमें एक अस्पताल और तीन डिस्पेन्सरी हैं।

सुजानका पिता अपने तीन पुत्रों को खोकर अब भी गाय बैल चराता हुआ कभी नजर आजाता है, जब मैं उसे देखता हूं हृदयको एक धक्का सा लगता है।

मैंने उसको कहा था, तुम्हारा काम सब से पहले होना चाहिए पर क्या हम लोगोंने सुजान और उसके भाई बन्धुओंका, सर्वोपरि तो क्या, कुछ भी ख्याल रक्खा है ? क्या हमने कभी यह सोचा है कि चारों ओरकी जनताके कल्याणमें ही साहित्यिकका भी कल्याण है ?

टूंडे खंगार और भगौना धीमर, सरला धोबी और चतुरी सुन्नाबसीर और घंसा काछी ही वस्तुतः पृथ्वीपुत्र हैं; उनकी उपेक्षा करनेवाला साहित्य वास्तवमें एकाङ्गी है; यही नहीं, वह दर–असल शापित भी है, वह न कभी फूलेगा फलेगा।

आज फिर बरसातमें भीगता हुआ सुजानका बूढ़ा बाप दीख पड़ा और मैं सोचता हूं कि ये सेवासंघ, ये पूजा-मण्डल, ये मन्त्री महोदय, ये धारा-सभा, ये नेतागण और ये हमलोग (रियासतोंके पालतू, फालतू साहित्यक) आखिर किस मर्जकी दवा हैं?
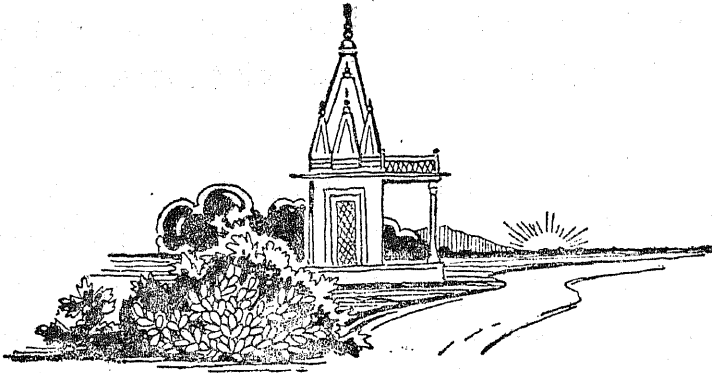
महाभारत कालमें बुन्देलखण्ड

श्री विष्णु, प्रभाकर

जमुना (यमुना),नर्मदा (रेवा), चम्बल (चर्मण्वती) और टौंस (तमसा)से परिवेष्टित भूभागको आज बुन्देलखण्ड कहा जाता है। कवि[1] ने इसकी सीमाको इस प्रकार स्पष्ट किया है—

यमुना उत्तर और नर्मदा दक्षिण अंचल। पूर्व ओर है टौंस पश्चिमांचलमें चम्बल ॥
उरपर केन, धसान, बेतवा, सिंध नदीं है। विकट विन्ध्यकी शैल-श्रेणियां फैल रही हैं ॥
विविध सुदृश्यावली अटल आनन्द-भूमि है। प्रकृति छटा बुन्देलखण्ड स्वछन्द भूमि है ॥

इस भूभागका ढ़लान दक्षिणसे उत्तर को है। नर्मदाके उत्तरी कूलपर महादेव और मैकाल श्रेणियों तथा अमर कंटकसे आरम्भ हो कर यमुनाके दक्षिण कूल पर पहुंचता है। आज यह प्रदेश भारतके चार प्रान्तोंमें बंटा हुआ है। उत्तर तथा पश्चिमोत्तरका प्रदेश युक्तप्रान्तमें है। दक्षिणमें सागर तथा जबलपुर जिले मध्यप्रान्तमें हैं। भोपाल केन्द्रके पास है। पश्चिमकी ओर नवनिर्मित मालवसंघमें पुराने सिंधिया राज्यका कुछ भाग है। मध्यमें बुन्देलखण्डका वह भाग जो छोटे छोटे राज्योंमें बंटा हुआ था अब विंध्य-प्रदेश कहलाता है। यद्यपि इतिहास इस बातका साक्षी नहीं है कि बुन्देलखण्डकी यह सीमा कभी दृढ़तासे मान्य रही है, इसके विपरीत यह समय समयपर विस्तृत और सकुंचित होती रही है तो भी भूमि, भाषा तथा बोलीकी दृष्टिसे यह सीमा स्वाभाविक है।

इतिहासमें इस प्रदेशके अनेक नाम प्रचलित रहे हैं,—बुन्देलखण्ड विन्ध्येलखण्ड (विन्ध्य इलाखण्ड) जेजाक (या जीजाक) भुक्ति, जुझारखण्ड, जुझौति, वज्र, चेदि और दशार्ण। बुन्देला राजपूतोंकी क्रीड़ा—भूमि होनेके कारण बुन्देलखण्ड और विंध्या अटवीमें स्थित होनेके कारण यह विन्ध्येलखण्ड कहलाने लगा वैसे बुन्देल स्वयं विन्ध्येलका अपभ्रंश हैं। बुन्देल "गाहड्वालोंके वशंज थे जो विंध्यमें रहनेके कारण बुन्देले कहलाये[2]। स्वर्गीय श्रीकृष्ण बलदेव वर्माके मतानुसार वैदिक कालीन यजुर्वेदीय कर्मकाण्डका प्रथम अभ्युदय इसी प्रदेशमें हुआ था। इसी कारण इसका नाम "यजुर्होती" हुआ जो कालान्तरमें बिगड़ कर "जीजभुक्ति" बनगया[3]। बुन्देलोंसे पहिले यहां पर चन्देल राजपूत राज्य करते थे। चन्देल शब्द चेदिसे निकला जान

---

(१) श्री मुंशी अजमेरी

(२) इतिहास प्रवेश (जयचन्द्र विद्यालंकार), पृष्ठ २५५.

(३) मधुकर, बुन्देलखण्ड प्रान्त निर्माण अंक, पृष्ठ ३४७.

पड़ता है। इस कुलमें जेजाक या 'जयशक्ति' नामका एक प्रतापी राजा हुआ वह सम्भवतः विक्रमकी दसवीं शताब्दीके अन्तमें रहा बताते हैं। उसीके नाम पर यह प्रदेश कुछ काल तक 'जेजाक भुक्ति' (या जीजाक भुक्ति या जेजा-भुक्ति) कहलाता रहा[४]। जुझौती और जुझारखण्ड इन्हीं नामोंके अपभ्रंश है। ये सब नाम अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं। महाभारतसे जिन नामोंका सम्बन्ध वे केवल दशार्ण और चेदि हैं। दशार्ण इस प्रदेशमें बहनेवाली एक नदीका नाम भी है। आजकल वह "धसान" कहलाती है। कात्यायन, कौटिल्य, कालिदास, और उससे भी पूर्व महाभारतमें इस देशका वर्णन आया है। "प्रवत्सतर कम्बलवसनार्ण दशानामृणे" "दशार्णो देशः च दशार्णा" यह वार्तिक सिद्धान्तकौमुदीमें कात्यायनके नाम से लिखा है। अर्थशास्त्रमें भी कौटिल्यने "दशार्णभवापराजित" कहकर बुन्देलखण्डमें पैदा होने वाले हाथियोंको उत्तम कहा है।[५] दमयन्ती जब नलसे बिछुड़ कर चेदिके मार्गपर जा रही थी तब उसके साथके काफलेको हाथियोंने मार डाला था।

महाभारतमें केवल वेत्रवती (वेतवा) और शुक्तिमती (केन) के बीचका प्रदेश दशार्ण कहा गया है। समूचे प्रदेशको कभी दशार्ण नहीं कहा गया परन्तु श्री पं० गोविन्दराय जैनने इस नामकी एक नयी व्युत्पत्ति खोज निकाली है। **दशार्ण** का अर्थ है दश जल। अर्ण जल को कहते हैं। जिस प्रकार पांच नदियोंका प्रदेश होनेके कारण भारतका एक पश्चिमोत्तर भूभाग पंजाब कहलाया उसी प्रकार दस नदियोंका देश होनेके कारण बुन्देलखण्ड भी दशार्ण कहा जा सकता है! उन दस नदियोंके नाम ये है—धसान (दशार्ण), पार्वती, सिन्ध, बेतवा (वेत्रवती), चम्बल (चर्मण्वती) जमना (यमुना), नर्मदा (रेवा), केन (शुक्तिमती) टोंस (तमसा) और जामनेर है।[६] इतिहास इस व्युत्पत्तिका समर्थन नहीं करता।

महाभारत कालमें जिस प्रकार एक भागका नाम दशार्ण था उसी प्रकार दूसरे भागका नाम 'चेदि" भी था। राजा विदर्भके पोते चिदि के नामसे चर्मण्वती और शुक्तिमती के बीचका यमुनाके दक्खिनी कांठेका प्राचीन भारतीय प्रदेश चेदि कहलाने लगा। वही आज कलका बुन्देलखण्ड है[७]। राजा विदर्भ यदुवंशी थे। वे प्रतापी परावृटके पड़पोते थे जो पुरूरवाके पौत्र नहुषके पुत्र ययातिसे लगभग ३० पीढ़ी बाद हुए अर्थात् ३६ वीं पीढ़ीमें। पुरूरवा, नहुष और ययाति वैदिक साहित्यके सुप्रसिद्ध चन्द्रवंशी राजा हैं। चन्द्रवंशी आर्य भारतमें सूर्यवंशी आर्योंके बाद आये थे और प्रतिष्ठान इनकी राजधानी थी। ययातिके पांच पुत्रोंमें पुरु जो सबसे छोटा

(४) बुन्देलखण्डका संक्षिप्त इतिहास, गोरेलाल तिवारी, पृष्ठ ४२.

(५) मधुकर, बुन्देलखण्ड प्रान्त निर्माण अंक, पृष्ठ २६५

(६) मधुकर, प्रान्त निर्माण अंक, पृष्ठ २६५.

(७) भारतीय इतिहासकी रूपरेखा, पृष्ठ १८०.

था पैत्रिक राजका अधिकारी हुआ। सबसे बड़े यदुके हिस्सेमें शुक्तिमती, वेत्रवती और चर्मण्वती के आसपासके प्रदेश आये। बुन्देलखण्डका अधिकांश भाग इसी प्रदेशमें आ जाता है। तुर्वसुको जो भाग मिला था वह साधारणतया आजकलका बुन्देलखण्ड है। उस कालमें यह कारूष देश कहलाता था। यह पुराना राज्य था जिसे; कहते हैं मनुके एक पुत्र करुषने बसाया था। द्रुह चर्मण्वती के उत्तर और यमुनाके पश्चिममें स्थित भूभागके स्वामी हुए और अनुको जो प्रदेश मिला वह अयोध्याके पश्चिम तथा गंगा यमुनाके उत्तरमें था। यह मोटे तौर पर बुन्देलखण्ड और उसकी सीमा परके देशोंका ब्योरा है। उस कालमें आर्योंने बुन्देलखण्डके दक्षिणमें नयी बस्तियां नहीं बसायी थीं।

पुराणोंमें आता है, पिता ययातिके मांगने पर, अपना यौवन न देनेके कारण यदुको श्राप मिला था कि उसके कुलमें राजा न होंगे। यदुके कुलमें प्रायः राजा नहीं होते थे पर वे किसी श्रापके कारण नहीं बल्कि इसलिए कि यादव लोग गणराज्यमें विश्वास करते थे। श्रापकी कल्पना गण-राज्यके प्रति घृणाका परिणाम है! उपरोक्त राजा विदर्भ इसी कुलकी एक शाखामें हुए। इन्होंने विन्ध्य और ऋक्ष-मेखलाका पूर्वीभाग मेकल पर्वत तक जीत लिया था। यह नया प्रदेश इन्हींके नाम पर विदर्भ देश कहलाया। पुराना प्रदेश इनके पौत्र चिदिके नाम पर चेदि कहलाने लगा। ये वैदिक साहित्यमें बहुत प्रसिद्ध हैं। विश्वभारतीके डा० मणिलाल पटेलके अनुसार ऋग्वेदकी दान-स्तुतियोंमें जिस कयु नामका वर्णन आया है वह चेदि का पुत्र था। चेदि की उदारता प्रसिद्ध थी। ऋग्वेद ८-५-३९ में कहा है—"कोई भी उस मार्गसे नहीं चल सकता जिस पर चेदि चलते हैं। इसलिए चेदियोंसे अधिक उदार राजा होनेका दावा कोई आश्रयदाता नहीं कर सकता[८]।" यह महाभारतसे लगभग साढ़े सात सौ वर्ष अर्थात पचास पीढ़ी पूर्वकी बात है। इसके अतिरिक्त इतिहासमें इनके कुलका कुछ विशेष पता नहीं मिलता। इनके नौ पीढ़ी बाद एक राजा सुबाहुका पता लगता है। इनकी पत्नी दशार्ण देशके राजा सुदामा की पुत्री और नलकी पत्नी दमयन्तीकी मौसी थी। नलसे बिछुड़ जाने पर दमयन्ती बहुत दिन तक इन्हींके राजमहलमें दासी बनकर रही थीं। चेदि राजा सुबाहु, अयोध्याके राजा ऋतुपर्ण, निषधके राजा नल तथा पौरव राजा हस्तीका समकालीन था। इसके बाद चेदिके यादवों का इतिहासमें पौरव राजा वसु के काल तक कुछ भी पता नहीं लगता। वसु एक पराक्रमी राजा था उसे चक्रवर्ती कहा गया है। उसने राजा सुबाहुके लग-भग २७ पीढ़ीबाद चेदिके किसी यादव शासकको पराजित किया था। वह यादव राजा अवश्य वीर रहा होगा क्योंकि चेदि-विजयके पश्चात वसुने बड़े गर्वके साथ चैद्योपरिचर (चेदि गणके ऊपर चलने वाला) की उपाधि धारण की थी।

---

(८) "भारतीय अनुशीलन"—ऋग्वेदकी दान स्तुतियोंमें ऐतिहासिक उपादान।

यही नहीं इसने मत्स्यसे मगध तकके प्रदेश अधीन किये[९]। वसुने शुक्तिमती नदीके तटपर शुक्तिमति नगरीको जो आधुनिक बांदाके आस पास थी, अपनी राजधानी बनाया था। इस राजाके साथ चेदिमें यादवोंका शासन समाप्त हो कर पौरवोंका आरम्भ होता है। तत्कालीन चेदि देशका वर्णन महाभारतमें आता है। इन्द्रके शब्दोंमें "चिदि देश पशुके लिए सुखकारी, धन-धान्यसे पूर्ण, भोग विलासकी सामग्री से युक्त और रमणीक है। वह अगणित धन रत्नोंसे पूर्ण है तथा वहांकी वसुधा पशुओंसे भरी हुई है। वहांके मनुष्य सरल प्रकृतिके, सन्तोषी, साधु, उपहासमें भी झूठ न बोलने वाले, पितृभक्त और कमजोर बैलको हलमें नहीं जोतने वाले हैं[१०]।"

इस प्रतापी राजा वसुके पांच पुत्र थे, इसलिए इनका राज्य पांच भागोंमें बंट गया; मगध, कौशाम्बी, कारुष, चेदि और मत्स्य। महाभारत कालमें ये पांचों राज्य वर्तमान थे। चिदि देशमें उस समय शिशुपाल तथा उसके दो पुत्रों धृष्टकेतु और शरभका राज्य रहा। शिशुपालके पिताका नाम दमघोष और माताका नाम श्रुतश्रवा था। श्रुतश्रवा वृष्णि वंशी शूरसेनकी पुत्री वसुदेवकी बहिन तथा श्रीकृष्णकी बुआ थी।

दशार्ण देशका कोई क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता। नल-दमयन्ती की कथा महाभारतके वन-पर्वमें आती है। उससे पता लगता है उस समयसे कुछ पहिले वहां कोई राजा सुदामा राज्य करते थे जिनकी दो पुत्रियां थीं। उनमेंसे एकका विवाह विदर्भ देशके राजा भीमसे हुआ था। वे दमयन्तीकी माता थीं। दूसरी पुत्रीका विवाह चेदिके राजा सुबाहुसे हुआ था। इसके लगभग ४३ पीढ़ी बाद वहां राजा हिरण्यवर्मा का पता लगता है। संभवतः जब राजा पाण्डु दिग्विजयके लिए निकले तब यही राजा वहां रहे होंगे जिनसे उन्हें युद्ध करना पड़ा था। वे कुरुकुलके विरोधी भी जान पड़ते हैं[११]।—

पूर्वभागा स्ततो गत्वा दशार्णाः समरे जिताः। पाण्डुना नरसिंहेन कौरवाणां यशोभृता ॥ २६ ॥

इन्हीं राजा हिरण्यवर्माकी पुत्रीसे पांचाल नरेश द्रुपदके पुत्र शिखण्डीका विवाह हुआ था। शिखण्डीके विषयमें अनेक किम्वदंतियां प्रसिद्ध हैं। कहते हैं वे जन्मके समय कन्या थे। उनकी माताने सौतके डरसे उन्हें पुत्रके रूपमें पाला। परन्तु विवाहके पश्चात यह भेद खुल गया। राजा हिरयवर्माको जब इस रहस्यका पता लगा तो वह बहुत क्रुद्ध हुआ और बदला लेनेके लिए द्रुपदपर चढ़ दौड़ा। परन्तु इसी बीचमें कहते हैं, किसी यक्षकी कृपासे शिखण्डी वास्तवमें पुरुष बन गया। इसके अतिरिक्त शिखण्डीके विषयमें यह भी प्रसिद्ध है कि वास्तवमें पिछले जन्ममें वह काशीराजकी पुत्री अम्बा थे। वस्तुतः ये सब

(९) भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृ॰ २०६

(१०) महाभारत, आदिपर्व, अध्याय ६३, (औंध संस्करण)

(११) ,, ,, ,, ११३ श्लोक २५-२६

कपोल कल्पित कथाएं सौतीके मास्तिष्कसे उपजी हैं। सत्य इतना है कि शिखण्डी द्रुपदके वीर पुत्र थे। वे महारथी थे और अर्जुनकी सहायतासे उन्होंने भीष्मका वध किया था। इन्हीं पराक्रमी द्रुपद पुत्रका विवाह दशार्ण देशके राजा हिरण्यवर्मा की पुत्रीसे हुआ था।

राजा हिरण्यवर्माके बाद वहांके राजा सुधर्मा का नाम महाभारतमें आता है। वे पहले पहल उस समय महाराज युधिष्ठिरकी सभामें दिखायी देते हैं जब मय दानवने इन्द्रप्रस्थका निर्माण किया था। लिखा है 'सुधर्मा ..पुत्रसहित शिशुपाल ...यह सब और विज्ञोंके जाने दूसरे बहुतसे क्षत्रिय भी धर्मराज युधिष्ठिरकी उपासनामें लगे रहते थे[12]।" परन्तु इन्हीं राजासुधर्माने भीमसेनसे, जब वे राजसूय यज्ञके अवसरपर पूर्व दिशाकी ओर विजययात्रा पर निकले, 'रूएं खड़ी करने वाली लड़ाई की थी और बड़े पराक्रमी भीमसेनने अति बलवान सुधर्मा को यह लीला देखकर उनको प्रधान सेनापतिके पद पर बैठाया था[13]।"

तत्र दाशार्णको राजा सुधर्मा लोमहर्षणम्। कृतवान्भीमसेनेन महायुद्धं निरायुधम्॥ ६॥
भीमसेनस्तु तद्दृष्ट्वा तस्यकर्म महात्मनः। अधिसेनापतिं चक्रे सुधर्माणं महाबलम्॥ ७॥

यही महावीर राजा सुधर्मा महाभारत युद्धमें चेदि और कारुष गणोंके साथ पाण्डवोंकी ओरसे लड़े थे। लिखा है, बारहवें दिन उन्होंने राजा भगदत्तसे "वृक्षोंसहित पंखों वाले पर्वतों" की तरह युद्ध किया और वीरगतिको प्राप्त हुए[14]। इनके बाद दशार्ण देशके राजा थे चित्राङ्गद। जिस समय अश्वमेध यज्ञके घोड़ेके पीछे पीछे अर्जुन दशार्णदेश पहुंचे थे उस समय इस बलवान अरिमर्दनने घोड़ा रोक कर अर्जुनसे अत्यन्त भयंकर युद्ध किया था[15]।

महाभारतके बाद दशार्ण देशके इतिहासका और कुछ भी पता नहीं लगता। हां जैन ग्रन्थोंमें (आवश्यक चूर्णि) लिखा है यहांके राजा दशार्णभद्र को भगवान महावीरने दशार्णकूट अथवा गजाग्रपदगिरि पर्वतपर दीक्षा दी थी। मृत्तिकावती इसकी राजधानी थी[16]।

बुन्देलखण्डके दूसरे भाग चेदि देशका वर्णन ऊपर आ चुका है। शिशुपालकी कहानी सर्व विदित है। पुराणोंमें उसे हिरण्यकश्यप और रावणका अवतार कहा गया है। कहते हैं जिस समय वह पैदा हुआ था उसके तीन नेत्र तथा चार भुजाएं थीं। ज्योतिषियोंने बताया जिसकी गोदमें

(१२) महाभारत सभापर्व, अध्याय ४ श्लोक २९-३३
(१३) ,, सभापर्व, अध्याय २९, श्लोक ६-७
(१४) ,, द्रोणपर्व
(१५) ,, अश्वमेधिक पर्व अध्याय, ८३ श्लोक ५—६
(१६) प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ—जैन ग्रन्थोंमें भौगोलिक सामग्री (ले० डा० जगदीशचन्द्र जैन) पृ० २६०

जाने पर इसके अतिरिक्त हाथ और नयन गिर जायेंगे उसीके हाथसे इसकी मृत्यु होगी। श्री कृष्णने जब उसे अपनी गोदमें लिया तब शिशपालके ये दोनों अतिरिक्त हाथ और तीसरी आंख गिर पड़ी। यह देखकर उसकी मां जो श्री कृष्णकी बुआ होती थी, बहुत डरी और उनसे अपने पुत्रके प्राणोंकी भीख मांगने लगी। उस समय श्रीकृष्ण ने अपनी बुआको वचन दे दिया था कि वे शिशुपाल के सौ अपराध क्षमा कर देंगे। राजसूय यज्ञमें श्रीकृष्णकी पूजा होने पर जब शिशुपालने उन्हें गालियां दीं तब उसके अपराध सौ से बढ़ गये थे और इसीलिए श्री कृष्णने उसे मार डाला था।

बहुत सी ऐसी कथाओंकी भांति यह कथा भी कविकी कल्पना मात्र है। वस्तुस्थिति कुछ और है। निस्सन्देह चेदिनरेश शिशुपाल श्री कृष्णका परम शत्रु था, परन्तु महाभारतसे यह नहीं जान पड़ता। उसने पाण्डवोंका भी विरोध किया था। निस्सन्देह यज्ञके अवसर पर उसने श्री कृष्णके साथ भीम और पाण्डवोंकी भी निन्दा की थी, पर साथ ही यह भी कहा था, हम युधिष्ठिरको धर्मात्मा समझ कर आये थे। इसके अतिरिक्त सभापर्वमें हम उसे युधिष्ठिर की उपासना करते देख चुके हैं[१७]। भीम जब जययात्रा पर निकले तब भी उसने उनसे युद्ध नहीं किया बल्कि आगे बढ़कर उनका स्वागत किया और उनका अभिप्राय जान कर प्रसन्नता पूर्वक यज्ञमें आना स्वीकार किया। भीम तब उससे सत्कृत होकर तेरह रात वहां रहे[१८]।

तस्य भीमस्तदा चख्यौ धर्मराज चिकीर्षितम्। सच तं प्रति गृह्यैव तथा चक्रे नराधिपः॥ १६।
ततो भीमस्तत्र राजन्नुषित्वा त्रिदशक्षपाः। सत्कृतः शिशुपालेन ययौ सबलवाहनः॥ १७॥

शिशुपालकी श्री कृष्णसे शत्रुताके तीन प्रमुख कारण जान पड़ते हैं। पहिला कारण तो यह था कि श्रीकृष्ण न तो किसी देशके राजा थे, न तत्त्वदर्शी और न तपस्वी महात्मा। वे राजकुलके एक व्यक्ति थे फिर भी सारे देशमें उनकी प्रतिष्ठा थी। उनकी विलक्षण प्रतिभाका लोहा तत्कालीन मानव समाज मान चुका था और इसीलिए उनकी पूजा करता था। शिशुपाल भाईकी इस प्रतिष्ठासे जलता था और उन्हें नीचा दिखानेके प्रयत्न किया करता था। होता यह था हर बार उसे मुँह की खानी पड़ती थी। रुक्मिणीका विवाह एक ऐसी ही घटना थी। वह कुण्डिनपुरकी राजकुमारी थी और श्री कृष्णसे प्रेम करती थी। इसके विपरीत उसका भाई रुक्म उसका विवाह चेदिनरेश शिशुपालसे करना चाहता था। शिशुपाल मगध साम्राज्यका प्रधान सेनापति था। उससे मित्रता करके रुक्म अपना स्वार्थ साधन करना चाहता था परन्तु रुक्मिणी भी सजग थी। उसने द्वारिकामें श्रीकृष्णके पास अपना संदेशा भेजा और जब शिशुपाल वरात लेकर कुण्डिनपुर पहुंच चुका तब वे भी वहां पहुंचे और रुक्मिणीको हर लाये। शिशुपालने

---

(१७) देखो (१२)

(१८) महाभारत सभापर्व, अध्याय २९, श्लोक १६—१७

सुना तो उसके शरीरमें आग लग गयी। उसने यादवोंसे घनघोर युद्ध किया। उनकी नगरी जला डाली पर विजय उससे दूर ही रही। शत्रुताका यह दूसरा कारण कुछ प्रबल था। शत्रुताका तीसरा कारण तत्कालीन राजनीतीसे सम्बध रखता है। उस कालमें एकराट्, बहुराट्, संघ तथा श्रेणी यहां तक कि अराजकराष्ट्र जैसी राज्य संस्थाओंका अस्तित्व मिलता है। सारे देशमें अनगिनत छोटे छोटे राजा थे। कोई भी शक्तिशाली राजा उन्हें जीत कर या उनसे कर लेकर चक्रवर्ती राजाका पद ग्रहण कर लेता था। मगधका राजा जरासंध इसी तरहका एक पराक्रमी साम्राज्यवादी था। उसने अनेक राजाओंको जीत लिया था। अग वंग, कलिंग पुण्ड्र, चेदि, कारूष, किरात, काशी, कोशल और शूरसेन, कुण्डिनपुर, सौमनगर, आदि देशोंके राजा किसी न किसी तरह उसके प्रभावमें थे। इसके अतिरिक्त उसकी ओर कई अनार्य राजा भी थे। श्रीकृष्ण जिस कुलमें हुए उस यादव कुलमें गणतन्त्रीय शासन प्रणाली थी। उस गणतंत्रका तख्त उलटने वाला राजा कंस जरासंधका दामाद था। वास्तवमें कंसने जरासंधकी सहायतासे ही संघके नेताको जो स्वयं उसके पिता थे कैद कर लिया था। वह अत्याचारी राजा था। कृष्ण जब युवा हुए तब उन्होंने गंणतंत्रवादियों का नेतृत्व करके कंसको मार डाला और एक बार फिर उग्रसेनके नेतृत्वमें गणतंत्रकी स्थापना की, जरासंध इस बात को नहीं सह सका। कहते हैं, उसने सत्रह बार यादव गणतंत्र पर चढ़ाई की, पर कृष्णके नेतृत्वमें संघ-सेनाने उसे हर बार पराजित किया पर अठारहवीं बार जरासंधके साथ यवनराज कालयवन भी आया था। छोटा सा गणतंत्र अब अधिक न ठहर सका। वह कृष्णके नेतृत्वमें मथुरा छोड़ कर द्वारिकामें जा बसा। परन्तु जाते जाते भी कृष्ण कालयवनको मार गये थे। शिशुपाल इसी जरासंधका प्रधान सहायक और सेनापति था। ऐसी अवस्थामें उसका श्री कृष्णका प्रबल शत्रु बन जाना स्वाभाविक ही था।

इतिहास बाताता है, श्री कृष्णने एक एक करके साम्राज्यवादके इन समर्थकोंको नष्ट कर दिया। उन्होंने भीमद्वारा जरासंध का वध करवाया। वे उससे खुले युद्धमें नहीं भिड़े। इसप्रकार शिशुपाल को उन्होंने राजसूय यज्ञके अवसर पर स्वयं मार डाला। वस्तुतः वे विरोधी पक्ष की शक्ति को जानते थे। शिशुपालके बारेमें उन्होंने युधिष्ठिरसे कहा था—'हे पृथ्वीनाथ! शिशुपालने सब प्रकार जरासंधका अवलम्ब करके उसके सेनापतिका पद लिया है[१९]। जरासंधकी मृत्युके पश्चात् शिशुपाल प्रसन्न मनसे यज्ञ में आया परन्तु जब उसने कृष्णकी पूजा होते देखी तो उसके क्रोध की सीमा नहीं रही। कृष्ण जानते थे कि यदि वे शिशुपालको युद्धके लिए ललकारते हैं तो सारा भारत दो भागोंमें बंट जाता है। वे संघटनके प्रेमी थे विघटनके नहीं। इसलिए तब तक चुप रहे जब तक भीष्मके कहने पर शिशुपालने स्वयं युद्धकी चुनौती नहीं दी। कृष्ण यही चाहते थे। युद्ध हुआ और शिशुपाल मारा गया। उस समय वहां उसके अनेकों मित्र राजा थे पर वे बोल नहीं सके क्यों कि धर्मयुद्ध था और स्वयं शिशुपालने श्री कृष्ण

(१९) महाभारत, सभापर्व, अध्याय १४, श्लोक ११.

को ललकारा था। शिशुपालका वध करते समय श्रीकृष्णने उसके जो दोष गिनाये थे उनसे पता लगता है वह आचारविहीन भी था जैसे सभी साम्राज्यवादी होते हैं। उसने तपस्वी बभ्रु की पत्नी और करूष देशके राजाका रूप धरकर उसकी वाग्दत्ता भद्राका जो विशालापतिकी पुत्री थी, हरण किया था।

शिशुपालकी मृत्युके पश्चात चेदि राज्यका शासक उसका पुत्र धृष्टकेतु हुआ वह कृष्ण और पाण्डव दोनोंका मित्र था। दुर्योधनके लिए जब कर्ण दिग्विजय करनेके लिए निकले थे तब उन्हें इसी शिशु-पाल पुत्रसे युद्ध करना पड़ा था। यह अद्भुत वीर था। अश्वत्थामा, रुक्म और प्रद्युम्नके साथ उसकी गिनती होती थी[२०]। लिखा है—"महा यशस्वी, महावीर्यवान, महारथ, शिशुपालपुत्र धृष्टकेतु युद्ध होने पर संग्राममें काल स्वरूप हो जाते हैं[२१]।" वह पाण्डवोंकी सेनाके आगे चलने वाला था[२२]। युद्धमें जब वह महारथ पौरवसे युद्ध करने चला तो महाभारतकारने लिखा है, "यह युद्ध ऐसा था जैसे ऋतुमति सिहंनीके सगंमके समय दो सिंह एक दूसरीकी ओर दौड़ते हैं[२३]।" इसी युद्धमें अपने पुत्र सहित वह द्रोणके हाथसे मारा गया था। उसकी लाशको देखकर कौरवमाता गान्धारीने कृष्णसे कहा था—'हेकृष्ण? द्रोणके अस्त्र जिसने विफल कर दिये उसी द्रोण द्वारा मारे गये इस अद्भुत वीरको देखो[२४]।'

धृष्टकेतुके पश्चात उसका भाई शरभ चेदि राज्यका स्वामी हुआ। अर्जुन जब अश्वमेध यज्ञका घोड़ा लेकर निकले तब वे शुक्ति (शुक्तिमति) नामकी रमणीय नगरीमें इसी शिशुपाल पुत्र शरभद्वारा पूजित हुए थे[२५]। वैसे तो सारा भारत ही तब दुर्बल हो गया था परन्तु चेदि नरेशके पास सेनाका अभाव नहीं होगा। शिशुपालके पास कई अक्षौहिणी सेना थी लेकिन धृष्टकेतु केवल एक अक्षौहिणी सेना लेकर भारत युद्धमें सम्मिलित हुए थे। शरभके साथ महाभारत युग भी समाप्त हो जाता है। यद्यपि इसके बाद चेदिका कोई क्रमवद्ध इतिहास नहीं मिलता परन्तु "चेदि" नाम आधुनिक काल तक चलता रहता है। महाजानपाद युगके सोलह जानपदोंमें एक चेदि भी है। वह वत्सके साथ आता है। जैन ग्रथोंके २५½ राज्योंमें भी चेदि उपस्थित है और शुक्तिमती अभी तक उसकी राजधानी है।

महाभारतमें धृष्टकेतुको एक स्थानपर 'धृष्टकेतुश्च चेदीनां प्रणेता पार्थिवा ययौ।' "चेदि गणका स्वामी कहा है[२६]। दूसरे स्थान पर चेदि,काशी और करूष गणोंका नायक सेनापति कहा है[२७]।

---

(२०) महाभारत उद्योग पर्व, अध्याय ५०, श्लोक ३०
(२१) ,, ,, ,, ५१ ,, ४४
(२२) ,, भीम पर्व १५
(२३) ,, ,, ११६
(२४) ,, स्त्री पर्व ,, २५ ,, २०
(२५) ,, आश्वमेधिक पर्व ,, ८३ ,, ३
(२६) ,, उद्योगपर्व ,, १९६ ,, २३
(२७) ,, ,, ,, २

चेदि काशी करुषाणां नेतारं दृढ़ विक्रमम् । सेनापतिम् मित्रघ्नं धृष्टकेतुमुपाऽऽदिशत् ॥

यहां गणका अर्थ गणतंत्र प्रणालीसे नहीं है । तत्कालीन भारतमें अनेक गणतंत्र थे। परन्तु चेदि देश एकतत्रं ही था और वहांका शासक "राजा" कहलाता था। शिशुपाल तो सम्राज्यवादी जरासंधका प्रबल समर्थक था। चेदिको जनपद भी कहा है। इसका अर्थ राज्य प्रणालीसे नहीं है बल्कि किसी जन विशेष (अर्थात कबीले) के रहनेके स्थानको जनपद कहते थे। इस जनमें एक ही कुल या जातिके लोग रहते हों यह बात नहीं थी। उसमें आदान प्रदान चलता रहता था। चेदि जनपदमें वसु से पहले यादव लोगोंका शासन था। वसु पौरव था। तब यह निश्चित है चेदिगण में यादव और पौरव दोनों सम्मिलित थे। आज भी बुन्देलखण्डके गडरिये अपनेको यादववंशी कहते हैं। वैसे दशार्ण देशमें यादव राज महाभारतके अन्त तक बना रहा था।

महाभारत-कालमें बुन्देलखण्डकी स्थिति प्रायः इस प्रकार थी। चर्मण्वती और शुक्तिमतीके बीचका यमुनाके दक्षिणका प्रदेश चेदिराज्यमें था और वेत्रवतीकी पूर्वी शाखा शुक्तिमतीके बीच का भाग दशार्ण देश कहलाता था। इसकी दक्षिणी सीमा मध्यप्रान्तके सागर जिले तक थी। पश्चिममें अवन्तिराज था। आज वही मालवा है। कुछ लोग दशार्ण को भी पूर्वी मालवा कहते हैं। पश्चिमोत्तर भागमें शूरसेन देश था। उत्तरमें पंचाल, वत्स, काशी, और कौशल राज थे। पूर्वमें पुराना कारुष राज्य था। केन और टोंस (तमसा) के बीचका भाग सम्भवतः तब इसीमें रहा होगा। उसके दक्षिणमें भी अवश्य कुछ राज्य (विन्ध्याचलके पूर्वमें) थे पर उनका ठीक पता नहीं लगता। ठेठ दक्षिणमें नर्मदा तटपर पश्चिमी राज्य था और आगे तत्कालीन आर्योंकी अन्तिम बस्ती विदर्भ थी। आर्योंके इन राज्योंके अतिरिक्त बीच बीचमें अनार्य जातियां भी बसती थीं। वे लोग असभ्य नहीं थे। नगर बसाना उन्होंने ही आर्योंको सिखाया था। आज भी बुन्देलखण्डकी सीमा पर और बुन्देलखण्डमें गौंड, कोल, शबर, (सौर) और मुण्ड आदि प्राचीन जातियां बसती हैं। विन्ध्यअटवीमें होनेके कारण इस प्रदेशमें बन प्रान्तर बहुत हैं, इसलिए लोग बड़ी सुगमता पूर्वक वहां बने रहे होंगे। इनमें शबर और मुण्ड तो आग्नेय वंशके हैं[२८]। ये विन्ध्यवासिनी देवीके उपासक हैं। बभ्रुवाहन इसी जातिके कहे जाते हैं।

उस कालमें इस प्रदेशकी सभ्यता और संस्कृतिका इतिहास ढूंढ़ निकालना बड़ा कठिन है। महाभारत अपने युगसे बहुत बादमें लिखा गया है जबकि उसका काल "संहितायुग" में पड़ता है। इस युगमें वेदोंका वर्गीकरण हुआ था। यह ईसासे लगभग १७७५से लेकर १४५५ वर्ष पूर्व तक फैला हुआ

(२८) भारतीय इतिहासकी रूपरेखा, पृष्ठ, ११०-११४

है[२९]। विद्वानोंने निश्चित किया है कि महाभारतका युद्ध ईसासे लगभग १४०० वर्ष पूर्व हुआ परन्तु महाभारतकी कथा ईसाकी चौथी सदी तक लिखी जाती रही। इसलिए वेदोंमें जिस संस्कृतिका वर्णन है वही इस युगकी संस्कृति कही जा सकती है। उसमेंसे इस प्रदेशकी विशेषता खोजना सरल नहीं है। महाभारतकी सहायतासे कुछ निष्कर्ष अवश्य निकाले जा सकते हैं। ऊपर कहा गया है, इस देशमें 'एक राज्य' शासन प्रणाली थी जैसा कि नलकी कथामें आता है और फिर कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें कहा गया है। इस देशके हाथी उत्तम होते थे[३०]। तब इस प्रदेशके योद्धा हाथी पर चढ़ कर युद्ध करनेमें प्रवीण रहे होंगे। महाभारत युद्धमें स्थान स्थान पर चेदिगणकी वीरताका वर्णन है। विशेषकर कर्णपर्वमें पांचालोंके बाद ये ही बार बार कर्णके सामने आते हैं। अपने सेनापति धृष्ठकेतुके मर जाने पर भी इनकी वीरतामें अन्तर नहीं आया। महाभारत युद्धके पहले दिन पाण्डवोंने जो क्रौञ्च व्यूह बनाया था द्रुपद (पांचाल) उसके सिर स्थान पर था। नेत्र स्थान पर कुन्ती भोज और चैद्य थे अर्थात् ये तीनों सेनाके अग्रभागमें थे[३१]। सभी चक्रवर्तियोंकी भांति ये लोग भी मल्ल-युद्धके प्रेमी रहे होंगे।

इन्द्रने जिस प्रकार चेदि देश और उसके लोगोंकी प्रशंसा की है वह ऊपर आ चुकी है[३२]। कर्णपर्वमें शल्यसे विवाद करते हुए कर्णने कहा है—"कुरु, शाल्य, पाञ्चाल, मत्स्य, नैमिष, कौशल काशी, पौंड्र, कलिंग, मागध, और चेदि देशके उत्पन्न महात्मा मनुष्य ही शाश्वत धर्मको जानते हैं[३३]। यद्यपि यह बहुत बादमें जोड़ा गया जान पड़ता है तो भी महाभारत कालीन इस प्रदेशके निवासी साधु और सज्जन ही रहे होंगे। यों तो कर्णके शब्दोंमें "सब देशोंमें दुष्ट और साधु रहते हैं[३४]।" वसु चैद्योपरिचरके कालमें अहिंसा (अर्थात् यज्ञमें पशुके बजाय अन्नकी आहुति देनेकी प्रथा) और भक्तिप्रधान एकान्तिक धर्म (कर्मकाण्ड और तपके विरोधमें) की लहर चली थी। महाभारत कालमें कृष्ण, बलराम उसके समर्थक थे तथा सात्त्वतोंमें उसका विशेष रूपसे प्रचार भी था[३५]। परन्तु चैद्योंने भी इस नये धर्मको अपना लिया था इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता फिर भी यह अनुमान लगाना बहुत कठिन नहीं है कि जिस धर्मका प्रवर्तन उनके एक पूर्वजने किया था और जो उनके

---

(२९) भा. इति. रूपरेखा, २१९

(३०) देखो (५)

(३१) महाभारत भीष्मपर्व, अध्याय ५०, श्लोक ४६-४९

(३२) देखो (१०)

(३३) महाभारत कर्णपर्व, अध्याय ४५, श्लोक १४-१६

(३४) ,, ,, ,,

(३५) भारतीय इतिहासकी रूपरेखा, पृष्ठ २४६

सम्बन्धी यादवोंमें बहुत प्रचलित था उस धर्मका प्रभाव उनपर भीं पड़ा होगा। दशार्ण देशके वृष्णि यादव तो कृष्णके बहुत निकट थे।

रामायण कालमें इस प्रदेशमें अत्रि, सुतीक्ष्ण, आदि ऋषियोंके आश्रम थे परन्तु इस युगमें आर्य लोग यहां पर पूरी तरह छा चुके थे और चेदि देशसे झर झर कर विन्ध्यके उस पार बस्तियां बसाते जाते थे। इस काल तक ऋषियोंका युग भी समाप्त हो चुका था। और व्यास जी वेदोंके संकलन वर्गीकरण और सम्पादनमें लगे हुए थे। स्वयं व्यासजीके विषयमें सुना जाता है कि वे इसी प्रदेशमें रहते थे। परन्तु यह ठीक नहीं है। वे तो बदरिकाश्रममें रहते थे। यह भी आता है कि व्यास माता सत्यवती जो शान्तनु-पत्नी हुईं चेदि नरेश बसु चैद्योपरिचर की कन्या थी परन्तु श्री जयचन्द्र विद्यालंकारने प्राचीन युगकी बंश तालिकाएं तैयार की हैं उनके अनुसार यह असम्भव जान पड़ता है क्योंकि सत्यवती उन्नासीवीं पीढ़ीमें तथा शान्तनु नब्बेवीं पीढ़ीमें आते हैं[३६]। वैसे तो वे तालिकाएं भी अन्तिम नहीं है परन्तु इतना सत्य है कि अभी अधिक अनुसन्धानकी आवश्यकता है।

इस कालमें आर्यलोग कृषिको अपना चुके थे। इन्द्रने इस देशके रहने वालोंकी जो प्रशंसा की थी इसमें एक वाक्य यह था "कमजोर बैलको हलमें नहीं जोतने वाले हैं [७]।" इसके अतिरिक्त वे सुन्दर नगरोंका निर्माण भी करने लगे थे चेदि देशकी राजधानी शुक्तिमती एक प्रख्यात नगरी थी। आश्वमेधिक पर्वमें उसे रमणीय नगरी कहा है।

इस प्रकार और भी अनुमान लगाये जा सकते हैं और अनुमान प्रमाणके अभावमें इतिहास नहीं बन सकते। आज भी महाभारत-कालीन भारत एक रहस्य बना हुआ है यद्यपि आवरण हटता जा रहा है तो भी अध्ययन और अनुसन्धानकी आज जितनी आवश्यकता है, उतनी सम्भवतः कभी नहीं थी। इस नव-भारतमें ही भारतका अतीत रहस्य मुक्त न हो सका तो कब होगा?

---

(३६) भारतीय इतिहासकी रूपरेखा पृष्ठ, २६५

(३७) देखो (१०)

यही भूमि शोणित सनी, यहि पहाड़ यहि धार ।
हम बुन्देल खण्डीन को, यहिं है स्वर्ग विहार ॥

卐 卐 卐

चित्रा
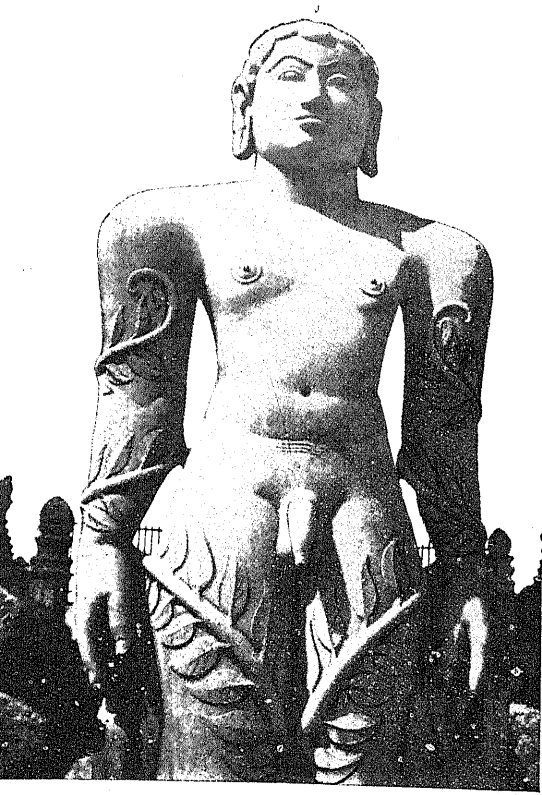
प्रथम तीर्थंकर भ० ऋषभदेवके
आत्मज प्रथम-सिद्ध श्रीबाहुबलिकी
(५७ फीट उन्नत)
प्रस्तरमूर्ति
श्रवणवेलगोला

तीर्थाधिराज
भ० महावीरकी
अति प्राचीन मूर्ति
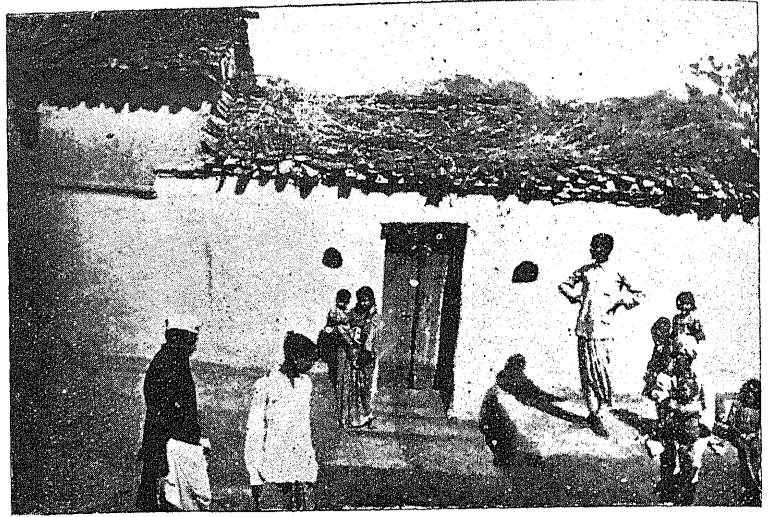
वर्णीजी का घर।
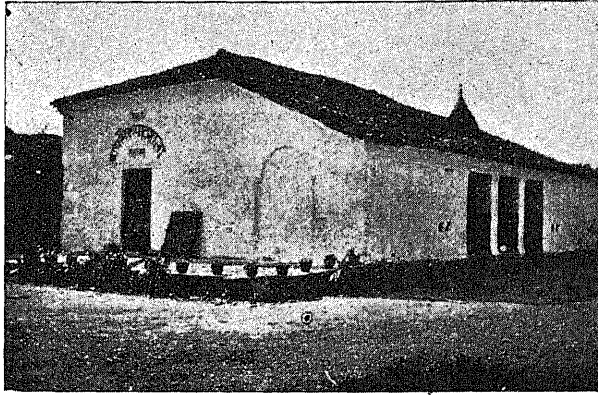
मड़ावराका स्कूल-
जहां वर्णीजी छात्र
तथा अध्यापक रहे।
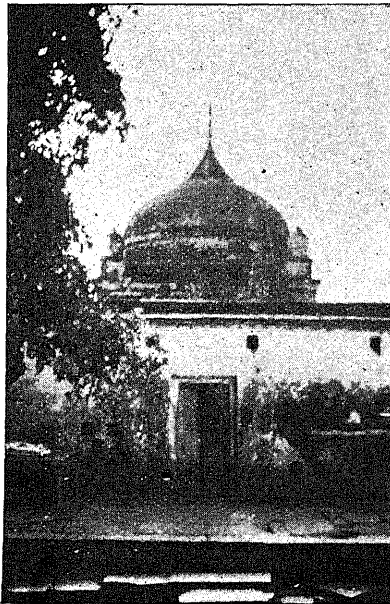
मड़ावरा की शाला
(वैष्णव मन्दिर)
जहां वर्णीजी
कथा सुनने
जाते थे।
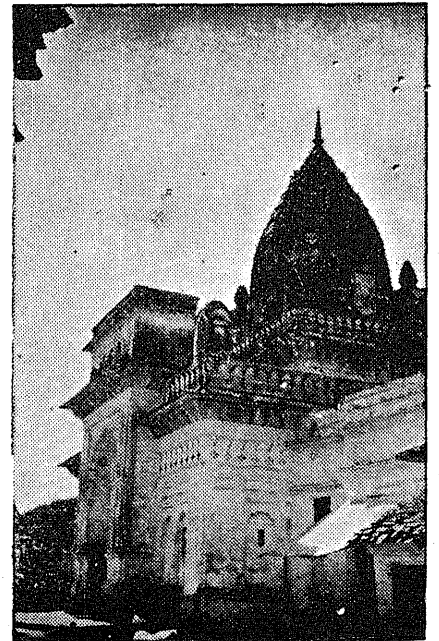
गोरावाला-जैनमन्दिर
जिसने वर्णीजी को
जैनधर्मकी
ओर आकृष्ट
किया।
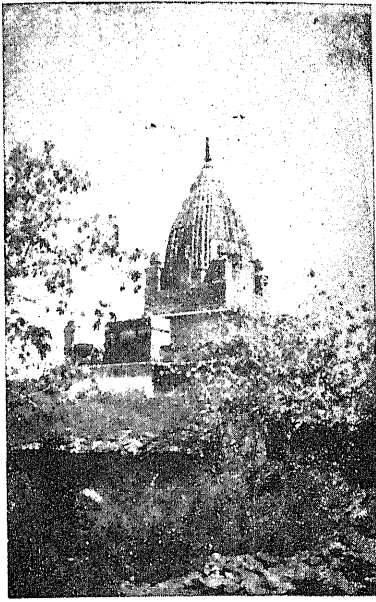
गोरावाला मन्दिरका
पृष्ठ भाग
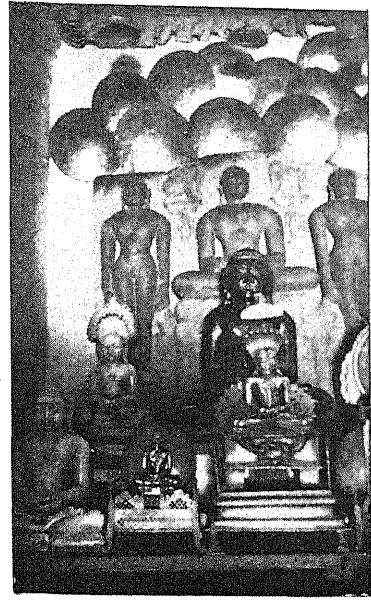
गोरावाला मन्दिरकी
जिन प्रतिमाएं

जमड़ार-उद्गम
(मड़ावराका दादा-सरोवर)

जताराकी पाठशाला
तथा डाकखाना
जहां वर्णीजीने घर
छोड़ने पर कार्य किया
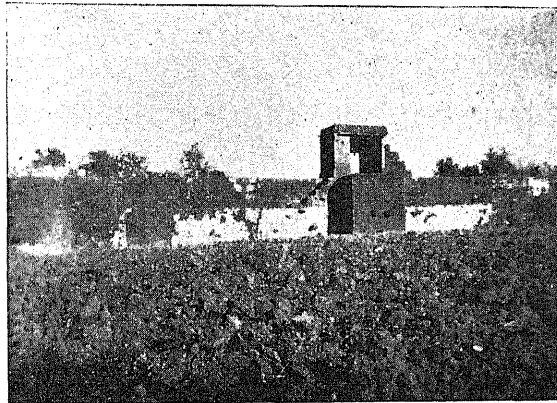
मड़ावराका दुर्ग तथा
सरोवर
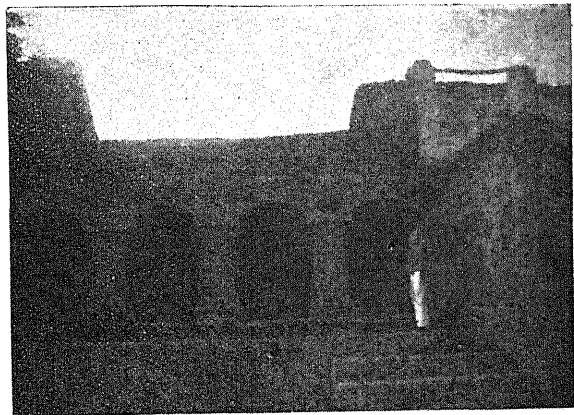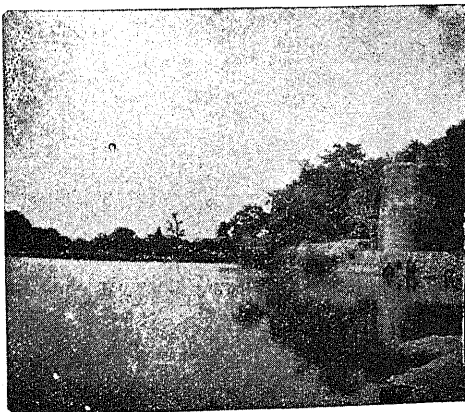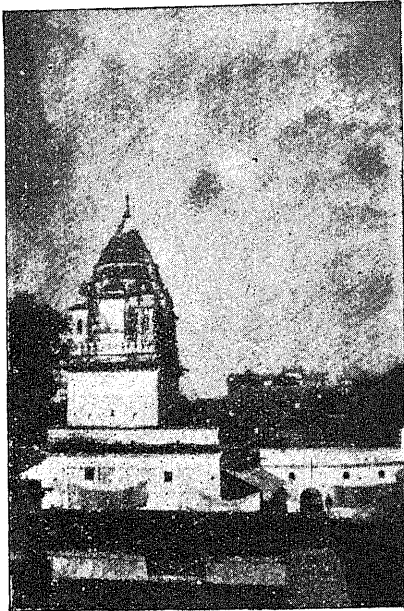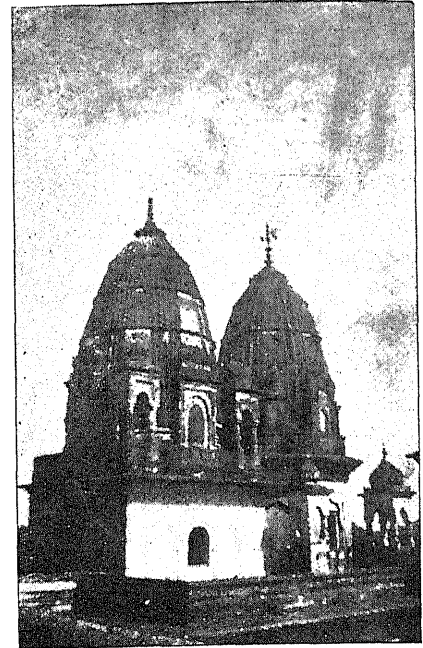
जताराका जैनमन्दिर

सिमराका जैनमन्दिर

बाईजीकी बाखर, सिमरा

जताराका सरोवर जिसके तटपर वर्णीजी धर्मगोष्ठी करते थे

स्व. सिंघैन चिरोंजाबाईजी सिमरा
वर्णीजी की धर्ममाता

स्व. पं० अम्बादास शास्त्री, काशी
वर्णीजी के विद्यागुरु
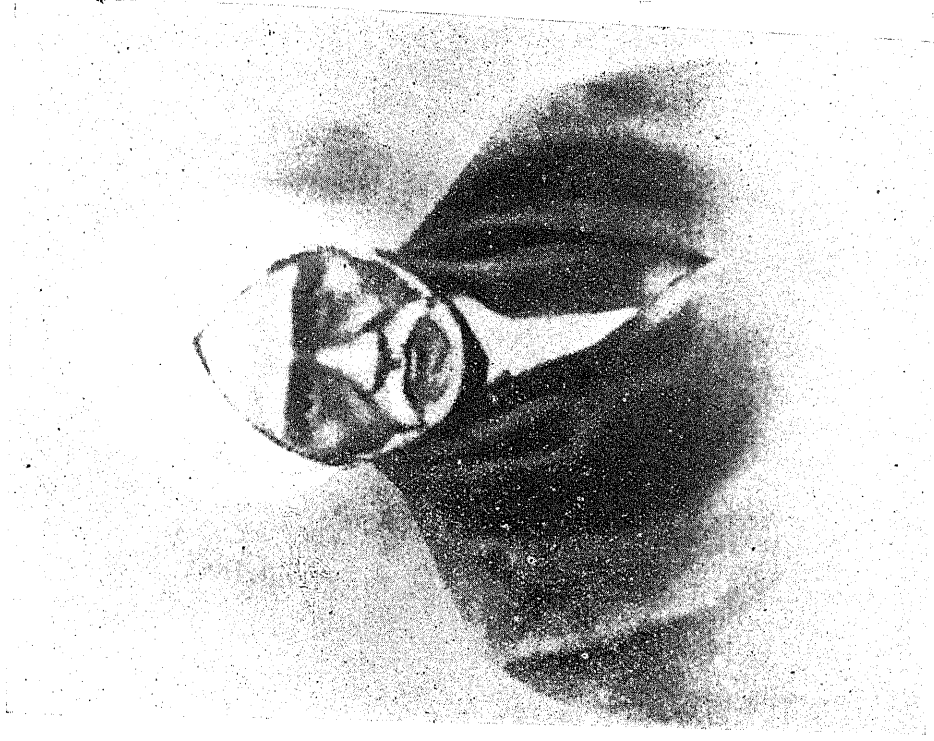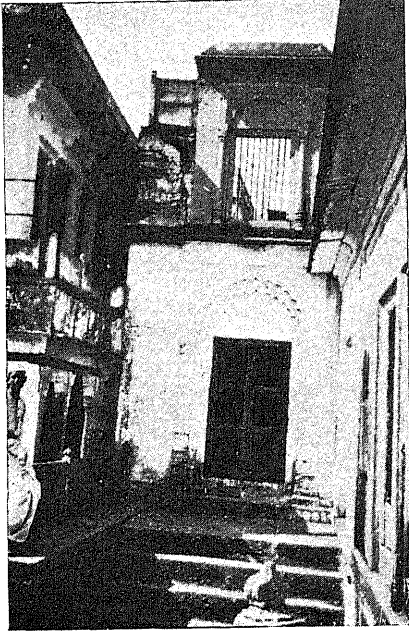
भ. सुपार्श्वनाथका जन्मस्थान, भदैनी-काशी।
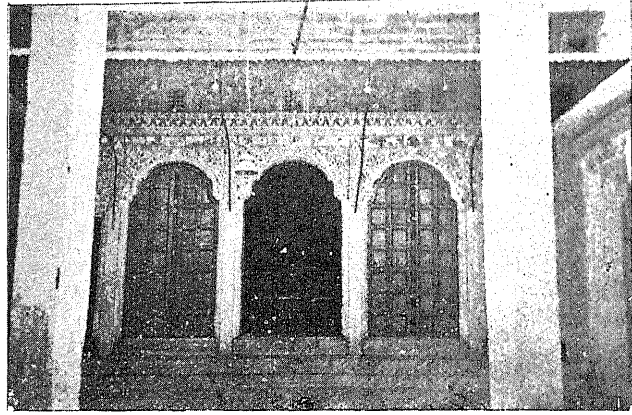
भ. पार्श्वनाथका-जन्मस्थान भेलूपुर-काशी।
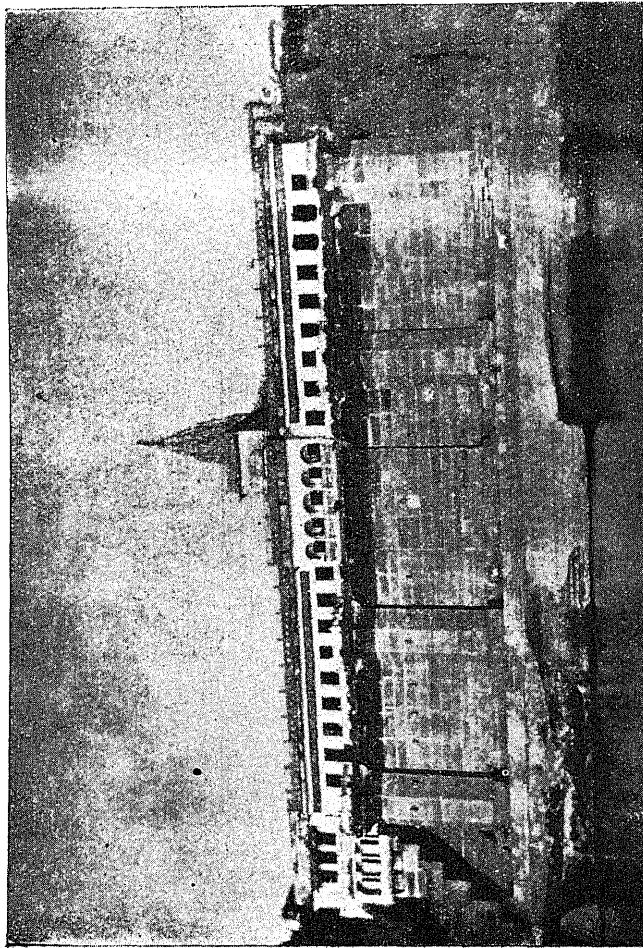
वर्तमान युगके जैन विद्वानोंका विद्याकुल-श्री स्याद्वाद दि० जैन विद्यालय काशी; वर्णीजी इसके संस्थापक तथा छात्र रहे हैं।
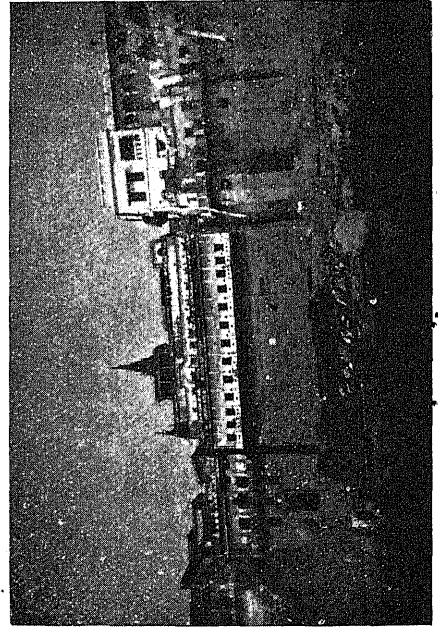
श्री छेदीलाल-जैन मन्दिर (शिखरयुक्त) जिसके नीचेके भागमें छात्र वर्णीजी रहते थे।

वर्णीजी के दीक्षागुरु
स्व. ब्र. गोकुल-
चन्द्र जी

युवक पं० गणेशप्रसाद (वर्णी)
राग-विरागकी द्विविधामें

वर्णीत्रय—
ब्रह्मचारी पं० गणेश-
प्रसाद वर्णी, परम तपस्वी
बाबा भागीरथजी वर्णी
ब्र० दीपचन्द्रजी वर्णी
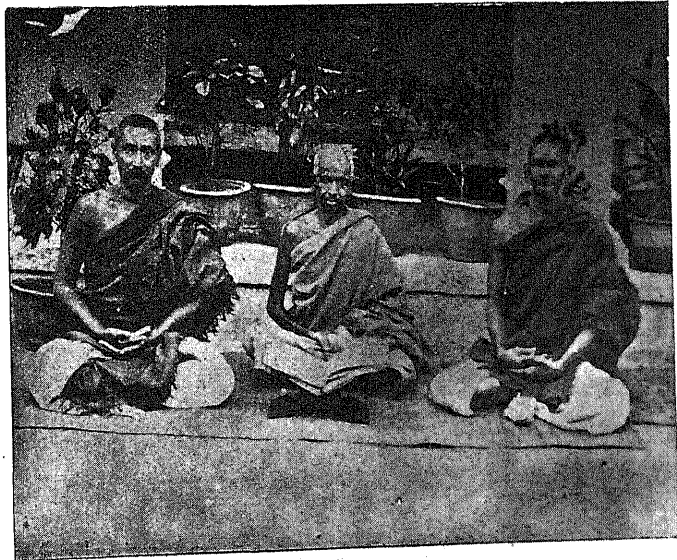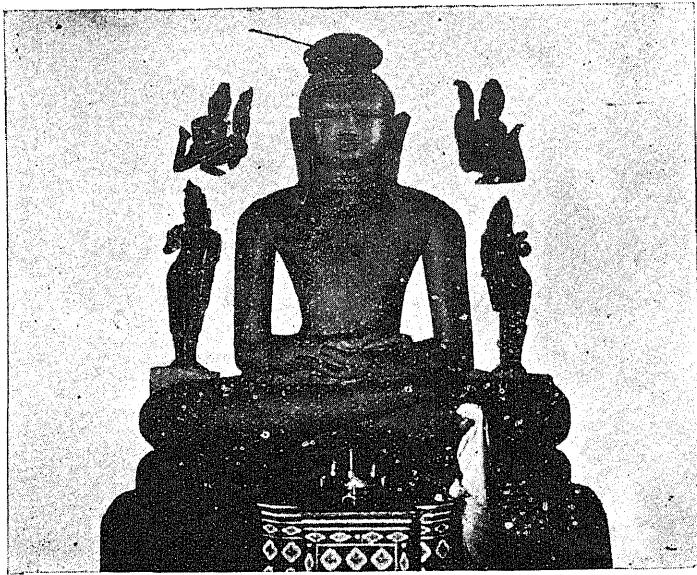
श्री १००८ महावीर-
प्रभुकी मूर्ति
कुण्डलपुर
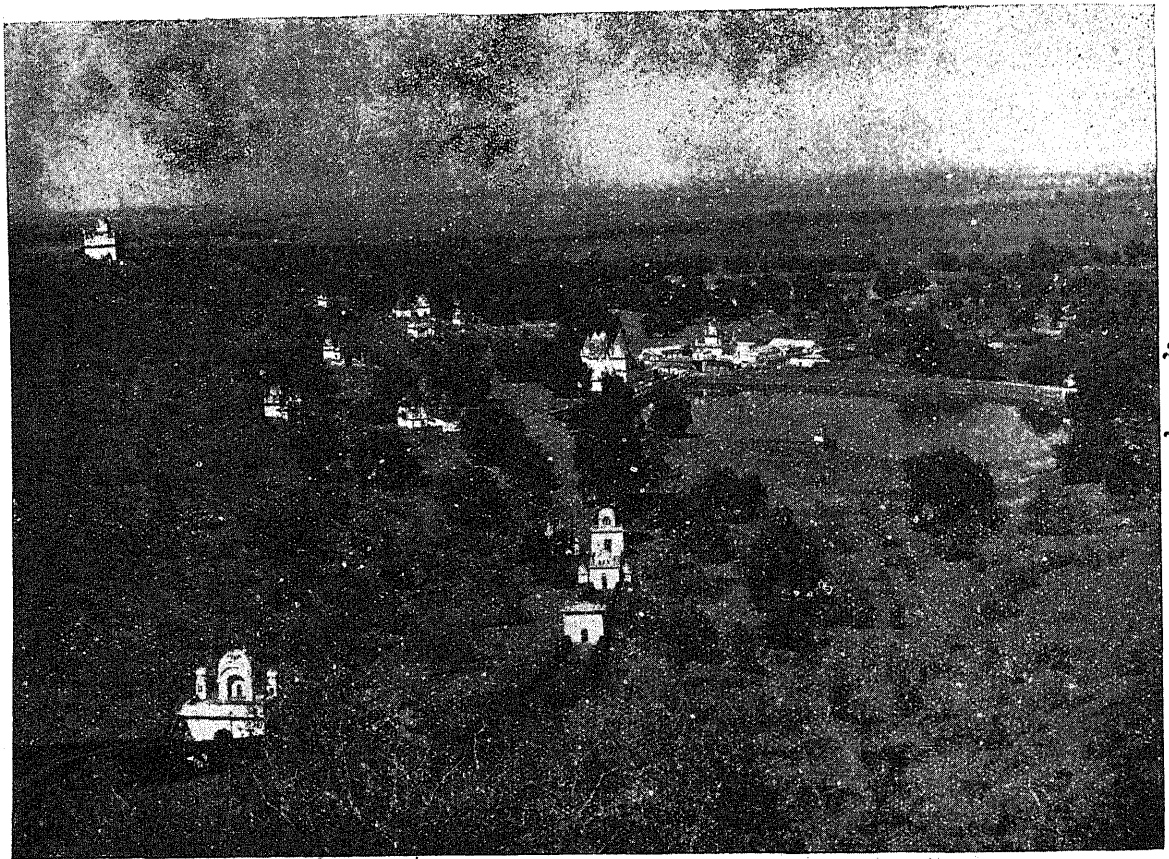
श्री कुण्डलपुर क्षेत्र (मध्य प्रदेश), जहां वर्णीजीने ब्रह्मचर्य दीक्षा ली थी

दि· जैन तीर्थ क्षेत्र श्री कुन्डलपुरजी
(दमोह-म·प्र·)
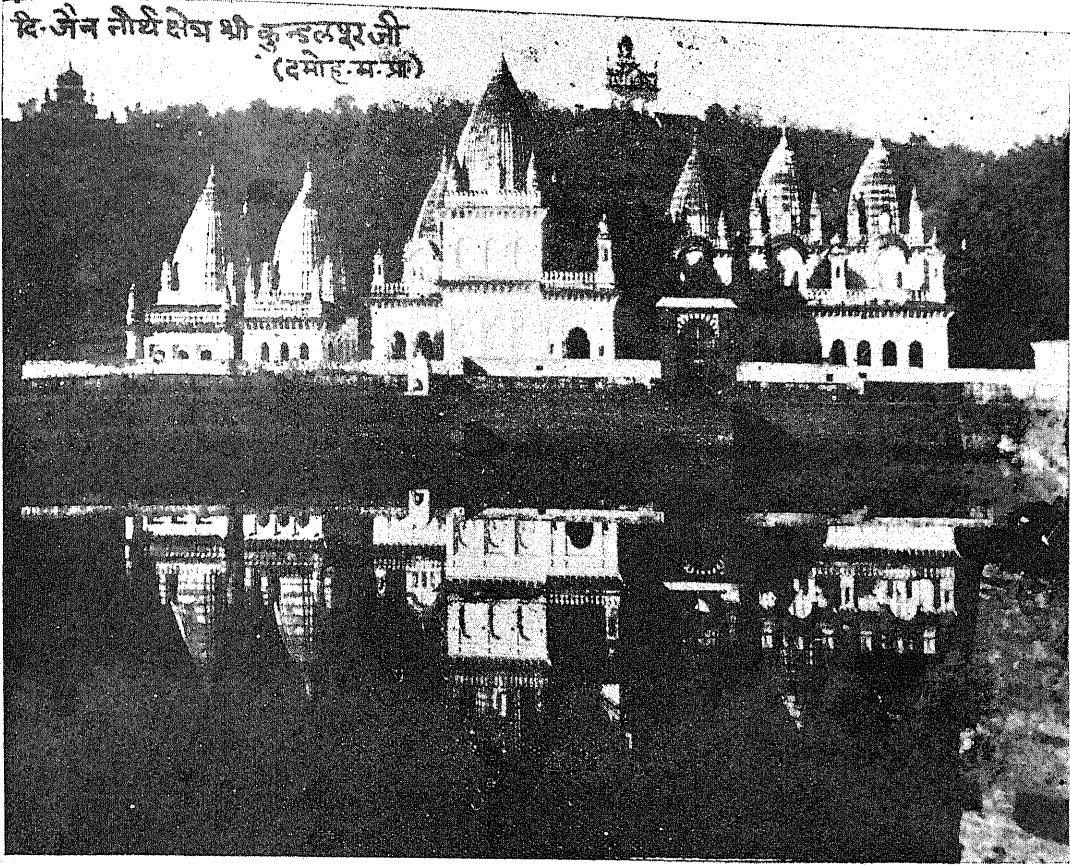
कुण्डलपुरका सरोवर और जिनमन्दिर
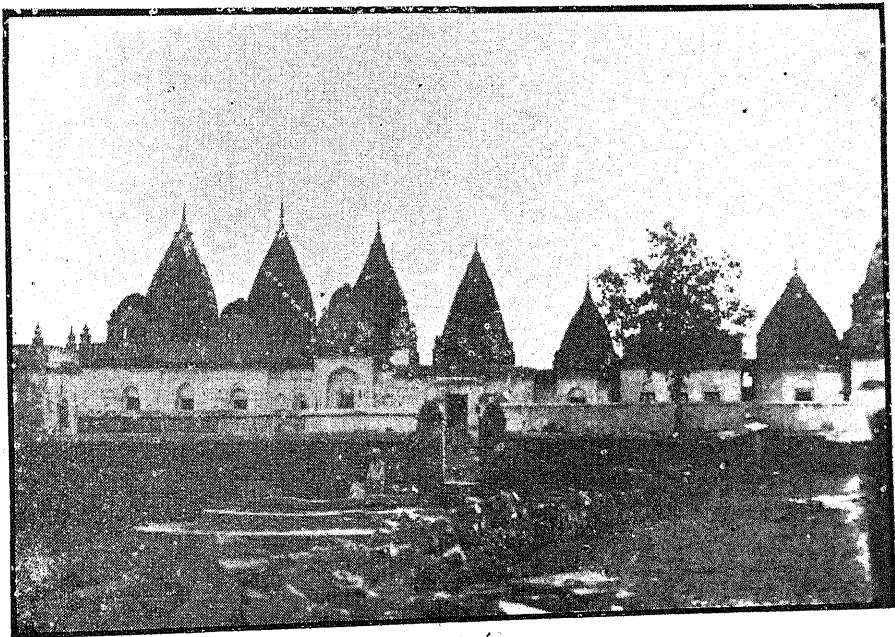
श्री रेशन्दीगिरि
अतिशय क्षेत्र-जहां
वर्णीजी की
विरक्ति पुष्ट हुई
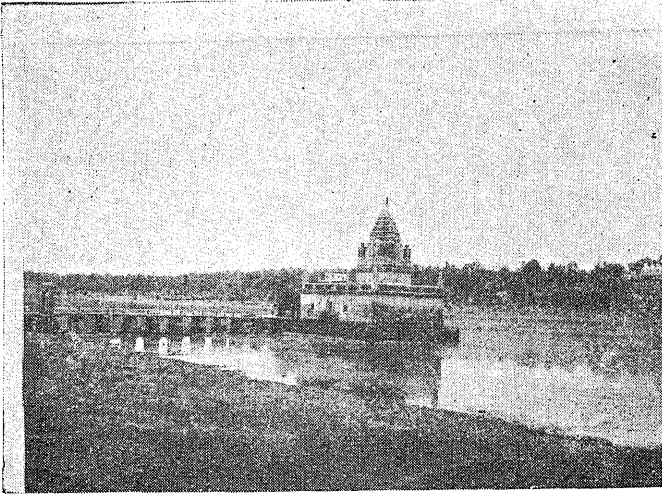
श्री जलमन्दिर रेशन्दीगिरि
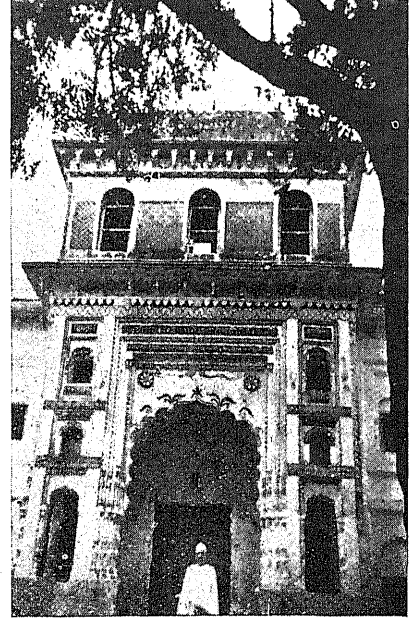
संस्कृत पाठशाला द्रोणगिरि
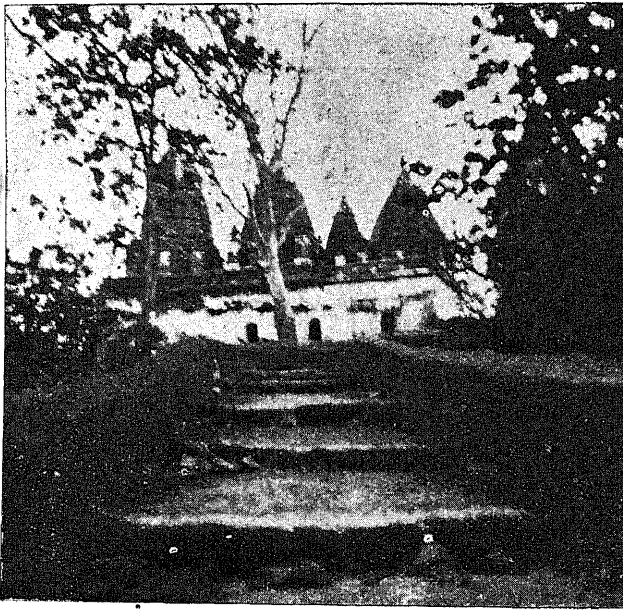
वर्णीजी की साधनाका क्षेत्र श्री द्रोणगिरि

सागर विद्यालयका मानस्तम्भ
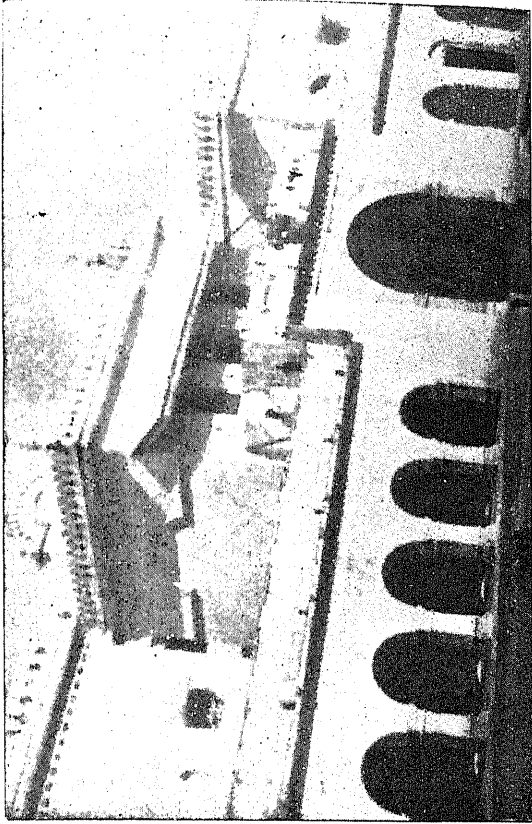
श्री वर्णी दि. जैन विद्यालय सागर (म. प्र.), वर्णीजी द्वारा संस्थापित बुन्देल-खण्डकी सैकड़ों शिक्षा संस्थाओं में अग्रणी
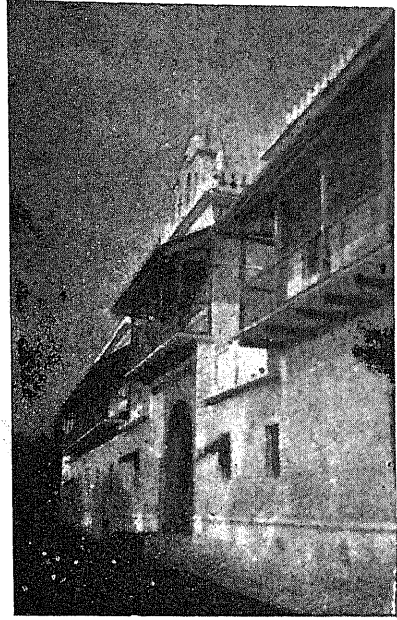
वर्णी दि. जैन विद्यालयका बाह्यदृश्य
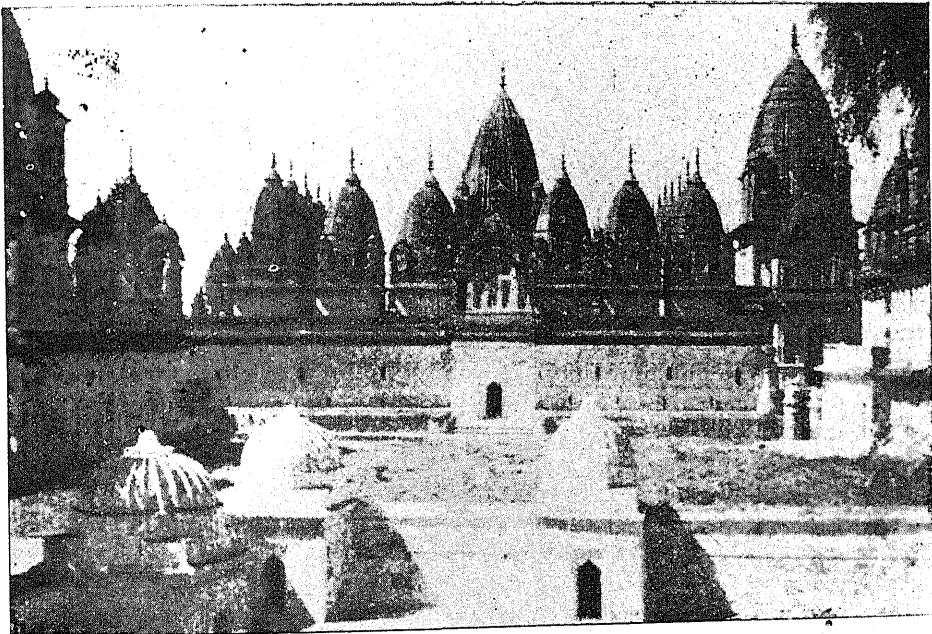
वर्णीजी की आत्मशोधके मार्गमें उपयोगी अतिशयक्षेत्र पपौरा (विं.प्र.)
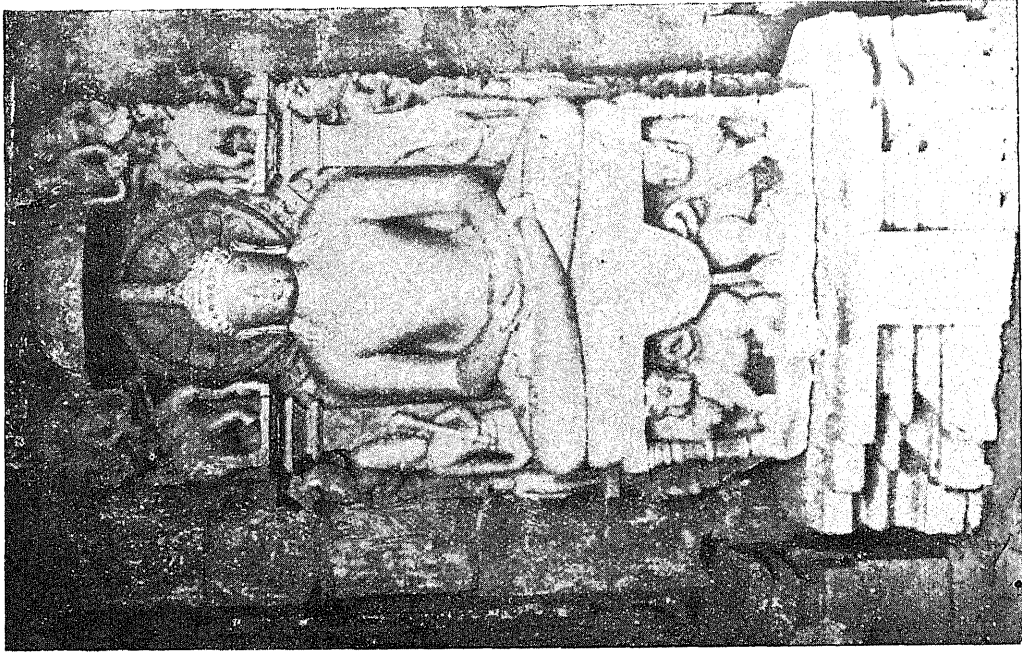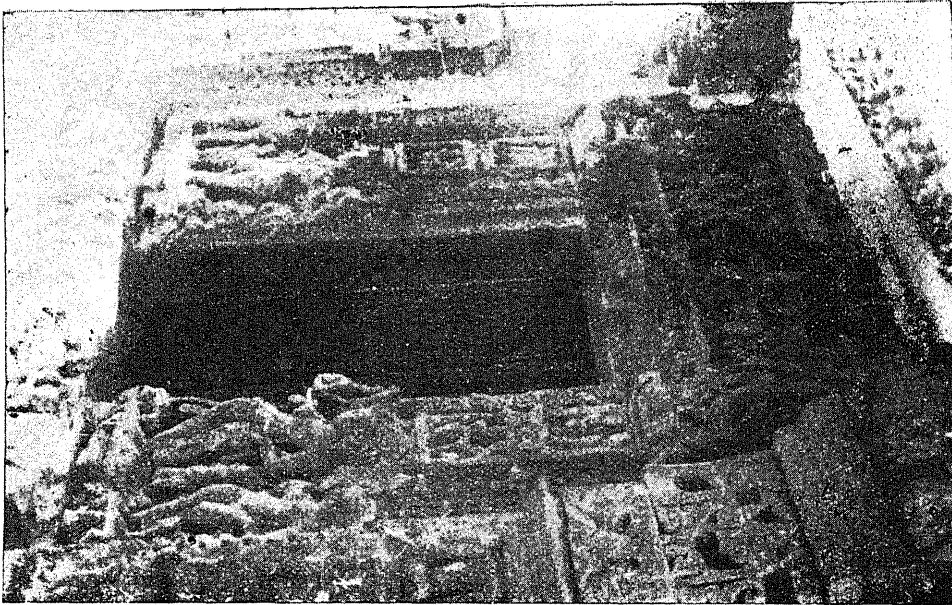
श्री चन्द्रप्रभु मन्दिरका प्राचीन प्रवेशद्वार, पपौरा

श्री महावीर जिनमूर्ति. खजुराहा

श्री आदिनाथ मन्दिर, खजुराहा

यक्ष-यक्षिणी, खजुराहा

चित्रा
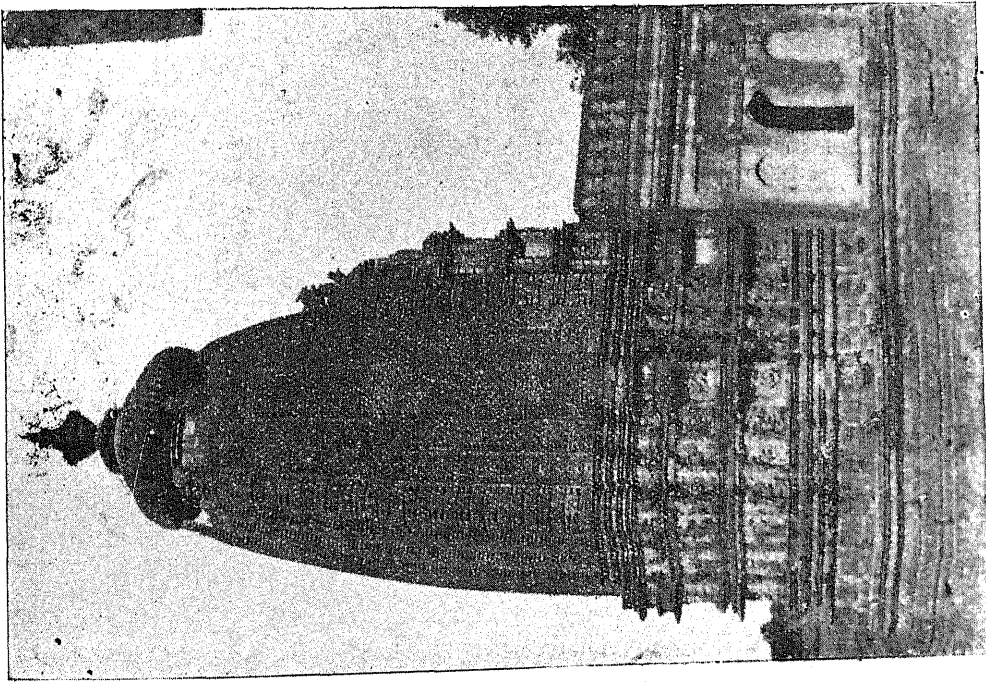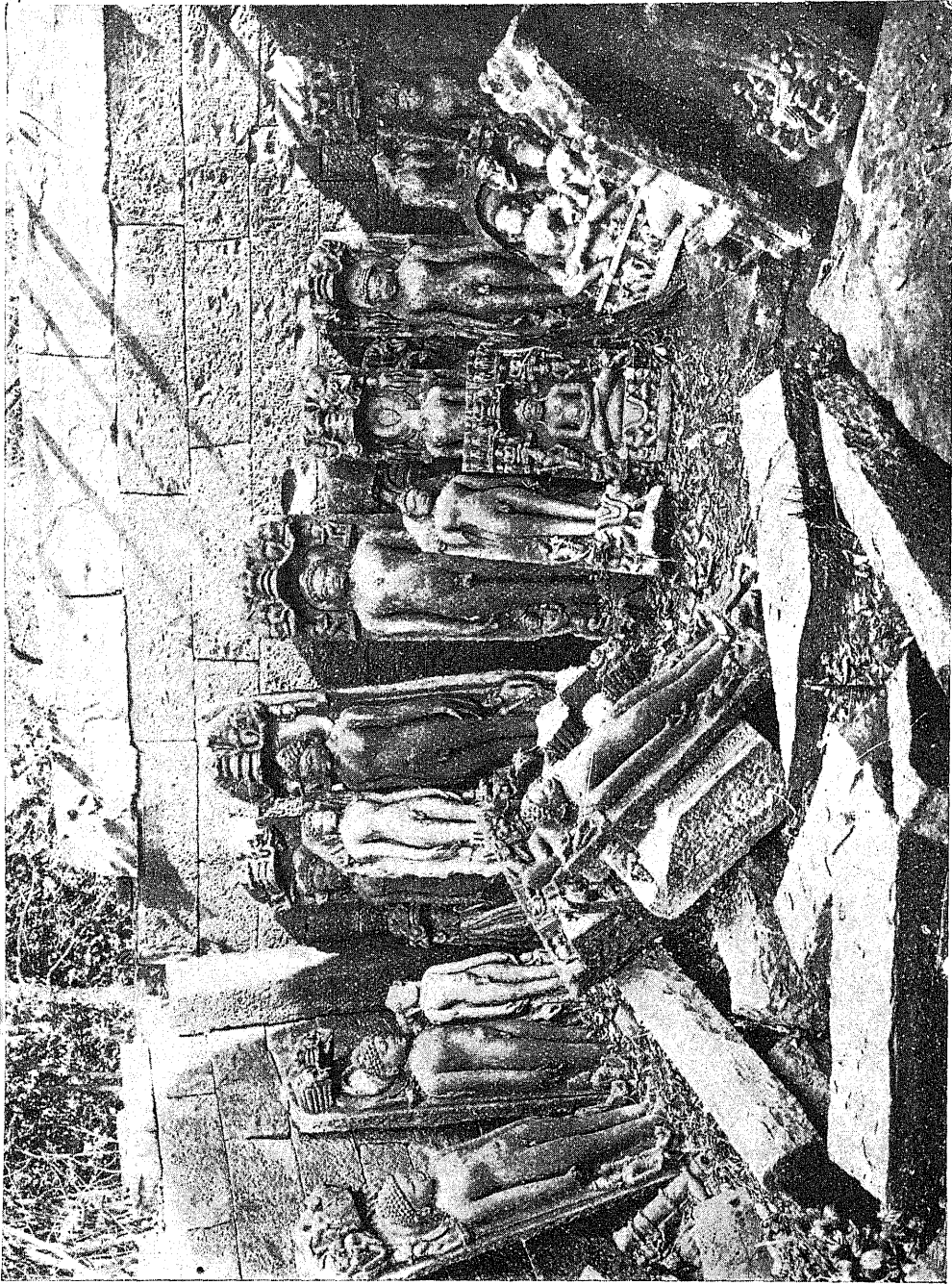
बूढ़ी चन्देरी-गुप्त कालीन मूर्तिकलाके अवशेष
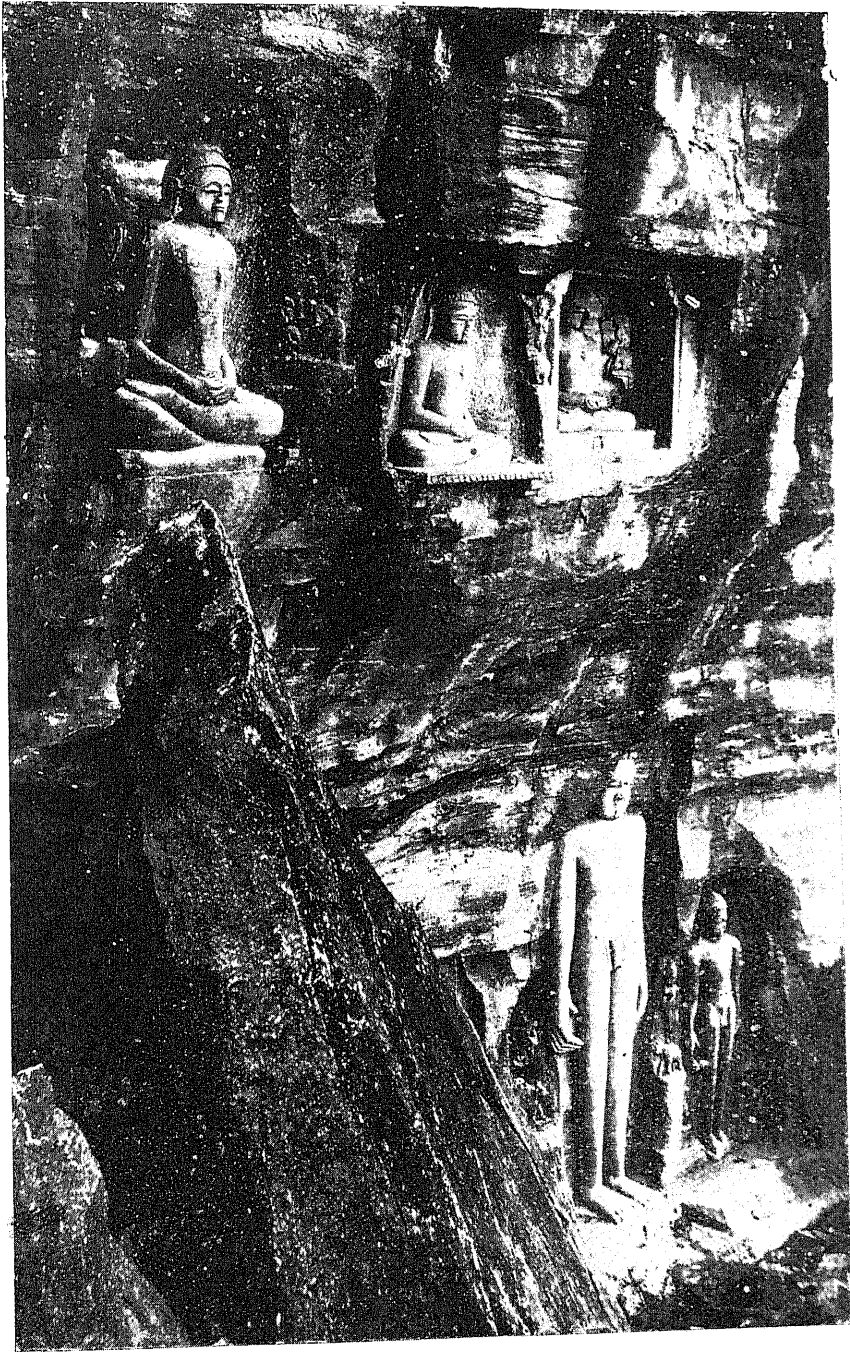
चन्देरी-खंदारजी

वर्णीजी की धर्ममाता सिंघैन चिरोंजाबाईजी का समाधिमरण
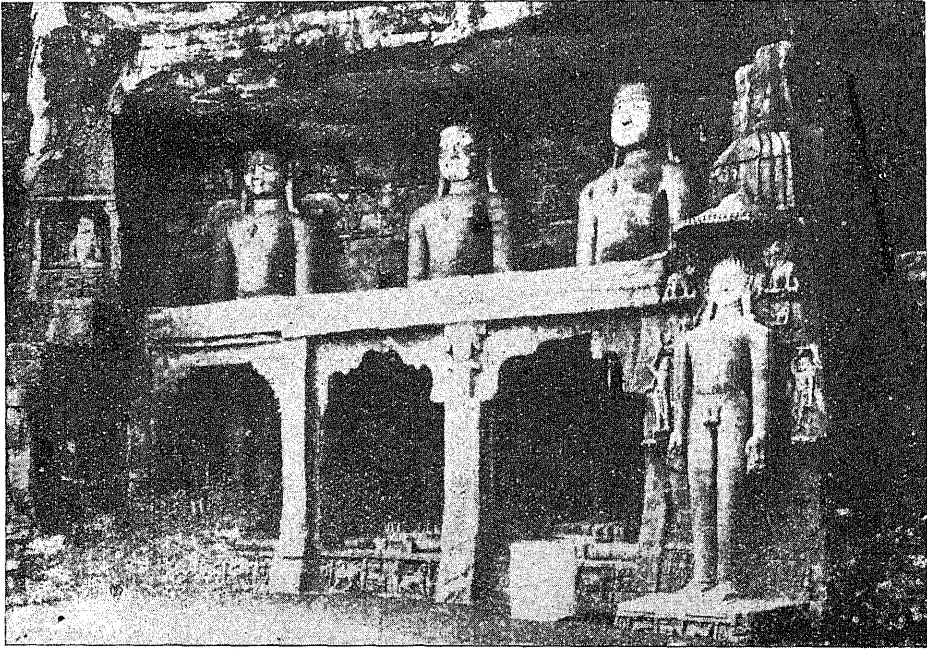
श्री डूंगरेन्द्रदेवके समयमें निर्मित विशाल तीर्थंकर मूर्तियां, गवालियर

'वैराग्य मेवाभयम्'
अनेक तीर्थोंका भ्रमण तथा शिक्षा संस्था उद्घाटन-तीर्थका प्रवर्तन करनेके बाद
क्षुल्लक वर्णीजी
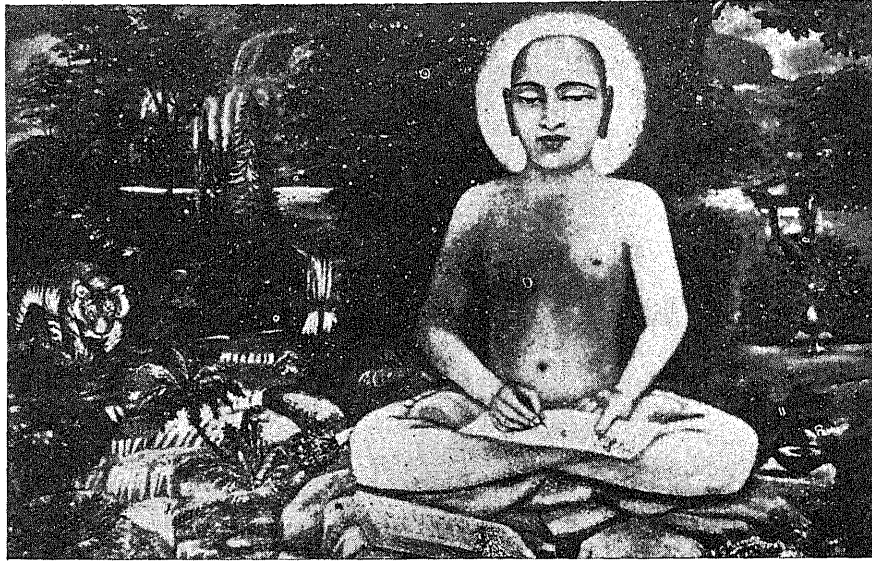
श्री १०८ आचार्य कुन्दकुन्दके--
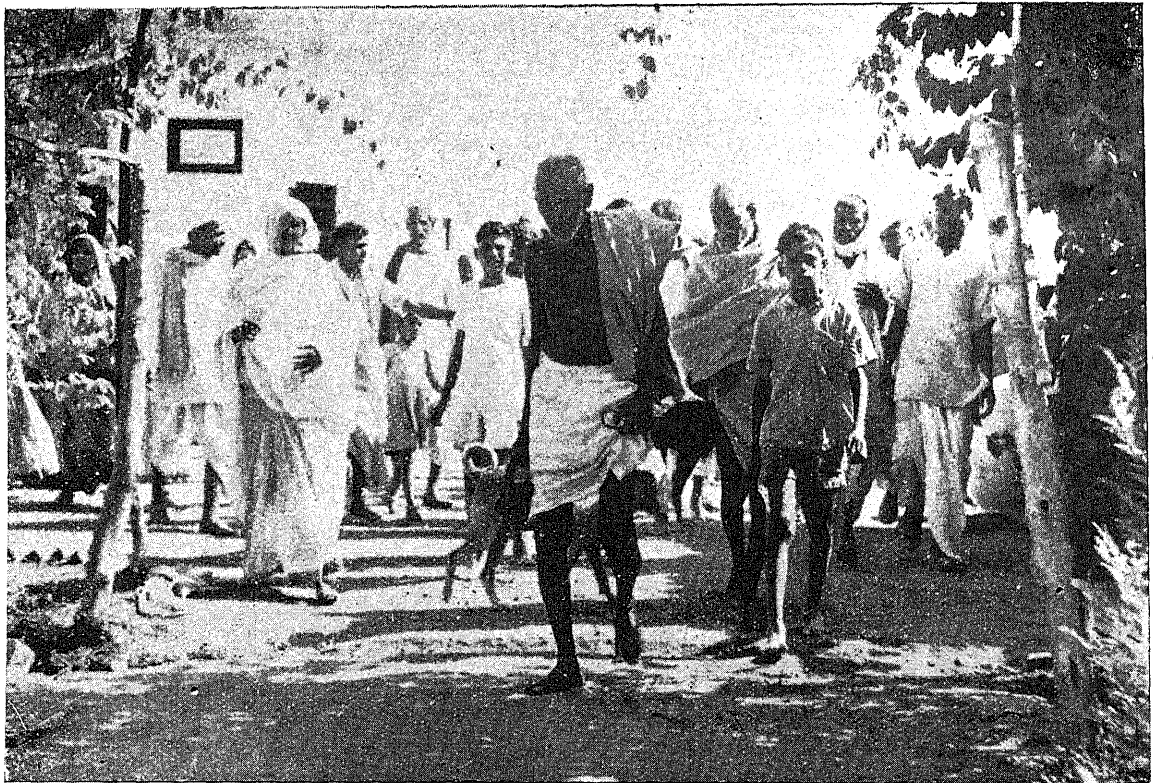
--समयसारके प्रचार द्वारा सर्वहितमें रत वर्णीजी

आचार्य कुन्दकुन्दके अनन्य भक्त
श्री कानजी महाराज, सोनगढ़
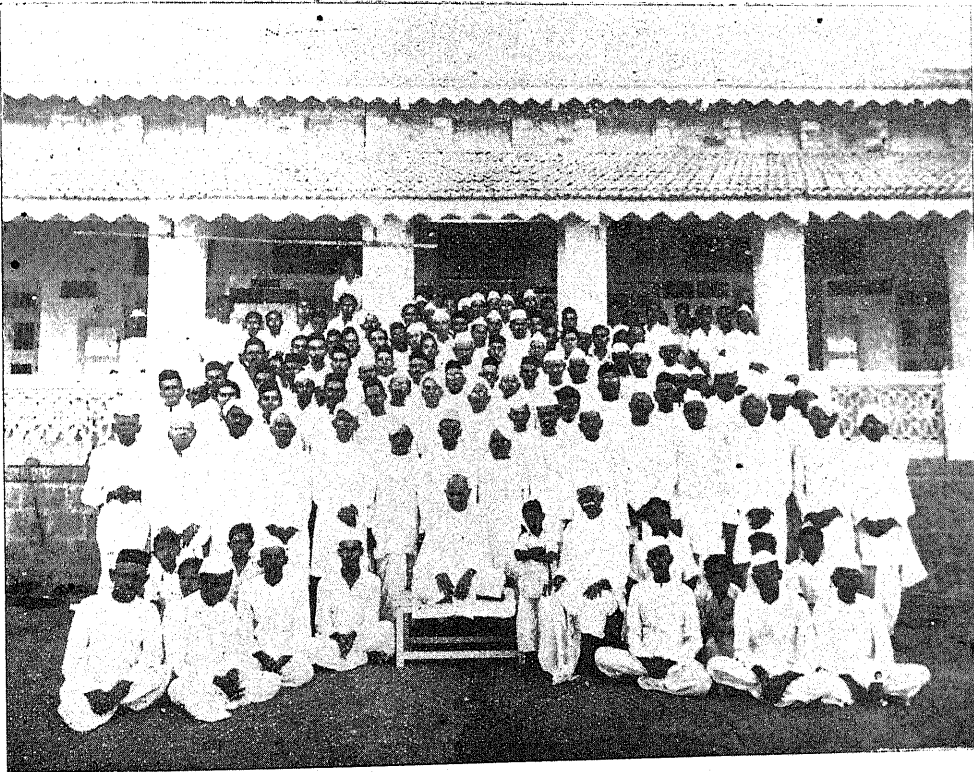
कानजी महाराजके उपदेशद्वारा कुन्दकुन्दाम्नायमें दीक्षित अग्र-श्रावक—

तीर्थाधिराज महावीर स्वामीका दक्षिण भारतीय चित्र
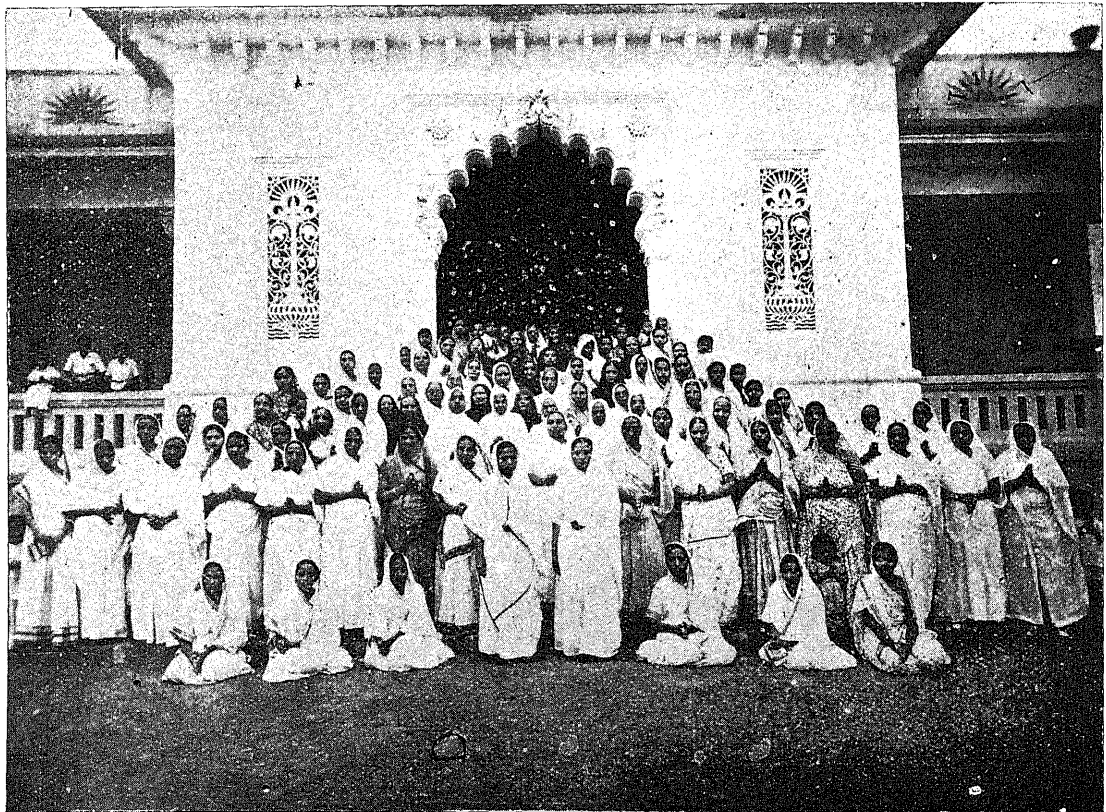
—तथा श्राविकाएं, सोनगढ़ (अगली पंक्तिमें बैठीं कुमारियोंने इस भौतिक युगमें भी आजीवन ब्रह्मचर्य धारण किया है।)

बुन्देलखण्डकी झांकी
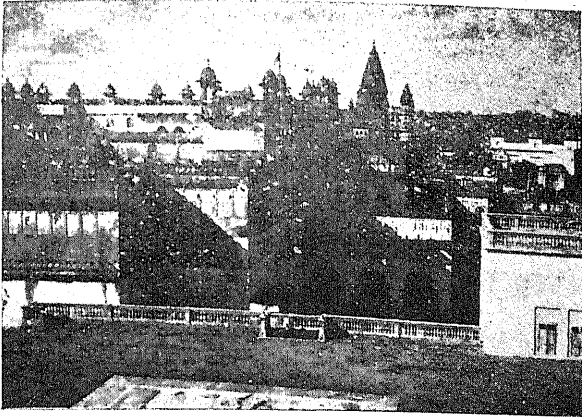
वर्णी-जनपदका ओरछा-दुर्ग

वर्णी-जनपदके श्रमजीवी कृषक (चैतुआ)।
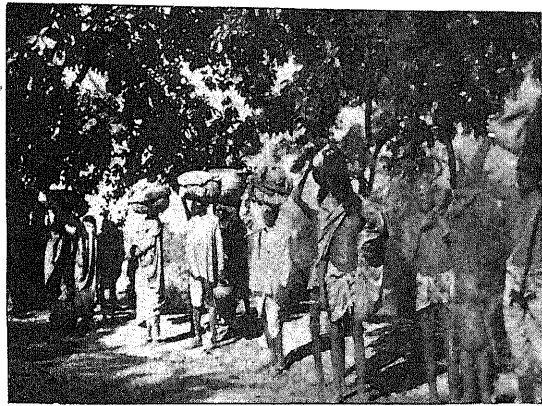
बुन्देलखण्डका मेला

बुन्देल खण्डके बालक
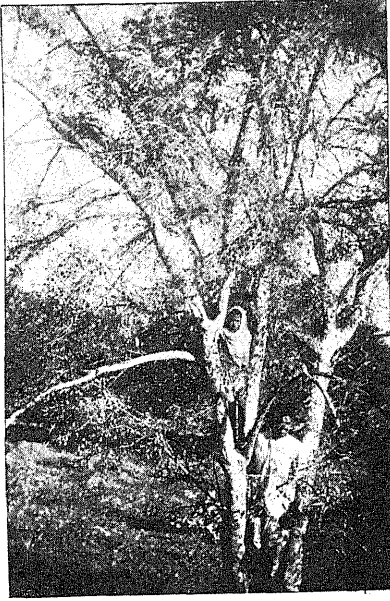
बुन्देल खण्ड के फूले विशेष वृक्ष
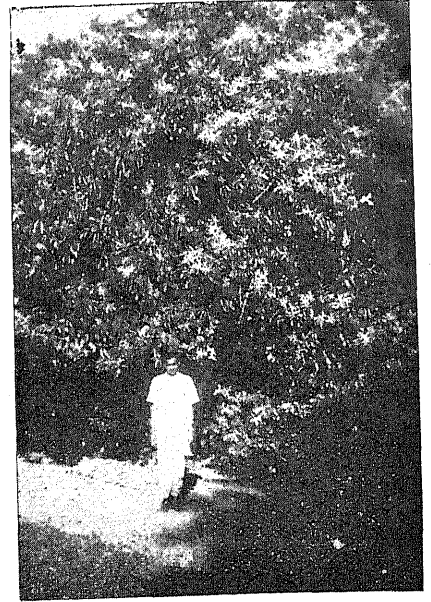
आंवला

आम्र
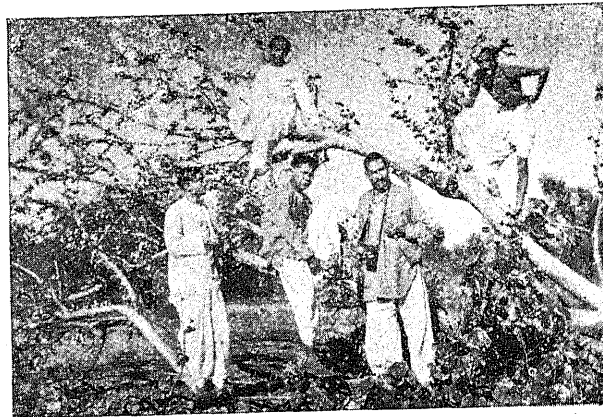
पलाश
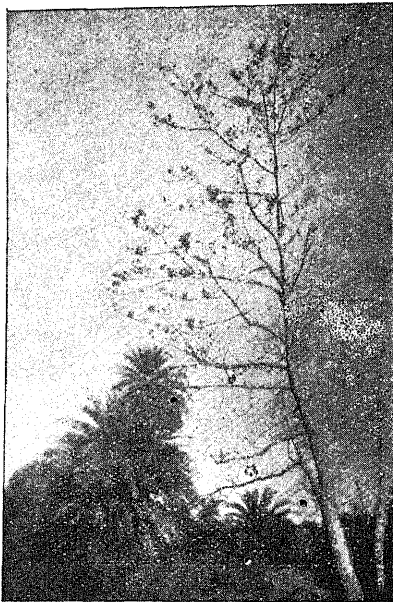
शालमलि

कचनार
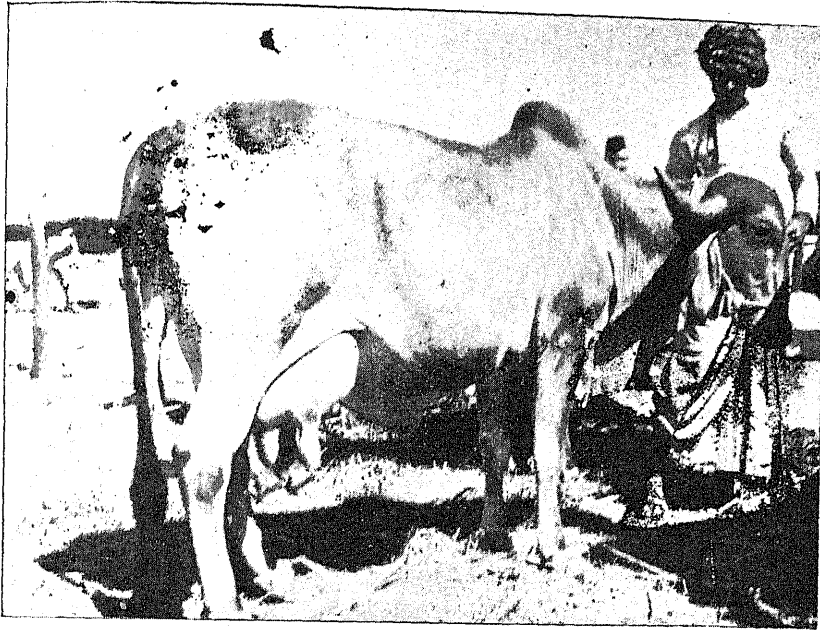
बुन्देलखण्डमें गोधनके वि-
कासका प्रयत्न, १७ सेर
दूध देने वाली गाय

पुरातत्ववेत्ताओं
की प्रतीक्षामें
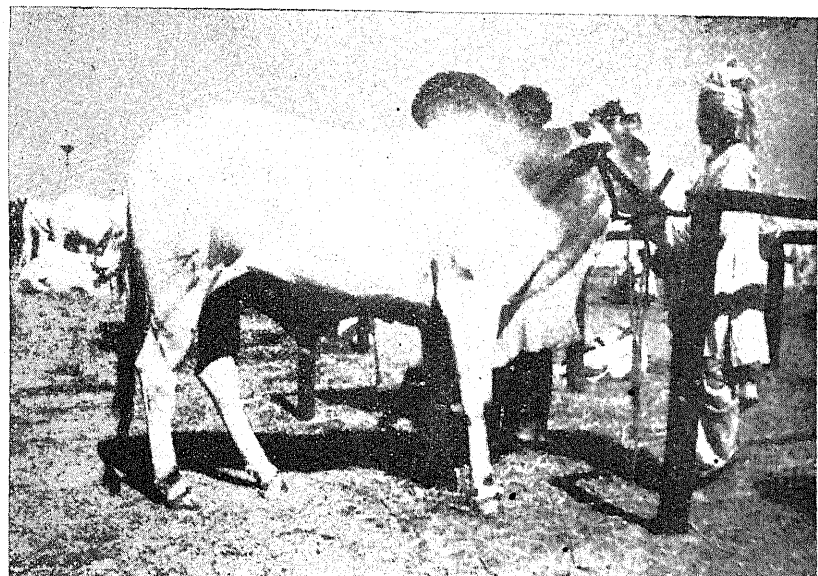
कृषिप्रधान जनपदकी
आशा, स्वस्थ
किशोर बैल
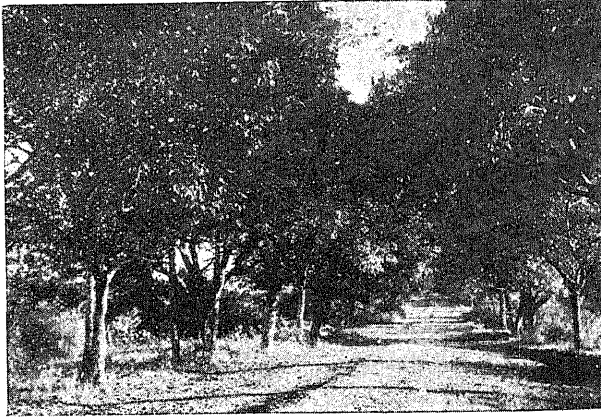
बुन्देलखण्डके
रमणीय मार्ग

वर्षामें कूलंकषा बुन्देल-
खण्डकी सरिता

शरत्कालीन स्वच्छ
सरिता